तूतनखामेन की शव-पेटिका का ऊपरी भाग

—काहिरा संग्रहालय

विश्व
की
प्राचीन सभ्यताएँ

भाग १

(३२३ ई० पू० तक)

श्रीराम गोयल, एम० ए०
लेक्चरर
प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय

भूमिका

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
प्रिंसिपल, कॉलिज आव इण्डोलॉजी
काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय
वाराणसी

भारत-सरकार की आर्थिक सहायता से शिक्षा-मंत्रालय की योजना के अन्तर्गत प्रकाशित

विश्वविद्यालय प्रकाशन

गोरखपुर ● वाराणसी

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन,
नखास चौक, गोरखपुर

शाखा
के ४०/१८ भैरवनाथ,
वाराणसी-१

रेखाचित्र
शिवकुमार गुप्त, एम० ए०

प्रथम संस्करण, १९६३ ई०
३,००० प्रतियाँ

मूल्य
बीस रुपया

मुद्रक
ओम्प्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ५९१३-१८

VISHWA KI PRACHIN SABHYATAYEN
[The Ancient World Civilizations]
by
SHRIRAM GOYAL
Rs. 20.00

परम श्रद्धेय

डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

को

लेखक की कृतियाँ

१. प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ

२. हम सब एक हैं

३. समुद्रगुप्त

४. विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, खण्ड १

५. विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, खण्ड २ (यन्त्रस्थ)

६. गुप्तकालीन भारत का राजनीतिक इतिहास (यन्त्रस्थ)

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्च कोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक से अधिक संख्या में तैयार किये जाएँ। शिक्षा-मंत्रालय ने यह काम अपने हाथ में लिया है और इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रन्थों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से आरम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य शिक्षा-मंत्रालय स्वयं अपने अधीन करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग प्रदान कर रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य में भारत-सरकार की शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

यह पुस्तक प्रकाशकों की सहायता से कार्यान्वित की जाने वाली योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत की जा रही है। इसके लेखक अपने विषय के अधिकारी विद्वान् है। हमें विश्वास है कि यह हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्ध बनाने और भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा का प्रसार करने में सहायक सिद्ध होगी। आशा है कि भारत-सरकार के इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

नई दिल्ली,
20 अप्रैल 1963

शिक्षा मंत्री
भारत-सरकार

विश्ववारा संस्कृति

प्राचीन मान्यता के अनुसार मन, प्राण और भूतों की समष्टि मनुष्य है— 'सोयम् आत्मा मनोमयः प्राणमयः वाङ्मयः' मनुष्य ने देश और काल में विश्व के रंगमञ्च पर जो मन से सोचा है, कर्म से किया है और भौतिक माध्यम से निर्माण किया है वही मानव की संस्कृति है। किन्तु ज्ञान, कर्म और रचना को संस्कृति की कोटि में रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह संस्कार सम्पन्न हो और विश्व की प्राणधारा के अनुकूल हो। ऋग्वेद में कहा है 'सा संस्कृतिः प्रथिमा विश्ववारा' अर्थात् देव प्रजापति ने जिस सृष्टि की रचना की है वह एक संस्कृति है। इसकी रचना में प्रजापति ने कितना प्रयत्न किया होगा इसकी कुछ कल्पना विश्व के अनन्त रहस्यों को ध्यान में रखकर की जा सकती है। विश्व के गम्भीर रहस्यों का कोई अन्त नहीं है। मानव ने उन्हें समझने के लिए अनेक यत्न किये हैं। अनेक संस्कृतियों का इतिहास यही कथा कहता है। विश्व के नियमों की बुद्धिपरक व्याख्या मानवीय संस्कृति का बहुत ही मूल्यवान अंग है। उसे ही हम तत्त्व, ज्ञान, दर्शन, धर्म, नीति आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। उसके अनुसार मानव ने अपने लिए अनेक मार्गों का विधान बनाया। उसकी वह कर्म सृष्टि भी मानवीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। प्राणों की शक्ति का कर्ममय पराक्रम मानव की अपूर्व उपलब्धियों का क्षेत्र रहा है। उसमें जो धर्म और नीति की उदात्त प्रेरणा निहित है वह संस्कृति का अंग है। तीसरी कोटि में भौतिक स्तर पर अथवा भूतों के माध्यम से मानव की स्थूल रचना है, जिसका सबसे समृद्ध क्षेत्र मानवीय कला की उपलब्धियाँ हैं। इसी प्रकार दर्शन, धर्म, साहित्य, जीवन और कला के क्षेत्र में मनुष्य की समस्त कृतियाँ और रचनाएँ उसकी संस्कृति हैं। किन्तु मानव को इन सब की प्रेरणा जिस स्रोत से मिलती रही है और आगे भी मिलेगी, वह कोई नित्य देव संस्कृति है जिसे 'प्रथमा संस्कृति' (प्रायमीवल कल्चर) कहा गया है। अर्थात् जो सबसे पूर्व में थी, सबसे श्रेष्ठ थी और जो सबके लिए प्रतिमान या नमूना है। ऐसी संस्कृति स्वयं विश्व संस्कृति है। सूर्य, चन्द्र, आकाश, वायु, समुद्र आदि भौतिक रूप एवं उनके मूल में सक्रिय

मानसतत्त्व—ये दोनों अपरिमित है और नित्य हैं एवं मानव के लिए सनातन आदर्श हैं।

विश्व संस्कृति की दूसरी विशेषता यह होती है कि वह सबके लिए है। अर्थात् जहाँ एक ओर मानवीय संस्कृति देश और काल में समुत्पन्न होती है वहाँ विश्व की संस्कृति सब के लिए वरण योग्य होती है। अतएव उसे 'विश्ववारा' कहा गया है। एक एक मानव समुदाय, एक सांस्कृतिक पद्धति को ही जन्म दे सकता सकता है। किन्तु प्रजापति की संस्कृति सब के लिए है और सब देशों और कालों में उसकी सत्ता एकरस और नित्य सिद्ध रहती है। जो मानवीय संस्कृति इन दो लक्ष्यों की जितनी अधिक पूर्ति कर सकती है वह उतनी ही अधिक विशिष्ट होती है। अर्थात् एक तो वह देव संस्कृति की निर्मिति और भावना को अधिक से अधिक व्यक्त कर सके और दूसरे वह देश और काल की संकुचित सीमाओं से से ऊपर उठकर विश्व के लिए अधिक से अधिक स्वीकार्य हो। विश्व अपने मन का प्रतिबिम्ब जहाँ पाता है वही संस्कृति उसे रुचिकर होती है। जो मानव समुदाय, अध्यात्म और धर्म, तत्त्व-ज्ञान और दर्शन, भौतिक जीवन और सत्य, प्रेम और करुणा, सौन्दर्य और पवित्रता इन दैवी तत्त्वों की अधिकतम उपासना करता है और जीवन के विधान को उनके अनुकूल नियमित करता है वही विश्व संस्कृतियों के इतिहास में स्थिर स्थान पाने के योग्य है।

विश्व की सृष्टि तो अनन्त है किन्तु अर्वाचीन मान्यता के अनुसार सभ्य मानव का व्यवहार भूतल पर कुछ सहस्र वर्ष पूर्व से ही हुआ है। मानव ने भौतिक स्तर पर अपनी यात्रा के जो चरण चिह्न छोड़े हैं उनका संग्रह और व्याख्या नए युग का एक चमत्कार है। इसके अध्ययन का शास्त्रीय रूप ही वर्तमान इतिहास का विषय है। इसके अनुसार मिस्र, सुमेर, क्रीट, यूनान, खल्दी (कैल्डिया), असुर (असीरिया), बावेरु (बैबिलोनिया), ईरान, भारत, चीन, आदि अनेक जातियों के प्राचीन सांस्कृतिक इतिहासों का उद्घाटन किया गया है। उनकी कथा जानने योग्य है। इस अध्ययन का शास्त्रीय फल तो है ही किन्तु दूसरा प्रत्यक्ष फल मानवीय एकता की अनुभूति है। संस्कृतियों में जहाँ एक ओर अपनी विशेषताएँ और भेद हैं वहीं दूसरी ओर एकता का भाव और भी अधिक है। उनके देवता अनेक हैं किन्तु देव-तत्त्व सब में एक है। सौन्दर्य के विधान अनेक हो सकते हैं किन्तु सौन्दर्य के लिए मन की भावना सर्वत्र विद्यमान है। जीवन के मूल में प्रेम की भावना सबमें समान रूप से पाई जाती है यद्यपि उसके विकास की क्षेत्र-सीमा में भिन्नता है। मनुष्य ने अपनी परिस्थितयों से किस प्रकार संघर्ष किया है और किस प्रकार प्रकृति को अपना मित्र

बनाकर जीवन के रहस्य को आत्मसात् किया है और न्यायपूर्वक रहने की कला और युक्तियों का विकास किया है, कहाँ तक करुणा के क्षेत्र को विस्तृत करके मानव भाग को उस में समेट लेने का सफल अभ्यास किया है, इन सब दृष्टियों से संस्कृतियों को मापने का मानदण्ड प्राप्त किया जा सकता है।

संस्कृति एक ओर मन का विषय है तो दूसरी ओर नितान्त स्थूल और भौतिक मानवीय कृतियों का। भौतिक धरातल पर या भूतों के माध्यम से आत्मा की अभिव्यक्ति ही मानव है जिसमें मानस-तत्त्व, बुद्धि और चिन्तन-शक्ति का सबसे अधिक विकास हुआ है। मन ही मनुष्य है। मनुष्य की बुद्धि जीवन के अनेक मन्त्रों का आविष्कार करती रहती है। संस्कृति विशेष की ऊँचाई नापने का विश्वसनीय मापदण्ड मानव के सुसंस्कृत मन की परख है। यहाँ कोई पक्षपात नहीं रहता। प्रत्येक को विश्व के रंगमञ्च पर किए हुए अपने कर्मों के आधार पर विशुद्धि के अक्षर प्राप्त करने होते हैं।

नदी के प्रवाह के समान प्रत्येक संस्कृति अपने मार्ग से बहती है। वह अपने लिए जिन दो किनारों का निर्माण करती है वही उसकी विशेष सीमा है। उसी में कालचक्र के द्वारा उसके यश का विस्तार होता है। ये दो किनारे कौन से हैं? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक प्रवाह का एक किनारा मन है, दूसरा कर्म। किसने कितना सोचा और किसने कितना किया इससे ही जीवन की नदी बनती है। संस्कृति के जन्म और विकास का भी यही ढाँचा है। विधाता की सृष्टि में सबका नियामक तत्त्व काल है। उसके पट-परिवर्तन से कोई भी अछूता नहीं रहता। विश्व के नाट्य मञ्च पर अनेक यवनि-काएँ उठती और गिरती रहती हैं। नाटक के पात्र अपने ही विचार और कर्म की योग्यता से अभिनय कर चले जाते हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक संस्कृति इतिहास के लिए कुछ सांकेतिक अक्षर लिख जाती है। वे ही मानवीय जीवन रूपी व्याकरण के प्रत्याहार सूत्र हैं। भारत ने अध्यात्म को, यूनान ने सौन्दर्य-तत्त्व को, रोम ने न्याय और दण्ड-व्यवस्था को, चीन ने विराट् जीवन के आधार-भूत नियम को, ईरान ने सत् और असत् के द्वन्द्व को, मिस्र ने भौतिक जीवन की व्यवस्था और संस्कार को, सुमेर और मलेच्छ जातियों ने दैवी दण्ड-विधान को अपनी अपनी दृष्टि से आदर्श रूप में स्वीकार करके उनकी प्रेरणा से संस्कृति का विकास किया। वे सब हमारे लिए मूल्यवान हैं।

संस्कृतियों के इतिहास का एक मर्म ध्यान में आता है और वह यह है कि शरीर का संस्कार और आत्मा का संस्कार दोनों ही मानव के लिए इष्ट हैं। जहाँ दोनों का समन्वय हो वही प्राप्तव्य बिन्दु है। न केवल शरीर के अलंकरण

से संस्कृत का रूप बन सकता है न केवल अध्यात्म के चिन्तन से ही। यह भी स्मरणीय है कि मानव जाति समस्त संस्कृतियों की उपलब्धियों से आज समृद्ध है किसी एक की कृपा से नहीं। अतएव सबके प्रति आस्था का दृष्टिकोण ही विश्व संस्कृति के प्रति सच्चा दृष्टिकोण है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

वासुदेवशरण अग्रवाल

प्राक्कथन

भारत में विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का सांगोपाङ्ग अध्ययन अभी हाल ही में प्रारम्भ हुआ है। इस विषय की अब तक जितनी उपेक्षा होती रही है, उससे हमारी इतिहास-दृष्टि में भारी दोष उत्पन्न हो गया है और हम स्वयं अपने देश के इतिहास और संस्कृति के महत्त्व को समझने में असमर्थ होते जा रहे हैं। आजकल हमारे देशवासियों के मन में या तो यह धारणा मिलती है कि भारत प्राचीन काल में विश्व का गुरु था अथवा वे कुछ पाश्चात्य आलोचकों के साथ यह विश्वास करते पाये जाते हैं कि हमारी प्राचीन संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में सर्वथा उपेक्षणीय थी। इसलिए इस बात की परमावश्यकता है कि हम अपने देश के इतिहास और सांस्कृतिक विकास का विश्व इतिहास और सांस्कृतिक विकास की पृष्ठभूमि में अध्ययन करें। तब हम पायेंगे कि प्राचीन काल में न तो अन्य देशों के निवासी पूर्णतः बर्बर थे और न हमारी संस्कृति उतनी विकृत थी जितनी कुछ पाश्चात्य आलोचक बताते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की 'प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ' पुस्तक के बाद की कड़ी है, यद्यपि इसमें उक्त पुस्तक की विषय-सामग्री के सार को पहले अध्याय में पृष्ठभूमि के रूप में दे दिया गया है। इसमें भी जहाँ तक सम्भव हो सका है नवीनतम गवेषणाओं से प्रकाश में आये तथ्यों को समाविष्ट कर दिया गया है।

पुस्तक में उल्लिखित कुछ ऐसी बातों की ओर लेखक सुधी पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करना चाहता है जो उसके अपने अध्ययन और मनन का परिणाम हैं। उदाहरणार्थ उसने सुझाव रखा है कि सैन्धव धर्म में 'शिव' को मातृशक्ति का भाई और पति दोनों माना जाता था (पृ० ५५१-५२)। इतना ही नहीं उसने यह सम्भावना भी मानी है कि सैन्धव समाज में भाई-बहिन के विवाह की प्रथा प्रचलित थी (पृ० ५५३-५४)। लेखक का विश्वास है कि उसके ये सुझाव सुपुष्ट प्रमाणों पर आधृत हैं। इनके स्वीकार से भारत के धार्मिक और सामाजिक इतिहास पर नया प्रकाश मिलेगा और भारतीय

सामाजिक संगठन के अनेक पक्षों की मीमांसा सरलतर हो जाएगी। इनके अतिरिक्त लेखक ने इस पुस्तक में अपने कुछ ऐसे सुझावों का उल्लेख भी किया है जिनका विस्तरशः विवेचन वह अन्यत्र कर चुका है। उदाहरणार्थ उसने सम्भावना व्यक्त की है कि भारतीय जलप्लावन आख्यान मूलतः भारतीय था (पृ० ५४८) और ऋग्वेद के रुद्र 'झंझावात के साथ आनेवाले विद्युत्धारी घने काले मेघों' का दैवीकरण थे (पृ० ५६६)। क्योंकि इन समस्याओं का विस्तरशः विवेचन इस प्रकार की पुस्तक में उचित नहीं था, इसलिए लेखक इन समस्याओं में रुचि रखनेवाले पाठकों से इन पर अपने अन्यत्र प्रकाशित निबन्धों को (दे० पठनीय सामग्री) एक बार देख जाने का अनुरोध करता है।

कुछ समस्याओं पर लेखक ने प्रचलित मतों के पक्ष अथवा विपक्ष में कुछ नए तर्कों के साथ सबलतररूपेण आग्रह किया है। इनमें सैन्धव सभ्यता के निर्माताओं के अभिज्ञान, इस सभ्यता की तिथि तथा आर्यों के आदि निवास स्थान विषयक समस्याएँ उल्लेखनीय हैं। आजकल कुछ विद्वान् यह स्वीकृत करने लगे हैं कि सैन्धव जनता में आर्येतर द्रविड़ों की प्रधानता थी। लेखक ने भी द्रविड़ों को यह श्रेय देने का अनुरोध किया है, परन्तु इसके साथ ही यह सुझाव भी रखा है कि आर्यों की किसी प्राचीनतर शाखा के भारत आकर बसने और सैन्धव सभ्यता को उसी प्रकार पूर्णरूपेण अपना लेने की सम्भावना भी स्मरण रखनी चाहिए जिस प्रकार यूनान में एकियन यूनानियों ने मिनोअन सभ्यता अपना ली थी। वह भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं से लोथल से ज्ञात 'सौराष्ट्रीय सैन्धव सभ्यता' और 'ब्लेक एण्ड रेड वेयर' संस्कृति की इसी पृष्ठभूमि में मीमांसा करने का आग्रह करता है। उसे यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगती है कि लोथल से प्रकाश में आए अवशेषों में सैन्धव सभ्यता के वे तत्त्व, जिन्हें विशिष्टतः आर्येतर कहा जाता है (जैसे मातृशक्ति की मूर्तियाँ, 'पशुपति' का अंकनवाली मुद्राएँ तथा शिवलिंग आदि), प्रायः अनुपलब्ध हैं। क्या यह सम्भव नहीं है कि 'सौराष्ट्रीय सैन्धव सभ्यता' का सैन्धव सभ्यता से वैसा ही सम्बन्ध रहा हो जैसा माइसिनियन सभ्यता का मिनोअन सभ्यता से था और इसके निर्माता भारत में सम्भवतः ईरान से आनेवाले आर्यों की पहली लहर रहे हों। अगर लेखक का यह सुझाव सही है तो भारतीय आर्यों की इस प्रथम लहर की तुलना यूनानी 'आर्यों' की एकियन शाखा से और ऋग्वेदिक आर्यों की तुलना डोरियन यूनानियों से की जा सकती है। इस दृष्टि से देखने पर यह तथ्य महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इन दोनों देशों में आने वाली आर्यों की पहली लहर ने प्राचीनतर सभ्यताओं को अपनाया और दूसरी लहर ने उनका विध्वंस किया।

सैन्धव सभ्यता की तिथि के विषय में लेखक श्री ह्वीलर द्वारा प्रतिपादित तिथि का विरोध करने के लिए बाध्य है क्योंकि उसका विश्वास है कि सैन्धव सभ्यता सुमेरियन सभ्यता से प्राचीनतर थी और 'सभ्यता का भाव' (आइडिया ऑव सिविलिजेशन) सुमेर से भारत नहीं आया (जैसा कि ह्वीलर महाशय मानते हैं) वरन् भारत से सुमेर गया था (पृ० ५५७-६०)। आर्यों के आदि निवास स्थान की समस्या पर उसने वेन्ट्रिस द्वारा यूनान की 'लाइनियर बी' लिपि के उद्घाटन तथा अन्य नई खोजों पर विचार करने के उपरान्त निष्कर्ष निकाला है कि ज्ञान की वर्तमान अवस्था में ब्रेन्डेस्टीन द्वारा प्रतिपादित मत ही सर्वश्रेष्ठ है (पृ० ४९१-९६)। लेखक की यह आशा ही नहीं विश्वास है कि प्राचीन सभ्यताओं, विशेषतः पुरा-ऐतिहासिक भारतीय सभ्यता के अध्ययन में रुचि रखनेवाले विद्वान् उसके सुझावों और तर्कों पर गम्भीरता तथा सहानुभूति पूर्वक विचार करेंगे।

इस पुस्तक को लिखने में लेखक को अनेक महानुभावों ने सहायता एवं सहयोग प्रदान किया है। सर्वप्रथम वह डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, प्रोफेसर और अध्यक्ष, इतिहास और भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, का अभिनन्दन करता है। यह पुस्तक वस्तुतः उन्हीं की प्रेरणा और उत्साहवर्धन के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आ सकी है। उन्होंने इसकी पाण्डुलिपि देखकर और अनेक बहुमूल्य सुझाव देकर भी लेखक को कृतार्थ किया है। काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के 'कॉलिज ऑव इण्डोलॉजी' के प्रिन्सिपल डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अस्वस्थ होते हुए भी इसकी भूमिका लिखकर उसका उत्साह बढ़ाया है, इसके लिए वह उनका अत्यन्त आभारी है। गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग के सहयोगियों और बन्धुओं ने पुस्तक की पाण्डुलिपि देखकर लेखक को समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव दिए, इसके लिए वह उनका कृतज्ञ है -- विशेष रूप से सर्वश्री शैलनाथ चतुर्वेदी, शिवाजी सिंह और विजयबहादुर राव का। पुस्तक को भारत-सरकार का शिक्षा-मन्त्रालय अपनी एक योजना के अन्तर्गत प्रकाशित करवा रहा है, इसे लेखक उसका अनुग्रह मानता है। विश्वविद्यालय प्रकाशन के अधिकारी श्री पुरुषोत्तमदास मोदी ने इसका प्रकाशन और ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी के श्री ओम् प्रकाश कपूर ने इसका मुद्रण कितने उत्साह से किया है, इसका प्रमाण यह पुस्तक अपने आप है। इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। इसके अतिरिक्त लेखक 'पठनीय सामग्री' में उल्लिखित तथा अन्यान्य उन सभी विद्वान् लेखकों के प्रति भी आभार-प्रदर्शन करता है जिनके ग्रन्थों, निबन्धों और अन्य सामग्री का उपयोग इस पुस्तक में किया गया है।

पुस्तक में दिए गए चित्र और मानचित्र आदि लेखक के अनुज श्री शिवकुमार एम० ए० ने बनाए हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने, अनुक्रमणिका बनाने एवं पुस्तक को छपवाने में भी अत्यन्त तत्परता और लगन के साथ कार्य किया है। इसके लिए वह प्रशंसा के अधिकारी हैं।

गोरखपुर विश्वविद्यालय
१२-१२-१९६२

श्रीराम गोयल

विषय-सूची

खण्ड २ : मिस्र

खण्ड ३ : ईजियन प्रदेश, यूनान और रोम

खण्ड ४ : ईरान

खण्ड ५ : भारत

खण्ड ६ : चीन

चित्र-सूची

मानचित्र-सूची

फलक (प्लेट) सूची

आभार प्रकाशन

पुस्तक में दी गई प्लेट १ (अ) तथा ६ (आ) के लिए लेखक 'ब्रिटिश संग्रहालय' का और १ (आ) के लिए 'लूव्रे संग्रहालय' का आभारी है। प्लेट ३ को छापने की अनुमति उसे 'ओरियन्टल इन्स्टीटयूट', यूनीवर्सिटी ऑव शिकागो से मिली है। इसके लिए वह इस संस्था का उपकार मानता है। प्लेट ४ (अ) के लिए 'काहिरा संग्रहालय' का तथा ७ के लिए 'इवान्स' का ऋणी है। ८ वीं प्लेट को छापने की अनुमति देकर उसे 'आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया' ने उपकृत किया है। प्लेट ४ (आ) तथा ६ (अ) के रेखाचित्र क्रमशः 'वेलिकोवस्की की 'ओएडिपस ऑव अख्नाटन' तथा ब्रेस्टेड की 'कोन्कुएस्ट ऑव सिविलिजेशन' में प्रदत्त चित्रों के आधार पर बनाए गए हैं तथा शेष रेखाचित्र निम्नलिखित पुस्तकों में प्रदत्त चित्रों की सहायता से :

Botsford and Robinson,	*Hellenic History : 117-25*
Breasted, J. H.,	*Conquest of Civilization : 26, 32, 38, 42, 44, 58, 62, 69, 71, 75, 81, 83, 85, 86, 89, 91, 99, 102, 126, 127.*
Breasted, J. H.,	*History of Egypt : 78, 80, 94.*
Burkitt, M. C.,	*Old Stone Age : 1, 9.*
Childe, V. G.,	*Man Makes Himself : 23.*
Durant, Will,	*Our Oriental Heretage : 59, 67, 74.*
Edwards, I. E. S.,	*The Pyramids of Egypt : 76.*
Fitzgerald, C. P.,	*China : 149-51.*
Ghirshman, R.,	*Iran : 129, 130, 132, 135.*
Gurney, O. R.,	*The Hittites : 15, 46, 49-52, 54, 56, 57.*
Hammond, N. G. L.,	*History of Greece : 114.*
Heras, H.,	*Studies in the Proto-Indo-Mediterranean Culture : 17, 20-2, 27-30, 37, 39, 45, 77, 708, 109, 143, 145.*
Herrmann, P.,	*Conquest By Man : 70, 112.*
Kramer, S. N.,	*History Begins at Sumer : 18, 33.*

Marshall, Sir John, *Mohenjo-daro and the Indus Civilization : 138-42, 146.*

Oakley, P. K., *Man the Tool Maker : 3, 4, 6, 8, 11.*

Olmstead, A. T., *History of Persian Empire : 148.*

Piggot, S., *Pre-historic India : 747.*

Singer, C., Holmyard E. J., and Hall, A. R., *A History of Technology I : 13, 16, 19, 24, 25, 31, 34, 36, 43, 48, 60, 61, 63, 64, 68, 73, 79, 82, 87, 90, 92-5, 97, 100, 101, 106, 107, 110, 111, 113, 115, 716, 137, 144.*

Sykes, P. M., *A History of Persia : 72, 128, 131, 133, 134, 736.*

Tomlin, E. W. F., *Great Philosoplers of the East : 152.*

Vishwa Bharati, (Hindi) *: 47, 55, 65, 65, 88.*

Wills, H. G., *The Outline of History : 2, 3, 5, 7, 12, 14, 66.*
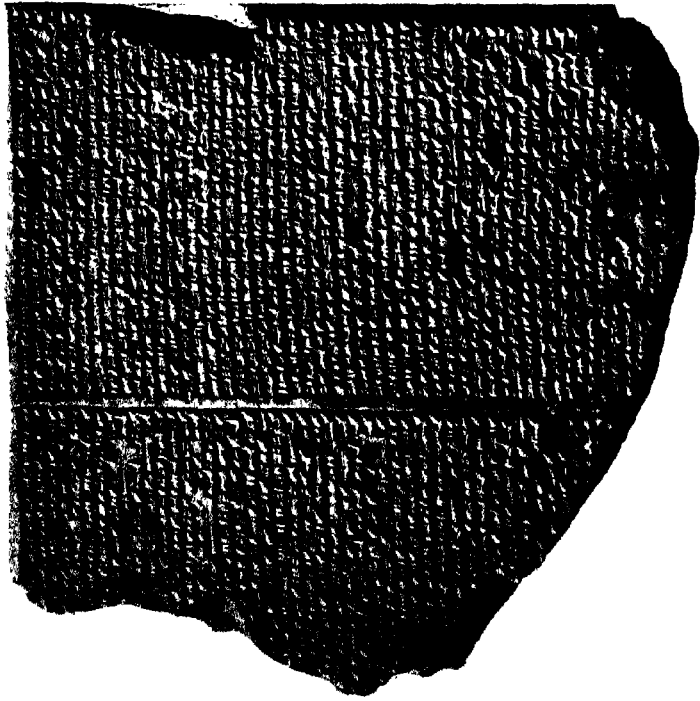
(अ) असुर बनिपाल के पुस्तकालय से प्राप्त एक असीरियन अभिलेख
—ब्रिटिश संग्रहालय

(आ) नरामसिन-पाषाण
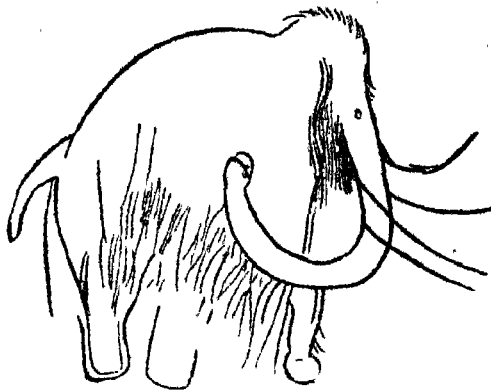
१

प्रागितिहास और सभ्यता का जन्म

So God created man in his own image, in the image of God created he him; male and female created he them. And God blessed them and God said unto them, Be fruitful, and multiply, and replenish the earth, and subdue it and have dominion over the fish of the sea, and over the fowl of the air and over every living thing that moveth upon the earth. —*Genesis.*

मनुष्य का आविर्भाव

जीवनका उद्भव और विकास

जीवन का उद्भव—जबसे मनुष्य को प्राणिजगत् में अपने पृथक् अस्तित्व और वैशिष्ट्य का बोध हुआ, वह अपनी उत्पत्ति की समस्या पर विचार करता रहा है। विश्व के लगभग सभी धर्मोंमें प्राणियों के आविर्भाव और मनुष्य की

इस पृष्ठ के ऊपर दिये गए चित्र में पूर्व-पाषाण काल के सुप्रसिद्ध पशु मैमथ (गजराज) का अंकन है। उसकी तुलना उसका पीछा करते हुए शिकारीके साथ करके उसके बृहद् आकार का अनुमान किया जा सकता है। मैमथ के दंतद्वय की विशालता विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

उत्पत्ति पर प्रकाश डालनेवाली कथाएँ उपलब्ध होती हैं। इनमें सामान्यतः यह मत प्रतिपादित किया गया है कि ईश्वर ने सब प्रकार के प्राणियों की समकालीन परन्तु पृथक्-पृथक् विकसित रूपों में सृष्टि की थी, बाद में उनकी वंशानुवंश परम्परा चलती रही। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अन्य प्राणियों से सर्वथा पृथक् और श्रेष्ठ है और उसकी शारीरिक संरचना और मानसिक दशा में उसके आविर्भाव से लेकर अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। परन्तु आधुनिक काल में हुई वैज्ञानिक गवेषणाओं ने इस विश्वास को निराधार और सत्य के सर्वथा प्रतिकूल सिद्ध कर दिया है। आजकल नृवंशशास्त्री **विकासवाद** (थ्योरी ऑव एवोल्युशन) के अनुसार यह विश्वास प्रकट करते हैं कि मनुष्य और नाना पशुओं तथा पौधों में एक ही प्राण की धारा प्रवाहित और विकसित हुई है। इस दृष्टि के अनुसार सुदूरभूत में, अब से लगभग १९० करोड़ वर्ष पूर्व, पृथिवी पर होनेवाली रासायनिक और भौतिक क्रियाओं के फलस्वरूप भौतिक तत्त्व से जीवतत्त्व स्वयं ही अस्तित्व में आ गया था। प्रारम्भ में **जीवन का प्रादुर्भाव** धूप से प्रकाशित छिछले जल में लसलसी झिल्ली के समान लगनेवाले प्राणियों के रूप में हुआ; कालान्तर में परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण उसकी शरीर-संरचना सरल से जटिलतर होती चली गई जिससे विभिन्न प्रकार के प्राणी अस्तित्व में आए। जीव विकास के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम फ्रांस के **लेमार्क**, इंग्लैण्ड के **डार्विन** (१८०९–१८८२ ई०) तथा **एल्फ्रेड वालेस** (१८२३–१९१३ ई०) इत्यादि विद्वानों ने किया। हाल ही में **ऑगस्टस वीज़मान, ह्यूगो द व्रीज** तथा **सिम्पसन** इत्यादि विचारकों ने इसमें महत्त्वपूर्ण संशोधन किए हैं।

प्राणियों के विकास का इतिहास—जीवशास्त्रियों ने जीवन के विकास को कई युगों में विभाजित किया है। पहला युग, जिसमें ऐसे सूक्ष्म प्राणी उद्भूत हुए जिनका अस्तित्व केवल अनुमान पर आधारित है, **अजीव युग** (आर्क्योजोइक एज) कहलाता है। इसके बाद **प्रारम्भिक-जीव युग** (प्रोटेरोजोइक एज) आता है, जिसमें लसलसी झिल्ली और काई के सदृश प्राणी और पौधे उत्पन्न हुए। यह युग १२० करोड़ वर्ष पूर्व से ५५ करोड़ वर्ष पूर्व तक चला। **प्राचीन-जीवयुग** (पेलियोजोइक एज) में, जिसका उत्तरार्द्ध **प्राथमिक युग** (**प्राइमरी पीरियड**) कहलाता है, पहले विशालकाय जलबिच्छू इत्यादि उत्पन्न हुए और फिर मछलियाँ। ये संसार के रीढ़ की हड्डीवाले प्राचीनतम प्राणी थे। अभी तक पृथिवी पर प्रादुर्भूत होनेवाले सभी प्राणी जलचर थे। **मत्स्य-कल्प** (एज ऑव फिशिज) के अन्त में **अर्द्ध-जलचर-अर्द्ध-थलचर** अर्थात् **उभयचर प्राणी,** जैसे मेंढक और केंकड़े आदि तथा दलदली भूमि में उत्पन्न हो सकनेवाले

पौधे अस्तित्व में आए। **द्वितीयक** (सेकेन्डरी पीरियड) अथवा **मध्य-जीव युग** (मेसोज़ोइक एज) में पृथिवी की जलवायु में परिवर्तन होने के कारण सर्वथा नए प्रकार के प्राणी उद्‌भूत हुए। इनमें सरीसृपों (रेप्टाइल्स) का अत्यधिक बाहुल्य था, इसलिए इस युगको **सरीसृप-कल्प** भी कहते हैं। यह युग अबसे लगभग छः करोड़ वर्ष पूर्व तक चला।

नव-जीव युग—मध्य-जीव युग के पश्चात् जीव-विकास के इतिहास में नव-जीव युग (केनोज़ोइक एज) आता है जो अब तक चल रहा है। इसमें पृथिवी जंगलों और नए प्रकार के जीवों से परिपूर्ण हो जाती हैं। इनमें **पक्षी** और **स्तनपायी प्राणी** प्रमुख हैं। इन्हीं स्तनपायी प्राणियों के नर-वानर (प्राइमेट) परिवार के परिष्कार के द्वारा मनुष्य का आविर्भाव हुआ। इसलिए मनुष्य के उद्भव और विकास के दृष्टिकोण से नव-जीवयुग का अत्यधिक महत्त्व है।

नव-जीवयुग को दो भागों में विभाजित किया जाता है, तृतीयक और चतुर्थक। **तृतीयक युग** (टर्शियरी पीरियड) के अन्त में, जो अब से लगभग दस लाख वर्ष पूर्व समाप्त हुआ, सम्भवतः मानवसम प्राणी (होमिनिड) अस्तित्व में आने लगे थे। **चतुर्थक** (क्वाटर्नरी) युग के प्रारम्भ से उनका अस्तित्व निर्विवाद रूप से सिद्ध किया जा सकता है। इन्हीं मानवसम प्राणियों से कालान्तर में पूर्णमानवों (होमो सेपियन्स) की उत्पत्ति हुई।

प्लीस्टोसीन काल और हिम युग—चतुर्थक युग को भूगर्भवेत्ता दो भागों में विभाजित करते हैं—**प्रातिनूतन** अथवा **प्लीस्टोसीन काल** तथा सर्व-नूतन अथवा होलीसीन काल। प्लीस्टोसीन काल में, जो अब से लगभग बारह सहस्र वर्ष पूर्व तक चला, पृथिवी की जलवायु में बार-बार घोर परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों का कारण उत्तरी प्रदेशों में चार बार भारी हिमपात होना था। उन युगों को जब कि पृथिवी की जलवायु हिमपात के कारण अत्यन्त शीतल हो जाती थी **हिमयुग** (आइस एज) और इनके बीच-बीच में आनेवाले गर्म जलवायुवाले युगों को **अन्तर्हिमयुग** (इन्टर ग्लेशियल एज) कहा जाता है। पहला हिमयुग अब से लगभग छः लाख वर्ष पूर्व आया था और अन्तिम हिमयुग लगभग पचास सहस्र वर्ष पूर्व अपने चरम शिखर पर था। जलवायु में होनेवाले इन परिवर्तनों के कारण मनुष्य के लिए स्वयं को नई परिस्थितियों के अनुसार ढालना आवश्यक हो गया। इससे उसकी **शरीर-संरचना, रहन-सहन और मानसिक दशा में अनेक परिवर्तन हुए**, जिनके कारण वह स्वयं को नर-वानर परिवार के अन्य प्राणियों से पृथक् कर सका और कालान्तर में प्रकृति पर विजय प्राप्त कर सका।

मनुष्य का आदि पूर्वज : 'लुप्तकड़ी' की समस्या—जिस प्रकार नर-वानर परिवार के किसी सदस्य के परिष्कार के द्वारा मनुष्य का आविर्भाव हुआ, उसी प्रकार आजकल मिलनेवाले हाथी, घोड़े, गाय, ऊँट आदि सभी मानवेतर प्राणी अपने-अपने वर्ग के प्राचीनतर प्राणियों से उद्भूत हुए थे। विकासवादियों ने ऐसे बहुत से प्राणियों का क्रमिक विकास सिद्ध करने योग्य साक्ष्य संगृहीत कर लिए हैं। परन्तु अभाग्यवश मानव के विकास की क्रमिक अवस्थाओं का पूर्ण ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया है। साधारणतः यह धारणा प्रचलित है कि विकासवादी **मनुष्य का आदि पूर्वज** बन्दर को मानते हैं। परन्तु यह गलत है। विकासवादी मनुष्य का विकास बन्दर से नहीं वरन् किसी ऐसे 'एन्थ्रोपॉएड एप' से मानते हैं जो गोरिल्ला, चिम्पाञ्जी और औरंगुटांग से मिलता-जुलता होने पर भी उनसे कुछ भिन्न था। सम्भवतः यह प्राणी सीधा खड़ा होकर चलता था और भूमि पर रहता था। पेड़ों पर वह आसानी से चढ़ लेता होगा। उसका मस्तिष्क-कोष ज्ञात एन्थ्रोपाएड एपों से बड़ा, कपाल कुछ गुम्बदाकार और नाक का अग्रभाग चपटा होता होगा। मनुष्य का यह आदि पूर्वज कौन सा प्राणी था और सर्वप्रथम कहाँ आविर्भूत हुआ, इसके विषय में कुछ कहना कठिन है। इसलिए इस अज्ञात प्राणी को **मानव-विकास की लुप्त कड़ी** (मिसिंग लिंक) कहा जाता है। इस कड़ी की खोज करते-करते विद्वानों ने जावा, चीन, यूरोप तथा अफ्रीका से प्राचीन मानवसम प्राणियों के अनेक प्रस्तरित (फोसिलाइज़्ड) अस्थि अवशेष खोज निकाले हैं। वस्तुतः मानव संस्कृति के इतिहास का प्रथम अध्याय लिखनेवाले मानव 'पूर्णमानव' न होकर यही मानवसम प्राणी थे।

मनुष्य की प्रकृति और अन्य प्राणियों पर सफलता के कारण—प्रारम्भ में जब मनुष्य पृथिवी पर प्रकट हुआ तो उसमें और अन्य चतुष्पदों में बहुत कम अन्तर था। लेकिन उसके पास **हाथ, वाक्-शक्ति और विचार-शक्ति,** ये तीन साधन ऐसे थे जिनकी सहायता से वह अन्य प्राणियों और प्रकृति पर विजय प्राप्त कर सका। हाथ की सहायता से **वह विभिन्न प्रकार के उपकरणों का निर्माण कर सकता था,** जब कि अन्य प्राणियों को अपने पंजे, चोंच और नाखून इत्यादि पर निर्भर रहना पड़ता था। इसका आशय यह नहीं है कि मनुष्य आदिकाल से ही हथियारों का निर्माण करना जानता था। प्रारम्भ में वह निश्चित रूप से वृक्षों की डालों और नैसर्गिक प्रस्तर-खण्डों का हथियारों के रूप में प्रयोग करता था। धीरे-धीरे अनुभव बढ़ने पर उसने **हथियार 'बनाना'** सीखा। आदि मानव के जीवन और रहन-सहन के विषय में अन्य तथ्य ज्ञात

न होने के कारण उसके उपकरण ही उसकी यान्त्रिक और औद्योगिक प्रगति के प्रतीक तथा प्रागैतिहासिक और पुरा-ऐतिहासिक युगों में, जिनका अध्ययन करने के लिए हमारे पास लिखित साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं, इस **प्रगति के अध्ययन का एक मात्र साधन** हैं।

मानव सभ्यता के युग—मनुष्य ने अपने हथियारों के निर्माणों में जिन द्रव्यों का उपयोग किया, उनके आधार पर पुरातत्त्ववेत्ताओं ने सभ्यता के इतिहास को दो भागों में विभाजित किया है—**पाषाण काल और धातु काल**। इन युगों को अध्ययन की सुविधा के लिए लघुतर युगों में बाँटा जा सकता है। पाषाण काल को स्थूल रूप से तीन भागों में बाँटा जाता है—पूर्व-पाषाण काल (पेलियोलिथिक एज) मध्य-पाषाण काल (मेसोलिथिक एज) तथा नव-पाषाण काल (नियोलिथिक एज)। पूर्व-पाषाणकाल को पुनः प्रारम्भिक-पूर्व-पाषाण काल, मध्य-पूर्व-पाषाण काल और परवर्ती-पूर्व-पाषाण काल इन तीन युगों में विभाजित किया जाता है।

प्रारम्भिक-पूर्व-पाषाण काल

प्रारम्भिक-पूर्व-पाषाणकालीन मानव जातियाँ

अफ्रीकी मानवसम प्राणी—मानवसम प्राणियों का उद्भव सर्वप्रथम किस प्रदेश में हुआ, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। आजकल बहुत से विद्वान् अफ्रीका को यह श्रेय प्रदान करते हैं क्योंकि यहाँ से प्राप्त 'अफ्रीकी मानव' (**ऑस्ट्रेलोपिथेकस अफ्रीकेनस**) के अवशेषों को, जिनकी खोज १९२४ ई० में **रैमण्ड ए० डार्ट** ने की, प्राचीनतम होने का गौरव दिया जाने लगा है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि 'ऑस्ट्रेलोपिथेकस' ही मानव विकास की लुप्त कड़ी है। 'अधिक सम्भव यही लगता है कि ऑस्ट्रेलोपिथेकस मानव का आदि-पूर्वज न होकर उसका निकट सम्बन्धी रहा होगा।'

जावा और चीनी मानव—अफ्रीका के समान एशिया से भी प्राचीन मानवसम प्राणियों के प्रस्तरित अवशेष प्रचुरता से मिले हैं। इनमें १८९१ ई० में जावा के ट्रिनिल नामक स्थान से और १९२९ ई० में चीन के पेकिंग शहर के निकट चोउकोउतिएन नामक गुफाओं से प्राप्त अवशेष विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन अस्थियों के मानव खड़े होकर चल सकते थे, इसलिए उन्हें क्रमशः जावा मानव (पिथेकेन्थ्रोपस् इरेक्टस या जावा मैन) तथा पेकिंग मानव (पिथेकेन्थ्रोपस्

पेकिनेन्सिस) या चीनी मानव (साइनेन्थ्रोपस इरेक्टस) कहते हैं। ये मानव अब से पाँच-छः लाख वर्ष पूर्व पृथिवी पर विचरण कर रहे थे।

चित्र २ : जावा-मानव

यूरोप के मानवसम प्राणी—१९५२ ई० तक कुछ विद्वानों का यह विश्वास था कि अफ्रीका और एशिया के समान यूरोप को भी मानव के विकास का आदि-स्थल माना जा सकता है। इस विश्वास का आधार १९१२ ई० में चार्ल्स डॉसन नामक व्यक्ति द्वारा इंग्लैण्ड के पिल्टडाउन नामक स्थान से प्राप्त अस्थि-अवशेष थे, जिसके मानव को '**पिल्टडाउन मानव**' या 'उषः मानव' नाम दिये गए। परन्तु १९५२ ई० में यह सिद्ध हो गया कि पिल्टडाउन मानव के अवशेष पाँच लाख वर्ष पुराने न होकर केवल पचास हजार वर्ष पुराने हैं। किसी व्यक्ति ने रासायनिक प्रक्रिया द्वारा इन्हें प्राचीनसम बना दिया था। 'पिल्टडाउन-मानव' का रहस्य खुल जाने के पश्चात् यूरोप से प्राप्त होनेवाला कोई ऐसा अवशेष नहीं बचता जिसे जावा मानव या चीनी मानव के अवशेषों के बराबर प्राचीन माना जा सके। आजकल यूरोप से प्राप्त प्राचीनतम प्रस्तरित मानव अवशेषों में **हीडलबर्ग मानव** का जबड़ा है जो लगभग तीन लाख वर्ष पुराना प्रतीत होता है।

यूरोपके प्रारम्भिक 'पूर्णमानव'—हीडलबर्ग मानव के पश्चात् यूरोप में उन मानवों का युग आता है जिनके अवशेष स्वान्स्कोम्ब, स्टीनहीम और फोंतेशेवाद स्थानों से प्राप्त हुए हैं। "इन मानवों की शरीर-संरचना में ऐसी

कोई बात नहीं मिलती जिसके कारण उन्हें 'पूर्ण मानव' न माना जा सके।" इसलिए हम इन्हें 'प्रारम्भिक-पूर्ण मानव' कह सकते हैं।

भौतिक जीवन

प्रारम्भिक-पूर्व-पाषाण काल के औज़ार और हथियार—पूर्व-पाषाण-काल में मनुष्य अपने औजार और हथियार बनाने के लिए लकड़ियों, प्रस्तर-खण्डों और अस्थियों का प्रयोग करता था। इनमें अधिकांशतः प्रस्तर-खण्डों से निर्मित हथियार ही प्राप्य हैं। प्रारम्भिक-पूर्व-पाषाण काल में, जो मनुष्य के आदि काल से लेकर लगभग ३५,००० वर्ष पूर्व तक चला, ये हथियार अत्यन्त **भद्दे और बेडौल** होते थे। कुछ स्थानों पर पत्थर के टुकड़े के ऊपर से छिलके अथवा फलक (फ्लेक) को उतार कर आन्तरिक भाग **(कोर)** को सामने की ओर से नुकीला कर लिया जाता था। ऐसे हथियार की आकृति बादाम से मिलती-जुलती होती थी। इसे **मुष्टिछुरा** (कूप द पोआँ) या हाथ की कुल्हाड़ी (हैंड एक्स) कहा जाता है। अन्य बहुत से स्थानों पर आन्तरिक या 'कोर' के बदले फलक
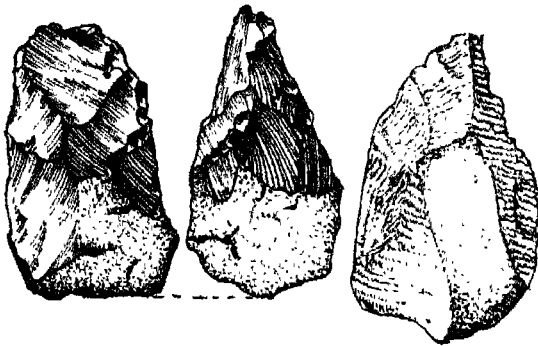
चित्र ३ : शैलियन-मुष्टिछुरे

को उपकरण बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने यूरोप से प्राप्त **कोर संस्कृतियों को** क्रमशः शैलियन, एब्बेविलियन और अशूलियन (चित्र ३) तथा **फलक संस्कृतियोंको** क्लेक्टोनियन और लेवालुआजियन नाम दिये हैं (चित्र ४)। इन संस्कृतियों के आदर्शभूत (टिपिकल) हथियार यूरोप के अतिरिक्त अफ्रीका, दक्षिण भारत तथा आस-पास के अन्य प्रदेशों में भी मिलते हैं। एशिया के शेष भूखण्डों और अफ्रीका के कुछ प्रदेशों में गोल पत्थरों

(पेबल्स) को तोड़कर हथियार बनाए जाते थे। इन्हें **चॉपर-चॉपिंग हथियार** कहा जाता है।

प्रारम्भिक-पूर्व-पाषाणकालीन मानव का जीवन—प्रारम्भिक-पूर्व-पाषाणकालीन मानव के जीवन पर प्रकाश डालनेवाले बहुत कम तथ्य ज्ञात हैं। यह लगभग निश्चित है कि इस काल का मानव **खुले आकाश के नीचे रहता था** और नदियों और झीलों के किनारे विचरण करता था। गुफाओं से उसे कोई मोह नहीं था। केवल पेकिंग-मानव इस विषय में अपवाद मालूम होता है। सम्भवतः **आग से भी उसका परिचय नहीं** था। लेकिन पेकिंग मानव इस विषय में भी अपवाद है। इस काल के मानव की आजीविका का मुख्य स्रोत सम्भवतः **शिकार करना** था। इसके लिए वह प्रस्तरखण्डों और लकड़ी की बर्छियों का प्रयोग करता था। किसी-किसी प्रदेश में बड़े पशुओं का शिकार करने के लिये गड्ढे भी खोदे जाते थे, जिनमें पशु गिरकर फँस जाते थे। स्पेन और इटली से प्राप्त अस्थियों से ज्ञात होता है कि जंगली वृषभ, अश्व और गजराज के शिकार में विशेष रुचि ली जाती थी।
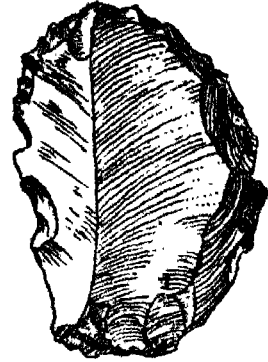
चित्र ४ : एक फलक उपकरण

मध्य-पूर्व-पाषाण काल

नियण्डर्थल जाति

मध्य-पूर्व-पाषाण काल में यूरोप पर नियण्डर्थल जाति का आधिपत्य स्थापित हो जाता है। नियण्डर्थल मानव के अवशेष सर्वप्रथम १८४८ ई० में जिब्राल्टर की एक चट्टान के नीचे मिले थे। उस समय उनकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया। तत्पश्चात् १८५६ ई० में जर्मनी के डुसेल्डोर्फ प्रदेश के नियण्डर्थल नामक स्थान पर एक अस्थिपिंजर के कुछ अंश मिले। इस स्थान के नाम पर इन अस्थियों के मानव को **नियण्डर्थल** कहा गया (चित्र ५)। १९ वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में यूरोप के बेल्जियम, फ्रांस, स्पेन, इटली, यूगोस्लाविया और क्रीमिया इत्यादि देशों से इस मानव के अनेक अस्थिपिंजर खोज निकाले गये।

नियण्डर्थल जातिकी विशेषताएँ—नियण्डर्थल मानव की **शरीर-संरचना** आधुनिक 'पूर्णमानव' से बहुत कुछ मिलती-जुलती होने पर भी कुछ बातों में

भिन्न थी। इस मानव का कद छोटा—५ फुट से ५ फुट ४ इञ्च तक—होता था। उसका सिर बड़ा, नाक चौड़ी परन्तु नुकीली, कन्धे चौड़े और माथा पीछे की ओर ढलका हुआ होता था। उसका अँगूठा मनुष्य के अँगूठे के

चित्र ५ : नियण्डर्थल-मानव

समान लचीला नहीं होता था। वह न तो गर्दन सीधी करके खड़ा हो सकता था और न सत्वर गति से चल सकता था। वह सम्भवतः बोल सकता था, परन्तु भाषा का विकास नहीं कर पाया था। अतः अब से कुछ वर्ष पूर्व तक विद्वानों की धारणा थी कि नियण्डर्थल जाति एक अर्द्धमानव जाति थी जिसको पराजित करके पूर्णमानवों ने परवर्ती-पूर्व-पाषाण काल में यूरोप पर अधिकार किया। परन्तु अब यूरोप में ही स्टीनहीम, स्वान्स्कोम्ब तथा फोंतेशेवाद स्थानों से प्रारम्भिक-पूर्व-पाषाणकालीन 'पूर्ण मानवों' के अवशेष मिल गये हैं (पृ० ६-७)। इससे यह लगने लगा है कि स्वयं नियण्डर्थल भी 'पूर्ण मानव' जाति की एक शाखा थे। सम्भवतः जब मध्य-पूर्व-पाषाण काल में यूरोप में चतुर्थ हिमयुग आया, वे शेष 'पूर्णमानवों' से अलग पड़ गये, जिससे उनकी शरीर-संरचना में कुछ परिवर्तन आ गया। इस दृष्टि से देखने पर नियण्डर्थलों को **मूलतः 'पूर्ण मानव' परिवार का सदस्य** मानना होगा।

नियण्डर्थल संस्कृति

मूस्टेरियन-उपकरण—नियण्डर्थल जाति के पाषाण हथियार और अन्य

उपकरण ल-मूस्टियर स्थान में प्रचुरमात्रा में पाये गये हैं, इसलिए उन्हें 'मूस्टेरियन' नाम दिया गया है। ये हथियार फ्रांस के अतिरिक्त यूरोप के अन्य बहुत से देशों, पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका में भी मिले हैं (चित्र ६)। ये **मुख्यतः फलक हथियार** हैं। मुष्टिछुरे का पुराने ढंग का होने के कारण, बहुत कम प्रयोग हुआ है।

गुफाओं का प्रयोग और अग्नि पर नियन्त्रण—चतुर्थ हिमयुग के शीत से बचने के लिए नियण्डर्थल **गुफाओं में रहते थे**। इस समय मैमथ, भालू और गैंडे जैसे भयंकर पशु भी शीत से बचने के लिए गुफाओं पर अधिकार
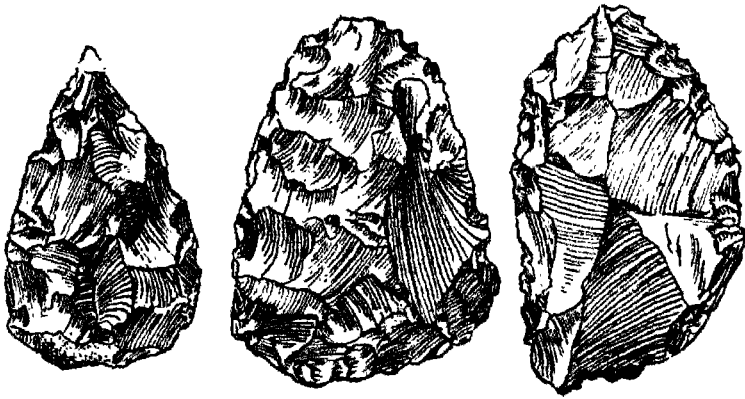
चित्र ६ : मूस्टेरियन उपकरण

करने का प्रयास कर रहे थे। उनको गुफाओं से दूर रखने में नियण्डर्थलों को **अग्नि से बहुत सहायता मिली**। आग से जंगली पशु डरते थे इसलिए गुफाओं के द्वार पर इसे प्रज्जवलित रखकर उन्हें दूर रखा जा सकता था। इसकी सहायता से वे चतुर्थ हिमयुग के भयंकर शीत से बच सकते थे और अंधेरे स्थानों को प्रकाशित कर सकते थे। अग्नि की सहायता से उनका भोजन अधिक सुस्वादु होने लगा। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अग्नि पर ही भविष्य में सभ्यता की प्रगति निर्भर थी। अग्नि पर नियन्त्रण किये बिना न तो मनुष्य धातुओं को पिघला सकता था और न उनसे उपकरण बना सकता था। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि नियण्डर्थलों ने अग्नि पर नियन्त्रण स्थापित करके मानव सभ्यता की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

भोजन, शिकार और सामूहिक जीवन—नियण्डर्थल मानव पूर्णरूपेण **प्रकृतिजीवी** थे। उनका भोजन या तो जंगली फल थे जिनको वे तोड़कर

एकत्र करते थे। अथवा वे पशु थे जिनका वे अकेले अथवा सामूहिक रूप से शिकार करते थे। वे विशालकाय पशुओं का शिकार करते थे, इससे स्पष्ट है कि वे **समूहों** में रहते होंगे। समूह में अधिक संख्या प्रकृत्या स्त्रियों और बच्चों की होती थी। अगर आधुनिक आदिम जातियों के सामाजिक संगठन के आधार पर कुछ कल्पना की जाय तो कहा जा सकता है कि प्रत्येक समूह का एक **मुखिया** होता था। जब समूह का कोई लड़का वयस्क हो जाता था तो वह मुखिया के पद को छीनने का प्रयास करता था। अगर मुखिया इस संघर्ष में जीतता था तो वह उस युवक को समूह से निकाल देता था और यदि युवक जीतता था तो वह मुखिया बन जाता था और समूह के सब सदस्यों पर उसका अधिकार हो जाता था।

मृतक-संस्कार—अपने अस्तित्व के अन्तिम चरण में नियण्डर्थलों ने अपने मृतकों को कुछ आदर और सम्मान के साथ दफनाना प्रारम्भ कर दिया था। वे उनको विशेष रूप से खोदी गई **समाधियों** में गाड़ते थे। बहुधा ये समाधियाँ रहने की गुफाओं में उस स्थान के समीप बनाई जाती थीं जहाँ वे आग जलाते थे। वे अपने मृतकों को विशेष मुद्राओं में लिटाते थे तथा उनके साथ औजार और खाद्य-सामग्री रख देते थे। सम्भवतः उनका विचार था कि **मरने के बाद भी** व्यक्ति का अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में बना रहता है और उस समय भी उसे इस जीवन में प्रयुक्त होनेवाली खाद्य-सामग्री और हथियारों की आवश्यकता पड़ती है।

परवर्ती-पूर्व-पाषाण काल

मानव जातियाँ

'पूर्णमानव' जातियाँ—लगभग ३५,००० ई० पू० के लगभग नियण्डर्थल जाति का यकायक अन्त हो जाता है और उसका स्थान 'पूर्णमानव जातियाँ' लेने लगती हैं। ये परवर्ती-पूर्व-पाषाण काल में यूरोप, उत्तरी और पूर्वी अफ्रीका तथा एशिया के विभिन्न प्रदेशों में एक साथ दिखाई देती हैं, इसलिये यह कहना कठिन है कि इनका सर्वप्रथम आविर्भाव कहाँ हुआ। जिस समय इन्होंने नियण्डर्थलों को पराजित करके यूरोप पर अधिकार स्थापित किया ये कई शाखाओं में विभाजित हो चुकी थीं। यूरोप में इनकी **चार शाखाएँ** ज्ञात हैं—

(१) **क्रोमान्यों-मानव**—इस मानव के अवशेष १८८६ ई० में दक्षिण फ्रांस में क्रोमान्यों गुफाओं में मिले। यह ५ फुट १० इंच से ६ फुट ४ इंच तक लम्बा

होता था। इसका कपाल उन्नत, मुखाकृति चौड़ी तथा ठोड़ी और नाक नुकीली होती थीं (चित्र ७)।

चित्र ७ : क्रोमान्यों मानव

(२) ग्रिमाल्डी मानव—इसके अवशेष १९०१ ई० में फ्रांस में भूमध्यसागर के तट पर ग्रिमाल्डी नामक गुफाओं में मिले। प्रो० वरनो के अनुसार इसके कपाल, ठोड़ी और दाँत आधुनिक नीग्रो जाति से मिलते-जुलते हैं।

(३) कॉब कोपेल मानव—इस मानव के अवशेष फ्रांस के दोर्दोन स्थान से १९०९ ई० में प्राप्त हुए। इसका सिर गोल, नाक चौड़ी, जबड़ा छोटा और ठोड़ी विकसित थी परन्तु क़द क्रोमान्यों से बहुत छोटा—कुल ५ फुट ३ इंच के लगभग—होता था।

(४) शांसलाद मानव—इस जाति के मनुष्य, जिनके अवशेष १८८८ ई० में फ्रांस में प्राप्त हुये, कद में सबसे छोटे थे। पाँच फुट से अधिक तो इनमें कोई न था। अधिकांश विद्वान् इस जाति को ग्रीनलैण्ड की आधुनिक एस्किमो जाति से मिलती-जुलती मानते हैं।

परवर्ती-पूर्व-पाषाणकालीन संस्कृति

नए उपकरण—परवर्ती-पूर्व-पाषाण काल में यूरोप में जो नई जातियाँ आई वे नियण्डर्थलों से अधिक प्रबुद्ध थीं। उनका जीवन भी पूर्वगामी जातियों से अधिक जटिल था। इसलिए उन्होंने हथियार बनाने के लिए पाषाण के साथ **हाथीदाँत, सींग** और **अस्थियों** का भी प्रचुरता से प्रयोग किया है और पाषाणोपकरण बनाने में (आन्तरिक, कोर) और फलक के स्थान पर **ब्लेडों** (अत्यन्त पतले फलकों) को प्रधानता दी। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उनकी संस्कृतियों को तीन युगों में विभाजित किया है—ऑरिन्येशियन, सौल्युट्रियन तथा मैग्डेलेनियन। इनमें **मैग्डेलेनियन-संस्कृति** से सम्बद्ध उपकरण (चित्र ८) सर्वोत्तम है। इनमें बहुतों पर ऐसी आकृतियाँ उत्कीर्ण मिलती हैं जो कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त उच्चकोटि की हैं। ये पूर्णमानवों की सौन्दर्य भावना के समुन्नत होने का प्रमाण हैं।

चित्र ८ : मैग्डेलेनियन उपकरण

आवास, वस्त्र और भोजन—जिस समय 'पूर्ण मानवों' ने नियण्डर्थलों को पराजित करके यूरोप पर अधिकार स्थापित किया, वहाँ की जलवायु पहले से अधिक उष्ण हो गई थी। इसलिए उनके लिए खुले आकाश के नीचे रहना इतना कठिन नहीं था। फिर भी चतुर्थ हिमयुग के शीत का अभी पूर्णरूपेण अन्त नहीं हुआ था इसलिए वे **गुफाओं का**, जहाँ वे उपलब्ध थीं, प्रयोग करने से नहीं चूकते थे। जहाँ गुफाएँ उपलब्ध नहीं थीं वहाँ वे शीत से बचने के लिए खाल के **तम्बू** बनाते थे या भूमि में गड्ढे खोदकर उन पर खाल तान देते थे। सम्भवतः वे रहने के लिए **झोपड़ियों** का निर्माण करना भी जानते थे। लकड़ी कम उपलब्ध थी, इसलिए वे अपने घरों को गर्म रखने के लिए अस्थियाँ जलाते थे। उनकी बनाई हुई **सुइयों** के अस्तित्व से पता चलता है कि सम्भवतः वे खाल को सीकर **वस्त्र** का रूप देना भी जानते थे।

आर्थिक जीवन—आर्थिक दृष्टि से परवर्ती-पूर्व-पाषाणकालीन मानव अपने पूर्वजों के समान कृषि और पशुपालन से अपरिचित होने के कारण **शिकार और जंगली फलों पर अवलम्बित** था। लेकिन **धनुष-बाण** और मछली पकड़ने के लिए **हार्पून** जैसे नए हथियारों के आविष्कार के कारण वह इस कार्य में अधिक सफल होने लगा था। शिकार में अब वह चित्रों के माध्यम से **जादू की सहायता** लेने का भी प्रयास करने लगा था, क्योंकि इस काल के बहुत से **भित्ति-चित्र**, जिनमें अधिकांशतः शिकार से सम्बन्धित हैं, तत्कालीन गुफाओं में प्राप्त होते हैं (पृ० १५)।

स्थापत्य कला—परवर्ती-पूर्व-पाषाणकालीन मानवों की कलात्मक प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने न केवल भित्ति-चित्र बनाये वरन् अस्थियों और सींगों से निर्मित औजारों और हथियारों पर नक्काशी करके सुन्दर आकृतियाँ और हाथीदाँत तथा मिट्टी की मूर्तियाँ भी बनाईं। कुछ **नारी-मूर्तियों** में, जिनको पुरातत्वशास्त्री 'रति' या **'वीनस' की मूर्तियाँ** कहते हैं, सिर बहुत छोटे दिखाये गये हैं, बालों के स्थान पर कुछ लकीरें खींच दी गई हैं परन्तु पेट, नितम्ब और स्तनों को अपेक्षाकृत बड़ा दिखाया गया है (चित्र ९)। ऐसा लगता है कि ये मूर्तियाँ मातृ-शक्ति के किसी रूप से सम्बद्ध थीं।

चित्र ९ : ऑरिन्येशियन युगीन नारी मूर्ति

चित्रकला और धार्मिक विश्वास—परवर्ती-पूर्व-पाषाण काल के **प्रारम्भिक चित्र** बहुत सुन्दर नहीं हैं। ये आजकल के बाल-चित्रों के समान लगते हैं। इनमें बहुधा चतुष्पद पशुओं के केवल दो पैर—एक अगला एक पिछला—दिखाये गये हैं। ऐसा लगता है मानों पशुओं की छायाओं को छोटा करके उनके चारों ओर रेखाएँ खींच दी गई हैं। परन्तु **मैग्डेलेनियन-युग** तक पहुँचते-पहुँचते उनके चित्र तकनीक और सौन्दर्य दोनों की दृष्टि से इतने उत्कृष्ट हो जाते हैं कि आधुनिक कलाकारों के लिए भी उनका निर्माता होना गौरव का कारण हो सकता है। उनकी चित्रकला के सर्वोत्तम नमूने १८७९ ई० में उत्तरी स्पेन में **अल्तमीरा** स्थान की प्रागैतिहासिक गुफाओं की छतों और दीवारों पर प्राप्त हुए

हैं। इनमें चारों रंगों से बनाया गया जंगली भैंसे का एक चित्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह मैग्डेलेनियन-युग की ही नहीं समस्त **प्रागैतिहासिक काल की चित्रकला का सर्वोत्तम नमूना है**। ये चित्र बहुधा ऐसे स्थानों पर प्राप्त होते हैं, जहाँ दिन में भी घोर अंधकार रहता था और आज कल भी प्रकाश का प्रबन्ध करने में कठिनाई होती है। कुछ चित्र तो ऐसे स्थानों पर बनाये गये हैं जहाँ कलाकार को बड़ी कष्टप्रद मुद्रा में बैठना पड़ा होगा। स्पष्ट है कि गुफाओं को सजाने अथवा अपनी सौन्दर्यानुभूति को अभिव्यक्ति देने के लिये इतने कष्ट उठाने की आवश्यकता न थी। इसलिए **फ्रेज़र** और **बर्किट** इत्यादि विद्वानों ने यह मत रखा है कि **ये चित्र उनकी खाद्य-समस्या से सम्बद्ध हैं**। सम्भवतः परवर्ती-पूर्व-पाषाणकालीन
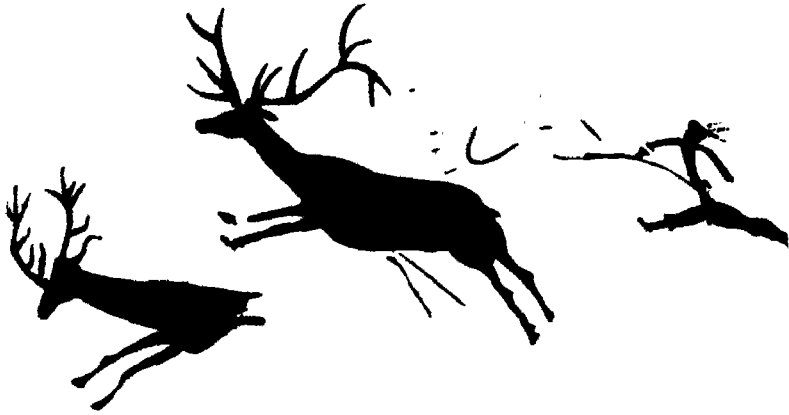
चित्र १० : परवर्ती-पूर्व-पाषाण काल का एक गुहाचित्र

मानवों का विचार था कि किसी पशु का शिकार करने के पहले यदि उसकी आकृति का शिकार कर लिया जाय तो वास्तविक शिकार में निश्चित रूप से सफलता मिलती है, क्योंकि उस पशु की आत्मा चित्र में पहले ही बन्दी हो जाती है। इसलिए किसी बड़े पशु का शिकार करने के पहले उनके चित्रकार उस पशु की आकृति बनाते होंगे, और उसका 'दर्शन' अपने साथी शिकारियों को कराते होंगे। इस दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि वे स्थान जहाँ ये चित्र बनाए जाते थे एक प्रकार के **मन्दिर** थे और इन चित्रों को बनाने वाले कलाकार इन मन्दिरों के **पुजारी**। उन्हीं के हाथ में वह **जादू** था जिसके द्वारा पशुओं की आत्मा को पकड़कर समूह के लिये खाद्य-सामग्री सुलभ की जा सकती थी। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्तियों का समूह में अत्यधिक प्रभाव रहता होगा। **परलोक के विषय में उनके विचार** नियण्डर्थल युग से अधिक विकसित हो गये

थे, क्योंकि वे न केवल अपने मुर्दों को दफनाते थे वरन् उनके साथ आभूषण, हथियार और खाद्य-पदार्थ भी रख देते थे। **मृतकों के शरीर को वे लाल रंग से रंगते थे।** लाल रंग रक्त का प्रतीक है। सम्भवतः उनकी यह धारणा थी कि मृत शरीर को लाल रंग से रंग देने पर जीवन की लालिमा पुनः लौट आती है।

ज्ञान-विज्ञान—परवर्ती-पूर्व-पाषाणकालीन मानवों ने अप्रत्यक्ष रूप से बहुत-सा ज्ञान अर्जित किया और भावी ज्ञान-विज्ञान की नींव डाली। उदाहरणार्थ पशुओं के चित्र बनाने के लिए उन्होंने उनकी शरीर-संरचना का गहन अध्ययन किया। दूसरे, उन्होंने खाद्याखाद्य-पदार्थों के सम्बन्ध में नियण्डर्थलों के ज्ञान को बढ़ाया। कौन पदार्थ खाने योग्य हैं, कौन पदार्थ विषाक्त हैं, खाद्य-पदार्थ कहाँ मिलते हैं, किस ऋतु में प्राप्त होते हैं तथा किस पशु को कहाँ और कब पाया जा सकता है—ये सब बात उनका ज्ञान-विज्ञान थीं। इन्हीं से कालान्तर में वनस्पति-शास्त्र, प्राणी-शास्त्र और ऋतु-शास्त्र इत्यादि विशिष्ट विद्याओं का जन्म हुआ।

मध्य-पाषाण काल

यूरोप में मध्य-पाषाण काल—पूर्व-पाषाणकालीन मनुष्य पूर्णरूपेण प्रकृति-जीवी था। नव-पाषाण काल में उसने प्रथम बार कृषिकर्म और पशु-पालन द्वारा

चित्र ११ : लघुपाषाणोपकरण

अतिरिक्त खाद्य-सामग्री उत्पन्न करना सीखा। पुरातात्विक दृष्टिकोण से यह युग पॉलिशदार पाषाणोपकरणों का था। यूरोप में ये परिवर्तन कुछ धीमी गति से

हुए। वहाँ कुछ सहस्र वर्षों के लिये पूर्व-पाषाण काल और नव-पाषाण काल के मध्य एक **संक्रान्ति-काल** का अस्तित्व माना जाता है जिसे पुरातत्त्ववेत्ता **मध्य-पाषाण काल** नाम से पुकारते हैं। मध्य-पाषाण काल की विशेषता **लघुपाषाणोपकरण** (माइक्रोलिथ्स्) हैं, जिन्हें लकड़ी या हड्डी के डंडे में लगाकर तत्कालीन मानव बड़े हथियार बनाते थे (चित्र ११)।

भोजन और शिकार—परवर्ती-पूर्व-पाषाणकालीन मानवों के समान मध्य-पाषाणकालीन मानव का प्रमुख भोज्य-पदार्थ **शिकार से प्राप्त मांस** था। परन्तु इस काल में शिकार किये जानेवाले पशुओं और **शिकार की प्रणाली में पूर्णरूपेण परिवर्तन** हो जाता है। मध्य-पाषाण काल में विशालकाय पशुओं की संख्या कम होती जा रही थी, इसलिये मनुष्य को बड़े-बड़े समूहों में रहने की आवश्यकता नहीं रही। इस काल के पशुओं, जैसे हिरण, खरगोश और बारहसिंगा इत्यादि का शिकार अकेले या छोटे-छोटे समूहों में करने में आसानी होती थी। इसलिये मध्य-पाषाण काल में मनुष्य हमें यूरोप के विभिन्न भागों में छोटे-छोटे समूहों में बिखरा दिखाई देता है। इस काल में मनुष्य ने एक नई बात और सीखी और वह थी **शिकार करने में कुत्ते का सहयोग** प्राप्त करना। कुत्ता मनुष्य का सबसे पुराना पशु-मित्र है। यह पहला पशु है जिसे मनुष्य पालतू बनाने में समर्थ होता है।

नव-पाषाण काल

नव-पाषाणकालीन आविष्कार

कृषि-कर्म—जिस समय मध्य-पाषाण काल में जलवायु उष्णतर होती जाने के कारण यूरोप की भूमि वनों से आच्छादित होती जा रही थी, ईरान, पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका में महत्त्वपूर्ण भौगोलिक परिवर्तन हो रहे थे। ये प्रदेश पूर्व-पाषाण काल के अन्त में घास के हरे-भरे मैदान थे। अब इनकी जलवायु भी पहले से अधिक शुष्क हो गई और घास के हरे-भरे मैदान रेगिस्तान बनने लगे। इससे यहाँ के निवासियों को केवल शिकार पर जीवन व्यतीत करना असम्भव मालूम देने लगा, और वे यह सोचने के लिए विवश हो गये कि खाद्य-सामग्री कैसे बढ़ाई जाये। इस विषय में पुरुष वर्ग तो अधिक सफलता प्राप्त न कर सका परन्तु **स्त्रियों ने**, जो जंगली घासों के खाने योग्य बीज इत्यादि जमा करती रहती थीं, यह खोज की कि अगर इन बीजों को गीली मिट्टी में दबा

दिया जाय तो कुछ महीनों में उन बीजों की कई गुनी मात्रा उत्पन्न हो जाती है। इससे कृषि-कर्म अस्तित्व में आया। कृषि-कर्म के अस्तित्व के प्राचीनतम प्रमाण पश्चिमी एशिया में जेरिको, जरमो, अनो तथा सियाल्क और मिश्र में फायूम, बदरी तथा तासा **स्थलों** (साइट्स) से मिले हैं।

पशुपालन का आविर्भाव—यह उद्योग भी तत्कालीन जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण अस्तित्व में आया। जब इन प्रदेशों में वर्षा कम होने लगी और घास के मैदान रेगिस्तानों में बदलने लगे तो यहाँ के वन्य पशु और मनुष्य, दोनों ही नखलिस्तानों के समीप रहने के लिए बाध्य हो गये। इनमें बहुत से पशु जैसे गाय, भैंस, भेड़, बकरी तथा सुअर इत्यादि जो घास और चारा खाकर रह सकते थे, **मानव आवासों के निकट चक्कर काटने लगे**। इस समय तक मनुष्य इन पशुओं से काफी परिचित हो गया था। वह यह भी समझ गया था कि अगर ये पशु उसके समीप रहेंगे तो वह जब चाहे उनका शिकार कर सकेगा। इसलिये वह अपने खेत से उत्पन्न चारा उन्हें खाने के लिये देने लगा और हिंस्र प्राणियों से उनकी रक्षा करने लगा। धीरे-धीरे ये पशु पूर्णरूपेण उस पर निर्भर हो गए।

मृद्भाण्ड कला का आविष्कार—कृषि-कर्म और पशुपालन के कारण मनुष्य को खाद्य-सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलने लगी, परन्तु इसका उपयोग करने के लिये पात्रों का अभाव था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मनुष्य ने मिट्टी के बर्तन बनाने के की कला का आविष्कार किया। यह आविष्कार कब और कैसे हुआ यह कहना कठिन है। हो सकता है किसी समय किसी **स्त्री ने** यह देखा हो कि मिट्टी से लिपी हुई टोकरी के आग में जल जाने पर टोकरी के आकार का पकी हुई मिट्टी का बर्तन बच रहता है, और इस अनुभव से लाभ उठाकर उसने मृद्भाण्ड बनाने की कला को जन्म दिया हो।

कातने और बुनने की कला—मिस्र और पश्चिमी एशियाके नवपाषाणकालीन अवशेषोंसे पता चलता है कि इस युग में कपड़ा बुनने की कला का भी आविष्कार हो गया था और सूत, पटसन तथा ऊन से बने **वस्त्र** पूर्व-पाषाण काल के खाल और पत्तियों से बने वस्त्रों का स्थान लेने लगे थे। पुरातत्त्ववेत्ताओं को उत्खनन में इस युग के स्तरों से **चर्खे** के कुछ अंश प्राप्त हुए हैं। **चर्खे** का आविष्कार भी एशिया में नव-पाषाण काल में ही हो गया था। यह आविष्कार, जिसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं है, विश्व के महानतम आविष्कारों में से एक है।

पॉलिशदार उपकरण—पूर्व-पाषाणकालीन मानव के हथियार और औजार बेडौल और खुरदरे होते थे। नव-पाषाणकालीन मानव ने **चिकने, चमकदार और सुडौल** हथियार बनाने की विधि का आविष्कार किया। इनमें कठोर पत्थर की **पॉलिशदार कुल्हाड़ी** (पॉलिश्ड स्टोन एक्स) प्रमुख है (चित्र १२)। इसको बनाने के लिए प्रस्तर-खण्ड के एक सिरे को घिसकर धारदार बनाया जाता था और दूसरी ओर लकड़ी या सींग की मूठ लगा दी जाती थी। इस प्रकार का हथियार पूर्व-पाषाण काल में अज्ञात था। इससे मनुष्य को यह सुविधा प्राप्त हो गई कि वह वनों को काट सके और लकड़ी को चीर सके। इससे **काष्ठकला** अस्तित्व में आई।
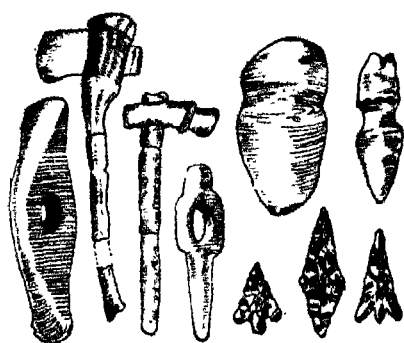
चित्र १२ नव-पाषाणकालीन पॉलिशदार उपकरण

अन्य उपकरण—नव-पाषाणकालीन मानव का बौद्धिक स्तर पूर्व-पाषाण-कालीन मानव से बहुत ऊँचा था। उसने अपनी बुद्धि का प्रयोग करके अन्यान्य औजार और हथियार भी बनाये। उसने ऊपर चढ़ने के लिए **सीढ़ी** बनाई झीलों तथा नदियों को पार करने के लिए **नाव का** आविष्कार किया तथा फसल काटने के लिए **हँसिये,** सूत कातने के लिए **तकली** और **चर्खे** तथा बुनने के लिए **कर्घे** का निर्माण किया। नरकुल (रीड) की शाखों से **सीटियाँ** बनाने की कला भी उसे ज्ञात थी।

नवीन आविष्कारों का प्रभाव

जनसंख्या में वृद्धि—नव-पाषाण काल में किये गये आविष्कारों ने मानव जीवन में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। पूर्व-पाषाण काल में, जो कई युग लाख वर्ष तक चला, मनुष्य को सदैव प्रकृति पर निर्भर रहना पड़ा। इससे उस युग में जनसंख्या उससे अधिक नहीं बढ़ पाती थी जितनी कि उदरपूर्ति प्रकृति द्वारा प्रदत्त फलमूलों और वन्य पशुओं से हो सकती थी। कृषि-कर्म और पशुपालन का आविष्कार हो जाने से **वर्द्धमान जनसंख्या की समस्या हल हो गई**। अब किसी ग्राम के निवासियों को जनसंख्या बढ़ जाने पर केवल दो-चार अतिरिक्त

खेतों में खेती करनी होती थी या पालित पशुओं की संख्या बढ़ानी होती थी। इसलिये इस युग में **जनसंख्या बहुत तेजी के साथ बढ़ती है**, और मनुष्य ऐसे बहुत से प्रदेशों में निवास करने लगता है जहाँ पूर्व-पाषाण काल में उसका अस्तित्व बिल्कुल नहीं था।

स्थायी जीवन को प्रोत्साहन—कृषि-कर्म के आविष्कार से स्थायी रूप से एक स्थान पर **घर बनाकर रहने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन** मिला। इस युग में **सीढ़ी, घिरनी** और **चूल** आदि का आविष्कार हो गया था। इनसे स्थायी **मकान** बनाने में सहायता मिली। नव-पाषाणकालीन मकानों में स्विट्ज़रलैण्ड में **झीलों पर बनाये गये मकान** विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये लकड़ी के लट्ठों को झील के पानी में गाड़कर बनाये जाते थे। इनमें आने-जाने के लिए सीढ़ियों का प्रबन्ध था। इनकी दीवारों को टट्टर पर मिट्टी का प्लास्टर करके और छत को भूसे, छाल तथा नरकुल से बनाया जाता था।

सामाजिक-व्यवस्था—नव-पाषाण काल के अधिकांश आविष्कार स्त्रियों ने किये थे। इसलिए यह अनुमान किया जाता है कि इस युग में उन पर खेत जोतने, आटा पीसने, खाना बनाने, सूत कातने, कपड़ा बुनने तथा आभूषण और बर्तन बनाने इत्यादि अधिकांश कार्यों का उत्तरदायित्व था। पुरुष खेती के काम में स्त्रियों की सहायता, पशुओं का पालन और शिकार करते थे। औजार और हथियार भी वही बनाते थे। परन्तु **स्त्रियों और पुरुषों में श्रम-विभाजन हो जाने पर भी** समाज में सम्मिलित रूप से **औद्योगिक विशिष्टी-करण नहीं हो पाया** था। प्रत्येक **परिवार** और गाँव को आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु—खाद्य-सामग्री, मृद्‌भाण्ड, कपड़े, औजार, हथियार इत्यादि—स्वयं उत्पन्न करनी या बनानी होती थी। इसका प्रमुख कारण था तत्कालीन युग में **यातायात के साधनों का अभाव**। उस युग में गाड़ियाँ इत्यादि नहीं थीं और पशुओं का भारवाहक के रूप में प्रयोग प्रारम्भ नहीं हुआ था। **माल ढोने का कष्टकर कार्य सम्भवतः स्त्रियाँ करती थीं**, इसलिए एक गाँव से दूसरे गाँव को माल भेजने में अत्यन्त असुविधा होती थी। नव-पाषाण काल में सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करने वाली शक्ति क्या थी, यह बताना बड़ा कठिन है। सम्भवतः उनकी सामाजिक-संगठन की इकाई **'क़बीला'** था। हर क़बीले का एक **चिह्न** (टोटेम) होता था, जिसे क़बीले के सदस्य अपना आदिपूर्वज मानते थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इस युग में **'राजा'** भी अस्तित्व में आने लगे थे। परन्तु इसे निश्चयपूर्वक कहना असम्भव है।

कला, धर्म और बृहत्पाषाण—नव-पाषाण काल की कलाकृतियाँ बहुत

थोड़ी हैं। मिस्र, सीरिया, ईरान, दक्षिण-पूर्वी यूरोप और भूमध्यसागरीय प्रदेश से मिट्टी, पत्थर और अस्थियों की कुछ **नारी-मूर्तियाँ** प्राप्त हुई हैं जो मातृ-शक्ति सम्प्रदाय से सम्बद्ध हो सकती हैं। उनकी कलाकृतियों में सबसे महत्त्वपूर्ण
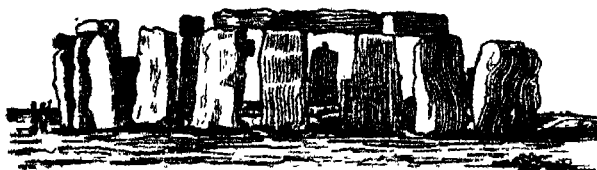
चित्र १३ स्टोनहेंज का 'बृहत्पाषाण'

स्थान **बृहत्पाषाणों** (मेगेलिथ्स्) को प्राप्त है, जो मृतकों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए स्मारकों के रूप में खड़े किये जाते थे (चित्र १३)। अधिकांश नव-पाषाणकालीन समूह अपने मृतकों को **कब्रिस्तानों** या **घरों** में गाड़ते थे और उनके साथ मृद्भाण्ड, हथियार और खाद्य-सामग्री रख देते थे। वे इस संस्कार में पूर्व-पाषाणकालीन मानवों से अधिक सावधानी बरतते थे।

ज्ञान-विज्ञान—नव-पाषाणकालीन मानव का ज्ञान-विज्ञान पूर्व-पाषाण-कालीन मानव के ज्ञान विज्ञान से बहुत समुन्नत था। शताब्दियों के अनुभवों और प्रयोगों द्वारा उन्हें बहुत-सी नई बातें मालूम हो गई थीं। मिट्टी पकाने का **रसायन-शास्त्र**, खाना पकाने का **जीव-रसायन-शास्त्र** तथा बहुत-सी वस्तुओं के उत्पादन के **कृषि-शास्त्र** से अब वे परिचित हो गये थे। कृषि का जलवायु से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और इसका पूर्व ज्ञान प्राप्त करने में सूर्य, चाँद और सितारों की गतिविधि का अध्ययन करने से बहुत सहायता मिलती है। नव-पाषाण काल में मनुष्य ने सम्भवतः इस दिशा में भी पग उठाना आरम्भ कर दिया था।

ताम्र-प्रस्तर काल

ताम्रकालीन आविष्कार

नए आविष्कारों की आवश्यकता—नव-पाषाण काल के अन्त तक मानव सभ्यता के अधिकांश आधार-स्तम्भों का निर्माण हो चुका था। मनुष्य ने कृषि-कर्म और पशुपालन के द्वारा प्रकृति को काफी सीमा तक अपने वश में कर लिया था और मकान, मृद्भाण्ड तथा वस्त्र इत्यादि के निर्माण की विधियों का आविष्कार कर लिया था। परन्तु इन सफलताओं से उसकी सम-

समस्याएँ स्थायी रूप से हल नहीं हो पाईं। वह अभी तक हल, खाद, कृत्रिम सिंचाई और पहिये इत्यादि से सर्वथा अपरिचित था। इसलिए दो-तीन फसल के बाद जब भूमि शक्तिहीन हो जाती थी, उसे नये खेत तलाश करने पड़ते थे। इसी प्रकार पालित पशुओं की संख्या बढ़ने पर नये चरागाहों की आवश्यकता पड़ती थी। परन्तु भूमि का विस्तार सीमित है। इसलिये एक समय ऐसा आया जब नये खेत और चरागाह मिलने बन्द हो गये। दूसरे शब्दों में **जनसंख्या की उदरपूर्ति की समस्या फिर सामने आई।** इसके अतिरिक्त उस आदिम युग में अतिवृष्टि और अनावृष्टि जैसे प्राकृतिक संकट आने पर बाह्य सहायता के बिना अस्तित्व बनाये रखना प्रायः दुष्कर हो जाता था और **यातायात के साधनों के अभाव में** एक गाँव से दूसरे गाँव को माल भेजना असम्भव रहता था। इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्य ने हल, जुआ (योक), पालदार नाव, पहियेदार गाड़ी तथा कुम्हार का चाक इत्यादि अनेक वस्तुओं का आविष्कार किया। ये आविष्कार ५००० ई० पू० से ३००० ई० पू० के मध्य किये गये। पुरातात्त्विक दृष्टि से यह युग ताम्र के उत्पादन और उससे विविध प्रकार के उपकरण बनाने की विधियों की खोज का है जिनके कारण शनैः शनैः ताम्र उपकरण पाषाण उपकरणों का स्थान लेने लगते हैं। इसलिए पुरातत्त्ववेत्ता इस युग को **ताम्र-प्रस्तर काल** (चेल्कोलिथिक् एज) अथवा **ताम्र काल** (कॉपर एज) संज्ञा देते हैं।

ताम्रकालीन संस्कृति का उदय-स्थल—ताम्र काल का प्रादुर्भाव उस विशाल भूभाग में हुआ जो मिस्र और पूर्वी भूमध्यसागरीय प्रदेश से भारत में सिन्धु नदी की घाटी तक विस्तृत है (मानचित्र १)। इसमें नील नदी की घाटी, ईजियन प्रदेश, एशिया माइनर, सीरिया, पेलेस्टाइन, असीरिया, बेबिलोनिया, ईरान, अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिमी भारत सम्मिलित हैं। यह प्रदेश अपेक्षाकृत शुष्क है, तथापि ऐतिहासिक युग के पूर्व यहाँ अब से अधिक वर्षा होती थी। इसका बहुत-सा भाग पर्वतों और रेगिस्तानों द्वारा घिरा हुआ है परन्तु बीच-बीच में नदियों की **घाटियाँ** और हरे-भरे **नखलिस्तान** हैं। यहीं पर नव-पाषाणकालीन ग्राम-सभ्यता का उदय हुआ था। ताम्रकालीन पुरातात्त्विक अवशेष भी सर्वप्रथम इन्हीं नखलिस्तानों और घाटियों में अवस्थित नव-पाषाणकालीन ग्रामों के ऊपरी स्तरों से प्राप्त होते हैं। ईरान तथा पश्चिमी एशिया के ताम्रकालीन स्थलों में सियाल्क, तैल हलफ, अलउबैद, तेप गावरा और जम्देतनस्र तथा **मिस्र के स्थलों में** बदरी, अम्रती तथा जरजेह प्रसिद्ध हैं।

ताम्र का उपकरण बनाने के लिए प्रयोग—ताम्र का हथियार और

औजार बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाना मानव सभ्यता के इतिहास में क्रान्तिकारी आविष्कार था। ताम्र एक लचीली धातु है। इसे न केवल पाषाण की तरह घिसा जा सकता है वरन् आसानी से मोड़ा और हथौड़े से पीटकर इच्छित रूप दिया जा सकता है। इसके उपकरणों में पत्थर के उपकरणों के समान **कठोरता और तीक्ष्णता** तो होती ही है, साथ ही **स्थायित्व** भी होता है। पकी मिट्टी और पाषाण से बने हथियारों को एक बार टूट जाने पर जोड़ा नहीं जा सकता परन्तु ताम्र के उपकरण न तो इस प्रकार टूटते हैं, और यदि खराब भी हो जाते हैं तो उन्हें गलाकर नये उपकरण बनाये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त **ताम्र को पिघलाया जा सकता है**। अगर तरलावस्था में इसे किसी साँचे में डाल दिया जाय और फिर ठण्डा कर लिया जाय, तो यह उस साँचे का रूप धारण कर लेता है परन्तु इसकी कठोरता लौट आती है। **ढालकर उपकरण बनाना सम्भव** होने से ताम्र से कम-से-कम उतने प्रकार के उपकरण बन सकते हैं जितने प्रकार के साँचे उपलब्ध हों।

कृषि-कर्म सम्बन्धी आविष्कार—पशुओं से खाल, माँस और दूध इत्यादि की प्राप्ति मनुष्य नव-पाषाण काल में ही करने लगा था। अब उसने **जुए** (योक) का आविष्कार किया जिसमें बैलों को जोतकर हल खिंचवाया जा सकता था। स्वयं **हल** का आविष्कार कब हुआ यह कहना कठिन है। इतना निश्चित है कि इसका आविष्कार २००० ई० पू० से कई शताब्दी पहले हो गया था। हल के आविष्कार से कृषि-कर्म और पशुपालन घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हो जाते हैं। अब प्रत्येक किसान को अपने घर में बैल रखने की व्यवस्था करनी पड़ी। इससे **खाद के लिए गोबर** उपलब्ध होने लगा। इससे भी उपज में वृद्धि हुई।

यातायात सम्बन्धी आविष्कार—बैलों का हल खींचने में प्रयोग होने का एक अप्रत्यक्ष परन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रभाव यातायात पर पड़ा। जब मनुष्य ने बैलों को हल खींचते देखा तो उसे यह विचार आया कि **बैल** भार ढोने का काम भी कर सकते हैं। परन्तु सबसे पहला पशु, जिसे यह कार्य दिया गया, बैल न होकर **गधा** था। **घोड़े** का घुड़सवारी, गाड़ी खींचने और भार ढोने के लिए प्रयोग बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ। यातायात में सबसे क्रान्तिकारी आविष्कार **पहिये** का था, जिससे **गाड़ियाँ** अस्तित्व में आईं। २००० ई० पू० के लगभग दो और चार पहियेवाली गाड़ियाँ पश्चिमी एशिया में प्रयुक्त हो रही थीं। **नाव** बनाने की विधि का आविष्कार मनुष्य ने नव-पाषाण काल में ही कर लिया था। इस युग में उसने **पाल का प्रयोग** करना सीखा। कालान्तर में यातायात की यह विधि अन्य सब विधियों से सस्ती सिद्ध हुई।

मृद्भाण्ड कला—यातायात में हुई क्रान्ति का प्रभाव एक और उद्यम पर पड़ा। वह उद्यम है मृद्भाण्ड बनाने की कला। नव-पाषाण काल के अन्त तक मनुष्य मृद्भाण्ड हाथ से बनाता था। ताम्र काल में पहिये के आविष्कार से कुम्हार का चाक अस्तित्व में आया। इसके कारण मृद्भाण्ड कला एक विशिष्ट उद्यम बन गई।

नये आविष्कारों के परिणाम

उपर्युक्त आविष्कारों का सामाजिक और आर्थिक-व्यवस्था पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से बहुत प्रभाव पड़ा। **एक,** इनके कारण ठठेरे, बढ़ई, कुम्हार इत्यादि बहुत से **विशिष्ट वर्ग**, जिनके कार्य इतने जटिल थे कि साधारण गृहस्थ उन्हें नहीं कर सकते थे, अस्तित्व में आये। ये वर्ग धीरे-धीरे खाद्यान्न के उत्पादन से दूर हटते गये और अपनी उदरपूर्ति के लिए अपनी विशिष्ट विद्याओं पर निर्भर रहने लगे। दूसरी ओर साधारण कृषक को उनकी विद्या से लाभ उठाने के लिए अतिरिक्त उत्पादन करना पड़ा। इससे व्यक्ति और ग्राम की **आत्मनिर्भरता को धक्का** पहुँचा। **दूसरे,** नये-नये आविष्कारों के कारण मनुष्यों के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति बढ़ने लगी। इस पर अपना अधिकार प्रकट करने की आवश्यकता अनुभव होने पर **मुद्राएँ** (सील्स्) अस्तित्व में आईं जिनकी छाप लगाकर स्वामी-भाव प्रदर्शित किया जा सकता था। स्वामित्व का प्रदर्शन केवल भौतिक वस्तुओं पर ही नहीं वरन मनुष्यों पर भी प्रकट किया जाता था। ताम्र काल में विभिन्न समूहों के पारस्परिक संघर्ष बढ़ गये थे, इसलिए यदा-कदा युद्ध होते रहते थे। इन युद्धों में पराजित शत्रुओं को दण्ड देने के लिए **दास-प्रथा** (स्लेवरी) का प्रचलन हुआ। सामाजिक व्यवस्था में एक अन्य परिवर्तन **स्त्रियों की दशा** से सम्बन्धित है। ताम्र काल में अधिकांश आविष्कार स्वयं पुरुषों ने किये थे, इसलिए इस काल में स्त्रियों की तुलना में उनकी अवस्था अधिक अच्छी हो जाती है। इन आविष्कारों से स्त्रियों को बोझा ढोने, खेत जोतने और बर्तन बनाने जैसे कार्यों से मुक्ति मिल गई, परन्तु उनका सामाजिक स्तर गिर गया। अब सामाजिक व्यवस्था **पितृसत्तात्मक** हो गई अर्थात् परिवार का स्वामी पुरुष हो गया। परिवार की सम्पत्ति पर, जिसमें आभूषण, अस्त्र-शस्त्र, औजार, भूमि और दासादि होते थे, उसका अधिकार हो गया। साधारणतः एक समूह में जिस व्यक्ति के पास सबसे अधिक सम्पत्ति और दास होते थे, वह युद्धों में नायक का भी काम करता था। वह एक प्रकार से समूह या क़बीले का **मुखिया** बन जाता था। उसकी सम्पत्ति का

स्वामी उसके बाद उसका पुत्र होता था, इसलिए व्यवहार में मुखिया या नायक पद भी पैतृक होता जाता था। यही मुखिया बाद में शक्ति बढ़ जाने पर वास्तविक राजा बन बैठे।

कांस्यकाल, नगर-क्रान्ति और सभ्यता का जन्म

कांस्य का उपकरण बनाने के लिए प्रयोग

ताम्र काल के अन्त में, ३००० ई० पू० के लगभग, मनुष्य ने कांस्य का उत्पादन और उपकरण बनाने के लिए प्रयोग करने की विधि का आविष्कार किया (चित्र १४)। ताम्र और कांस्य में अधिक अन्तर नहीं है। ताम्र पाषाण से लचीला होता है, इसलिए इसके उपकरणों की धार शीघ्र नष्ट हो जाती है। लेकिन इसमें थोड़ा-सा टिन मिला देने पर इसकी कठोरता में वृद्धि हो जाती है।
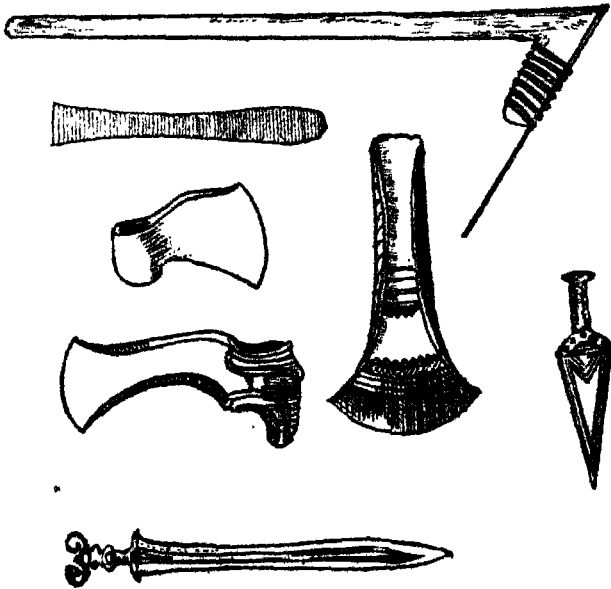
चित्र १४ : कांस्यकालीन उपकरण

इस मिश्रित धातु को ही **कांस्य** कहते हैं। इसका आविष्कार सर्वप्रथम कब और कहाँ हुआ, कहना कठिन है। इतना निश्चित है कि इसका प्रयोग सिन्धु प्रदेश, मिस्र, क्रीट और सुमेर में ३००० ई० पू० के कुछ पहले या कुछ बाद में, ट्राय में २००० ई० पू० के बाद तथा शेष यूरोप में इसके भी बाद प्रारम्भ हुआ।

नगरक्रान्ति : कारण

नदी-घाटियों में नगरों के उदय का कारण—ताम्र और कांस्य के उपकरण बनाने की विधि तथा हल, पहिया, बैलगाड़ी और पालदार नाव इत्यादि के आविष्कार क्रान्तिकारी सम्भावनाओं से परिपूर्ण थे। परन्तु मिस्र, पश्चिमी एशिया और ईरान आदि प्रदेशों के नखलिस्तानों में स्थित छोटे-छोटे ताम्रकालीन ग्रामों के निवासी इनसे समुचित रूप से लाभ नहीं उठा सकते थे। अपने सीमित साधनों की सहायता से वे जिस सीमा तक प्रगति कर सकते उतनी ताम्र काल में कर चुके थे। **दूसरे**, जैसा कि हम देख चुके हैं, ये प्रदेश शनैः शनैः अधिकाधिक शुष्क होते जा रहे थे। इसलिए इनकी और प्रगति करने की सम्भावना घटती जा रही थी। अब मनुष्य के लिए यह आवश्यक होने लगा कि वह ऐसे स्थान पर निवास करे जहाँ उसे व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति और **कृषि-कर्म के लिए पूरे वर्ष पर्याप्त जल मिल सके। यह सुविधा उसे केवल नदियों द्वारा सिंचित घाटियों में ही उपलब्ध हो सकती थी।** इसलिए चतुर्थ सहस्राब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में मिस्र, सुमेर तथा सिन्धु प्रदेश में निवास करनेवाले मनुष्यों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगती है।

नदी घाटियों की उर्वरता—**मिस्र** एक छोटा-सा देश है। नील नदी ने सहस्रों वर्ष में बाढ़ के साथ लाई हुई मिट्टी से इसके मध्य एक अत्यन्त उर्वर भूखण्ड निर्मित कर दिया है। प्राचीन काल में यह प्रदेश इतना उपजाऊ था कि यहाँ एक ही वर्ष में तीन-तीन फसलें उगाना असम्भव नहीं था। **सुमेर** भौगोलिक दृष्टि से उस **उर्वर-अर्धचन्द्र** (फर्टाइल क्रीसेण्ट) का दक्षिण-पूर्वी सिरा है, जो भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर पेलेस्टाइन से प्रारम्भ होता है और सीरिया तथा असीरिया होता हुआ दक्षिण-पूर्व में फारस की खाड़ी के तट तक चला गया है (मानचित्र १)। जिस प्रकार मिस्र का उर्वर भूखण्ड नील नदी के द्वारा लाई हुई मिट्टी से बना है, उसी प्रकार सुमेर का दजला और फरात द्वारा लाई हुई मिट्टी से। यहाँ की **भूमि की उर्वरता** भी विश्वविख्यात थी। प्राचीन काल में यहाँ उपज साधारणतः बीज से छियासी गुनी होती थी। सौ गुनी उपज भी असम्भव अथवा अज्ञात नहीं थी। इसके अतिरिक्त यहाँ नदियों और तालाबों में **मछलियाँ और भूमि पर खजूर** के वृक्ष बहुतायत से मिलते थे। **सिन्धु प्रदेश** भी उस समय आजकल की तुलना में अधिक उर्वर था और वहाँ वर्षा भी अब से अधिक होती थी। इस प्रकार ये तीनों प्रदेश मनुष्य को आकर्षित करनेवाले थे।

विशालतर समूहों में स्थायी रूप से बसने की आवश्यकता—परन्तु इन प्रदेशों में बसना लाभप्रद होते हुए भी आसान नहीं था। इनको आवास

के योग्य बनाने के लिए कठोर श्रम करना आवश्यक था। इन प्रदेशों में वर्षा नाममात्र को होती थी। यह ठीक है कि यहाँ प्रतिवर्ष बाढ़ आती थी, परन्तु बाढ़ उतरने के कुछ दिन बाद ही भूमि सूखकर कठोर हो जाती थी। अतः **कृत्रिम सिंचाई** किये बिना कृषि-कर्म में सफलता मिलनी कठिन थी। दूसरे, **बाढ़ के जल को नियन्त्रित** करना भी आवश्यक था। सुमेर में एक कठिनाई और थी। यह हाल ही में दजला और फरात द्वारा लाई गई मिट्टी से बना होने के कारण दलदलों से भरा हुआ था। इन दलदलों में नरकुल के घने जंगल थे। **दलदलों को सुखाए और नरकुल के जंगलों को साफ किये बिना यहाँ की भूमि की उर्वरता निरर्थक थी**। परन्तु जंगलों को साफ करना, बाढ़ के जल को बाँध बनाकर नियन्त्रित करना और नहरों द्वारा सिंचाई की व्यवस्था करना—ये सब काम छोटे-छोटे गाँवों के निवासी नहीं कर सकते थे। इसके लिए मनुष्य को **विशालतर समूहों में एकत्र होना आवश्यक था**। एक बार बाँध और नहरें बना लेने के बाद उनकी रक्षा के लिए सदैव प्रयत्न करते रहने की भी आवश्यकता थी। इसलिए मिस्र और सुमेर में विशाल मानव-समूहों का एक स्थान पर **स्थायी रूप से निवास करना** आवश्यक हो गया। इससे मिलती-जुलती भौगोलिक परिस्थिति सिन्धु-प्रदेश में भी थी। इसलिए वहाँ भी, लगभग उसी समय, नगर-सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ।

केन्द्रीय शक्ति की आवश्यकता—मनुष्य का विशाल समूहों में स्थायी रूप से एक स्थान पर निवास करना और सामूहिक रूप से सार्वजनिक-निर्माण-कार्य में भाग लेना एक और बात की अपेक्षा रखता है। और वह है किसी केन्द्रीय शक्ति का अस्तित्व जो सार्वजनिक-निर्माण-कार्यों की **योजना बनाये**, उस योजना को कार्यान्वित करने के लिए **जनशक्ति और साधन एकत्र** करे, श्रमिकों को वेतन के रूप में देने के लिए भण्डारों में अन्न और वस्त्र आदि संगृहीत करे और **आय-व्यय का विवरण रखे**। संक्षेप में समूह के **सदस्यों को अनुशासित करे**। **सुमेर में** नगरों में व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व सिद्धान्ततः नगर के प्रधान मन्दिर के देवता और व्यवहार में प्रधान पुजारी का था। यहाँ भूमि को देवता की व्यक्तिगत सम्पत्ति, मन्दिर को देवता का महल और प्रधान पुजारी को उसका प्रतिनिधि या वायसराय माना जाता था। **मिस्र** में इसके विपरीत ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ में ही राजनीतिक एकीकरण हो गया था, इसलिए वहाँ समाज को व्यवस्थित करने और सार्वजनिक-निर्माण-कार्यों को व्यावहारिक रूप देने का उत्तरदायित्व राजा या **फराओ** पर पड़ा। **सिन्धु-प्रदेश** में भी किसी-न-किसी प्रकार की शक्तिशाली सरकार अवश्य अस्तित्व

में आ गई होगी, परन्तु यहाँ की लिपि के न पढ़े जा सकने के कारण यह कहना कठिन है कि यहाँ की शासन-व्यवस्था का केन्द्र सामन्त थे अथवा पुजारी या राजा।

पारस्परिक सम्पर्क की आवश्यकता—नदी-घाटियों में बसनेवाले मानव समूहों को नगरों के रूप में परिणत होने में एक और तथ्य ने सहायता दी। ये सभी प्रदेश ऐसे थे जहाँ आवश्यकता की सभी वस्तुएँ प्राप्त नहीं होती थीं। सुमेर में न तो ताम्र मिलता था और न पत्थर। यहाँ तक कि भवन-निर्माण के लिए लकड़ी भी बाहर से मँगानी पड़ती थी। मिस्र में पत्थर मिल जाता था परन्तु ताम्र, लकड़ी, मेलेचाइट, बहुमूल्य पत्थरों तथा राल इत्यादि का आयात करना पड़ता था। मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा के नागरिक देवदार और बहुमूल्य धातुएँ बाहर से मँगवाते थे। संक्षेप में, कांस्यकालीन नगर नव-पाषाण काल और ताम्र काल के गाँवों की तरह **आत्मनिर्भर नहीं थे**। उन्हें अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बाहर से आयात किये हुए माल पर निर्भर रहना पड़ता था और इसके लिए अतिरिक्त-खाद्यान्न का उत्पादन करना पड़ता था। यह तथ्य नागरिक जीवन के विकास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि समाज में व्यापारियों का अस्तित्व केन्द्रीय शक्ति को दृढ़तर करने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ।

नागरिक जीवन का प्रादुर्भाव

सैनिक शक्ति, न्यायालय और क़ानून—इस युग में व्यापारी सौदागरों के माध्यम से माल का आयात और निर्यात करते थे। शीघ्र ही इन सौदागरों के क़ाफ़िलों की सुविधा के लिए स्थान-स्थान पर **व्यापार-केन्द्र** स्थापित होने लगे और विभिन्न देशों के शासकों को अपने देश के व्यापारियों के हितों और क़ाफ़िलों की सुरक्षा के लिए **सैनिकों** की आवश्यकता महसूस होने लगी। तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० में हम बहुत से शासकों को अपने राज्य के व्यापारियों के हितों की रक्षा के लिए युद्ध करते देखते हैं। इसके अतिरिक्त उनके लिए यह भी आवश्यक हो गया कि वे व्यापारियों, सौदागरों, कृषकों और अन्य वर्गों के पारस्परिक झगड़े सुलझाने के लिए **राजकर्मचारी** रखें और **न्यायालय** स्थापित करें। न्यायालयों के लिए क़ानूनों की आवश्यकता पड़ी। पहले प्रचलित रीति-रिवाजों के अनुसार न्याय करने का प्रयास किया गया। कालान्तर में विविध स्थानों के रिवाजों में समरूपता लाने के लिए **विधि-संहिताओं** की रचना की गई।

बौद्धिक-प्रगति—मन्दिरों के पुजारियों और व्यापारियों को सम्पत्ति और व्यापार सम्बन्धी आँकड़े रखने पड़ते थे। इसलिये नगरों के उदय के साथ-साथ **लिपि** का जन्म हुआ और **बहीखाता** रखने की विद्या, अंक, **भार और नाप के निश्चित पैमाने** तथा **ज्योमिति** के नियम अस्तित्व में आये। लिपि के आविष्कार से तत्कालीन युग में प्रचलित लोक-कथाओं और विविध विद्याओं से सम्बद्ध ज्ञान को लिपिबद्ध करना सम्भव हो गया। इससे आगामी सन्ततियों के लाभार्थ **साहित्य** की रचना और रक्षा हो सकी। इस बीच में कृषकों की सहायता के लिए नक्षत्रों का अध्ययन करके **सौर-पंचाङ्ग** (सोलर कलेण्डर) का आविष्कार किया जा चुका था। लिपि का आविष्कार हो जाने से **खगोल-विद्या** और **ज्योतिष** से सम्बन्धित ज्ञान की प्रगति में भी बहुत सहायता मिली।

मुद्रा-निर्माण कला—व्यापारियों को अपनी सम्पत्ति पर अधिकार व्यक्त करने के लिए और माल की बाहर भेजी जानेवाली गाँठों पर स्वत्व चिह्न अंकित करने के लिए **मुद्राओं** की आवश्यकता पड़ती थी। इससे मुद्रा **बनाने की कला** का विकास हुआ और मुद्रा बनानेवाले कलाकारों का स्वतन्त्र वर्ग के रूप में जन्म हुआ।

भवन-निर्माण कला—स्थायी जीवन व्यतीत करने के कारण मनुष्य के लिए यह सम्भव हो सका कि वह अपना जीवन सुखमय बनाने की ओर ध्यान दे। सबसे पहले उसने अपने **भवनों** की ओर ध्यान दिया। नव-पाषाण काल में और ताम्र काल के प्रारम्भ में मेसोपोटामिया और मिस्र में नरकुल और मिट्टी की झोपड़ियाँ बनाई जाती थीं। कांस्य काल के प्रारम्भ में अर्थात् ३००० ई० पू० के कुछ पहले ईंटों का आविष्कार किया गया। कच्ची ईंटें मिट्टी को साँचे में ढालकर और फिर धूप में सुखाकर बनाई जाती थीं। सिन्धु-प्रदेश में **पक्की ईंटों** का बहुतायत से प्रयोग होता था। ईंटों के आविष्कार से झोपड़ियों के स्थान पर **मकान बनाना** सम्भव हो गया। इनका प्रयोग **राजप्रासाद** और **मन्दिर** आदि बनाने में भी किया गया। ईंटों से बनी प्रारम्भिक इमारतें झोपड़ियों के अनुरूप होती थीं, परन्तु सुमेर और सिन्धु-प्रदेश में ३००० ई० पू० के लगभग **मेहराब** का आविष्कार हो चुका था। सिन्धु-प्रदेश में तीसरी सहस्राब्दी में **दो मंजिलों के मकान** भी बनने लगे थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कांस्यकालीन नगर-क्रान्ति के कारण मनुष्य का जीवन आमूल परिवर्तित हो गया। वे सब बातें जो सभ्य नागरिक जीवन के साथ जुड़ी हैं और वे सब आविष्कार जो मनुष्य के जीवन को सुखमय और सुविधापूर्ण बनाते हैं, ताम्र और कांस्यकाल में, तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० की

प्रारम्भिक शताब्दियों तक, अस्तित्व में आ चुके थे। आगामी दो सहस्र वर्षों में मनुष्य इन सुख-सुविधाओं को (वर्णमाला और लोहे का उत्पादन तथा उपकरण बनाने के लिए प्रयोग की विधि को छोड़कर) और अधिक नहीं बढ़ा पाया। इसलिए कांस्यकालीन नगर-क्रान्ति के युग को **'सभ्यता के जन्म'** का युग कहा जाता है।

पठनीय सामग्री

Burkitt, M.C., *The Old Stone Age* (1949).

Childe, V.G., *What Happened in History* (1957).

Childe, V.G., *Man Makes Himself* (1955).

गोयल, श्रीराम, प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ (1961).

Wells, H.G., *The Outline of History* (1956).

खण्ड १

पाश्चिमी एशिया

'जब अनुन्नाकी के राजा महान् अनु और आकाश तथा पृथिवी के स्वामी एनलिल ने, जो देश के भाग्य का निर्णय करते हैं, एनकी के ज्येष्ठ पुत्र मर्दुक को एनलिल के सकल जनसम्बन्धी (प्रशासनात्मक) कार्यों को निष्पादित करने के लिए नियुक्त किया,

उसे इगीगी में महान् बनाया जिसका प्रशंसित नाम बैबिलोन है और जिसको विश्व में महान् और आश्चर्यजनक बनाया गया है,

और इसमें उसके लिए चिरस्थायी राजतन्त्र स्थापित किया, जिसकी नींव पृथिवी और आकाश की नींव की तरह दृढ़ है,

तब अनु और एनलिल ने मुझे, हम्मूरबी को, जो आज्ञा-पालक और ईश्वरभीरु राजा है, जनकल्याण के लिए, देश में न्याय स्थापित करने के लिए, कुकर्मियों और पातकियों को नष्ट करने के लिए तथा सबलों से दुर्बलों की रक्षा के लिए नियुक्त किया।'

—*हम्मूरबी की विधि-संहिता की प्रस्तावना*

२

पश्चिमी एशिया का भूगोल और जातियाँ

The second portion of Northern Asia begins from the Caspian Sea, which is a bay extending from the ocean to the South.

—*Strabo, Bk.* XI, *Chap. vi*

सुमेरियन सभ्यता की प्राचीनता

सुमेरियन सभ्यता मिस्री सभ्यता से प्राचीनतर—हम देख चुके हैं कि सभ्यता का आविर्भाव सर्वप्रथम पश्चिमी एशिया में दजला और फ़रात, अफ़्रीका में नील, तथा भारत में सिन्धु की घाटियों में हुआ। इनमें सिन्धु-सभ्यता की न तो उदयकालीन अवस्था पर अभी तक पूर्णतः विश्वसनीय प्रकाश मिल पाया है और न राजनीतिक इतिहास ही ज्ञात है। कुछ ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे लगता है कि यह सभ्यता सम्भवतः सुमेरियन और मिस्री सभ्यताओं से भी पुरानी थी, परन्तु इनके आधार पर निश्चित निष्कर्ष निकालना असम्भव है। इसके विपरीत ज्ञात पुरातात्त्विक और आभिलेखिक साक्ष्य की

इस पृष्ठ के ऊपर पश्चिमी एशिया के अनातोलिया नामक प्रदेश में दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में एक विशाल साम्राज्य स्थापित करनेवाली हित्ती नामक जाति के हत्तुसिलिस नामक सम्राट् की राजमुद्रा का चित्र दिया गया है। इसके मध्य अंकित पक्षयुक्त सूर्यचक्र हित्ती सभ्यता पर मिस्री प्रभाव का और चारों ओर उत्कीर्ण कीलाक्षर अभिलेख बैबिलोनियन प्रभाव का प्रमाण है। इस प्रकार यह मुद्रा पश्चिमी एशियाई सांस्कृतिक धाराओं के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रतीक है।

सहायता से सुमेरियन और मिस्री सभ्यताओं के विकास की क्रमिक अवस्थाओं का पर्याप्त स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है और राजनीतिक इतिहास की रूपरेखा भी दी जा सकती है। परन्तु इन दोनों में कौन-सी सभ्यता प्राचीनतर है, इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। **ब्रेस्टेड** और **इलियट स्मिथ** जैसे बहुत से विद्वान् यह मानते हैं कि मिस्र में सभ्यता का आविर्भाव सुमेर से पहले हुआ। ऐतिहासिक युग के उषःकाल में हम सुमेर को बहुत-से नगर राज्यों में विभाजित देखते हैं, जब कि मिस्र में प्रारम्भ से ही संयुक्त राज्य अस्तित्व में आ जाता है। यह तथ्य प्रारम्भिक मिस्री सभ्यता की अपेक्षया विकसित अवस्था का प्रमाण है। परन्तु, जैसा कि **विल ड्यूरेण्ट** ने कहा है, ज्यों-ज्यों इन सभ्यताओं के विषय में हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों यह सम्भावना भी बढ़ती दिखाई देती है कि सुमेरियन सभ्यता मिस्री सभ्यता से प्राचीनतर है। जिस समय मिस्र की सभ्यता का इतिहास प्रारम्भ होता है, सुमेरियन कलाकार ऐसी मूर्तियाँ बना रहे थे जिनका निर्माण कई शताब्दियों के अनुभव के बिना असम्भव था। यद्यपि परवर्ती साक्ष्य के आधार पर मिस्र के राजनीतिक इतिहास पर चतुर्थ सहस्राब्दी ई० पू० के अन्तिम पद से ही प्रकाश मिलना प्रारम्भ हो जाता है तथापि सुमेर के प्राचीनतम अभिलेख और विधि-संहिताएँ मिस्री अभिलेखों से निश्चितरूप से प्राचीनतर हैं। **द मोर्गों** के अनुसार ताम्र का प्रयोग भी मिस्र में सुमेर से कुछ बाद में प्रारम्भ हुआ। रथ, पहिये और कुम्हार के चाक के विषय में भी यही कहा जा सकता है। **हेनरी फ्रैंकफर्ट** ने मिस्र के प्राग्वंशीय पुरातात्त्विक अवशेषों का अध्ययन करके यह मत प्रकट किया है कि जरजियन युग के अन्त (पृ० २२) तथा प्रारम्भिक राजवंशों के काल में मिस्र पर सुमेरियन संस्कृति का निश्चितरूप से प्रभाव पड़ा। इसका संकेत विशेषतः सुमेरियन ढंग की सिलिण्डर के आकार की मुद्राओं से मिलता है जो मिस्र के प्राचीनतम युग में मिलती हैं और इसके बाद एकदम विलुप्त हो जाती हैं मानों वहाँ के स्थानीय निवासियों ने उन्हें विदेशी समझकर छोड़ दिया हो। **मैस्पेरो** के अनुसार तो मिस्र की प्राग्वंशीय लिपि भी सुमेरियन लिपि से प्रभावित प्रतीत होती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मिस्र की संस्कृति का उदय और विकास सुमेरियन प्रभाव के बिना असम्भव था। निश्चितरूप से मिस्री सभ्यता का उदय और विकास स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार हुआ और अगर उसकी उदयकालीन अवस्था पर सुमेरियन प्रभाव पड़ा भी तो वह नगण्य रहा। इतना ही नहीं मिस्र के निवासियों ने अपनी सभ्यता को शीघ्र ही इतना विकसित कर लिया कि उसके सामने सुमेर की सभ्यता भी फीकी पड़ गई। तथापि उपर्युक्त तथ्यों से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि मिस्र के

प्रारम्भिक ऐतिहासिक युग में भी सुमेरियन संस्कृति का पर्याप्त विकास हो चुका था। सम्भव है भविष्य में प्राप्त होनेवाले साक्ष्य से इस समस्या पर और अधिक प्रकाश मिले।

पश्चिमी एशिया का भूगोल और जातियाँ

पश्चिमी एशिया की भौगोलिक सीमाएँ—पश्चिमी एशिया की भौगोलिक परिस्थिति ने इस प्रदेश के इतिहास और संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया है। इस प्रदेश के उत्तर-पूर्व में कैस्पियन समुद्र, उत्तर-पश्चिम में कालासागर, पश्चिम में ईजियन, भूमध्यसागर और लालसागर, दक्षिण में अरब सागर और फारस की खाड़ी तथा पूर्व में ईरान का पठार है। इस प्रकार यह कम-से-कम तीन ओर समुद्रों से घिरा हुआ है। परन्तु ये समुद्र पड़ोसी देशों, के साथ सम्पर्क स्थापित करने में बाधक होने के स्थान पर सहायक ही रहे हैं। प्राचीनकाल में पश्चिमी एशिया के निवासी एक ओर ईजियन समुद्र और भूमध्यसागर द्वारा दक्षिण-पूर्वी यूरोप की मिनोअन सभ्यता के निर्माताओं के सम्पर्क में आये तो दूसरी ओर सिनाई प्रायद्वीप के मार्ग से मिस्र के सम्राटों के साथ घनिष्ठ राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हुए। एलम, ईरान और बलूचिस्तान से गुजरनेवाले स्थल मार्गों और अरब सागर के द्वारा उनके सम्बन्ध सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं के साथ भी स्थापित हुए थे, इसके सुनिश्चित प्रमाण मिलते हैं। परवर्ती युगों में चीन को यूरोप से मिलानेवाला कौशेय-मार्ग (सिल्क-रूट) भी यहीं से गुजरता था। इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में पश्चिमी एशिया तीन महाद्वीपों की सांस्कृतिक धाराओं का संगम स्थल था।

पश्चिमी एशिया का उत्तरी भाग

एशिया माइनर, आरमीनिया और पश्चिमी ईरान—पश्चिमी एशिया को स्थूलरूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—उत्तर में पर्वतीय प्रदेश, मध्य में अर्द्धचन्द्राकार मैदान की पट्टी तथा दक्षिण में अरब का विशाल रेगिस्तानी प्रायद्वीप। उत्तर का पर्वतीय प्रदेश उस विशाल पर्वतमाला का अंग है जो ईजियन प्रदेश से प्रारम्भ होती है और एशिया माइनर, आरमीनिया तथा ईरान होते हुए हिन्दूकुश के द्वारा हिमालय से मिल जाती है। **एशिया माइनर**, जिसे आजकल टर्की कहते हैं, सात सौ मील लम्बा और साढ़े तीन सौ मील चौड़ा आयताकार भूखण्ड है। इसके मध्य पठार और चारों ओर पर्वतमालाएँ हैं। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के पहले यह प्रदेश पश्चिमी एशिया के इतिहास में विशेष महत्त्व प्राप्त न कर सका परन्तु चौदहवीं शताब्दी ई० पू० में

हित्ती जाति के नेतृत्व में, जो सम्भवतः इण्डो-यूरोपियन परिवार से सम्बद्ध थी, यहाँ के निवासियों ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। एशिया माइनर के पूर्व में **आरमीनिया** नाम का पर्वतीय प्रदेश है। इसकी दक्षिणी सीमाएँ असीरिया को छूती हैं। यहाँ के निवासी युद्धप्रिय तथा अर्द्धसभ्य थे। असीरियन साम्राज्य के युग में उन्होंने वान झील के आस-पास एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की थी। यह राज्य सदैव **असीरिया** के लिए भय का कारण बना रहा। आरमीनियन पर्वतमाला दक्षिण-पूर्व में असीरिया होते हुए ईरान चली गई है। ईरान के पश्चिम में स्थित **जगरोस पर्वत** भी, जो ईरान के पठार को मेसोपोटामिया के उर्वर मैदान से पृथक् करता है, ऐसी जातियों का क्रीड़ास्थल रहा है, जिनकी दृष्टि सदैव बैबिलोनिया पर लगी रहती थी। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में बैबिलोनिया को जीतनेवाले **कसाइट**, जो हित्तियों के समान इण्डो-यूरोपियन परिवार से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, और कालान्तर में असीरिया का विध्वंस करनेवाले **मीड**, जो निश्चित रूप से आर्य परिवार के सदस्य थे, यहीं से आए थे।

पश्चिमी एशिया का मध्यवर्ती प्रदेश

उर्वर-अर्द्धचन्द्र—एशिया माइनर और आरमीनियन पर्वतमाला के दक्षिण में उर्वर मैदान की एक पट्टी है जो उत्तर के पर्वतीय प्रदेश को दक्षिण के रेगिस्तान से अलग करती है। इसका आकार अर्द्धचन्द्र के सदृश है, इसलिए **ब्रेस्टेड** ने इसे अन्य नाम के अभाव में **'उर्वर-अर्द्धचन्द्र'** (फ़र्टाइलक्रीसेन्ट) कहा है (मानचित्र १)। उर्वर-अर्द्ध-चन्द्र के दक्षिण-पश्चिमी सिरे में भूमध्यसागर का तटवर्ती प्रदेश अर्थात् **पेलेस्टाइन** और दक्षिणी सीरिया आते हैं। कालान्तर में पेलेस्टाइन में ही **यहूदी जाति** ने अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष किया था, जिसका विशद् विवरण पुरानी बाइबिल में मिलता है। **सीरिया** मिस्र, बैबिलोनिया, एशिया माइनर और असीरिया के मध्य स्थित था, इसलिए इसे सदैव किसी-न-किसी आक्रमणकारी का सामना करते रहना पड़ता था। उर्वर-अर्द्धचन्द्र का मध्यवर्ती भाग, विशेषतः दजला की उत्तरी घाटी **असीरिया** के अन्तर्गत थी। परन्तु असीरिया पूर्णतः मैदानी प्रदेश नहीं था। इसके उत्तर और पूर्व में पर्वत श्रेणियाँ थीं जिससे यहाँ की जलवायु अधिक स्वास्थ्यप्रद हो गई और पत्थर उपलब्ध होने के कारण यहाँ के निवासी भवन-निर्माण-कला में कुशल हो गये। इसके अतिरिक्त पर्वतीय जातियों के निकट रहने के कारण उन्हें सदैव युद्ध के लिए सन्नद्ध रहना पड़ा। इससे कालान्तर में वे पश्चिमी एशिया के सर्वाधिक रणकुशल, युद्धप्रिय परन्तु क्रूर सैनिक बन गये।

दजला और फ़रात नदियाँ—असीरिया के दक्षिण में उर्वर-अर्द्धचन्द्र का दक्षिण-पूर्वी सिरा था। इसमें दजला और फ़रात की घाटी अर्थात् 'मेसोपोटामिया' सम्मिलित है। **फ़रात नदी** (यूफ्रेटीज़) एशिया माइनर के पूर्व में स्थित तोरुस पर्वतों से निकलती है। इसकी सहायक नदियों में कोई भी उल्लेखनीय नहीं हैं। परन्तु यह स्वयं मेसोपोटामिया के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही है। इसका प्रवाह धीमा था और इसके किनारे दजला के किनारों की तुलना में कम कटे-फटे और अधिक नीचे थे, इसलिए मेसोपोटामिया के सभी प्रसिद्ध नगर इसके या इसकी शाखाओं के तटपर बसे हुए थे। **दजला नदी** का सुमेरियन नाम 'इदिग्न' था। सेमाइटों ने इसे 'दिग्लत' और पारसिको ने 'तिग्र' नाम दिये। दिग्लत से अरबी भाषा का 'दिजला' (आधुनिक दजला) तथा तिग्र से यूनानी भाषा में 'टाइग्रिस' नाम बने। इसका उद्गम भी तोरुस पर्वतों में लग-भग उसी स्थान से हुआ है जहाँ से फ़रात का। इसकी बहुत-सी सहायक नदियाँ हैं, जिनमें उत्तरी और दक्षिणी जे़ब तथा दियाला प्रमुख हैं। दजला नदी अधिकांशतः फ़रात के समानान्तर बहती है। इसके किनारे ऊँचे तथा कटेफटे हैं और धार तेज़ है, इसलिए प्रारम्भिक मानव-उपनिवेश इसके किनारे नहीं मिलते।

'मेसोपोटामिया' का अर्थ—'मेसोपोटामिया' शब्द का अर्थ है दो नदियों के बीच का प्रदेश। इसलिए **विस्तृत अर्थ** में 'मेसोपोटामिया' के अन्तर्गत दजला और फ़रात की सम्पूर्ण घाटी आ जाती है। परन्तु कभी-कभी इस शब्द का **संकीर्ण अर्थ** में भी प्रयोग होता है। उस समय इस घाटी के उत्तरी भाग को 'मेसोपोटामिया' और दक्षिणी भाग को 'बैबिलोनिया' कहते हैं। परन्तु **बैबिलोनिया** इस प्रदेश का प्राचीनतम नाम नहीं था। ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ में इसका दक्षिणी भाग **'सुमेर'** और उत्तरी भाग **'अक्काद'** कहलाता था। यहाँ के जो शासक दोनों भागों को अपने अधिकार के अन्तर्गत लाने में सफल हो जाते थे, वे अपने को 'सुमेर और अक्काद का स्वामी' कहते थे। तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त में हम्मूरबी ने सम्पूर्ण सुमेर, अक्काद तथा आस-पास के अन्य प्रदेशों को जीतकर एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया और बैबिलोन नामक नगर को अपनी राजधानी बनाया। तब से दजला और फ़रात की दक्षिणी घाटी **बैबिलोनिया** कहलाने लगी। कालान्तर में कसाइट शासनकाल में इसे **'कारदुनियाश'** और कैल्डियन शासनकाल में **'कैल्डिया'** नाम दिये गये। परन्तु सर्वाधिक लोकप्रिय नाम बैबिलोनिया ही रहा।

सुमेर—प्राचीनकाल में सुमेर और अक्काद के मध्य कोई निश्चित सीमा नहीं थी। फिर भी साधारणतः निप्पुर नगर के दक्षिण का प्रदेश सुमेर और

उत्तर का प्रदेश अक्काद कहलाता था। यह उल्लेखनीय है कि **प्राचीनकाल में सुमेर का क्षेत्रफल अब से बहुत कम था**। पिछले पाँच हजार वर्षों में दजला और फ़रात की लाई हुई मिट्टी से फारस की खाड़ी १५० मील दक्षिण की ओर हट गई है। आज कल दजला और फ़रात नदियाँ करुण के पास मिल जाती हैं, और फिर एक साथ फारस की खाड़ी में गिरती हैं। सुमेरियन युग में इन दोनों के मुहाने अलग-अलग थे, और एरिडू नगर, जिसके अवशेष आजकल खाड़ी से १५० मील दूर मिलते हैं, बिलकुल खाड़ी के तट पर बसा हुआ था।

बैबिलोनिया की भौगोलिक दशा का इतिहास पर प्रभाव—बैबिलोनिया एक दम समतल मैदान है। यहाँ हर स्थान पर पृथिवी आकाश को छूती मालूम होती है। पहाड़ और मैदान का अन्तर यहाँ समझ में आ जाता है। अब के समान प्राचीन काल में भी यहाँ की भूमि अत्यन्त **उर्वर** थी। यह उर्वरता आनेवाली बाढ़ द्वारा लाई गई मिट्टी से प्रतिवर्ष नवीन हो जाती थी। यहाँ की मुख्य पैदावार गेहूँ, जौ, खजूर और फल थे। मछलियाँ भी काफी मिल जाती थीं। परन्तु, जैसा कि हम देख चुके हैं, सुमेर हाल ही में दजला और फ़रात द्वारा लाई गई मिट्टी से बना होने के कारण दलदलों से परिपूर्ण था, इसलिए इसे रहने के योग्य बनाने के लिए सुमेरियनों को बहुत कष्ट उठाने पड़े। **यहाँ प्राकृतिक प्रक्रियाओं में आवर्तिता और नियम** तो था परन्तु इसके साथ ही प्रचण्डता और तीव्रता भी थी। उदाहरणार्थ दजला और फ़रात में प्रतिवर्ष नियत समय पर बाढ़ आती थी, परन्तु यह बाढ़ अत्यन्त प्रचण्ड होती थी। इससे मानव निर्मित बाँध टूट जाते थे और फसल जलप्लावित हो जाती थी। यहाँ गर्मियों में कठोर गर्मी पड़ती थी और भयानक तूफान आते थे। बीमारियाँ भी खूब फैलती थीं। **प्रकृति की इस अस्थिरता और प्रचण्डता** के कारण बैबिलोनियन आत्मविश्वास प्राप्त करने में सर्वदा असमर्थ रहे। उन्हें हमेशा इन अतिमानवीय शक्तियों के सम्मुख अपनी दुर्बलता का भान रहता था। इसलिए उनकी जीवन-दृष्टि निराशावादी हो गई थी।

पश्चिमी एशिया का दक्षिणी भाग

अरब प्रायद्वीप और पश्चिमी एशियाई जातियाँ—बैबिलोनियन सभ्यता का प्रथम अध्याय फारस की खाड़ी के तटवर्ती प्रदेश अर्थात् सुमेर में लिखा गया। इस सभ्यता के निर्माता, जिन्हें हम अन्य नाम के अभाव में **सुमेरियन** कहते हैं, किस जाति के थे, यह अभी तक अज्ञात है (पृ० ४५-४६)। सुमेरियनों के अतिरिक्त बैबिलोनियन सभ्यता के विकास में सेमाइटों का भी बहुत हाथ रहा है। सुमेरियन जाति को पराजित करके बैबिलोनिया पर सहसा-

ब्दियों तक शासन करनेवाले और सुमेरियन सभ्यता को नैरन्तर्य प्रदान करनेवाले **सेमाइट** ही थे। सेमेटिक जाति का जन्म-स्थल अरब था। **अरब** एक विशाल रेगिस्तानी प्रायद्वीप है। इसका विस्तार भारत से लगभग दुगना है। यहाँ नदियों का अभाव है और वर्षा भी नाममात्र को होती है। इसलिए यहाँ के निवासियों को चरागाहों की खोज में इधर-उधर घूमना पड़ता है। इन कठिनाइयों के बावजूद अरब में आबादी बहुत तेजी से बढ़ती है। इसलिए यहाँ के निवासियों को बार-बार अन्य देशों पर आक्रमण करना पड़ा। उनके देश के समीप सबसे उर्वर, समृद्ध तथा आकर्षक प्रदेश 'उर्वर-अर्द्धचन्द्र' था। परन्तु यहाँ के सुरक्षित नगरों को जीतना आसान नहीं था, इसलिए वे धीरे-धीरे मेसोपोटामिया के दक्षिण में एकत्र होते रहते थे। जब अरब से आनेवाली लहरों का दबाव असह्य हो उठता था तो वे भीषण वेग से, एक तूफान की तरह, सीरिया, पैलेस्टाइन और बैबिलोनिया आदि देशों पर टूट पड़ते थे। जो क़बीले इन देशों में अपने लिए स्थान बना लेते थे वे धीरे धीरे यायावर जीवन छोड़कर स्थायी जीवन अपना लेते थे। ऐसा इतिहास में कई बार हुआ। वस्तुतः सुमेरियनों के बाद बैबिलोनिया, असीरिया, सीरिया और पैलेस्टाइन का इतिहास मुख्यतः सेमेटिक जाति की विभिन्न शाखाओं का इतिहास है। सेमेटिक जाति की प्राचीनतम ज्ञात शाखा, जो बैबिलोनिया में आकर बसी, अक्कादी कहलाती है। **अक्कादी सेमाइट** ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ में (लग० ३००० ई० पू०) सुमेर में बसे हुए थे, अतः वे इससे कई शताब्दी पहले यहाँ आये होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। उन्होंने सारगोन और नरामसिन नामक राजाओं के शासनकाल में बैबिलोनिया में प्रथम बार संयुक्तराज्य स्थापित किया। अक्कादी सेमाइटों के बाद **पश्चिमी सेमाइट** या **अमरु** जाति ने हम्मूरबी के नेतृत्व में बैबिलोनिया में अपनी सत्ता स्थापित की। उसका वंश बैबिलोनिया के इतिहास में 'बैबिलोनिया का प्रथम वंश' कहलाता है। अमरु जाति मूलतः कैनानी जाति का अंग थी, जो तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में ही अरब से आकर पैलेस्टाइन में बस गई थी। पैलेस्टाइन में निवास करनेवाली सेमेटिक जाति की एक दूसरी शाखा **यहूदी** कहलाती है। इसके जूडा और इजराइल राज्यों और अनेक पैगम्बरों का विशद् विवरण बाइबिल में मिलता है। यह आज भी एक जाति के रूप में जीवित है और इसने हाल ही में, दो सहस्र वर्ष पश्चात्, इजराइल राज्य की पुनर्स्थापना करने में सफलता प्राप्त की है। उत्तरी सीरिया के समुद्री किनारों पर बसनेवाली सेमेटिक जाति **फिनीशियन** कहलाती है। यह इतिहास में अपने समुद्री अभियानों के लिए प्रसिद्ध रही है। इसके प्राचीनतम नगरों में

बाइबिलोस का प्रसिद्ध बन्दरगाह उल्लेखनीय है, जहाँ से ३००० ई० पू० के पूर्व भी मिस्र के शासक बहुमूल्य लकड़ी का आयात करते थे। ये जातियाँ मिस्र और बैबिलोनिया के मध्य बसी हुई थीं, इसलिए इन दोनों देशों की सांस्कृतिक धाराओं से प्रभावित हुईं। १४ वीं शताब्दी ई० पू० में सेमाइटों की एक शाखा ने सीरिया में स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। यह शाखा ऐरेमियन कहलाती है। असीरियन जाति भी, जिसने कई शताब्दी तक समस्त पश्चिमी एशिया को अपनी क्रूरता और रक्तपिपासा से आक्रान्त रखा मूलतः अरब से ही आई थी। मध्यकाल में समस्त विश्व को अपनी प्रचण्डता और धर्मान्धता से हिला देनेवाले **हज़रत मुहम्मद के अनुयायी** अरब प्रायद्वीप से आनेवाले सेमेटिक आक्रमणकारियों का नवीनतम उदाहरण कहे जा सकते हैं।

सेमाइटों का ऐतिहासिक महत्त्व—अरब की इन खानाबदोश जातियों ने उर्वर-अर्द्धचन्द्र के इतिहास को अन्य कई प्रकार से प्रभावित किया है। उदाहरणार्थ शान्तिपूर्ण समय में इन जातियों के कारवाँ बैबिलोनिया, पेलेस्टाइन और सीरिया के नगरों में आते रहते थे और हथियार, बर्तन तथा अन्य वस्तुओं का आदान-प्रदान करते रहते थे। इससे इनके यायावर सौदागर **उर्वर-अर्द्धचन्द्र के नगरों को मिलानेवाली कड़ी** बन गए। इस परम्परागत ज्ञान के कारण यहूदी आज भी विश्व के सब से निपुण व्यापारी माने जाते हैं।

'उर्वर-अर्द्धचन्द्र' के इतिहास की विषय-वस्तु—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उर्वर-अर्द्धचन्द्र, विशेषतः बैबिलोनिया को सदैव चक्की के दो पाटों के मध्य पिसना पड़ा। एक ओर इसकी उर्वर भूमि और समृद्ध नगरों पर उत्तर और पूर्व की पर्वतीय जातियों की दृष्टि लगी रहती थी तो दूसरी ओर दक्षिण के खानाबदोश रेगिस्तानी सेमेटिक क़बीले इसको जीतने का प्रयास करते रहते थे। कस्साइट, हित्ती, मीड आरमीनियन और यहाँ तक कि स्वयं असीरियन बैबिलोनिया और सीरिया पर आक्रमण करनेवाली पर्वतीय जातियों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। बहुत से विद्वान् तो सुमेरियनों को भी पूर्व की ओर से आनेवाली एक पर्वतीय जाति ही मानते हैं। दूसरी ओर अक्कादी सेमाइट, पश्चिमी सेमाइट, कैनानी, यहूदी, फिनीशियन और ऐरेमियन जातियाँ दक्षिण के आक्रामक रेगिस्तानी सेमेटिक क़बीलों का उदाहरण कही जा सकती हैं। अतः बैबिलोनिया के इतिहास को उर्वर-अर्द्धचन्द्र के लिए उत्तर और पूर्व की पर्वतीय जातियों और रेगिस्तानी सेमाइटों के बीच होनेवाले संघर्ष का इतिहास कहना असंगत न होगा।
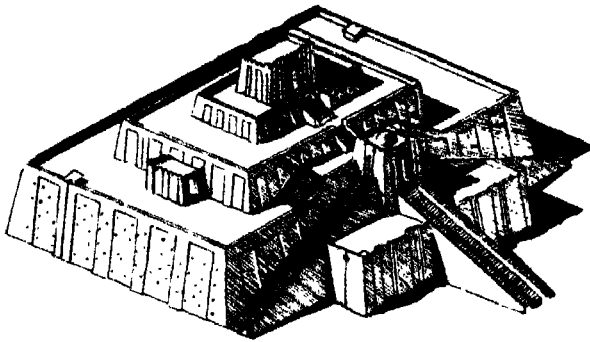
३

सुमेरियन इतिहास और सभ्यता

And it came to pass, as they journeyed from the east, that they found a plain in the land of Shinar; and they dwelt there. And they said one to another, Go to, let us make brick, and burn them thoroughly. And they had brick for stone, and slime they had for mortar.

—*Genesis* xi

सुमेरियन इतिहास के साधन

यहूदी और यूनानी साहित्य—अब से लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व तक पश्चिमी एशिया की प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास को जानने का प्रमुख साधन यूनानी साहित्य और यहूदी धर्मग्रन्थ थे। परन्तु ये ग्रन्थ कैल्डियनों, असीरियनों और बैबिलोनियनों से परिचित होते हुए भी सुमेरियनों से सर्वथा अनभिज्ञ थे। यहूदी बाइबिल से असीरियन और कैल्डियन इतिहास पर प्रचुर प्रकाश मिलता है, परन्तु प्राचीन बैबिलोन और सुमेर के इतिहास के लिए इससे सहायता मिलनी असम्भव है। सुमेरियन जाति से बाइबिल के रचयिता परिचित थे या नहीं, यह कहना कठिन है। इसमें एक स्थान पर किसी जाति के पूर्व से शिनार (सुमेर) में आकर बसने का उल्लेख है। हो सकता है यह संकेत सुमेरियनों की ओर

इस पृष्ठ के ऊपर दिये गये चित्र में उर के जिगुरत का काल्पनिक **समवायवी** (आइसोमेट्रिक) अङ्कन है। इसको उर-नम्मू नामक शासक ने निर्मित कराया था।

हो। 'इतिहास पिता' हेरोडोटस ने जब पाँचवी शताब्दी ई० पू० में फारस और यूनान के संघर्ष का इतिहास लिखने के लिए बैबिलोनिया और मिस्र इत्यादि देशों की यात्रा की तब उसने किसी से 'सुमेर' और 'सुमेरियन' शब्द नहीं सुने। इसलिए उसका 'इतिहास' मिस्र, बैबिलोन, असीरिया एलम, फिनीशिया, पेलेस्टाइन और मीडिया के लिए महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सुमेर के लिए उपयोगी नहीं है। दूसरा महत्त्वपूर्ण यूनानी लेखक टीसियस है जो सत्रह वर्ष (४१५-३९८ ई० पू०) तक हखामनी सम्राट् अर्तजर्क्सीज का राजवैद्य रहा था। परन्तु उसकी पुस्तक में हखामनी शासनकाल से पहले के इतिहास के लिए काल्पनिक आख्यानों के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता।

(३) **बेरोसॉस**—२८० ई० पू० में एण्टियोकस सोटर के शासनकाल में **बेरोसॉस** (जन्म ३३० ई० पू०) नामक कैल्डियन विद्वान् ने, जो बैबिलोन में मर्दुक के मन्दिर में पुजारी था, '*बैबिलोनिया का इतिहास*' लिखा। बेरोसॉस हेलेनिस्टिक युग के एशियाई इतिहासकारों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसने बैबिलोन, बोरसिप्पा तथा अन्य अनेक नगरों के पुस्तकालयों में अध्ययन किया था। इतिहासकार होने के साथ-साथ वह एक ज्योतिषी भी था। प्लिनी के अनुसार एथेन्सवासियों ने उसकी भविष्यवाणियों से प्रभावित होकर उसकी मूर्तियाँ स्थापित की थीं। उसका ग्रन्थ आजकल केवल फ्लेवियस जोसेफस (जन्म ३३ ई०), सन्त क्लीमेन्ट (मृ० २१७ ई०) तथा बिशप यूसीबियस इत्यादि विद्वानों द्वारा दिये गये कुछ उद्धरणों के रूप में ही प्राप्य है। इन उद्धरणों से, और अन्य इतिहासकारों द्वारा दिये गये इस ग्रन्थ के विवरण से मालूम होता है कि इसमें बेरोसॉस ने मर्दुक द्वारा तियामत के वध और सृष्टि की रचना से लेकर अपने जीवनकाल तक का इतिहास लिखा था। उसने इस ग्रन्थ में बैबिलोनिया के इतिहास को दो भागों में विभाजित किया था—प्रलय के पूर्व का युग जिसमें १० राजाओं ने ४ लाख ३ हजार वर्ष, और प्रलय के बाद का युग जिसमें ८ वंशों ने ३६ हजार वर्ष शासन किया। इसमें उसने कहीं भी सुमेरियन राजवंशों का उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि लिपिकों द्वारा की गई अशुद्धियों और दोषपूर्ण तिथिक्रम के कारण ये उद्धरण विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय नहीं हैं, तथापि इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि बेरोसॉस प्रलय सम्बन्धी सुमेरियन आख्यानों से परिचित होते हुए भी **सुमेरियन जाति और सभ्यता से पूर्णतः अनभिज्ञ** था।

(४) **नबोनिडस**—यही बात नबोनिडस के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। नबोनिडस (५५५-५३८ ई० पू०) कैल्डिया का अन्तिम सम्राट था। वह राज-

नीति से अधिक इतिहास और **पुरातत्त्व में रुचि** रखता था। उसने नराभसिन जैसे प्राचीन राजाओं के अभिलेखों की खोज की स्मृति में उसी प्रकार उत्सव मनाये और अभिलेख लिखवाये जिस प्रकार अन्य शासक शत्रुओं पर विजय पाने के उपलक्ष्य में लिखवाते थे। इनमें उसने प्राचीन राजाओं का उल्लेख करते समय जो तिथियाँ दी हैं वे आधुनिक अन्वेषणों के प्रकाश में गलत सिद्ध हुई हैं। उदाहरणार्थ उसने सारगोन प्रथम को अपने समय से ३२०० वर्ष पूर्व अर्थात् ३८ वीं शताब्दी ई० पू० में रखा है, जब कि किंग इत्यादि आधुनिक विद्वान् उसे २८ वीं शताब्दी ई० पू० से पहले रखने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। परन्तु इस प्रसंग में इससे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि नबोनिडस सारगोन से परिचित होते हुए भी **सुमेरियनों से अपरिचित** था। उसने कहीं भी सुमेरियन राजाओं का उल्लेख नहीं किया है। ऐसा लगता है कि सुमेरियन जाति और सभ्यता की स्मृति उसके समय तक पूर्णरूपेण मिट चुकी थी।

पुरातात्त्विक साक्ष्य—आधुनिक काल में सुमेरियन बैबिलोनियन और असीरियन सभ्यताओं को प्रकाश में लाने का श्रेय बोट्टा, लेयार्ड, हिंक्स, फ्रेस्नेल, किंग टॉमस, जार्ज स्मिथ, द सार्जाक, कोल्डीवी, मॉरिट्ज, हिल्प्रेक्ट, वूली, रॉलिन्सन तथा क्रेमर इत्यादि पुरातत्त्ववेत्ताओं को है। जब इन्होंने १९ वीं शताब्दी के मध्य बैबिलोनिया में उत्खनन कार्य प्रारम्भ किया, इनका उद्देश्य सुमेरियनों का नहीं वरन् असीरियनों का इतिहास जानना था। लेकिन बैबिलोनिया के प्राचीन स्तरों में इन्हें एक और जाति के अस्तित्व के प्रमाण मिले। १८५० ई० में सर्वप्रथम **हिंक्स** ने यह घोषित किया कि कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) लिपि को बैबिलोनियन सेमाइटों ने एक अन्य प्राचीनतर जाति से सीखा था। यह जाति अपने क्रीड़ाक्षेत्र, अर्थात् दक्षिणी बैबिलोनिया को सुमेर (बाइबिल का शिनार) कहती थी, इसलिए **ऑपर्ट** ने इस अज्ञात जाति को सुमेरियन नाम दिया। लगभग उसी समय रॉलिन्सन ने कुछ ऐसे अभिलेखों को ढूँढ़ निकाला जिनमें सुमेरियन भाषा की शब्दावली बैबिलोनियन भाषा में अनुवाद सहित दी हुई थी। इससे सुमेरियन अभिलेखों का अर्थ समझने में सहायता मिली। १८५४ ई० में दो अंग्रेज विद्वानों ने **उर, एरिडू तथा एरेक में उत्खनन कार्य** किया। १९ वीं शताब्दी ई० के अन्तिम पद में फ्रेंच विद्वानों ने **लगश नगर से** सुमेरियन राजाओं की सूचियाँ प्राप्त कीं। १८८९ से १८९८ ई० तक **निप्पुर नगर के उत्खनन में** सुमेरियन साहित्य से सम्बद्ध अनेक अभिलेख प्रकाश में आये। १९२९ ई० में अमरीकी विद्वान् प्रोफेसर **वूली ने उर नगर में उत्खनन कार्य** किया। इसमें उनको उर की प्रसिद्ध राजसमाधि और कोष

मिले जिनसे सुमेरियन सभ्यता के प्राचीनतम ऐतिहासिक युग पर प्रकाश मिला। १९४८ ई० में 'ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट ऑव द यूनीवर्सिटी ऑव शिकागो' तथा 'यूनीवर्सिटी म्युजियम इन फिलाडेल्फिया' के तत्त्वावधान में निप्पुर में पुनः उत्खनन करके सैकड़ों महत्त्वपूर्ण अभिलेख खोज निकाले गये। इन खोजों के कारण आज हम सुमेरियनों के विषय में जितनी बातें जानते हैं उतनी सम्भवतः अन्य किसी भी प्राचीन जाति के विषय में नहीं। उनकी अपनी मूर्तियों, मुद्रा-चित्रों और स्थापत्य से हम उनकी वेषभूषा और शरीर-संरचना का तथा उनके मन्दिरों, महलों, औजारों, अस्त्र-शस्त्रों, वाद्य-यन्त्रों और आभूषणों इत्यादि के द्वारा उनकी भौतिक सभ्यता तथा दैनिक सुख-सुविधाओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इतना ही नहीं सहस्रों की संख्या में प्राप्त उनके अपने अभिलेखों और मुद्राओं तथा परवर्ती युग के बैबिलोनियन अभिलेखों की सहायता से हम उनके सामाजिक और राजनीतिक संगठन, आर्थिक व्यवस्था, ज्ञान-विज्ञान, धर्म, दर्शन तथा साहित्य से भी परिचित हो जाते हैं।

सुमेरियन जाति

सुमेरियन और सेमेटिक जातियाँ—बैबिलोनिया में इतिहास के प्रारम्भ से ही दो जातियाँ निवास करती हुई मिलती हैं—उत्तरी बैबिलोनिया अर्थात् अक्काद में सेमेटिक और दक्षिणी बैबीलोनिया अर्थात् सुमेर में सुमेरियन। ये दोनों जातियाँ न केवल भाषा वरन् वेषभूषा और रहन-सहन में भी परस्पर भिन्न थीं। **सुमेरियनों** का कद नाटा, नाक ऊँची और नुकीली, बाल काले तथा माथा पीछे की ओर ढलका होता था। ये सिर को सदैव और मुख को प्रायः केश रहित रखते थे। मूँछ रखने की प्रथा बिलकुल नहीं थी। इसके विपरीत **सेमाइट** दाढ़ी और बाल रखते थे। इन दोनों में मेसोपोटामियन सभ्यता को जन्म देने का श्रेय सुमेरियनों को प्राप्त है। स्वयं अक्कादी सेमाइट और परवर्ती युगों में बैबिलोनिया में आनेवाली सेमाइट जाति की अन्य शाखाएँ, लिपि, धर्म, क़ानून और व्यापारिक तथा बौद्धिक क्षेत्रों में सुमेरियन सफलताओं में अधिक वृद्धि न कर सकीं और सुमेरियन राजनीतिक संगठन और युद्ध कला में परिवर्तन करने में भी वे केवल अंशतः ही सफल हो पाईं।

सुमेरियन जाति के आदिस्थान की समस्या—मेसोपोटामियन सभ्यता के जन्मदाता सुमेरियन वास्तव में किस जाति से सम्बद्ध थे, यह कहना कठिन है। हम उनको 'सुमेरियन' नामसे पुकारते हैं क्योंकि वे अपने क्रीड़ास्थल अर्थात् दक्षिणी बैबिलोनिया को 'सुमेर' कहते थे। परन्तु वे मूलतः सुमेर के

निवासी थे अथवा वहाँ बाहर से आकर बस गये थे, इस विषय में इतिहासज्ञ अभी एक मत नहीं हो सके हैं। फिर भी इतना निश्चित प्रतीत होता है कि वे कुछ समय तक एलम में रहे थे। आधुनिक पुरातात्त्विक अन्वेषणों से पता चलता है कि एलम की प्राचीन सभ्यता में बहुत से तत्त्व सुमेरियन थे। यह कहना कठिन है कि प्राचीनतम सुमेरियन जाति का एलम निवासियों से क्या सम्बन्ध था। द मौर्गां नामक विद्वान् की यह मान्यता है कि एलमियों और सुमेरियनों की भाषा की अभिन्नता में सन्देह होने पर भी जाति एक थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने स्थानान्तरण के समय सुमेरियनों ने कुछ समय एलम में निवास किया और वहाँ अपनी सभ्यता की छाप छोड़ी। कुछ अन्य तथ्यों से इस अनुमान का समर्थन होता है। सुमेरियन भाषा में 'कुर' शब्द का अर्थ 'देश' और 'पर्वत' दोनों होता है। उनकी लिपि में नदी और झील के लिए जो चिह्न प्रयुक्त हुए हैं उनसे लगता है कि वे अपने मूल देश में नदियों से अपरिचित परन्तु झीलों से परिचित थे। वे अपने देवताओं का निवास पूर्व दिशा में स्थित एक पहाड़ पर मानते थे और प्राचीनतम युग में अपने मकान लकड़ी के बनाते थे। इन तथ्यों से प्रतीत होता है कि उनका निवास किसी ऐसे स्थान पर था जहाँ पर्वत और जंगल खूब थे। एलम में ये दोनों बातें मिलती हैं। पुरानी बाइबिल में भी एक स्थान पर एक जाति के पूर्व से आकार 'शिन्नार' (सुमेर) में बसने का उल्लेख हुआ है। सम्भवतः यह संकेत सुमेरियनों की ओर ही है। हॉल इत्यादि कुछ विद्वानों का अनुमान है कि अगर सुमेरियन पूर्व से आए थे तो उनका सम्बन्ध भारतवर्ष की द्रविड जाति से हो सकता है। *बलूचिस्तान में आज भी द्रविड जाति के अस्तित्व के* चिह्न मिलते हैं। फारस में ईरानी आर्यों के आगमन के पूर्व जो जाति निवास करती थी वह भी द्रविड जाति से मिलती-जुलती थी। अतः यह अनुमान किया गया है कि सम्भवतः सुमेरियन मूलतः भारत में सिन्धु की घाटी में रहते थे। वहाँ से वे बलूचिस्तान और फारस होते हुए दजला और फ़रात की घाटियों में जाकर बसे। यह भी सम्भव है कि वे समुद्र के मार्ग से सुमेर आए हों, क्योंकि एक आख्यान में कहा गया है कि ओऑनिज़ नामक देवता ने, जो समुद्री मार्ग से आया था, सुमेर के निवासियों

चित्र १७ : असीरियन युग की ओऑनिज की मूर्ति

को सभ्य बनाया। श्री हॉल के इस मत का समर्थन फादर हेरास और हाल ही में क्रेमर महोदय ने किया है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि यह सुझाव सत्य के अति निकट प्रतीत होता है, तथापि ज्ञान की वर्तमान अवस्था में इसको निर्विवाद रूप से स्वीकृत कर लेना असम्भव है। जब तक सुमेरियन और सिन्धु-सभ्यताओं का आपेक्षिक तिथिक्रम, सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं की जाति और उनका दक्षिण भारत के द्रविडों के साथ सम्बन्ध इत्यादि समस्याओं पर सन्तोषजनक प्रकाश नहीं मिलता तब तक सुमेरियनों को द्रविड मानना सम्भव नहीं है। इस कठिनाई का अनुमान इसी बात से हो सकता है कि वैडेल ने इन्हीं तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि सुमेरियन वस्तुतः आर्य थे और उनके शासकों का तादात्म्य पुराणों में उल्लिखित प्राचीन आर्य राजाओं के साथ स्थापित किया जा सकता है। साइक्स ने भी उनका सम्बन्ध इण्डो-यूरोपियन परिवार से माना है। इसके विपरीत पिजॉन तथा बॉल ने उनकी भाषा में कुछ मंगोली तत्त्व देखकर उनको मंगोलिद् (मंगोलॉयड) परिवार से सम्बद्ध करने की चेष्टा की है। प्रोफेसर इलियट स्मिथ सुमेरियनों को विदेशी न मानकर सुमेर का ही मूल निवासी बताते हैं और उनको भूमध्यसागरीय जाति की कत्थई रंग की शाखा मानते हैं। परन्तु उनके सुझाव को स्वीकृत करना भी कठिन है क्योंकि वह प्रागैतिहासिक मिस्र के निवासियों को भी भूमध्यसागरीय जाति का अंग मानते हैं, जिनकी शारीरिक विशेषताएँ सुमेरियनों से निश्चित रूप से भिन्न थीं। स्पष्ट है कि सुमेरियन और प्रागैतिहासिक मिस्री, दोनों ही भूमध्यसागरीय जाति के सदस्य नहीं हो सकते। दूसरे, जैसा कि मियर, वूली और हॉल ने ध्यान दिलाया है, कुछ संकेत ऐसे भी मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि सुमेरियन जाति के आगमन के पूर्व इस प्रदेश में सेमेटिक जाति की कोई अत्यन्त प्राचीन शाखा बसी हुई थी, जिसको पराजित करके सुमेरियनों ने इस प्रदेश पर अधिकार स्थापित किया था। उदाहरणार्थ सुमेरियन देवताओं को सदैव सेमाइटों के समान लम्बे केश और दाढ़ी सहित दिखाया गया है, जब कि सुमेरियन अपने सिर को सदैव और मुख को प्रायः केश रहित रखते थे। सुमेरियन देवताओं के वस्त्र भी सुमेरियनों के बजाय सेमाइटों से मेल खाते हैं। इन तथ्यों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि सुमेरियन जाति ने बाहर से आकर पहले से बसी हुई सेमेटिक जाति को पराजित किया और उसकी संस्कृति के कुछ तत्त्वों को आत्मसात् कर लिया। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि ज्ञात इतिहास के प्रारम्भ में सुमेरियन जाति ही दक्षिणी बैबिलोनिया पर अधिकार किए हुए थी। यह भी

लगभग निश्चित ही है कि उसकी पूर्वगामी जाति अर्द्ध-यायावर थी और उसको सुमेरियन सभ्यता के निर्माण का श्रेय नहीं दिया जा सकता।

सुमेर का राजनीतिक इतिहास

सुमेर और अक्काद का ज्ञात राजनीतिक इतिहास **लगभग ३२०० ई० पू० से प्रारम्भ होता है।** उस समय ये दोनों प्रदेश छोटे-छोटे **प्रतिस्पर्द्धी नगर-**राज्यों में विभाजित थे। इनमें अक्काद के किश, सिप्पर, कुथा तथा ओपिस् और सुमेर के एरेक (उरुक), लारसा, ईसिन (निसिन), लगश, उर, एरिडु, अदब तथा निप्पुर इत्यादि नगर-राज्य प्रमुख थे। इनमें **निप्पुर सर्वप्रधान था** और यहाँ का देवता एनलिल समस्त देश में पूजनीय माना जाता था। इन नगर-राज्यों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ३२००ई०पू० के पहले ही इनका **उत्कर्ष काल बीत चुका था।** इनका तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० का इतिहास वास्तव में पतनोन्मुख युग का इतिहास है। इससे स्पष्ट है कि इन नगर-राज्यों की स्थापना ३२०० ई० पू० से कई शताब्दी पूर्व हुई होगी, जिनका राजनीतिक इतिहास जानना हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्था में असम्भव है।

पौराणिक-युग

बेरोसॉस के ग्रन्थ से ज्ञात पौराणिक इतिहास—३२०० ई० पू० से पहले के राजनीतिक इतिहास की कुछ झलक बैबिलोनिया के पौराणिक आख्यानों में मिलती है। बेरोसॉस के इतिहास से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में बैबिलोनिया के निवासी बर्बर और असभ्य थे। सर्वप्रथम ओऑनिज नामक एक देवताने, जो आधा मछली था तथा समुद्र से निकल कर आया था, उन्हें खेती करना, लिखना, तथा अन्य अनेक कलाएँ और विज्ञान सिखाए। यद्यपि किसी बैबिलो-नियन अभिलेख में ओऑनिज का उल्लेख नहीं मिलता तथापि ऐसा लगता है कि उसका कुछ सम्बन्ध आदि-जलदेवता इया के साथ है, जिसका मन्दिर सुमेर के प्राचीनतम नगर एरिडु में, फ़ारस की खाड़ी के समीप, बना हुआ था। ओऑ-निज और उसके उत्तराधिकारियों में प्रत्येक ने बहुत दीर्घ समय तक शासन किया। आलॉरोस नामक उसके एक उत्तराधिकारी ने लगभग ३६,००० वर्ष राज्य किया। इस वंश के अन्तिम शासक एक्सीसुथ्रोस के शासन काल में जल प्रलय हुआ। बेरोसॉस का यह वर्णन निश्चित रूप से बैबिलोनिया की स्वदेशी परम्पराओं पर आधारित है और सम्भवतः यहूदियों की जलप्रलय की कथा का मूल है। इस अनुश्रुति की व्याख्या विद्वानों ने विविध प्रकार से की है। हॉल

महोदय इसमें सुमेरियनों के, जो कि उनके मतानुसार मूलतः भारतीय द्रविड़ थे, समुद्री मार्ग से आने की कथा छिपी पाते हैं। कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि सेमाइटों ने ही अन्तिम रूप से बैबिलोनिया पर अधिकार स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी, इसलिए सम्भवतः वही समुद्री मार्ग से इस प्रदेश में आए थे। परन्तु **किंग** महोदय ने इससे केवल इतना निष्कर्ष निकाला है कि फारस की खाड़ी का तटवर्ती प्रदेश ही सुमेरियन सभ्यता का प्रारम्भिक केन्द्र था।

अभिलेखों से ज्ञात पौराणिक इतिहास—बेरोसॉस के अतिरिक्त कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) अभिलेखों से भी सुमेर और अक्काद के पौराणिक युग का कुछ इतिहास ज्ञात होता है। इनमें भी अति प्राचीन काल में सुमेर में **'जिसुद्र'** या 'ज्युसुद्र' (बेरोसॉस का एक्सीसूथ्रोस) के शासन काल में **जलप्रलय** होने का उल्लेख हुआ है। इन अभिलेखों में सुमेर के इतिहास को जलप्रलय के पहले और जलप्रलय के बाद—इन दो युगों में विभाजित किया गया है। इनमें **जलप्रलय के पहले के वंशों का इतिहास** अधिकांशतः कल्पनाप्रसूत है। एक तो इन वंशों का शासन काल लाखों वर्षों का माना गया है। दूसरे, इनके साथ बहुत-सी असम्भव बातें जोड़ दी गई हैं। उदाहरणार्थ एक अभिलेख में कुथा के एक प्राचीन राजा का उल्लेख मिलता है जिसके राज्य पर एक ऐसी जाति के लोगों ने आक्रमण किया था जिनका मुख पहाड़ी कौवों तथा शरीर पक्षियों के समान था। चार वर्ष के घोर संघर्ष के पश्चात् वह उनको मार भगाने में सफल हुआ। इन आख्यानों में इस प्रकार की अविश्वसनीय बातें होने पर भी आधुनिक विद्वान् यह सम्भावना प्रकट करते हैं कि **इनमें सत्य** का कुछ अंश हो सकता है। उदाहरणार्थ 'जलप्रलय' का आख्यान पूर्णतः काल्पनिक नहीं है, ऐसा पुरातात्त्विक अनुसन्धानों से संकेत मिलता है। १९२९ ई० में प्रोफेसर वूली ने उर नगर के उत्खनन में ४० फुट नीचे स्तर में ११ फुट मोटी मिट्टी की तह जमी पाई। उनके अनुसार ऐसी मिट्टी भयानक बाढ़ आने पर ही जम सकती थी। इस मिट्टी के नीचे उन्हें एक प्राचीनतर सभ्यता के अवशेष भी मिले। सम्भवतः फरात नदी में आई इस भयंकर बाढ़ की स्मृति ही कालान्तर में जलप्रलय-आख्यान का कारण बनी। सत्य और कल्पना का ऐसा मिश्रण **गिल्गामेश आख्यान** में भी मिलता है। गिल्गामेश एरेक का एक क्रूर राजा था। उसे मारने के लिए देवताओं ने इयाबानी नामक दैत्य का सृजन किया; परन्तु इयाबानी एरेक के ईश्तर के मन्दिर की एक गायिका के कपट-जाल में फँस गया और अन्त में गिल्गामेश का घनिष्ठ मित्र बन गया। तत्पश्चात् दोनों ने मिलकर बहुत से साहसपूर्ण कार्य किये, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण एलम के एक नरभक्षी

दैत्य **हुम्बाबा का बध** करना था। इस आख्यान में नगरों को स्वतन्त्र राज्यों के रूप में दिखाया गया है और ऐसा ही हम उनको ऐतिहासिक युग के आरम्भ में—३२०० ई० पू० के लगभग—पाते हैं। सुमेरियन नगरों और एलम का संघर्ष भी ऐतिहासिक युग में मिलता है। इसलिए यह अनुमान करना असंगत नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त आख्यान में कल्पना के साथ-साथ सत्य का अंश भी है।

ऐतिहासिक युग : सुमेर के नगर-राज्य

सुमेर के प्रारम्भिक नगर-राज्य—लगभग ३२०० ई० पू० से सुमेरियन नगरों के इतिहास पर अभिलेखों से विश्वसनीय प्रकाश मिलने लगता है। इन अभिलेखों के अनुसार जलप्रलय के पश्चात् सुमेर में क्रमशः किश, एरेक तथा उर नगर-राज्यों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। इनमें किश का प्रभुत्व २४,००० और एरेक का २,००० वर्षों तक चला। यह स्पष्टतः असम्भव है। लेकिन **उर का प्रभुत्व** ऐतिहासिक घटना प्रतीत होता है। एक तो अभिलेखों में उर के चार राजाओं का शासन काल १७७ वर्षों का माना गया है जो एकदम असम्भव नहीं है। दूसरे, पुरातत्त्व से भी इस वंश के अस्तित्व का पता चलता है। इसको हम '**उर का प्रथम वंश**' और सुमेर का प्रथम ऐतिहासिक वंश कह सकते हैं। इसका समय ३२०० ई० पू० के लगभग माना जा सकता है। उर की समाधियों के आश्चर्यजनक अवशेष इसी समय के हैं। किश के प्रथम राजा का नाम, जिसे हम उसके अपने अभिलेखों से जानते हैं, **उतुग** (लगभग ३२०० ई० पू०) था। वह जाति से सुमेरियन था। उसके कुछ समय बाद किश पर सेमाइटों का आधिपत्य स्थापित हो जाता है। **किश के नेतृत्व को** ३१०० ई० पू० या इसके कुछ पूर्व रखा जा सकता है। एरेक का नगर-राज्य भी बहुत प्राचीन था। ऐसा प्रतीत होता है कि किश के पश्चात् सुमेर में **एरेक का प्रभुत्व** स्थापित हुआ। अन्त में **लगश की शक्ति** सर्वोच्च हो जाती है। इस के राजवंश का संस्थापक उर-निना (लगभग ३०५० ई० पू०) नामक व्यक्ति था। उसने देवताओं के मन्दिर बनवाए और नहरें खुदवायीं। उसके एक उत्तराधिकारी **इयन्नातुम** (लगभग ३,००० ई० पू०) ने उम्मा नगर राज्य को पराजित किया जिसका उल्लेख उसके प्रसिद्ध '**गृध्र-पाषाण**' में मिलता है। उसने किश, एरेक, उर तथा एलम के शासकों को भी पराजित किया था। इस वंश का **अन्तिम शासक उरु-कगिना** (लगभग २९०० ई० पू०) था। उसके समय तक लगश के पदाधिकारी विजित देशों से प्राप्त धन के कारण

बहुत आलसी और विलासी हो गये थे और जनता पर अत्याचार करने लगे थे। उर-कगिना ने इस अव्यवस्था को रोकने के लिए बहुत से कर बन्द कर दिये और **पुजारियों पर कड़े प्रतिबन्ध लगाए।** यह इतिहास में प्रथम घटना है जब किसी शासक ने **प्रचलित करों को कम किया।** लेकिन इन सुधारों के कारण लगश का उच्च वर्ग उर-कगिना के विरुद्ध हो गया। इसलिए उम्मा के शासक को, जो उसका शत्रु था, उसे पराजित करके लगश के नेतृत्व का अन्त करने में कठिनाई नहीं हुई।

एरेक का उत्कर्ष—उम्मा का यह शासक **लुगल जग्गिसी** (लगभग २८५० ई० पू०) के नाम से विख्यात है। उसने एरेक को अपनी राजधानी बनाया। उसके समय से सुमेर और अक्काद का नेतृत्व पुनः इस नगर के हाथ में चला गया। लुगल जग्गिसी ने किश के विद्रोह को दबाया, ओपिस को जीता तथा पश्चिम में अमुर्रु (सीरिया) और पेलेस्टाइन को पराजित किया। उसने 'एरेक तथा सुमेर का राजा' पदवी धारण की। उसके पश्चात् उसके वंश का पतन हो गया तथा सुमेर पर किश और अक्काद के सेमाइटों ने अधिकार कर लिया।

अक्कादी सेमाइटों का उत्कर्ष : सारगोन का युग

सुमेरियन राजनीतिक शक्ति का क्रमिक ह्रास—किश के सेमेटिक शासक बहुत प्राचीन काल से अक्काद में बसे हुए थे। इन सेमाइटों की, जैसा हम देख चुके हैं, अपनी संस्कृति समुन्नत नहीं थी। अतः प्रारम्भ से ही इन्होंने सुमेरियन संस्कृति को अपना लिया था। किश के नेतृत्व में यह प्रक्रिया तीव्र हो गई। इस प्रकार किश की विजय से **सुमेर और अक्काद के इतिहास में एक नया अध्याय** प्रारम्भ होता है, जो सुमेरियन राजनीतिक शक्ति के अन्त और सेमेटिक जाति के सुमेरीकरण के प्रारम्भ का सूचक है। इसके पश्चात् सुमेर और अक्काद का इतिहास इस प्रक्रिया की क्रमिक प्रगति का इतिहास है। इसके कारण सुमेरियन राजनीतिक शक्ति के रूप में शनैः शनैः विलुप्त हो गये। इतना ही नहीं, एक जाति के रूप में भी उनका अन्त हो गया। दूसरी ओर सेमाइट धीरे-धीरे सुमेरियन संस्कृति के रंग में रंगते गये। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप बैबिलोनिया के इतिहास में राजनीतिक उथल-पुथल होने के बावजूद सांस्कृतिक परिवर्तन बहुत अधिक नहीं हो पाये। इस प्रक्रिया का **दूसरा अध्याय** बैबिलोन पर पश्चिमी सेमाइटों के आधिपत्य के युग में लिखा गया, जब सुमेरियन राजनीतिक शक्ति केवल फारस की खाड़ी के तटवर्ती प्रदेश तक सीमित रह गई।

इसका अन्तिम अध्याय कसाइटों के शासनकाल से सम्बन्धित है, जिन्होंने इस **समुद्र-तट-राज्य** को जीत कर सुमेरियन राजनीतिक शक्ति का सदैव के लिए अन्त कर दिया।

सारगोन प्रथम—अनुश्रुतियों के अनुसार सेमाइट आधिपत्य की स्थापना करने वाला व्यक्ति अगाद अथवा अक्काद का सारगोन (सारगनी-सारी) था। वह सेमेटिक इतिहास में 'राष्ट्रीय वीर' के रूप में याद किया गया है। परन्तु आधुनिक शोधों से ज्ञात हुआ है कि प्रथम महत्त्वपूर्ण सेमेटिक शासक **शर्रु-गी या शर्रु-किन** (लगभग २८५० ई० पू०) था। सम्भवतः नाम सादृश्य के कारण बाद में दोनों व्यक्तियों की अनन्यता मानी जाने लगी, जैसा बहुत से विद्वान् अब भी मानते हैं। परन्तु किंग महोदय ने उन्हें पृथक् माना है और उन्हीं के मत का हमने यहाँ अनुसरण किया है। शर्रु-गी के कम से कम दो उत्तराधिकारी हुए। उन्होंने एलम पर विजय प्राप्त करके अक्काद की शक्ति को बढ़ाया। उनके पश्चात् अक्काद का नेतृत्व **सारगनी-सारी** के हाथ में चला गया जो इतिहास में **सारगोन प्रथम** (लगभग २८०० ई० पू०) के नाम से प्रसिद्ध है।

सारगोन का जीवन और सामरिक सफलता—सारगोन बैबिलोनिया का प्रथम महान् शासक था। वह प्राचीन विश्व के महानतम विजेताओं में गिना जाता है। उसे बैबिलोनिया के इतिहास में वही स्थान प्राप्त है जो मिस्र में मेनिज और भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य को। उसने बैबिलोनिया में प्रथम बार **संयुक्त-राज्य की स्थापना** की। चन्द्रगुप्त मौर्य के समान उसका जीवन भी ऐसी अनेक पौराणिक गाथाओं से आच्छादित है, जिनकी ऐतिहासिकता निर्विवाद रूप से स्वीकार्य नहीं है। एक सुमेरियन आख्यान में सारगोन के मुख से कहलाया गया है :—

> 'मैं, सारगोन, शक्तिशाली राजा, अक्काद का राजा हूँ। मेरी माँ निर्धन थी; अपने पिता को मैं नहीं जानता''मेरी माँ ने मुझे गुप्त रूप से जन्म दिया; उसने मुझे एक नरकुल (रीड) के सन्दूक में बन्द कर दिया'' उसने मुझे नदी में छोड़ दिया''नदी मुझे बहाकर अक्की नामके माली के पास ले आई'''''अक्की ने मुझे पाल कर बड़ा किया''अक्की ने मुझे माली बनाया।'

इस आख्यान के शेषांश में उसे अपनी योग्यता से किश के राजा की कृपा प्राप्त करते और अन्त में विद्रोह करके स्वयं राजा बनते दिखाया गया है। परन्तु ऐतिहासिक शोधों से ज्ञात होता है कि वह **दति एनलिल का पुत्र था**, जो सम्भवतः किश के राजा के अधीन अगाद प्रदेश के एक छोटे से नगर का

अधिकारी था। अपने पिता के समान सारगोन भी कुछ समय तक किश के राजा का एक उच्च पदाधिकारी रहा। बाद में उसने समस्त **बैबिलोनिया पर अधिकार** कर लिया। सुमेर और अक्काद के लगभग सभी प्रमुख नगरों में उसने मन्दिर और राजप्रासाद बनवाए। इसके अतिरिक्त उसने बैबिलोनिया के उत्तर तथा पूर्व में स्थित **गूती प्रदेश, जगरोस के** पर्वतीय प्रदेश तथा **पूर्वी एशिया माइनर** में भी सफलता प्राप्त की, ऐसा तत्कालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है। इन समकालीन साक्ष्य के अतिरिक्त बैबिलोनियन जनश्रुतियों से भी उसकी सफलता का कुछ ज्ञान होता है। निनेवेह के पास प्राप्त सातवीं शताब्दी ई० पू० के एक शकुन सूचक अभिलेख (ओमन टेब्लेट्) में कहा गया है कि उसने पश्चिमी समुद्र (भूमध्यसागर) को पार कर सम्भवतः **दक्षिण-पूर्वी द्वीप समूह** पर तीन वर्ष तक राज्य किया। एक अन्य अभिलेख में बताया गया है कि उसने फारस की खाड़ी तक अपनी सत्ता स्थापित की और **दिलमुन द्वीप** को अपने प्रभाव के अन्तर्गत किया। सम्भवतः उसने **एलम** पर भी कई बार आक्रमण किए थे। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसके ये आक्रमण एलम को अपने राज्य में मिलाने की अपेक्षा लूटपाट करने के लिए किये गये थे। अधिकांश विद्वान् इन अनुश्रुतियों को पूर्णतः असत्य नहीं मानते और स्वीकृत करते हैं कि **सारगोन का राज्य** 'पश्चिमी प्रदेश (सीरिया) से पूर्वी समुद्र (फारस की खाड़ी) तक' विस्तृत रहा होगा। इतना ही नहीं विंकलर तथा ब्रेस्टेड जैसे विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं कि सारगोन द्वारा भूमध्यसागर पार करके **साइप्रस** जीतने तथा **ईजियन द्वीप समूह** पर आक्रमण करने की सम्भावना को भी ध्यान में रखना चाहिए। परन्तु हॉल और किंग ने इस सुझाव का विरोध किया है।

सारगोन की सांस्कृतिक सफलता—सामरिक योजनाओं को कार्यान्वित करने के अतिरिक्त सारगोन ने **शासन में सुधार किए** और मन्दिरों तथा राजप्रासादों का निर्माण कराया। उसी के प्रयास के फलस्वरूप सुमेरियन कानूनों और **धर्म-पुस्तकों को संगृहीत** और सेमेटिक भाषा में अनूदित किया गया। ये सब सुमेर के मन्दिरों में सुरक्षित रखे गये। लगभग २००० वर्ष पश्चात् असीरियन सम्राट् असुरबनिपाल की आज्ञा से उनकी प्रतिलिपियाँ बनाई गई। सारगोन ने **समस्त साम्राज्य में संदेश-संचार-प्रणाली को भी व्यवस्थित किया।** उसकी इन महान् सफलताओं के कारण अक्काद वंश के आधिपत्य का समय **'सारगोन का युग'** कहा जाता है। परवर्ती युगों में बैबिलोन के शासक सदैव सारगोन को एक आदर्श राजा मानते रहे और उसके समान बनने का प्रयास करते रहे।

नरामसिन की सफलता—सारगोन का तीसरा पुत्र नरामसिन (लगभग २७५०-२७०० ई० पू०) इस वंश का दूसरा प्रतापी नरेश था। उसका शासन काल भी सारगोन की भाँति गौरवशाली था। उसके समय के अभिलेखों और नबोनिडस की पुरातात्त्विक खोजों से ज्ञात होता है कि उसने **लुल्लुबी के शासक**

चित्र १८ : एक अक्कादी नरेश की कांस्य मूर्ति

सतुनी को पराजित किया और अपनी विजय के उपलक्ष्य में **'नरामसिन-पाषाण'** नामक स्मारक बनवाया जिसे अक्कादी युग की सर्वोत्तम कलाकृति कहा जा सकता है। उसने एलम, मेसोपोटामिया के उत्तर-पूर्व और मागन (पूर्वी अरब)

में भी अपनी विजय पताका फहराई। वह अपने को 'चतुर्दिक् का स्वामी' कहता था। बैबिलोनियन अनुश्रुतियों में भी उसकी एलम और मागन विजयों का उल्लेख है।

सेमाइटों का सांस्कृतिक कायाकल्प—अक्कादी वंश के प्रभुत्व की प्रथम शताब्दी सुमेर और अक्काद की संस्कृति के चरमोत्कर्ष का समय है। छोटे-छोटे नगर-राज्यों को संगठित करके प्रथम महान् सेमेटिक साम्राज्य की स्थापना से देश के इतिहास को नया मोड़ मिला। यद्यपि यह साम्राज्य स्थायी सिद्ध नहीं हुआ, फिर भी इसकी स्मृति सहस्राब्दियों तक प्रेरणा का स्रोत बनी रही। सारगोन की सफलता का सर्वाधिक प्रभाव स्वयं सेमाइटों पर पड़ा। उन्हें रेगिस्तानी जीवन के अवशिष्ट रंग-ढंग छोड़ देने पड़े। इस सांस्कृतिक कायाकल्प में उन्होंने अभूतपूर्व अनुकूलनशक्ति का प्रदर्शन किया। उन्होंने सुमेरियन लिपि अपनाई, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था तथा युद्धकला में सुमेरियनों से शिक्षा प्राप्त की, पंचाङ्ग (कलैण्डर) तथा भार और नाप के परिमाणों का ज्ञान प्राप्त किया और उद्योग-धन्धे तथा विविध कलाएँ सीखीं। स्थापत्य में शीघ्र ही वे अपने गुरुओं की समता करने लगे और मुद्रा-निर्माण-कला में तो उन्हें मात देने लगे।

अक्कादी सेमाइटों का ह्रास और पतन—नरामसिन के उत्तराधिकारियों के विषय में अधिक तथ्य ज्ञात नहीं हैं। वास्तव में आधुनिक अन्वेषणों से नरामसिन (लगभग २७५०-२७०० ई० पू०) के पश्चात् २६ वीं शताब्दी ई० पू० के अन्त तक के इतिहास पर अभी तक अधिक प्रकाश नहीं मिल पाया है। अक्कादी वंश के अन्तिम सात शासकों के नाम हमें ज्ञात हैं, परन्तु उनके समय में साम्राज्य की क्या अवस्था थी यह कहना कठिन है। इस वंश के पश्चात् बैबिलोनिया का नेतृत्व एरेक नगर के हाथ में चला गया था, इसका कुछ संकेत मिलता है। परन्तु इन दो शताब्दियों की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है गूती जाति का आक्रमण, जिसके कारण सम्पूर्ण उत्तरी और दक्षिणी बैबिलोनिया तथा एलम को लगभग १२५ वर्षों के लिए इस बर्बर जाति के अधिकार में रहना पड़ा। गूती के आधिपत्य का अन्त सम्भवतः एरेक के राजाओं ने किया। एरेक की इस सफलता से सुमेरियन जाति के पुनरुत्थान का युग आरम्भ होता है।

सुमेरियन पुनरुत्थान का युग

लगश का उत्कर्ष—जिस समय हमारे साक्ष्य सुमेर और अक्काद के इतिहास पर प्रकाश देना प्रारम्भ करते हैं, हम लगश को देश का नेतृत्व करता

पाते हैं। लगश के शासक अपने को प्राचीन परम्पराओं के अनुसार पटेसी कहते थे। इस युग का सबसे प्रसिद्ध पटेसी गूडी (लगभग २५०० ई० पू०) था। यद्यपि वह एक विजेता के रूप में एलम पर आक्रमण करने के अतिरिक्त कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सका, फिर भी वह अपने धार्मिक कृत्यों, उदारता, न्यायप्रियता और भवन-निर्माण में रुचि रखने के कारण सुमेर के इतिहास में प्रसिद्ध रहा है। उसके पश्चात् लगश का गौरव घटने लगता है और उसका स्थान उर का नगर-राज्य ले लेता है।

उर का तृतीय राजवंश : दुंगी—उर के तृतीय राजवंश का महानतम शासक दुंगी या शुल्गी (लगभग २४५०-२४०० ई० पू०) था। उसने समस्त बेबिलोनिया पर अधिकार करके 'उर नरेश', 'चतुर्दिक का स्वामी' तथा 'सुमेर और अक्काद का राजा' विरुद धारण किए। वह प्रथम सुमेरियन शासक है जिसने 'सुमेर और अक्काद का राजा' विरुद धारण किया था। इन उपाधियों के साथ साथ उसने दैवी पदवियाँ भी धारण कीं। इन उपाधियों और पदवियों को धारण करने के लिए उसके पास पर्याप्त कारण थे। उसने एलम पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त की थी, जगरोस की पर्वतीय जातियों को परास्त किया था और उर, एरेक, लगश, कूथा तथा सूसा (एलम) इत्यादि नगरों में विभिन्न देवताओं के मन्दिर निर्मित कराये थे। दुंगी का शासन काल उसकी विधि-संहिता (कोड) के कारण भी प्रसिद्ध है। यद्यपि अब सुमेर में ही इससे पुरानी विधि संहिताएँ मिल जाने के कारण दुंगी की विधि-संहिता को विश्व की प्राचीनतम विधि-संहिता होने का गौरव नहीं दिया जा सकता, तथापि इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि परवर्ती बेबिलोनियन शासक हम्मुरबी की विश्व प्रसिद्ध विधि-संहिता दुंगी की विधि-संहिता का संशोधित और परिवर्धित संस्करण मात्र थी।

नये राष्ट्र का जन्म—दुंगी का वंश सेमाइट आधिपत्य के विरुद्ध सुमेरियन प्रतिक्रिया और पुनर्जागरण का प्रतीक है। इसका सबसे सबल प्रमाण यह है कि उसके वंश के शासन काल में सुमेरियन भाषा की प्रधानता पुनः स्थापित होती है तथा दुंगी जैसे शासक एरिडू जैसे सुमेरियन नगरों के साथ पक्षपात करते हैं और सेमेटिक देवता मर्दुक का कोष छीन लेते हैं। परन्तु स्मरणीय है कि सुमेरियन पुनरुत्थान के कारण बेबिलोनियन जीवन से सेमाइटों का प्रभाव पूर्णतः समाप्त नहीं हो गया। प्रमाणार्थ बहुत से सेमाइटों को हम इस युग में भी शासन-व्यवस्था में सक्रिय भाग लेते हुए देखते हैं। स्थानीय शासकों में कुछ के नाम स्पष्टतः सेमेटिक प्रतीत होते हैं। वास्तव में सारगोन के पश्चात् सेमेटिक

अक्काद सुमेर का अभिन्न अंग बन गया। अतः इस हलचल के बाद जिस **नये राष्ट्र का जन्म** हुआ उसे **'सुमेर और अक्काद'** संज्ञा दी जाती है। इसीलिए इस युग के अधिकांश राजाओं ने सुमेरियन होते हुए भी **'सुमेर और अक्काद का स्वामी'** विरुद धारण किया था।

सुमेर का ह्रास और त्रिशक्ति-संघर्ष—दुंगी के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी अधिक समय तक शासन नहीं कर पाए। उसकी मृत्यु के ४३ वर्ष बाद (२३५७ ई० पू०) उर के नेतृत्व का अन्त हो गया। उर के पतन के पश्चात् लगभग ३०० वर्षों तक कोई नगर संयुक्त-राज्य की स्थापना न कर सका और देश नये आक्रमणकारियों के लिए आकर्षण का विषय बना रहा। वास्तव में यह वह समय था जब सुमेर और अक्काद के नगर-राज्य धीरे-धीरे अपना महत्त्व खो रहे थे और **सुमेरियन जाति का ह्रास** हो रहा था। उर के पतन का तात्कालिक कारण एलमी शासक का आक्रमण था, जो दुंगी के अन्तिम उत्तराधिकारी को बन्दी बनाकर एलम ले गया। तब से लेकर हम्मूरबी के समय तक (२१२३-२०८० ई० पू०) सुमेर पर **एलम के आक्रमण** बराबर होते रहे। उसके प्रसार को रोकने के लिए इशु-उरा (लगभग २३३९–२३०७ ई० पू०) नामक व्यक्ति ने **ईसिन नगर में एक नये वंश की स्थापना** की। इस वंश की शक्ति उर के समान नहीं थी, फिर भी इसका प्रभाव लगभग २२५ वर्ष तक (२३३९–२११४ ई० पू०) बना रहा। २३ वीं शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में बैबिलोनिया पर उत्तर की ओर से सेमेटिक जाति की एक नयी शाखा ने, जो इतिहास में **पश्चिमी सेमेटिक अथवा अमुरू (अमोराइट)** नाम से विख्यात है, आक्रमण करने आरम्भ किए। उसने बैबिलोन नामक नगर को अपनी शक्ति का केन्द्र बनाया। लगभग उसी समय दक्षिण से एलमी शासक कुदुर-मबुक ने आक्रमण किया और उर पर अधिकार कर लिया। उसके पुत्र रिमसिन (२१५५-२०९४ ई० पू०) ने लारसा को जीत कर उसे अपनी शक्ति का केन्द्र बनाया। इस प्रकार बैबिलोनिया का २२ वीं शताब्दी ई० पू० के अन्त का इतिहास **त्रिशक्ति-संघर्ष** का इतिहास है। इस समय उत्तर में पश्चिमी सेमाइट बैबिलोन को केन्द्र बनाकर सम्पूर्ण सुमेर और अक्काद को जीतने का स्वप्न देख रहे थे और दक्षिण में एलमी शासक लारसा को केन्द्र बनाकर उत्तर की ओर बढ़ने की चिन्ता में थे। इन दोनों शक्तियों के बीच ईसिन राज्य था जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने का प्रयास कर रहा था। इस त्रिशक्ति-संघर्ष में अन्ततोगत्वा पश्चिमी सेमाइटों ने सफलता प्राप्त की और हम्मूरबी के नेतृत्व में बैबिलोनिया के इतिहास का दूसरा अध्याय लिखा।

सुमेरियन आर्थिक व्यवस्था

सुमेरियन दलदलों का जलनिस्सारण—सम्भवतः ४००० ई० पू० के लगभग सुमेरियनों ने फारस की खाड़ी के उत्तर में स्थित दलदलों को सुखाना, नदियों में आनेवाली बाढ़ों को रोकने के लिए बाँध बनाना और सिंचाई के लिए नहरें खोदना आरम्भ कर दिया था। धीरे-धीरे उनके उपनिवेश आधुनिक बगदाद से नदीद्वय के मुहाने तक फैल गये। बैबिलोनियन धार्मिक साहित्य में दलदलों को सुखाकर खेती करने के सम्बन्ध में कुछ कथाएँ मिलती हैं। एक आख्यान में बैबिलोनियन देवता मर्दुक को आदि काल में जल और भूमि को पृथक् करके व्यवस्था स्थापित करने और मनुष्यों के रहने के लिए घरों का निर्माण करने का श्रेय दिया गया है। इस आख्यान के एक दूसरे संस्करण के अनुसार मर्दुक ने आदि जल दैत्य तियामत को पराजित करके जल के ऊपर नरकुल को डाला और उसे धूल से आच्छादित करके भूमि का निर्माण किया। इसके बाद उसने पृथिवी को समुद्र से अलग करने के लिए बाँध बनाए और ईंटों से मकान और नगर। इस आख्यान में स्पष्टतः उस समय की स्मृति सुरक्षित है जब सम्पूर्ण दक्षिणी बैबिलोनिया दलदलों से भरा हुआ था। और इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि मर्दुक ने इस आख्यान में एरिडू के देवता इया अथवा एनकी का स्थान ले लिया है। सुमेरियन देवता एनकी आरम्भ में जल देवता था। अतः विश्वास किया जाता है कि सुमेरियन आख्यान में तियामत को पराजित करने वाला एनकी ही रहा होगा। परन्तु बाद में, जब धार्मिक आख्यानों का सेमेटिकीकरण हुआ, एनकी का स्थान सेमेटिक देवता मर्दुक को दे दिया गया। जो कुछ भी रहा हो, यह स्पष्ट है कि सुमेर में **दलदलों के जलनिस्सारण** और प्रथम **नगरों की स्थापना** का महनीय कार्य सुमेरियनों ने ही किया था और वही तियामत के वास्तविक विजेता थे।

सिंचाई व्यवस्था—दलदलों को सुखाकर सुमेरियनों ने सिंचाई की समुचित व्यवस्था की। उनके देश में **नहरों का जाल** सा बिछा हुआ था। इनमें लम्बी नहरों को यातायात के लिए भी उपयोग में लाया जाता था। सुमेरियन शासक पुरानी नहरों को सुधरवाने और नई नहरों के बनवाने में बहुत रुचि लेते थे। इस दृष्टि से सुमेरियन और मिस्री सिचाई व्यवस्था में पर्याप्त सादृश्य है। परन्तु दोनों में कुछ अन्तर भी है। हेरोडोटस का ध्यान इस ओर गया था। उसके अनुसार बैबिलोनिया में मिस्र के समान नदियों में आनेवाली बाढ़ से खेतों को डूबने नहीं दिया जाता था, बरन् प्रत्येक खेत के चारों ओर मिट्टी की ऊँची प्राचीर बना दी जाती थी और बाढ़ के जल को एक स्थान पर एकत्र कर लिया

जाता था। फिर उसे नहरों और **'शडूफ'** (ढेंकुली अथवा रहट) की सहायता से खेतों में पहुँचाया जाता था।

सुमेर की मन्दिर व्यवस्था—सुमेरियन आर्थिक संगठन मिस्र की तुलना में अपेक्षया सरल था और व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करता था। व्यापार, उद्योग और भूमि राजा के एकाधिकार में न होकर अधिकतर मन्दिरों के हाथ में थे। वास्तव में जिस प्रकार सुमेरियन राजनीतिक जीवन का केन्द्र नगर थे उसी प्रकार नगरों के राजनीतिक, धार्मिक और **आर्थिक जीवन का केन्द्र थे वहाँ के देव-मन्दिर।** प्रत्येक नगर में यों तो बहुत-से मन्दिर होते थे परन्तु उनमें नगर देवता का मन्दिर प्रधान माना जाता था। प्रत्येक मन्दिर के पास प्रचुर संख्या में पदाधिकारी, पुजारी, पशुपालक, मछेरे, माली, व्यापारी और दास इत्यादि रहते थे जो सामूहिक रूप से देवता के सेवक कहलाते थे। मन्दिर के पास बहुत-सी **भूमि** भी होती थी जो कई भागों में विभाजित रहती थी। इसका एक भाग जो, **'निगेना'** कहलाता था, सामूहिक माना जाता था। उसमें मन्दिर के सब व्यक्तियों को काम करना होता था। दूसरा भाग, जो 'कुर' कहलाता था मन्दिर के सदस्यों में विभाजित कर दिया जाता था और तीसरा भाग, जो **'उरुलल्'** कहलाता था, लगान पर उठा दिया जाता था। **लगान** उपज का छठे से तीसरा भाग तक होता था। यह खाद्यान्न और चाँदी के रूप में दिया जाता था। क्योंकि नगर का प्रत्येक नागरिक किसी न किसी मन्दिर का सदस्य होता था, इसलिए उसे 'कुर' भूमि का एक अंश अनायास मिल जाता था और 'निगेना' में अनिवार्य रूप से काम करना होता था। व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र नागरिकों के पास अधिक भूमि नहीं होती थी। अगर स्त्रियाँ किसी रूप में मन्दिर की सेवा करती थीं तो उनको भी मन्दिर की **भूमि के वितरण** में एक भाग मिल जाता था। सामूहिक भूमि में कार्य करने के लिए मन्दिर औज़ार, हल, हल चलाने के लिए पशु(बैल और गधे) और बीज इत्यादि देता था। नगरों और बाँधों की मरम्मत के लिए बेगार भी ली जा सकती थी। **मन्दिर का प्रधान पुजारी 'संगु'** सामूहिक भूमि की उपज को मन्दिर के सदस्यों में बाँटता था। उत्सवों पर सबको अतिरिक्त भाग मिलता था। इसी सामूहिक उपज में से पुजारी वर्ग अपने जीवन-यापन के लिये एक भाग रख लेता था। संगु की सहायता के लिए **'नुबन्द'** नाम का पदाधिकारी रहता था जो खेतों और भण्डार-गृहों की देखभाल करता था तथा मन्दिर के प्रबन्ध में सहायता देता था। नुबन्द के अधीन बहुत-से निरीक्षक रहते थे। मन्दिर के सदस्यों और नागरिकों को बहुत-से दलों में बाँट दिया जाता था। प्रत्येक दल पर एक **निरीक्षक** नियन्त्रण

रखता था। उसी के माध्यम से सदस्यों को उनका भाग दिया जाता था। **मन्दिरों की सम्पत्ति** खाद्यान्न, तिलहन, फल, खजूर, सुरा, ऊन, खाल, एवं बहुमूल्य पाषाणों, कलात्मक उपकरणों और अस्त्र-शस्त्रों इत्यादि के रूप में भण्डारगृहों में सुरक्षित रखी रहती थी। प्रत्येक वस्तु की मात्रा और विभिन्न विभागों की आय और व्यय का विस्तरशः हिसाब रखा जाता था। इस पर संगु और नुबन्द के हस्ताक्षर होने आवश्यक होते थे।

'**धार्मिक समाजवाद**—सुमेर की मन्दिर व्यवस्था में यद्यपि मन्दिरों के पदाधिकारियों द्वारा आम जनता पर अत्याचार किये जाने का पर्याप्त अवसर था, तथापि तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० की प्रथम शताब्दियों तक यह व्यवस्था ठीक चलती रही। इसके **दो कारण** थे। एक तो **सुमेर की भूमि इतनी उर्वर** थी कि थोड़े श्रम से ही काफी उपज हो जाती थी; इसलिए साधारण जनता को अधिक काम नहीं करना पड़ता था। दूसरे, इस व्यवस्था मे थोड़ा बहुत काम धनी निर्धन सभी को करना पड़ता था। यह ठीक है कि व्यवहार में कुछ व्यक्तियों को अधिक श्रम करना पड़ता था और कुछ को कम, तथापि सिद्धान्ततः मन्दिर की दृष्टि में सब व्यक्ति समान थे। प्रत्येक व्यक्ति चाहे पुजारी था या व्यापारी, दस्तकार था या मजदूर, थोड़ा बहुत कार्य करने के लिए बाध्य था; और प्रत्येक को मन्दिर की सामूहिक भूमि की उपज का एकांश मिलता था। प्राचीन काल में इस प्रकार के 'धार्मिक समाजवाद' का अन्य कोई उदाहरण नहीं मिलता।

कृषिकर्म—कुल मिलाकर सुमेरियन **राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत** कृषिकर्म था। सुमेरियन निपुण कृषक थे और उनके देश की **भूमि उर्वर** थी। हेरोडोटस बैबिलोनिया की उर्वरता से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। उसके समय में कृषि-कर्म बैबिलोनिया के आर्थिक जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। निश्चित रूप से सुमेरियन युग में इसका महत्त्व और भी अधिक रहा होगा। सुमेरियन मुख्यतः **गेहूँ, जौ और खजूर की खेती** करते थे। बहुत से मन्दिरों के पास **फलों के बाग** थे। **मछली** पालने के लिए सरोवरों, नहरों और नदियों का उपयोग किया जाता था। उनके **हलों** की यह विशेषता थी कि उनमें जोतने के साथ ही साथ एक नलिका द्वारा बोने के लिए बीज भी डाला जा सकता था। सुमेरियन युग में कृषि की कितनी उन्नति हो चुकी थी, इसका कुछ ज्ञान लगभग १७०० ई० पू० के एक अभिलेख से होता है। यह अभिलेख निप्पुर में १९४९-५० ई० में मिला था। इसे विद्वानों ने '**विश्व का प्रथम कृषि-पंचाङ्ग**' कहा है। इसमें एक कृषक अपने पुत्र को बताता है कि उसे मई-जून में बाढ़ आने के समय से लेकर अप्रैल-मई में फसल कटने तक किस समय क्या-क्या करना चाहिए। वह

अपने पुत्र को वे सब उपाय बताता है, जिनको प्रयोग में लाने से उसके खेत की पैदावार बढ़ सकती थी। इसके साथ ही वह यह भी बताता है कि वे उपाय सुमेर में प्राचीन काल से ही ज्ञात थे। यह अभिलेख निश्चित रूप से अपने ढंग का प्राचीनतम ज्ञात अभिलेख है। एक अन्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि सुमेर में बागों में फलों के छोटे-छोटे पौधों को धूप और वायु से बचाने के लिए उनके बीच में ऊँचे, घनी छाया देने वाले, पेड़ लगाने की पद्धति भी बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी।

पशुपालन—सुमेरियन राष्ट्रीय आय का दूसरा प्रमुख स्रोत पशुपालन था। उनकी प्रमुख देवियों में एक की कल्पना गाय के रूप में की गई थी। उनका विश्वास था कि वह पशु जगत् की रक्षा करती है। (चित्र १९)। उनके अन्य पालतू पशुओं में भेड़ और बकरी प्रमुख थे। मन्दिरों के पास प्रचुर संख्या में भेड़, बकरी और सुअर आदि रहते थे, जिनके लिए पृथक्-पृथक् बाड़े बने होते थे। उर के समीप निर्मित गौ देवी के मन्दिर से प्राप्त चित्रों से तत्कालीन दूध-उद्योग के विषय में बहुत सी मनोरंजक बातें ज्ञात होती हैं। सुमेरियन हल खींचने के लिए बैलों का और पहियेदार गाड़ी खींचने के लिए गधों अथवा खच्चरों का भी प्रयोग करते थे। **घोड़े से वे सम्भवतः परिचित नहीं थे।**

चित्र १९ : उर से प्राप्त गौ देवी की स्वर्ण मूर्ति

कलाकौशल—सुमेरियनों को अधिकांश आय कृषिकर्म और पशुपालन से होती थी इसमें सन्देह नहीं, परन्तु कलाकौशल को विकसित करने में भी वे पीछे नहीं थे। मन्दिरों के सदस्यों में काफी संख्या बढ़ई, जुलाहे और लुहार इत्यादि कारीगरों की होती थी जो आवश्यक औजार, वस्त्र और बर्तन इत्यादि बनाते और सुधारते रहते थे। मन्दिर में काम आने और सामूहिक रूप से बँट

जाने के पश्चात् जो वस्तुएँ बच जाती थीं उनको अन्य नगरों और विदेशों में बिकने के लिए भेज दिया जाता था। औद्योगिक वस्तुओं को तैयार करने के लिए वे देश में उत्पन्न कच्चे माल का ही प्रयोग नहीं करते थे वरन् **विदेशों से भी कच्चे माल का आयात करते थे।** जैसा कि हम देख चुके हैं, वे बहुत पुराने समय से ही धातुओं से उपकरण बनाने की विधि का आविष्कार कर चुके थे। वे ताम्र को पीट कर और साँचे में ढाल कर मूर्तियाँ, अस्त्र-शस्त्र और विविध प्रकार के उपकरण बनाते थे। उनके कुछ उपकरणों में ताम्र में टिन अत्यधिक मात्रा में मिला हुआ है, जिससे मालूम होता है कि टिन मिलाकर ताम्र से **कांस्य बनाने की विधि का ज्ञान** भी उन्हें बहुत पहले हो गया था। ताँबे के अतिरिक्त वे **सोना, चाँदी और सीसे का भी प्रयोग** करते थे। उनका **दूसरा मुख्य उद्योग कपड़ा बुनना** था। पशुओं से उन्हें पर्याप्त मात्रा में ऊन मिल जाती थी, इसलिए ऊनी वस्त्र बुनना उन्होंने बहुत पहले से ही आरम्भ कर दिया था। यद्यपि उनका घाघरा और स्कर्ट, जिन्हें वे बहुधा चित्रों में पहने हुए दिखाई देते हैं, भेड़ की खाल के बनते थे, तथापि **ऊनी वस्त्रों** का प्रयोग भी बहुतायत से किया जाता था। उनके अन्य उद्योगों में **रथ बनाना** प्रमुख है। उनके रथों में लकड़ी के पहियों का प्रयोग होता था जिन पर ताँबे अथवा चमड़े के टायर चढ़े रहते थे। भार ढोने के यन्त्र के रूप में **पहिये** का सर्वप्रथम प्रयोग सम्भवतः उन्होंने ही किया। उनके रथों के भग्नावशेष उत्खनन में प्राप्त हुए हैं।

विदेशी व्यापार—खजूर और अनाज की उपज तथा औजार, आभूषण और ऊनी वस्त्र जैसी वस्तुओं के निर्माण के कारण सुमेरियनों को विदेशों से व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने में बड़ी सहायता मिली। इतिहास के प्रारम्भिक युग में उनका विदेशी व्यापार अधिकांशतः **मन्दिरों के सदस्य व्यापारियों और सौदागरों** के हाथ में था। वे स्थानीय वस्तुओं के बदले में विदेशों से मन्दिरों के उपयोग में आने के लिए सोना, चाँदी और काष्ठ इत्यादि लाते थे। इस श्रम के बदले में वे मन्दिर से सामूहिक भूमि का एक भाग और अपने क़ाफ़िलों के लिए पशु प्राप्त करते थे। मन्दिरों के लिए व्यापार करने के अतिरिक्त वे व्यक्ति-गत रूप से भी व्यापार करते थे। पूर्व में उनके **व्यापारिक सम्बन्ध सिन्धु-घाटी तक** विस्तृत थे। **इसका प्रमाण सुमेरियन नगरों में प्राप्त होने** वाली सैन्धव मुद्राएँ

चित्र २० : एक प्राचीन सुमेरियन नाव

इत्यादि हैं। पश्चिम में उनका व्यापार **भूमध्यसागर** के पूर्वी तट तक फैला हुआ था। सुमेरियन व्यापारी वहाँ मिस्री व्यापारियों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करते थे।

दैनिक जीवन में काम आने वाली आवश्यक वस्तुओं में सुमेर आत्मनिर्भर था, अतः विदेशों से वे अधिकांशतः **विलासिता की वस्तुओं का ही** आयात करते थे। इनके अतिरिक्त **इमारती लकड़ी, सीसा, कांस्य, ताम्र, स्वर्ण और रजत** इत्यादि का आयात भी किया जाता था। वे फारस की खाड़ी में स्थित ओमन नामक प्रदेश से ताम्र, तोरुस पर्वतीय प्रदेश से रजत, सीरिया और एशिया माइनर से टिन और बदख्शाँ से वैदूर्य मँगाते थे। आयात-निर्यात अधिकांशतः व्यापारिक क़ाफिलों के द्वारा होता था जिनमें **ऊँटों और गधों** का प्रयोग होता था। जहाँ **जल-यातायात** की सुविधा प्राप्त थी वहाँ नौकाओं का प्रयोग भी किया जाता था (चित्र २०, २१)।

चित्र २१ : एक परवर्ती सुमेरियन नाव

सारगोनी युग में व्यापार की उन्नति—सारगोनी वंश और उर के तृतीय राजवंश के आधिपत्य के समय विदेशी व्यापार में बहुत उन्नति हुई। इसका कारण सुमेरियन और सेमाइट शासकों की **सैनिक सफलताएँ** थीं। इनसे सुमेर का सम्बन्ध दूरस्थ देशों से स्थापित हो सका। दूसरे, सारगोन, नरामसिन और दुंगी जैसे **शासक व्यक्तिगत रूप से व्यापारियों की सुविधाओं का ध्यान रखते थे**। उन्होंने व्यापारियों की प्रार्थना पर, उनकी सुरक्षा के लिए, पश्चिम दिशा में सेनाएँ भेजी थीं। इस युग में समृद्धि का एक अन्य कारण **व्यापार-पद्धति** का सुधार भी है। उदाहरणार्थ सुमेरियनों ने वस्तुओं के विनिमय के स्थान पर धातु को **विनिमय-माध्यम** के रूप में प्रयुक्त करना आरम्भ किया। वे चाँदी का, जो उस समय पर्याप्त सुलभ थी, इस कार्य के लिए प्रयोग निश्चित मात्रा के टुकड़ों के रूप में करते थे। इनका भार एक शेकल या एक पौण्ड का सोलहवाँ भाग होता था। प्रारम्भ में चाँदी का मूल्य स्वर्ण के मूल्य का चतुर्थांश था; परन्तु ज्यों-ज्यों चाँदी अधिक सुलभ होती गई, उसका मूल्य गिरता गया। स्मरणीय है कि सुमेरियन **वास्तविक मुद्रा-प्रणाली से बहुत दूर थे**। जनता करों को चाँदी के स्थान पर अधिकांशतः खाद्यान्न, खजूर, तेल तथा सुरा आदि के रूप में चुकाती थी। मूल्यों के भुगतान में भी अभी तक चाँदी का अधिक प्रयोग नहीं होता था। परन्तु व्यापार के नये ढंग

धीरे-धीरे जन्म ले रहे थे। उनके मिट्टी की पाटियों पर लिखे हुए असंख्य व्यापारिक लेख उत्खनन में प्राप्त हुए हैं। इनसे मालूम होता है कि उन्होंने **व्यापारिक समझौतों को लेखबद्ध करने की प्रथा** प्रारम्भ कर दी थी। वे **बिल, रसीद और हुण्डियों** के प्रयोग से परिचित थे। परम्परा के अनुसार व्यापारिक समझौतों को लेखबद्ध करना ही नहीं उन पर **साक्षियों के हस्ताक्षर** कराना भी आवश्यक समझा जाता था। अपने माल को लोकप्रिय बनाने के लिए **कमीशन देने और एजेण्ट भेजने** की प्रणाली को भी वे प्रारम्भ कर चुके थे।

राजनीतिक संगठन

नगर-राज्यों का संगठन—तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के आरम्भ में सुमेर छोटी-छोटी राजनीतिक इकाइयों में बँटा हुआ था, जिनको हम आधुनिक परिभाषा के अनुसार 'नगर-राज्य' कह सकते हैं। प्रत्येक राज्य में एक **प्रधान नगर** और उसके चारों ओर **कृषि करने योग्य भूमि** रहती थी। कभी-कभी ऐसे नगर के अधीन और उसके द्वारा शासित **दो-तीन क़स्बे** या गाँव भी रहते थे। सुमेर में ऐसे अनेक विजेता हुए जिन्होंने अधिकांश नगर-राज्यों को जीत कर एक संयुक्त राष्ट्र-राज्य की स्थापना की; परन्तु हर बार केन्द्रापसारी शक्तियों ने प्रबल होकर राष्ट्र-राज्यों को नगर-राज्यों में विभाजित कर दिया।

सुमेर का आदिम प्रजातन्त्र—सुमेरियन इतिहास के आदिकाल में नगर-राज्यों में सत्ता नागरिकों के हाथ में रहती थी। साधारणतः प्रत्येक नगर में नागरिकों की एक **संसद** थी, जिसमें दो **सदन** होते थे। एक सदन के सदस्य सम्भवतः नगर के सभी वयस्क पुरुष होते थे, परन्तु दूसरे सदन की सदस्यता कुछ अनुभवी व्यक्तियों तक सीमित रहती थी। इनको आधुनिक भाषा में **लोकसभा** (एसेम्बली) और **सीनेट** कह सकते हैं। यद्यपि इन सभाओं का विस्तृत वर्णन बहुत बाद के अभिलेखों में मिलता है, तथापि प्राचीन अभिलेखों से भी यह स्पष्टतः संकेतित है कि ये सभाएँ अति प्राचीन काल में भी विद्यमान थीं। उदाहरणार्थ **गिलगामेश आख्यान** में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि उसको अपनी राजधानी एरेक की लोकसभा और सीनेट से प्रायः परामर्श करना पड़ता था। एक बार किश के शासक अग्गा ने गिल्गामेश के पास संदेश भेजा कि या तो वह किश के प्रभुत्व को स्वीकृत कर ले या युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाए। गिल्गामेश ने नगर के ज्येष्ठ व्यक्तियों के सम्मुख इस सन्देश को रखा और कहा :

"हमें किश का प्रभुत्व स्वीकृत नहीं करना चाहिए,

हमें उसे युद्ध में हराना चाहिए"।
ज्येष्ठों की सभा ने गिल्गामेश से कहा :
"हमें किश का प्रभुत्व स्वीकृत कर लेना चाहिए,
हमें उससे लड़ना नहीं चाहिए।"
कुल्लब के स्वामी गिल्गामेश ने, जो
इनन्ना देवी के लिए साहसपूर्ण कृत्य करता है,
नगर के ज्येष्ठ व्यक्तियों के मत को नहीं माना।
(तब) कुल्लब के स्वामी गिल्गामेश ने,
नगर के युद्ध करने वाले व्यक्तियों के सम्मुख,
(इस) विषय को रखा और कहा :
"हमें किश का प्रभुत्व स्वीकृत नहीं करना चाहिए,
हमें उसे युद्ध में हराना चाहिए"।
नगर के लड़ने वाले व्यक्तियों की सभा ने,
गिल्गामेश से कहा;
"किश का प्रभुत्व स्वीकृत मत करो;
हमें उसे युद्ध में हराना चाहिए"।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि सुमेरियन इतिहास के उषःकाल में नगर की सत्ता जनसभाओं के हाथ में थी और राजा को उनके परामर्श के अनुसार राज्य करना होता था। इस दृष्टि से सुमेरियनों को '**प्रजातन्त्र का जनक**' और उनकी जनसभाओं को '**विश्व की प्राचीनतम जनसभाएँ**' कहा जा सकता है। यूनान के प्रजातान्त्रिक नगर-राज्यों की स्थापना के लगभग पच्चीस सौ वर्ष पूर्व सुमेर में प्रजातान्त्रिक परम्पराओं का मिलना निस्सन्देह आश्चर्यजनक है।

प्रारम्भिक राजतन्त्र : लूगल, पटेसी और एनसी—सुमेर का यह आदिम प्रजातन्त्र ३००० ई० पू० के पश्चात् शनैः शनैः विलुप्त होने लगता है। इसका कारण यह था कि इस प्रकार की व्यवस्था में आकस्मिक संकटों के अवसरों पर सरकार शीघ्रता से निर्णय नहीं ले सकती थी। उसे उस समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी जब तक सभा कम से कम बहुमत से कोई निर्णय न ले ले। इसलिए व्यवहार में संकट काल के लिए एक सर्वोच्च पदाधिकारी की नियुक्ति की जाने लगी। उसे 'पटेसी' या 'लूगल' कहा जाता था। यद्यपि इन दोनों शब्दों में कोई विशेष अन्तर नहीं माना जाता था, और प्रारम्भ में प्रत्येक शासक प्रायः दोनों विरुद धारणा करता था, फिर भी साधारणतः '**लूगल**' शब्द 'राजा' और '**पटेसी**' 'देवता का प्रतिनिधि' अर्थ में प्रयुक्त होते थे। बाद में

'पटेसी' शब्द में पराधीनता का भाव आ गया। अब लूगल शब्द उन पटेसियों के लिए प्रयुक्त होने लगा जो दो-चार नगरों को अपने अधीन करने में सफल हो जाते थे। अगर बाद में कोई अन्य पटेसी अधिक शक्तिशाली हो जाता था तो वह लूगल कहलाने लगता था और पहला लूगल पटेसी हो जाता था। उदाहरणार्थ लगश का शासक इयन्नातुम अपने को पहले पटेसी और लूगल दोनों कहता है परन्तु कुछ समय पश्चात् केवल पटेसी। लेकिन पटेसी पद में **पुजारीपन का भाव** निहित होने के कारण लूगल बनने के बाद भी बहुत से शासक पटेसी पदवी धारण किए रहते थे और कभी-कभी इसका उल्लेख लूगल विरुद के पहले करते थे।

प्रारम्भ में लूगल पद अस्थायी होता था और संकट काल बीत जाने पर सत्ता पुनः जनसभा को मिल जाती थी। परन्तु कालान्तर में, नगरों की संख्या बढ़ने पर, उनके पारस्परिक झगड़े प्रायः बने रहने लगे। इसलिए व्यवहार में, कम से कम कुछ नगरों में, **लूगल पद स्थायी** हो गया। शेष नगरों में वहाँ के प्रधान मन्दिरों के प्रधान पुजारी लूगलों के समान राजनीतिक नेता बन बैठे। लेकिन उन्होंने 'लूगल' के स्थान पर **'एनसी'** विरुद धारण किया, जिसका अर्थ था 'देवता का वायसराय'। सिद्धान्ततः **'लूगल'** और 'एनसी' दोनों पद वंशानुगत नहीं थे। ये जनसभा अथवा देवता द्वारा किसी भी व्यक्ति को प्रदान किये जा सकते थे। इस कारण सुमेर में **राजा की स्थिति सदैव अस्थिर** बनी रही और वे मिस्र के फराओ के समान अपने देश में स्थायी राजनीतिक एकता स्थापित न कर सके।

सुमेर में साम्राज्यवाद का जन्म—जिस शासन-व्यवस्था की रूपरेखा ऊपर प्रस्तुत की गई है वह सुमेरियनों को तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में आदर्श प्रतीत होती थी। परन्तु इसके बाद इसमें दोष उत्पन्न होने लगे। इसके मुख्य कारण थे **एनसियों की महत्त्वाकांक्षाओं का बढ़ जाना** और उनके द्वारा अपने **पद का दुरुपयोग**। वे नगर के अन्य मन्दिरों में अपने सम्बन्धियों को नियुक्त करने लगे और राज्य की अधिकांश भूमि को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानने लगे। बहुत से एनसियों ने अपने राज्यों में कर और मुक़दमों का फैसला करते समय ली जाने वाली फीस बढ़ा दी। राज्य की सैनिक शक्ति का उपयोग भी वे अपनी कीर्ति बढ़ाने के लिये लड़े जाने वाले युद्धों में करने लगे। नगर-सभाएँ एक दम समाप्त न होने पर भी शक्तिहीन हो गईं। लगश के शासक **उरु-कगिना** ने इस अव्यवस्था का अन्त करने के लिए कुछ सुधार किये। परन्तु उसे उम्मा के शासक लूगल जग्गिसी ने परास्त कर दिया।

वास्तव में उरु-कगिना की असफलता **समय में परिवर्तन का चिह्न** थी। अब स्वयं सुमेरियन जनता **राजनीतिक एकता की आवश्यकता** को महसूस करने लगी थी। सुमेर में **सांस्कृतिक और धार्मिक एकता** पहले से विद्यमान थी। इसकी अभिव्यक्ति राजनीतिक जीवन में भी हो, इस भावना का उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं था। इस समय देश को राजनीतिक एकता की अतीव आवश्यकता थी भी, क्योंकि उत्तर, पश्चिम और पूर्व से आने वाले **आक्रमणकारियों को** छोटे-छोटे नगर नहीं रोक सकते थे। **व्यापार की उन्नति** के लिए भी इन लघु राजनीतिक इकाइयों का एक सूत्र में बाँधा जाना आवश्यक था। परन्तु राजनीतिक एकता की स्थापना **एक व्यक्ति के अधिनायकत्व द्वारा ही सम्भव थी।** अतः एनसियों की बढ़ती हुई निरंकुशता का जनता ने विरोध करने के स्थान पर स्वागत ही किया। उदाहरणार्थ एनसियों को अभी तक 'देवता का प्रतिनिधि' मात्र माना जाता था। परन्तु अब उन्हें **'देवता का अवतार'** या स्वयं 'देवता' माना जाने लगा। इस मनोवृत्ति को **एनसियों की मूर्तियों की पूजा** की प्रथा से बहुत बल मिला। प्रारम्भ में बहुत से शासक अपनी मूर्ति मन्दिर में इसलिए रखवाते थे जिससे देवता के मन में उनकी स्मृति बनी रहे। परन्तु बाद में स्वयं इन मूर्तियों की पूजा होने लगी। अब यह भी माना जाने लगा कि राजा प्रजा का प्रतिनिधि होता है और उस पर आने वाली विपत्ति भावी राष्ट्रीय दुर्घटना की सूचक होती है, अतः उसे अशुभ शक्तियों से बचाना चाहिए। इसके लिए **राजा को पवित्र करने वाले लम्बे अनुष्ठान** किये जाने लगे। वे शासक जिन्हें इस प्रकार का दैवी सम्मान सबसे पहले मिला **सारगोन प्रथम और नरामसिन** थे। सारगोन को उसके प्रदेश का देवता माना जाता था। नरामसिन के नाम के साथ देवता शब्द का प्रायः प्रयोग हुआ है। उसके बाद यह प्रथा सुमेर में भी लोकप्रिय हो गई। लगश के पटेसी गूडी को देवता कहा जाता था। दुंगी भी अपने को देवता कहता था। उसके सम्मान में एक मन्दिर का निर्माण भी किया गया था।

राजनीतिक एकीकरण के लिए सारगोनी राजाओं का प्रयास—सारगोन और उसके उत्तराधिकारियों ने देश में राजनीतिक एकता स्थापित करने का विशेष रूप से प्रयास किया। वे समस्त सुमेर और अक्काद के स्वामी होने का दावा करते थे, परन्तु सुमेर के निवासी उन्हें विजातीय और विदेशी मानते थे। इसलिए वहाँ अपनी सत्ता बनाए रखने के हेतु अक्कादी नरेशों के लिए यह आवश्यक था कि वे वहाँ अपने व्यक्तिगत अनुयायियों का एक दल बनाएँ। सारगोन ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मन्दिरों की **भूमि को अपने**

अनुयायियों में बाँटा। इससे सुमेर में उसका समर्थन करने वाला दल अस्तित्व में आया। **राजा के प्रति प्रजा की भक्ति का सिद्धान्त** भी उसके समय से लोकप्रिय होता है उसके उत्तराधिकारी नरामसिन के समय में हम विभिन्न नगरों के गवर्नरों को 'राजा का दास' विरुद धारणा करते देखते हैं। उसने साधारण प्रजा में अपने प्रति भक्ति बढ़ाने के लिए न्यायालयों में **राजा के नाम पर शपथ लेने की पद्धति** भी चलाई। उसने समस्त देश में **समान पञ्चाङ्ग का प्रयोग** प्रचलित करके भी एकता लाने का प्रयास किया।

सुमेरियन साम्राज्यवाद की विफलता—सारगोन और उसके उत्तराधिकारी इस प्रकार के नए प्रयोग करने में समर्थ थे, क्योंकि वे सुमेरियन राजाओं के समान नगर-राज्यों की परम्पराओं से बँधे हुए नहीं थे। लेकिन उनके द्वारा किया गया एकीकरण का यह प्रयत्न सफल न हो सका और सुमेरियन सांस्कृतिक एकता की राजनीतिक क्षेत्र में स्थायी अभिव्यक्ति नहीं हो पाई। वास्तव में सुमेर में **प्रादेशिक स्वतन्त्रता की भावना** इतनी प्रबल थी कि अवसर पाते ही केन्द्रीय शक्ति के विरुद्ध विद्रोह होने लगते थे, जिससे साम्राज्य की जड़ें खोखली हो जाती थीं। **सुमेर के चारों ओर बसी अर्धसभ्य जातियाँ** ऐसे अवसर की ताक में रहती थीं। वे फौरन उर, लगश, निप्पुर और किश जैसे धन-धान्य से परिपूर्ण नगरों को लूटने के लिये आक्रमण कर देती थीं। इस प्रदेश में स्थापित सभी साम्राज्यों का इसी प्रकार दुःखपूर्ण अन्त हुआ। सारगोनी साम्राज्य का पतन जगरोस की ओर से आनेवाली गूती जाति के आक्रमण के कारण और उर के तृतीय राजवंश का अन्त एलमी तथा पश्चिमी सेमेटिक जातियों के आक्रमणों के कारण हुआ। परवर्ती युगों में भी ऐसा ही देखने में आता है। हम्मूरबी के वंश को हित्ती और कसाइट जातियों ने उखाड़ फेंका तो असीरियनों को मीडों ने। कैल्डियनों द्वारा स्थापित अन्तिम बैबिलोनियन साम्राज्य का अन्त भी इसी प्रकार फ़ारस के आक्रमण के कारण हुआ था।

युद्ध कला

युद्ध कला का क्रमिक विकास—पटेसियों को युद्ध काल में सेना का संचालन भी करना होता था। सुमेरियनों ने इतिहास में पहली बार युद्धकर्म को एक कला के रूप में विकसित किया। जिस समय किसी नगर-राज्य का भूमि अथवा व्यापारिक मार्गों के उपभोग के प्रश्न पर पड़ोसी नगर-राज्य से झगड़ा हो जाता था तब वहाँ के निवासी प्रसन्नतापूर्वक अपने **पटेसी के नेतृत्व में** शत्रु से लड़ने के लिए सन्नद्ध हो जाते थे। नगर के लड़ने योग्य निवासियों की

सूची मन्दिर के पुजारियों के पास रहती थी। शान्ति काल में वे मन्दिरों में काम करते थे और युद्ध काल में सेना में। भारी अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित सुमेरियन सेनाएँ पंक्तिबद्ध होकर अपने पटेसी के नेतृत्व में शत्रु पर आक्रमण करती थीं
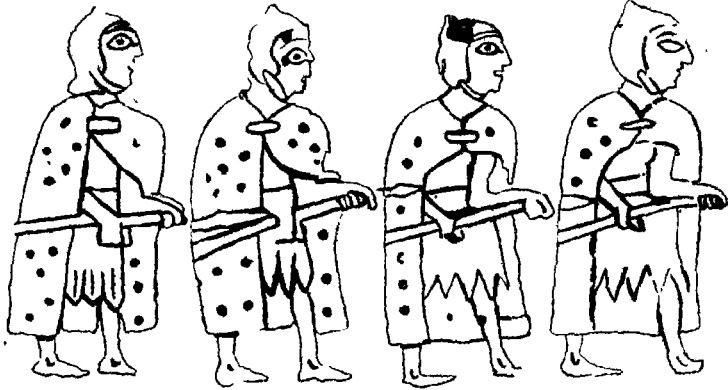
चित्र २२ : 'उर की पताका' का एक दृश्य

(चित्र २२)। इस प्रकार का अनुशासन तत्कालीन युग में मिस्र इत्यादि अन्य सभ्य देशों में अज्ञात था। सैनिकों के शस्त्र प्रधानतः भाला, बर्छी तथा परशु थे। विशाल ढालों से वे अपने शरीर ढक लेते थे और सिर की रक्षा के लिए शिरस्त्राणों का प्रयोग करते थे, जो चमड़े और तांबे से बनाये जाते थे। सुमेरियनों के शिरस्त्राण युद्ध में शरीर की रक्षा के लिए धातु के प्रयोग के सबसे पहले उदारहण हैं। आक्रमणात्मक युद्ध में वे चार पहिये वाले रथों का प्रयोग करते थे परन्तु इनमें अश्वों के स्थान पर सम्भवतः गधे जुते होते थे (चि० २३)। अश्वों का प्रयोग अभी तक अज्ञात था। सुमेरियन

चित्र : २३ सुमेरियन रथ

धनुष-बाण का प्रयोग नहीं जानते थे। इसका प्रयोग सबसे पहले अक्कादी सेमाइटों ने किया। 'नरामसिन-पाषाण' में राजा को धनुष धारण किए हुए दिखाया गया है। फिर भी जिस समय सुमेरियनों और सेमाइटों का प्रथम बार संघर्ष हुआ, सेमाइटों की पराजय हुई क्योंकि सेमाइट अनुशासित होकर नहीं लड़ते थे। प्रत्येक सैनिक जिस प्रकार चाहता था, लड़ता था। इसलिए सुमेरियनों की अनुशासित सेनाएँ उनसे श्रेष्ठतर सिद्ध हुईं। परन्तु अन्त में धनुर्धारी सेमाइटों की विजय हुई, क्योंकि वे धनुष-बाण की सहायता से शत्रु के पास गए बिना उस पर आक्रमण कर सकते थे। सेमाइटों की विजय के बाद **सुमेरियन-अक्कादी सेनाएँ** अधिक शक्तिशाली हो गईं क्योंकि अब वे सुमेरियन परम्परा के अनुसार अनुशासित होकर तो लड़ती ही थीं, साथ ही धनुष-बाण का प्रयोग भी करती थीं।

न्याय-व्यवस्था और सामाजिक संगठन

न्याय-व्यवस्था

सुमेरियन विधि-संहिताएँ—प्रत्येक समाज में ऐसे नियमों की आवश्यकता होती है जिनके अनुसार उसके सदस्यों और समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियन्त्रित और व्यवस्थित किया जा सके। सुमेरियनों ने प्रारम्भ में इस आवश्यकता की पूर्ति अन्य जातियों की तरह, **रीति-रिवाजों और परम्पराओं** से की। परन्तु विशाल साम्राज्यों की स्थापना होने पर विभिन्न स्थानों के **रीति-रिवाजों के पारस्परिक विरोध और भिन्नता** के कारण कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं जिनसे विवश होकर सुमेरियन राजाओं को नए क़ानून बनाने पड़े। तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में इन क़ानूनों को एकत्र संगृहीत और व्यवस्थित करके **विधि-संहिता** (कोड) का रूप देने का प्रयास किया जाने लगा। अभी हाल ही तक यह विश्वास किया जाता था कि पश्चिमी एशिया के इतिहास में **प्राचीनतम विधि-संहिता** का रचयिता परवर्ती बैबिलोनियन शासक हम्मूरबी (२१२३-२०८० ई० पू०) था। परन्तु पिछले दो दशकों में सुमेरियन नगरों से कई प्राचीनतर विधि-संहिताएँ प्राप्त हुई हैं। ये अधिकांशतः खण्डितावस्था में हैं परन्तु इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुमेरियनों ने इस क्षेत्र में हम्मूरबी से कई सौ वर्ष पूर्व कार्य आरम्भ कर दिया था। आजकल उर के तृतीय राजवंश के संस्थापक **उर-एंगुर अथवा उर-नम्मू की विधि-संहिता** जो १९५२ ई० में प्रकाश में आई, प्राचीनतम मानी जाती है। परन्तु यह अत्यधिक खण्डितावस्था में मिलने के कारण बहुत उपयोगी नहीं है। उर-नम्मू के उत्तराधिकारी **दुंगी की**

विधि-संहिता अपेक्षया अच्छी अवस्था में मिली है। इससे तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर प्रचुर प्रकाश मिलता है। इसकी **हम्मूरबी की विधि-संहिता के** साथ तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हम्मूरबी ने इस विषय में डुंगी से बहुत प्रेरणा प्राप्त की थी। बहुत सी बातों में उसकी संहिता सुमेरियन संहिता का बैबिलोनियन संस्करण मालूम होती है।

न्यायालयों का संगठन—सुमेरियन न्याय-व्यवस्था का मन्दिरों से घनिष्ठ सम्बन्ध था और **पुजारी ही बहुधा न्यायाधीश** बनते थे। सरकार ने मुक़दमेबाजी कम करने के लिए **पंच** भी नियुक्त किए हुए थे जो प्रत्येक मामले को न्यायालय में जाने के पहले शान्तिपूर्वक सुलझाने की कोशिश करते थे। निप्पुर तथा अन्य कुछ नगरों में सम्भवतः **नागरिक सभाओं** को भी न्याय सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। न्यायाधीश फैसला करते समय पुराने मुक़दमों को मिसाल के रूप में प्रयुक्त करते थे। **वकीलों के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं** मिलता। वादी और प्रतिवादी को अपनी वकालत स्वयं करनी होती थी।

दण्ड-व्यवस्था—सुमेरियन दण्ड-व्यवस्था परवर्ती युगों की दण्ड-व्यवस्था से बहुत उदार थी। उदाहरणार्थ पति व्यभिचारिणी स्त्री को तलाक़ तक नहीं दे सकता था। उसे केवल पुनर्विवाह की आज्ञा मिल सकती थी और पहली पत्नी को दूसरी पत्नी की दासी होकर रहना पड़ता था। पलायित दास को शरण देने वाले व्यक्ति को केवल कुछ जुर्माना देना होता था और स्वामी का अधिकार न मानने वाले दास को बेच दिया जाता था। हम्मूरबी की संहिता में ये अपराध करने वाले व्यक्ति कठोर दण्ड के भागी कहे गए हैं।

सुमेरियन विधि-संहिता की कुछ **अन्य विशेषताएँ** उल्लेखनीय हैं। एक, यह **'शठे शाठ्यं समाचरेत' सिद्धान्त पर आधारित थी।** इसके अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी की आँख फोड़ डालता था तो बदले में उसकी आँख फोड़ दी जाती थी। इसी प्रकार दाँत के लिए दाँत, कान के लिए कान और यहाँ तक कि पुत्र के लिए पुत्र का बलिदान करना होता था। दूसरे, क़ानून के अनुसार सरकार का काम केवल वादी और प्रतिवादी के मध्य फैसला करना था। निर्णय को व्यावहारिक रूप देना, अर्थात् **अपराधी को दण्ड देना वादी का काम माना जाता था।** सरकारी कर्मचारी अधिक-से-अधिक उसमें वादी की सहायता कर सकते थे। वास्तव में सुमेरियन न्यायालय किसी मुक़दमे को विचार के लिए तब तक स्वीकृत नहीं करते थे जब तक वादी, उसका परिवार अथवा उसका कोई मित्र या अन्य व्यक्ति न्यायालय के निर्णय को कार्यान्वित करने का

आश्वासन नहीं दे देता था। तीसरे, सुमेरियन **आकस्मिक और संकल्पित मानव-हत्या में अन्तर नहीं** मानते थे। वे बच्चों को पिता की और पत्नी को पति की सम्पत्ति मानते थे। अतः किसी व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति की अनजाने हत्या हो जाने पर भी अपराधी को मृत व्यक्ति के परिवार को धन देना होता था।

सामाजिक संगठन

सुमेरियन समाज के तीन प्रमुख वर्ग—सुमेरियन क़ानून में सब नागरिकों को समान नहीं माना गया है। क़ानून के अनुसार सुमेरियन समाज में **तीन वर्ग** थे—उच्च, साधारण और निम्न। **उच्च वर्ग** में राजपुरुषों, उच्च पदाधिकारियों और पुरोहितों की गणना होती थी। **साधारण वर्ग** में मध्यम श्रेणी के परन्तु स्वतन्त्र नागरिकों जैसे व्यापारियों, और **निम्न वर्ग** में दासों और सर्फों को गिना जाता था। **दण्ड का निर्धारण करते समय वादी और प्रतिवादी की सामाजिक प्रतिष्ठा का ध्यान रखा जाता था।** एक ओर उच्च वर्ग के सदस्यों की हत्या साधारण नागरिकों की हत्या से और साधारण नागरिक की हत्या दासों की हत्या से गुरुतर अपराध मानी जाती थी, तो दूसरी ओर अपराधी के धनी होने पर उसे कठोरतम दण्ड मिलता था परन्तु साधारण व्यक्ति अथवा दास होने पर इसमें क्रमशः कमी होती जाती थी। क्योंकि धनी वर्ग ही देश का शासक एवं रक्षक वर्ग था, इसलिये इस वर्ग के सदस्यों को अनैतिक आचरण के लिए कठोरतम दण्ड देना आवश्यक माना जाता था जिससे समाज का वातावरण दूषित न होने पाये।

स्त्रियों की दशा—सुमेरियन समाज में स्त्रियों की दशा काफ़ी अच्छी थी। यद्यपि क़ानूनन पति को अपनी पत्नी और बच्चों को बेचने और बंधक रखने का अधिकार था, तथापि व्यवहार में ऐसा कम होता था। सुमेर में स्त्रियों को ऐसे बहुत से **अधिकार** प्राप्त थे जो उन्हें अन्य अनेक देशों में परवर्ती युगों में भी नहीं मिले। उदाहरणार्थ दहेज पर वधू का अधिकार माना जाता था और उसी के मतानुसार उसका व्यय किया जाता था। पति और वयस्क पुत्र के न होने पर पत्नी पारिवारिक सम्पत्ति की देख-भाल करती थी। वह अपने पति से पृथक् व्यापार कर सकती थी और स्वतन्त्र रूप से दासियाँ रख सकती थी। इन सुविधाओं के बदले में उस को बहुत से **बन्धन** सहने पड़ते थे। नैतिक क्षेत्र में उसको पुरुष से अधिक उत्तरदायित्व निभाना होता था। उससे आशा

की जाती थी कि वह अपने पति को कई बच्चों का पिता बनाएगी; अतः बन्ध्या होने पर उसे तलाक़ दिया जा सकता था। सुन्दर युवतियों को मन्दिरों में देव-दासी बना दिया जाता था परन्तु देवदासी बनना हीन कार्य नहीं समझा जाता था। जब परिवार की किसी लड़की को देवार्पित किया जाता था तो उत्सव मनाया जाता था और उसकी शादी में दिया जानेवाला दहेज उसे भेंट में दे दिया जाता था। **बच्चों के क़ानूनी अधिकार** कुछ नहीं थे। उनके माता-पिता उन्हें त्याग सकते थे, बेच सकते थे और नगर से निकलवा सकते थे।

वेषभूषा और आभूषण—उच्च वर्ग की स्त्रियों की दशा निम्न वर्ग की स्त्रियों से अधिक अच्छी थी। वे **विलासिता का जीवन** व्यतीत करती थीं। सुमेरियन नगरों से उत्खनन में प्रचुर मात्रा में **शृंगारोपकरण** और **आभूषण** आदि मिले हैं, जिनमें अंगूठी, कण्ठहार, कड़े, पाजेब, कर्णफूल इत्यादि सम्मिलित हैं। प्रोफेसर वूली ने रानी शुब-अद की समाधि से एक लघु प्रसाधन-पेटिका और सोने की पिन, जिनकी घुण्डियाँ नीलम की हैं, प्राप्त किए। प्रसाधन-पेटिका, जो मुश्किल से अनामिका के बराबर होगी, सोने के तारों द्वारा अलंकृत है। इसमें गालों की लाली निकालने के लिए एक छोटी चम्मच, त्वचा ठीक करने के लिए छड़ी और भौहों के अनावश्यक बाल निकालने के लिए एक छोटी-सी चिमटी रखी हुई मिली है। रानी की सोने की अंगूठी में नीलम जड़ा हुआ है। उसने इसके मेल का कण्ठहार भी धारण किया हुआ था।

सुमेरियन **पुरुषों के वस्त्रों** में लुंगी प्रमुख थी। वे शरीर के ऊपरी भाग को अनावृत रखते थे। बाद में घर से बाहर जाने पर गर्दन तक शरीर ढकने की प्रथा प्रचलित हो गई।

धर्म और दर्शन

सुमेरियन विश्व दृष्टि

सुमेरियनों ने कभी विशुद्ध दार्शनिक समस्याओं पर विचार करने का कष्ट नहीं उठाया। परन्तु अन्य प्राचीन जातियों के समान उन्होंने विश्व की उत्पत्ति और संचालन सम्बन्धी समस्याओं में यथेष्ट रुचि ली। इस विषय में उन्होंने जो अनुमान लगाए और कल्पनाएँ कीं उनका विवेचन किसी एक स्थान पर नहीं मिलता। आधुनिक विद्वानों ने उनके **आख्यानों और कथाओं का मंथन करके** विश्व के आविर्भाव तथा संचालन और देवताओं तथा मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक उनके विचारों की उसी प्रकार खोज की है जिस प्रकार पुरा-

तत्त्ववेत्ता उनके अवशिष्ट भौतिक उपकरणों की सहायता से उनके विज्ञान-कौशल का अनुमान लगाते हैं।

विश्व के आकार की कल्पना—सुमेरियनों का यह विश्वास था कि आदि काल में केवल जल ही जल (प्राइमेवल सी) था। उन्होंने उसकी कल्पना **नम्मू देवी** के रूप में की। उससे एक दैवी पर्वत का आविर्भाव हुआ, जिसकी तली **'की' (पृथिवी)** नाम की देवी और शिखर **'अन' (आकाश)** नाम का देवता था। इसीलिए पृथिवी चपटी है और आकाश गुम्बदाकार। प्रारम्भ में ये दोनों संयुक्त थे। कालान्तर में 'की' के गर्भ से **एनलिल (वायुदेव)** का जन्म हुआ। एनलिल ने पृथिवी और आकाश को पृथक् किया और सूर्य, चन्द्रमा तथा ग्रहादि को जन्म दिया। इस प्रकार, सुमेरियनों के अनुसार, **'विश्व'** अनन्त और असीम महासमुद्र में स्थित पृथिवी तथा आकाश और उनके मध्य विचरण करने वाली वायु—एनलिल—है। इसलिए उनकी भाषा में विश्व के लिए 'अनकी' शब्द आया है।

विश्व-व्यवस्था की सुमेरियन अवधारणा : विश्व-राज्य—विश्व का निर्माण किसने किया और युग-युगान्तर में इसका पालन कौन करता है? सुमेरियनों का उत्तर था, **'देवसमूह'**। सुमेरियन आरम्भ से ही एक देवसमूह के अस्तित्व में विश्वास रखते थे। उनके अनुसार विश्व का कोई भी अंश ऐसा नहीं है जहाँ किसी देवता का वास न हो। अन्य बहुत-सी जातियों के समान वे भी किसी वस्तु को प्राणहीन अथवा अचेतन नहीं मानते थे। पेड़, पर्वत, नदी, हल तथा खेत और मानवीय, भौतिक तथा प्राकृतिक व्यापार, ये सभी उनकी दृष्टि में उसी प्रकार सजीव थे जिस प्रकार मनुष्य अथवा पशु। दूसरे शब्दों में वे **समस्त विश्व को चेतन शक्तियों से परिपूर्ण** मानते थे। वे देखते थे कि प्रत्येक मनुष्य एक राज्य का सदस्य होता है, इसलिए उनके लिए यह कल्पना करना असम्भव नहीं था कि ये सब शक्तियाँ अर्थात् देवता, जिनका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है, एक **विश्व-राज्य के सदस्य** हैं। इस कल्पना को उन्होंने और आगे बढ़ाया। उनके मानव-राज्य में केवल स्वतन्त्र और वयस्क मनुष्यों को ही नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। शेष जनता, जिसमें दास, बच्चे और सम्भवतः स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं, इस गौरव से वंचित थे। स्वतन्त्र व्यक्तियों में भी कुछ ऐसे थे जिनके हाथ में औरों की तुलना में अधिक सत्ता थी। सर्वाधिक शक्ति राजा के हाथ मे केन्द्रीभूत रहती थी। इस अनुभव के आधार पर सुमेरियनों ने कल्पना की कि विश्व-राज्य में केवल देवताओं को, जिनसे वे डरते थे, **नागरिकता के अधिकार** प्राप्त हैं; और मनुष्य को, जिसका

सृजन देवताओं की सेवा करने के लिए हुआ है, इस राज्य में वही स्थान प्राप्त है, जो दासों को मानव-राज्य में। विश्व-राज्य में इतने अधिक नागरिक होते हुए भी व्यवस्था है, क्योंकि प्रत्येक देवता के अधिकारों और कर्त्तव्यों की सीमा सुनिश्चित है। प्रत्येक देवता को एक विशिष्ट क्षेत्र में ही शक्ति प्राप्त है। कुछ देवता चन्द्रमा, सूर्य तथा अन्य ग्रहों के, कुछ वायु, तूफान, पर्वत, नदियों और वर्षा जैसी प्राकृतिक शक्तियों के, कुछ नगर, राज्य, और परिवार जैसी संस्थाओं के और कुछ हल, ईंट और कुल्हाड़ी जैसे उपकरणों के स्वामी हैं। यह स्पष्ट है कि इनमें कुछ देवता बड़े होंगे और कुछ छोटे। उदारहण के लिए न कुल्हाड़ी का देवता सूर्य के देवता के बराबर हो सकता है और न ईंटों का देवता पर्वतों के देवता के बराबर। ये सब देवता एक संसद के सदस्य हैं। इस देव-संसद का उल्लेख सुमेरियन साहित्य में यत्र-तत्र हुआ है। विश्व की सर्वोच्च शक्ति के रूप में यह संस्था सब देवताओं और मनुष्यों के भाग्य पर विचार करती है। इसमें चार देवताओं को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। सुमेरियनों के अनुसार विश्व आकाश, वायु, जल और पृथिवी से बना है; इसलिए इनको नियन्त्रित करने वाले अन, एनलिल और एनकी नामक देवता तथा निन्माह या निन्हुर्संग नाम की देवी सर्वोच्च माने गये हैं। इन चारों में एक देवता को—कभी अन को और कभी एनलिल को—देवाधिदेव या देवराज माना गया है। उसका विश्व-राज्य में वही स्थान है जो मानव-राज्य में राजा का।

सुमेरियन विश्व-दृष्टि का जन्म—हम कह चुके हैं कि सुमेरियनों की विश्व के निर्माण और संचालन सम्बन्धी मान्यताओं और कल्पनाओं का विवेचन किसी एक स्थान पर नहीं मिलता। प्रश्न उठता है कि फिर हम कैसे कह सकते हैं कि सुमेरियन इस विश्व-दृष्टि में विश्वास करते ही थे। इसके दो प्रमाण हैं। एक, यद्यपि विश्व-राज्य की व्याख्या सुमेरियन साहित्य में नहीं मिलती तथापि **बैबिलोनियन साहित्य से** इस पर विस्तरशः प्रकाश मिलता है। हम जानते हैं कि बैबिलोनियनों का अपना कोई साहित्य और धर्म-दर्शन नहीं था। उन्होंने सुमेरियन साहित्य और धर्म-दर्शन को ही कुछ रूपान्तरित करके अपना लिया था। इससे स्पष्ट है कि अगर दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में वे विश्व की उत्पत्ति और संचालन सम्बन्धी समस्याओं की व्याख्या करने वाले साहित्य से अवगत थे, तो इसे उन्होंने सुमेरियनों से लिया होगा। इसलिए यह मानना पड़ता है कि सुमेरियन कम से कम तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्तिम पद तक ऐसे साहित्य की रचना कर चुके थे जिसमें इन समस्याओं की विवेचना की गई थी। उसी का बैबिलोनियनों ने

रूपान्तर किया होगा। इससे संकेत मिलता है कि सुमेरियन समाज में वे आख्यान सैकड़ों वर्ष पहले से, अर्थात् तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रथम पद से, प्रचलित रहे होंगे। सम्भवतः उनका जन्म **चतुर्थ सहस्राब्दी ई० पू० के अन्तिम पद में** हुआ होगा। जैसा कि हम देख चुके हैं, चतुर्थ सहस्राब्दी ई० पू० का अन्तिम पद सुमेरियन सभ्यता का रचनात्मक युग था। इसी समय उन्होंने बड़े-बड़े नगरों की स्थापना की, सिंचाई के लिए नहरें और बाँध बनाए, विशाल जिगुरतों का निर्माण किया और कीलाक्षर-लिपि का आविष्कार किया। इसलिए यह अनुमान करना असंगत नहीं कहा जा सकता कि विश्व के प्रति उनका दृष्टिकोण भी इसी युग में स्पष्ट हुआ। इसका सबसे सबल प्रमाण यह है कि सुमेरियनों ने विश्व को एक राज्य के रूप में देखा परन्तु इसकी व्याख्या तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य उद्भूत होनेवाले विशाल साम्राज्यों के अनुरूप न कर के ३००० ई० पू० के पहले और कुछ बाद तक प्रचलित आदिम प्रजातान्त्रिक राज्यों के अनुरूप की।

विश्व की उत्पत्ति पर प्रकाश देने वाले आख्यान—सुमेरियन विश्व और देवताओं की उपर्युक्त व्याख्या में विश्वास करते थे, इसका एक और प्रमाण उपलब्ध है। उनकी जितनी धर्म-कथाएँ और आख्यान आजकल प्राप्य हैं वे सब केवल इस व्याख्या की पृष्ठभूमि में समझे जा सकते हैं। जिस प्रकार गणितज्ञ स्वयंसिद्ध सत्यों पर बहुत कम विचार करते हैं, क्योंकि वे समस्या न होकर स्वतः स्पष्ट होते हैं, उसी प्रकार सुमेरियन सृष्टि की इस व्याख्या को स्वयंसिद्ध सत्य मानते थे, इसका विवेचन करने की आवश्यकता नहीं समझते थे। इसलिए उनके **आख्यानों का विश्लेषण करके इस व्याख्या की रूपरेखा जानी जा सकती है**। उदाहरणार्थ बहुत से आख्यानों के आरम्भ में कहा गया है कि 'जब आकाश और पृथिवी को पृथक् किया गया...'। इससे स्पष्ट है कि सुमेरियनों के विश्वास के अनुसार आकाश और पृथिवी किसी समय संयुक्त थे। एक अन्य आख्यान में प्रसंगवशात् कहा गया है **'जब एनलिल ने पृथिवी को आकाश से पृथक् किया...'**। इससे ज्ञात होता है कि पृथिवी और आकाश को पृथक् करने वाला एनलिल था। **'एनलिल और निनलिल'** नामक आख्यान से एनलिल के पुत्र चन्द्रमा के जन्म पर प्रकाश मिलता है। इसी प्रकार और बहुत से आख्यान हैं जो विश्व की विभिन्न इकाइयों की उत्पत्ति पर प्रकाश देते हैं।

विश्व के संचालन पर प्रकाश देनेवाले आख्यान—विश्व की उत्पत्ति के समान इसका संचालन करने वाली देव-संसद और देवताओं के अधिकार और कर्त्तव्यों की समीक्षा भी कहीं नहीं मिलती, परन्तु विविध

आख्यानों में देव-संसद् और देवताओं के कार्य-कलाप का जो विवरण मिलता है उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि देव-संसद् कैसे कार्य करती थी और प्रमुख देवता कौन से थे और उनके अधिकार क्या थे। उदाहरणार्थ एक आख्यान एनकी के सम्बन्ध में है। इसमें उसे अपने क्षेत्र का परिभ्रमण करते हुए दिखाया गया है। वह जलराशियों को संगृहीत करता है, दजला और फ़रात में स्वच्छ जल भरता है और उनके ऊपर एक निरीक्षक नियुक्त करता है। इसी प्रकार के निरीक्षक समुद्रों और मछलियों को अनुशासन में रखने के लिए नियुक्त किये जाते हैं। वह वर्षा के हेतु हवाओं को नियमित करता है। फिर वह ग्रामों से नगरों की ओर आता है और ईंटदेव को ईंटों के निर्माण की देख-भाल के लिए नियुक्त करता है। भवन-निर्माण के निरीक्षण का कार्य वह एनलिल के इंजीनियर मुश्दम, जंगली पशुओं के निरीक्षण का भार पर्वतराज सुमुगन और पालतू पशुओं की देख-भाल का काम दुमूजी (बैबिलोनियन तामुज) को सौंपता है। इस प्रकार एनकी सुमेर के आर्थिक जीवन को उसी प्रकार नियमित और नियन्त्रित करता है जिस प्रकार कोई मन्त्री मानव-राज्य के आर्थिक जीवन को।

विश्व में दृष्टव्य असंगतियों की व्याख्या करनेवाले आख्यान— परन्तु विश्व में सब स्थानों पर समुचित व्यवस्था नहीं है, ऐसा मनुष्य को सदैव लगता आया है। विश्व में ऐसी बहुत-से प्राणी और वस्तुएँ हैं जिनकी स्पष्टतः कोई आवश्यकता नहीं है, जैसे नपुंसक पुरुष, बन्ध्या स्त्री, वृद्धावस्था और विविध रोग इत्यादि। सुमेरियनों ने विश्व-व्यवस्था में दिखाई देने वाली इन असंगतियों की व्याख्या जल देवता एनकी और पृथिवी देवी निन्माह के आख्यान में की है। इसमें बताया गया है कि पुरातन काल में देवताओं को अपनी उदर पूर्ति के लिए स्वयं शारीरिक श्रम करना पड़ता था। उन्होंने एनकी से इस कष्ट से मुक्ति दिलाने की प्रार्थना की। एनकी ने नम्मू नामक देवी के शरीर से उत्पन्न मिट्टी से मनुष्य का निर्माण किया। परन्तु उसी समय उसका निन्माह से विवाद छिड़ गया कि कौन ऐसी दोषपूर्ण मानव-मूर्ति बना सकता है जिसको मनुष्य समाज में उचित स्थान न दिया जा सके। निन्माह नपुंसक पुरुष और बन्ध्या स्त्री जैसे छः प्राणी बनाती है, परन्तु एनकी उनको मानव समाज में समुचित स्थान दे देता है। परन्तु जब एनकी वृद्ध प्राणी का निर्माण करता है, तब निन्माह उसके लिए अनुकूल स्थान नहीं खोज पाती। इससे क्रोधित होकर वह जल देवता को अधोभूमि में रहने का शाप दे देती है। स्पष्ट है कि इस आख्यान में मानव

समाज में दिखाई देने वाली विचित्रताओं का स्पष्टीकरण किया गया है और बताया गया है कि इसका एकमात्र कारण देवताओं की इच्छा थी।

प्रतिद्वन्द्वी वस्तुओं का मूल्यांकन करने वाली कथाएँ—इसी प्रकार कुछ अन्य आख्यानों में **विभिन्न वस्तुओं का विश्व-व्यवस्था में स्थान निर्धारण अथवा मूल्यांकन** किया गया है। ये आख्यान बहुधा दो प्रतिद्वन्द्वी पदार्थों या मनुष्यों—जैसे स्वर्ण और ताम्र, अनाज और ऊन, कृषक और चरवाहा—के वाद-विवाद से प्रारम्भ होते हैं। दोनों पक्ष अपने-अपने गुणों की प्रशंसा करते हैं। अन्त में कोई देवता आकर विवाद का निर्णय करता है और दोनों को समुचित स्थान देता है। इस प्रकार का सुन्दरतम आख्यान **इनन्ना देवी से सम्बन्धित** है जिसे गडरियों का देवता **दुमूजी** और कृषकों का देवता **एनकिड्डू** प्रेम करने लगते हैं। इनन्ना एनकिड्डू को पसन्द करती है। दुमूजी नैराश्य में अपनी और एनकिड्डू की तुलना करता है। इनन्ना उसे समझाती है कि यद्यपि उसने एनकिड्डू कृषक को पसन्द किया है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि चरवाहे कृषक से हीन होते हैं। दोनों ही अपने-अपने स्थान पर उच्च हैं और दोनों ही समाज के आवश्यक अंग हैं। परन्तु इससे दुमूजी को सन्तोष नहीं होता। अन्त में उसके तर्कों से इनन्ना का हृदय परिवर्तित हो जाता है और वह एनकिड्डू को छोड़ कर उससे विवाह कर लेती है। एनकिड्डू इससे रुष्ट नहीं होता। इसके विपरीत वह उसके विवाह में दुमूजी के मित्र के रूप में सम्मिलित होता है।

सुमेरियन देवसमूह

प्रमुख सुमेरियन देवता : आकाशदेव अन—यह लगभग निश्चित प्रतीत होता है कि प्राचीनतम युग में सुमेरियन आकाशदेव अन को, जिसे बैबिलोनियन युग में अनु कहा जाता था, सर्वोच्च देवता या 'देवराज' मानते थे। वही विश्व-राज्य के सदस्य **देवताओं को उनके पद** और अधिकार प्रदान करता है। उसकी आज्ञाओं और नियमों को सब देवताओं को मानना पड़ता है। उसकी पूजा साधारणतः समस्त सुमेर में होती थी, परन्तु उसका **उरुक** (बाइबिल का एरेक) में स्थित मन्दिर विशेष रूप से प्रसिद्ध था। तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० में उसका **महत्त्व कम हो गया** और वायुदेव एनलिल को देवराज माना जाने लगा।

वायुदेव एनलिल—एनलिल को बहुत से अभिलेखों में **'देवपिता', 'पृथिवी और आकाश का स्वामी'** और **'सब देशों का स्वामी'** कहा गया है। सुमेर के सब शासक यह दावा करते थे कि एनलिल ने ही उनको राजा बनाया

और सत्ता प्रदान की। सुमेरियनों का यह विश्वास था कि एनलिल समस्त **सृष्टि को अपने नियमों से** व्यवस्थित करता है। उसी के कारण सूर्योदय होता है और मनुष्यों के लिए आवश्यक वनस्पति और खाद्यान्न उत्पन्न होते हैं। उसी के कारण मनुष्य के लाभार्थ हल इत्यादि उपकरण अस्तित्व में आए। इसके अतिरिक्त उसे **देव-संसद की दण्डाज्ञाओं को कार्यान्वित करनेवाला भी माना जाता था।** अगर देव-संसद यह निर्णय करती थी कि 'अमुक नगर नष्ट हो', तो एनलिल ही तूफान के रूप में उस नगर के विध्वंस का कारण बनता था। जब एलमी आक्रमण के कारण उर का पतन हुआ तब, सुमेरियन धर्म-दृष्टि के अनुसार, एलमी आक्रमण के रूप में एनलिल ने ही देव-संसद के निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए उर का विध्वंस किया था। एनलिल का सबसे **प्रसिद्ध मन्दिर निप्पुर में था।** यह 'एकुर' कहलाता था और सुमेर का प्रमुखतम धर्म केन्द्र था।

जलदेव एनकी—सुमेरियनों का तीसरा प्रमुख देवता एनकी था। उसे 'अब्जु' अथवा **जल का अधिपति** कहा गया है। सम्भवतः प्राचीनतम युग में एनकी पृथिवी का ही एक रूप—**पृथिवीदेव**—था। कालान्तर में उसने पृथिवी के जीवनदायक जल के रूप में स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्राप्त कर लिया। जल की प्रवृत्ति और प्रकृति 'प्रवाहित होना' है। यह सचल और सक्रिय होता है और बाधाओं को पार करता हुआ अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है; इसलिए सुमेरियनों ने **जल को ज्ञान और बुद्धि का प्रतीक** माना और एनकी को एनलिल के मन्त्री का पद दिया। उनके अनुसार एनकी **एनलिल के निर्णयों को कार्यान्वित करता है** और नदियों, नगरों तथा सिंचाई के अन्य साधनों को नियंत्रित और उत्पादक शक्तियों को संगठित करता है।

पृथिवीदेवी निन्माह—सुमेरियन देवसमूह में चौथा स्थान पृथिवी को प्राप्त था। कभी-कभी इसको एनकी से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दे दिया जाता था। पृथिवी का प्राचीनतम नाम **'की'** था। उस रूप में उसे **'देवजननी'** और 'अन' को 'देवपिता' माना जाता था। पृथिवी का सबसे सुन्दर स्वरूप **निन्हुर्सग** (पृथिवी माता) बताया गया है, जिसमें वह जीवन के रहस्यमय परन्तु अक्षय स्रोत के रूप में दिखाई देती है और प्रति वर्ष भूमि को हरियाली से ढक देती है। पृथिवी की अक्षय जीवन-शक्ति का सार उर्वरता है, इसलिए उसे **'निनतु'** (जन्मदात्री) कहा गया है। कुछ स्थानों पर उसे बच्चे को दुग्धपान कराती माता के रूप में चित्रित किया गया है। वह देव-संसद में **अन और एनलिल** के साथ बैठती है, इसलिए वह निन्माह (राजरानी या भाग्य विधात्री) कही गई है।

अन्य देवता—उपर्युक्त चार देवताओं के अतिरिक्त सुमेरियन देवसमूह में अन्य सैकड़ों देवता थे, जिनकी उपासना समस्त सुमेर में विविध रूपों में होती थी। इनमें नीति और आचार के देवता **'इया'**, सूर्य देवता ऊतू और प्रेम की देवी 'इनन्ना' प्रमुख हैं। इया का एरेक में स्थित मन्दिर समस्त सुमेर में प्रसिद्ध था। वह आपत्ति के समय मनुष्य को शुभ और विवेकपूर्ण मन्त्रणा देनेवाला कहा गया है। सूर्य देवता **ऊतू** और प्रेम की देवी **इनन्ना** का सम्बन्ध चन्द्रदेव 'सिन' अथवा 'नन्ना' से माना गया है। बैबिलोनियन युग में सेमाइटों के सूर्य देवता 'शमस' का 'ऊतू' के साथ और प्रेम की देवी 'ईश्तर' का 'इनन्ना' के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया। इनन्ना का सबसे प्रसिद्ध मन्दिर एरेक में था।

सुमेरियन देवताओं का स्वरूप—सुमेरियनों ने अपने देवताओं की कल्पना **मनुष्य रूप** में की। उनके बड़े-से-बड़े देवता भी आचार, विचार और व्यवहार में बिलकुल मनुष्यों के समान थे। वे मनुष्यों के समान खाते-पीते थे, विवाह करते थे, सन्तान उत्पन्न करते थे, युद्ध करते थे, बीमार होते थे तथा अन्य अनेक **मानवीय दुर्बलताओं के शिकार रहते थे**। इस दृष्टि से सुमेरियन और यूनानी धर्मों में बहुत सादृश्य है। सुमेरियन देवताओं का निवास भी यूनानी देवताओं के समान एक **पर्वत** पर था। यह पर्वत पूर्व में उस **स्थान** पर अवस्थित बताया गया है जहाँ से सूर्य उदय होता है। प्रत्येक देवता, जब वह अपने क्षेत्र में निरीक्षण करने नहीं गया होता था, इस पर्वत पर निवास करता था। सुमेरियनों की दृष्टि में **देवताओं और मनुष्यों में मुख्य अन्तर** यह था कि देवता **अमर** थे और मनुष्य नश्वर। दूसरे, देवता **मनुष्यों से अधिक बलवान** थे। मनुष्य अधिक से अधिक नगरों का निर्माण कर सकते थे जब कि देवता सृष्टि के निर्माता थे। वे मनुष्यों को दिखाई नहीं देते थे परन्तु मनुष्य अप्रत्यक्ष रूप से उनसे सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। उदाहरण के लिए जब सुमेरियन अपने शत्रु को जलाने के लिए उसकी मूर्ति को अग्नि में डालते थे तब उनका यह विश्वास रहता था कि इसके द्वारा वे शत्रु के विरुद्ध अपनी शिकायत अग्नि के देवता तक पहुँचा देते हैं, जिससे अग्निदेव उसके शत्रु को जला दें। इतना ही नहीं वे मन्त्रों के द्वारा **देवताओं के साथ तादात्म्य** स्थापित करने में भी विश्वास करते थे। एक मन्त्र में अपने शरीर को रोग से बचाने के लिए एक मनुष्य अपना तादात्म्य पृथिवी और आकाश से स्थापित करता है :

मैं आकाश हूँ, तुम मेरा स्पर्श नहीं कर सकते
मैं पृथिवी हूँ तुम मुझ पर जादू नहीं कर सकते

इस मन्त्र का उच्चारण करते समय उनका यह विश्वास रहता था कि अपना तादात्म्य देवताओं के साथ स्थापित करने से उनमें देवताओं के गुण आ जाएँगे जिससे रोग या शत्रु का जादू उन पर प्रभाव नहीं कर पाएगा।

सुमेरियन धर्म में कर्मकाण्ड और उसका महत्त्व—सुमेरियन धर्म में न तो देवताओं का उनके उपासकों के **नैतिक और आध्यात्मिक जीवन से विशेष सम्बन्ध** माना जाता था और न आत्म-साक्षात्कार तथा ईश्वर-प्राप्ति विषयक कल्पनाएँ ही थीं। उनका धर्म व्यक्ति पर किसी प्रकार का नैतिक बन्धन नहीं लगाता था, इसलिए धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने वाला **चरित्रहीन व्यक्ति भी धार्मिक हो सकता था**। देवता मनुष्य से अप्रसन्न होते थे, परन्तु दैवी नियमों को तोड़ने के कारण नहीं अपितु उनको **बलि** न दिये जाने पर। वे प्रत्येक व्यक्ति से अनाज, खजूर, अंजीर, तेल, मधु, दूध और पशुओं की भेंट पाने की आशा करते थे। जब उपासक ये वस्तुएँ मन्दिर में लाते थे, उनको एक नियत स्थान पर रख दिया जाता था और उनका एक भाग देव-प्रतिमा को अर्पित कर दिया जाता था। सुमेरियन नगरों के उत्खनन में विविध प्रकार के **पूजा-पात्र** मिले हैं और रिलीफ-चित्रों से उनकी **धार्मिक क्रियाओं** का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ एक रिलीफ-चित्र में एक उपासक को एक पात्र में ताल-पत्र और खजूर रखकर उन पर जल छोड़ते हुए दिखाया गया है। यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि इस प्रकार विविध देवताओं के सम्मुख भेंट अर्पित करके वे प्रार्थना करते थे कि उन्हें सिंचाई के लिए पर्याप्त जल उपलब्ध हो, उनके खेतों की पैदावार बढ़े और बाढ़ से मुक्ति मिले।

सुमेरियन परलोकवाद

परलोक विषयक कल्पना—सुमेरियन बहुदेववादी थे, परन्तु उनके देवताओं का **शुभ और अशुभ शक्तियों में विभाजन नहीं** हो पाया था। उनके देवता साधारणतः सत्य और न्याय के संरक्षक थे तथापि वे शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म कर सकते थे। कुछ देवता ऐसे थे जिनका परलोक से विशेष रूप से सम्बन्ध था। सुमेरियनों के विश्वास के अनुसार **'कुर' अथवा पाताल** पृथिवी के नीचे एक ऐसा प्रकाश और आनन्दविहीन स्थान था जहाँ अच्छी बुरी सभी मृतात्माएँ रहती थीं। इसमें प्रवेश करने के लिए **'मृत्यु की नदी'**, जिसे हम वैतरणी कह सकते हैं, पार करनी पड़ती थी। पाताल का शासन प्रेम की देवी इनन्ना की बड़ी बहिन **'एरेसकीगल'** और उसके पति प्लेग देवता **'नेरगल'** के हाथ में था। प्राचीन वीर **गिल्गामेश** वहाँ का न्यायाधीश था। इसके अति-

रिक्त एनलिल के तीन पुत्र भी यहाँ रहते थे। 'कुर' के संबंध में एक बहुत ही आकर्षक आख्यान मिलता है जिसे **'इनन्ना का पाताल में अवतरण'** कहा जाता है। इसमें बताया गया है कि स्वर्ग की रानी इनन्ना को एक बार पाताल पर अधिकार स्थापित करने की इच्छा हुई। वह वहाँ की स्थिति का पर्यवेक्षण करने के लिए गई। परन्तु पाताल के नियमानुसार वहाँ जाकर कोई लौट नहीं सकता था, इसलिए वहाँ जाने पर इनन्ना को भी मरना पड़ा। एनकी सहायता से उसे पुनरुज्जीवन तो मिल गया परन्तु स्वर्ग लौटने की अनुमति इस शर्त पर मिली कि वह अपने स्थान पर किसी और देवता को पाताल में रहने के लिए भेज देगी। इनन्ना ने लौट कर अपने पति दुमूजी को मार कर पाताल भेज दिया। इस आख्यान का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि यह सम्भवतः इतिहास में पहली कथा है जिसमें किसी प्राणी के **पाताल से लौटने (रिसरे`क्शन) का उल्लेख** है। इनन्ना के **आख्यान का यह शुद्ध रूप** हाल ही में ज्ञात हुआ है। कुछ वर्ष पहले तक एक अपूर्ण बैबिलोनियन आख्यान के आधार पर, जिसे 'ईश्तर का पाताल में अवतरण' कहा जाता है, यह भ्रमपूर्ण विश्वास प्रचलित था कि किसी कारणवश तामुज (दुमूजी) की मृत्यु पहले ही हो गई थी और ईश्तर (इनन्ना) ने उसे पुनरुज्जीवित करने के लिए पाताल की यात्रा की थी।

मृतक-संस्कार—सुमेरियन धर्म में मृतक-संस्कार को पर्याप्त महत्त्व प्राप्त था, परन्तु मिस्री धर्म से कम। वे अपने मृतकों को प्रायः मकान के प्रांगण अथवा कमरे में गाड़ देते थे। नगर के बाहर बनी हुई समाधियाँ भी अज्ञात नहीं थीं। **सामान्य जनों को दफ़न करने की विधि** बहुत साधारण थी। बहुधा मृतक को चतुर्भुजाकार क़ब्र में लिटा दिया जाता था और उस पर कच्ची ईंटों की मेहराब-सी बना दी जाती थी। कभी-कभी मृतक को दो विशाल मृद्भाण्डों में लिटा कर उनके मुँह मिलाकर जोड़ दिये जाते थे। इस प्रकार की **समाधियों के साथ दैनिक उपयोग में आने वाले उपकरण,** मृद्भाण्ड एवं रजत, स्वर्ण और ताम्र के आभूषण और अस्त्र-शस्त्र मिलते हैं। सम्भवतः उनका विश्वास था कि मरने के बाद भी मनुष्य को दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं की आवश्यकता रहती है; इसलिए वे प्रयास करते थे कि उसे परलोक में किसी वस्तु की कमी का अनुभव न हो। **उर की राजसमाधि से,** जिसका उत्खनन 'ऑंग्ल-अमरीकी अभियान' ने वूली के नेतृत्व में किया, इस विषय पर प्रचुर प्रकाश मिलता है। इसमें मृत राजा के साथ न केवल अस्त्र-शस्त्र और आभूषण इत्यादि को वरन् रानियों, अंगरक्षकों, सेवकों, दासियों और यहाँ तक कि बैलों को भी दफ़ना दिया गया था, जिससे वे परलोक में अपने

स्वामी की सेवा कर सकें। परन्तु यह स्मरणीय है कि सुमेर से इस प्रकार की राजसमाधि का कोई अन्य उदाहरण प्राप्त नहीं होता।

नैतिक दर्शन

श्रेष्ठ जीवन का अर्थ—यह सर्वथा स्पष्ट है कि जिस समाज में विश्व को ऐसा राज्य माना जाता था जिसके पूर्ण नागरिक केवल देवता हैं और जिसमें मनुष्य का स्थान वही है जो दासों का मानव-राज्य में होता है, आज्ञापालन को सबसे बड़ा गुण माना जाता होगा और श्रेष्ठ जीवन से तात्पर्य **अनुशासित और विनयशील जीवन** से होगा। वस्तुतः सुमेरियनों का दो सिद्धान्तों में अटूट विश्वास था। एक यह कि **व्यवस्थित समाज का अस्तित्व उच्चतर प्रभुशक्तियों के बिना सम्भव नहीं है** और दूसरा यह कि प्रभुशक्तियाँ सदैव न्यायशील होती हैं, अतः उनकी आज्ञा का पालन करना श्रेयस्कर होता है। वे ऐसे किसी भी मानव समूह को जिसका कोई नेता न हो 'राजा विहीन सेना की तरह खतरनाक', 'बिना जुते खेत की तरह अनुत्पादक' और 'पालकरहित भेड़ों की तरह भ्रमित' मानते थे। उनके अनुसार व्यक्ति एक ऐसा बिन्दु है जिसके चारों ओर उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करने वाली प्रभुशक्तियों के वृत्त बने हुए हैं। ये प्रभुशक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—मानवीय और दैवी। **मानवीय प्रभुशक्तियों** में सबसे लघु परन्तु घनिष्ठ शक्तियाँ उस के अपने **परिवार के सदस्य**—पिता, माता, अग्रज और बड़ी बहिन—हैं। एक स्थान पर आदर्श समाज में विनयशीलता का स्थान बताते हुए एक सुमेरियन कवि कहता है :

> वह दिन जब एक मनुष्य दूसरे से अशिष्ट व्यवहार नहीं करता,
> जब पुत्र अपने पिता का आदर करता है,
> वह दिन जब भूमि का आदर किया जाता है और
> छोटे बड़ों का आदर करते हैं,
> जब छोटा भाई बड़े भाई का सम्मान करता है,
> जब ज्येष्ठ बालक छोटे को शिक्षा देता है और
> छोटा बच्चा उसकी आज्ञाओं को मानता है···

परन्तु मानवीय प्रभुशक्तियों में परिवार तो आरम्भ मात्र है। इसके परे अन्य अनेक शक्तियाँ हैं जिनकी आज्ञा का पालन प्रत्येक मनुष्य के लिए करना अनिवार्य है। व्यक्ति के कार्य का **निरीक्षण करनेवाला अधिकारी**, उसका अपना **स्वामी और राजा**, संक्षेप में समाज और राज्य, ये सभी उससे पूर्णरूपेण अनुशासित और विनयशील रहने की आशा करते हैं और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करते हैं।

दैवी प्रभुशक्तियाँ—दूसरे प्रकार की प्रभुशक्तियाँ दैवी हैं। मानवीय शक्तियों के समान इनका भी व्यक्ति से सम्बन्ध घनिष्ठ और दूरवर्ती दोनों प्रकार का होता है। **व्यक्ति का बड़े देवताओं के साथ सम्बन्ध**, कम-से-कम तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० में, अधिक घनिष्ठ नहीं माना जाता था। यह अवश्य था कि वह अपने महान् देवता की जागीर का सदस्य होता था, अपने साथियों के साथ उसकी जागीर के सार्वजनिक निर्माण कार्यों में भाग लेता था, उसकी आज्ञाओं और कानूनों का पालन करता था और वार्षिक उत्सवों में दर्शकों के समान सम्मिलित होता था; परन्तु जिस प्रकार मामूली कृषकदास (सर्फ) का स्वामी के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार वह भी बड़े देवताओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता था। बड़े देवताओं से वह केवल **संकट काल में पुनरावेदन (अपील)** कर सकता था और वह भी किसी लघु देवता के द्वारा। उसका घनिष्ठ सम्बन्ध केवल उसके **व्यक्तिगत देवता** से होता था। व्यक्तिगत देवता से तात्पर्य विश्व-राज्य के किसी ऐसे लघु देवता से है जिसकी उस व्यक्ति में विशेष दिलचस्पी हो। सुमेरियन कल्पना के अनुसार **सफलता प्राप्त करना मनुष्य की शक्ति के बाहर है**। क्योंकि मनुष्य विश्व-राज्य में दास मात्र है, इसलिए वह विश्व की प्रक्रिया को किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं कर सकता। अगर किसी मनुष्य को किसी काम में सफलता मिलती है तो इसका तात्पर्य होता है कि किसी देवता ने उसमें दिलचस्पी ली है :

(व्यक्तिगत) देवता के बिना मनुष्य अपनी आजीविका नहीं कमा सकता,
युवक युद्ध में शौर्य-प्रदर्शन नहीं कर सकता...

क्योंकि व्यक्तिगत देवता को ही मनुष्य की सफलता का कारण माना जाता था, इसलिए **उसके ऊपर उसके उपासकों के कार्यों का नैतिक उत्तरदायित्व भी होता था**। जब उम्मा के शासक लूगल जग्गिसी ने लगश पर आक्रमण करके उसको अंशतः नष्ट कर दिया तब लगश के निवासियों ने लूगल जग्गिसी की व्यक्तिगत देवी पर इसका दोष लगाया और कहा कि 'उसकी व्यक्तिगत देवी निदाबा इस अपराध को अपने सिर ले।' इसलिए सुमेर में **व्यक्तिगत देवता के प्रति मनुष्य की निष्ठा** और भक्ति को सर्वोच्च स्थान दिया जाता था। प्रत्येक घर में उपयुक्त स्थान पर व्यक्तिगत देवता की मूर्त्ति को प्रतिष्ठित किया जाता था और गृहस्वामी प्रतिदिन उसकी पूजा करता था।

श्रेष्ठ जीवन का प्रतिफल—प्रश्न उत्पन्न होता है कि अगर सुमेरियन नैतिक दृष्टि में श्रेष्ठ जीवन से तात्पर्य परिवार, समाज, राज्य और व्यक्तिगत देवता इत्यादि अधिकारी शक्तियों के प्रति आज्ञाकारिता प्रदर्शित करना मात्र था, तो

इस श्रेष्ठ जीवन से क्या लाभ माना जाता था ? दूसरे शब्दों में सुमेरियन दृष्टि में सदाचार का प्रतिफल क्या था ? उत्तर स्पष्ट है। अगर मनुष्य का सृजन देवताओं की सेवा करने के लिए हुआ है (पृ० ७६) और उनकी आज्ञा पालन करना उसका सबसे बड़ा कर्त्तव्य है, तो वह प्रतिदान में एक दास के समान केवल यह आशा कर सकता है कि उसका देवता उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध करेगा और प्रसन्न होने पर पदोन्नति करेगा तथा पारितोषिक देगा। अर्थात् **सुरक्षा, स्वास्थ्य, दीर्घायु, पुत्र, धन, और समाज में आदरणीय स्थान**—यही आज्ञाकारिता और विनयशीलता के लाभ हैं। इस दृष्टि से **व्यक्तिगत देवता का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण** था। वह व्यक्ति और विश्व की शक्तियों—देवताओं—के मध्य कड़ी के समान था। उसका उपासक उससे आशा करता था कि वह अपनी सामर्थ्य भर उसको सहायता देगा, अपने मित्र देवताओं से उसकी सिफ़ारिश करेगा और अगर वह (उपासक) प्रेतों अथवा चुड़ैलों के चक्कर में फँस जायेगा तो उसे अपने देवमित्रों की सहायता दिलाएगा और बड़े देवताओं को उसकी निर्दोषिता बताकर उसके अनुकूल बनाएगा। संक्षेप में सुमेरियन जीवन-दृष्टि के अनुसार श्रेष्ठ जीवन का प्रतिफल किसी निश्चित नियम के अनुसार नहीं मिलता। विनयशीलता से मनुष्य अपने व्यक्तिगत देवता की कृपा प्राप्त कर सकता है, परन्तु यह कृपा सदैव मिलेगी, यह आवश्यक नहीं है। **श्रेष्ठ जीवन का प्रतिफल व्यक्तिगत सम्बन्धों और प्रभावों—पक्षपात—पर निर्भर है।** इसलिए 'श्रेष्ठतम' जीवन भी केवल इस बात की आशा दिलाता है कि उसका प्रतिफल अच्छा होगा, निश्चयपूर्वक इसका विश्वास नहीं दिला सकता। दूसरे शब्दों में श्रेष्ठ जीवन का प्रतिफल केवल पक्षपात के रूप में माँगा जा सकता है, उसका दावा नहीं किया जा सकता। यह तथ्य उनके **धार्मिक आख्यानों** से भी स्पष्ट हो जाता है। पिछले पृष्ठों में उल्लिखित सभी आख्यानों में हमने देखा है कि उनमें जहाँ कहीं किसी बात की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है वहाँ कहा गया है कि देवताओं की ऐसी ही इच्छा थी। 'चन्द्रमा के तीन भाई क्यों हैं ?' 'वे सब परस्पर भिन्न क्यों हैं ?' 'क्योंकि एनलिल की ऐसी ही इच्छा थी'; 'मानव का निर्माण क्यों हुआ' ? 'देवताओं की ऐसी ही इच्छा थी'; 'उर का विध्वंस क्यों हुआ ?' 'देवताओं की ऐसी ही इच्छा थी'। कहीं भी यह नहीं बताया गया है कि देवताओं की ऐसी इच्छा क्यों थी। मनुष्य को जीवन में जो दुःख-सुख मिलते हैं, उन्हें उसे देवताओं की इच्छा समझकर स्वीकृत करना चाहिए। ऐसा क्यों होता है, यह प्रश्न व्यर्थ है। यही **सुमेरियन नैतिक दर्शन का निष्कर्ष** है।

व्यावहारिक सदाचार—परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सुमेरियनों के व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन में सदाचार का अभाव था। सदाचार में वे सम्भवतः अपनी समकालीन सभ्य **पड़ोसिन जातियों के कम से कम बराबर और बहुत सी प्राचीन जातियों से अच्छे थे।** इस सम्बन्ध में कुछ तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके समस्त साहित्य में, एक दो स्थलों को छोड़कर, कहीं भी **अश्लील वर्णन नहीं** मिलता। इतना ही नहीं गिल्गामेश आख्यान में प्रेम की देवी **इनन्ना की अवज्ञा** की गई है। दूसरे, जैसा कि हम देख चुके हैं, सुमेरियन समाज में दास प्रथा का अस्तित्व था, परन्तु **दासों के साथ अच्छा व्यवहार** न किये जाने का कोई संकेत नहीं मिलता। युद्धों में भी उन्होंने असीरियनों की तरह नृशंस और पाशविक मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया। **जुआ जैसी घृणित लत से वे बरी थे।** उनके समाज में **शिक्षित वर्ग का पर्याप्त आदर** होता था। अपने देश के धार्मिक आख्यानों और सुदीर्घ इतिहास को जानना पुण्यकर्म समझा जाता था। अतः यह निरापद रूप से कहा जा सकता है कि कुछ दोषों के बावजूद सुमेरियनों का सामाजिक और व्यक्तिगत आचार-व्यवहार उनकी सभ्यता की प्राचीनता को देखते हुए वस्तुतः श्लाघनीय था।

राजनीतिक दर्शन

नगर-राज्य की सुमेरियन अवधारणा—आधुनिक काल में राज्य उस सार्वभौम-सत्ता-सम्पन्न बाह्य नियन्त्रण से मुक्त मानव समुदाय को कहते हैं जिसके निवास स्थान की सीमाएँ सुनिश्चित होती हैं और जिसका उद्देश्य अपने सदस्यों के कल्याण का यत्न करना होता है। परन्तु सुमेरियन विश्व-दृष्टि में किसी ऐसे मानव-राज्य का अस्तित्व असम्भव था। क्योंकि एक तो उनके अनुसार केवल देव-संसद द्वारा शासित **विश्व-राज्य ही ऐसा राज्य हो सकता था जो सार्वभौम सत्ता-सम्पन्न और बाह्य नियन्त्रण से मुक्त हो।** दूसरे, उनका विश्वास था कि मानव का सृजन देवताओं के हितार्थ, उन्हें श्रम से मुक्ति दिलाने के लिए हुआ है, अतः **किसी भी मानव संस्था का प्रमुख लक्ष्य मानव कल्याण नहीं हो सकता।** सुमेरियनों के अनुसार मानव-राज्य, अर्थात् उनके अपने नगर-राज्य, राज्य न होकर विश्व-राज्य के अन्तर्गत जागीर या रियासतें मात्र थे। ये रियासतें विभिन्न देवताओं के अधिकार में थीं और उनका उद्देश्य मानव कल्याण न होकर जागीरदार देवता का आर्थिक हित था।

नगर-राज्य का संगठन—सुमेरियन नगर-राज्य का केन्द्र नगर होता था

और नगर का केन्द्र नगर-देवता का मन्दिर। नगर-मन्दिर प्रायः राज्य की भूमि के एक बहुत बड़े भाग का स्वामी होता था जिसको उसके कृषकदास (सर्फ) और सदस्य कृषक जोतते थे। नगर के अन्य मन्दिर भी, जिनमें नगर-देवता की पत्नी, बच्चों तथा मित्रों की उपासना होती थी, इसी प्रकार बड़ी बड़ी जागीरों के अधिकारी होते थे। अनुमान किया गया है कि तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध में सुमेरियन नगर-राज्यों की अधिकांश भूमि मन्दिरों के अधिकार में थी। प्रत्येक मन्दिर के देवता के पास बहुत बड़ी संख्या में दैवी और मानवीय सेवक होते थे। मानवीय सेवक मकानों और खेतों में काम करते थे और दैवी सेवक, अर्थात् छोटे देवता उनका निरीक्षण करते थे। लगश नगर-राज्य के देवता निन्गिरशु की जागीर के संगठन का विस्तृत वर्णन तत्कालीन अभिलेखों में मिलता है। इससे मालूम होता है कि मानवीय सेवकों पर नियन्त्रण रखने के लिए मानवीय निरीक्षक भी नियुक्त किये जाते थे। इनमें 'एनसी' का स्थान सर्वोच्च था। उसको हम अपनी भाषा में 'देवता की जागीर का मैनेजर' कह सकते हैं। जागीर के मैनेजर के रूप में वह स्थापित व्यवस्था को क़ायम रखता था; अर्थात् वह मन्दिर के प्रशासन के लिए उत्तरदायी था और आय-व्यय का विवरण रखता था। इसके अतिरिक्त वह प्रधान न्यायाधिकारी तथा प्रधान सेनापति भी होता था और अपने नगर-देवता के प्रतिनिधि के रूप में अन्य नगरों के देवताओं के प्रतिनिधि एनसियों के साथ वार्ता करता था। मैनेजर के रूप में उसका दूसरा कार्य आवश्यकता पड़ने पर देवता से विशेष समस्याओं पर आज्ञा लेना था। युद्ध और शान्ति विषयक समस्याओं पर विचार करते समय बहुधा निर्णय लेने के अवसर भी आते थे। लेकिन निर्णय लेने का अधिकार केवल देवता को था। एनसी तो उसकी आज्ञाओं को कार्यान्वित करनेवाला पदाधिकारी मात्र था। इसलिए समय-समय पर एनसी के लिए अपने स्वामी नगर-देवता से परामर्श करना अत्यावश्यक होता था। ऐसा वह कई प्रकार से कर सकता था। कोई अद्भुत और असाधारण घटना घटित होने पर वह ज्योतिषियों की सहायता से उसका अर्थ ज्ञात करके देवता की इच्छा जान सकता था। किसी निश्चित प्रश्न का उत्तर पाने के लिए वह पशुबलि दे सकता था जिसके यकृत पर संकेत-चिह्न अंकित करके देवता अपना सन्देश प्रदान कर देता था। तीसरा और प्रत्यक्ष साधन स्वप्न थे। इनकी व्याख्या में भी ज्योतिषियों की सहायता की आवश्यकता पड़ती थी।

नगर-राज्यों का विश्व-व्यवस्था में स्थान—उपर्युक्त विवेचन से विश्व-राज्य में नगर-राज्य का स्थान भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक नगर-राज्य

विश्व-राज्य में किसी बड़े देवता की व्यक्तिगत जागीर था। उसका **उद्देश्य आर्थिक** था, क्योंकि उसका अस्तित्व उस देवता के लिए आवश्यक वस्तुएँ जुटाने के हेतु था। उसी की सहायता से देवता सेवकों और सेविकाओं से घिरा रह कर धनी सामन्त के समान वैभवशाली जीवन व्यतीत कर सकता था। क्योंकि सब देवी-देवता आकाश, पृथिवी, जल, वायु, अथवा ऐसी ही कोई अन्य प्राकृतिक शक्ति थे, इसलिए सिद्धान्ततः प्रत्येक नगर-राज्य एक या एकाधिक देवताओं को आर्थिक सुविधाएँ प्रदान करके **प्राकृतिक शक्तियों को स्वतन्त्रतापूर्वक सक्रिय रहने में सहायता** देता था। यही मानवीय **नगर-राज्य का विश्व की व्यवस्था में स्थान** था। नगर-राज्य की यह कल्पना सुमेरियन इतिहास और राजनीतिक जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। राजनीतिक एकता के अभाव के दिनों में इससे थोड़ी बहुत **अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था** बनी रहती थी। उदाहरणार्थ दो नगर-राज्यों के सीमा-सम्बन्धी झगड़े उन नगरों के देवताओं के झगड़े माने जाते थे, इसलिए उनको निप्पुर में देवपिता एनलिल के समक्ष निर्णय के लिए रखा जा सकता था। एनलिल अपने मानव वायसराय के माध्यम से उसका फैसला करता था। इस प्रकार के बहुत से विवादों और निर्णयों का उल्लेख सुमेरियन अभिलेखों में मिलता है। लगश और उम्मा के मध्य होनेवाली सन्धि में इन नगरों के पटेसियों या एनसियों का नाम तक नहीं दिया गया है, केवल इन के देवताओं का उल्लेख कर दिया गया है।

राष्ट्र-राज्य की अवधारणा—सुमेरियन राजनीतिक दर्शन में उपर्युक्त विचारधारा उस समय तक उपयोगी और लोकप्रिय रही जब तक सुमेर लघु राज्यों में विभाजित रहा; क्योंकि इससे तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति की समुचित व्याख्या हो जाती थी। परन्तु तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य सारगोन के नेतृत्व में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई। इसके बाद डुंगी जैसे बहुत से सुमेरियन शासकों ने भी विशाल साम्राज्य स्थापित किये। इस नवीन अनुभव की व्याख्या के लिए सुमेरियनों ने राष्ट्र-राज्य की कल्पना की जिसका मूल उनके विश्व-राज्य के सिद्धान्त में सन्निहित था। नगर-राज्य के समान **राष्ट्र-राज्य का उद्देश्य** भी मानव-कल्याण के स्थान पर देव-कल्याण था और दोनों का संगठन भी मिलता-जुलता था। फिर भी दोनों में कुछ अन्तर था। एक तो **राष्ट्र-राज्य का कार्यक्षेत्र और उद्देश्य** नगर-राज्य की तरह आर्थिक न होकर राजनीतिक था। दूसरे, नगर-राज्य का स्वामी कोई भी साधारण देवता हो सकता था जब कि **राष्ट्र राज्य का स्वामी** बहुधा विश्व-राज्य के मुख्य देवताओं में से कोई एक बनाया जाता था। इस प्रकार राष्ट्र-

राज्य सार्वभौम-सत्ता-सम्पन्न विश्व-राज्य की प्रशासनात्मक गतिविधियों का प्रसरण था।

राष्ट्र-राज्य का अधिकारी देवता और मानव वायसराय—विश्व-राज्य का प्रशासन देव-संसद के हाथ में था और एनलिल उसका सबसे बड़ा पदाधिकारी था, लेकिन देव-संसद एनलिल के साथ किसी अन्य देवता को भी अधिकारी नियुक्त कर सकती थी। उसको देवताओं का राजा अथवा देवराज कहा जा सकता है। देवराज अपने मानव परिचारक—अपने नगर-राज्य के मानव शासक—के द्वारा पृथिवी पर व्यवस्था स्थापित करता था। अर्थात् देवराज के अपने नगर-राज्य का शासक उसके वायसराय के रूप में समस्त सुमेर और अक्काद के नगर-राज्यों को अपने अधीन करता था। उदाहरणार्थ जिस समय सुमेर और अक्काद में किश का नेतृत्व स्थापित हुआ उस समय सिद्धान्ततः 'देवराज' पद इस नगर की देवी इनन्ना को मिला हुआ था और उर के नेतृत्व के समय वहाँ के देवता नन्ना को। परन्तु **एनलिल का विश्व-राज्य के शासन-प्रबन्ध से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था** कि साधारणतः विश्वास किया जाता था कि प्रत्येक देवराज एनलिल के पथ-प्रदर्शन में कार्य करता है। देवराज के मानव-वायसराय की नियुक्ति में बहुधा देव-संसद भी हस्तक्षेप करती थी। ऐसे अवसरों पर देवराज को स्वयं एनलिल और देव-संसद से अपने **वायसराय की नियुक्ति** को परिपुष्ट करने की प्रार्थना करनी पड़ती थी। देव-संसद बहुमत से अपना निर्णय देती थी।

राष्ट्र-राज्य अनिवार्य नहीं—यहाँ यह याद रखना अत्यावश्यक है कि विश्व-राज्य की प्रशासनात्मक गतिविधियों के प्रसरण के रूप में राष्ट्र-राज्य महत्त्वपूर्ण था, परन्तु अनिवार्य नहीं। इतिहास में ऐसा बहुत बार हुआ है जब देवताओं ने कोई मानव राजा नियुक्त नहीं किया। इतना ही नहीं कभी-कभी देव-संसद यह निर्णय भी ले लेती थी कि जिस देवता और नगर के हाथ में राजसत्ता है उससे वह छीन ली जाय और उसे किसी दूसरे देवता और नगर को दे दी जाय, अथवा कुछ समय के लिए किसी को भी न दी जाय। जब ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ होती थीं तब सत्ताधारी नगर का प्रशासन निकम्मा हो जाता था और देवता उसके निवासियों के प्रश्नों के उत्तर देना बन्द कर देते थे। उस नगर का देवता प्रयत्न करने पर भी अपने नगर को अनिष्ट से नहीं बचा सकता था। उदाहरण के लिए जिस समय देव-संसद ने यह निश्चय किया कि उर नगर के नेतृत्व का अन्त हो और वह एनलिल के भयानक

तूफान में नष्ट हो जाय तब उर की देवी निंगल ने देवताओं से प्रार्थना की कि संसद अपना निर्णय बदल दे। परन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ :

······'वास्तव में मैंने अनु के सामने आँसू बहाए
वास्तव में मैंने एनलिल के सामने शोक प्रकट किया
'मेरे नगर का विध्वंस मत करो', मैंने उनसे कहा
'उर का विध्वंस मत करो', मैंने उनसे कहा
'इसके निवासियों का बध मत करो', मैंने उनसे कहा
परन्तु अनु ने इन शब्दों की ओर ध्यान नहीं दिया
और एनलिल ने कभी भी 'यह ठीक है, ऐसा ही हो',
कहकर मुझे सान्त्वना नहीं दी;
देखो, उन्होंने आदेश दिया कि उर को नष्ट कर दिया जाय
और उसके भाग्य पर निर्णय दिया कि उसके निवासियों
का बध कर दिया जाय'······

सुमेरियन लिपि और शिक्षा-पद्धति

सुमेरियन लिपि

सुमेरियन लिपि का जन्म—सुमेरियन पुजारियों को अपने मन्दिरों की आय-व्यय का विवरण रखना पड़ता था। चतुर्थ सहस्राब्दी ई० पू० की अन्तिम शताब्दियों में उन्होंने मिट्टी की पाटियों पर रेखाएँ खींचकर मन्दिरों को मिलने वाले पशुओं और वस्तुओं की संख्या लिखना प्रारम्भ कर दिया था। धीरे-धीरे इन संख्याओं के साथ उन वस्तुओं और पशुओं के चित्र भी बनाए जाने लगे जिससे यह स्मरण रहे कि ये संख्याएँ किन वस्तुओं या पशुओं की हैं। सुमेर के एक नगर से प्राप्त प्राचीनतम अभिलेखों पर इसी प्रकार के चित्र और संख्याएँ उत्कीर्ण हैं। ये **वस्तु-चित्र** अंग्रेजी में पिक्टोग्राम कहलाते हैं। परन्तु इस प्रकार की **आदिम चित्र-लिपि** से सभ्य सुमेरियन समाज का काम नहीं चल सकता था। इसमें चित्रों की जटिलता के कारण बड़ी कठिनाई होती थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए सुमेरियनों ने चित्रों को सरलतर करना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे ये चित्र इतने सरल हो गए कि मूलवस्तु को पहचानना कठिन होने लगा। परन्तु इनका **स्वरूप रूढ़** हो जाने के कारण पढ़ने वाले इनके अर्थ को बिना कठिनाई के समझ लेते थे।

सुमेरियन लिपि का विकास : भाव-चित्र—चित्र लिपि में और **बहुत-सी कठिनाइयाँ थीं। इससे केवल कुछ स्थूल पदार्थों का भाव अभिव्यक्त किया जा सकता था, सबका नहीं।** उदाहरण के लिए इसमें सिर की आकृति बनाकर सिर का भाव प्रकट किया जा सकता था, परन्तु मुँह का भाव प्रकट करने में कठिनाई होती थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए उन्होंने **वस्तु-चित्रों में मामूली परिवर्तन करके उन्हें भिन्न अर्थ देने की विधि अपनाई।** जैसे सिर की आकृति में ठोड़ी के नीचे एक लघु रेखा खींच कर उसका अर्थ 'मुँह' मान लिया। **एक अन्य युक्ति दो या अधिक वस्तु-चित्रों को मिलाकर आशय प्रकट करने की थी।** उदाहरण के लिए नारी की आकृति बनाकर केवल 'नारी' का भाव प्रकट किया जा सकता था, यह नहीं बताया जा सकता था कि वह स्वतन्त्र स्त्री है अथवा दासी। सुमेरियनों ने इस समस्या को हल करने के लिए नारी के साथ 'कुर' अर्थात् पर्वत का चित्र बनाकर 'दासी' का भाव अभिव्यक्त करना प्रारम्भ किया क्योंकि सुमेर में दासियाँ अधिकांशतः पर्वतीय प्रदेश से लाई जाती थीं। इस प्रकार के चित्रों को **भाव-चित्र** (आइडियोग्राफ) कहा जाता है।

परन्तु इन विधियों की सहायता से भी विशेष प्रगति नहीं की जा सकी क्योंकि इनसे **केवल स्थूल पदार्थों का ही बोध कराना सम्भव था,** अमूर्त विचारों जैसे सौन्दर्य, दिन, स्वप्न इत्यादि को अभिव्यक्त करना असम्भव था। इसके अतिरिक्त इनसे **शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध का संकेत देना भी असम्भव था।** जैसे 'राजा महल को जाता है', यह वाक्य लिखने के लिए 'राजा' और 'महल' का अंकन ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि इन दो शब्द-चित्रों का अर्थ 'यह राजा का महल है' भी हो सकता है। इन कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए सुमेरियनों ने अन्य अनेक युक्तियों का प्रयोग किया। इनमें एक युक्ति थी **बहुत से वस्तु-चित्रों के एक से अधिक परन्तु परस्पर सम्बद्ध अर्थ मान लेना।** जैसे सूर्य के चित्र से सूर्य के अतिरिक्त दिन का और हल के चित्र से हल के अतिरिक्त कृषक का भाव अभिव्यक्त किया जाने लगा। परन्तु इससे भी प्रगति एक सीमा पर जाकर रुक गई क्योंकि अनेक विचारों को स्थूल वस्तु-चित्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करना सर्वथा असम्भव था।

चित्र २४ : एक सुमेरियन अभिलेख का एक अंश

ध्वनि और अर्थ का पार्थक्य : ध्वनि-लिपि—वस्तुतः इसके आगे लिपि का विकास तब तक सम्भव नहीं था जब तक वस्तु-चित्रों की ध्वनि और अर्थ को पृथक् न कर दिया जाता। सुमेरियन लिपि में अभी तक प्रत्येक चित्र से अभिव्यक्त वस्तु का अथवा उससे मिलता-जुलता अर्थ ही ग्रहण किया जाता था। इसके आगे प्रगति होने के लिए यह आवश्यक था कि **चित्र को वस्तु-बोधक न मानकर ध्वनि-बोधक** (फोनेटिक) माना जाता। उदाहरण के लिए 'ती' शब्द का सुमेरियन भाषा में अर्थ होता था 'बाण' अथवा 'जीवन'। इनमें बाण का चित्र बनाना सम्भव था, 'जीवन' का चित्र बनाना असम्भव। परन्तु 'बाण' का चित्र बनाकर अगर उसे केवल 'ती' ध्वनि के रूप में ग्रहण किया जाता 'बाण' वस्तु के अर्थ में नहीं, तो उस वस्तु-चित्र का प्रयोग 'जीवन' के अर्थ में भी हो सकता था। जैसे किसी सुमेरियन को यह कहना होता कि 'एनलिल देवता जीवन देता है' तो वह 'एनलिल' के बाद 'बाण' अर्थात् 'ती' का चित्र बनाकर अपना आशय प्रकट कर सकता था। सुमेरियन इतिहास में **वस्तु-चित्रों का ध्वनि-चित्रों के रूप में इस प्रकार प्रयोग** ३००० ई० पू० के लगभग मिलने लगता है।

सुमेरियन शब्दांश-लिपि—ध्वनि-चित्रों का आविष्कार होने के बाद शब्दांश-लिपि (सिलेबिक स्क्रिप्ट) का आविष्कार बहुत आसान था। शब्दांश-लिपि उस लिपि को कहते हैं जिसमें किसी एक शब्द को लिखने के लिए उस शब्द में प्रयुक्त होने वाली ध्वनियों के बोधक चित्रों को संयुक्त कर दिया जाय। उदाहरणार्थ यदि 'गो' शब्द का भाव गाय का चित्र बनाकर व्यक्त किया जाय तो वह चित्र-लिपि होगी और यदि गाय के चित्र का प्रयोग ऐसे शब्दों को लिखने में किया जाय जिनमें 'गो' शब्द आया है, जैसे 'गोरखपुर', तो वह शब्दांश-लिपि मानी जायेगी।

सुमेरियन लिपि के विकास की सीमा—यहाँ यह स्मरणीय है कि शब्दांश-लिपि में शब्द-चित्रों का प्रयोग मूल ध्वनियों को अभिव्यक्त करने के लिए नहीं होता। इनसे केवल एक शब्द के एक अंश की अभिव्यक्ति होती थी। जैसे 'गोरखपुर' लिखने में 'गो' शब्द-चित्र से 'ग' व्यञ्जन का नहीं वरन् 'गो' ध्वनि का भाव प्रकट होता है। **सुमेरियन शब्दांश-लिपि से आगे प्रगति कर विशुद्ध वर्णमाला तक नहीं पहुँच** सके। अर्थात् शब्दांशों को सरल करके व्यञ्जनों का आविष्कार नहीं कर सके। उनकी लिपि लगभग ३०० शब्दांश-चित्रों तक सीमित रही। परन्तु इनकी सहायता से वे सूक्ष्म विचारों को अभिव्यक्त करने में भली भाँति समर्थ हो गए थे। इसीलिए हमारे लिए आजकल उनके साहित्य का अध्ययन करना सम्भव है।

सुमेरियन लिपि में 'संकेतों' का प्रयोग—सुमेरियन लिपि के सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है। शब्दांश-लिपि में प्रायः एक कठिनाई आती है और वह है किसी वाक्य में अनेकार्थी चिह्नों का अर्थ निश्चित करने की। उदाहरण के लिये 'एनलिल ती' वाक्य लीजिये। इसमें एनलिल देवता का नाम है। 'ती' के दो अर्थ होते हैं—'बाण' और 'जीवन'। अगर प्रसंग से स्पष्ट न हो तो इस वाक्य में 'ती' शब्द का अर्थ समझना दुष्कर होगा। इस प्रकार की कठिनाई उन सभी शब्द-चित्रों में आती है जिनके एक से अधिक अर्थ होते हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिए सुमेरियन **सूचक-चिह्नों (डिटरमिनेटिव्ज़) या संकेतों** का प्रयोग करते थे। उदाहरणार्थ 'एनलिल ती' वाक्य में 'ती' का अर्थ 'बाण' होने पर वे उसके आगे 'गीश' नामक शब्द-चित्र बना देते थे जिसका अर्थ था लकड़ी। यह इस बात का संकेत देता था कि इस वाक्य में 'ती' का सम्बन्ध 'लकड़ी' से है, अर्थात् इसमें 'ती' का अर्थ 'बाण' है 'जीवन' नहीं। इसी प्रकार हल शब्द-चित्र का अर्थ कृषक और हल दोनों था। लेकिन उसके साथ अगर 'गीश' शब्द-चित्र जोड़ दिया जाता था तो उसका अर्थ 'हल' माना जाता था और अगर 'लू' (= मनुष्य) चिह्न जोड़ दिया जाता था तो कृषक। इसी प्रकार 'कुर' (= पृथिवी या पर्वत) शब्द-चित्र को नगरों के नाम के साथ और 'डिन्जिर' (= देवता) को देवताओं के नाम के साथ लगा दिया जाता था जिससे उनका आशय स्पष्ट हो जाए।
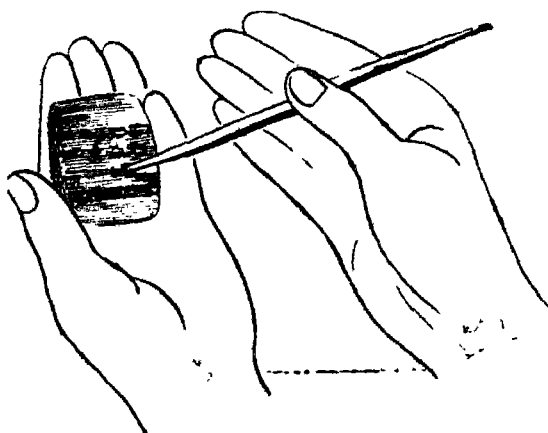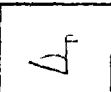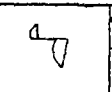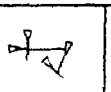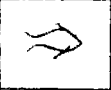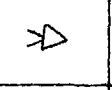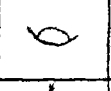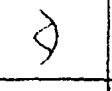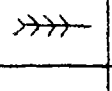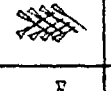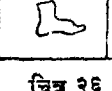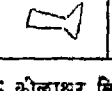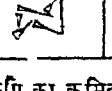
चित्र २५ : मिट्टी की पाटी पर स्टाइलस से लिखने की विधि

सुमेरियन लिपि का बाह्य विकास—आन्तरिक विकास के साथ सुमेरियन लिपि में बाह्य परिवर्तन भी होते जा रहे थे। सुमेर में मिस्र के समान पेपाइरस रीड से कागज़ के बनाने की सुविधा नहीं थी। परन्तु एक वस्तु वहाँ प्रचुरता से प्राप्य थी और वह थी मिट्टी। इसलिए सुमेरियन **मिट्टी की पाटियाँ** (टेब्लेट्स) बनाकर उन पर नरकुल (रीड) की

लेखनी अथवा स्टाइलस से लिखते थे। केवल स्मारक अभिलेखों के लिए **प्रस्तर-शिलाओं अथवा धातु-पत्रों** का प्रयोग किया जाता था। प्रारम्भ में अत्यन्त तीक्ष्ण स्टाइलस का प्रयोग किया जाता था, परन्तु बाद में गीली मिट्टी पर शब्द-चित्रों की गोल रेखाओं को खींचने में कठिनाई का अनुभव होने पर स्टाइलस की नोक को मोटा किया जाने लगा। मिट्टी की पाटियों पर लिखते समय लिपिक स्टाइलस से खरोंच कर नहीं अपितु नोक को मिट्टी पर दबाकर रेखाएँ बनाते थे। दूसरी रेखा बनाने के लिए वे स्टाइलस को पहले स्थान से उठा लेते थे। स्टाइलस की नोक के वक्र झुकाव के कारण प्रत्येक रेखा एक सिरे पर दूसरे सिरे की अपेक्षा अधिक चौड़ी हो जाती थी जिससे उसकी आकृति त्रिकोणाकार लगने लगती थी। इस प्रकार की आकृति के लिए लैटिन भाषा में **क्युनियस्** शब्द आता है, इसलिए सुमेरियन लिपि को **क्यूनीफॉर्म लिपि** कहा जाता है। हिन्दी में इसके लिए 'कीलाक्षर लिपि' संज्ञा प्रयुक्त होती है।

शब्द-चित्र बनाने में त्रिकोणाकार रेखाओं के प्रयोग का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ। अब इस के कारण मूल वस्तु को पहिचानना मुश्किल होने लगा क्योंकि उसका अंकन उसके यथार्थ रूप में होने के स्थान पर कुछ त्रिकोणाकार रेखाओं के समूह के रूप में होता था। उदाहरण के लिए चित्र २६ के अन्त में **पैर शब्द-चित्र का विकास** द्रष्टव्य है। इसमें पहले पैर की आकृति सुस्पष्ट है। बाद में इसकी आकृति सरलतर हो गई है, परन्तु यह पहिचानना सम्भव है कि यह पैर की आकृति है। लेकिन और बाद में यह छः त्रिकोणाकार रेखाओं का और अन्त में पाँच रेखाओं का समूह मात्र रह जाती है।

चित्र २६ : कीलाक्षर लिपि का क्रमिक विकास

सुमेरियन लिपि के बाह्य विकास में एक तथ्य और महत्त्वपूर्ण है। यह भी इसी शब्द के विकास से स्पष्ट हो जाता है। प्रारम्भ में सुमेरियन शब्द-चित्रों में वस्तु को

उसके स्वाभाविक रूप में अंकित किया जाता था, जैसे उपर्युक्त चित्र में पैर को दिखाया गया है। बाद में यह टेढ़ा हो जाता है और इसमें पंजे का **रुख़ सामने के स्थान पर ऊपर की ओर हो जाता है।** इसी प्रकार का परिवर्तन अन्य शब्द-चित्रों में मिलता है। **इसका कारण** सम्भवतः मिट्टी की पाटियों के आकार का परिवर्तित हो जाना था। प्रारम्भ में मिट्टी की पाटियाँ छोटी होती थीं, इसलिए उन्हें हाथ में आड़ी रख कर लिखा जाता था। बाद में जब बड़ी पाटियाँ प्रयुक्त होने लगीं तब उन्हें मेज़ पर लम्बवत् रखकर लिखा जाने लगा। इससे बाद में पाटी को सीधा करके पढ़ने पर शब्द चित्रों का रुख़ ऊपर की ओर हो गया प्रतीत होने लगा। परन्तु तब तक उनका स्वरूप और अर्थ रूढ़ हो चुके थे, इस लिए किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। शुरू में यह परिवर्तन केवल मिट्टी की पाटियों पर उत्कीर्ण अभिलेखों में आया और 'हम्मूरबी की संहिता' जैसे **प्रस्तर-अभिलेखों** में सीधे शब्द-चित्र लिखे जाते रहे। परन्तु बाद में प्रस्तर-अभिलेखों में भी उनका रुख़ ऊपर किया जाने लगा।

मिट्टी की पाटियों पर लिखने के लाभ—मिट्टी की पाटियों (टेब्लेट्स) पर लिखने से बहुत लाभ थे। मिट्टी की पाटियाँ **धूप में सुखाने पर सख़्त** और आग में पका लेने पर पत्थर के समान कठोर और स्थायी हो जाती थीं। इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजना भी अपेक्षया आसान था। गीली मिट्टी की पाटी पर पत्र लिखने के बाद उस पर सूखी मिट्टी का चूर्ण बिखेर दिया जाता था। फिर उसे गीली मिट्टी से ही बने लिफ़ाफ़े में, जिस पर पता लिखा होता था, रख दिया जाता था। बीच में चूर्ण डाल देने से पत्र के लिफ़ाफ़े के साथ चिपकने का डर नहीं रहता था। इसके बाद पत्र और लिफ़ाफ़े को सुखाकर आग में पका लिया जाता था। अब इसे गन्तव्य स्थान को भेजा जा सकता था। **इतिहास के आधुनिक विद्यार्थियों के लिए यह सौभाग्य का विषय है** कि सुमेरियनों ने पेपाइरस जैसी नश्वर वस्तु के स्थान पर मिट्टी की पाटियों का प्रयोग किया। अगर वे ऐसा न करते तो उनकी सभ्यता के बौद्धिक पक्ष पर बहुत कम प्रकाश मिल पाता।

सुमेरियन लिपि का महत्त्व—सुमेरियन लिपि पश्चिमी एशिया की प्राचीनतम ज्ञात लिपि है। **इसका प्रयोग सुमेरियनों के अतिरिक्त अन्य बहुत सी जातियों ने किया।** सेमाइटों के पास अपनी कोई लिपि नहीं थी, इसलिए उन्होंने सुमेरियन लिपि को ही अपनी भाषा के लिए प्रयुक्त किया। **असीरियनों** और **कैल्डियनों** ने भी इसी लिपि में अपने अभिलेख उत्कीर्ण कराए। कालान्तर में हित्तियों ने अपनी राष्ट्रीय चित्राक्षर (हाइरोग्लाइफिक) लिपि के साथ इसका

प्रयोग किया। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में यह पश्चिमी एशिया और मिस्र के राज्यों द्वारा **अन्तर्राष्ट्रीय लिपि** के रूप में प्रयुक्त हुई। यह प्राचीन विश्व को सुमेरियनों की महानतम देन थी, क्योंकि इसके बिना न तो **सुमेरियन साहित्य और ज्ञान-विज्ञान का इतना प्रसार होना** सम्भव था और न आधुनिक काल में हम उनकी सभ्यता का इतने विस्तार से अध्ययन कर सकते थे।

सुमेरियन शिक्षा-पद्धति

सुमेरियन शिक्षा-पद्धति और पाठशालाएँ कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) लिपि के आविष्कार का परिणाम थीं। ३००० ई० पू० के लगभग सुमेरियन नगरों में कीलाक्षर लिपि की शिक्षा देने वाली पाठशालाएँ अस्तित्व में आने लगी थीं। तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य तक समस्त सुमेर में ऐसी संस्थाओं का जाल सा बिछ गया था। तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्तिम पद के ऐसे दसियों हज़ार अभिलेख मिले हैं जो पाठशालाओं में काम आनेवाली **पाठ्य-पुस्तकों** के रूप में प्रयुक्त होते रहे होंगे। इनसे सुमेरियन पाठशालाओं के **पाठ्यक्रम और प्रशिक्षण-विधि** पर प्रकाश मिलता है। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के बहुत से अभिलेख ऐसे हैं जिनमें अध्यापकों ने पाठशालाओं में विद्यार्थियों के जीवन तथा सुमेरियन-शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम और अध्यापन-विधि इत्यादि का विवेचन किया है। इनसे मालूम होता है कि सुमेरियन **पाठशालाओं का मूल लक्ष्य** देश के राजकार्यालयों, मन्दिरों और व्यापारियों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिपिकों को प्रशिक्षण देना था। परन्तु इस व्यावहारिक लक्ष्य के बावजूद सुमेरियन पाठशालाएँ कालान्तर में **विद्या और संस्कृति का केन्द्र** बन गईं। यहाँ सुमेर के विद्वान् अध्यापक विद्यार्थियों को शिक्षा देने के साथ-साथ तत्कालीन ज्ञान-विज्ञान को समुन्नत बनाने के लिए **शोधकार्य** भी करते रहते थे। सुमेरियन पाठशालाओं में अधिकांश **विद्यार्थी** धनी परिवारों से आते थे। निर्धन परिवार इनके व्यय का भार वहन नहीं कर पाते थे। स्त्रियों को इस क्षेत्र में आने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता था। पाठशाला का **प्रधान अध्यापक 'उम्मिया'** कहलाता था। वह अपने साथी अध्यापकों की सहायता से विद्यार्थियों को लिखना सिखाता था और **सुमेरियन भाषा की शब्दावली को रटवाता था।** उन्होंने सुमेरियन भाषा के शब्दों को विविध विषयों के अनुसार कई वर्गों में बाँटा हुआ था। जब सुमेर पर अक्कादी सेमाइटों का शासन स्थापित हुआ तो सुमेरियन विद्वानों ने **विश्व के प्राचीनतम शब्दकोष** बनाए जिनमें सुमेरियन शब्दों का अक्कादी भाषा में अर्थ दिया हुआ था।

सुमेरियन साहित्य

सुमेरियन साहित्य के अध्ययन में कठिनाइयाँ—अक्कादी सेमाइटों ने सुमेरियन लिपि में ही नहीं, सुमेरियन साहित्य में भी रुचि ली। इसमें सुमेरियनों के पौराणिक आख्यान, काव्य, मन्दिर-साहित्य (जिसमें स्तुतियाँ और पूजागीत इत्यादि आते हैं), कहावतें, गल्प और निबन्ध इत्यादि सम्मिलित हैं। यह साहित्य काफी विशाल है। सुमेरियन नगरों में इसको संगृहीत करने के लिए बड़े-बड़े **पुस्तकालयों** की स्थापना की गई थी। सारज़ाक नामक विद्वान् को टेलो स्थान से गूडी के समय के एक पुस्तकालय की क़रीने से लगी हुई ३०,००० मिट्टी की पाटियाँ मिलीं थीं। परन्तु **इस साहित्य को पढ़ने और समझने में आधुनिक विद्वानों को बहुत श्रम** करना पड़ा है। एक तो यह साहित्य अधिकांशतः धूप में सूखी हुई पाटियों पर लिखा गया है जो उत्खनन-प्रक्रिया में या एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजते समय टूट जाती हैं। **दूसरे,** इनको प्रकाशित करने के लिए कागज पर हाथ से नक़ल करनी होती है। यह अत्यन्त क्लिष्ट और मन उबा देनेवाला कार्य है। **तीसरे,** प्रकाशित ग्रन्थों का अनुवाद करना भी बहुधा कठिन होता है, क्योंकि बहुत से मुहावरों और शब्दों के अर्थ अभी तक ज्ञात नहीं हैं। फिर भी बार्टन, थ्यूगोरादौ, स्टीफेन, लैंग्डन, किंग, जिमर्न, कियरा गैड तथा क्रेमर इत्यादि विद्वानों के प्रयत्न के फलस्वरूप बहुत से अभिलेखों का प्रकाशन और सम्पादन हो गया है।

धार्मिक साहित्य

सुमेरियन आख्यान साहित्य—सुमेरियन साहित्य का अधिकांश भाग धार्मिक और पौराणिक आख्यानों से सम्बन्धित है। इसमें **'इनन्ना का पाताल-अवतरण', 'एनलिल, निनलिल तथा चन्द्रमा की उत्पत्ति'** और **'एनकी की विश्व-व्यवस्था'** इत्यादि आख्यानों का अध्ययन हम अन्यत्र कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त सुमेरियन साहित्य में, यूनानी साहित्य के समान, बहुत से प्राचीन **वीरों** के साहसपूर्ण कृत्यों से सम्बन्धित आख्यान सम्मिलित थे। इन वीरों में **एन्मरकर, लूगलबन्द** और लूगलबन्द का पुत्र **गिल्गामेश** अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनमें भी जितनी लोकप्रियता गिल्गामेश को प्राप्त थी उतनी किसी और को नहीं।

गिल्गामेश विषयक आख्यान—गिल्गामेश एरेक के प्रथम राजवंश का पाँचवा शासक था। सुमेर में उसके साहसपूर्ण कृत्यों की बहुत सी कथाएँ प्रचलित थीं। कालान्तर में **बैबिलोनियनों ने उन्हें एक सूत्र में ग्रथित कर**

महाकाव्य का रूप दिया। आधुनिक काल में इस आख्यान का ज्ञान सर्वप्रथम असुरबनिपाल के पुस्तकालय में मिले असीरियन और दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में लिखे गए बैबिलोनियन संस्करणों से हुआ था। परन्तु उनके अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया था कि यह कथा मूलतः सुमेरियन रही होगी। पिछले कुछ दशकों में मिले सुमेरियन अभिलेखों से यह सिद्ध हो गया है कि सुमेरियन युग में गिल्गामेश आख्यान महाकाव्य के रूप में तो अस्तित्व में नहीं आ पाया था परन्तु **गिल्गामेश से सम्बन्धित बहुत सी कथाएँ** रची जा चुकी थीं। इनमें कम से कम छः कथाएँ कुछ खण्डितावस्था में उपलब्ध हैं।

गिल्गामेश आख्यान के बैबिलोनियन रूपान्तर से ज्ञात होता है कि गिल्गामेश प्रारम्भ में बहुत **अत्याचारी और कामुक नरेश** था। उसके अत्याचार से एरेक के नागरिकों को बचाने के लिए देवताओं ने **एनकीडू** नामक देव का, जो आधा आदमी और आधा वृषभ था, निर्माण किया। एनकीडू

चित्र २७ : गिल्गामेश और एनकीडू

और गिल्गामेश में युद्ध हुआ, परन्तु अन्त में दोनों मित्र बन गए। तदनन्तर दोनों ने मिलकर बहुत से साहसपूर्ण कृत्य किये। एक आख्यान में एनकीडू और गिल्गामेश पचास साथियों के साथ मिलकर एलम के **हुंबाबा नामक दैत्य का वध** करते हैं। दूसरे आख्यान में जो **'गिल्गामेश और स्वर्ग का वृषभ'** नाम से विख्यात है, इनन्ना देवी गिल्गामेश से प्रेम प्रकट करती है। वह उसे बहुत प्रलोभन देती है, परन्तु गिल्गामेश उसे उसके दुमूज़ी के प्रति विश्वासघात का स्मरण कराता है और उसकी प्रणय-याचना को ठुकरा देता है। इनन्ना क्रुद्ध होकर आकाश देव अन से कह कर स्वर्ग के वृषभ को गिल्गामेश का वध करने के लिए भिजवाती है, परन्तु गिल्गामेश वृषभ को मार डालता है। **'गिल्गामेश की मृत्यु'** आख्यान में बताया गया है कि गिल्गामेश अमृतत्व प्राप्त करने की चेष्टा करता है परन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिलती। उसे बताया जाता है कि

उसे सत्ता, प्रतिष्ठा, विजय और शौर्य सब कुछ दिया जा सकता है और दिया गया है, परन्तु अमृतत्व किसी भी मनुष्य को नहीं मिल सकता।

गिल्गामेश से सम्बन्धित एक अन्य आख्यान **'गिल्गामेश एनकीडू और पाताल'** नाम से विख्यात है। इसमें बताया गया है कि एक बार गिल्गामेश ने अपने शौर्य से इनन्ना देवी के एक प्रिय वृक्ष को दैत्यों के चंगुल से छुड़ाया था। इनन्ना ने उस वृक्ष की लकड़ी से ढोल (पक्कू) और छड़ी (मिक्कू) का निर्माण किया परन्तु पक्कू और मिक्कू पाताल लोक में गिर पड़े। इस पर उसके मित्र एनकीडू ने पाताल जाकर उनको लाने का निश्चय किया। गिल्गामेश ने उसे पाताल के लिए निषिद्-कर्म (टैबू) बताए और उससे कहा कि
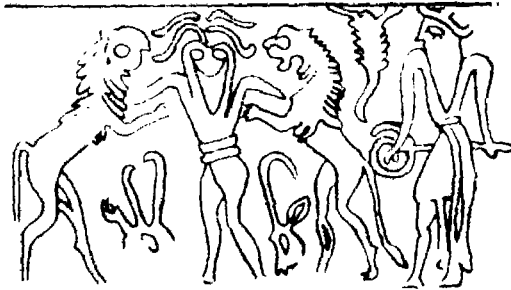
चित्र २८ : गिल्गामेश सिंहों से युद्ध करते हुए

वह वहाँ उन कर्मों से बचे नहीं तो वह वहाँ से लौटकर नहीं आ पाएगा। एनकीडू ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया। इस पर उसे पाताल में ही रह जाना पड़ा। गिल्गामेश ने एनकी से एनकीडू को छुड़ाने की प्रार्थना की। इस पर एनकी के आदेश से सूर्य देवता उतू ने पाताल में एक छिद्र किया जिसके द्वारा एनकीडू की छाया पृथिवी पर आकर गिल्गामेश से मिली। यह कथा भी 'इनन्ना का पाताल अवतरण' के समान पाताल से **मनुष्य के लौटने (रिसरेक्शन) की प्राचीनतम कथाओं में से है।**

जलप्रलय की कथा—सुमेरियनों ने स्वर्ग की कल्पना की थी, परन्तु उनके स्वर्ग में केवल देवता रह सकते थे। केवल एक व्यक्ति को स्वर्ग में रहने की अनुमति मिली। उसका नाम **ज्युसुद्र** था। एक आख्यान में, जिसे **'जलप्रलय का आख्यान'** कहा जाता है, बताया गया है कि एक बार देवता मनुष्य जाति को नष्ट करने के लिए जलप्रलय करने पर उतारू हो गये। परन्तु एनकी ने शरुपाक के रहनेवाले ज्युसुद्र नामक व्यक्ति को यह रहस्य बता दिया :

'शरुपाक के मानव, उबर्दुदु के पुत्र, घर को गिरा डाल। एक नौका बना। माल-असबाब छोड़ दे, जान की फ़िक्र कर। सम्पत्ति को लात मार और जीवन की रक्षा कर। सारे जीवों के बीज चुन ले और नौका के बीच ला रख।'

ज्युसुद्र ने एनकी के आदेशानुसार एक नौका बनाई और उसे अनेक जीवों के जोड़ो और अन्नादि से भर लिया। अपने परिवार को भी उसने इस पर चढ़ा लिया। फिर भयानक तूफ़ान आया और काले विकराल मेघ घोर वर्षा करने लगे :

'भाई-भाई को नहीं पहिचान पाता था। शून्य और आदमी में कोई अन्तर नहीं था (आदमी दिखाई नहीं देते थे)। (तब) स्वयं देवताओं को जलप्रलय से भय होने लगा—देवता कुत्तों की भाँति भय से काँप रहे थे—देवी इनन्ना प्रसव पीड़िता नारी की तरह चीख उठी···।'

जलप्रलय सात दिन तक चलता रहा। अन्त में जब देवताओं का क्रोध शान्त हुआ और ज्युसुद्र ने उन्हें बलि दी तब वे उस पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे **अमृतत्व प्रदान** किया और 'दिलमुन' पर्वत पर, जहाँ से सूर्य उदय होता है, स्थान दिया। यह आख्यान विश्व की अनेक प्राचीन सभ्यताओं में विविध रूपों में मिलता है। उदाहरणार्थ यहूदियों की बाइबिल में और भारत के शतपथ ब्राह्मण तथा मनुस्मृति नामक ग्रन्थों में। बाइबिल में जलप्लावन से विश्व की रक्षा नूह करता है और संस्कृत ग्रन्थों में मनु।

सुमेरियन आख्यानों का यहूदी बाइबिल पर प्रभाव—सुमेरियन कथा-साहित्य ने यहूदी धर्म और साहित्य को बहुत प्रभावित किया। आदि-जलतत्त्व (प्राइमेवेल सी), पृथिवी और आकाश का पृथक्करण, मिट्टी से मनुष्य का निर्माण एवं स्वर्ग, नरक, तथा पाताल से अवतरण आदि कल्पनाएँ सर्वप्रथम सुमेरियन साहित्य में मिलती हैं। बाद में हम इनको परिवर्धित और परिमार्जित रूप में यहूदी बाइबिल में पाते हैं। इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यहूदी जाति सुमेरियन साहित्य से प्रभावित हुई थी।

सुमेरियन लौकिक साहित्य

सुमेरियनों का ज्ञात साहित्य अधिकांशतः पौराणिक अथवा धार्मिक है। लौकिक साहित्य इसकी तुलना में **बहुत कम** मिलता है। उदाहरणार्थ **इतिहास-शास्त्र से वे सर्वथा अपरिचित** थे। उन्होंने कभी अपने देश, जाति अथवा राज्यों

का इतिहास लिखने का कष्ट नहीं उठाया। इस विषय में उनकी गतिविधि, तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त में, अपने प्राचीन **राजाओं की सूचियाँ** तैयार करने तक सीमित रही। लेकिन इनमें कल्पना का पुट आवश्यकता से अधिक है। **लौकिक काव्य के क्षेत्र में उनकी देन कुछ नहीं है।** उनके गीत अधिकांशतः **पूजागीत** हैं। केवल दो गीत ऐसे हैं जिन्हें प्रेमगीत कहा जा सकता है। परन्तु ये भी पूर्णतः लौकिक नहीं है। ये धार्मिक उत्सवों में खेले जाने वाले नाटकों में प्रयुक्त होते थे। सुमेरियन सम्भवतः लौकिक काव्य से परिचित ही नहीं थे। उनके साहित्यकारों का एक प्रिय विषय **विरोधी तत्त्वों के वादविवाद के द्वारा उनके गुणावगुणों को प्रकाश** में लाना था। इनमें साधारणतः दो विरोधी वस्तुएँ जैसे पशु और अनाज, गर्मी और जाड़ा, मछली और पक्षी, रजत और कांस्य, कृषक और गडरिया अपने-अपने गुणों का बखान करते हैं और प्रतिद्वन्द्वी के अवगुणों को प्रकाशित करते हैं। अन्त में कोई देवता आकर उनकी उत्पत्ति का इतिहास बताता है और दोनों के महत्त्व को समझाता है। **'इनन्ना देवी, गडरिया और कृषक'** नामक आख्यान इसका अच्छा उदाहरण है।

सुमेरियन मुहावरे और कहावतें—पिछली शताब्दी के प्रारम्भ तक पश्चिमी देशों में यहूदी बाइबिल की 'बुक ऑव प्रॉवर्ब्स' को विश्व में मुहावरों का प्राचीनतम संग्रह माना जाता था। बाद में मिस्री सभ्यता के प्रकाश में आने पर मिस्र के मुहावरों को यह श्रेय दिया गया। लेकिन आजकल, नवीन शोधों के आलोक में, यह स्वीकृत किया जाने लगा है कि वास्तव में यह श्रेय **सुमेरियन मुहावरों और कहावतों को दिया जाना चाहिए। उनके कुछ मुहावरे बहुत ही सुन्दर हैं और सर्वथा आधुनिक प्रतीत होते हैं।** उदाहरण के लिए अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए श्रम न करनेवाले व्यक्ति के लिए सुमेरियन कहते थे, 'क्या कोई बिना खाए मोटा हो सकता है'। हिन्दी में एक मुहावरा प्रचलित है 'गाय न बच्छी, नींद आए अच्छी।' इस बात को सुमेरियन इस प्रकार कहते थे, 'जिसके पास धन है वह प्रसन्न रह सकता है, जिसके पास अन्न है वह भी प्रसन्न रह सकता है परन्तु जिसके पास कुछ नहीं है वह सो सकता है'। अँग्रेजी में कहा जाता है 'ब्लड इज़ थिकर दैन वाटर'। सुमेरियन समाज में प्रचलित एक मुहावरे में, जिसका अर्थ था 'दोस्ती एक दिन की, रुधिर सम्बन्ध जन्म भर का', इसी भाव को व्यक्त किया गया था।

सुमेरियन भाषा और साहित्य का महत्त्व—सुमेरियन साहित्य और आख्यान, केवल सुमेरियन भाषा में ही नहीं बरन् सेमेटिक भाषा में

भी लिखे गये, विशेषतः अक्कादी युग में। परन्तु इनमें सुमेरियन संस्करणों को उस समय भी अधिक मान्यता प्राप्त थी। **सुमेरियन भाषा को सेमाइट भी आदरणीय और पवित्र मानते थे।** इसलिए सुमेरियन राजनीतिक शक्ति का ह्रास हो जाने पर भी सुमेरियन भाषा का शताब्दियों तक अध्ययन किया जाता रहा।

सुमेरियन कला

मुद्रा निर्माण कला

सुमेरियन व्यापारियों को पत्र और लेख इत्यादि में प्रयोग करने के लिए अपनी व्यक्तिगत मुद्राओं की बहुत आवश्यकता पड़ती थी, इसलिए पत्थर तराश कर मुद्राएँ बनाने की कला में सुमेरियन कलाकार अपेक्षया शीघ्र कुशल हो गये। मिट्टी की पाटी पर अपने हस्ताक्षर करने के स्थान पर सुमेरियन व्यापारी उस पर अपना मुद्रा-चिह्न अंकित कर देते थे, इसलिए उनकी प्रारम्भिक मुद्राएँ आधुनिक 'स्टाम्प' **मुद्राओं की पूर्वज** कही जा सकती हैं। इनका **आकार** सदैव एक-सा नहीं होता था। प्रारम्भ में ये वर्गाकार, गोल तथा अण्डाकार होती थीं। कुछ समय बाद सिलिण्डर के आकार की मुद्राएँ भी बनने लगीं। आरम्भ में मुद्राओं पर बहुधा पशुओं के चित्र बनाए जाते थे; परन्तु परवर्ती युगों में सिलिण्डर-मुद्राओं पर अधिकारी व्यक्ति का नाम और उसके

चित्र २९ : उर से प्राप्त एक मुद्रा

चित्र ३० : एक सुमेरियन मुद्रा

साथ पौराणिक कथाओं के दृश्य, जैसे गिल्गामेश का ईश्तर के वृषभ के साथ युद्ध, एटन की उड़ान तथा सिंह और वृषभ का युद्ध इत्यादि अंकित किये जाने लगे। इन मुद्राओं का **उपयोग** उसी प्रकार किया जाता था जिस प्रकार आजकल 'ब्लाटिंग रॉलर' का होता है लेकिन इनकी छाप का महत्त्व इनके अधिकारी के हस्ताक्षर के समान माना जाता था। कलात्मक दृष्टि से सुमेरियन मुद्राएँ निश्चित रूप से मिस्र और बैबिलोन की परवर्ती मुद्राओं से श्रेष्ठतर हैं। इन मुद्राओं के निर्माण में श्वेत कैल्सिडॉनी, गहरे लाल जैस्पर और काले हमेटाइट इत्यादि **बहुमूल्य पत्थरों का उपयोग** किया गया है। पारदर्शक स्फटिक की बनी मुद्राएँ भी प्राप्त होती हैं।

स्वर्णकार की कला

सुमेरियन चतुर स्वर्णकार और मूर्तिकार थे। उनकी **कला धर्म से सर्वथा असम्बद्ध और परम्पराओं के बन्धन से मुक्त थी**, इसलिए उनके कलाकार अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने में बहुत सफल हुए। सुमेरियन अस्त्र-शस्त्रों, पात्रों और अलंकारों पर चित्रित मानवों और पशुओं की आकृतियों में **कौशल और कल्पना का अद्भुत समन्वय** मिलता है। उदाहरण के लिए 'एंग्लो-अमरीकी उत्खनन अभियान' को उर नगर से जो कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं वे कलात्मक सौन्दर्य और कौशल में मिस्र की समाधियों से प्राप्त कलाकृतियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं। एक समाधि में एक राजकुमार के सिर पर स्वर्ण की भारी चादर का बना हुआ मुकुट मिला है जिस पर स्वर्णकार ने अद्भुत कौशल का प्रदर्शन किया है। इसी प्रकार की कुशलता राजकुमार की कमर में लटके हुए ठोस स्वर्ण से बने खड्ग और कोष को बनाने में दिखाई गई है। उसके पास रखे हुए स्वर्ण से बने कटोरों पर भी स्वर्णकार की निपुणता और कलात्मक अनुभव की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इसी प्रकार लगश से प्राप्त एक रजत-पात्र पर, जो सुमेरियनों द्वारा निर्मित सुन्दरतम धातुपात्र है, नक्काशी का बहुत सुन्दर काम मिलता है (चित्र ३२)। इसके बीच में एक
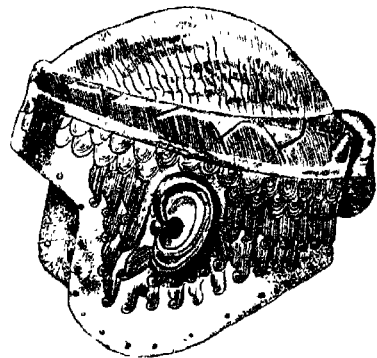
चित्र ३१ : सुमेरियन शिरस्त्राण

सिंहमुखी चील को दिखाया गया है। वह अपने पंजों में दो सिंहों को और प्रत्येक सिंह एक-एक जंगली बकरी को पकड़े हुए हैं। यह लगश राज्य का राजचिह्न था। **दो पशुओं का सन्तुलित अवस्था में चित्रण** सुमेरियनों की मुद्राओं और पाषाण-शिल्प पर भी मिलता है। कालान्तर में इसका प्रचलन अनातोलिया के माध्यम से यूरोप के विभिन्न देशों में और वहाँ से अमरीका में हुआ। इस दृष्टि से आधुनिक अमरीकी राजचिह्न लगश के राजचिह्न का वंशज कहा जा सकता है।

चित्र ३२ : लगश से प्राप्त रजत पात्र

स्थापत्य कला

प्रारम्भिक सुमेरियन स्थापत्य—सुमेरियनों की प्रारम्भिक स्थापत्य कला के कुछ सुन्दर नमूने **उर के प्रथम राजवंश की समाधियों** से मिले हैं। यहाँ एक मन्दिर के सामने चबूतरे पर **वृषभ की एक अत्यन्त ओजपूर्ण मूर्त्ति** रखी हुई मिली है। उसी के समीप द्वार पर **सिंहमुखी चील की मूर्त्ति** है जिसे हिरण के एक जोड़े पर पंख फैलाए दिखाया गया है। पाषाण पर उत्कीर्ण एक चित्र में **दुग्ध-उद्योग** (डेरी इन्डस्ट्री) **के दृश्य** अंकित हैं। उर से प्राप्त सर्वाधिक प्रसिद्ध कलाकृति **'उर की पताका'** (स्टैण्डर्ड ऑव उर) कहलाती है (चित्र २२, पृ० ६८)। इससे उस युग के शासकों के युद्धों और शान्तिकालीन जीवन पर प्रकाश मिलता है। इसमें एक स्थल पर उर के शासक को शत्रु पर विजय पाने के बाद रथारूढ़ लौटते हुए दिखाया गया है। शत्रु-सैनिक बन्दी अवस्था में घसीटकर ले जाए जा रहे हैं अथवा रथ के नीचे कुचले जा रहे हैं। उर के सैनिक पंक्तिबद्ध चल रहे हैं। एक अन्य दृश्य में सम्भवतः विजय प्राप्त होने के उपलक्ष्य में मनाए जाने वाले समारोह का अंकन है। राजपुरुष कुर्सियों पर आसीन हैं और हाथों में प्याले लिए हुए हैं। एक कोने में वीणावादन हो रहा है।
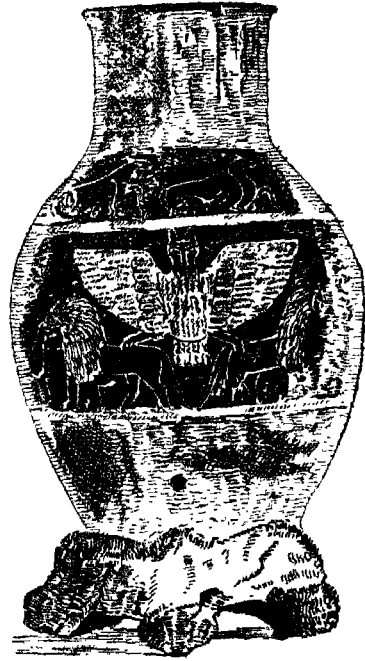
इयन्नातुम का 'गृध्र-पाषाण'—इयन्नातुम का 'गृध्र-पाषाण' (स्टेले ऑव वल्चर्स) प्रारम्भिक सुमेरियन कला का अच्छा नमूना है (चित्र ३३)। इसे
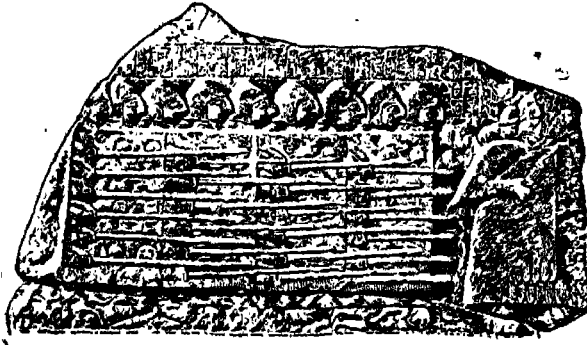
चित्र ३३ : 'गृध्र-पाषाण' का एक अंश

टेलो से द सारज़ाक ने खोद कर निकाला था। इसे लगश के शासक इयन्नातुम ने उम्मा पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में उत्कीर्ण कराया था। इसमें इयन्नातुम को गधों द्वारा चालित रथ में अपने सैनिकों का नेतृत्व करते हुए दिखाया गया है। उसके सैनिकों के सिर, जो मृत शत्रुओं के शरीरों को रौंदते हुए पंक्तिबद्ध चल रहे हैं, शिरस्त्राणों से ढँके हुए हैं। उनके सिरों के बाल शिरस्त्राणों से बाहर लटके हुए दिखाये दे रहे हैं परन्तु मुख केश रहित हैं। इसी प्रकार की वेषभूषा और सज्जा इयन्नातुम की है। पाषाण के एक अन्य भाग में निन्गिरशु देवता को लगश का राजचिह्न धारण किये हुए दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें गृध्रों को शत्रु-सैनिकों के मृत-शरीरों का भक्षण करते हुए भी प्रदर्शित किया गया है। इसीलिए इसे 'गृध्र-पाषाण' कहते हैं।

'नरामसिन-पाषाण'—तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० की स्थापत्य कला का सर्वोत्तम उदाहरण अक्कादी शासक नरामसिन के समय का है। यह 'नरामसिन-पाषाण' (स्टेले ऑव नरामसिन) के नाम से विख्यात है। इसमें नरामसिन के द्वारा लुल्लुबी नामक पर्वतीय प्रदेश के शासक सतुनी की पराजय का चित्रण है। यह प्राचीन विश्व की कलात्मक सफलता के सर्वोत्तम उदाहरणों में से एक है। इसमें नरामसिन को हाथ में धनुष-बाण लिए हुए पर्वतीय ढलानों पर चढ़ता हुआ दिखाया गया है। उसके सम्मुख सतुनी घायल होकर गिरा हुआ है और अपनी गरदन से बाण निकालने का प्रयास कर रहा है। सतुनी के पीछे त्राण माँगती हुई एक मानवाकृति है। नरामसिन के पीछे और नीचे की ओर स्थित

ढलानों पर उसके सैनिक धनुष, भाले और पताकाएँ लिए चढ़ रहे हैं। सभी को गम्भीरता परन्तु दृढ़ता के साथ चढ़ता हुआ दिखाया गया है। ऊपर सूर्य तथा नक्षत्र चमक रहे हैं। राजा के शरीर पर कवच नहीं है, परन्तु उसने शिरस्त्राण धारण किया हुआ है। **विजेता दृढ़ता और गौरव तथा अवसर की गम्भीरता को प्रकट करने में कलाकार को पूर्ण सफलता मिली है।** सेमेटिक कलाकार सुमेरियनों से कितने अधिक प्रभावित हुए थे, यह भी इससे पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है।

वास्तुकला

मकानों की योजना—वास्तुकला में सुमेरियन इतने सफल नहीं हुए जितने स्थापत्य कला में। सम्भवतः इसका कारण सुमेर में **भवन निर्माण के लिए पत्थरों का न मिलना** था। इस अभाव की पूर्ति उन्होंने मिट्टी की धूप में सूखी हुई ईंटों से की। सुमेर के **सामान्य नागरिकों के मकानों की आधार-योजना** (प्लान) बहुत सरल थी। इनके मध्य एक विशाल कक्ष **(हॉल)** रहता था, जिससे होकर अन्य कक्षों में जाया जाता था। आन्तरिक कक्षों को धूप से बचाने के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाता था। परवर्ती युगों में मध्यवर्ती कक्ष के स्थान पर खुला आँगन बनने लगा। **श्रीमन्तों के मकान** मिट्टी के टीलों पर, जो कभी-कभी ४० फुट तक ऊँचे होते थे, बनाए जाते थे। इनमें अन्दर जाने का केवल एक रास्ता रहता था, इसलिए उनके मकान एक किले के समान प्रतीत होते थे। अन्दर की दीवारों पर प्लास्टर किया जाता था। **वातायन** बहुत कम रहते थे लेकिन पानी के लिए कुएँ प्रायः बनाए जाते थे। **फर्नीचर** कम, सादा परन्तु सुन्दर होता था।

स्तम्भों और मेहराबों का प्रयोग—सुमेरियनों ने भवन-निर्माण में स्तम्भों और मेहराबों का प्रयोग आरम्भ कर दिया था। निप्पुर के उत्खनन में ३,००० ई० पू० की मेहराबें मिली हैं। **उर की राजसमाधि में प्रयुक्त मेहराब** तो सम्भवतः और भी अधिक पुरानी है। सुमेरियनों के इन आविष्कारों से अक्कादी सेमाइटों ने पूरा लाभ उठाया। एशनुन्ना नामक

चित्र ३४ : एक सुमेरियन मेहराब

स्थान में स्थानीय शासक के भवन का उत्खनन किया गया है। इसमें दो प्रांगण और आधुनिक भवनों की तरह अतिथि-कक्ष, शयन-कक्ष, मुख्य-कक्ष, प्रतीक्षा-कक्ष और शौचालय की व्यवस्था थी तथा सेवकों के लिए पृथक् कक्ष बने हुए थे। इसकी मुख्य नाली पर पक्की ईंटों की मेहराबदार छत मिली है। बहुत से अक्कादी मकानों में मिट्टी की आग में पकाकर बनाई हुई जालियाँ (चित्र ३५) और मेहराबदार दरवाजे प्राप्त हुए हैं। कुछ स्थानों पर मिट्टी की पाटियों पर मकान की आधार-योजना (प्लान) बनी हुई मिली है। इससे मालूम होता है कि मकानों को बनाने में पर्याप्त रुचि ली जाती थी और श्रम किया जाता था।
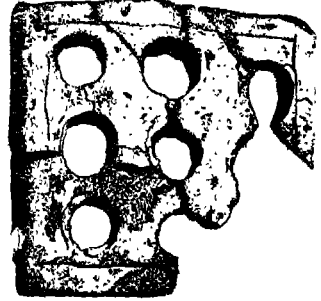
चित्र ३५ : सुमेर से प्राप्त मिट्टी की जाली

मन्दिर और जिगुरत—सुमेरियन सभ्यता के केन्द्र नगर थे और नगरों के केन्द्र मन्दिर। सुमेरियन मन्दिर वस्तुतः प्राचीर से परिवेष्टित एक विशाल
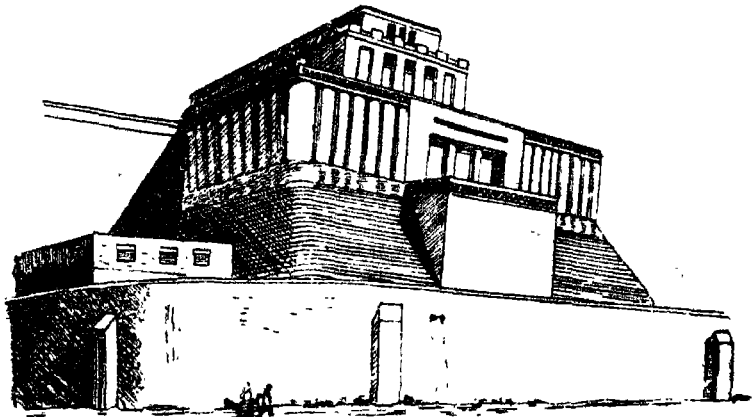
चित्र ३६ : एरिडू के जिगुरत का काल्पनिक चित्र

भवन-समूह होता था जिसमें मन्दिर के अतिरिक्त **भण्डार-गृह** और कार्यालय इत्यादि भी सम्मिलित रहते थे। इनमें सर्वप्रमुख भवन जिगुरत होता था। **'जिगुरत' शब्द का** सुमेरियन भाषा में **अर्थ** था 'पर्वत-निवास'। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि सुमेरियन मूलतः पर्वतीय प्रदेश के निवासी थे

(पृ० ४५), इसलिए उन्होंने अपने देवताओं के लिए पर्वताकार भवनों का निर्माण किया और उन्हें 'जिगुरत' नाम दिया। देवस्थान के रूप में **जिगुरत की कल्पना** वास्तव में प्रभावोत्पादक है (चित्र १६, ३६)। अभाग्यवश इनके भग्नावशेष बहुत कम प्राप्त हुए हैं, इसलिए विद्वानों में इनके वास्तविक आकार के विषय में मतभेद है। अब से कुछ दशक पहले परवर्ती बैबिलोनियन युग का एक कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) अभिलेख मिला था जिसमें बैबिलोन के प्रसिद्ध जिगुरत के, जो बाइबिल में 'टावर ऑव बेबल' (बैबिलोन की मीनार) के नाम से उल्लिखित है, आकार-प्रकार का विवरण दिया गया है। इस जिगुरत के वर्गाकार आधार और तीन सोपानों के निचले अवशिष्ट भाग का उत्खनन कोल्डीवी नामक विद्वान् ने किया। इसके अतिरिक्त एंग्लो-अमरीकी अभियान ने, जिसने प्रो० वूली के नेतृत्व में उर नगर की खुदाई की, वहाँ के जिगुरत के अवशिष्ट भागों को खोज निकाला है। इन सब साक्ष्य का अध्ययन करके कोल्डीवी और वूली ने जिगुरतों के **आकार-प्रकार की अनुमानित रूपरेखा** प्रस्तुत की है। उनके अनुसार जिगुरत साधारणतः एक ऐसा **घनाकार भवन** होता था जिसका ऊपरी भाग निचले भाग की अपेक्षा कुछ पतला रखा जाता था। कैल्डियन शासन काल में निर्मित बैबिलोन का जिगुरत ३०० फुट लम्बा, ३०० फुट चौड़ा और ३०० फुट ऊँचा था। निप्पुर में एनलिल के जिगुरत का, जो सुमेरियनों की दृष्टि में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था, बाह्यांश पक्की ईंटों का बना था। जिगुरत के अग्रभाग में **तीन सोपान** होते थे जो भवन की आधी ऊँचाई पर जाकर एक द्वार के सामने मिल जाते थे (चित्र १६, पृ० ४१)। निप्पुर के जिगुरत में ये सोपान १५० फुट ऊँचे थे। इस बात के संकेत भी मिलते हैं कि कुछ जिगुरतों में कई **समतल छज्जे** होते थे जो हरियाली से आच्छादित रहते थे। ये छोटे-छोटे उपवनों के समान शोभा देते थे। सबसे ऊपर वर्गाकार मन्दिर रहता था जिसमें एक खुला प्रांगण और उसके पीछे देवस्थान बनाया जाता था। इसमें देवता 'आकर निवास करते थे'।

विज्ञान

कृषिशास्त्र—सुमेरियन आर्थिक जीवन का आधार कृषिकर्म था। इसलिए कृषिशास्त्र में उनकी रुचि प्रारम्भ से ही थी। यद्यपि सुमेर में कृषि-साहित्य की रचना तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० में प्रारम्भ हो गई थी, तथापि इस विषय पर प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ का है। इसमें एक कृषक अपने पुत्र को कृषि से सम्बन्धित पूरे वर्ष के कामों की

शिक्षा देता है। इससे हमें ज्ञात होता है कि सुमेरियन कृषकों का **वार्षिक कार्यक्रम** क्या था। इसको सुमेरियनों का **कृषि-पञ्चाङ्ग** कहा जा सकता है। इसी प्रकार एक अन्य अभिलेख से मालूम होता है कि बागों में फलों के पौधों को धूप और वायु से बचाने के लिए उनके पास बीच-बीच में बड़े-बड़े, घनी छाया देनेवाले, वृक्ष लगा दिये जाते थे। **फलों के पौधों की रक्षा** के लिए इस विधि के प्रयोग का यह प्राचीनतम उदाहरण है।

पञ्चाङ्ग—कृषिकर्म की आवश्यकताओं ने सुमेर में बहुत-सी विद्याओं को जन्म दिया। खेतों के स्वामित्व सम्बन्धी विवादों को हल करने के लिए सुमेरियनों को भूमि की नाप करनी पड़ती थी। इससे **ज्योमिति** का जन्म हुआ। बाद में इसी से **नगरों की आधार-योजना बनाने की कला** अस्तित्व में आई। कृषिकर्म की आवश्यकता के कारण सुमेरियन समय की माप करने के लिए भी बाध्य हुए। ऋतुओं के सम्यक् ज्ञान और पञ्चाङ्ग के बिना उनके कृषकों का काम नहीं चल सकता था। समय की एक स्पष्ट इकाई **दिन और रात हैं**। लेकिन यह इकाई बहुत छोटी है। कुछ बड़ी इकाई की आवश्यकता महसूस होने पर सुमेरियनों ने **माह की कल्पना** की जिसका प्रारम्भ नये चन्द्रमा के उदय से माना गया। इसके बाद यह जान लेना कठिन नहीं था कि सब ऋतुओं में कुल मिलाकर बारह चान्द्र माह होते हैं। इससे वर्ष की कल्पना अस्तित्व में आई। परन्तु एक चान्द्र वर्ष में ३६० दिन होते थे, इसलिए दो-तीन वर्षों बाद देखा जाता था कि बारहवाँ चान्द्र माह जिस ऋतु के आगमन पर समाप्त होना चाहिए, वह उसके कुछ पूर्व ही समाप्त हो जाता है। चार-पाँच वर्षों में यह अन्तर एक माह का हो जाता था। इसलिए चान्द्र और सौर वर्षों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए वे आगामी वर्ष में एक **अतिरिक्त माह** जोड़ देते थे। सुमेरियन **संवत् का उपयोग नहीं** जानते थे। उसके स्थान पर वे प्रत्येक **वर्ष का नामकरण** उस वर्ष की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना के नाम पर कर देते थे। उसी नाम से वह वर्ष भविष्य में स्मरण किया जाता था।

अंक-पद्धति—सुमेरियनों की गणना-पद्धति **दशमलव और षष्ठिक (सेक्सा-जेसिमल) प्रणालियों का मिश्रित रूप** थी। इसमें इकाइयों और दहाइयों का प्रयोग उसी तरह किया जाता था जिस प्रकार हम अपने अंकों का करते हैं। अन्तर केवल इतना था कि वे इकाई, दहाई तथा सैकड़े के स्थान पर, परन्तु उसी क्रमसे इकाई दहाई और साठ को रखते थे। इस प्रकार उनकी अंक-पद्धति में साठ को वही स्थान प्राप्त था जो हमारी अंक-पद्धति में सौ को

है। जिस प्रकार हम ३०० को 'तीन' 'सौ' कहते हैं उसी प्रकार वे इसे 'पाँच' 'साठ' कहते थे। इसी से कालान्तर में **घण्टे को साठ मिनटों में** और मिनट को साठ सैकिण्डों में विभाजित करने की प्रथा चली। हमारे दैनिक जीवन में समय का विभाजन आज भी उसी प्रकार चला आ रहा है।

भार-प्रणाली—सुमेरियनों के भार की इकाई **'मीना'** था जो साठ **'शेकल'** के बराबर माना जाता था। एक शेकल ८.४१६ ग्राम के बराबर और एक मीना एक पौंड से कुछ अधिक होता था। साठ मीना का भार एक टेलेन्ट के बराबर माना जाता था। यह भार प्रणाली यूनानी समय तक प्रयुक्त होती रही।

चिकित्सा-शास्त्र—सुमेरियन चिकित्सा-शास्त्र मुख्यतः **जादू-टोने तक सीमित** था। क्योंकि बीमारी का कारण असत् शक्तियों को माना जाता था, इसलिए बीमार होने पर लोग वैद्य की अपेक्षा ओझा को बुलाना अधिक उचित समझते थे। फिर भी **वैद्यों** का एक वर्ग के रूप में, तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ से ही, अस्तित्व था। उर के वैद्य **लुलु** ने २७०० ई०पू० के लगभग बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इसी समय कुछ वैद्यों ने **चिकित्सा-शास्त्र को वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास** किया था। उदाहरण के लिए १९५४ ई० में तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य का एक ऐसा अभिलेख मिला जिस पर एक वैद्य के महत्त्वपूर्ण नुस्खे लिखे हैं। इसे **विश्व की प्राचीनतम भेषज-संहिता** कहा जा सकता है। इसकी विशेषता यह है कि यह विशुद्ध चिकित्सा-शास्त्र से सम्बन्धित है। सुमेर के अन्य अभिलेख जो वैद्यक से सम्बन्धित हैं, प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० के हैं। इनमें चिकित्सा-शास्त्र को जादू-टोने के साथ मिला दिया गया है। उपर्युक्त अभिलेख में जादू-टोने का संकेत भी नहीं है।

सुमेरियनों की सांस्कृतिक सफलता और उनका विश्व इतिहास में स्थान

सुमेरियन सभ्यता को विश्व की प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह निश्चित रूप से विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है। बहुत से विद्वान् तो इसे विश्व की प्राचीनतम सभ्यता मानते हैं। यद्यपि ज्ञात साक्ष्य के आधार पर सुमेरियन सभ्यता को यह श्रेय प्रदान करना विवादास्पद है तथापि केवल पश्चिमी एशिया के इतिहास की दृष्टि से सुमेरियनों को **'सभ्यता का जनक'** कहने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। ज्यों-ज्यों सुमेरियन इतिहास और सभ्यता के विषय में हमारे ज्ञान में वृद्धि होती जाती है, यह स्पष्ट होता जाता है कि जिस सफलता का श्रेय अभी तक बैबिलोनियन,

असीरियन और यहूदी जातियों को दिया जाता रहा है, उसके अधिकारी वास्तव में **सुमेरियन** हैं। उन्होंने ही सुमेर के दलदलों को सुखा कर प्राचीनतम **नगर** बसाए, **कीलाक्षर** लिपि का आविष्कार और विकास किया, **गिलगामेश जैसे वीरों की कथाओं** और 'इनन्ना का पाताल में अवतरण' आदि **धार्मिक आख्यानों** को जन्म देकर साहित्य-सृजन की परम्परा आरम्भ की तथा बौद्धिक प्रगति और व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए **पाठशालाओं** और पुस्तकालयों की स्थापना की। कीलाक्षर लिपि का आविष्कार उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन कहा जा सकता है। उनका राजनीतिक अनुभव भी श्लाघ्य था। उन्होंने न केवल **कुलीनतन्त्रीय संस्थाओं** को जन्म दिया वरन् बड़े-बड़े **साम्राज्य स्थापित** करके भावी विजेताओं के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया। आर्थिक क्षेत्र में उन्होंने बहुत से प्रयोग किए, जैसे **व्यापार में अनुबन्ध-पत्रों का उपयोग तथा करों में** सुधार आदि। **विधि-संहिताओं** की रचना भी इतिहास में पहली बार उन्होंने ही की। इसके साथ ही कला के क्षेत्र में उन्होंने अनेक प्रयोग किए। विशाल **जिगुरतों** और **महलों** का निर्माण, **स्तम्भों** और **मेहराबों** का प्रयोग, सुन्दर कलात्मक **मुद्राओं** और बहुमूल्य परन्तु मनोहर आभूषणों का निर्माण उनकी कल्पना-शक्ति और प्रबुद्ध सौन्दर्य-भावना का प्रमाण हैं।
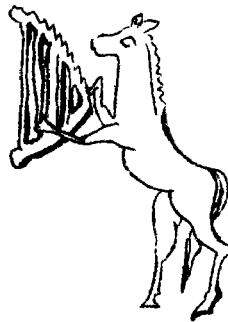
इस पृष्ठ पर दिया गया चित्र उर से प्राप्त एक मुद्रा से लिया गया है। इसमें एक अश्वसम पशु को वीणावादन करते हुए दिखाया गया है।
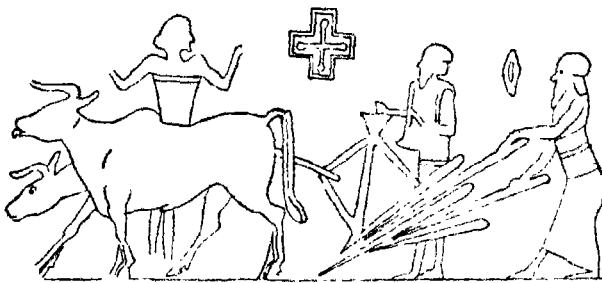
४

बैबिलोनियन इतिहास और सभ्यता

"When lofty Anu, king of the Anunnaki, and Enlil, lord of heaven and earth....appointed Marduk, son of Enki, to execute the Enlil functions over the totality of the people, made him great among the Igigi, called Babylon by its exalted name, made it surpassing(ly great) in the world.....—then did Anu and Enlil call me to afford well-being to the people, me, Hammurabi, the obedient, god-fearing prince, to cause righteousness to appear in the land...."

—*A part of the code of Hammurabi.*

राजनीतिक इतिहास

बैबिलोनियन जाति का उत्कर्ष

सुमेरियन राजनीतिक शक्ति का ह्रास—सुमेर और अक्काद के युद्धरत राज्यों में सेमाइटों के आधिपत्य में बैबिलोन का उदय **सुमेरियनों के राजनीतिक**

इस पृष्ठ के ऊपर दिया गया चित्र कसाइट युग की एक लघु पाषाण-मुद्रा पर उत्कीर्ण मिला है। इसमें तत्कालीन बैबिलोनियन हल का, जिसका प्रयोग सम्भवतः सुमेरियन युग में भी प्रचलित था, अङ्कन है। द्रष्टव्य है कि हल को तीन व्यक्ति चला रहे हैं। इनमें एक व्यक्ति हल की मूठ पकड़े हुए है। दूसरा हल की नुकीली फाल के ऊपर लगी हुई नलिका के मुँह में बीज डाल रहा है। उसकी बगल में बीजों से भरी झोली लटकी हुई है। तीसरा व्यक्ति सम्भवतः बैल हाँकने वाला है।

ह्रास तथा सेमाइटों के उत्कर्ष और निश्चित विजय का प्रतीक था। इस संघर्ष में सेमाइटों को अरब की मूल स्वजाति से बराबर जन-सहायता मिलती रही। इसके विपरीत सुमेरियन जाति की संख्या में 'शिन्नार' में बस जाने के बाद वृद्धि न हो सकी। अतएव वह सेमेटिक जाति की बढ़ती हुई बाढ़ का सामना न कर सकी और शनैः-शनैः राजनीतिक शक्ति के रूप में अपना अस्तित्व खो बैठी।

पश्चिमी सेमेटिक अथवा बैबिलोनियन जाति—सेमेटिक जाति की वह शाखा जिसने सुमेरियनों को निश्चित रूप से पराजित किया **अमरू, अमोरी** (अमोराइट), **पश्चिमी सेमेटिक, बैबिलोनियन** और **केनानी नामों** से विख्यात है। यह बैबिलोनिया में पूर्वी भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेश से आई थी। लेकिन उत्तरी सेमेटिक अथवा अक्कादी जाति के समान यह भी **मूलतः अरब की निवासिनी** थी। केनान में बस जाने के बाद इसने यायावर जीवन का परित्याग करके स्थायी जीवन अपना लिया था। पिछले ७०-८० वर्षों में पेलेस्टाइन में हुए पुरातात्त्विक शोध-कार्य से ज्ञात होता है कि केनान में इसका **आगमन** सम्भवतः ३,००० ई० पू० के कुछ पश्चात् हुआ था। वहाँ इसने पाषाण काल से निवास करने वाली अर्धसभ्य भूमध्यसागरीय जाति को पराजित करके अपना अधिकार स्थापित किया। धीरे-धीरे ये दोनों जातियाँ घुलमिल कर इतिहास में 'केनानी' और 'पश्चिमी सेमेटिक' इत्यादि नामों से विख्यात हुईं। वहाँ इनके सम्बन्ध मिस्र और सुमेर की समुन्नत संस्कृतियों से स्थापित हुए। पुरातात्त्विक अन्वेषणों से स्पष्ट है कि बैबिलोनिया पर अधिकार स्थापित करने के पूर्व ही पश्चिमी सेमेटिक जाति ने **बैबिलोनियन संस्कृति के बहुत से तत्वों को आत्मसात कर लिया था।** इसलिए जब वह आक्रमणकारी के रूप में दजला और फ़रात की घाटियों में आई तो वहाँ के निवासियों के लिए पूर्णतः अपरिचित नहीं थी।

चित्र ३९ : मिस्र से प्राप्त एक केनानी योद्धा का चित्र

पश्चिमी सेमाइटों के आक्रमण के समय सुमेर और अक्काद—जैसा कि हम देख चुके हैं पश्चिमी सेमाइटों के आक्रमण के समय **सुमेरियन और**

अक्कादी नगरों की राजनीतिक शक्ति ह्रासोन्मुख थी (पृष्ठ ५६)। इस समय तक उर के तृतीय राजवंश का अन्त हो चुका था और **एलम** ने दक्षिणी सुमेर पर अधिकार कर लिया था। केवल **ईसिन राज्य** अपनी स्वतन्त्र सत्ता को बनाए रखने का सफल प्रयास कर रहा था। कोई ऐसी शक्ति दिखाई नहीं देती थी जो पश्चिमी सेमाइटों के प्रसार को रोक सकती। सेमाइटों ने इस अवसर से लाभ उठाकर अक्काद का अधिकांश भाग जीत लिया और **बैबिलोन को अपनी राजधानी** बनाकर दक्षिणी प्रदेशों को जीतने का प्रयास करने लगे।

बैबिलोन का महत्त्व—बैबिलोन में स्वतन्त्र सेमाइट राजवंश की स्थापना से मेसोपोटामिया के इतिहास में एक नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। अभी तक बैबिलोन देश का एक प्रान्तीय नगर मात्र था और उसका देवता मर्दुक अधिक प्रसिद्ध नहीं था। परन्तु पश्चिमी सेमाइटों ने बैबिलोन को एक **महान् और विशाल साम्राज्य की राजधानी** होने का गौरव प्रदान किया। इसका प्रभाव धर्म पर भी पड़ा। जिस प्रकार ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ में राजनीतिक एकीकरण के समय मिस्र में एमन तथा रा देवताओं का तादात्म्य स्थापित किया गया, उसी प्रकार बैबिलोनियनों ने मर्दुक और सुमेरियनों के प्राचीन देवराज एनलिल की अनन्यता स्थापित की। कालान्तर में **बेल-मर्दुक की पूजा** लगभग समस्त पश्चिमी एशिया में लोकप्रिय हुई।

प्रारम्भिक बैबिलोनियन नरेश—बैबिलोन के राजवंश का संस्थापक सुमु-अबुम (लगभग २२२५ ई० पू०) था। उसके पश्चात् क्रमशः सुमुल-इलु, जबुम, इमेरुम, अपिल-सिन तथा **सिन-मुबाल्लित** ने राज्य किया। इनमें अंतिम नरेश इतिहास-प्रसिद्ध हम्मूरबी का पिता था। ये सभी शासक स्वतन्त्र थे। इन्होंने किश, सिप्पर, कुथा तथा निप्पुर नगरों पर अधिकार करके बैबिलोनियन राज्य की सीमाओं को विस्तृत किया।

हम्मूरबी

हम्मूरबी के प्रतिद्वन्द्वी—पश्चिमी सेमाइटों की शक्ति और प्रतिष्ठा को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने वाला सिन-मुबाल्लित का पुत्र हम्मूरबी (२१२३–२०८० ई० पू०) था। जिस समय हम्मूरबी सिंहासनारूढ़ हुआ, उसके अधिकार में सिप्पर से निप्पुर तक का प्रदेश, अर्थात् लगभग सम्पूर्ण अक्काद था। हम्मूरबी महत्त्वाकांक्षी नरेश था, परन्तु उसके मार्ग में दो बड़ी बाधाएँ थीं—एलम और ईसिन। उसके राज्यारोहण के पूर्व ही एलमी नरेश ने दक्षिणी सुमेर पर अधिकार कर लिया था। अब उसका पुत्र **रिमसिन** लारसा को अपनी शक्ति का केन्द्र

बनाकर सम्पूर्ण सुमेर और अक्काद को जीतने का स्वप्न देख रहा था। **ईसिन का राजवंश** हम्मूरबी और रिमसिन दोनों की सत्ता को अस्वीकृत करने के लिए कटिबद्ध था। इस प्रकार मेसोपोटामिया में बैबिलोनियन-साम्राज्य स्थापित करने के हम्मूरबी के लिए इन दोनों शक्तियों को पराजित करना आवश्यक था।

हम्मूरबी के प्रथम अभियान की असफलता—हम्मूरबी के सैनिक अभियानों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला अभियान उसके राज्यारोहण के छः वर्ष पश्चात् प्रारम्भ हुआ। ये छः वर्ष उसने आन्तरिक सुधारों, सैनिक तैयारी और मन्दिरों का निर्माण करने में व्यतीत किए। ७ वें से ११वें वर्ष तक उसने अपने **शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने का पहली बार** प्रयास किया। सर्वप्रथम उसने एरेक तथा ईसिन को जीतने की चेष्टा की। लेकिन इसके कारण उसे एलम और लारसा से भी लड़ना आवश्यक हो गया। इस संघर्ष में **हम्मूरबी को सफलता नहीं मिली**। उल्टे रिमसिन ने ईसिन, निप्पुर और एरेक पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार सम्पूर्ण **मध्यवर्ती और दक्षिणी बैबिलोनिया एलम के अधिकार में चला गया**। अब बैबिलोनिया में दो ही शक्तियाँ बचीं—दक्षिण में रिमसिन के नेतृत्व में एलमी राज्य और उत्तर में हम्मूरबी के द्वारा शासित बैबिलोन।

पराधीनता के बीस वर्ष ?—हम्मूरबी ने इसके बाद लगभग २० वर्ष तक अपने विरोधी को परास्त करने का कोई प्रयास नहीं किया। इतना ही नहीं, यह भी असम्भव नहीं है कि इस बीच में उसे कुछ समय के लिए एलम की सत्ता मानने के लिए बाध्य होना पड़ा हो। इस सम्बन्ध में **एक यहूदी अनुश्रुति से** कुछ प्रकाश मिलता है। इसमें एलम के शासक केडोरलाओमर के नेतृत्व में शिनार (बैबिलोनिया) के शासक अम्रफेल (हम्मूरबी ?), एलासर (लारसा ?) के शासक ऐरिओक और गोय्यिम (हित्ती) के शासक टीडाल के द्वारा एक संघ बनाकर यहूदी नेता अब्राहम के साथ सैनिक सम्बन्ध स्थापित करने का उल्लेख हुआ है। इस संघ का उद्देश्य विद्रोही अरब जातियों को पराजित करना था। अगर, जैसा कुछ विद्वानों का अनुमान है, यह अम्रफेल हम्मूरबी ही है तो मानना होगा कि उसने कुछ समय के लिए एलम के शासक की सत्ता स्वीकृत कर ली थी। क्योंकि **उसके शासनकाल के ११वें से ३०वें वर्ष की सामरिक गतिविधि पर उसके अभिलेख पूर्णतः मौन हैं**, अतः इस विचार को सर्वथा कल्पनाप्रसूत नहीं कहा जा सकता। फिर भी इस विषय में कुछ निश्चयपूर्वक कहना ज्ञान की वर्तमान अवस्था में सम्भव नहीं है।

दूसरा विजय अभियान सफल—हम्मूरबी ने दूसरा विजय अभियान

अपने शासनकाल के तीसवें वर्ष प्रारम्भ किया। इस बार उसे पूर्ण सफलता मिली। उसने एलम को गहरी पराजय दी, लारसा पर अधिकार कर लिया और रिमसिन को अपनी सत्ता मानने के लिए विवश किया। दक्षिण में सम्पूर्ण सुमेर पर अधिकार हो जाने से उसे पश्चिम में सीरिया और पेलेस्टाइन को जीतना आसान हो गया। उसके साम्राज्य की विशालता का अनुमान उसकी विधि-संहिता (कोड) की प्रस्तावना में दी गई उन नगरों की सूची से हो सकता है जिनको उसने धार्मिक केन्द्र होने के कारण सहायता दी थी। इसमें सर्वप्रथम देश के प्रमुखतम धार्मिक केन्द्र निप्पुर का उल्लेख है और उसके बाद प्राचीनतम केन्द्र एरिडू का। तत्पश्चात् साम्राज्य की राजधानी और मर्दुक के निवास स्थान के रूप में बैबिलोन का और उसके बाद सिप्पर, लारसा, एरेक, ईसिन, किश, कुथा, लगश, अक्काद, अशुर तथा निनेवेह इत्यादि का उल्लेख हुआ है।

हम्मूरबी की महत्ता : उसकी विधि-संहिता—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हम्मूरबी एक महान् विजेता तथा बैबिलोनियन साम्राज्य का निर्माता था। पश्चिमी सेमाइटों के इतिहास में उसे वही स्थान प्राप्त है जो अक्कादी सेमाइटों के इतिहास में सारगोन प्रथम को। परन्तु हम्मूरबी केवल एक विजेता ही नहीं था; वह एक योग्य शासक और क़ानूनवेत्ता भी था। उसकी बहुमुखी प्रतिभा परिचय हमें उसकी विधि-संहिता से मिलता है। प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र पर व्यक्तिगत दृष्टि रखने के कारण हम्मूरबी ने यह अनुभव किया कि साम्राज्य की एकता और स्थायित्व के लिए विभिन्न प्रदेशों और जातियों के क़ानूनों और प्रथाओं में समरूपता लाना आवश्यक है। अतः उसने समस्त प्राचीन रीति-रिवाजों, क़ानूनों तथा सामाजिक और व्यापारिक परम्पराओं को एकत्र संगृहीत करने की आज्ञा दी। यह कार्य हो जाने पर उसने उनको व्यवस्थित किया और उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन और सुधार करके उन्हें एक विशाल विधि-संहिता (कोड) का रूप दिया। इसको उसने ८ फुट

चित्र ४० : हम्मूरबी के संहिता-स्तम्भ का ऊपरी भाग

एक ऊँचे पाषाण-स्तम्भ पर, ३६०० पंक्तियों में, उत्कीर्ण कराया (चित्र ४०), जिसे बैबिलोन में मर्दुक के मन्दिर ए-सागिल में स्थापित किया गया। बाद में इसे एलम के शासक सूसा उठा ले गये जहाँ से फ्रेंच विद्वान् **द मोर्गां** ने इसका उद्धार किया। इस स्तम्भ के अतिरिक्त इस विधि-संहिता की मिट्टी की पाटियों पर लिखी हुई **खण्डित प्रतिलिपियाँ** भी प्राप्त हुई हैं जिनका प्रयोग सम्भवतः न्यायालयों में होता होगा।

संहिता की विशेषताएँ—हम्मूरबी की संहिता की भाषा सुमेरियन न होकर सेमेटिक है। इसमें कुल २८५ धाराएँ हैं, जो वैज्ञानिक ढंग से 'व्यक्तिगत सम्पत्ति', 'व्यापार और वाणिज्य', 'परिवार', 'अपराध' और 'श्रम' आदि **अध्यायों में विभाजित** हैं। इसकी रचना पूर्णतः **व्यावहारिक दृष्टि से** की गई थी। यद्यपि संहिता-स्तम्भ के ऊपरी भाग में सूर्य देवता को हम्मूरबी को संहिता प्रदान करते हुए दिखाया गया है (जिसका उद्देश्य संहिता को जनता में श्रद्धेय बनाना रहा होगा) और प्रारम्भिक पंक्तियों में देवताओं की स्तुति भी की गई है, तथापि इसमें दिये गए नियम और क़ानून पूर्णतः **धर्म-निरपेक्ष** हैं। वास्तव में यह संहिता हम्मूरबी के समस्त विश्व में प्रसिद्ध होने का सबसे बड़ा कारण है। सम्भवतः यह इतिहास की **प्राचीनतम विधि-संहिता है जो अखण्ड रूप में मिल जाती है**। यह ठीक है कि दुंगी की विधि-संहिता हम्मूरबी की संहिता से प्राचीनतर है और हम्मूरबी ने दुंगी की संहिता की बहुत-सी बातों को अपनी संहिता में स्थान दिया है, तथापि हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि दुंगी की संहिता प्राचीनतर होते हुए भी केवल खण्डशः प्राप्त होती है। दूसरे, हम्मूरबी की संहिता का महत्त्व नये क़ानूनों का निर्माण करने में नहीं वरन् प्राचीन क़ानूनों को एकत्र संगृहीत करने, और उनमें यथोचित सुधार करके दृढ़तापूर्वक सम्पूर्ण साम्राज्य में लागू करने में है। इस संहिता से हम्मूरबी की जन-कल्याण के प्रति रुचि और उत्साह स्पष्ट हो जाते हैं। उसके समय के अत्यधिक संख्या में प्राप्त व्यापारिक पत्र यह बताते हैं कि उसने **अपनी संहिता को व्यावहारिक रूप दिया था**। इसके विपरीत दुंगी की संहिता किस सीमा तक व्यावहारिक रूप पा सकी थी, यह कहना सर्वथा असम्भव है। हमारे पास यह विश्वास करने के लिए भी यथेष्ट कारण हैं कि हम्मूरबी की संहिता परवर्ती युगों में केवल बैबिलोनिया में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया में **समाज को व्यवस्थित करने वाली शक्ति के रूप में उपयोगी** बनी रही। इसीलिए पश्चिमी एशिया के परवर्ती शासक सारगोन के समान हम्मूरबी को भी अपना आदर्श मानते थे।

हम्मूरबी के पत्र और आज्ञाएँ—हम्मूरबी के कार्यों तथा उसकी विधि-संहिता का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उसकी **प्रतिभा बहुमुखी थी।** वह एक जागरूक, दृढ़निश्चयी, कार्यक्षम और उत्साही शासक था। उसके मिट्टी की पाटियों पर उत्कीर्ण पत्र, आज्ञाएँ और निर्णय इत्यादि, जो प्रचुर संख्या में उपलब्ध होते हैं और आजकल ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित हैं, इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। ये पत्र **विविध विषय से सम्बद्ध** हैं—जैसे 'पञ्चाङ्ग में अतिरिक्त माह जोड़ने के लिए आज्ञा', 'एक मन्दिर की आय के दुरुपयोग के आरोप की जाँच की आज्ञा', 'एरेक नगर में नहर की सफाई पूरी करने के लिए आज्ञा', 'रिश्वत लेने के आरोप के विरुद्ध अनुसंधान के लिए आज्ञा', 'कप्तान को अपने जलपोतों सहित वैबिलोन की ओर बढ़ने के लिए आज्ञा', और 'उर नगर में एक सैनिक जलपोत भेजने के लिए आज्ञा' इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि वह **व्यक्तिगत रूप से राज्य की विविध समस्याओं में रुचि** लेता था। इसके अतिरिक्त मन्दिरों का प्रबन्ध, न्याय-व्यवस्था, राजकर-संग्रह तथा धर्मोत्सवों इत्यादि पर भी उस की दृष्टि रहती थी। पशुपालन में अभिरुचि तो उसका जातीय गुण ही था। वास्तव में विधि-संहिता से भी अधिक उसके पत्र उसकी प्रतिभा और महत्ता के साक्षी हैं।

हम्मूरबी के उत्तराधिकारी और उनके पतन के कारण

सम्सु-इलुन की आरम्भिक सफलता—हम्मूरबी की संहिता से स्पष्ट हो जाता है कि उसका **साम्राज्य विशाल, सुसंगठित, सुव्यवस्थित, तथा सुशासित** था और वैबिलोनिया के सब नगर उसकी कृपा के आकांक्षी रहते थे। उसका पुत्र **सम्सु-इलुन** (लगभग २०८०-२०४३ ई० पू०) उसकी परम्पराओं को बनाए रहा। उसके पत्रों से ज्ञात होता है कि वह अपने उन राजकर्मचारियों पर जो दूरस्थ नगरों पर शासन करते थे, उसी प्रकार **कठोर नियन्त्रण बनाये रखने का प्रयत्न करता रहा।** कम से कम अपने शासन काल के **प्रारम्भिक आठ वर्ष तक** उसे इस प्रयास में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई और वह अपना ध्यान जन-कल्याण के लिए किए जाने वाले कार्यों—जैसे मन्दिरों का पुनर्निर्माण और नहरों की खुदाई इत्यादि में लगाए रख सका। परन्तु इसके बाद कठिनाइयाँ प्रारम्भ हो गई जिन्होंने न केवल उसके अपने शासन काल पर वरन् वैबिलोनियन साम्राज्य की सुरक्षा पर गम्भीर प्रभाव डाला।

कसाइटों का आक्रमण—वैबिलोनियनों के लिए प्रथम गम्भीर समस्या कश्शु या कसाइट जाति के आक्रमण से उत्पन्न हुई। कसाइट वैबिलोनिया के

पूर्व में रहते थे। वे **अश्व के सैनिक उपयोग से परिचित थे,** इसलिए उनकी गतिशीलता बैबिलोनियन सेनाओं से (जो इस पशु से अभी तक अपरिचित थीं) कहीं अधिक थी। **प्रारम्भ में हम्मूरबी के उत्तराधिकारी कसाइटों को दबाने में सफल रहे और थोड़ी-बहुत** संख्या में उन्हें बैबिलोन में बसने की अनुमति देते रहे। परन्तु धीरे-धीरे आक्रमणकारियों की संख्या बढ़ती गई। अन्त में १९२५ ई० पू० के लगभग, अर्थात् हम्मूरबी की मृत्यु के लगभग १५० वर्ष उपरान्त उन्होंने उसके वंश का अन्त कर दिया।

समुद्र-तट-राज्य की स्थापना : बैबिलोन का दूसरा राजवंश—बैबिलोन को कसाइट-संकट में फँसा देखकर हम्मूरबी द्वारा पराजित प्रदेशों ने सिर उठाना आरम्भ कर दिया। इनमें सबसे पहले एलम का नाम लिया जा सकता है। एलमी राजकुमार **रिमसिन द्वितीय** ने, जो हम्मूरबी के प्रतिद्वन्द्वी रिमसिन प्रथम का उत्तराधिकारी था, दक्षिणी बैबिलोनिया में विद्रोह कर दिया। यद्यपि इन आक्रमणों और विद्रोहों को दबाने में सम्सु-इलुन को सफलता मिली, परन्तु इससे उसकी शक्ति बहुत निर्बल हो गई जिसके फलस्वरूप उसके शासन के १२ वें वर्ष में **'सब प्रदेशों ने विद्रोह कर दिया'**। इनमें एक **विद्रोह तो स्वयं बैबिलोन में हुआ,** जिसे दबा दिया गया। किश नगर का विद्रोह दबाने में भी उसे सफलता मिली। परन्तु तीसरे विद्रोह को, जो **इलुमा-इलुम** के नेतृत्व में फारस की खाड़ी के तटवर्ती प्रदेश में हुआ (लगभग २०५८ ई० पू०) सम्सु-इलुम और उसके उत्तराधिकारी दबाने में सफल न हो सके। इलुमा-इलुम का वंश जो **बैबिलोन के द्वितीय राजवंश** के नाम से प्रसिद्ध है, इस **समुद्र-तट-राज्य** पर हम्मूरबी के वंश के अन्त के पश्चात् भी राज्य करता रहा। इस वंश के प्रारम्भिक तीन शासकों के नाम तो सेमेटिक लगते हैं परन्तु उनके बाद के नाम स्पष्टतः सुमेरियन हैं। इससे लगता है कि कुछ सन्ततियों पश्चात् वहाँ **सुमेरियनों की सत्ता** स्थापित हो गई थी। बैबिलोनिया में पश्चिमी सेमाइटों की संख्या बढ़ती जाने के कारण सुमेरियन शनैः शनैः दक्षिण की ओर हटते जा रहे थे। इससे कालान्तर में दक्षिणी समुद्र-तट-राज्य में उनका बाहुल्य हो गया और सम्भवतः उन्होंने, जैसा इस राज्य के परवर्ती शासकों के नामों से ज्ञात होता है, राज सत्ता को भी अधिकृत कर लिया। **सुमेरियनों का अपने राजनीतिक पुनरुत्थान लिए यह अन्तिम प्रयास** था। लगभग १७१० ई० पू० में जब कसाइटों ने इस वंश के अंतिम शासक **इया-गामिल** को पराजित करके समुद्र-तट-राज्य पर अधिकार किया, तब से सुमेरियनों की जीवन-शक्ति का

सर्वथा अन्त हो गया। इसके बाद सुमेरियन एक जाति के रूप में इतिहास के रंगमञ्च से धीरे-धीरे विलुप्त होने लगते हैं।

अबि-एशु : राजा की मूर्ति की पूजा की प्रथा—सम्सु-इलुन का पुत्र और उत्तराधिकारी अबि-एशु (लगभग २०४२ ई० पू०–२०१४ ई० पू०) था। उसके समय साम्राज्य की शक्ति और कम हो गई। इसका निश्चित प्रमाण उसका राजनीति से अधिक धार्मिक कृत्यों में रुचि लेना है। उसके समय से बैबिलोनियन सम्राट् मन्दिर बनवाने तथा उनको फर्नीचर आदि भेंट करने को युद्धों में विजय प्राप्त करने से अधिक गौरवशाली मानने लगे। इसके साथ ही वे देवताओं की पूजा से अधिक अपनी पूजा करवाने की ओर ध्यान देने लगे। उन्होंने बैबिलोन तथा अन्य नगरों में भव्य मन्दिर बनवाए और उनमें देव-मूर्तियों के साथ अपनी तथा पूर्वगामी राजाओं की मूर्तियाँ स्थापित कीं। सम्भवतः इसका उद्देश्य राजाओं को देवताओं के समान घोषित करना था। उनका यह कृत्य आत्मविश्वास खो देने का चिह्न माना जा सकता है।

हम्मूरबी के वंश का अन्त : हित्ती और कसाइट आक्रमण—इस वंश का अंतिम महान् शासक अबि-एशु का पुत्र **अम्मि-दिताना** (२०१४-१९७७ ई० पू०) था। उसने सार्वजनिक हित के कार्य करने के अतिरिक्त **समुद्र-तट-राज्य के विरुद्ध भी कुछ सफलता प्राप्त की**। लेकिन उसका पुत्र **अम्मि-जदुग** (१९७७-१९५६ ई० पू०) इतना योग्य न था कि अपने पिता के द्वारा प्राप्त सफलता को स्थायी बना सकता। उसके शासन काल में समुद्र तट-राज्य ने अपने खोये प्रदेशों पर पुनः अधिकार कर लिया। परन्तु हम्मूरबी के वंश को अंतिम रूप से नष्ट करने वाली शक्ति दक्षिणी समुद्र-तट राज्य नहीं वरन् एशिया माइनर की हित्ती जाति थी, जिसने अम्मि-जदुग के पुत्र **शम्सु-दिताना** के राज्यकाल (१९५६-१९२५ ई० पू०) में जो सम्भवतः इस वंश का अंतिम सम्राट था, 'सुमेर और अक्काद' पर आक्रमण किया। जैसा कि परिस्थिति से संकेत मिलता है, उसके आक्रमण से बैबिलोनियन साम्राज्य का **अन्तिम रूप से पतन हो गया**। परन्तु हित्तियों ने बैबिलोन पर स्थायी रूप से अधिकार नहीं जमाया। वे लूटपाट करके अपने देश वापस लौट गये। उनके लौट जाने पर **कसाइटों ने सुअवसर पाकर बैबिलोन पर अधिकार कर लिया**।

शासन-व्यवस्था में सुधार

सम्राट् की शक्ति में वृद्धि—हम्मूरबी ने अपने शासन काल में **सम्राट् की शक्ति को सर्वोच्च** बना दिया। प्राचीन काल से चली आई **प्रादेशिक स्वतंत्रता**

लगभग समाप्त हो गई और पुराने सुमेरियन नगरों का गौरव घट गया। उसने सैनिक सेवा को भी अनिवार्य कर दिया। उसकी संहिता से मालूम होता है कि उसके शासन काल में राज्य व्यक्ति के सामाजिक और आर्थिक जीवन में ही नहीं वरन् **पारिवारिक जीवन में भी हस्तक्षेप** करने लगा। राज-द्रोह की कोटि में आने वाले अपराधों की संख्या बढ़ा दी गई। अपराधी को पकड़ने और दण्डित करने में राजकर्मचारियों का हाथ अधिक हो गया। दण्डों की कठोरता में वृद्धि हो गई, विशेषतः शासन के विरुद्ध असंतोष बढ़ाने जैसे अपराध करने पर। इसी दृष्टि से मामूली अपराधों के लिए दिए जाने वाले दण्डों की कठोरता भी बढ़ा दी गई। उदाहरणार्थ 'बेकार घूमने' और 'सराय में असभ्य आचरण करने' पर मृत्युदण्ड मिलने लगा, क्योंकि इससे राजद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलने का भय था।

हम्मूरबी और उसके पदाधिकारी—हम्मूरबी के पत्रों से उसकी शासन-व्यवस्था के विषय में बहुत से मनोरंजक तथ्यों का पता चलता है। इससे मालूम होता है कि वह **छोटी-छोटी बातों में व्यक्तिगत रूप से दिलचस्पी** लेता था। एक राजकर्मचारी से जितना कर वसूल करने की अपेक्षा की जाती थी उतना वसूल न कर सकने पर शेषांश उसे अपने पास से जमा करना होता था। हम्मूरबी को अपने विशाल साम्राज्य के शासन प्रबन्ध के लिए कितने ही प्रकार के पदाधिकारियों की आवश्यकता पड़ती थी। इनमें **दो प्रकार के पदाधिकारी** सम्राट् को विशेष रूप से प्रिय थे। उनके मुख्य कार्य सार्वजनिक-निर्माण-कार्य की देख-भाल करना, राजकीय दासों को नियन्त्रण में रखना और कर वसूल करने में सहायता देना थे। एक प्रकार से वे राजा के व्यक्तिगत सहायक थे और किसी भी समय किसी भी कार्य को करने के लिए भेजे जा सकते थे।

न्याय और दण्ड-व्यवस्था

न्याय-व्यवस्था

राजकीय न्यायालयों का संगठन—बैबिलोनियनों के उत्कर्ष के पूर्व ही सुमेर में प्राचीन कानूनों को एकत्र, संगृहीत और व्यवस्थित करके संहिताओं के रूप में परिणत किया जा चुका था (पृ० ६९)। हम्मूरबी ने क़ानूनों को नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए एक **नई विधि-संहिता** बनाई। सुमेरियन युग में क़ानून और धर्म घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थे। न्यायालय अधिकांशतः मन्दिरों में स्थित थे और पुजारी ही न्यायाधीश बनते थे। बैबिलोनियन युग में **राज-**

कीय न्यायालय, जिनका मन्दिरों और पुजारियों से कोई सम्बन्ध नहीं था, अस्तित्व में आए। इनके न्यायाधीशों को स्वयं सम्राट् नियुक्त करते थे। इन न्यायाधीशों को मनमानी करने से रोकने के लिए नगर के कुछ वयोवृद्ध व्यक्ति उनके साथ बैठाए जाते थे। हम्मूरबी स्वयं इन न्यायालयों का निरीक्षण करता रहता था और, जैसा कि उसके पत्रों से मालूम होता है, रिश्वत लेने वाले न्यायाधीशों और राजकर्मचारियों को कठोर दण्ड देता था। जिस व्यक्ति को यह महसूस होता था कि उसके साथ न्याय नहीं हुआ, वह बैबिलोन के उच्च न्यायालय में पुनरावेदन (अपील) कर सकता था। उसके बाद उसे स्वयं सम्राट् के पास पुनरावेदन करने का अधिकार रहता था। दूरस्थ नगरों में पुनरावेदनों को सुनने के लिए हम्मूरबी ने विशेष पदाधिकारी नियुक्त किए हुए थे।

न्यायालयों की कार्यविधि सरल—न्यायालयों में वादी और प्रतिवादी को अपनी वकालत स्वयं करनी होती थी। इस युग में वकीलों के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। सरकार मुक़दमेबाज़ी कम करने का प्रयास करती थी। अगर कोई व्यक्ति किसी पर गम्भीर आरोप लगाता था और न्यायालय में उसे सिद्ध नहीं कर पाता था तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था। फिर भी मुक़दमेबाजी आसान थी, इसलिए न्यायालयों में मुक़दमों की भरमार रहती थी।

दण्ड-व्यवस्था

बैबिलोनियन दण्ड-व्यवस्था के मूल सिद्धान्त—हम्मूरबी की दण्ड-व्यवस्था में बहुत सी बातें सुमेरियन दण्ड-व्यवस्था से ली गई हैं। कुछ मामलों में सुमेरियनों का 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त हम्मूरबी की संहिता में भी मान्य है। अगर कोई मकान गिर जाता था और उसमें मकान मालिक का लड़का दबकर मर जाता था तो मकान बनानेवाले कारीगर को मृत्युदण्ड दिया जाता था। अगर कोई व्यक्ति किसी लड़की का वध कर देता था तो उस व्यक्ति को नहीं वरन् उसकी लड़की को मृत्युदण्ड मिलता था। परन्तु अन्य अनेक प्रकार के अपराधों में हम्मूरबी ने क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त को मान्यता दी है। उदाहरण के लिए अब किसी की आँख फोड़ने का अपराध करने पर अपराधी की आँख फोड़ देने के स्थान पर जुर्माना कर दिया जाता था। यह जुर्माना वादी और प्रतिवादी की सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुरूप बढ़ता जाता था। अगर अपराधी निम्न वर्ग का होता था तो उसे उससे कम दण्ड मिलता था जो उसे वही अपराध करने पर उच्च वर्ग का सदस्य होने पर दिया जाता। परन्तु जिस व्यक्ति के प्रति

अपराध किया जाता था उसके उच्च वर्ग का होने पर दण्ड की मात्रा बढ़ जाती थी। इस विषय में बैबिलोनियन क़ानून सुमेरियन क़ानून के समान था।

दण्डों की कठोरता—हम्मूरबी की दण्ड-व्यवस्था सुमेरियन दण्ड-व्यवस्था से कुछ मामलों में अधिक कठोर थी। **उन अपराधों की संख्या, जिनको करने पर मृत्युदण्ड दिया जा सकता था, बढ़ा दी गयी थी।** अब व्यभिचार, चोरी और बलात्कार करने, शत्रु के सम्मुख कायरता दिखाने 'बेकार घूमने' और 'सराय में असभ्य आचरण करने' पर मृत्युदण्ड दिया जा सकता था। इसी प्रकार पत्नी को घर का प्रबन्ध सुचारू रूप से न करने तथा अन्य पुरुष से विवाह करने के लिए पति को मरवा डालने और पुजारिणों को 'मदिरालय में जानेपर' यह दण्ड दिया जा सकता था। हम्मूरबी विश्वासघात को भी प्रमुख अपराध मानता था। सुमेरियन युग में पलायित दास को शरण देने पर केवल जुर्माना होता था और पति के लिए व्यभिचारिणी स्त्री के लिए तलाक़ तक देना कठिन होता था। परन्तु बैबिलोनियन युग में इनके लिए भी मृत्युदण्ड का विधान था। **अन्य अपराधों के लिए दिए जाने वाले दण्ड भी पहले से कठोरतर कर दिये गये** थे। सुमेरियन युग में अपने स्वामी का अधिकार न मानने वाले दास को बेच दिया जाता था। हम्मूरबी की संहिता में उसके लिए कान काट दिये जाने की सजा थी। पिता पर आक्रमण करनेवाले पुत्र और लापरवाही दिखानेवाले सर्जन के हाथ काट लिये जाते थे तथा जान बूझकर किसी नवजात शिशु को बदल देने वाली नर्स को अपने स्तनों से हाथ धोना पड़ता था।

दासों की अवस्था सुधारने के लिए क़ानून—कुछ मामलों में बैबिलोनियन क़ानून सुमेरियन क़ानूनों से अधिक उदार थे। विशेषतः दासों की अवस्था सुधारने के लिए हम्मूरबी ने कुछ क़ानून बना दिए थे। उदाहरण के लिए एक क़ानून के अनुसार ऋण के बदले में दासी हो जाने वाली स्त्रियों को चार वर्ष पश्चात् पुनः स्वतन्त्रता मिल जाती थी तथा स्वामी से दासी को सन्तान उत्पन्न होने पर स्वामी उस दासी को बेच नहीं सकता था।

बैबिलोनियन धर्म

सुमेरियन जीवन शक्ति का ह्रास और उस पर सेमाइट प्रभाव—जिस समय हम्मूरबी के नेतृत्व में पश्चिमी सेमाइटों ने, जो स्वयं सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी हुई जाति थे, मेसोपोटामिया पर अधिकार किया, सुमेरियन धर्म और संस्कृति का इतिहास एक सहस्र वर्ष से अधिक पुराना हो चुका था। अतः यह स्वाभाविक था कि वे सुमेरियन धर्म को शनैः-शनैः अपना लेते। सुमेरियन

इतिहास में एक बार ऐसा हो भी चुका था। तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य में जब सारगोन प्रथम के नेतृत्व में अक्कादी अथवा उत्तरी सेमाइटों ने सुमेर पर विजय प्राप्त की थी तो उन्होंने सुमेरियन धर्म और संस्कृति को पूर्णरूपेण अपना लिया था। लेकिन हम्मूरबी के समय तक परिस्थिति में काफी परिवर्तन हो चुका था। **सारगोन के समय** सुमेरियन जाति की जीवनशक्ति शेष थी। इस कारण अक्कादी सेमाइट सुमेरियन देवताओं और धार्मिक साहित्य का सेमेटिक रूपान्तर न कर सके। परन्तु **पश्चिमी सेमाइटों के शासन काल में** सुमेरियन जाति मरणोन्मुख हो रही थी तथा सुमेरियन भाषा एक जीवित भाषा के रूप में अपनी शक्ति खोती जा रही थी। अतः इस काल में सुमेरियन साहित्य का सेमेटिक भाषा में अनुवाद करते समय उसमें कुछ परिवर्तन करना सम्भव हो सका। पश्चिमी सेमाइटों के इस प्रयत्न के कारण **सुमेरियन और बैबिलोनियन धर्मों के तत्त्व परस्पर ऐसे घुलमिल गये कि हमारे लिए उनका अलग-अलग अध्ययन करना लगभग असम्भव हो गया है।** फिर भी इस विषय में कुछ प्रमुख तथ्यों का उल्लेख किया जा सकता है।

बैबिलोनियन देवसमूह

एनलिल और बेल-मर्दुक—सुमेरियन धर्म पर बैबिलोनियनों का सर्वाधिक प्रभाव देवसमूह की कल्पना पर पड़ा। जैसा कि हम देख चुके हैं, कि सुमेर के प्राचीन देवी-देवताओं में अन, एनलिल, एनकी (इया), नन्नार, और निन्गिरशु इत्यादि प्रमुख थे। इनमें भी **एनलिल** का स्थान सर्वोच्च था। बैबिलोनियन युग में एनलिल को **'बेल'** नाम से पुकारा जाने लगा और उसका तादात्म्य सेमाइटों के देवता **मर्दुक** के साथ स्थापित कर दिया गया। अब वह 'बेल-मर्दुक' नाम से बैबिलोनिया का सर्वोच्च देवता बन गया। इस अनन्यीकरण की समता मिस्र में सूर्यदेवता 'एमन' और 'रा' के तादात्म्य के साथ की जा सकती है।

एनुमा एलिश : मर्दुक की प्रधानता—पश्चिमी सेमाइटो के उत्थान के पूर्व मर्दुक बैबिलोन का सामान्य नगर-देवता मात्र था। अब जिस अनुपात में बैबिलोन का महत्त्व बढ़ा उसी अनुपात में **मर्दुक की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा भी बढ़ गई।** यद्यपि साधारण जनता अभी तक सुमेरियन देवताओं को ही पूजती थी, तथापि राजनीतिक प्रभुता के कारण पश्चिमी सेमाइटों के लिए राजधर्म में अपने देवता मर्दुक को प्रधानता देना और प्राचीन धार्मिक कथाओं में एनलिल का स्थान मर्दुक को दे देना सम्भव हो गया। इसका सर्वोत्तम प्रमाण **'एनुमा**

एलिश' नामक कृति है, जिसकी रचना द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० की प्रारम्भिक शताब्दियों में अक्कादी भाषा में की गई थी। इसका मुख्य पात्र बैबिलोन का देवता मर्दुक है। बाद में प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० में जब असीरिया ने पश्चिमी एशिया में अपनी सत्ता स्थापित की, तब असीरियन लेखकों ने इसमें मर्दुक का स्थान असीरिया के देवता अशुर को दे दिया और कथानक में भी आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन कर दिये। परन्तु इस आख्यान का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि **मूल कथानक में मुख्य पात्र बैबिलोन का देवता मर्दुक अथवा असीरिया का देवता अशुर न होकर निप्पुर का देवता एनलिल था।** एक तो इस आख्यान में एनलिल को, जो मेसोपोटामिया का कम-से-कम द्वितीय महानतम देवता सदैव बना रहा, कोई स्थान नहीं मिला है जब कि अन्य देवता अपने उचित पदों पर दिखाई देते हैं। दूसरे, इसमे मर्दुक का चरित्र उसके वास्तविक चरित्र के सदृश नहीं है। मर्दुक प्रारम्भ में कृषि से सम्बन्धित देवता था, जबकि 'एनुमा-एलिश' में उसे तूफान का देवता दिखाया गया है। इसमें वह पृथिवी और आकाश को पृथक् करता है। यह ठीक ही है, क्योंकि हमें आकाश और पृथिवी के मध्य स्थित वायु उन्हें अलग करती प्रतीत होती है। यह श्रेय सुमेरियन आख्यानों में एनलिल को दिया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि 'एनुमा-एलिश' का नायक प्रारम्भ में एनलिल था। बाद में जब बैबिलोन नगर देश का राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र बना, उसमें एनलिल का स्थान मर्दुक को दे दिया गया। **मूल कथानक कितना पुराना है** यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसे कम से कम सुमेरियन आधिपत्य के युग के बराबर प्राचीन अवश्य माना जा सकता है।

एनुमा-एलिश : विश्व की उत्पत्ति की कथा—इस आख्यान के प्रारम्भ में बताया गया है कि **आरम्भ में** आकाश, देवता, पृथिवी, किसी का अस्तित्व नहीं था। चारों ओर केवल जल ही जल (प्राइमेवेल सी) था। उसमें **अप्सू** (मीठा जल) **निम्मू** (अज्ञात) और **तियामत** (समुद्र) नाम के तत्त्व थे। इस जलसमूह में अप्सू से **लःमू** तथा **लहमू** दो देवता उत्पन्न हुए। **लःमू** तथा **लहमू** से **अंशार** तथा **किशर** और उनसे आकाश देव **अनु का जन्म हुआ।** अनु ने **नुदिमुत को, जो इया अथवा एनकी का दूसरा नाम था,** उत्पन्न किया। देवताओं का जन्म होने से जलसमूह को बड़ा कष्ट हुआ, क्योंकि देवता सक्रिय थे और जलतत्त्व निष्क्रिय। इसलिए देवताओं का विनाश करने के लिए अप्सू और निम्मू ने आक्रमण किया। परन्तु एनकी (इया) ने अपने मन्त्र से निम्मू को पकड़ कर क़ैद कर लिया और अप्सू का बध करके उस के शरीर पर अपना निवास-स्थान

बनाया। **यह देवताओं की असुरों पर प्रथम विजय थी**। नए निवास-स्थान पर एनकी के पुत्र **मर्दुक का जन्म** हुआ। मूल कथानाक में यहाँ एनलिल के जन्म की कथा रही होगी। जिस समय मर्दुक देवसमाज में वय प्राप्त कर रहा था, **तियामत ने** अपने द्वितीय पति किंग्सू को आक्रमण करने के लिए भेजा। देवगण इस आक्रमण से स्तम्भित रह गये। उन्होंने अनु को अपने सामूहिक अधिकार से सुसज्जित कर असुरों का सामना करने के लिए भेजा परन्तु वह असफल रहा। तब देवताओं ने इया के पुत्र मर्दुक को अपना नेता बनाया। उनकी एक सभा हुई जिसमें मर्दुक को राजा चुना गया और उसको पूर्ण शक्ति तथा अधिकार सौंप दिये गये। इस प्रकार सुसज्जित होकर मर्दुक ने असुरों पर आक्रमण किया और **किंग्सू तथा तियामत दोनों का वध कर दिया**। उसने तियामत के शरीर को काट डाला और उसके आधे भाग से **आकाश का निर्माण** करके उसे अपना निवास स्थान बनाया। इस प्रकार देवताओं ने असुरों के विरुद्ध निश्चित रूप से विजय प्राप्त की। इसके बाद मर्दुक ने देवसमूह के **आन्तरिक संगठन** की ओर ध्यान दिया। उसने पञ्चाङ्ग **(कैलेण्डर)** बनाया तथा सूर्य और चन्द्रमा का स्थान और मार्ग निश्चित किए। देवताओं को श्रम से मुक्ति दिलाने के लिए उसने किंग्सू के शरीर से **मनुष्य का निर्माण** किया। उसने **देवताओं को कई वर्गों में विभाजित किया** और उनको आकाश तथा पृथिवी पर विभिन्न स्थलों पर नियुक्त किया। देवताओं ने कृतज्ञता ज्ञापन के लिए मर्दुक के लिए एक विशाल राजप्रासाद का निर्माण किया।

ईश्तर और तामुज—पश्चिमी सेमाइटों ने मर्दुक के अतिरिक्त कई अन्य देवी-देवताओं को भी मेसोपोटामियन देवसमूह का सदस्य बनाया। जब हम किसी बेबिलोनियन देवता को ऐसी पत्नी के साथ पाते हैं जो प्रकृत्या उसी का स्त्रीरूप मालूम हो और बहुधा उसी के नाम का स्त्रीरूप धारण किये हो, जैसे 'बेल' की पत्नी **'बेलित'**, तब हम लगभग निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह देवी मूलतः सेमाइट रही होगी, सुमेरियन नहीं। बहुधा ऐसे उदाहरणों में वह देवता भी सुमेरियन न होकर बैबिलोनियन होता है परन्तु यह सदैव आवश्यक नहीं है। प्रायः यह भी देखने में आता है कि अधिकांश देवियाँ जिनका कोई देवता पति नहीं है, सुमेरियन हैं। परन्तु यह नियम भी निरपवाद नहीं है, क्योंकि **ईश्तर देवी** अकेली होते हुए भी सुमेरियन न होकर सेमाइट थी। एरेक में उसका सुप्रसिद्ध मन्दिर था। उसका कुछ सम्बन्ध सुमेरियन देवी नीना के साथ था इसका कोई संकेत नहीं मिलता, यद्यपि दोनों देवियों में पर्याप्त समानता है। ईश्तर कालान्तर में एशिया में प्रेम की देवी रूप में विख्यात हुई और

बाद में यूनान में एफ्रोडाइट तथा रोम में वीनस नामों से पूजित हुई। लेकिन मूलतः वह सीरिया अथवा केनान की देवी मालूम होती है। ऐसा लगता है कि उसका कुछ सम्बन्ध अनातोलिया की मातृदेवी से भी था, क्योंकि ईश्तर और अनातोलिया की फ्रीगियन मातृदेवी दोनों के ही पुजारी नपुंसक होते थे। अगर यह अनुमान ठीक है तो उसके प्रेमी और भाई तामुज का तादात्म्य अनातोलिया के अतिस के साथ स्थापित किया जा सकता है। सम्भवतः वह नवजीवन का प्रतीक था, क्योंकि पतझड़ के आगमन पर उसकी मृत्यु और बसन्त में पुनरुज्जीवन—ये दोनों हरियाली की समाप्ति और नवजीवन के आगमन का प्रतीक माने जा सकते हैं। **मर्दुक, ईश्तर और तामुज, ये तीनों बेबिलोनियन देवसमूह के सर्वोच्च देवता** जाते थे।

सूर्य देवता शमस—सेमाइटों के अन्य देवताओं में सूर्य देवता शमस (सुमेरियन ऊतू) की गणना की जा सकती है। उसका प्रसिद्ध **मन्दिर लारसा में** था। शमस का अर्थ **'चन्द्र देवी का अनुचर'** प्रतीत होता है। सम्भवतः उस युग में समय-गणना में चन्द्र की गतिविधियों के द्वारा सहायता मिलने के कारण चन्द्र को सूर्य से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

बैबिलोनियन देवताओं का व्यक्तित्व—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बैबिलोनियन देवसमूह सुमेरियन देवसमूह का ही रूपान्तर था। इसमें केवल कुछ नये देवताओं का समावेश हो गया था। देवताओं के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी उनकी कल्पना लगभग वैसी ही थी जैसी सुमेरियनों की। वे भी अपने देवताओं को मनुष्यों के समान अस्थिचर्म निर्मित मानते थे। उन्हें मनुष्यों के समान क्षुधा लगती थी और वे रात्रि में भ्रमण कर स्त्रियों को सन्तान प्रदान करते थे। जिस प्रकार मनुष्यों के घर और सेवक होते हैं उसी प्रकार उनके पास रहने के लिए **मन्दिर** थे और **पुजारियों के रूप में अनेक सेवक**।

बैबिलोनियन धर्म का उद्देश्य—बैबिलोनियनों का धर्म प्रकृत्या **आध्यात्मिक अथवा नैतिक** नहीं था। उसके मूल में **स्वार्थ** और भय, ये दो भावनाएँ अधिक बलवती थीं। व्यापारी और कृषक देवताओं की उपासना **भौतिक लाभ की लालसा से** करते थे। जब वे अपने पापों के लिये देवताओं के समक्ष पश्चाताप करते थे तो उनका उद्देश्य आध्यात्मिक शान्ति पाना नहीं बरन् भौतिक सुखों को प्राप्त करना होता था। इसलिए बैबिलोनियन धर्म अपने उपासकों को मुक्ति का मार्ग नहीं दिखा सकता था। बैबिलोनियन धर्म के मूल में दूसरी भावना थी **भूत-प्रेतों का भय**। बैबिलोनियन जाति देवताओं के साथ भूत-प्रेतों के अस्तित्व पर भी बल देती थी जो उनके विश्वास के अनुसार मानव

जाति को उत्पीड़ित करने के लिए अन्धकार में घूमते रहते हैं। उनका प्लेग और नरक का देवता नेरगल था जो अवसर पाते ही मनुष्यों को अपना शिकार बना लेता है।

बैबिलोनियन परलोकवाद—बैबिलोनियनों की **परलोक विषयक कल्पना का सर्वोत्तम चित्र** 'गिल्गामेश आख्यान' में मिलता है। इसमें एक स्थल पर दैवी वृषभ को मार देने के उपरान्त गिल्गामेश के मित्र एनकीडू को स्वप्न दिखाई देता है जिसमें वह **यमलोक की यात्रा** करता है :

उस सदन की ओर जहाँ प्रवेश करने के बाद कोई वापस नहीं लौटता,
उस मार्ग से जो वापस नहीं आता,
उस सदन की ओर जिसमें बसने वाले प्रकाश नहीं पाते,
जहाँ (खाने के लिए) धूल माँस है, मिट्टी रोटी है,
और जहाँ वे पक्षियों के समान परों के वस्त्र पहिनते हैं
और अन्धकार मे रहते हुए प्रकाश से वंचित रहते हैं'··

इस महाकाव्य के अन्तिम अर्थात् बारहवें खण्ड में भी, जो 'गिल्गामेश, एनकीडू तथा पाताल' नामक सुमेरियन आख्यान का बैबिलोनियन संस्करण है, परलोक का विवरण दिया गया है। इसमें गिल्गामेश अपनी वृद्धावस्था में **परलोक का रहस्य** जानने के लिए अपने मित्र एनकीडू के प्रेत का साक्षात्कार करने का प्रयास करता है। अन्त में एक देवता की सहायता भूमि में छेद होता है जिससे निकल कर एनकीडू की प्रेतात्मा गिल्गामेश से मिलती है :

'एनकीडू की प्रेतात्मा वायु की भाँति पृथिवी से निकल पड़ी।
दोनों गले मिले,
(और) क्रन्दन करते हुए बातें करने लगे।
'बता मेरे मित्र, बता मेरे मित्र,
बता, कब्र के विधान जो तूने देखे हैं'।
'नहीं बताऊँगा मित्र, तुझे नहीं बताऊँगा,
क्योंकि यदि खुद देखे हुए कब्र के विधान तुझे बता दू,
तो तू बैठा रोया करेगा'।

परन्तु गिल्गामेश के हठ करने एनकीडू को उसे बताना पड़ता है कि मृत्यु होने पर व्यक्ति की क्या हालत होती है। वह बताता है कि उसके शरीर को कीड़े उसी भाँति चाट जाते हैं जैसे वस्त्र को। केवल वही व्यक्ति परलोक में शान्ति पाते हैं जिनकी समाधि पर उनके जीवित सम्बन्धी लगातार आहार और

पेय आदि चढ़ाते रहते हैं। अन्यथा वे प्रेत बन कर सड़कों पर घूमते, मल खाते और नालियों का जल पीते रहते हैं।

बैबिलोनियन धर्म में पुजारियों का स्थान

पुजारियों पर सम्राट् का नियन्त्रण—बैबिलोनियन धर्म में भूत-प्रेतादि का अत्यधिक महत्त्व होने के कारण पुजारियों को भी प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। क्योंकि भूत-प्रेतादि से बचने के लिए जादू-टोने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था और जादू-टोने की सहायता केवल पुजारियों की कृपा से ही प्राप्त हो सकती थी, इसलिए प्रत्येक बैबिलोनियन नागरिक पुजारियों की कृपा प्राप्त करने की चेष्टा करता था। इस दृष्टि से सुमेरियन युग की तुलना में इस युग में पुजारी वर्ग अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया था। परन्तु दूसरे दृष्टिकोण से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी कुछ अवनति भी हुई थी। सुमेरियन युग में पुजारी ही बहुधा राजा बनते थे। कम से कम उनमें राजाओं के विशेषाधिकार हड़पने की प्रवृत्ति रहती थी। परन्तु बैबिलोनियन सम्राट् इस प्रवृत्ति के विरुद्ध थे। वे उन पर उसी प्रकार नियन्त्रण रखते थे जिस प्रकार अपने अन्य पदाधिकारियों पर।

बैबिलोनियन दैवज्ञ—पुजारियों का एक प्रमुख वर्ग दैवज्ञों अथवा शकुन-विचारकों का था। उनका कार्य शकुनों का अध्ययन करके यह बताना था कि किसी कार्य का फल अच्छा होगा या नहीं। इसके लिए ये यकृत-विधि (लिवर डिविनेशन) का प्रयोग करते थे, जो प्राचीन विश्व में बहुत प्रचलित थी। शकुन अच्छा होने पर ही बैबिलोनियन कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करते थे। यह प्रथा, जो सुमेरियन युग से चली आई थी, बाद में रोम में बहुत लोकप्रिय हुई। दैवज्ञ भेड़ को देवता के नाम पर बलि चढ़ाते थे। वह देवता उसके यकृत (लिवर) पर रहस्यमय चिह्नों द्वारा भविष्य का संकेत देता था। ये चिह्न देखने में बिल्कुल मामूली होते थे जैसे किसी भी भेड़ को मारने पर उसके यकृत पर दिखाई देते हैं। परन्तु उनके विश्वास के अनुसार बलि दी गई भेड़ के यकृत पर विशिष्ट चिह्न होते थे जिन्हें
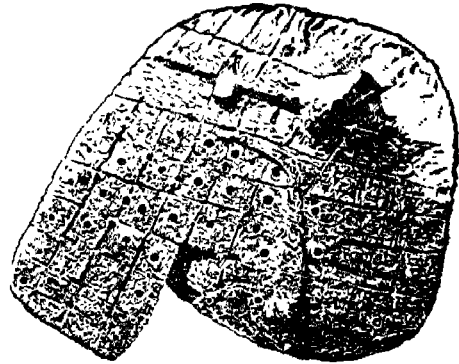
चित्र ४१ : बलि दी गई भेड़ के यकृत की बैबिलोनियन अनुकृति

केवल दैवज्ञ ही पढ़ सकते थे। विद्यार्थी दैवज्ञों को शिक्षा देने के लिए यकृत की मिट्टी से बनी अनुकृतियाँ प्रयोग में लाई जाती थीं, जिनके कुछ नमूने प्राप्त हुए हैं (चित्र ४१)। ऐसी अनुकृतियों पर यकृत के प्रत्येक भाग के चिह्नों का कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) लिपि में अर्थ लिखा रहता था।

ज्योतिषी वर्ग के कार्य—पुजारियों का दूसरा वर्ग ज्योतिषी थे जो नक्षत्रों और ग्रहों का अध्ययन करके बताते थे कि उनकी गतिविधि राज्य के लिए शुभ भविष्य का संकेत देती है अथवा अशुभ भविष्य का। इसे परवर्ती युग की असीरियन ज्योतिष-विद्या का प्रारम्भ माना जा सकता है। बाद में ग्रहों और नक्षत्रों का अध्ययन करके भविष्य का ज्ञान प्राप्त करने में विश्वास पश्चिमी देशों में भी फैल गया। ज्योतिषियों की सहायता से बैबिलोन के सम्राट् **पञ्चाङ्ग में परिवर्तन** करते थे। वे चान्द्र पञ्चाङ्ग का प्रयोग करते थे, अतः चन्द्र की गति का अध्ययन करके **माह के प्रथम दिन को निश्चित करना** और सौर वर्ष के साथ चान्द्र वर्ष का मेल बैठाने के लिए किसी-किसी वर्ष उसमें **अतिरिक्त माह जोड़ना** भी ज्योतिषियों का ही काम था। उनका तीसरा काम **वर्ष का नामकरण करना** था। बैबिलोनिया में सम्वत् का प्रयोग अभी तक प्रारम्भ नहीं हुआ था, इसलिए प्रत्येक नववर्ष का प्रारम्भ होने पर उसे एक नाम दिया जाता था। उसी नाम से वह वर्ष अपने समय में और भविष्य में जाना जाता था। बैबिलोनियन वर्षों के अधिकांश नाम धार्मिक महत्त्व के हैं, इससे स्पष्ट है कि इस नामकरण में ज्योतिषियों के परामर्श को महत्त्व दिया जाता रहा होगा।

राजनीतिक दर्शन

'राष्ट्र-राज्य' सिद्धान्त की लोकप्रियता—हम देख चुके हैं कि **सुमेरियन राष्ट्र-राज्य की** कल्पना के अनुसार देव-संसद किसी भी देवता को अपना राजा चुन सकती थी और निर्वाचित देवराज पृथिवी पर अपने नगर-राज्य के अधिकारी को अपना वायसराय बनाता था, जो अपने स्वामी देवता की आज्ञानुसार सुमेर के समस्त नगर-राज्यों को जीतकर राष्ट्र-राज्य स्थापित करता था। इस सिद्धान्त से देश के राजनीतिक एकीकरण को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला क्योंकि कोई भी विजेता, चाहे उसने भयंकरतम हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करके विजय प्राप्त की होती थी, सफल हो जाने पर एनलिल और देवराज का वायसराय मान लिया जाता था। **यह सिद्धान्त बैबिलोनियन युग में भी लोकप्रिय बना रहा, परन्तु इस बार देवताओं द्वारा मनोनीत देवराज कोई सुमेरियन देवता न होकर बैबिलोनियन देवता मर्दुक था।** जब हम्मूरबी ने उत्तरी और

दक्षिणी मेसोपोटामिया को जीत कर विशाल राष्ट्र-राज्य की स्थापना की, तब उसकी सफलता का अर्थ यह माना गया कि देव-संसद ने बैबिलोन के नगर-देवता मर्दुक को एनलिल के प्रशासनात्मक कार्यों को पूरा करने के लिए देवराज बनाया है और पृथिवी पर मर्दुक का वायसराय हम्मूरबी है। वह स्वयं अपनी विधि-संहिता की प्रस्तावना में कहता है :

"जब अनुन्नाकी के राजा महान् अनु और आकाश तथा पृथिवी के स्वामी एनलिल ने, जो देश के भाग्य का निर्णय करते हैं, एनकी के ज्येष्ठ पुत्र मर्दुक को एनलिल के सकल जनसम्बन्धी (प्रशासनात्मक) कार्यों को निष्पादित करने के लिए नियुक्त किया,

उसे इगीगी में महान् बनाया जिसका प्रशंसित नाम बैबिलोन है और जिसको विश्व में महान् और आश्चर्यजनक बनाया गया है,

और इसमें उसके लिए चिरस्थायी राजतन्त्र स्थापित किया, जिसकी नींव पृथिवी और आकाश की नींव की तरह दृढ़ है,

तब अनु और एनलिल ने मुझे, हम्मूरबी को, जो आज्ञापालक और ईश्वर भीरु राजा है, जनकल्याण के लिए, देश में न्याय स्थापित करने के लिए, कुकर्मियों और पातकियों को नष्ट करने के लिए तथा सबलों से दुर्बलों की रक्षा के लिए नियुक्त किया।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि मर्दुक एनलिल का प्रतिनिधि बना और हम्मूरबी मर्दुक का। इस उद्धरण में न्याय और व्यवस्था स्थापित करने पर अधिक बल दिया गया है। यह सर्वथा स्वाभाविक ही है, क्योंकि यह उद्धरण उस कथन का अंश है जिसे विधि-संहिता की प्रस्तावना के रूप में उत्कीर्ण किया गया था।

'राष्ट्र-राज्य' सिद्धान्त की लोकप्रियता का कारण—यद्यपि उपर्युक्त सिद्धान्त अक्कादी सेमाइटों और उर के आधिपत्य के समय ही लोकप्रिय हो चुका था, तथापि बैबिलोनियन शासकों ने इससे विशेष रूप से लाभ उठाया। अक्कादी सेमाइट सारगोन के उत्थान के पूर्व बैबिलोनिया में शताब्दियों से रह रहे थे, इसलिए वे सुमेरियनों के लिए अजनबी नहीं थे। परन्तु पश्चिमी सेमाइट बैबिलोनिया में आक्रमणकारी के रूप में निकटभूत में ही आए थे, इसलिए वे उस देश की संस्कृति से प्रभावित होने के बावजूद पूर्णतः विदेशी थे। बैबिलोनियन शासक अपनी स्थिति से पूर्णतः परिचित थे। उन्हें एक विशाल साम्राज्य को, जिसमें बहुत-सी जातियां रहती थीं, अपने नियन्त्रण में रखना था। इस उद्देश्य में उन्हें उपर्युक्त सिद्धान्त से बहुत सहायता मिली।

आदर्श राजा की कल्पना—बैबिलोनियन युग में साधारण जन राजा को देवता और राजप्रासाद को देवस्थान के समान मानते थे। उनके आदर्श राजा की कल्पना देवता की कल्पना से मिलती-जुलती थी। वे यह मानते थे कि राजा को अनु के समान पवित्र, इया के समान दयालु, सिन के समान बुद्धिमान और शमस के समान न्यायप्रिय होना चाहिए। ज्योतिष-विद्या की लोकप्रियता बढ़ने से राजा की निरंकुशता को और बल मिला। ज्योतिष में आस्था रखने वाले व्यक्ति यह विश्वास करते थे कि देवता संसार को यन्त्रवत् चलाते हैं अर्थात् संसार-चक्र कठोर भाग्य के बन्धन से बँधा हुआ है। इससे परिणाम स्वरूप अब राजा को देवता के समान दयालु के स्थान पर नियति के समान कठोर मानना आवश्यक हो गया।

नैतिक दर्शन

नवीन नैतिक समस्याएँ : मानव अधिकारों की नई व्याख्या—यद्यपि विश्व-राज्य की कल्पना तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० में बराबर बनी रही तथापि वास्तविक मानव-राज्य अधिकाधिक व्यवस्थित होता गया तथा न्याय-व्यवस्था पहले से अधिक सुचारु और सरलतर होती गई। अब अपराध करने पर दण्ड मिलना प्रायः एक निश्चित बात हो गई। इसके परिणाम स्वरूप यह सुमेरियन सिद्धान्त कि श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करके मनुष्य न्याय की आशा कर सकता है दावा नहीं कर सकता, धीरे-धीरे लोकप्रियता खोने लगा और न्याय प्राप्त करना मनुष्य का अधिकार है यह विश्वास जन्म लेने लगा। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में बैबिलोन के नेतृत्व में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना और हम्मूरबी की विधि-संहिता के आधार पर समाज की व्यवस्था हो जाने से यह विश्वास काफी सशक्त तथा लोकप्रिय हो गया। परन्तु यह विश्वास प्राचीन विश्व-दृष्टि के साथ, जिसमें न्याय को देवता की कृपा माना जाता था, मेल नहीं खाता था। अतः शनैः शनैः ऐसी नैतिक समस्याएँ, जो प्राचीन जीवन-दृष्टि और नवीन परिस्थिति के पारस्परिक विरोध का परिणाम थीं, सामने आने लगी। उदाहरणार्थ श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने पर भी मनुष्य की मृत्यु क्यों हो जाती है अर्थात् मृत्यु का औचित्य क्या है, तथा धार्मिक और सदाचारी व्यक्ति क्यों कष्ट पाते हैं—ये प्रश्न बैबिलोनियन विचारकों को आकृष्ट करने लगे।

मृत्यु का औचित्य

मृत्यु क्यों होती है? गिल्गामेश का असन्तोष—मृत्यु के विरुद्ध

मनुष्य के विद्रोह की पहली झलक हमें गिल्गामेश महाकाव्य में मिलती है। मृत्यु भारी दण्ड है। वास्तव में यह कठोरतम दण्ड है। फिर उन मनुष्यों को जिन्होंने बुरे कर्म नहीं किये हैं, **यह दण्ड क्यों मिलता है?** प्राचीन काल में **यह प्रश्न** उत्पन्न ही नहीं होता था, क्योंकि अच्छाई और बुराई दोनों ही देवताओं के अधीन माने जाते थे। परन्तु मानव अधिकारों की नई व्याख्या में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठा। गिल्गामेश महाकाव्य में इस पर विचार किया गया है। इसमें यह युक्तियुक्त विचार के रूप में नहीं वरन् **अन्याय के विरुद्ध असन्तोष की भावना के रूप में** मिलता है। इस महाकाव्य की रचना में अधिकांश सामग्री पुरातन आख्यानों से ली गई है। परन्तु अब उसे नए रूप में, नए ढंग से और नये उद्देश्य—मृत्यु की समस्या—को लेकर प्रस्तुत किया गया है। यह कथानक बारह खण्डों में विभाजित है। इसमें कहा गया है कि एरेक का शासक **गिल्गामेश अपनी प्रजा पर बहुत अत्याचार करता था।** इससे दुःखी होकर उसकी प्रजा ने देवताओं से प्रार्थना की कि वे उसके किसी प्रतिद्वन्द्वी का निर्माण करें जिससे वह उसके साथ संघर्ष में फँस जाय और जनता पर अत्याचार करने का अवसर न पा सके। देवताओं ने यह प्रार्थना स्वीकृत करके **एनकीडू का निर्माण** किया। परन्तु एनकीडू गिल्गामेश को मारने में असफल रहा और उसका मित्र बन बैठा। बाद में दोनों वीरों ने मिलकर बहुत से साहसपूर्ण कार्य किये जिनमें एनकीडू द्वारा एलम के दैत्य **हुंबाबा का बध** करना भी था। उनका दूसरा महत्त्वपूर्ण कृत्य था स्वर्ग के वृषभ का वध। एक बार ईश्तर नामक देवी गिल्गामेश से प्रेम करने लगी परन्तु गिल्गामेश ने उसके प्रणय-निवेदन को ठुकरा दिया। इस पर ईश्तर ने स्वर्ग के वृषभ को उसका बध करने के लिए भेजा। लेकिन **उस दैवी-वृषभ को भी दोनों योद्धाओं ने मिलकर मार डाला।** उसके सींगों से उन्हें साठ मन तेल मिला जिसे उन्होंने रत्नद्वीपों में डालकर लूगलबन्दा के मन्दिर में जलाया। इस विजय से उनकी शक्ति असीम प्रतीत होने लगी। परन्तु उसी रात एनकीडू ने स्वप्न देखा कि एनलिल ने यह निर्णय किया है कि दैवी-वृषभ को मारने के दण्डस्वरूप उसकी (एनकीडू की) मृत्यु हो परन्तु गिल्गामेश जीवित रहे। अस्तु, अजेय **एनकीडू बीमार पड़ा और मर गया।** अभी तक गिल्गामेश मृत्यु को अनिवार्य समझता आया था। हुंबाबा के विरुद्ध युद्ध करते समय जब एनकीडू का साहस छूटने लगा था तब उसने एनकीडू को समझाया था कि मृत्यु अपरिहार्य है। जब मनुष्य को मरना ही है तो उसे एक शानदार मौत मरना चाहिए जिससे मृत्यु के बाद उसकी ख्याति बनी रहे। परन्तु एनकीडू की मृत्यु होने पर उसने मृत्यु के नग्न और

कठोर रूप को, जिसे वह अभी तक अप्रत्यक्ष रूप से जानता था, प्रत्यक्ष रूप से देखा :

> '''यह कैसी नींद है जिसने तुम्हें जकड़ लिया है,
> तुम पर कालिमा छा गई है, और तुम मेरी आवाज नहीं
> सुन सकते !'
> उसने अपने नेत्र नहीं उठाए।
> (गिल्गामेश ने उसके हृदय का स्पर्श किया)
> तब उसने अपने मित्र को वधू की तरह ढक दिया।
> बार बार वह अपने मित्र की ओर लौटा,
> अपने बालों को उखाड़ते हुए, अपने जूड़े को बिखेरते हुए,
> और अपने शरीर के वस्त्रों को फाड़ते हुए'''

गिल्गामेश के लिए अपने मित्र का निधन असह्य हो गया। वह उसकी मृत्यु को सत्य मानने से इन्कार देता है :

> '''जिसने मेरे साथ सब संकटों में भाग लिया,
> उसे मनुष्य के भाग्य ने पराजित कर दिया है !
> उसके लिए मैं रात दिन रोया हूँ,
> मैंने उसे सात दिन और सात रात दफ़न नहीं होने दिया,
> (शायद) मेरा मित्र मेरी चीत्कार सुनकर उठ खड़ा हो,
> जब तक कि उसकी नाक से एक कीड़ा न गिर गया'''

मृत्यु के इस अनुभव से प्रताड़ित होकर गिल्गामेश ने अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य अमरत्व प्राप्त करना बना लिया। वह मृत्यु-समुद्र के पार पृथिवी की सीमा पर रहनेवाले अमर-मानव उत्तनपिश्तिम (ज्युसुद्र) के पास गया। मार्ग में उसने उन भयानक पर्वतों को पार किया जिनकी रक्षा वृश्चिक-मानव (जिनके सिर और धड़ मनुष्य के, टाँगे पक्षियों की तथा डंक बिच्छू के थे) करते थे। इसी समय उसे समुद्र की गहराइयों में रहनेवाली मधुबाला मिली जिसने उसे समझाया :

> गिल्गामेश तू कहाँ घूम रहा है,
> (अमर) जीवन जिसे तू खोजता है कहीं नहीं पा सकता,
> क्योंकि देवताओं ने जब मनुष्य का सृजन किया
> मृत्यु को उसके लिए छोड़ दिया,
> और जीवन को अपने हाथ में रखा।

और देख, गिल्गामेश, तू अपना पेट भर।
दिन और रात ऐश कर।
यही, यही आदमी की किस्मत है...

परन्तु गिल्गामेश अपनी खोज में बढ़ता गया। अन्त में वह उत्नपिश्तिम से मिला और उससे अमर-जीवन का रहस्य पूछा। परन्तु उत्नपिश्तिम ने उसे बताया कि उसे अमरत्व ऐसी विचित्र परिस्थिति में मिला था जिसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। उसने बताया कि एक बार देवताओं ने मानव जाति को नष्ट करने के लिए जलप्रलय किया। लेकिन भाग्यवश उसे एनकी से उसकी पूर्व-सूचना मिल गई। उसने इस सूचना का लाभ उठाया और एक बड़ी नाव बनाकर अपनी स्त्री और अन्य चेतन वस्तुओं के जोड़ों को बचा लिया। सात दिन तक जलप्रलय चलता रहा। बाद में देवताओं को अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। जलप्रलय समाप्त होने पर उत्नपिश्तिम ने उन्हें बलि दी। भूखे देवता बलि पर टूट पड़े। उन्होंने प्रसन्न होकर उसे पृथिवी पर जीवन की रक्षा करने के पुरस्कार स्वरूप अमरत्व प्रदान किया। यह परिस्थिति थी जिसके कारण उत्नपिश्तिम को अमरत्व मिल पाया था। स्पष्टतः इस प्रकार की घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। उत्नपिश्तिम की इस कथा को सुनकर गिल्गामेश निराश हो गया। लेकिन तभी अपनी पत्नी के आग्रह करने पर उत्नपिश्तिम ने उसे समुद्र की तह में उत्पन्न होनेवाले एक पौधे के विषय में बताया :

...'उसके काँटे तेरे हाथ में गुलाब के काँटों की भाँति चुभेंगे।
फिर भी यदि तू उस औषधि को पा लेगा तो जीवन (अमृत) को पा लेगा।'
गिल्गामेश ने यह सुनकर कमरबन्द कसा और पैरों में भारी पत्थर बाँधे।
वे उसे गहरे तल में खींच ले गए जहाँ उसने वह औषधि देखी।
तब उसने वह पौधा उखाड़ लिया (और) उसके काँटे उसके हाथों में चुभ गए।

पौधे को प्राप्त करके गिल्गामेश एरेक वापस लौटा। ६० घंटे लगातार चलने के बाद वह थक गया और उसे एक सरोवर के किनारे रखकर स्नान करने लगा। लेकिन तभी अवसर पाकर एक सर्प ने उस पौधे को चुराकर खा लिया। इसीलिए सर्पों की मृत्यु नहीं होती। जब वे वृद्ध हो जाते हैं तो अपनी केंचुली छोड़कर नया शरीर प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु मानव जाति सदैव मृत्यु के

चंगुल में फँसी रहती है। सम्भवतः इसीलिए लगभग सभी प्राचीन जातियों में यह विश्वास प्रचलित था कि अमरत्व का रहस्य सर्प को ज्ञात है। इस दुर्घटना से निराश होकर :

> गिल्गामेश बैठ गया और रोने लगा,
> उसके कपोलों पर आँसुओं की धारा बहने लगी।
> 'किसके लिए मैंने अपने हृदय का रक्त सुखाया है ?
> मैंने अपना कुछ भला नहीं किया;
> केवल धूल के नृशंस जीव (सर्प) का भला किया...'

इस प्रकार **गिल्गामेश की खोज का असफल और दुःखद अन्त हुआ और मृत्यु की समस्या यथावत बनी रही।** हाल ही में मिली इस महाकाव्य की एक प्रति से ज्ञात होता है कि **गिल्गामेश को भी अन्ततः मरना पड़ा था।** उसने मर कर परलोक के न्यायाधीशों में स्थान पाया।

सदाचारी व्यक्ति क्यों कष्ट पाते हैं ?

मृत्यु की समस्या से अधिक युक्तियुक्त समस्या है अच्छे कर्म करने वाले व्यक्तियों का कष्ट पाना। **सुमेरियन युग में** यह विश्वास किया जाता था कि मानवीय कष्टों का कारण अशुभ आत्माओं का प्रकोप है और उससे बचने का उपाय है देवताओं की कृपा प्राप्त करना। परन्तु देवताओं की कृपा श्रेष्ठ अर्थात् अनुशासित जीवन व्यतीत करने पर अवश्य मिलेगी, इसे कोई व्यक्ति निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता था। **बैबिलोनियन युग में** यह विश्वास किया जाने लगा कि न्याय प्राप्त करना मनुष्य का अधिकार है। इसलिए अब यह विचार उत्पन्न हुआ कि जो मनुष्य बुरे कर्म नहीं करते, देवताओं को उन्हें कष्टों से अवश्य बचाना चाहिए। परन्तु ऐसा सदैव नहीं होता। बहुधा सुकर्मियों को भी हम कष्ट पाते देखते हैं। इसका क्या कारण है ?

'लुडलुलबेल नेमकी'—इस समस्या पर विचार करनेवाली कृतियों में 'लुडलुलबेल नेमकी' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसे **यहूदियों की 'बुक ऑव जॉब'** का मूल कहा जा सकता है और 'बैबिलोनियन जॉब' नाम से यह प्रसिद्ध है भी। इस कविता का नायक एक सदाचारी व्यक्ति है। उसने कोई बुरे कर्म नहीं किए हैं, परन्तु इसके बावजूद वह संसार के सबसे गम्भीर कष्टों से पीड़ित है :

> ...'अलु रोग ने मेरे शरीर को वस्त्र की तरह ढक लिया है,
> निद्रा ने अपने जाल में मुझे फँसा लिया है,
> मेरे नेत्र खुले हुए हैं, पर देख नहीं सकते,

मेरे कान खुले हैं पर सुन नहीं सकते,
निर्बलता ने मेरे शरीर को जकड़ा हुआ है...

इस प्रकार उसे बहुत से कष्ट मिलते हैं। देवताओं ने उसे छोड़ दिया है। उसकी अपनी देवी भी उसे सान्त्वना नहीं देती। सब उसे जीवितावस्था में ही मृत समझते हैं। उसके शत्रु प्रसन्नता से फूले नहीं समाते। इस तरह **सुकर्मा परन्तु दुःख उठाने वाले व्यक्ति की समस्या** रखी गयी है। इस समस्या के **दो समाधान** इस रचना में दिये गये हैं—एक बौद्धिक, दूसरा भावात्मक। **बौद्धिक उत्तर** में कहा गया है कि मनुष्य एक क्षुद्र प्राणी है; उसकी दृष्टि सीमित है, इसलिए वह देवताओं के रहस्य को नहीं समझ सकता। उसे यह अधिकार नहीं है कि वह अपने नैतिक मानदण्ड को दैवी मानदण्ड के समान मानकर देवताओं पर उनके कार्यों के लिए क्रोध करे। परन्तु मनुष्य केवल बौद्धिक उत्तर से ही सन्तुष्ट नहीं होता, इसलिए समस्या का **भावात्मक उत्तर** भी दिया गया है। इनमें कहा गया है कि देवताओं में विश्वास करो, उनकी कृपा अवश्य होगी। स्वयं कथानक के नायक को अन्त में कष्टों से स्वतन्त्रता मिल जाती है।

शिक्षा और साहित्य

बैबिलोनियन शिक्षा

मन्दिरों में व्यापारियों के दफ्तरों और राजकार्यालयों में काम करने के लिए लिपिकों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए सुमेरियन युग के समान बैबिलोनियन युग में भी विद्यालयों की व्यवस्था थी। ये **विद्यालय मन्दिरों में स्थित होते थे अथवा उनसे सम्बद्ध** रहते थे। हम्मूरबी के समय के एक विद्यालय के भग्नावशेष उत्खनन में प्राप्त हुए हैं। इनमें चार सहस्र वर्ष पुराने विद्यार्थियों की '**अभ्यास-पुस्तिकाएँ**' मिली हैं। इनसे पता चलता है कि बैबिलोनियन शिक्षक विद्यार्थी को पहले मिट्टी की स्लेट पर नरकुल की क़लम से कीलाक्षर (क्यूनीफ़ॉर्म) लिपि के चिह्न बनाना सिखाते थे और उसके बाद शब्द, वाक्य-रचना तथा मुहावरे इत्यादि। एक विद्यार्थी की 'पुस्तिका' पर एक मुहावरा लिखा मिला है : 'जो सुन्दर लेख लिखने में निपुणता प्राप्त करेंगे वे सूर्य के समान चमकेंगे।'

कथा साहित्य

अनुवाद कार्य **:** गिलगामेश महाकाव्य—सुमेरियन साहित्य का सेमेटिक भाषा में रूपान्तर अक्कादी युग में ही प्रारम्भ हो गया था। बैबिलोनियनों ने

इस कार्य को जारी रखा। उनके शिक्षकों तथा लिपिकों ने प्राचीन सुमेरियन पुस्तकों का अध्ययन करने के लिए सुमेरियन शब्दों तथा भाव-चित्रों की सेमेटिक भाषा में अनुवाद सहित सूचियाँ तैयार कीं। इनको विश्व के प्राचीनतम शब्द-कोष कहा जा सकता है। इनका प्रयोग असीरियन तथा कैल्डियन समय तक चलता रहा। इसके अतिरिक्त उन्होंने सुमेरियन धार्मिक साहित्य, खगोल-विद्या तथा ज्योतिष सम्बन्धी ग्रंथों को संकलित और अनूदित किया। इस अनुवाद-कार्य में उन्होंने यत्र-तत्र अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय भी दिया है। उदाहरणार्थ उन्होंने सुमेरियनों की गिल्गामेश से सम्बद्ध कथाओं को अपनाया परन्तु उनको एक सूत्र में ग्रथित करके बारह खण्डों के एक महाकाव्य का रूप दे दिया। उसको कलात्मक सौन्दर्य प्रदान करने के लिए उन्होंने मूल कथाओं में यत्र-तत्र परिवर्तन किए तथा जलप्रलय और उत्नपिश्तिम (सुमेरियन ज्युसुद्र) के अमरत्व पाने की कथा को, जिसका गिल्गामेश आख्यान से मूलतः कोई सम्बन्ध नहीं था, 'गिल्गामेश द्वारा अमरत्व की खोज' कथा के साथ संयुक्त कर दिया। इसी प्रकार 'गिल्गामेश, एनकीडू तथा पाताल' कथा को, मूल कथा के साथ असम्बद्ध होने के बावजूद बारहवें खण्ड के रूप में जोड़ दिया। इस महा-काव्य के १२ खण्ड हैं, इसलिए हेनरी रॉलिन्सन ने इसे 'सौर-आख्यान' (सोलर-मिथ) माना है क्योंकि, उनके विचार से, बारह खण्ड बारह महीनों के सूचक हैं और सूर्य का वर्ष के बारह महीनों से स्पष्ट सम्बन्ध है। परन्तु जैसा एल० डब्ल्यू० किंग ने कहा है, गिल्गामेश आख्यान का बारह खण्डों में विभाजन इसके लोकप्रिय होने के बाद किया गया था, इसलिए यह मूलतः सौर-आख्यान नहीं हो सकता। कारण जो कुछ भी रहा हो, यह निश्चित है कि दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में यह महाकाव्य समस्त पश्चिमी एशिया में लोकप्रिय हो गया था और इसके हुर्री तथा हित्ती भाषाओं में अनुवाद किये गये थे। असीरियन समाज में भी यह खूब लोकप्रिय था। यूनानी वीर गाथाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ा, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं।

गिल्गामेश महाकाव्य की लोकप्रियता के कारण—गिल्गामेश आख्यान की लोकप्रियता का कारण केवल इसके कथानक का आकर्षक होना ही नहीं वरन् मानव जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होना भी है। यह सुमे-रियनों और बैबिलोनियनों की ऐसी एकमात्र महत्त्वपूर्ण कृति है जिसका नायक मनुष्य है। यह ठीक है कि इस कथा में देवता भी भाग लेते हैं और खुद गिल्गामेश कभी-कभी दैवी शक्ति सम्पन्न प्रतीत होता है, तथापि इसके महत्त्वपूर्ण भाग में गिल्गामेश मनुष्य के ही रूप में रहता है। उसको घृणा और प्रेम, रुदन

और आनन्द तथा आशा और निराशा आज भी इस ग्रन्थ के पाठकों के मन को छू लेते हैं। इसके पात्रों में वे सभी गुण, दुर्बलताएँ और कामनाएँ मिलती हैं जो साधारण मनुष्य में पाई जाती हैं। गिलगामेश की यशेच्छा और मृत्यु से भय, एनकीडू का मित्र के प्रति सद्भाव और स्वामीभक्ति तथा ईश्तर की प्रेमाकांक्षा और प्रतिशोध की भावना आधुनिक पाठकों को उसी तरह प्रभावित करते हैं जिस प्रकार तीन-चार सहस्र वर्ष पूर्व पश्चिमी एशियाई पाठकों को करते थे। इसी गुण के कारण इसको प्राचीन पश्चिमी एशिया की महानतम कृति माना जाता है।

'ईश्तर का पाताल अवतरण' आख्यान—बैबिलोनियनों ने सुमेरियन आख्यानों का बैबिलोनियन रूपान्तर करते समय सुमेरियन देवी-देवताओं का स्थान अपने देवी-देवताओं को दिया। इसका सब से अच्छा उदाहरण 'ईश्तर का पाताल अवतरण' आख्यान है। सुमेरियन युग में यह आख्यान 'इनन्ना का पाताल अवतरण' नाम से विख्यात था (पृ० ८१)। बैबिलोनियन युग में इसका रूपान्तर करते समय इनन्ना देवी का स्थान ईश्तर को दे दिया गया। इसके अतिरिक्त इसके कथानक में भी यत्र-तत्र परिवर्तन कर दिया गया। इसमें ईश्तर अपने पति तामुज (सुमेरियन दुमूज़ी) को धोखे से मारकर पाताल नहीं भेजती वरन् उसके मर जाने पर उसकी खोज में पाताल जाती है। पाताल के सात द्वार हैं। प्रत्येक द्वार का रक्षक उसके आगमन की घोषणा करता है और उसका एक वस्त्र उतार लेता है। अन्त में ईश्तर पूर्णतः नग्न रूप में इरेसकीगल (पाताल की रानी) के सम्मुख पहुँचती है। इरेसकीगल उसका मजाक उड़ाती है। ईश्तर को क्रोध आ जाता है। इरेसकीगल ईश्तर को भयानक रोगों में लिप्त कर देती है। इधर प्रेम की देवी ईश्तर की अनुपस्थिति में यौन कृत्यों के रुक जाने के कारण पृथिवी पर सृजन कार्य रुक जाता है। विश्व के विनाश का भय देख कर देवता ईश्तर को पाताल के बन्दी जीवन से मुक्त कराने का प्रयास करते हैं। अन्त में इरेसकीगल प्रसन्न होकर ईश्तर को अमृत छिड़ककर पुनरुज्जीवित कर देती है और तामुज के साथ उसे पृथिवी पर वापस भेज देती है। उसके लौट आने से पृथिवी पर सृजनकार्य पुनः आरम्भ हो जाता है।

यह कथा बैबिलोन में बहुत लोकप्रिय थी। प्रतिवर्ष वहाँ की जनता ईश्वर और तामुज के लिए उसी प्रकार विलाप करती थी जिस प्रकार मुसलमान मुहर्रम के दिनों में अली के लिए करते हैं।

'एनुमा एलिश' : जगत् की उत्पत्ति का आख्यान—बैबिलोन में एनुमा एलिश अर्थात् 'जगत् की उत्पत्ति' आख्यान (ईपिक ऑव क्रीयेशन) भी बहुत लोकप्रिय था (पृ० १२४)। इसमें लगभग १००० पंक्तियाँ हैं, जो

सात पाटियों पर उत्कीर्ण मिली हैं। इसको **एक नाटक के रूप में** वर्ष के पहिले महीने निशान के प्रथम ११ दिनों में मनाए जाने वाले नववर्षोत्सव में खेला जाता था। इसमें बैबिलोनियन नरेश व्यक्तिगत रूप से भाग लेते थे। उत्सव के चौथे दिन सर्वोच्च पुजारी इस आख्यान का पाठ करता था।

अन्य लोकप्रिय कथाएँ—बैबिलोन के अन्य प्रसिद्ध आख्यानों में 'भाग्य-लेख', और 'एटन गडरिए' तथा 'अदप मछुए' की कथाएँ उल्लेखनीय हैं। **'भाग्य-लेख' (टैब्लेट्स ऑव डेस्टिनी) आख्यान** के अनुसार मनुष्यों और देवताओं का भाग्य कुछ पाटियों पर लिखा हुआ था। ये पाटियाँ तियामत (अथर्ववेद में उल्लिखित 'तैमात') के अधिकार में थी। मर्दुक ने उन्हें तियामत से छीन लिया, परन्तु तभी **जू-बिर्द** नामक एक दैत्य ने उन्हें चुरा लिया। अन्त में शमश ने जू-बिर्द को पकड़ कर उन पाटियों का उद्धार किया। **एटन गडरिये की कथा** में बताया गया है कि एक बार एटन की सब भेड़ें बन्ध्या हो गईं। तब एटन एक चील की पीठ पर चढ़ा और जीवन की जड़ी की खोज में आकाश में उड़ा। उसने देवताओं को सिंहासनों पर बैठे देखा। जब वह ईश्तर के निवास की खोज में और ऊपर उड़ा और अपने लक्ष्य के समीप पहुँचा तो उसे पृथिवी पर ढकेल दिया गया। यह **मानव के आकाश में उड़ने की सबसे प्राचीन कहानी है। अदप मछुए की कथा** में आया है कि एक बार दक्षिणी हवा की देवी ने उसकी नौका उलट दी। तब अदप ने क्रोधित होकर उस देवी के पंख तोड़ डाले। इसके परिणाम स्वरूप उसे आकाशदेव के सम्मुख उपस्थित होना पड़ा। अन्त में देवता का क्रोध शान्त हो गया और उसने अदप को जल और रोटी दीं जिन्हें खाकर वह अमर हो जाता। परन्तु अदप को सन्देह हो गया और उसने भोजन करने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार उसने अपने **अमर होने का अवसर खो दिया।**

देवस्तोत्र और पूजागीत आदि—बैबिलोनिया के धार्मिक साहित्य में आख्यानों के अतिरिक्त **देवस्तोत्रों, पूजागीतों** और भूत-प्रेत भगाने के **मन्त्रों** इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें भी स्तोत्रों की संख्या सबसे अधिक है। मर्दुक, ईश्तर, तथा शमश के लिए कहे गए कुछ स्तोत्र तो वस्तुतः प्रशंसनीय हैं। कुछ बैबिलोनियन गीतों में उपासक अपने पापों को स्वीकृत करते हुए अत्यन्त हृदयस्पर्शी भाषा में देवताओं से क्षमा प्रार्थना करते हैं। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है :

"मैं तेरा स्मरण करता हूँ (ईश्तर), मैं,
तेरा अभागा, व्यथित, रुग्ण दास !

मेरी ओर देख, मेरी देवी, मेरी प्रार्थना स्वीकृत कर,
मुझ पर दया-दृष्टि डाल, मेरी विनय सुन !
मुझे मुक्ति दे, मेरी आत्मा को शान्ति दे,
मुक्ति (दे) मेरे पतित शरीर को, मेरे अशान्त शरीर को,
मुक्ति (दे) मेरे रुग्ण हृदय को जो अश्रुओं (और) उच्छ्वासों से भरा हुआ है,
मुक्ति (दे) मेरी अभागी अँतड़ियों को, मेरी अशान्त अँतड़ियों को,
मुक्ति (दे) मेरे दुःखी परिवार को, जो करुण स्वर में विलाप कर रहा है,
मुक्ति (दे) मेरी आत्मा को जो अश्रुओं (और) उच्छ्वासों से आर्द्र है !

लौकिक साहित्य—बैबिलोनियनों का लौकिक साहित्य **अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं** है। उनके राजाओं ने मिट्टी की पाटियों और पाषाण-स्तम्भों पर **अभिलेख** अवश्य उत्कीर्ण कराए जिनमें उनकी सफलता का वर्णन किया गया है, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से ये परवर्ती युगों के हित्ती और असीरियन राजकीय अभिलेखों के समान महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

आर्थिक जीवन

राज्य और आर्थिक व्यवस्था

सुमेरियन युग के 'धार्मिक समाजवाद' का अन्त—हम देख चुके हैं कि **सुमेरियन मन्दिरों का देश के आर्थिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध** था। बैबिलोनियन युग में भी इस व्यवस्था के कुछ तत्त्व दिखाई देते हैं। मन्दिरों के पास अब भी बहुत बड़ी-बड़ी जागीरें थीं। वे व्यापारियों के समान वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे और ऋण देते थे। लेकिन इसके बावजूद इस युग में मन्दिर-व्यवस्था का महत्त्व घट गया। इसका कारण था **सम्राट् की शक्ति का बढ़ जाना** और मन्दिर-व्यवस्था पर उसका नियन्त्रण हो जाना। अब सम्राट् अपनी आय-व्यय का निरीक्षण करते समय मन्दिरों की आय-व्यय की जाँच भी करने लगे। मन्दिरों के पशु अब प्रायः उनके अपने पशुओं के साथ चराए जाने लगे और धार्मिक तथा राजकीय, दोनों तरह के करों तथा भेंटों को संगृहीत करने वाले कर्मचारी अपनी रिपोर्ट सीधे उनके पास भेजने लगे। इतना ही नहीं बैबिलोनियन नरेश अपने क़ानूनों द्वारा देश के आर्थिक जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने लगे।

कृषि-कर्म

भूमि-व्यवस्था—बैबिलोनिया की भूमि **बहुत ही उर्वर** थी। हेरोडोटस

के अनुसार प्राचीन विश्व में बैबिलोनिया से बढ़ कर उपजाऊ प्रदेश अन्य नहीं था। भूमि अधिकांशतः राजा, मन्दिरों, सामंतों तथा धनी व्यापारियों व सामूहिक रूप से कबीलों के अधिकार में थी। पट्टे पर भूमि लेने पर कृषक को उपज का एक तिहाई अथवा आधा भाग देना होता था। एक बार खेत ले लेने पर उसे खेती की ओर अनिवार्यतः ध्यान देना होता था। इसमें लापरवाही करने पर उसे औसत किराया देना होता था। अगर बाढ़ अथवा तूफ़ान के कारण कटने के पहले ही फसल नष्ट हो जाती थी तो वह नुकसान कृषक तथा भूस्वामी दोनों को समान रूप से भोगना होता था, अकेले कृषक को नहीं। अगर कोई चरवाहा किसी कृषक के खेत में अनुमति लिए बिना अपने पशु चरा लेता था तो उसे उस कृषक को हर्जाना देना होता था। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि बैबिलोन में भूमि के मालिकों तथा कृषकों, कृषकों और चरवाहों तथा खुद कृषकों के पारस्परिक झगड़ों का फैसला करने के लिए विस्तरशः क़ानून थे।

सिंचाई-व्यवस्था—बैबिलोनिया जैसे कृषिप्रधान देश में सिंचाई की समुचित व्यवस्था करवाना खुद शासकों के हित में था। इसलिए हम देखते हैं कि हम्मूरबी के वंश के प्रायः प्रत्येक शासक ने नई नहरें बनवाईं और पुरानी नहरों का पुनर्निर्माण कराया। अपने-अपने प्रदेशों की नहरों की मरम्मत कराते रहना स्थानीय पदाधिकारियों और गवर्नरों का कर्त्तव्य माना जाता था। इसके लिए उनको नहरों के पास बसनेवाले नागरिकों की सहायता लेने का पूर्ण अधिकार रहता था। इस श्रम के बदले में ग्रामीणों को अपने प्रदेश से गुज़रने वाली नहर में मछली पकड़ने का एकाधिकार मिलता था। जहाँ पर नहरों की सतह खेतों की सतह से नीची होती थी वहाँ पानी ऊपर चढ़ाने के लिए सिंचाई-कल का उपयोग होता था, ऐसा अभिलेखों से मालूम होता है। इस प्रदेश की सिंचाई-कल की बनावट का ज्ञान एक असीरियन रिलीफ़-चित्र से होता है। यह बहुत कुछ मिस्र के शडूफ तथा भारत की ढेंकुली से मिलती-जुलती थी। सम्भवतः इस प्रकार के जल-यन्त्र सुमेरियन और बैबिलोनियन युग में भी प्रचलित थे। कुछ यन्त्रों को चलाने के लिये पशुओं का प्रयोग किया जाता था। हम्मूरबी की विधि-संहिता में इन यन्त्रों को चुराने वाले व्यक्ति के लिए यन्त्र की बनावट तथा मूल्य के अनुसार दण्ड निर्धारित थे। ये यन्त्र कितने ही प्रकार के थे। सम्भवतः सुमेरियन युग से इनका उपयोग होता आया था। एक स्थान के कृषक एक ही नाली का उपयोग करते थे, इसलिए प्रत्येक को पारी-पारी से जल लेना होता था और जल लेने के बाद नाली के अपने खेत के पास से गुज़रनेवाले

भाग का ध्यान रखना होता था, जिससे उसके पड़ोसी की खेती को नुकसान न पहुँचे। उसकी लापरवाही के कारण पड़ोसी की खेती को क्षति पहुँचने पर उसे दण्ड मिलता था।

बैबिलोनियन हल—बैबिलोनियनों के प्राचीन कृषियन्त्र आज भी प्रयोग में आ रहे हैं, इसका सर्वोत्तम प्रमाण उनका हल है। हम्मूरबी के युग में प्रचलित हल का कोई चित्र अभी तक नहीं मिला है। मगर **कसाइट युग के हल के चित्र से उसकी बनावट के विषय में कुछ अनुमान** किया जा सकता है, क्योंकि निश्चित रूप से बैबिलोनियन हल कसाइट हल से अधिक भिन्न नहीं रहा होगा। कसाइट हल का यह चित्र निप्पुर से प्राप्त हुआ है (देखिए पृ० १११ के ऊपर दिया गया चित्र और फु० नो०)। इस प्रकार के हल सीरिया में अब भी प्रचलित हैं।

मुख्य फसलें—कृषि-कर्म बैबिलोनियनों की राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत था। वे विशेष रूप से खाद्यान्न, खजूर, जैतून, और अंगूर की पैदावार करते थे। इनमें भी **खजूर को विशेष महत्त्व प्राप्त** था। इससे वे खाने के लिए एक विशेष प्रकार का आटा और चीनी ही नहीं वरन् पीने के लिए शराब भी बनाते थे। इसके अतिरिक्त वे इसकी छाल से रस्सियाँ बनाते थे और तने से इमारतों के लिए हलकी परन्तु मज़बूत लकड़ी प्राप्त करते थे। हम्मूरबी की विधि-संहिता में खजूर की खेती के लिए उत्साहवर्धक परन्तु सरल नियम मिलते हैं।

पशुपालन

पशुपालन का महत्त्व—बैबिलोनियनों की राष्ट्रीय आय का दूसरा प्रमुख स्रोत पशुपालन था। सम्राट् खुद बहुत बड़ी संख्या में पशुओं और भेड़ों को पालते थे और प्रजा के **पशुओं पर कर** लगाते थे। उनके तथा उनके द्वारा नियन्त्रित मन्दिरों के पशुओं की संख्या अत्यधिक थी, इसलिए पशु-कर के अतिरिक्त खुद **पशुपालन राज्य की आय का महत्त्वपूर्ण स्रोत** हो गया था। राजकीय पशुओं की देखभाल के लिए ज़िलों और शहरों में **शाही चरवाहे** नियुक्त थे। प्रधान चरवाहों को राजा के पास समय-समय पर अपने-अपने कार्य का विवरण भेजना होता था, और शहरों व प्रान्तों के **गवर्नरों को शाही पशुओं की देख-भाल के लिए दौरे** करने पड़ते थे। मन्दिरों के पशु साधारणतः राजकीय पशुओं के साथ पाले जाते थे। **बेईमान कृषकों और चरवाहों को कड़ा दण्ड दिया जाता था**। हम्मूरबी की विधि-संहिता के क़ानून इस विषय में काफी कठोर थे।

उद्योग-धन्धे तथा व्यापार

उद्योग-धन्धे—बैबिलोनियनों को अपने पशुओं से उद्योग-धन्धों के लिए

काफी मात्रा में ऊन, खाल और चमड़ा इत्यादि प्राप्त हो जाते थे। पश्चिमी एशिया में अधिकांशतः **ऊनी वस्त्रों का ही प्रयोग होता** था, इसलिए ऊनी वस्त्र बुनना उससे अधिक लाभप्रद उद्योग था जितना हम भारतवासियों को, जो साधारणतः सूती वस्त्र पहिनते हैं, महसूस होता है। कांस्य का प्रयोग वे **औज़ार, बर्तन और अस्त्र-शस्त्र** बनाने में करते थे। लोहे का उनको ज्ञान था; पर अत्यन्त दुर्लभ होने तथा इसके प्रयोग की विधि अज्ञात होने के कारण यह अधिक उपयोग में नहीं आता था। सोना, चाँदी तथा ताम्र इत्यादि धातुओं से **अलंकार** और अस्त्र-शस्त्र बनते थे। **चमड़े की वस्तुएँ, मृद्भाण्ड** और **फर्नीचर** इत्यादि बनाना भी उनके मुख्य उद्योगों में गिने जा सकते हैं।

यातायात के साधन—नहरों का उपयोग केवल सिंचाई के लिए ही नहीं वरन् यातायात और परिवहन के लिए भी किया जाता था। अनाज, खजूर, तेल, लकड़ी, तिल तथा अन्य अनेक वस्तुओं का बड़ी मात्रा में आयात-निर्यात **जलमार्ग** द्वारा ही होता था। यह सम्भव है कि भारी वस्तुओं को ढोने के लिए दजला और फ़रात में **खाल से बँधे लकड़ी के लट्ठों का प्रयोग** होता रहा हो। ये लट्ठे नदी में जल के वेग के साथ बहते रहते थे। केवल उन्हें पतवार की सहायता से बीच धारा में रखने की आवश्यकता होती थी। यह उपाय बहुत ही सस्ता और आसान था। एक तो इसमें अधिक धन व्यय नहीं करना पड़ता था और दूसरे यात्रा के अन्त में लट्ठों को खोलकर बेचा जा सकता था। ऐसी नावों के प्रयोग का सर्वप्रथम ज्ञात उदाहरण असीरियन युग का है, परन्तु यह सर्वथा सम्भव है कि इनका प्रयोग हम्मूरबी के समय से ही होने लगा हो। इस प्रकार के परिवहन के लिए यह आवश्यक था कि नदियों के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक **एक ही शक्ति का आधिपत्य** हो और सौदागरों को अपने माल की **सुरक्षा का विश्वास** हो। बैबिलोनियन युग में ये दोनों सुविधाएँ उपलब्ध थीं। हम्मूरबी के साम्राज्य में असीरिया भी शामिल था और काफ़िलों की सुरक्षा के लिए आवश्यक प्रबन्ध भी किया गया था। अतः हो सकता है कि उसके समय से ही इस प्रकार की नावों का प्रचलन आरम्भ हो गया हो। इसी प्रकार स्थानीय परिवहन के लिए अण्डाकार नाव के प्रयोग का प्रमाण असीरियन युग से मिलता है, परन्तु अनुमान किया जाता है कि इसका प्रयोग भी बैबिलोनियन युग में प्रारम्भ हो गया होगा।

हम्मूरबी की विधि-संहिता तथा पत्रों में **बड़ी बड़ी नावों** तथा **लघु जलपोतों** के प्रयोग का भी उल्लेख हुआ है। ये नावें ७५ 'गुर' से भी ज़्यादा माल ले जा सकती थीं। इनका प्रबन्ध करने के लिए बहुत से मल्लाहों के ऊपर एक

प्रधान **मल्लाह या कप्तान** रहता था। ६० 'गुर' माल ढोने वाली **नाव बनाने की मजदूरी** २ शेकल चाँदी थी और उसमें एक वर्ष तक होने वाली खराबी के लिए नाव बनानेवाला उत्तरदायी माना जाता था। नाव के मालिक, प्रधान मल्लाह तथा माल के स्वामी—इन तीनों के उत्तरदायित्व की सीमाओं को निश्चित करने के लिए हम्मूरबी की विधि-संहिता में विस्तरशः क़ानून थे। नाव किराये पर लेने वाले मल्लाह नाव और उस पर ढोये जाने वाले माल के लिए उत्तरदायी होते थे। दो नावों में टक्कर हो जानेपर अपराधी मल्लाह को दण्ड भोगना होता था। एक मल्लाह का वार्षिक वेतन ६० 'गुर' अनाज था। समाज में मल्लाहों की संख्या काफी थी। सम्राट् के पास परिवहन के लिए **बड़ी-बड़ी नावों का एक विशाल बेड़ा** था जिसके द्वारा राजकीय अनाज, ऊन, खजूर, लकड़ी तथा इमारतों की लकड़ी ढोई जाती थी। सम्भवतः राज्य की ओर से **जल-यातायात के प्रबन्ध के लिए विशेष पदाधिकारियों की नियुक्ति** की जाती थी, जिनके काम कर इकट्ठा करना तथा अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में पड़ने वाली नदियों या नहरों की देखभाल करना थे। वे उनमें पैदा होनेवाली खराबियों की सूचना सम्राट् के पास भेजते थे और सम्राट् स्थानीय गवर्नरों को उनके सुधारने का आदेश देते थे।

विदेशी व्यापार—बैबिलोनिया के व्यापारिक सम्बन्ध पूर्व में दूरस्थ **सिन्धु-प्रदेश तथा निकटवर्ती एलम** के साथ बहुत प्राचीन काल से चले आए थे। अब साम्राज्य के विस्तृत और सीमाओं के सुरक्षित हो जाने से उसके व्यापारियों के **लिए पश्चिम में सीरिया** आदि देशों के साथ व्यापार करने में भी किसी प्रकार की बाधा न रही। बैबिलोनियन व्यापारी अपने माल को बड़ी-बड़ी **गाँठों में भरकर** अन्य देशों को भेजते थे। इन गाँठों की रस्सियों पर मिट्टी की पाटियाँ (टैग्स्) लगी रहती थीं, जिनपर भेजने वाले व्यापारी का नाम लिखा रहता था। बैबिलोनिया तथा अन्य कई निकटवर्ती प्रदेशों के प्राचीन नगरों में ऐसी असंख्य पाटियाँ मिली हैं जिनमें एक ओर व्यापारी का नाम लिखा है और दूसरी ओर रस्सी का चिह्न है।

व्यापारियों और सौदागरों के सम्बन्ध—बैबिलोनिया में बड़े-बड़े **व्यापारी**, एक श्रेणी के रूप में, सामाजिक तथा वैधानिक दृष्टि से, सर्वोच्च वर्ग के सदस्य थे। वे खुद अधिकतर बैबिलोन में रहते थे और अपने माल को सौदागरों के द्वारा दूसरे देशों को भेजते थे। ये **सौदागर** गधों पर माल लाद कर बड़े-बड़े **काफिलों** के रूप में दूसरे देशों को जाते थे। उनके काफ़िले इतनी बड़ी संख्या में उत्तर तथा पश्चिम की ओर जाते रहते थे कि फ़रात की घाटी के

उत्तरी भाग में **हर्रान नाम का** एक नगर बस गया था। इस नाम की व्युत्पत्ति बैबिलोनियन शब्द 'हर्रानु' अर्थात् 'यात्रा' से हुई है। हम्मूरबी ने अपनी विधि-संहिता में व्यापारियों और सौदागरों की **साझेदारी के सम्बन्ध में क़ानून** दिये हैं। साझेदारी करते समय दोनों पक्षों को क़ानूनी कार्यवाही पूरी करनी पड़ती थी। इसके अनुसार उन्हें एक **अनुबन्ध-पत्र** (कन्ट्रेक्ट) लिखना होता था, जिसमें साझेदारी की शर्तों का उल्लेख रहता था। सौदागर को व्यापारी से प्राप्त माल की **रसीद** देनी होती थी और व्यापारी को उस धन की जो सौदागर **जमानत** के रूप में जमा करता था। अनुबन्ध-पत्रों पर, जो राजकर्मचारी तैयार करते थे, अन्य व्यापारियों की **गवाही आवश्यक** होती थी।

हम्मूरबी के क़ानून में दोनों पक्षों के साथ न्याय करने का पूरा प्रयत्न किया गया है। तत्कालीन युग में व्यापारिक-मार्गों की सुरक्षा के यथाशक्ति प्रबन्ध किया जाने के बावजूद सौदागरों को डाकुओं का सदैव भय रहता था। इसके अतिरिक्त कभी-कभी शत्रु-देश की सीमा के पास जा निकलने पर काफिले पकड़ कर लूट लिए जाते थे। स्पष्टतः इस प्रकार की दुर्घटनाओं को रोकना सौदागरों के वश की बात नहीं होती थी; इसलिए हम्मूरबी की विधि-संहिता के अनुसार उन्हें लौटने पर शपथ लेकर ऐसी दुर्घटनाओं में हुई हानि को बताना पड़ता था। इसके बाद वे उसके उत्तरदायित्व से मुक्त माने जाते थे। परन्तु यह सिद्ध हो जाने पर कि उन्होंने बेईमानी की है और झूठी शपथ ली है, उन्हें लिए हुए माल से तिगुना धन वापस करना होता था। इसी प्रकार यदि व्यापारी धोखेबाजी करते थे और यह झूठा दावा करते थे कि उनका माल लौटाया नहीं गया, तो उन्हें सौदागरों को उस माल के मूल्य का छःगुना धन देना होता था।

तत्कालीन युग के व्यापारिक-पत्रों से, जो उत्खनन में प्रचुर संख्या में प्राप्त हुए हैं, स्पष्ट है कि इस प्रकार की साझेदारी बैबिलोन तथा अन्य नगरों में बहुत सामान्य बात थी। इससे संकेत मिलता है कि व्यापारी और सौदागर, दोनों पक्षों को इससे काफी लाभ होता था। यह लाभ वे आपस में प्रायः बराबर-बराबर बाँट लेते थे परन्तु व्यापारियों को यह स्वतन्त्रता थी कि वे अनुबन्ध करते समय व्यापार में लगाए धन से दुगना लाभ तक लेने की शर्त रख सकें। व्यापार में **हानि होने पर सौदागरों** के लिए आवश्यक होता था कि वे व्यापारी को कम से कम मूलधन लौटा दें।

विनिमय-विधि—बैबिलोन में अभी तक मुद्रा-प्रणाली (क़ायनेज) का जन्म नहीं हुआ था। वस्तुओं की अदल-बदल (बार्टर) में चाँदी के निश्चित भार के टुकड़ों का प्रयोग किया जाता था। अर्थात् वस्तुओं की कीमत चाँदी

के निश्चित भार के टुकड़ों में तय होती थी, चाहे मूल्य किसी भी वस्तु के रूप में दिया जाता। इसे **अदल-बदल और मुद्रा-प्रणाली के बीच की अवस्था** कहा जा सकता है। ऋण लेना साधारण बात थी। सूद की दर साधारणतः २० प्रतिशत वार्षिक रहती थी। इसे मासिक किस्तों में चुकाना होता था। **चाँदी** बहुत बड़ी मात्रा में सुलभ हो गई थी, इसलिए इसकी कीमत गिर गई थी। **स्वर्ण** चाँदी से १२ से १५ गुना तक अधिक मूल्यवान था।

सामाजिक संगठन

उच्च वर्ग या अवीलम्—बैबिलोनियन समाज तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित था—श्रीमन्त अथवा उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग तथा निम्न अथवा दास वर्ग। **उच्च वर्ग** में, जिसके सदस्य **अवीलम्** कहलाते थे, उच्च पदाधिकारी, मन्त्री, जमींदार और व्यापारी आदि सम्मिलित थे। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में धन और उच्च पद से ही कोई व्यक्ति सर्वोच्च वर्ग का सदस्य नहीं हो जाता था। बहुधा धन और पद खो देने के बाद भी इस वर्ग के सदस्य अपने अधिकारों का उपभोग करते रहते थे। इससे लगता है कि धीरे-धीरे **वर्गभेद का आधार** धन या उच्च पद के स्थान पर रक्त हो गया था। अनुमान किया गया है कि प्रारम्भ में उच्च वर्ग के सदस्य शासक जाति, अर्थात् अमोरी जाति के व्यक्ति रहे होंगे। बाद में इसमें कुछ ऐसे व्यक्ति भी सम्मिलित हो गए होंगे जिन्होंने उन्हें राजनीतिक सहायता दी थी। अक्कादी सेमाइट जो रक्त और भाषा की दृष्टि से उनके निकट थे, अनायास इस वर्ग के सदस्य बन गए होंगे।

मध्यम वर्ग या मुस्केनम्—बैबिलोन के मध्यम वर्ग के सदस्य जो मुस्केनम् कहलाते थे, उच्च वर्ग के सदस्यों की तरह स्वतन्त्र थे। परन्तु **प्रतिष्ठा में उनका स्थान श्रीमन्तों से नीचे** था। **दासों से वे उच्चतर** माने जाते थे। यह आवश्यक नहीं था कि केवल गरीब लोग ही मुस्केनम् वर्ग में परिगणित हों। स्वतन्त्र और धनी होने पर भी बहुत से व्यक्ति उच्च वर्ग के अधिकारों का उपभोग नहीं कर पाते थे। सम्भवतः इस वर्ग के सदस्य अधिकांशतः सुमेरियन तथा सुमेर में बहुत पहले से बसे हुए सेमाइट थे जो अपने नवागन्तुक शासकों से सर्वथा भिन्न हो गये थे।

सामाजिक प्रतिष्ठा और दण्ड-व्यवस्था—समाज के इन दो वर्गों की प्रतिष्ठा में कितना अन्तर था, इसका अनुमान उस हर्जाने की मात्रा से लगाया जा सकता है जो अपराधियों को देना होता था, अथवा जो अभियोगी अपराधी

से माँग सकता था। उदाहरण के लिए यदि उच्च वर्ग का कोई सदस्य किसी का बैल चुरा लेता था तो उसे पशु के मूल्य से तीस गुना धन हर्जाने के रूप में देना होता था। परन्तु अपराधी अगर मध्यम वर्ग का सदस्य होता था, तो उसे पशु के मूल्य से केवल दस गुना धन देना होता था। यदि उसके पास दस गुना धन नहीं होता था तो उसे मृत्युदण्ड मिलता था। मध्यम वर्ग के सदस्य को हत्या कर देने पर भी उससे बहुत कम दण्ड मिलता था, जितना यही अपराध करने पर उच्च वर्ग के सदस्य को दिया जाता था। उसे तलाक भी आसानी से मिल जाता था तथा डॉक्टर को चिकित्सा के लिए अपेक्षया कम शुल्क देना होता था। दूसरे शब्दों में **अपराधी के सामाजिक स्तर के अनुसार दण्ड की मात्रा बढ़ती जाती थी। परन्तु दण्ड निर्धारित करते समय अभियोगी के सामाजिक स्तर का ध्यान भी रखा जाता था।** यदि अभियोगी अपराधी से निम्नतर वर्ग का सदस्य होता था तो अपराधी को उससे कहीं कम दण्ड मिलता था जो अपने ही वर्ग के किसी सदस्य के प्रति अपराध करने पर मिलता। अगर कोई श्रीमन्त किसी दूसरे श्रीमन्त की आँख फोड़ देता था तो दण्डस्वरूप उसकी आँख भी फोड़ दी जाती थी परन्तु मध्यम वर्ग के किसी सदस्य की आँख फोड़ देने पर उसे केवल कुछ धन क्षतिपूर्ति के रूप में देना होता था। इसके विपरीत अगर अपराधी मध्यम वर्ग का होता था और अभियोगी उच्च वर्ग का तो अपराधी को उससे कहीं अधिक दण्ड मिलता था जितना अभियोगी के मध्यम वर्ग का सदस्य होने पर दिया जाता था। दण्ड-व्यवस्था का यह सिद्धान्त बैबिलोनियनों ने सुमेरियनों से ग्रहण किया था।

दास वर्ग—समाज का निम्नतम वर्ग उन दासों का था, जो उच्च तथा मध्यम वर्गों के परिवारों में काम करते थे। दासों का **विधिवत् व्यवसाय** होता था। साधारणतः युद्ध में पकड़े जाने वाले शत्रु दास बना लिए जाते थे, इसलिए उनकी संख्या लगातार जारी रहने वाले युद्धों के कारण बढ़ती जाती थी। दास अपने **स्वामी की सम्पत्ति माने जाते थे** और पशुओं की तरह उनको खरीदा और बेचा जा सकता था। उनके शरीर पर स्वामी का स्वत्व-चिह्न अंकित रहता था। अपने स्वामी का अधिकार न मानने पर अथवा उच्च वर्ग के सदस्यों पर आक्रमण करने पर उनके कान काट दिये जाते थे। परन्तु इस प्रकार के दण्डों के बावजूद **उनकी अवस्था बहुत बुरी न थी,** क्योंकि वे अपने स्वामी के परिवार के सदस्य माने जाते थे और खुद उनके स्वामी का हित उन्हें स्वस्थ रखने में होता था। स्वामी अपने दासों को कितना मूल्यवान् मानते थे यह इसी तथ्य से स्पष्ट है कि किसी दास अथवा दासी का उसके स्वामी के घर से

अपहरण कर लेने पर अथवा पलायित दास को शरण देने पर मृत्युदण्ड दिया जाता था तथा भागे हुए दास को पकड़ लाने पर स्वामी को पकड़ने वाले व्यक्ति को एक निश्चित धन पुरस्कार-स्वरूप देना पड़ता था। किसी दूसरे के दास पर अपना स्वत्व चिह्न अंकित करने वाले अपराधी के हाथ काट दिए जाते थे। अगर उसने यह अपराध किसी व्यक्ति के द्वारा धोखा दिए जाने पर किया होता था तो धोखा देने वाले को मृत्युदण्ड मिलता था।

दासों के अधिकार—एक वर्ग के रूप में दासों के बहुत कम अधिकार थे, परन्तु कुछ ऐसे नियम अवश्य थे जिनके द्वारा वे कुछ अधिकार ही नहीं पूर्ण स्वतन्त्रता भी प्राप्त कर सकते थे। परिश्रमी दासों के लिए यह सम्भव था कि वे मेहनत करके व्यक्तिगत सम्पत्ति अर्जित कर सकें। वे अपने सम्बन्धियों की सम्पत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त कर सकते थे और उसकी सहायता से अपना मूल्य चुका कर, स्वामी की आज्ञा होने पर, स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते थे। अगर किसी दासी को उसके स्वामी से सन्तान उत्पन्न हो जाती थी, तो उसके बाद उसका स्वामी उसे बेच नहीं सकता था। दासों को स्वतन्त्र स्त्री से विवाह करने का भी अधिकार था। ऐसे विवाह की सन्तान स्वतन्त्र नागरिक मानी जाती थी और उस स्त्री को उसके दास पति के मरने पर उसका स्त्री-धन तथा सम्मिलित सम्पत्ति का आधा भाग मिलता था। दास का स्वामी मृत दास की पारिवारिक सम्पत्ति का केवल आधा भाग ले सकता था। एक स्वतन्त्र स्त्री का दास के साथ विवाह सम्भव होने से संकेतित है कि अच्छी स्थिति के दासों और साधारण स्थिति के स्वतन्त्र मनुष्यों में सामाजिक दृष्टि से अधिक भेद नहीं माना जाता था।

पारिवारिक जीवन

परिवार और क़ानून—हम्मूरबी की विधि-संहिता तथा पत्र बैबिलोन के नागरिकों के पारिवारिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश देते हैं। इनसे ज्ञात होता है कि बैबिलोनियन समाज में परिवार के सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध क़ानून द्वारा अनुशासित रहता था। विवाह करने और तलाक़ देने, किसी बालक को गोद लेने या इसी प्रकार की पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कोई अन्य घटना घटने पर परिवार के सदस्यों की स्थिति और उनके पारस्परिक सम्बन्धों में जो परिवर्तन होता था उसको नियमानुसार, साक्षियों की उपस्थिति में लिपिबद्ध किया जाता था। राज्य ने विवाह, तलाक़, उत्तराधिकार, बच्चों का भरण-

पोषण तथा विधवाओं के अधिकार इत्यादि विषयों पर विस्तरशः नियम बनाये हुए थे।

स्त्रियों की दशा

पत्नी का परिवार में स्थान—बैबिलोनियन परिवार में पत्नी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा आदरणीय स्थान था। सामाजिक जीवन में भी स्त्रियों को पर्याप्त **सम्मान और स्वतन्त्रता** प्राप्त थी। विवाह को क़ानूनी रूप देने के लिए आवश्यक था कि **विवाह के पूर्व एक अनुबन्ध-पत्र** लिखा जाय जिस पर साक्षियों के हस्ताक्षर हों। इसके बिना कोई स्त्री क़ानूनन पत्नी नहीं मानी जाती थी। एक समझौते पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद उसका पालन करना दोनों पक्षों के लिए क़ानूनी कर्त्तव्य हो जाता था। स्त्रियों के लिए **व्यभिचार भयंकर अपराध** माना जाता था और इसका दण्ड नदी में डुबो दिया जाना था। अगर पति अपनी पत्नी को बचाना चाहता था तो वह राजा से पुनरावेदन (अपील) कर सकता था। यदि व्यभिचार का आरोप खुद पति लगाता था, तो पत्नी अपनी निर्दोषिता की शपथ लेकर जान बचा सकती थी। परन्तु आरोप लगाने वाला व्यक्ति अगर कोई पर-पुरुष होता था तो उसे फ़रात नदी में कूद कर अपनी निर्दोषिता सिद्ध करनी होती थी। अगर वह उसमें डूब जाती थी तो यह उसके अपराध का प्रमाण और दण्ड माना जाता था और अगर वह बचकर किनारे पर पहुँच जाती थी तो उसे निर्दोष मान लिया जाता था, क्योंकि यह विश्वास किया जाता था कि पवित्र नदी फ़रात सदैव न्याय करती है।

पुनर्विवाह और तलाक़—इस प्रकार के कठोर बन्धनों के बदले स्त्रियों को बहुत-सी सुविधाएँ मिली हुई थीं। उदाहरणार्थ पति के लिए अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक स्थिति के अनुसार अपनी **पत्नी का पालन-पोषण करना** आवश्यक माना जाता था। क़ानून पत्नी को पति के अत्याचार के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करता था। अगर पति अपनी इच्छा से नगर छोड़ कर चला जाता था तो पत्नी को दूसरी शादी करने का अधिकार रहता था। परन्तु पति अगर अपनी इच्छा के विरुद्ध नगर छोड़ता था, जैसे युद्ध में बन्दी हो जाने पर, तो पत्नी को यह सुविधा नहीं मिलती थी; विशेषतः उस समय जब कि उसका पति श्रीमन्त वर्ग का सदस्य होता था। ऐसी अवस्था में **पुनर्विवाह करने** पर पत्नी पर व्यभिचार का आरोप लगाया जा सकता था। परन्तु उसका पति यदि उसके भरण-पोषण के लिए समुचित धन नहीं छोड़ जाता था तो उसे दूसरी शादी करने का अधिकार रहता था। इतना ही नहीं पहले पति के वापिस

लौट आने पर वह उसके पास लौट सकती थी। तलाक़ के मामले में भी स्त्री के साथ बहुत उदारता दिखाई जाती थी। साधारणतः उसे जीवन निर्वाह के लिए समुचित धन दिलाया जाता था और उसका स्त्री-धन उसे वापस मिलता था। बच्चों पर उसका अधिकार रहता था और पति को उनके भरण पोषण के लिए भी धन देना होता था। पति के मर जाने पर पत्नी को उसकी सम्पत्ति में एक भाग मिलता था। खुद पति अपनी पत्नी को कोई स्थायी रोग हो जाने पर भी तलाक़ नहीं दे सकता था। पत्नी के साथ कठोरता उसी समय दिखाई जाती थी जिस समय यह सिद्ध हो जाता था कि उसने अपने घर का प्रबन्ध करने में लापरवाही दिखाई है और अपने कर्त्तव्यों को पूरा नहीं किया है। ऐसी अवस्था में उसे भरण-पोषण के लिए कुछ दिए बिना ही तलाक़ दिया जा सकता था अथवा पति के घर में दासी के रूप में रहने के लिए मजबूर किया जा सकता था।

देवदासियाँ—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बेबिलोनियन समाज में स्त्रियों को जितनी स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा प्राप्त थी उतनी उन्हें वैदिक भारत और सम्भवतः मिस्र को छोड़कर अन्य किसी प्राचीन सभ्य देश में उपलब्ध नहीं थी। उच्च वर्ग की अविवाहिता स्त्रियों को तो वहाँ और भी अधिक अधिकार प्राप्त थे। वे अपने नाम से **जायदाद खरीद सकतीं थीं और व्यापार कर सकतीं थीं।** परन्तु ऐसा कर सकने के लिए बेबिलोन, सिप्पुर, उर तथा अन्य नगरों के बड़े-बड़े मन्दिरों की देवदासियों के एक विशेष वर्ग की सदस्या बनना आवश्यक होता था। इस वर्ग को समाज में बहुत आदर और प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था। **देवदासी पद की शपथ लेने पर लड़कियों को पिता से उसी प्रकार धन मिलता था जिस प्रकार विवाह होने पर दहेज।** यह धन मन्दिर की सम्पत्ति न होकर उनकी **व्यक्तिगत सम्पत्ति** रहता था और वे उसको जिस प्रकार चाहे व्यय कर सकती थीं। इच्छा होने पर वे देवदासी पद को त्यागकर विवाह कर सकती थीं। परन्तु जब तक वे देवदासी रहतीं थीं उन्हें **ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पड़ता था।** अगर कोई विवाहिता स्त्री देवदासी बनती थी तो उसे देवदासी बनने के बाद अपने पति से दूर रहना पड़ता था। यद्यपि इस पद को प्राप्त करने के बाद भी वह पत्नी के पद पर प्रतिष्ठित रहती थी, तथापि वह पति के लिए सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती थी। सन्तानोत्पत्ति आवश्यक होने पर उसका पति उपपत्नी रख सकता था, परन्तु उपपत्नी को किसी भी हालत में पत्नी के अधिकार नहीं मिलते थे। देवदासियों को अपने **पद की मर्यादा का ध्यान रखना होता था।** उदाहरणार्थ वे **सुरा का व्यापार नहीं कर सकती थीं।**

यहाँ तक कि किसी मदिरालय में घुसने मात्र पर ही उन्हें मृत्युदण्ड दिया जा सकता था।

स्त्रियों की दशा अच्छी होने का कारण—बीसवीं शताब्दी ई० पू० में स्त्रियों को समाज में इतनी स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा मिलना नितान्त आश्चर्यजनक है। सम्भवतः इसका कारण बैबिलोनिया में **वाणिज्य और व्यापार की अप्रतिम प्रगति** था। किसी कृषि-प्रधान देश में स्त्रियों का काम केवल परिवार की व्यवस्था करने तक ही सीमित रहता है, क्योंकि स्त्रियाँ शारीरिक श्रम में, जो कृषि-कर्म में आवश्यक है, पुरुषों की बराबरी नहीं कर सकतीं। परन्तु व्यापार कृषि-कर्म से प्रकृत्या सर्वथा भिन्न है। इसमें स्त्रियाँ भी समुचित रूप से भाग ले सकती हैं। इसलिए जब बैबिलोनिया में व्यापार की प्रगति हुई तब स्त्रियों को उसमें भाग लेने का अवसर मिला। यह प्रयोग वहाँ निश्चित रूप से सफल रहा क्योंकि देवदासियों के इस वर्ग की, जो व्यापार कर सकता था, नैतिक मर्यादा निश्चित कर दी गई थी।

बैबिलोनियन कला

वास्तुकला

भवन-निर्माण कला—कला के क्षेत्र में बैबिलोनियन जाति तत्कालीन मिस्र-वासियों से बहुत पीछे थी। इसका एक कारण बैबिलोनिया में **पाषाण का अभाव** रहा होगा। स्पष्टतः मिट्टी की ईंटों से बने उनके भवन स्थायित्व और सौन्दर्य में मिस्र के पाषाण-निर्मित भवनों के समान नहीं हो सकते थे। ईंटों से, विशेषतः कच्ची ईंटों से बने भवन पूरी सावधानी रखने पर भी चालीस-पचास वर्षों में धराशायी हो जाते थे। **हम्मूरबी के द्वारा निर्मित बैबिलोन अबतक पूर्णतः नष्ट हो चुका है।** उसके समय का एक भी भवन अथवा स्मारक अवशिष्ट नहीं है। बैबिलोनियन भवन-निर्माण कला के इस मूलभूत दौर्बल्य के कारण हम्मूरबी ने अपनी विधि-संहिता में ऐसे नियम बनाए जिनसे विवश होकर नागरिकों को अपने मकान अधिकाधिक मजबूत बनाने होते थे और उनकी बराबर मरम्मत करानी पड़ती थी। उसने नए **मकान के टूट कर गिर जाने का उत्तरदायित्व मकान बनाने वाले कारीगर का** माना है। उसकी विधि-संहिता के अनुसार अगर मकान गिर जाने पर मकान-मालिक का लड़का दब कर मर जाता था तो कारीगर के लड़के को मृत्युदण्ड मिलता था। इसके अतिरिक्त उसे मकान की मरम्मत करनी होती थी, अथवा उसे पुनः बनाना होता था। अच्छा मकान बनाने का **पारिश्रमिक** मकान के क्षेत्रफल के अनुसार मिलता था।

इससे स्पष्ट है कि मकान एक मंजिले होते थे। हम्मूरबी के समय मकानों की नींव साधारणतः पक्की ईंटों की होती थी। परन्तु ऊपर का ढाँचा कच्ची ईंटों से बनाया जाता था। छतें कच्ची होती थीं और गर्मी में ऊपर सोने के काम आती थीं।

मौलिक प्रतिभा का अभाव—बैबिलोनियनों में सुमेरियनों के समान मौलिक प्रतिभा नहीं थी। वे सुमेरियन मेहराब तथा लकड़ी और ईंटों के स्तम्भों से परिचित थे तथा मकानों के बाह्य और आन्तरिक भागों को नक्काशीदार ईंटों से सजाने की कला जानते थे। परन्तु इस ज्ञान के बावजूद वे कभी दर्शनीय भवनों का निर्माण नहीं कर पाए। वे न कभी सुमेरियन मेहराब के महत्त्व को समझ पाए और न स्तम्भों से ही पूरा लाभ उठा सके।
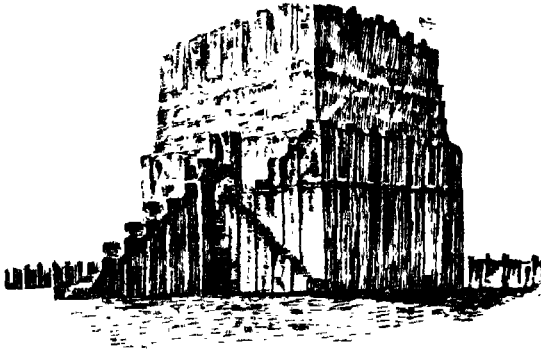
चित्र ४२ : बैबिलोन के जिगुरत का काल्पनिक चित्र

बैबिलोनियन जिगुरत—सुमेरियन युग के समान बैबिलोनियन युग की वास्तुकला के विशिष्ट नमूने भी जिगुरत नाम के भवन थे। बैबिलोनियन जिगुरतों में कई तल्ले होते थे, जो ऊपर की ओर क्रमशः छोटे होते जाते थे। बोरसिप्पा के जिगुरत में सात तल्ले थे। जिगुरतों की कल्पना देवस्थान के रूप में की गई थी। इसके अतिरिक्त इनका प्रयोजन ज्योतिषियों को नक्षत्रों के निरीक्षण की सुविधा देना था। जिगुरतों को विविध रंगों से रंगकर सुन्दर बनाने का प्रयास किया जाता था। परन्तु अपनी विशालता के बावजूद ये कलात्मक दृष्टि से कभी भव्य न हो सके।

स्थापत्य कला

रिलीफ-चित्र—वास्तुकला की तरह बैबिलोनियन स्थापत्य कला के नमूने भी दुर्लभ हैं। उनके द्वारा निर्मित बहुत थोड़ी मूर्तियाँ और रिलीफ-चित्र उत्खनन

में प्राप्त हुए हैं। इनमें **हम्मूरबी के पाषाण-स्तम्भ के ऊपर उत्कीर्ण दृश्य** उल्लेखनीय हैं। इसमें उसे देवता से विधि-संहिता प्राप्त करते हुए दिखाया गया है। देवता के कन्धे से अग्नि की लपटें निकल रही हैं, इससे लगता है कि वह बैबिलोनियन देवता शमश (सूर्य) है। इस दृश्य में हम्मूरबी के गौरव की कुछ झलक मिलती है, परन्तु नरामसिन-पाषाण (पृ० १०४-५) से इसकी तुलना करते ही बैबिलोनियन स्थापत्य की अविकसित अवस्था स्पष्ट हो जाती है। बैबिलोन में **मानव शरीर को ऊनी वस्त्रों में इस तरह लिपटा हुआ** दिखाया जाता था कि कलाकार के लिए शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण करना असम्भव हो जाता था। इसलिए सभी बैबिलोनियन चित्रों में **मानव आकृतियाँ एक सी प्रतीत होती हैं**। शासकों और दासों की आकृतियों में भी वस्त्रों को छोड़कर और कोई अन्तर नहीं है। बैबिलोनियन **चित्रकला** भी स्थापत्य के समान अविकसित थी। उनके मन्दिरों की दीवारों पर कुछ चित्र अंकित मिलते हैं; परन्तु उन्हें मिस्र और क्रीट से प्राप्त चित्रों के समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

मुद्रा-निर्माण-कला—बैबिलोन में साधारण नागरिक से लेकर सम्राट् तक अपनी व्यक्तिगत मुद्राएँ रखते थे, इसलिए उत्खनन में तत्कालीन मुद्राएँ प्रचुर संख्या में मिलती हैं। परन्तु उनकी सुमेरियन मुद्राओं के साथ तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस क्षेत्र में भी बैबिलोनियन **सुमेरियनों से बहुत पीछे** थे।

अन्य लघु कलाएँ—बैबिलोनियन संगीत के प्रेमी थे। बड़े भोजों में **संगीत गोष्ठियों** का आयोजन किया जाता था। श्रीमन्त लोग चमकीले **टाइल्स्**, रंगीन पर्दों और बहुमूल्य **फर्नीचर** से अपने घरों की और भड़कीले रंगों में रंगे हुए जरी के **कपड़ों** से अपने शरीर की शोभा बढ़ाते थे। उनकी स्त्रियों में **आभूषणों** का खूब प्रचार था, परन्तु कलात्मक दृष्टि से ये उच्च कोटि के नहीं होते थे।

विज्ञान

गणित—व्यापारी होने के कारण बैबिलोनियन कला से अधिक व्यावहारिक-विज्ञान में रुचि रखते थे। सुमेरियनों के समान उनका गणित दशमलव (डेसीमल) तथा षष्ठिक (सेक्साजेसिमल) विधियों पर आधारित था। उनके **अंकों में केवल तीन चिह्न प्रयुक्त होते थे**। एक चिह्न १ के लिए था जिससे ९ तक की संख्याएँ लिखी जा सकती थीं। उदाहरण के लिए ४ लिखने के लिए वे १ के चिह्न को चार बार लिख देते थे। दूसरा चिह्न १० के लिए था। इससे उसी प्रकार २०, ३० इत्यादि संख्याएँ लिखी जा सकती थीं। तीसरा चिह्न

६० के लिए था। इससे ६०, १२०, १८० इत्यादि संख्याएँ लिखी जा सकती थीं। इन तीनों चिह्नों की सहायता से, दशमलव पद्धति के अनुसार, वे सब संख्याएँ लिख लेते थे। वृत्त को उन्होंने ३६० अंशों में विभाजित किया था। ज्योमिति में भी उन्होंने कुछ प्रगति की थी। बहुत से **विषम क्षेत्रों की माप** करना वे जानते थे।

ज्योतिष—बैबिलोनियनों की सर्वाधिक रुचि ज्योतिष में थी। उनका विश्वास था कि आकाश के ग्रह खुद देवता हैं। और क्योंकि देवता मनुष्य के भाग्य-विधाता होते हैं इसलिए ग्रहों की गतिविधि का अध्ययन करके मनुष्य के भाग्य के विषय में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। वे बृहस्पति (जुपीटर) को मर्दुक, बुध (मर्करी) को नेबू, मंगल (मार्स) को नेर्गल, सोम (मून) को सिन, सूर्य (सन) को शमस, शनि (सेटर्न) को निनिब तथा शुक्र (वीनस) को ईस्तर मानते थे। परन्तु इन ग्रहों अथवा देवताओं की गति-विधि का रहस्य जानना आसान काम नहीं था। यह विद्या केवल पुजारियों के पास थी, इसलिए वे इससे बहुत धन कमाते थे।

खगोल-विद्या—ज्योतिष में विश्वास होने के परिणामस्वरूप खगोल-विद्या की प्रगति हुई। इसे बैबिलोनियन **'विश्व की स्वामिनी'** मानते थे। उन्होंने दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में ही **शुक्र (वीनस) के उदय और अस्त का ठीक-ठीक पता लगा लिया था और ग्रहों की स्थिति** मालूम कर ली थी। वर्ष को उन्होंने बारह महीनों में विभाजित किया था। इनमें छः महीने तीस-तीस दिन के और छः उन्तीस-उन्तीस दिन के होते थे। इस प्रकार उनका **वर्ष ३५४ दिन** का होता था। चौथे-पाँचवें वर्ष सौर वर्ष का चान्द्र वर्ष से मेल बैठाने के लिए वे एक **अतिरिक्त माह** जोड़ देते थे। उनके माह में **चार सप्ताह, दिन में १२ घंटे और घंटे में तीस मिनट होते थे**। इस प्रकार उनका एक घंटा, जिसे वे 'बेयर' कहते थे, हमारे दो घंटे के और उनका एक मिनट हमारे ४ मिनटों के बराबर होता था। माह का चार सप्ताहों में, घड़ी के चक्र का १२ घंटों में, घंटे का ६० मिनटों में और मिनट का ६० सैकिण्डों में विभाजन, जो आजकल समस्त विश्व में प्रचलित है, निश्चित रूप से बैबिलोनिया की देन है।

मानचित्र बनाने की कला—बैबिलोनियनों ने विश्व इतिहास में पहली बार प्रान्तों और नगरों के मानचित्र बनाये। बेबिलोन के पास प्राप्त १६०० ई० पू० के एक अभिलेख में एक वर्ग इंच में **शात-अजल्ला प्रान्त का मानचित्र** मिला है। इसमें पर्वतों, समुद्रों और नदियों को विविध प्रकार की रेखाओं द्वारा दिखाया गया है और कई नगरों के नाम दिये गये हैं। एक कोने में दिशा-

संकेत भी बना दिया गया है। जेना विश्वविद्यालय के हिलप्रेक्ट-संग्रह में मिट्टी की पाटी पर बना हुआ **निप्पुर नगर का एक मानचित्र** सुरक्षित है। इसमें इस नगर के प्रधान मन्दिर, उपवन, नहरें, और प्राचीर इत्यादि दिखाए गए हैं। यह मानचित्र लगभग १५०० ई०पू० का है। जैसा कि निप्पुर नगर के उत्खनन से मालूम होता है, इसे एक निश्चित पैमाने के अनुसार बनाया गया था। एक अन्य मानचित्र में **निप्पुर नगर के निकटवर्ती प्रदेश का विवरण** दिया गया है।

चिकित्सा-शास्त्र—हम्मूरबी ने अपनी विधि-संहिता में सर्जनों की फीस और उनके इलाज करने में लापरवाही दिखलाने पर दण्ड का विधान किया है। अगर किसी धनी व्यक्ति का ऑपरेशन करने में सर्जन को असफलता मिलती थी और वह व्यक्ति मर जाता था अथवा उसके शरीर में कोई विशेष दोष आ जाता था तो सर्जन के दोनों हाथ काट दिये जाते थे। मध्यम वर्ग के व्यक्ति को हानि पहुँचने पर इस प्रकार का दण्ड नहीं दिया जाता था, परन्तु किसी व्यक्ति का दास यदि इलाज कराते समय मर जाता था तो सर्जन को उसके मालिक को दूसरा दास देना होता था। इलाज कराते समय दास की आँख फूट जाने पर उस दास का मालिक सर्जन से दास का आधा मूल्य वसूल कर सकता था। इससे स्पष्ट है कि हम्मूरबी के समय तक बैबिलोनिया में **चिकित्सक एक विशिष्ट वर्ग के रूप में अस्तित्व में आ चुके थे।** परन्तु अन्धविश्वासी जनता उनके स्थान पर **ओझाओं को अधिक मान्यता** देती थी। **बैबिलोनियनों का** यह विश्वास था कि **रोगों का कारण दैवी-प्रकोप** होते हैं, इसलिए वे दवाओं के स्थान पर जादू, मन्त्र, तावीज और ओझाओं द्वारा की जानेवाली झाड़-फूँक को अधिक प्रभावकारी मानते थे। अगर दवाओं का प्रयोग करते भी थे तो रोग को दूर करने के लिए नहीं वरन् रोगी पर चढ़े भूत-प्रेत को डराने के लिए। इसलिए ये दवाएँ बड़े विचित्र पदार्थों को मिलाकर बनाई जाती थीं। उदाहरण के लिए, कच्चा मांस, सर्प का मांस, तेल, शराब, पिसी हुई हड्डी, सड़ा हुआ भोजन, चर्बी, धूल और मल-मूत्रादि का मिश्रण विशेष प्रभावकारी माना जाता था।
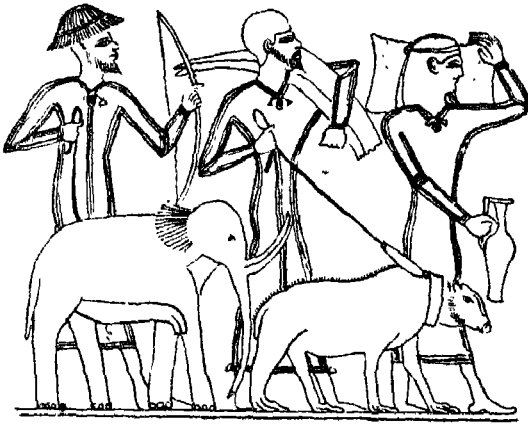
५

प्रतिस्पर्धी साम्राज्यों का युग

"Now the Assyrians, my subjects, have I not written to thee concerning them? Why then they have come to thy land? If thou lovest me, they shall have no success; let them accomplish nothing at all. As a present to thee, 3 minas of lapis, and 5 span of horses for 5 chariots—have I sent thee."

—*A part of the Letter of a Kassite King to Akhenaten.*

विश्व का प्रथम 'अन्तर्राष्ट्रीय युग'

पश्चिमी एशिया में नई शक्तियों का उदय—बैबिलोन के प्रथम वंश के पतन और कसाइटों के उदय से पश्चिमी एशिया के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है, जो लगभग १२०० ई० पू० तक चला। इस युग में

इस पृष्ठ के ऊपर दिया गया चित्र १५ वीं शताब्दी ई० पू० में राज्य करनेवाले मिस्री फराओ रेखमिरे की थीबिज में स्थित समाधि में मिले भित्तिचित्र का एक अंश है। इसमें सीरिया के निवासियों को हाथी, हाथीदाँत तथा अन्यान्य वस्तुएँ भेंटस्वरूप लाते हुए दिखाया गया है।

सभ्य विश्व के एक बहुत बड़े भाग में **'इण्डो-यूरोपियन' या 'आर्य' परिवार की जातियों का प्रवेश** हो जाता है। भारत और ईरान में **इण्डो-ईरानी** आर्यों और यूनान में **ऐकियन** यूनानियों ने इसी युग में प्रवेश किया था। पश्चिमी एशिया में भी इन्डो-यूरोपियन जातियों की कुछ शाखाएँ प्रवेश पाने में सफल हो गईं। बैबिलोन के **कसाइटों** और एशिया माइनर के **हित्तियों** के शासक निश्चित रूप से आर्य-परिवार से सम्बद्ध थे। यही बात मितन्नियनों के विषय में भी कही जा सकती है। इन अर्द्ध-आर्य राज्यों का उत्कर्ष पश्चिमी एशिया में **सेमाइट जाति के प्रभुत्व के लिए चुनौती** था। **मिस्र** में यह युग हिक्सेस आक्रमण के पश्चात् साम्राज्य की स्थापना और प्रसार का था। वहाँ के १८ वें और १९ वें वंश के शासकों ने पश्चिमी एशिया के फिलिस्तीन और दक्षिणी सीरिया इत्यादि प्रदेशों में भी अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। उनके प्रसार में मितन्नी राज्य ने विशेष बाधा नहीं डाली। उसके शासकों ने प्रारम्भ से ही मिस्र के साथ मैत्री और विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर लिए। परन्तु हित्ती सम्राटों ने मिस्री प्रसार का दृढ़ता से प्रतिरोध किया। इसमें वे कुछ समय के लिए सफल भी हुए। मितन्नी राज्य को तो उन्होंने समूल ही नष्ट कर दिया। **कार-दुनियाश** (बैबिलोनिया) के कसाइटों ने इस संघर्ष में विशेष भाग नहीं लिया। इन प्रदेशों में उनकी दिलचस्पी साम्राज्य-विस्तार की अपेक्षा अपने व्यापारिक हितों को सुरक्षित रखने में अधिक थी। कसाइटों की इस 'राजनीतिक उदासीनता' का कारण था बैबिलोनिया के उत्तर में **असीरिया का उत्कर्ष**। असीरियन राज्य इस युग में धीरे-धीरे विस्तृत होने लगता है। उसका प्रसार केवल कसाइटों के लिए ही नहीं वरन् मितन्नियनों, हित्तियों, और स्वयं मिस्रियों के लिए भय का कारण बन गया। आरम्भ में मितन्नी राज्य और बाद में हित्ती साम्राज्य ने असीरिया के उत्कर्ष में बाधा डाली, परन्तु इन दोनों के पतन और मिस्री साम्राज्य के विघटन के उपरान्त असीरिया को रोकने वाली कोई शक्ति न रही। इसका परिणाम पश्चिमी एशियाई राज्यों को ही नहीं वरन् मिस्र को भी भुगतना पड़ा।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का स्वरूप—मिस्र और पश्चिमी एशिया की इन शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष और उत्थान-पतन पर मिस्री सम्राट् अख्नाटन (अमेनहेतेप चतुर्थ) के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित अभिलेखों से विशेष रूप से प्रकाश मिलता है, जो उसकी राजधानी अखटाटन (आधुनिक तेल-एल-अमर्ना) के उत्खनन में प्राप्त हुए हैं। ये अभिलेख आजकल लन्दन, बर्लिन और काहिरा संग्रहालयों में सुरक्षित रखे हैं। इनसे प्राप्त ज्ञान का समर्थन और संवर्धन अना-

तोलिया में बोघज़कोई (प्राचीन हत्तुसस) स्थान से हित्ती-अभिलेख-संग्रहालय की सामग्री से हुआ है। इन अभिलेखों से १५ वीं शताब्दी से लेकर १३ वीं शताब्दी ई० पू० के अन्त तक राज्य करनेवाले मिस्री और पश्चिमी एशियाई **शासकों के बहुत से व्यक्तिगत पत्र** प्रकाश में आये हैं जिनसे न केवल तत्कालीन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों और शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने के लिए किये गये प्रयासों का ज्ञान होता है वरन् तत्कालीन राजाओं के **कूटनीतिक दाँव-पेंच, गर्व, लोभ और पारस्परिक विद्वेष का परिचय** भी मिलता है। कुछ पत्र, विशेषतः वे जो मितन्नी राजा दुश्रत्त (दशरथ ?) द्वारा मिस्री फराओ अमेनहेतेप तृतीय और अमेनहेतेप चतुर्थ को भेजे गये थे, बहुत ही भावपूर्ण हैं। ये इन दोनों राजवंशों के **स्नेहपूर्ण सम्बन्ध** का प्रमाण हैं। इन पत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि, कसाइट, असीरियन, मितन्नियन और हित्ती इत्यादि पश्चिमी एशियाई शासकों के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत खराब थे और मिस्र के शासक इस परिस्थिति से लाभ उठाकर, कूटनीति और स्वर्ण की सहायता से, उनको एक दूसरे से लड़ाते रहते थे। मिस्र के स्वर्ण ने पश्चिमी **एशियाई शासकों के लोभ को** बहुत बढ़ा दिया था। उनके द्वारा भेजे गये बहुत से पत्रों में फराओ से अधिक धन की माँग की गई है अथवा प्रतिज्ञात धन के न पहुँचने पर शिकायत की गई है। एक पत्र में असीरियन शासक असुर-उबाल्लित अख्नाटन से माँग करता है कि अगर उसने मितन्नी राज्य को २० टेलेण्ट स्वर्ण दिया है तो उसे भी उतना ही मिलना चाहिए। कारदुनियाश का शासक बुर्न-बुरियाश एक पत्र में अख्नाटन को सलाह देता है : 'अगर राजाओं को स्वर्ण दिया जाता है तो भ्रातृभाव और शान्ति में वृद्धि होती है तथा मैत्री स्थापित होती है।' एक और पत्र में वह शिकायत करता है कि मिस्र से स्वर्ण लानेवाले पदाधिकारियों ने फराओ द्वारा भेजी गई ठोस स्वर्ण की मूर्तियाँ अपने पास रख ली हैं और उनके स्थान पर उसे स्वर्ण-पत्र चढ़ी मूर्तियाँ दे दी हैं।

मिस्री और पश्चिमी एशियाई शासक राजनीतिक सम्बन्धों को दृढ़ करने के लिए **विवाह-सन्धियाँ** भी करते थे। हित्तियों के विवाह-सम्बन्ध मितन्नी और मिस्र राज्यों से तथा मिस्र के विवाह-सम्बन्ध मितन्नी और अन्य अनेक राज्यों से थे। मिस्र की शक्ति, वैभव और प्राचीन सभ्यता से प्रभावित होकर एशियाई नरेश उसके सम्राटों की कृपा पाने के लिए सदैव लालायित रहते थे और इसके लिए प्रसन्नतापूर्वक अपनी राजकुमारियों का विवाह मिस्री शासकों से कर देते थे। परन्तु मिस्र के शासक अपनी राजकुमारियों को किसी विदेशी को देना गौरव के प्रतिकूल मानते थे। कारदुनियाश के कसाइटों ने इसके लिए मिस्री

फराओ के पास कई उलाहने भेजे थे। ऐसी ही एक शिकायत का उत्तर देते हुए एक पत्र में अमेनहेतेप तृतीय लिखता है : 'पुरातन काल से ही मिस्र के किसी राजा की पुत्री को किसी विदेशी को नहीं दिया गया है।' इस उत्तर से कार-दुनियाश के गर्वीले नरेश को सन्तोष नहीं होता। वह उत्तर देता है, 'क्यों? तू राजा है और जो चाहे सो कर सकता है। अगर तू उसे (राजकुमारी को) देता है, कोई क्या कह सकता है''''अगर तू मेरे लिए किसी (राजकुमारी) को नहीं भेजेगा तो मैं भी, तेरी तरह, तेरे लिए कोई पत्नी नहीं भेजूँगा।'

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में देवताओं का स्थान—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में देवताओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। मितन्नी राज्य ने कुछ समय के लिए असीरिया पर अधिकार कर लिया था। इस आधिपत्य के समय मितन्नी शासक दुश्रत्त ने **निनेवेह की ईश्तर की पवित्र प्रतिमा** मिस्र के शासक अमेनहेतेप तृतीय के पास भेजी थी। इस प्रतिमा के साथ भेजे गये पत्र से मालूम होता है कि इस प्रकार की एक यात्रा ईश्तर ने अमेनहेतेप तृतीय के पिता के शासन काल में भी की थी। इसी प्रकार रेमेसिस द्वितीय ने हित्ती राजकुमारी को प्रेतात्मा के चंगुल से बचाने के लिए अपने देवता **खोन्सु** को हित्ती साम्राज्य की राजधानी हत्तुसस भेजा था। प्राचीन युग में यह विश्वास किया जाता था कि अगर किसी देश का कोई देवता या देवी किसी अन्य देश की यात्रा करते हैं और वहाँ उन्हें पर्याप्त आदर मिलता है तो उस देश का, जिसकी यात्रा की जाती है, कल्याण होता है। यह विश्वास काफी पुराने समय से चला आया था। उदाहरणार्थ एक बार खुद हम्मूरबी ने एक **एलमी देवी** को वैबिलोन बुलाया था। इसके बाद उसे कुछ कामों में असफलता मिली तो उसने उसे ससम्मान वापस भेज दिया, क्योंकि किसी कारणवश एलमी देवी 'अप्रसन्न हो गई थीं'।

विश्व का प्रथम 'अन्तर्राष्ट्रीय युग'—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के तीसरे पद में मिस्र और एशिया के साम्राज्यों में **संघर्ष** हो रहा था और उनके शासक शक्ति और कूटनीति के द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वियों को नीचा दिखाने का प्रयास कर रहे थे। उनके पारस्परिक सम्बन्ध, **कूटनीतिक दाँव-पेंच** और **सन्धि-विग्रह** पूर्णतः 'आधुनिक' प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ मिस्री फराओ रेमेसिस द्वितीय और हित्ती सम्राट् हत्तुसिलिस् की सुप्रसिद्ध सन्धि की शर्तें **सह-अस्तित्व के आधुनिक सिद्धान्त** को प्रतिध्वनित करती मालूम होती हैं। इसमें दोनों पक्ष इस बात की दृढ़ प्रतिज्ञा करते हैं कि भविष्य में वे कभी एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे और दूसरे राज्य के विद्रोहियों

को शरण नहीं देंगे। इन विशेषताओं के कारण इस युग को विश्व का 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय युग' कहा जा सकता है।

बैबिलोन का कसाइट वंश

बैबिलोन की प्रतिष्ठा के स्थायित्व के कारण—हम्मूरबी के अन्तिम वंशज को परास्त करके बैबिलोनिया (कारदुनियाश) पर अधिकार स्थापित करने-वाले विजेता कसाइट (कश्शु) जाति के थे। उन्हें असीरियन 'कस्सी' और यूनानी 'कस्सोई' नाम से पुकारते थे। पश्चिमी, सेमाइटों के समान कसाइटों ने भी प्रारम्भ से ही बैबिलोन को अपनी राजधानी बनाया। बैबिलोन को यह गौरव मिलने के कई कारण थे। एक तो बैबिलोनियन साम्राज्य के अन्तिम सौ वर्षों में विदेशी आक्रमणों और आन्तरिक संघर्षों के कारण जो उथल-पुथल हुई थी, उससे बहुत से प्राचीन **नगर बिल्कुल नष्ट हो गए थे**। लगश, उम्मा, शरुप्पाक, तथा अन्य बहुत से नगर इस युग के बाद बैबिलोनियन इतिहास में अधिक महत्त्व नहीं रखते। दूसरे, **जिन आर्थिक और राजनीतिक कारणों से बैबिलोन का उत्थान हुआ था, ये अभी तक बने हुए थे**। तीसरे, कसाइटों ने सम्भवतः इस बात को महसूस किया कि बैबिलोन कारदुनियास की **संस्कृति का प्रतीक** था। यह ठीक है कि दक्षिण में 'समुद्र-तट-राज्य' पर सुमेरियन आधिपत्य अभी तक बना हुआ था, तथापि समस्त बैबिलोनिया को मिलाकर देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिमी-सेमाइटों (बैबिलोनियनों) के दो तीन शताब्दियों के शासन का प्रभाव स्थायी रूप से पड़ चुका था। दूसरे शब्दों में देश का स्थायी रूप से सेमेटिकीकरण हो चुका था। अतः यह स्वाभाविक था कि कसाइट **सेमाईटों के प्रमुख नगर** बैबिलोन को अपनी राजधानी बनाते।

बैबिलोन की इस सांस्कृतिक विजय से स्पष्ट है कि **कसाइटों में बैबिलोनियन सांस्कृतिक प्रवाह को रोकने अथवा मोड़ने की शक्ति नहीं थी**। इसके दो कारण थे। एक तो वह आक्रमणकारी होने के कारण **संख्या में बहुत कम थे। दूसरे, सांस्कृतिक रूप से पिछड़े होने के कारण** उनके पास इस क्षेत्र में देने के लिए कुछ नहीं था। यद्यपि उन्होंने बहुत समय तक अपने को सेमाइटों से पृथक् रखा, परन्तु अन्त में उन्हें बैबिलोनियन संस्कृति को अपनाना पड़ा। सम्भवतः 'कैस्पियन' समुद्र के नाम के अतिरिक्त उनकी स्मृति और कहीं सुरक्षित नहीं है।

कसाइटों में आर्य तत्त्व—कसाइट किस जाति के थे इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। हॉल इत्यादि बहुत से विद्वानों का मत है कि कसाइट इण्डो-यूरोपियन (आर्य) परिवार की एक शाखा थे। और इसमें सन्देह भी नहीं है

कि कसाइटों की भाषा और धर्म पर आर्यों का प्रभाव सर्वथा स्पष्ट है। उदाहरणार्थ उनके बहुत से नाम आर्य हैं। उनके नामों के अन्त में बहुधा 'श' का प्रयोग हुआ है। इससे मिलती-जुलती प्रथा यूनानियों में भी प्रचलित थी। कसाइट देवता के लिए **'बुगश'** शब्द का प्रयोग करते थे। यह स्लॉव शब्द 'बोगू' से मिलता-जुलता है। बुगश शब्द का अर्थ 'देव' मानने से कसाइट नाम 'इन्दबुगश' भारतीय नाम 'इन्द्रदेव' का पर्यायवाची बन जाता है। इसी प्रकार उनके धर्म पर भी आर्यधर्म की स्पष्ट छाप है। उनका प्रधान देवता **'सूर्यश'** था जो स्पष्टतः वैदिक देवता सूर्य है। उनके अन्य देवताओं में से एक का नाम **'मरुत्तश'** है जो वैदिक देवता मरुत का कसाइट संस्करण लगता है। इसी प्रकार उनके नामों में प्रयुक्त होने वाला **'इन्द'** शब्द 'इन्द्र' का समानार्थक हो सकता है। कसाइटों पर आर्य प्रभाव का एक अन्य प्रमाण उनकी **अश्वपालन में रुचि** है। स्मरणीय है कि आर्य परिवार की लगभग सभी जातियाँ अश्वपालक थीं। अश्व का सर्वप्रथम उल्लेख हम्मूरबी के एक अभिलेख में 'पर्वतीय गधे' के रूप में मिलता है, जिसे कसाइट व्यापारी बैबिलोन में लाते होंगे। वास्तव में सेमाइटों के विरुद्ध कसाइटों की सफलता का कारण तथा **बैबिलोनियन संस्कृति को कसाइटों की प्रमुखतम देन अश्वपालन** है। उनके आगमन के पूर्व बैबिलोनिया में गधे और बैल यातायात के प्रमुख साधन थे। कसाइटों के आने के बाद अश्व का प्रयोग समस्त एशिया में यातायात और आरोहण के लिए होने लगा।

कसाइटों में आर्येतर तत्त्व—उपर्युक्त तथ्यों के कारण हॉल इत्यादि अनेक विद्वानों ने कसाइटों को इन्डो-यूरोपियन परिवार का सदस्य माना है। परन्तु यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि कसाइटों का केवल शासक वर्ग, और अधिक से अधिक सामन्त वर्ग आर्य था। कसाइटों की साधारण जनता जगरोस पर्वतों (आधुनिक लूरिस्तान) पर निवास करने वाली एक प्राचीन बर्बर जाति थी। उसका देवता सम्भवतः **'कश्शु'** कहलाता था जिसके नाम पर इस जाति का नाम कसाइट पड़ा। उन पर इन्डो-ईरानी आर्यों की किसी शाखा ने अधिकार कर लिया होगा। ईरान में आर्यों का दबाव बढ़ने पर अपने आर्य शासकों के नेतृत्व में कसाइट बैबिलोनिया की ओर चले आए। इस प्रकार कसाइटों का बैबिलोन में आगमन आर्य जाति के उस महान स्थानान्तरण का परिणाम था जिसके कारण भारत में वैदिक आर्यों, ईरान में ईरानी आर्यों, एशिया माइनर में हित्ती जाति तथा कप्पेडोशिया में मितन्नी आर्यों की सत्ता स्थापित हुई।

राजनीतिक इतिहास—बैबिलोन के इतिहास में कसाइट वंश **तृतीय राजवंश** कहलाता है। इस वंश का संस्थापक **गण्डाश** नाम का व्यक्ति था। उसने बेल मर्दुक के मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया और 'चतुर्दिक् सम्राट' तथा 'सुमेर और अक्काद का राजा' उपाधियाँ धारण कीं। इससे स्पष्ट है कि उसका राज्य काफी विस्तृत रहा होगा। गण्डाश के उत्तराधिकारियों के इतिहास पर प्रकाश देनेवाली सामग्री अत्यल्प है। यद्यपि हमें बहुत से कसाइट राजाओं के नाम मालूम हैं परन्तु उनमें अधिकांश के बारे में **ऐतिहासिक महत्त्व के तथ्य अज्ञात हैं**। उनको क्रमानुसार स्थान देने का प्रश्न भी अभी तक विवादग्रस्त बना हुआ है। हमारे ज्ञान की इस अपूर्णता का कारण उपयोगी साक्ष्य का प्रकाश में न आना भी हो सकता है और इस युग में उल्लेखनीय राजनीतिक घटनाओं का अभाव भी। उन घटनाओं में, जो हमें ज्ञात हैं, सबसे महत्त्वपूर्ण कसाइटों द्वारा **समुद्र-तट-प्रदेश राज्य की विजय** है जिसका पहिले ही उल्लेख किया जा चुका है। कसाइटों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर मिस्र में तेल-एल अमर्ना तथा एशिया माइनर में बोघजकोई स्थलों से प्राप्त अभिलेखों से पर्याप्त प्रकाश मिला है। इनसे मालूम होता है कि **कसाइटों के प्रमुख उद्देश्य थे पश्चिमी एशिया में अपने व्यापारिक हितों को सुरक्षित रखना और असीरिया के प्रसार को रोकना**। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए वे मिस्र, मितन्नी तथा अन्य राज्यों से पत्र-व्यवहार करते रहते थे। एक पत्र में कसाइट नरेश बुर्न-बुरियाश मिस्र के शासक अखनाटन से असीरियनों को सहायता देने पर शिकायत करते हुए कहता है:

"क्या मैंने तुझे असीरियनों के बारे में, जो मेरी प्रजा हैं, नहीं लिखा था? फिर वे तेरे राज्य में क्यों आए हैं? अगर तू मुझसे प्रेम करता है, तो उन्हें कोई सहायता मत देना। भेंट स्वरूप तेरे लिए तीन मीना लेपिस और पाँच रथों के लिए पाँच युग्म अश्व भेज रहा हूँ।"

इसी प्रकार एक पत्र में वह मिस्री सम्राट् से केनान में, जो मिस्री साम्राज्य के अन्तर्गत था, लूटे गए बैबिलोनियन काफिलों की **क्षतिपूर्ति करने की माँग** करता है। एक और पत्र में वह केनान में बैबिलोनियन व्यापारियों के मारे जाने पर हर्जाने की माँग करता है और चेतावनी देता है कि अगर इन विद्रोही कबीलों का दमन नहीं किया जायगा तो बैबिलोन और मिस्र के व्यापारिक सम्बन्ध टूट जायेंगे।

कसाइट वंश का पतन—कसाइट वंश की शक्ति के **ह्रास का प्रमुख कारण** उत्तर में असीरिया का उत्कर्ष था। असीरियनों की लोलुप दृष्टि प्रारम्भ से

ही बैबिलोनिया के उर्वर भूप्रदेश पर लगी हुई थी। वे पहले मितन्नी और हित्ती राज्यों से प्रतिद्वन्द्विता के कारण दक्षिण में कोई प्रगति न कर सके, परन्तु इन राज्यों के पतन के बाद उनको रोकने वाली कोई शक्ति नहीं बची और बैबिलोन के दुर्बल कसाइटों के लिए उनका सामना करना असम्भव हो गया। उनके झगड़े बहुधा **सीमा सम्बन्धी विवादों** से प्रारम्भ होते थे। इन झगड़ों में कूटनीति अथवा शक्ति-प्रदर्शन के द्वारा असीरिया सदैव उन्हें दबा लेता था। कसाइटों को केवल असीरिया से ही भय नहीं था, एलम भी उनकी निर्बलता से लाभ उठाने की चेष्टा कर रहा था। १२ वीं शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में **एलम का सबसे भयंकर** आक्रमण हुआ। इस आक्रमण ने बैबिलोन में एक राष्ट्रीय प्रतिक्रिया को जन्म दिया, जिसके कारण ११८५ ई० पू० में कसाइट वंश का अन्त हो गया।

मिस्र का एशियाई साम्राज्य

मिस्र के एशियाई साम्राज्य का अन्त—यूनानी आक्रमण के पूर्व मिस्र ही एकमात्र अ-एशियाई शक्ति था जिसने पश्चिमी एशिया के कुछ प्रदेशों पर अधिकार स्थापित करने में सफलता पाई। मिस्र के एशियाई साम्राज्य का इतिहास १६ वीं शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध से प्रारम्भ होता है। जब मिस्र में हिक्सोस आधिपत्य का अन्त करके पुनः स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया गया तब अंशतः प्रतिशोध के लिए और अंशतः एशिया के अरक्षित परन्तु उपजाऊ प्रान्तों पर अधिकार स्थापित करने के लिए **१८ वें वंश के शासकों** ने सीरिया के उत्तर में फरात नदी तक धावे मारे। उस समय बैबिलोन पर दुर्बल कसाइटों का, जो राजनीति से अधिक व्यापार में दिलचस्पी रखते थे, अधिकार था। हित्ती और मितन्नी राज्यों का उत्कर्ष आरम्भ हो गया था परन्तु उनकी शक्ति अभी एशिया माइनर और आस-पास के प्रदेशों तक सीमित थी। असीरियन शासक भी अभी तक पर्याप्त शक्तिशाली नहीं हो पाये थे। स्पष्ट है कि उस समय **पश्चिमी एशिया में ऐसी कोई शक्ति नहीं** थी जो मिस्री सम्राटों की महत्त्वाकांक्षा पर बन्धन लगा पाती। अतः धीरे-धीरे उनका भूमध्यसागर के पूर्वी तटवर्ती प्रदेश पर अधिकार स्थापित होने लगा। अर्थात् पश्चिम एशिया के राज्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यह स्वीकृत करने लगे कि सीरिया और फिलिस्तीन मिस्र के प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। लेकिन **थट् मोस प्रथम** ने भी प्रारम्भिक मिस्री साम्राज्यवादियों की भाँति इन प्रदेशों को अपने साम्राज्य का विधिवत अंग नहीं बनाया। वे वहाँ केवल लूट-पाट के लिए जाते थे और अपना उद्देश्य पूरा होते

ही लौट आते थे। दुर्गों या प्राचीरों से सुरक्षित नगरों को जीतने का तो वे कष्ट ही नहीं उठाते थे।

थट्मोस तृतीय और उसके उत्तराधिकारी—इस नीति में सबसे पहले थट्मोस तृतीय ने कुछ परिवर्तन किया। उसने कम-से-कम फिलिस्तीन और दक्षिणी सीरिया को अपने साम्राज्य के प्रान्तों का रूप दिया। तेल-एल-अमर्ना पत्रों में दक्षिणी सीरिया, फिलिस्तीन और फिनीशिया के गवर्नरों और अधीन सामन्तों द्वारा उसको भेजे गये पत्र सुरक्षित हैं। उसने इन प्रदेशों में अपनी सुरक्षा सेनाएँ भी रखीं जिससे उसको वहाँ से यथासमय कर आदि मिलता रहे, बाह्य आक्रमणों का प्रतिरोध किया जा सके और विद्रोहियों को दबाया जा सके। परन्तु उत्तरी सीरिया में उसने और उसके उत्तराधिकारियों ने थट्मोस प्रथम की लूटपाट द्वारा प्रभाव बनाये रखने की नीति जारी रखी। उस पर उन्होंने व्यवस्थित रूप से अधिकार स्थापित करने का कोई प्रयास नहीं किया। कादेश जैसे सुरक्षित स्थानों में तो वे सम्भवतः गए ही नहीं। फिर भी इस प्रदेश को मिस्र के प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता था। यहाँ के सब राज्य उन्हें समय-समय पर कर और भेंट आदि देकर सन्तुष्ट रखना बुद्धिमत्ता समझते थे। फरात के पार मितन्नी राज्य, अनातोलिया का हित्ती राज्य और बैबिलोनिया के कसाइट भी इसी नीति का पालन करते थे। यह स्थिति अमेनहेतेप तृतीय के समय तक चलती रही।

साम्राज्य की दुर्बलता के कारण—मिस्र के एशियाई प्रान्तों में मिस्री सभ्यता के प्रभाव के चिह्न बहुत कम मिले हैं। इससे लगता है कि मिस्री शासकों ने यहाँ विशुद्ध मिस्री सैनिकों और अफसरों को अधिक संख्या में नियुक्त नहीं किया था। इस परिस्थिति में मिस्र का एशियाई साम्राज्य स्थायी नहीं हो सकता था। बाह्य आक्रमणों अथवा किसी शक्तिशाली जाति के विद्रोह कर देने पर उसका अन्त सुनिश्चित था। उत्तर की ओर से नवोदित हित्ती जाति के आक्रमण और खुद सीरिया में नई जातियों का उदय होने पर ये दोनों ही कारण उपस्थित हो गए। परन्तु इस गम्भीर संकट के समय मिस्र की सत्ता एक दार्शनिक-अख्नातन—के हाथ में चली गई। इसके फलस्वरूप १४ वीं शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में मिस्र का एशियाई साम्राज्य दो सौ वर्ष तक स्थायी रहने के पश्चात् टूटने लगा।

मिस्र का उन्नीसवाँ वंश और उसके बाद—मिस्र के १९ वें वंश के शासकों ने साम्राज्य को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया और सेती प्रथम ने फिलिस्तीन जीत कर मिस्र का अधिकार कादेश तक विस्तृत करने में सफलता

भी प्राप्त की। परन्तु उस समय हित्ती साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर था, इसलिए उसके उत्तराधिकारी **रेमेसिस द्वितीय** को १२८६ ई० पू० में **कादेश के प्रसिद्ध युद्ध में** पराजय का मुख देखना पड़ा और हित्ती सम्राट् हत्तुसिलिस् तृतीय के साथ सन्धि करनी पड़ी जिसमें हित्ती साम्राज्य को मिस्र के बराबर माना गया। **रेमेसिस द्वितीय के उत्तराधिकारियों** के समय मिस्र की शक्ति बराबर कम होती गई और १३वीं शताब्दी ई० पू० के अन्त तक मिस्र का एशियाई साम्राज्य पूर्णतः नष्ट हो गया। बाद के मिस्री शासकों ने फिलिस्तीन और सीरिया में लूटपाट करने का प्रयास किया परन्तु उनमें किसी को भी स्थायी साम्राज्य का निर्माण करने में सफलता नहीं मिली। इसी बीच में **असीरियन साम्राज्य का उत्थान** हो जाने के कारण मिस्र को खुद अपनी रक्षा करना कठिन हो गया। इसलिए फराओ **नीको द्वितीय** के शासन काल (७वीं शताब्दी ई० पू० का अन्तिम दशक) तक मिस्री नरेश एशिया को जीतने का कोई गम्भीर प्रयास न कर सके।

मितन्नी राज्य

मितन्नी शासक वर्ग में आर्य तत्त्व—मिस्र, असीरिया और हित्ती साम्राज्यों के प्रसार में सब से बड़ी बाधा मितन्नी राज्य था। यह एशिया माइनर के पूर्व, असीरिया के उत्तर-पश्चिम और मिस्र के एशियाई साम्राज्य के उत्तर में था। इसकी **जनसंख्या में हुर्री जाति का बाहुल्य** था, परन्तु **शासक वर्ग** इन्डो-यूरोपियन परिवार का था। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में उन्होंने सम्भवतः पूर्व से आकर इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। वे निश्चित रूप से इन्डो-यूरोपियनों की इन्डो-ईरानी शाखा से सम्बद्ध थे। बोघज़कोई से प्राप्त एक सन्धि-पत्र में (लगभग १४०० ई० पू०) उनके **देवताओं** में इन्द्र, वरुण, मित्र और नासत्य-द्वय को भी सम्मिलित किया गया है। सम्भव है उनकी **भाषा** वैदिक संस्कृति से मिलती-जुलती रही हो। उनके एक, तेर, पंज, सत्त इत्यादि **अंक** तो विशुद्ध भारतीय प्रतीत होते हैं। अन्य आर्य जातियों के समान मितन्नी शासक भी **अश्वपालन में रुचि** रखते थे। उनके एक विद्वान् किक्कुलि ने अश्व-विद्या पर एक ग्रन्थ लिखा था, जो बोघज़कोई के अभिलेख-संग्रहालय में मिला है।

मितन्नी राज्य का चरमोत्कर्ष—मितन्नियनों ने अपनी सेनाओं में अश्वों का प्रयोग करके पश्चिमी एशिया में अपनी धाक जमा ली थी। उन्होंने असीरिया पर अधिकार स्थापित किया, हित्ती शासकों को पराजित किया और मिस्र

के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित किए। असीरियन, हित्ती और मिस्री साम्राज्यों के बीच अवस्थित होने के कारण उनको व्यापारिक उन्नति करने का अवसर भी मिला। लगभग १४५० ई० पू० तक वे **पश्चिमी एशिया की प्रमुख शक्तियों में गिने जाने लगे थे** और मिस्र जैसे शक्तिशाली साम्राज्य के साथ समानता के स्तर पर व्यवहार और विवाह-सम्बन्ध करने लगे थे। १५वीं शताब्दी ई० पू० में मितन्नी शासक **शौश्शतर** ने मिस्री सम्राट् अमेनहेतेप द्वितीय (१४४७-१४२१ ई० पू०) के साथ सन्धि की थी। उसके पुत्र **अर्ततम** की पुत्री मुतेमुआ का विवाह अमेनहेतेप द्वितीय के पुत्र थट्मोस चतुर्थ (१४२१-१४१२ ई० पू०) के साथ हुआ। यह प्रथम विदेशी राजकुमारी थी जो मिस्र की महारानी बनी। थट्मोस चतुर्थ के पुत्र अमेनहेतेप तृतीय (१४१२-१३७६ ई० पू०) ने भी अर्ततम के पुत्र **शुतर्न** की पुत्री गिलुकिपा के साथ विवाह किया, यद्यपि वह महारानी न होकर साधारण रानी मात्र रही। कुछ समय पश्चात् उसने शुतर्न के पुत्र **दुश्रत्त** (दशरथ?) की पुत्री तदुकिपा, अर्थात् गिलुकिपा की भतीजी से भी विवाह किया। दुश्रत्त के अमेनहेतेप तृतीय के साथ सम्बन्ध बहुत ही मैत्रीपूर्ण थे। उसने पिरखी नामक शत्रु पर विजय पाने के बाद अमेनहेतेप तृतीय और गिलुकिपा के पास लूट के माल में से एक रथ और कुछ घोड़े भेंट स्वरूप भेजे, अमेनहेतेप तृतीय की मृत्यु पर संवेदना प्रकट की और अमेनहेतेप चतुर्थ के सिंहासनारोहण पर बधाई सन्देश भेजा। अमेनहेतेप चतुर्थ (अख्नाटन) ने अपनी सौतेली माँ तदुकिपा से विवाह किया। ऐसा विवाह मिस्र में नई बात नहीं थी। हित्ती समाज में भी सम्भवतः ऐसी प्रथा प्रचलित थी।

मितन्नी का पतन—दुश्रत्त के शासन काल में मितन्नी राज्य की शक्ति बहुत बढ़ी हुई थी। एक पत्र में वह निनेवेह की ईश्तर की प्रतिमा को मिस्र भेजने का उल्लेख करता है। इससे स्पष्ट है कि उसका अधिकार असीरिया पर भी था। परन्तु अपने शासन काल के अन्तिम वर्षों में उसे बहुत-से संकटों का सामना करना पड़ा। खुद मितन्नी **राज्य परिवार षड्यन्त्रों का अखाड़ा** बन गया। **असीरिया** ने मितन्नी के प्रभुत्व को मानने से इंकार कर दिया और वहाँ का शासक असुर-उबालित मिस्र से माँग करने लगा कि उसे भी भेंट में दुश्रत्त के बराबर स्वर्ण मिलना चाहिए। हित्ती सम्राट् **सुप्पिलिल्युमस्** की लोलुप दृष्टि भी मितन्नी पर पड़ने लगी। अन्त में दुश्रत्त को उसके अपने पुत्रों ने मार डाला और उसके भाई अर्ततम ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। परन्तु हित्ती सम्राट् सुप्पिलिल्युमस् ने दुश्रत्त के पुत्र मत्तिउवाजा का विवाह अपनी पुत्री के साथ कर दिया और फिर अपने दामाद का पक्ष लेकर अर्ततम को पराजित किया और

एक छोटे से मितन्नी राज्य की पुनर्स्थापना की। परन्तु अब यह राज्य हित्ती साम्राज्य का एक करद राज्य मात्र था। **इसकी पुरानी शक्ति और गौरव समाप्त** हो चुके थे।

हित्ती साम्राज्य

हित्ती साम्राज्य का प्रसार—मितन्नी साम्राज्य का पतन हित्ती साम्राज्य के उत्कर्ष का सूचक है। इसके बाद हित्तियों के लिए सीरिया पर आक्रमण करना सहज हो गया। परन्तु सीरिया पर आक्रमण करने का अर्थ था मिस्र के साथ संघर्ष। इस संघर्ष और हित्ती सभ्यता और संस्कृति का विस्तृत विवेचन हमने अगले अध्याय में किया है।

प्रारम्भिक असीरिया

भौगोलिक परिस्थिति—असीरिया भौगोलिक दृष्टि से दजला नदी के पूर्व और दक्षिणी जेब के उत्तर का भूखण्ड है। यद्यपि यह **मेसोपोटामिया का अंग नहीं है,** तथापि पूर्व और उत्तर में स्थित पर्वतों द्वारा अन्य देशों से कटा हुआ होने और दक्षिण में दजला नदी के द्वारा बैबिलोनिया से सम्बद्ध होने के कारण इसे बहुधा उत्तरी मेसोपोटामिया के अन्तर्गत मान लिया जाता है। यह बैबिलोनिया के समान पूर्णतः समतल न होकर अंशतः **पर्वतीय है,** इसलिए यहाँ की **जलवायु अधिक ठण्डी और शक्तिवर्द्धक है।** यहाँ पर छोटी-छोटी नदियों की कई घाटियाँ हैं जिनमें असीरियन गेहूँ और जौ इत्यादि की खेती करते थे और पशु चराते थे। प्रारम्भ में उनका मुख्य **भारवाहक पशु** गधा था। बाद में, कसाइटों के सम्पर्क में आने पर, वे अश्वपालन से भी परिचित हो गए।

असीरिया जाति—असीरियन **सेमेटिक जाति की** एक शाखा थे और **अक्कादी भाषा** से मिलती-जुलती भाषा बोलते थे। बैबिलोनियनों के समान उन्होंने भी **सुमेरियन सभ्यता के बहुत से तत्त्व अपना लिए थे।** परन्तु इन समानताओं के बावजूद असीरियनों और बैबिलोनियनों में अन्तर था। बैबिलोनियन छोटे कद के परन्तु गठीले होते थे और असीरियन **लम्बे तथा ताकतवर।** सुमेरियन प्रभाव के आधिक्य, नागरिक जीवन की सुविधाओं और मैदानी जलवायु के कारण बैबिलोनियन शान्तिप्रिय और विलासी हो गए थे और व्यापार में अधिक रुचि लेने लगे थे। इसके विपरीत पर्वतीय जलवायु और पड़ोस की बर्बर जातियों से बराबर संघर्ष करते रहने के कारण असीरियन **कर्मठ, युद्धप्रिय और क्रूर** हो गए थे। वे व्यापार के स्थान पर **कृषि को अधिक महत्त्व** देते थे।

प्रारम्भिक असीरिया का राजनीतिक इतिहास—असीरियनों का प्रारम्भिक राजनीतिक इतिहास अभी तक तिमिराच्छन्न है। पुरातात्त्विक अन्वेषणों से यह निश्चित प्रतीत होता है कि वे असीरिया में तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में, अथवा उसके कुछ पहले, प्रवेश कर चुके थे। उन्होंने वहाँ छोटे-छोटे **नगर-राज्यों** की स्थापना की, जिनके शासक सुमेरियन नगर-राज्यों के शासकों के समान **पटेसी** कहलाते थे। तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त में दजला नदी के पश्चिमी किनारों पर स्थित **असुर** ने, जो इन असीरियन नगरों में सर्वाधिक प्रसिद्ध था, **हम्मूरबी की सत्ता** स्वीकृत की थी। असुर के नाम पर ही कालान्तर में यह देश असीरिया और इस के निवासी असीरियन कहलाए।

स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष—हम्मूरबी के वंश का पतन होने पर असीरिया ने स्वतन्त्र होने का प्रयास करना आरम्भ कर दिया। बैबिलोन के नए **कसाइट** शासक दुर्बल थे। उनमें दुर्दम्य असीरियनों को नियन्त्रण में रखने की क्षमता नहीं थी। धीरे-धीरे असीरियनों की शक्ति बढ़ती गई और वे उल्टे बैबिलोन को जीतने का स्वप्न देखने लगे। लेकिन तभी उनके पड़ोस में **मितन्नी राज्य का उदय** हुआ और मिस्र के सम्राटों ने पश्चिमी एशिया पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। असीरियनों ने **मिस्री सम्राटों** के पास भेंट इत्यादि भेजने में तत्परता दिखाई परन्तु मिस्रियों ने मितन्निया की मित्रता को अधिक महत्त्व दिया। इससे मितन्नियनों को असीरिया को अपने प्रभुत्व में लाने में सहायता मिली। इसीलिए मितन्नी शासक दुश्रत्त असीरियनों की देवी ईश्तर की प्रतिमा को मिस्र भेज सका था।

असुर-उबालित—असीरियनों को मिस्री आधिपत्य से मुक्ति दिलाने वाला व्यक्ति **असुर उबालित** (लगभग १३७५–१३४० ई० पू०) था। दुश्रत्त की वृद्धावस्था के समय फैली अव्यवस्था से लाभ उठा कर वह स्वतन्त्र हो गया। उसने मिस्र के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किए और दुश्रत्त की मृत्यु के बाद मितन्नी राज्य के पूर्वी प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। परन्तु उसकी इस सफलता के बावजूद असीरियनों की कठिनाइयों का अन्त नहीं हुआ। मितन्नी के पतन के पश्चात् **हित्ती साम्राज्य** ने असीरियन प्रसार में बाधा डाली। कारदुनियाश के कसाइट तो यदाकदा असीरिया को अपने प्रभुत्व के अन्तर्गत लाने की चेष्टा करते ही रहते थे।

शलमनेसर प्रथम—परन्तु इन कठिनाइयों के बावजूद असीरियन राज्य शनैः शनैः अधिकाधिक विस्तृत होता गया। बैबिलोन के साथ सीमा सम्बन्धी झगड़े मोल लेकर, कभी कूटनीति और कभी शक्ति-प्रदर्शन के द्वारा असीरियन

दक्षिण की ओर बढ़ते गए। इसके साथ **बैबिलोनियन राजनीति में भी उनका हस्तक्षेप** बढ़ता गया। श्लमनेसर प्रथम (१२९५–१२५० ई० पू०) पहला असीरियन शासक था जिसने फ़रात नदी तक धावे मारे और दजला तथा फ़रात के बीच असीरियन उपनिवेश स्थापित किये। उसने अपनी **राजधानी** अशुर से हटाकर **कल्ह्री नगर** में स्थापित की। इस नगर को यह गौरव तिगलथपिलेसर प्रथम के समय तक मिला। श्लमनेसर पहला असीरियन नरेश था जिसने 'अशुरराज' के साथ 'किश्शति राज' (विश्व का स्वामी) विरुद धारण किया।

तुकुल्ती-निनुर्त और उसके उत्तराधिकारी—श्लमनेशर प्रथम का पुत्र **तुकुल्ती-निनुर्त अथवा तुकुल्ती-निनिब** (१२५०–१२४१ ई० पू०) अपने पिता से अधिक प्रतापी सिद्ध हुआ। १२४८ ई० पू० में उसने **बैबिलोन को जीतकर** और 'सुमेर और अक्काद का स्वामी' विरुद धारण करके असीरियनों की चिरसंचित अभिलाषा को पूर्ण किया। परन्तु बैबिलोन पर उसका आधिपत्य केवल सात वर्ष रह पाया। १२४१ ई० पू० में बैबिलोनियनों ने असीरियनों को मार भगाया। इतना ही नहीं **तुकुल्ती-निनुर्त के उत्तराधिकारियों के शासन काल** में उन्होंने असीरिया पर प्रत्याक्रमण किये और अन्त में उस पर पुनः अधिकार स्थापित करने में भी सफलता प्राप्त की। लगभग इसी समय ११८३ ई० में बैबिलोन में दुर्बल **कसाइट वंश का अन्त हुआ** और शक्तिशाली 'पाशे के वंश' की स्थापना हुई। इससे असीरियनों की कठिनाइयाँ और बढ़ गईं। यह अवस्था १२ वीं शती ई० पू० के अन्त में तिगलथपिलेसर प्रथम के राज्यारोहण तक चलती रही।

प्रारम्भिक असीरिया की सभ्यता—असीरियन प्रारम्भ से ही बैबिलोनियनों के सम्पर्क में रहे। राजनीतिक दृष्टि से भी उन्हें बहुधा सारगोन और हम्मूरबी जैसे सम्राटों की सत्ता स्वीकृत करनी पड़ी। इसलिए उनकी सभ्यता के अधिकांश तत्त्व—धर्म, साहित्य, लिपि, स्थापत्य और वास्तुकला आदि—या तो विशुद्ध बैबिलोयन हैं अथवा **बैबिलोयन तत्त्वों से प्रभावित**। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि असीरियन सभ्यता बैबिलोनियन सभ्यता का ही रूपान्तर मात्र है। यह सर्वथा स्पष्ट है कि **असीरियन सभ्यता बैबिलोनियन सभ्यता से प्रभावित होते हुए भी बहुत कुछ स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई** और यह विकास असीरिया की अपनी परिस्थिति के अनुसार हुआ। उदाहरणार्थ असीरियनों को भौगोलिक परिस्थिति के कारण अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए सदैव युद्धके लिए तत्पर रहना पड़ा। वे लगभग एक सहस्र वर्ष तक विदेशियों के आक्रमण सहन करते रहे। इसके बड़े महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए।

एक, असीरियन **राज्य की शक्ति का मूलाधार सेना** और असीरियनों का **मुख्य उद्योग युद्ध करना** हो गए। दूसरे, लगातार युद्ध करते-करते वे **क्रूर और अत्याचारी** हो गए। इसलिए आगामी युग में जब वे पश्चिमी एशिया की **सर्वोच्च** शक्ति बने तो उन्होंने अपनी क्रूरता और निर्दयता से विश्व को दहला दिया। लगातार युद्ध करते रहने का प्रभाव उनके धर्म पर भी पड़ा। उनका **प्रधान देवता अशुर** आरम्भ में मिस्री देवता ओसिरिस के समान प्रतिवर्ष मर कर पुनरुज्जीवित हो जाने वाली वनस्पति का प्रतीक था। कालान्तर में, जब युद्ध असीरियनों का राष्ट्रीय उद्यम हो गया तो अशुर को भी युद्ध का देवता माना जाने लगा।

विदेशी प्रभाव—युद्धों के कारण असीरियन ऐसी बहुत सी जातियों के सम्पर्क में आए, जिनकी सभ्यता का उनके ऊपर प्रभाव पड़ा। जब वे **हित्तियों** के सम्पर्क में आए तो उन्होंने उनसे लोहे के उपकरण और शस्त्र बनाने की कला सीखी। **उत्तरी सीरिया के हित्तियों** से असीरियन कलाकारों ने अपने भवनों में **द्वार-मण्डप** बनाना और पाषाण के रिलीफ-चित्रों में अपने शासकों की कीर्त्ति को अंकित करना सीखा। असीरिया में चूना-पत्थर, संगमरमर और अन्य कठोर पाषाण अनायास उपलब्ध थे, इसलिए उनके लिए वास्तुकला और स्थापत्य में नए-नए प्रयोग करना कठिन नहीं था। इसके विपरीत बैबिलोनियनों को सदैव ईंटों पर निर्भर रहना पड़ा था। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि **असीरिया की सभ्यता आरम्भ से ही स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई थी और उस पर बैबिलोनिया के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों की सभ्यताओं का भी प्रभाव पड़ा था।**

६

हित्ती इतिहास और सभ्यता

"In order that the land of Mitanni, the great land, may not disappear, hath the great king Suppiluliumas summoned it to life for the sake of his daughter. For Mattiuaza, the son of Dushratta, have I taken by the hand, and have given him my daughter to wife."

—*A part of an Inscription of Suppiluliumas.*

"There shall be no hostilities between them, for ever. The great chief of Kheta shall not invade the land of Egypt, forever, to take any thing there from, and Rameses-Meriamen, the great prince of Egypt, shall not invade the land of Kheta, to take anything there from, forever."

—*A clause of the treaty of* 1269 *B.C. between Hattusilis III of Hattusas and Pharaoh Rameses of Egypt.*

इतिहास जानने के साधन

साहित्यिक और आभिलेखिक साक्ष्य—अब से लगभग ९० वर्ष पूर्व तक हित्ती जाति का इतिहास जानने के साधन केवल पुरानी बाइबिल और

इस पृष्ठ के ऊपर हित्ती नरेश तारकोन्देमोस की रजत मुद्रा का चित्र दिया गया है। मुद्रा के मध्य भाग में राजा को पुजारी वेश में खड़े हुए दिखाया गया हैं। उसके दोनों ओर चित्राक्षर लिपि में कुछ लिखा है। दोनों ओर के चित्राक्षर एक से हैं। मुद्रा के शेषांश में, अर्थात् किनारे पर चारों ओर कीलाक्षर लिपि में 'तारकोन्देमोस, मेरा देश का नरेश' लिखा है। अगर चित्राक्षर लिपि में भी यही शब्द लिखे हैं, तो इसे हित्तियों की एकमात्र ज्ञात द्विभाषी मुद्रा मानना होगा।

मिस्री अभिलेखों में उसके विषय में मिलने वाले उल्लेख थे। **पुरानी बाइबिल में** हित्ती जाति का उल्लेख फिलिस्तीन के उन क़बीलों के साथ हुआ है जो इजरायलियों के उस देश में आने के समय बसे हुए थे। **मिस्र के अभिलेखों** से पता चलता है कि 'हेता' नाम के एक राज्य ने अट्ठारहवें वंश के शासक थट्मोस तृतीय का प्रतिरोध किया था तथा, कालान्तर में, रेमेसिस द्वितीय के विरुद्ध कादेश का प्रसिद्ध युद्ध लड़ा था और उसके शासनकाल के अन्तिम वर्षों में मिस्र के साथ समानता के स्तर पर एक सन्धि की थी। **असीरियन कीलाक्षर अभिलेखों** से भी मालूम होता है कि असीरियन शासक बारहवीं शताब्दी ई० पू० के अन्तिम वर्षों से सीरिया को 'हित्ती देश' नाम से जानते थे। इन सब साक्ष्य से केवल यही निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि इजरायलियों के आगमन के समय हित्ती नामक एक अर्धसभ्य जाति फिलिस्तीन में बसी हुई थी और बाद में उसने सीरिया में कुछ लघु-राज्य स्थापित किए थे। परन्तु इनके आधार पर यह कल्पना करना सर्वथा असम्भव था कि द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० में इस जाति ने पश्चिमी एशिया में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया था और शताब्दियों तक मिस्र के साम्राज्यवादी नरेशों का दृढ़तापूर्वक प्रतिरोध किया था।

पुरातात्त्विक साक्ष्य—लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी ई० के अन्तिम दशकों में परिस्थिति में शनैः शनैः परिवर्तन होने लगा। सीरिया और एशिया माइनर में बहुत से स्थानों पर, विशेषतः तोरुस पर्वत माला के पश्चिम में, ऐसे **स्मारक** प्राप्त हुए जिन पर एक प्रकार की चित्राक्षर (हाइरोग्लाइफिक) लिपि में अभिलेख उत्कीर्ण थे। सर्वप्रथम १८७६ ई० में ए० एच० सायस नामक विद्वान् ने यह सम्भावना प्रकट की कि इन अभिलेखों का सम्बन्ध हित्ती जाति से रहा हो सकता है। जैसे जैसे प्राप्त स्मारकों और अभिलेखों की संख्या बढ़ती गई, विद्वानों का आकर्षण भी बढ़ता गया। ऐसी स्थिति में १८८७ ई० में मिस्र में **तैल-एल-अमर्ना-पत्र** प्राप्त हुए जिनसे हित्ती जाति के इतिहास पर बहुत प्रकाश मिला। इनमें कुछ पत्र मिस्र के फिलिस्तीन और सीरिया में स्थित अधीन राजाओं के थे जिनमें उन्होंने हित्ती जाति के शासकों की गतिविधि के सम्बन्ध में सूचनाएँ भेजी थीं। ये बैबिलोनिया की अक्कादी भाषा और कीलाक्षर लिपि में लिखे हुए थे। एक पत्र खुद हित्ती शासक सुप्पिलुल्युमस् का था जिसमें उसने अख्नाटन के राज्यारोहण पर बधाई-सन्देश भेजा था। दो अन्य पत्र एक अज्ञात भाषा में अर्जावा नामक देश के शासक को भेजे गये पत्रों की नक़ल थे। बाद में ऐसे कुछ खंडित अभिलेख एशिया माइनर में **बोग़ज़कोई** नामक स्थान

पर भी प्राप्त हुए जिससे उत्साहित होकर जर्मन विद्वान् **डॉ० विंकलर** ने वहाँ उत्खनन-कार्य कराया। इसमें उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई, क्योंकि उन्हें उस स्थान पर एक **राजकीय-अभिलेख-संग्रहालय** प्राप्त हुआ, जिसके कारण लगभग **दस सहस्र कीलाक्षर अभिलेख** प्रकाश में आये। इनमें अधिकांश तैल-एल-अमर्ना के उपर्युक्त अर्जावा पत्रों की अज्ञात भाषा में थे, और शेष बैबिलोनिया की अक्कादी भाषा में। उनके प्रारम्भिक अध्ययन से ही यह स्पष्ट हो गया कि बोघज़कोई नगर प्राचीन काल में हित्ती देश की राजधानी था और अर्जावा-पत्रों की भाषा वहाँ की राजभाषा थी। इसलिए इस भाषा को अब हित्ती-भाषा कहा जाने लगा। इस खोज से यह भी निश्चित हो गया कि हित्ती जाति का क्रीड़ास्थल फिलिस्तीन अथवा सीरिया न होकर एशिया माइनर था। इन अभिलेखों में रेमेसिस द्वितीय और हित्ती शासक के बीच में हुई सन्धि का एक हित्ती संस्करण भी उपलब्ध हुआ, जिससे हित्ती इतिहास के पुनर्निर्माण में बहुत सहायता मिली। परन्तु अभाग्यवश हित्तियों की चित्राक्षर (हाइरोग्लाइफिक) लिपि अभी तक नहीं पढ़ी जा सकी है, इसलिए हित्ती इतिहास के विषय में हमारा ज्ञान अधिकांशतः बोघज़कोई के बैबिलोनियन भाषा में लिखे हुए अभिलेखों से प्राप्त सामग्री तक सीमित है।

अनातोलिया का भूगोल और जातियाँ

अनातोलिया का भूगोल—हित्ती जाति का क्रीड़ास्थल, जैसा हम देख चुके हैं, **एशिया माइनर** था। इस देश को यूनानी भाषा में **अनातोलिया** और आजकल **टर्की** कहा जाता है। भौगोलिक दृष्टि से यह उस विशाल पर्वतमाला का पश्चिमी अंग है जो पश्चिम में ईजियन प्रदेश से लेकर पूर्व में भारतवर्ष तक विस्तृत है। अनातोलिया के उत्तर में कालासागर, दक्षिण में भूमध्यसागर, पश्चिम में ईजियन समुद्र और पूर्व में आरमीनियन पर्वतमाला है जिसका दक्षिण-पूर्वी भाग रोमन काल से तोरुस नाम से विख्यात है। यह देश लगभग सात सौ मील लम्बा और साढ़े तीन सौ मील चौड़ा आयताकार प्रायद्वीप है। इसके मध्य समतल पठार, पठार के चारों ओर पर्वत मालाएँ तथा उत्तर और पश्चिम में उर्वर मैदानी पट्टियाँ हैं। पठार का मध्यवर्ती भाग रेगिस्तान है। अनातोलिया लोहा आदि बहुमूल्य खनिज पदार्थों की दृष्टि से काफी धनी है। इसीलिए हित्ती जाति को पश्चिमी एशिया और मिस्र में लौह युग के श्रीगणेश करने का श्रेय प्राप्त हो सका था।

प्रारम्भिक अनातोलियन और ऐतिहासिक हित्ती जातियाँ—एशिया

माइनर के प्राचीनतम निवासी हित्ती नहीं थे, यह निश्चित प्रायः है। वास्तव में ऐतिहासिक आर्य-हित्ती-जाति के आगमन के पूर्व अनातोलिया में जो जाति निवास करती थी उसी ने इस देश को हित्ती नाम दिया था, परन्तु कालान्तर में जब ऐतिहासिक **आर्य-हित्ती-जाति** यहाँ आई तब उसने इस नाम को अपना लिया। उस समय से 'हित्ती जाति', 'हित्ती भाषा', और 'हित्ती देश' इत्यादि शब्दों का सम्बन्ध इसी ऐतिहासिक आर्य-हित्ती-जाति के साथ जुड़ गया। अतः सुविधा के लिए हित्ती जाति के आगमन के पूर्व बसी हुई जाति को '**प्रारम्भिक अनातोलियन**' कहा जाता है। प्रारम्भिक अनातोलियन सम्भवतः अर्ध-सभ्य थे। हित्ती जाति के आगमन के पश्चात् और सम्भवतः उसके कुछ पहले भी, वे पश्चिम में क्रीट और यूनान तथा दक्षिण-पूर्व में सीरिया और फिलिस्तीन की ओर बढ़ गये थे। जैसा कि **गुर्नी** महोदय का कथन है, यह सर्वथा सम्भव है कि पुरानी बाइबिल में जिस हित्ती जाति का उल्लेख हुआ है वह प्रारम्भिक अनातोलियनों की वंशज रही हो।

हित्ती जाति का अनातोलिया में आगमन—हित्ती जाति ने अनातोलिया पर कब अधिकार किया, कहना कठिन है। परन्तु इतना निश्चित है कि उसका आगमन **अठारहवीं शताब्दी ई० पू० से काफी पहले** हुआ होगा, क्योंकि इस शताब्दी में उसने बैबिलोन पर आक्रमण करके हम्मूरबी के वंश का अन्त करने में भाग लिया था। वास्तव में उनका आगमन इसके सौ वर्ष पूर्व अवश्य हो चुका होगा, क्योंकि दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ के पहले से अनातोलिया में बसे हुए असीरियन व्यापारियों के व्यापार-पत्रों में कुछ इन्डो-यूरोपियन नाम आये हैं जिनसे संकेतित है कि उस समय तक हित्ती जाति का आगमन अनातोलिया में हो चुका था। इन्डो-यूरोपियन परिवार का पश्चिमी एशिया पर यह पहिला ज्ञात आक्रमण है। इसकी परिणति छठी शताब्दी ई० पू० में ईरानी-आर्यों के नेतृत्व में सिन्धु से लेकर मिस्र तक विशाल आर्य-साम्राज्य की स्थापना में हुई।

राजनीतिक इतिहास

प्रारम्भिक नगर-राज्य—हित्ती जाति का इतिहास छोटे-छोटे प्रतिस्पर्धी नगर-राज्यों से प्रारम्भ होता है। सबसे पहला हित्ती राजा जिसके विषय में हमें कुछ तथ्य ज्ञात हैं **कुस्सर नगर** का शासक अनित्त था। उसका समय २०००ई० पू० से कुछ पहले रखा जा सकता है। कालान्तर में **हत्ती नामक राज्य** ने अन्य नगरों के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करने और अनातोलिया में एक विशालतर

राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। इसकी **राजधानी हत्तुसस** (आधुनिक बोघज़कोई) थी। इसके इतिहास को दो युगों में विभाजित किया जा सकता है: प्राचीन राज्य का युग और साम्राज्य का युग।

प्राचीन राज्य

प्राचीन राज्य का इतिहास—हित्ती ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुसार पहला हित्ती शासक **लबर्नस** था, जिसका पुत्र **हत्तुसिलिस् प्रथम** अपने **भाषण-अभिलेख** के लिए और पौत्र मुर्सिलिस् प्रथम अपनी सामरिक सफलता के लिए प्रसिद्ध हैं। **मुर्सिलिस् प्रथम** ने एशिया माइनर में अपनी सत्ता सुदृढ़ की, उत्तरी सीरिया को अधिकृत किया और **बैबिलोन पर आक्रमण करके** हम्मूरबी के वंश का अन्त किया। परन्तु हित्ती राज्य की आन्तरिक अवस्था अभी तक इतनी सुदृढ़ नहीं थी कि वह बैबिलोनिया जैसे दूरस्थ देश पर शासन कर सकता, इसलिए उसे वहाँ लूटपाट करके लौट आना पड़ा। मुर्सिलिस् के पश्चात् हित्ती राज्य को आन्तरिक संघर्षों और वान झील के निकट रहने वाली **हुर्री जाति के आक्रमणों** का सामना करना पड़ा। इन संकटों से राज्य को मुक्त करने के लिए **तेलिपिनस्** नामक व्यक्ति ने सीमाओं की सुरक्षा का प्रबन्ध किया और उत्तराधिकार के नियम को निश्चित किया। तेलिपिनस् के पश्चात् प्राचीन राज्य का इतिहास अपेक्षया अंधकारमय है। उसके उत्तराधिकारियों की सबसे महत्त्वपूर्ण सफलता **विधि-संहिता** की रचना थी। यह बोघज़कोई के उत्खनन में खंडितावस्था में प्राप्त हुई है।

साम्राज्य का युग

साम्राज्य-युग का प्रारम्भ—पन्द्रहवीं शताब्दी ई० पू० के मध्य हित्ती-राज्य एक **नये वंश** के अधिकार में चला गया। इस वंश के शासन का प्रारम्भ अभाग्यपूर्ण रहा, क्योंकि सत्तारूढ़ होते ही इसे मिस्र के सम्राट् **थट्मोस तृतीय के आक्रमणों** का सामना करना पड़ा और उसके बाद **मितन्नी** राज्य के युद्ध-प्रिय नरेशों का। इस नैराश्यपूर्ण अवस्था का अन्त करके हित्ती साम्राज्य की स्थापना करने वाला व्यक्ति **सुप्पिलिल्युमस्** (१३८०-१३३५ ई० पू०) था। उसके शासन काल से हित्ती साम्राज्य के उत्कर्ष का युग प्रारम्भ होता है, जो लगभग चार पीढ़ियों तक चला।

सुप्पिलिल्युमस् की सफलता—सुप्पिलिल्युमस् थट्मोस तृतीय के बाद 'निकट पूर्व' का महानतम विजेता था। उसने सबसे पहले अपने देश की स्थिति

सुदृढ़ की और अपनी **राजधानी हत्तुसस् को एक विशाल प्राचीर से सुरक्षित** कराया। उसके बाद उसने साम्राज्य-विस्तार की ओर ध्यान दिया। उसके भाग्य से उस समय मिस्र की राजनीति में वहाँ के शासक अखनाटन के धार्मिक सुधारों के कारण बड़ी उथल-पुथल हो रही थी। दूसरे, मितन्नी की शक्ति भी असीरिया के उत्थान के कारण घटती जा रही थी। इसलिए उसको अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने का सुअवसर मिल गया। सर्वप्रथम उसने फरात नदी पार करके **मितन्नी राज्य की स्वतन्त्रता का अन्त** किया। मितन्नी के पतन के बाद सीरिया को जीतना आसान था। वहाँ उसने अपने पुत्र को गवर्नर नियुक्त किया। **किज्जुवतन राज्य** ने भी उसके साथ मित्रता कर ली। इस सफलता से सुप्पिलिल्युमस् का प्रभाव बहुत बढ़ गया। इसका अनुमान इसी से लग सकता है कि एक दिन खुद **मिस्र की रानी ने उसके पास संदेश भेजा :**

"मेरे पति की मृत्यु हो गई है और मेरे कोई पुत्र नहीं है। लेकिन आप के विषय में कहा जाता है कि आपके कई पुत्र हैं। अगर आप मेरे लिए अपना कोई पुत्र भेज देते तो मैं उसे अपना पति बना लेती। मैं किसी भी अवस्था में अपने प्रजाजनों में से किसी को अपना पति नहीं बनाऊँगी।"

यह रानी निश्चित रूप से अखनाटन की पुत्री और उसके उत्तराधिकारी तूतनखामेन की पत्नी थी। सुप्पिलिल्युमस् इस प्रस्ताव से चकित रह गया। उसने इसकी सत्यता जानने के लिए अपना व्यक्तिगत दूत मिस्र भेजा। परन्तु जब तक उपर्युक्त प्रस्ताव की पुष्टि हुई और उसने अपने एक पुत्र को मिस्र रवाना किया, तब तक बहुत देर हो चुकी। मिस्र में रानी के विरुद्ध षड्यन्त्र हुआ, हित्ती राजकुमार पकड़ लिया गया और उसका वध कर दिया गया।

मिस्र का पराभाव—सुप्पिलिल्युमस् का पुत्र **मुर्सिलिस् द्वितीय** (१३३४-१३०६ ई० पू०) अपने पिता के समान योग्य था। उसने पश्चिम में अर्जावा राज्य को पराजित किया, उत्तर की युद्धप्रिय जातियों को दबाया, उत्तर-पूर्व में अज्जीहयस् को हराया तथा सीरिया के विद्रोह को शान्त किया। लेकिन उसके पुत्र **मुवतल्लिस्** (१३०६ से १२८२ ई० पू०) के समकालीन, मिस्र के उन्नीसवें वंश के महत्त्वाकांक्षी शासक सेती प्रथम (१३२०-१३०० ई० पू०) ने केनान जीतकर मिस्र का साम्राज्य कादेश नगर तक विस्तृत कर लिया। इससे दोनों साम्राज्यों के सम्बन्ध कटुतापूर्ण हो गए। सेती प्रथम के उत्तराधिकारी रेमेसिस द्वितीय (१३००-१२३४ ई०पू०) के समय तो शान्ति बनाए रखना अत्यन्त कठिन हो गया। इसकी परिणति कादेश

के प्रसिद्ध युद्ध में हुई, जो १२८६ ई० पू० में लड़ा गया। इस युद्ध में निश्चित रूप से हित्ती राज्य की विजय हुई। मुवतल्लिस् के भाई **हत्तुसिलिस् तृतीय** (१२७५-१२५० ई० पू०) के शासन काल में, जिसने अपने भतीजे **अर्हातेशुब** (१२८२-७५ ई० पू०) को अपदस्थ करके साम्राज्य को अधिकृत किया था, दोनों साम्राज्यों में शान्ति रही। सम्भवतः इसका कारण असीरिया की बढ़ती हुई शक्ति थी जिससे दोनों पक्ष भयभीत थे। **१२६९ ई० पू० में दोनों साम्राज्यों में इतिहास प्रसिद्ध सन्धि हुई।** न केवल राजाओं ने वरन् दोनों देशों की रानियों ने परस्पर बधाई-पत्र भेजे। तेरह वर्ष पश्चात् हित्ती **सम्राट् ने अपनी पुत्री के साथ मिस्र की यात्रा की। वहाँ हित्ती राजकुमारी का विवाह फराओ रेमेसिस से** करके मैत्री-बन्धन को दृढ़ किया गया। हत्तुसिलिस् ने राजधानी का पुनर्निर्माण भी कराया। उसका एक अभिलेख बहुत प्रसिद्ध है जिसमें उसने अपने भतीजे को अपदस्थ करने के कारण बताए हैं।
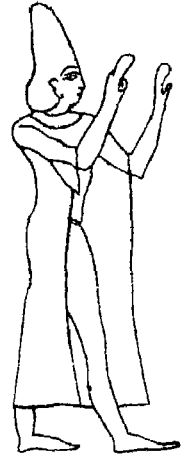
चित्र ४५ : एक हित्ती राजकुमार का मिस्र से प्राप्त रिलीफ-चित्र

साम्राज्य का पतन—हत्तुसिलिस् अपने वंश का अन्तिम प्रसिद्ध शासक था। उसके बाद उसके वंश का शीघ्रता से पतन होने लगा। फ्रीगियन और मुश्की जातियों के आक्रमण, असीरिया की प्रतिद्वन्द्विता और शासकों की अयोग्यता के कारण धीरे-धीरे साम्राज्य की शक्ति कम होती गयी और अन्त में, लगभग ११९० ई० पू० में, असीरियन सम्राट् तिगलथपिलेसर प्रथम ने उसको पूर्णतः नष्ट कर दिया। अन्तिम शासक जिसके बारे में बोघज़कोई से कुछ प्रकाश मिलता है, **अरनुवन्दा है**। उसने सम्भवतः मिस्र के रीति-रिवाजों से प्रभावित होकर **अपनी बहिन से विवाह** किया था। सम्भवतः वही इस वंश का अन्तिम शासक था, क्योंकि हत्तुसस नगर के उत्खनन से ज्ञात होता है कि इसका विनाश किसी आक्रमणकारी ने लगभग उसी समय किया था, जो समय अरनुवन्दा का मालूम होता है।

'नव-हित्ती' राज्य—हित्ती साम्राज्य के पतन के पश्चात् भी हित्ती राजनीतिक शक्ति और सांस्कृतिक गौरव के अवशेष **भूतपूर्व** हित्ती **साम्राज्य के दक्षिण-पूर्वी भागों में** अवशिष्ट रहे। असीरियन अभिलेखों में बराबर सीरिया को **'हित्ती देश'** कहा जाता रहा और हित्ती सम्राटों के नामों को धारण करनेवाले राजाओं का उल्लेख होता रहा। पुरानी बाइबिल में भी उनका उल्लेख हुआ

है। परन्तु स्मरणीय है कि सम्भवतः इन **'नव-हित्ती' राजाओं की भाषा और धर्म वे नहीं थे जो हित्ती साम्राज्य के निर्माताओं के थे।** अतः साम्राज्य-निर्माता हित्ती जाति और 'नव-हित्ती' शासकों में क्या सम्बन्ध था, इस विषय में कुछ कह सकना कठिन है। 'नव-हित्ती' राज्यों के शासकों ने हाइरोग्लाइफिक लिपि में बहुत से अभिलेख उत्कीर्ण कराए थे जो अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। अतः उनके राजनीतिक-इतिहास का पुनर्निर्माण करना भी लगभग असम्भव है।

शासन और न्याय-व्यवस्था

केन्द्रीय शासन

उत्तराधिकार का नियम—आरम्भ में हित्ती शासन-व्यवस्था में राजा का पद सुरक्षित नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि **प्रारम्भ में राजा को निर्वाचित करने का अधिकार सामन्तों के हाथ में** था, जब कि राजा लोग उत्तराधिकार के सिद्धान्त को लागू करना चाहते थे। इस अव्यवस्था का अन्त करने के लिए **तेलिपिनस् ने यह नियम बनाया** कि राजा के मरने के बाद उसका उत्तराधिकारी उसकी प्रथम श्रेणी की रानी का पुत्र और उसके अभाव में द्वितीय श्रेणी की पत्नी का पुत्र और उसके भी अभाव में प्रथम श्रेणी की रानी की पुत्री का पति होगा। इस नियम का पालन हित्ती साम्राज्य के अन्तिम वर्षों तक होता रहा। इससे राज्य को महत्त्वाकांक्षी सामन्तों के विद्रोहों और उनसे उत्पन्न होने वाली अस्थिरता से मुक्ति मिली।

राजा की उपाधियाँ—प्राचीन हित्ती राज्य के शासक **'महाराज तबर्न'** विरुद धारण करते थे। स्पष्टतः 'महाराज' पदवी उन्हें अन्य अधीन राजाओं से उच्चतर दिखाने के लिये थी और 'तबर्न' हित्ती आदि राज लबर्नस के नाम का विकृत रूप था। सम्भवतः प्रत्येक शासक को आदिराज लबर्नस का अवतार माना जाता था। साम्राज्य काल में तबर्न के स्थान पर **'मेरे सूर्य'** विरुद धारण किया जाने लगा। सम्भवतः प्रारम्भ में यह प्रजाजनों द्वारा राजा को सम्बोधित करने का ढंग था। यह भी हो सकता है कि यह मिस्र के सूर्योपासक सम्राटों के प्रभाव का परिणाम हो। राजाओं की शक्ति बढ़ने के साथ यह सिद्धान्त भी, कि राजा के पास अतिमानवीय शक्तियाँ होती हैं, लोकप्रिय होने लगा। इसका प्रमाण साम्राज्य-काल में प्रयुक्त होनेवाले **'वीर'** और **'देवप्रिय'** इत्यादि विरुद और राजाओं को अपवित्र होने से बचाने के लिए किए जाने वाले **अनुष्ठान**

हैं। परन्तु हित्ती राज्य में राजाओं को जीवितावस्था में कभी देवता नहीं माना गया। उनकी मृत्यु हो जाने पर ही यह घोषित किया जाता था कि वे 'देवता हो गये हैं'।

राजा के अधिकार और कर्त्तव्य—हित्ती सम्राट् देश के प्रधान न्यायाधीश, प्रधान पुजारी और **प्रधान सेनापति** होते थे। इनमें **प्रधान न्यायाधीश के कर्त्तव्य** वे अपने अधीन पदाधिकारियों को प्रदान कर सकते थे, लेकिन सेनापति और पुजारी पदों के समस्त कर्त्तव्य व्यक्तिगत रूप से निभाने पड़ते थे, चाहे इसके लिए उन्हें अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य छोड़ देने पड़ें। **राज्याध्यक्ष के रूप में** वे पड़ोसी राज्यों के साथ कूटनीतिक सम्बन्धों के लिए उत्तरदायी होते थे और प्रधान नगरों का दौरा करते थे। **प्रधान पुजारी के रूप में** उन्हें उत्सवों के अवसरों पर समस्त धर्मकेन्द्रों पर व्यक्तिगत रूप से उपस्थित रहना होता था। ऐसे अवसरों पर वे विशेष वस्त्र धारण करते थे। बहुत से हित्ती शासकों को उनके स्मारकों में प्रायः पुजारी रूप में दिखाया गया है।

हित्ती महारानियों की प्रतिष्ठा—हित्ती शासन-व्यवस्था की एक विशेषता महारानी पद का महत्त्वपूर्ण होना है। हित्ती महारानियों का **विरुद 'तवन्नन्नास'** था जो मूलतः लबर्नस की पत्नी की नाम था। यह विरुद पूर्वगामी महारानी की मृत्यु के पश्चात् ही धारण किया जा सकता था। अर्थात् जब तक राजमाता जीवित रहती थी वह 'तवन्नन्नास' कहलाती थी। उसके मरने के पश्चात् ही सम्राट् की पत्नी यह विरुद धारण कर सकती थी। 'तवन्नन्नास' बहुधा राज-कार्यों में प्रमुख भाग लेती थीं। बहुतों का उनके पतियों के साथ **अभिलेखों में उल्लेख** हुआ है। हत्तुसिलिस् की महारानी ने मिस्र की महारानी के साथ **स्वतन्त्र रूप से पत्र-व्यवहार** किया था। उसकी अपनी स्वतन्त्र **राजमुद्रा** भी थी।

सामन्तवर्ग और 'महापरिवार'—हित्ती शासन-व्यवस्था और समाज में राजा के स्वजनों का, जो **'महापरिवार'** कहलाते थे, महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनके बहुत से विशेषाधिकार थे। राज्य के प्रधान पदाधिकारी—प्रधान अंगरक्षक, प्रधान कोषाध्यक्ष, प्रधान निरीक्षक इत्यादि—उन्हीं में से निर्वाचित होते थे। इन पदों के साथ बहुधा उच्च सैनिक पद भी संयुक्त रहते थे। 'महापरिवार' के इन सदस्यों और उनके अधीन सहकर्मियों को सामूहिक रूप से **'पानकू'** नाम से पुकारा जाता था। इस प्रकार 'महापरिवार' और 'पानकू' के हाथ में ही हित्ती राज्य की सत्ता केन्द्रित थी। इनकी एक सम्मिलित **'सभा'** अथवा **असेम्बली** थी जिसको हित्ती नरेश आवश्यकता पड़ने पर बुलाते थे। प्राचीन-राज्य युग में इसके अधिकार काफी थे। सम्भवतः इसका नये राजा के निर्वाचन

और न्याय-व्यवस्था में भी कुछ हाथ रहता था। परन्तु तेलिपिनस् के समय से इस सभा की गतिविधि के सम्बन्ध में कोई सूचना उपलब्ध नहीं होती। तेलिपिनस् के एकदम बाद के युग में इसका कारण अभिलेखों का अभाव हो सकता है परन्तु साम्राज्य-युग में, जिसके हमारे पास पर्याप्त अभिलेख हैं, असेम्बली की गतिविधि के सम्बन्ध में कोई संकेत न मिलने का कारण उसका महत्त्वहीन हो जाना ही हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों हित्ती राज्य सुदृढ़ साम्राज्य में परिणत होता गया, शासन-व्यवस्था में सम्राट् के अधिकार बढ़ते गए और **सभा का महत्त्व क्षीण होता गया**। धीरे-धीरे साम्राज्य की व्यवस्था के समस्त सूत्र सम्राट् के हाथ में आ गये और वे खुद के द्वारा नियुक्त पदाधिकारियों की सहायता से शासन करने लगे। परन्तु इतना होने पर भी **हित्ती सामन्त एक** विशिष्ट वर्ग के रूप में बने रहे। उनके पास सम्राटों द्वारा दी गई बड़ी-बड़ी जागीरें थीं और वही साम्राज्य के लिए रथ-सेना जुटाते थे जिस पर साम्राज्य की शक्ति निर्भर थी।

प्रान्तीय-व्यवस्था

प्राचीन-राज्य युग में प्रान्तीय शासन—प्रारम्भ में हित्ती राज्य बहुत छोटा था और उसकी प्रान्तीय शासन-व्यवस्था **अपेक्षया सरल** थी। उस समय अधिकांश नगरों में प्रशासन के लिए स्थानीय **नगर-सभाएँ** उत्तरदायी थीं। परन्तु उन नगरों का शासन जो राज्य के धर्मकेन्द्र थे, वहाँ के मन्दिरों के प्रधान पुजारियों के हाथ में था। हित्ती राज्य की सीमाएँ विस्तृत होने पर यह आवश्यक हो गया कि केन्द्रीय सरकार प्रान्तों की व्यवस्था के लिए पदाधिकारी नियुक्त करे। प्रारम्भ में हित्ती राजाओं ने राजपुत्रों और सेनापतियों को **प्रान्तीय गवर्नर** नियुक्त करने की नीति अपनाई। उनके मुख्य कर्त्तव्य सार्वजनिक निर्माण-कार्य तथा न्याय और मन्दिरों की व्यवस्था करना था। परन्तु उनका पद अस्थायी होता था। ज्यों-ज्यों हित्ती राज्य साम्राज्य में परिणत होता गया, यह व्यवस्था भी अधिकाधिक अनुपादेय होती गई, क्योंकि आवागमन के साधन असुविधाजनक होने के कारण दूरस्थ प्रान्तों में स्थायी और शक्तिशाली गवर्नरों की नियुक्ति करना अत्यावश्यक हो गया।

साम्राज्य-काल में प्रान्तीय शासन—हित्ती साम्राज्य में **कई प्रकार के प्रान्त** थे, जिनकी व्यवस्था उनकी स्थिति और मर्यादा पर निर्भर थी। **पहले प्रकार में** अलेप्पो और कार्केमिश जैसे सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नगर थे। इनको साम्राज्य में मिलाकर राजपुत्रों के अधिकार में रखा गया। दूसरी कोटि में

वे **संरक्षित राज्य** थे जिन्होंने यद्यपि हित्ती सम्राटों की प्रभुसत्ता मान ली थी तथापि जिनकी शक्ति और प्रतिष्ठा पर्याप्त श्रद्धेय थीं। तीसरे वर्ग में शेष **अधीन राज्य** थे। उनके शासक स्थानीय राजपुत्र होते थे, परन्तु उनकी नियुक्ति बहुधा हित्ती सम्राट् खुद करते थे। ऐसे शासक अपने प्रदेश में स्वतन्त्र रहते थे परन्तु आवश्यकता पड़ने पर उन्हें हित्ती सेनाओं की शक्ति में वृद्धि करने के लिए सैनिक देने होते थे। विदेशों से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना उनके लिए भारी अपराध था। इसके बदले में हित्ती सम्राट् उनकी अन्य शक्तियों से रक्षा करते थे। हित्ती सम्राट् अपने अधीन शासकों और गवर्नरों को स्वामीभक्त बनाये रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे। प्रत्येक अधीन शासक की स्वामीभक्ति के चिह्न **वार्षिक कर** देना और प्रति वर्ष आकर **सम्राट् के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करना** थे। दूसरे, जिस समय दोनों पक्षों में सन्धि होती थी, अधीन शासक को अपने स्वामी और उसके उत्तराधिकारियों के प्रति **भक्ति की शपथ** लेनी पड़ती थी। इसमें उसके देवताओं को साक्षी बनाया जाता था, जिससे धार्मिक दृष्टि से भी उसमें भक्ति-भावना बना रहे। बैबिलोनिया में अधीन शासकों में भय उत्पन्न करने के लिए उनके सम्बन्धियों को बन्धक रखने की नीति का अवलम्बन किया जाता था। परन्तु हित्ती शासक ऐसा करना आवश्यक नहीं मानते थे। इसके स्थान पर वे विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके अपनत्व की भावना उत्पन्न करने में अधिक विश्वास करते थे। वे अधीन शासकों की मानवीय और नैतिक भावनाओं को जीतने के लिए उनके पास प्रायः **ऐसे पत्र भेजते रहते थे** जिनमें बताया जाता था कि भूतकाल में हित्ती शासकों ने उनकी किस प्रकार सहायता की थी। इन सब उपायों का अवलम्बन करने के बावजूद व्यवहार में दूरस्थ प्रान्तों को साम्राज्य में बनाए रखने के लिए उन्हें युद्ध का आश्रय लेना पड़ता था।

युद्धकला

हित्ती सेनाएँ और रथ—हित्ती सेनाओं की शक्ति का केन्द्र **हल्के अश्वचालित रथ** थे। रथ का प्रयोग दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में कोई नवीन बात नहीं थी। जैसा हम देख चुके हैं, सुमेरियन दो प्रकार के रथों का प्रयोग करते थे—एक दो पहियों वाला और दूसरा चार पहियों वाला। परन्तु उनके रथ भारी होते थे और उनमें अश्वों के स्थान पर किसी अन्य, अपेक्षया कम शीघ्र-गामी, अश्वसम पशु का प्रयोग होता था। अतः सुमेरियन सेनाओं की शक्ति का केन्द्र मुख्यतः पंक्तिबद्ध पैदल सेनाएँ थीं। बैबिलोनियन युग में भी अश्वचालित

रथों के प्रयोग का कोई संकेत नहीं मिलता। प्रारम्भिक असीरियन सेनाओं की भी यही अवस्था थी। अश्वचालित और तीली (स्पोक) युक्त पहियों वाले रथों का प्रयोग बैबिलोन के प्रथम राजवंश के पतन के पश्चात् समस्त 'निकट पूर्व' में लगभग एक साथ आरम्भ होता है। यद्यपि हित्तियों के पुरातन-राज्य के विषय में कुछ कहना कठिन है, तथापि सुप्पिलिल्युमम् के समय से हित्ती सेनाओं में नये प्रकार के रथों का प्रयोग बहुलता से होने लगता है। इस समय एक ओर तो हम हित्तियों को मितन्नी लेखक किक्कुली द्वारा **अश्व-विद्या पर लिखित पुस्तक** पढ़ता हुआ पाते हैं, तो दूसरी ओर मिस्री भित्ति-चित्रों में हित्ती रथ-सेना की झाँकी प्राप्त करते हैं। हित्ती रथों में मिस्री रथों के समान **छः तीली (स्पोक) वाले पहिये** होते थे (चि० ४६)। परन्तु दोनों में एक

चित्र ४६ : मलत्या से प्राप्त शिकार का एक रिलीफ-चित्र

अन्तर भी था। मिस्री रथ में चालक और योद्धा केवल दो व्यक्ति बैठते थे, लेकिन हित्ती रथ में चालक के अतिरिक्त दो और योद्धा बैठ सकते थे। शत्रु पर आक्रमण के लिए भाले और **धनुष-बाण** का प्रयोग किया जाता था। ढाल की आकृति बहुधा चतुर्भुज होती थी। **पदाति सैनिकों** की संख्या अधिक होती थी परन्तु उनका महत्त्व अपेक्षया गौण रहता था (चि० ४७)।

चित्र ४७ : हित्ती योद्धा

हित्तियों ने अश्वारोही सेना और जलबेड़े का प्रयोग सम्भवतः नहीं किया। उनके

पास स्थायी सेना थी अथवा नहीं यह जानना कठिन है। परन्तु सामरिक महत्त्व के स्थानों पर प्रतिरक्षात्मक कर्तव्यों को पूरा करने के लिए थोड़ी-बहुत स्थायी सेना अवश्य रहती होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

युद्ध-विद्या—हित्तियों के सामरिक अभियान बसंत और ग्रीष्म ऋतु में होते थे। आक्रमणात्मक युद्ध में उनका प्रयत्न शत्रु से खुला युद्ध करना होता था, जिससे वे अपनी रथ-सेना से पूरा लाभ उठा सकें। दुर्गों का घेरा डालने की कला में वे निपुण थे। कुछ स्थानों पर इस प्रकार के घेरों में काम आने वाले यन्त्रों का उल्लेख हुआ है। रक्षा की व्यवस्था के लिए उन्होंने अपने नगरों की दृढ़रूपेण क़िलेबन्दी की थी। उदाहरण के लिए उन्होंने हत्तुसस् में चतुर्भुजाकार तोरणों से युक्त पाषाण की दोहरी प्राचीर का निर्माण किया था। इसमें शत्रु पर आक्रमण करने के लिए गुप्त द्वारों का भी प्रबन्ध था। सीमान्तों की रक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध किया गया था।

शत्रुओं के साथ व्यवहार—प्रारम्भिक हित्ती राजाओं के लिए शत्रु-नगरों पर आक्रमण करना और उन्हें लूट लेना साधारण बात थी। परन्तु साम्राज्य-युग के हित्ती शासकों की राजनीतिक चेतना अधिक जागरूक थी। शत्रु पर आक्रमण करने के पूर्व वे उसका कारण घोषित करने का ध्यान रखते थे। वे शत्रु को इस बात का पूर्ण अवसर देते थे कि वह उनकी माँगों को पूरा करके अपने विनाश से बच जाए। पराजित शत्रु के साथ उनका व्यवहार खुद शत्रु के व्यवहार पर निर्भर रहता था। अगर शत्रु आरम्भ में ही आत्म-समर्पण कर देता था तो उसके राजभक्ति की शपथ लेने पर उसके साथ सन्धि कर ली जाती थी। और यदि उसके नगर पर शक्तिपूर्वक अधिकार किया जाता था तो उसे लूटकर जला दिया जाता था और वहाँ के निवासियों को बन्दी बनाकर उस नगर को शापित घोषित कर दिया जाता था। परन्तु शत्रुओं को शारीरिक कष्ट देने अथवा उनके प्राण हरण करने में उन्हें असीरियनों के समान आनन्द आता था, इसका कोई संकेत नहीं मिलता।

विधि-संहिता और दण्ड-व्यवस्था

हित्ती विधि-संहिता—बोग़ज़कोई के उत्खनन में ऐसे बहुत-से अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनमें हित्तियों के क़ानून लिखे हुए हैं। ये अधिकांशतः खण्डिता-वस्था में मिले हैं, परन्तु दो दीर्घ अभिलेख लगभग अभग्न रूप में मिल गए हैं। इन दोनों में कुल मिलाकर दो सौ धाराएँ हैं। यद्यपि इन अभिलेखों में कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि ये एक ही कृति के अंश हैं, तथापि आधुनिक विद्वान्

इन्हें एक अनंशनीय विधि-संहिता (कोड) के दो भाग मानते हैं। हम भी अपने अध्ययन में इन्हें 'विधि-संहिता' की संज्ञा देंगे। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं जिनकी विषय-वस्तु विधि-संहिता से सादृश्य रखती है, यद्यपि दोनों में कुछ अन्तर भी स्पष्ट है। अतः हम कह सकते हैं कि बोघज़कोई अभिलेख-संग्रहालय में हित्ती क़ानूनों के कई संग्रह सुरक्षित थे जो साधारणतः समान होने पर भी पूर्णतः समरूप नहीं थे। इस आंशिक वैभिन्य के दो कारण सम्भव हैं। एक- हो सकता है ये संग्रह हित्ती क़ानून के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में लिखे गए हों। खुद विधि-संहिता में कई स्थलों पर कहा गया है कि 'पूर्व काल में यह दण्ड अब से अधिक कठोर था।' या हो सकता है कि हित्ती साम्राज्य में विभिन्न प्रदेशों के रीति-रिवाजों के अनुसार कई संस्करण प्रचलित रहे हों जिनकी प्रतिलिपियाँ इन खण्डित अभिलेखों में अंशतः सुरक्षित हैं।

विधि-संहिता का व्यवहार में प्रयोग—यद्यपि हित्ती क़ानूनों पर बैबिलोनियन क़ानूनों का प्रभाव सर्वथा स्पष्ट है तथापि दोनों में कुछ अन्तर भी हैं। बैबिलोनिया में हम्मूरबी के ऐसे असंख्य अभिलेख और पत्रादि मिलते हैं जिनसे ज्ञात हो जाता है कि उसकी विधि-संहिता का व्यवहार में कितना प्रयोग होता था। परन्तु हित्तियों के ऐसे व्यक्तिगत अथवा राजकीय अभिलेख अनुपलब्ध होने के कारण इस विषय में कुछ भी कहना कठिन है। केवल विधि-संहिता के आन्तरिक साक्ष्य से ऐसा संकेतित है कि इसकी रचना न्यायालयों के निर्णयों के आधार पर की गई थी। एक धारा में तो एक वास्तविक मुक़दमे की कथा को संक्षेप में दे दिया गया है।

न्याय-व्यवस्था—हित्ती न्याय-व्यवस्था में सबसे छोटी अदालतें नगर-समितियाँ थीं। इनका विधि-संहिता में केवल एक बार उल्लेख हुआ है। सम्भवतः ये समितियाँ एक प्रकार के जन-न्यायालय थीं, अतः इनका राज्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध बहुत कम था। प्रान्तीय नगरों में बहुधा सैनिक अधिकारी न्यायाधिकारी भी होते थे। उन्हें नगर-समितियों तथा स्थानीय पदाधिकारियों का सहयोग लेते हुए न्याय करना होता था। राजा की शक्ति इस विषय में सर्वोच्च थी और उपर्युक्त अधिकारियों को महत्त्वपूर्ण मुक़दमे राजा के पास निर्णय के लिए प्रेषित करने होते थे। न्यायालयों के निर्णय का विरोध करने वाले व्यक्तियों को कठोरतम दण्ड दिया जाता था, परन्तु खुद न्यायालय तथ्यों को जानने का भरसक प्रयास करते थे। इस दृष्टि से हित्ती न्यायालयों की कार्य-रीति अन्य देशों से बहुत अधिक समुन्नत थी।

प्रगतिशील दण्ड-विधान—हित्ती समाज दण्ड-विधान के मामले में

भी अन्य देशों से अधिक प्रगतिशील लगता है। प्राचीनकाल में दण्ड का आधार साधारणतः **प्रतिशोध की भावना** थी। अभियोगी प्रतिशोध के लिए अपराधी को खुद दण्ड दे, यह सिद्धान्त मान्यता प्राप्त किए हुए था। इतना ही नहीं, अभियोगी के मर जाने पर उसके सम्बन्धियों का अपराधी को और और अपराधी के मर जाने पर अभियोगी का उसके सम्बन्धियों को दण्ड देना सामाजिक कर्त्तव्य माना जाता था। इस प्रकार प्रायः परम्परागत रूप से शत्रुता चलती रहती थी। परन्तु विशाल साम्राज्यों की स्थापना होने पर प्रतिशोध की भावना पर बन्धन लगाने की आवश्कता अनुभव की जाने लगी। इस दिशा में प्रथम महत्त्वपूर्ण पग सुमेरियनों ने उठाया। उन्होंने दण्ड-विधान में **'जैसे को तैसा'** सिद्धान्त अपनाया। इसके अनुसार अभियोगी अपराधियों से केवल 'दाँत के बदले दाँत' और 'नेत्र के बदले नेत्र' की माँग कर सकता था, इससे अधिक नहीं। इस सिद्धान्त के द्वारा अभियोगी पर यह बन्धन लगा दिया गया कि वह अपराधी को उससे अधिक हानि न पहुँचाये जितनी उसके कारण उसे स्वयं पहुँची है। इसके बाद शनैः शनैः यह अनुभव किया जाने लगा कि एक अपराध का प्रतिकार दूसरा अपराध करना नहीं है। इसलिए प्रतिशोध के स्थान पर **क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त** को मान्यता मिलने लगी। इसके अनुसार अपराधी अभियोगी को धन देकर अपने अपराध की क्षतिपूर्ति करके फैसला कर लेता था। **अपराधी को सुधारने की भावना** से दण्डित करने का विचार अपेक्षया नवीन है। हित्ती शासकों ने अधिकांशतः क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त को ही अपनाया। कुछ मामलों में नष्ट वस्तु के बदले में वैसी ही नई वस्तु देनी होती थी, पर अधिकांशतः उसकी क्षतिपूर्ति के लिए चाँदी दे देने का विधान था। उदाहरण के लिए स्वतन्त्र नागरिक की भुजा या पैर तोड़ देने पर अपराधी को बीस शेकल और किसी दास अथवा दासी की भुजा या पैर तोड़ देने पर दस शेकल चाँदी देनी होती थी। दासों को वही अपराध करने पर नागरिकों से आधा धन देना पड़ता था।

दण्ड-व्यवस्था में व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का सिद्धान्त—हित्ती दण्ड-व्यवस्था एक अन्य दृष्टि से भी प्रगतिशील कही जा सकती है। प्राचीन काल में प्रायः अपराधी के साथ उसके सम्बन्धियों अथवा उसके ग्राम के निवासियों को दण्डित करना न्याययुक्त माना जाता था। उदाहरणार्थ बैबिलोनियन और यहूदी विधि-संहिताओं और मुस्लिम न्याय-व्यवस्था में किसी हत्यारे के भाग जाने पर निकटतम ग्राम के निवासियों को दण्डित करने का विधान न्यूनाधिक अन्तर के साथ मिलता है। हित्ती न्याय-व्यवस्था की यह विशेषता है कि इसमें

सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की कठोरता कम करने का प्रयास किया गया है और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को अपेक्षया अधिक मान्यता दी गई है। जैसे उपर्युक्त प्रकार की घटनाओं के लिए तीन मील की सीमा निश्चित कर दी गई है जिसके बाहर स्थित ग्राम इस उत्तरदायित्व से मुक्त माने जाते थे। ऐसे मामलों के अतिरिक्त केवल दो अन्य अवस्थाओं में अपराधी के सम्बन्धियों को दण्डित करने का औचित्य माना गया है—एक राजाज्ञा का पालन न होने पर और दूसरे अपराधी के दास होने पर।

हित्ती दण्ड-व्यवस्था का उदार दृष्टिकोण—हित्तियों की दण्ड-व्यवस्था प्रगतिशील ही नहीं उदार भी थी। **मुख्य अपराधों** की सूची में बलात्कार, राजानुशासन का विरोध और दासों के लिए स्वामी की आज्ञा पालन न करना इत्यादि थे। परन्तु **मृत्युदण्ड** केवल आठ अपराधों के लिए ही दिया जा सकता था जैसे शत्रु पर काला जादू, पशुओं के साथ सहवास और राजप्रासाद में चोरी करना इत्यादि। **अंग-भंग का दण्ड,** जो असीरियन क़ानून में साधारण बात थी कुछ अपराधों के लिए ही, और वह भी केवल दासों को दिया जा सकता था। यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि किसी व्यापारी की **संकल्पित हत्या** के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति की हत्या के लिए हित्ती विधि-संहिता में दण्ड का विधान नहीं है। बैबिलोनियन और असीरियन विधि-संहिताओं में भी मानव हत्या के लिए दण्ड निर्धारित नहीं किये गये हैं। यहूदी विधि-संहिता में इस अपराध पर विशद् रूप से विचार किया गया है, परन्तु उसमें भी न्यायाधिकारियों का कार्य अपराधी को पकड़कर मृत व्यक्तियों के निकटतम सम्बन्धियों को सौंप देना मात्र कहा गया है। सम्भवतः इन सब विधि-संहिताओं में **नर-हत्या के लिए कोई दण्ड निर्धारित न होने का कारण** उस समय तक इस अपराध का राज्य के न्याय-क्षेत्र के बाहर और व्यक्तिगत प्रतिशोध का विषय माना जाना था।

सामाजिक संगठन

हित्ती समाज में दो वर्ग—हम देख चुके हैं कि हित्ती राज्य की बागडोर **सामन्त वर्ग** के हाथ में थी। साधारण जनता का उसकी शासन-व्यवस्था में कोई हाथ नहीं था। राजा की जनता का बहुत बड़ा भाग शासन-व्यवस्था से पृथक् और सामाजिक दृष्टि से हीनतर था। यह निष्कर्ष **भाषा साक्ष्य** से भी मेल खाता है जिसके अनुसार हित्ती राज्य के **शासक इन्डो-यूरोपियन परिवार के सदस्य** थे जिन्होंने प्रारम्भिक अनातोलियनों को पराजित करके अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी।

हित्ती समाज में साधारण जन—हित्ती राज्य के साधारण जनों के विषय में हमारा ज्ञान बहुत सीमित है। केवल इतना निश्चित प्रतीत होता है कि वे अपने शासकों से जाति और भाषा की दृष्टि से पृथक् थे। हित्ती-आर्यों के आने के पूर्व वे सम्भवतः छोटे-छोटे कस्बों में रहते थे, जिनकी व्यवस्था उनके ज्येष्ठ व्यक्तियों की सभा के हाथ में रहती। हित्ती शासकों ने अपने गवर्नरों को नगरों के प्रबन्ध में स्थानीय सभाओं से सहयोग प्राप्त करने का आदेश दिया हुआ था।

सामाजिक दृष्टि से साधारण हित्ती जन दो वर्गों में बँटे हुए मालूम होते हैं—कृषक और दस्तकार। इनमें कृषक निश्चित रूप से बहुसंख्यक थे। दस्तकारों में जुलाहे, चर्मकार, कुम्हार और लुहारों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। साधारण नागरिक स्वतन्त्र माने जाते थे, लेकिन उनसे किसी भी समय बेगार ली जा सकती थी।

दास-प्रथा : परस्पर विरोधी साक्ष्य—हित्ती राज्य में दासों की अवस्था कैसी थी यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। कुछ अभिलेखों में बताया गया है स्वामियों का दासों के ऊपर असीम अधिकार था। यहाँ तक कि वे उनका अंग-भंग कर सकते थे, प्राण ले सकते थे और उनके परिवार के सदस्यों तथा सम्बन्धियों को सता सकते थे। दूसरी ओर हित्ती 'विधि-संहिता' में दासों के जीवन और शरीर की रक्षा के लिए अन्य नागरिकों के समान अधिनियम मिलते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि उनके प्रति किये अपराधों की क्षति-पूर्ति अन्य नागरिकों के प्रति किये गये अपराधों की क्षतिपूर्ति से आधी होती थी और अपराधी दासों को उनके अपराध के लिए अन्य नागरिकों की तुलना में आधा दण्ड मिलता था। परन्तु उनके स्वामियों का न तो उनके अपराध के लिए कोई उत्तरदायित्व माना जाता था और न वे अपने दासों के प्रति किये गये अपराधों के लिए क्षतिपूर्ति की माँग कर सकते थे। दासों के लिए सम्पत्ति रखना और स्वतन्त्र स्त्रियों से विवाह करना भी क़ानून के विरुद्ध नहीं था। इस प्रकार हित्ती दासों के वैधानिक अधिकार भी थे और कर्त्तव्य भी। ऐसे व्यक्तियों को साधारण रूप से दास नहीं कहा जा सकता। उनकी अवस्था हम्मूरबी की विधि-संहिता के 'मुस्केनम्' से मिलती-जुलती थी। उपर्युक्त साक्ष्य के स्पष्ट विरोधाभास के सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है। हो सकता है हित्ती समाज में दो प्रकार के दास रहे हों—एक वे जिनके जीवन, शरीर और परिवार पर स्वामियों का पूर्ण अधिकार था और दूसरे वे जिनको उपर्युक्त अधिकार

प्राप्त थे। या हो सकता है कि क़ानूनन् दासों को उपर्युक्त अधिकार प्राप्त हों परन्तु व्यवहार में उनका उपयोग न होता हो।

स्त्रियों की दशा—प्राचीन हित्ती समाज में स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी थी। रानी के द्वारा प्रधान पुजारिण पद का उपभोग, उसकी व्यक्तिगत मुद्रा का सन्धि-पत्रों पर उपयोग तथा राजमाता का शासन-कार्य में योग देना—इन सब तथ्यों से संकेत मिलता है कि हित्ती समाज में **स्त्रियों को उच्च पदों के अयोग्य नहीं माना जाता था।** पितु-हिप नाम की रानी अपने पति के जीवन काल में सहशासिका थी और उनकी मृत्यु के उपरान्त राज-संरक्षिका बनी। इसके अतिरिक्त मातृशक्ति की प्रतिष्ठा और देवसमूह में देवियों की प्रचुर संख्या से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है।

परिवार का संगठन—सम्भवतः ये तथ्य अति प्राचीन काल में हित्ती समाज में **मातृसत्तात्मक** परिवार-प्रथा के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं। परन्तु हित्ती क़ानूनों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में उनकी परिवार-व्यवस्था निश्चित रूप से **पितृसत्तात्मक** हो गई थी। पिता का अपने बच्चों पर पूर्ण अधिकार माना जाता था। उनकी विधि-संहिता की धारा ४४ के अनुसार उसे किसी व्यक्ति के पुत्र की हत्या कर देने पर दण्डस्वरूप अपने पुत्र को देना होता था। इसी प्रकार पत्नी को वह विवाह में 'प्राप्त' करता था और तत्पश्चात् उसको 'रखता' था तथा उसके व्यभिचारिणी सिद्ध होने पर मनमाना दण्ड दे सकता था।

विवाह-संस्था—हित्ती समाज में निकट सम्बन्धियों में **विवाह किन अवस्थाओं में निषिद्ध** था, इस विषय पर विधि-संहिता में विस्तरशः नियम दिए गए हैं। क़ानून के अनुसार माँ, बहिन, पत्नी की माँ एवं पुत्री से समागम निषिद्ध था। परन्तु किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर विधवा का मृत पति के भाई और भाई के न रहने पर पिता और उसके भी न रहने पर भतीजे के साथ विवाह हो सकता था। इसी प्रकार का नियम यहूदियों में प्रचलित था। **इसका उद्देश्य** सम्भवतः मृत व्यक्ति के वंश को चलाते रहना था। हित्ती विधि-संहिता की धारा १९० के अनुसार तो पिता के मर जाने पर पुत्र के लिए सौतेली माँ के साथ समागम करने में भी कोई दोष नहीं था। यह प्रथा वास्तव में बहुत सी प्राचीन जातियों में मिलती है। इसके अनुसार पिता की मृत्योपरान्त पुत्र का अपनी माता को छोड़कर पिता की अन्य सब पत्नियों पर अधिकार हो जाता था।

हित्ती इतिहास के अन्तिम पद में सम्भवतः **विवाह सम्बन्धी नियम और**

अधिक शिथिल हो गए थे, क्योंकि हित्ती विधि-संहिता में भाई बहिन के समागम को निषिद्ध बताया गया है जब कि अन्तिम ज्ञात हित्ती नरेश अरनुवन्दा ने अपनी बहिन से विवाह किया था। हो सकता है इस मामले में वह मिस्री परम्पराओं से प्रभावित हुआ हो।

आर्थिक व्यवस्था

कृषिकर्म और भूमि पर स्वामित्व—जलवायु की दृष्टि से एशिया माइनर आकर्षक प्रदेश नहीं है। जाड़े में यहाँ उत्तरी हवाओं के कारण हिम वर्षा होती है और ग्रीष्म में सूर्य की प्रखर किरणें अग्निपात करती हैं। मध्यवर्ती प्रदेश लगभग रेगिस्तान है, इसलिए केवल नदियों की घाटियों में ही मनुष्यों के रहने के लिए सुविधापूर्ण स्थान उपलब्ध है। इन कठिनाइयों के बावजूद अनातोलिया के आर्थिक **जीवन का आधार कृषिकर्म रहा है**। हित्तियों की विधि-संहिता से, जो उनकी आर्थिक व्यवस्था जानने के लिए हमारा प्रमुख साधन है, मालूम होता है कि हित्ती समाज के कृषि-प्रधान होने के कारण भूमि का महत्त्व बहुत अधिक था। ऐसा प्रतीत होता है कि **अधिकांश भूमि राजाओं के अधिकार में थी**, क्योंकि वे समय-समय पर बड़े-बड़े क्षेत्र अपने कृपापात्रों को प्रदाम करते रहते थे। **दूसरा स्थान सम्भवतः मन्दिरों का था**। वे भी बड़े-बड़े जागीरदारों के समान लगान पर भूमि देते रहते थे। साधारण नागरिकों का भूमि पर दो प्रकार से अधिकार हो सकता था। एक उपाय राजा से किसी **सेवा के बदले पुरस्कार स्वरूप भूमि प्राप्त करना था**। ऐसी भूमि बेची नहीं जा सकती थी और उस व्यक्ति के मर जाने पर वह राजा को वापस मिल जाती थी। साधारण जनता में **दूसरे प्रकार के भूस्वामी 'औजारों के व्यक्ति'** थे। सम्भवतः वे 'हथियारों के मनुष्य' अथवा 'सैनिक' थे जिनको सैनिक-सेवा के बदले भूमि मिल जाती थी।

मुख्य-उद्यम—हित्ती कृषक मुख्यतः खाद्यान्न, जैसे गेहूँ और जौ की पैदावार करते थे। इनका उपयोग वे खाने और शराब बनाने में करते थे। **फलोद्योग** से भी उन्हें पर्याप्त लाभ हो जाता था। अंगूर से **शराब** बनाई जाती थी और जैतून से तेल निकाला जाता था। कृषि-कर्म के बाद **पशुपालन** का स्थान था। मुख्य पशु जिनको वे पालते थे, घोड़ा, खच्चर, बैल, गधा, सुअर, भेड़ और बकरी थे। हित्तियों ने **एशिया माइनर में घोड़े का प्रयोग सम्भवतः सबसे पहले** किया। कृषि-कर्म और **पशुपालन के सम्बन्ध में हित्ती विधि-संहिता में बहुत से नियम** दिये गये हैं। अगर कोई व्यक्ति खेत जोतने के लिए

किसी से घोड़ा, बैल, खच्चर या गधा उधार लेता था और उस पशु को भेड़िया मार डालता था तो उधार लेने वाले को नया पशु देना होता था। अगर वह कह देता था कि वह पशु 'देवताओं की इच्छा से मर गया' तो उसे शपथ लेनी पड़ती थी। उस अवस्था में वह क्षतिपूर्ति से बच जाता था। अगर कोई आग जलाकर छोड़ देता था और उससे पड़ोसी के बाग की हानि हो जाती थी तो उसे प्रति वृक्ष ३ शेकल चाँदी देनी होती थी और बाग को पुनः बोना पड़ता था। परन्तु अपराधी व्यक्ति अगर दास होता था, तो उसे इससे केवल आधा दण्ड देना होता था।

लोहे के प्रयोग का श्रीगणेश—अनातोलिया में खनिज पदार्थों का बाहुल्य है। हित्ती शासकों ने इससे पूरा लाभ उठाया। चाँदी और ताँबे का प्रयोग वहाँ हित्ती राज्य की स्थापना के कुछ पहले से ही प्रारम्भ हो गया था, इसके पर्याप्त प्रमाण प्राप्त हैं। असीरियन व्यापारी ताम्र का निर्यात करते थे और रजत को **विनिमय माध्यम** के रूप में प्रयुक्त करते थे। हित्तियों की इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सफलता थी **उपकरण बनाने के लिए लोहे का उपयोग प्रारम्भ करना**। लोहा अनातोलिया में बहुलता से मिलता है, परन्तु दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में इसका प्रयोग **बहुत सीमित** था। इसका कारण इसके पिघलाने की प्रक्रिया का कठिन होना था। इसलिए हित्ती युग में भी ताम्र और कांस्य का प्रयोग यथावत् प्रचुरता से होता रहा। यद्यपि हित्ती अभिलेखों में लोहे की तलवार और देवमूर्तियों इत्यादि का उल्लेख हुआ है तथापि वे बहुमूल्य पदार्थों के रूप में केवल मन्दिरों में अथवा राजाओं के पास थे। लेकिन इसके बावजूद लोहे की वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ करना हित्तियों की महत्त्वपूर्ण देन मानी जा सकती है।

व्यापार की विधियाँ—हित्ती समाज में **विनिमय का माध्यम** अन्य देशों के समान चाँदी की छड़ें अथवा छल्ले थे। छोटे भार के बाट सीसे से बनाये जाते थे। **भार की इकाई** शेकल थी और ६० शेकल का एक 'मीना' होता था। परन्तु एशिया माइनर का शेकल बैबिलोनिया के शेकल से कुछ हलका होता था। हित्ती विधि-संहिता में आवश्यकता की वस्तुओं, जैसे भेड़, बकरी खाद्यान्न, मांस और भूमि इत्यादि के राज्य द्वारा **निर्धारित मूल्य** दिये हुए हैं। उदाहरणार्थ एक भेड़ का मूल्य एक शेकल, बकरी का दो-तिहाई शेकल और एक मीना ताम्र का मूल्य १/४ शेकल था। रजत का विनिमय माध्यम के रूप में प्रयोग और भार की इकाइयों के बैबिलोनियन नाम हित्ती सभ्यता पर बैबिलोनियन प्रभाव के उदाहरण हैं।

विदेशी व्यापार—हित्तियों के आन्तरिक और विदेशी व्यापार के विषय में हमें बहुत कम तथ्य ज्ञात हैं, परन्तु उनकी आर्थिक गतिविधि को देखते हुए कहा जा सकता है कि पड़ोसी देशों के साथ उनके **घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रहे होंगे**। असीरियन व्यापारियों के समय में अनातोलिया से धातुओं, विशेषतः **ताम्र का निर्यात** होता था और बैबिलोनिया से वस्त्र और टिन मँगाये जाते थे। साम्राज्य-काल में इस स्थिति में क्या परिवर्तन हुए, इसका अनुमान करना कठिन है। फिर भी इस काल में विदेशी व्यापार कम हो गया था, इसका कोई संकेत मिलता। एक अभिलेख में उल्लेख हुआ है कि ताम्र का आयात **'अलसिया'** से होता था। सम्भवतः अलसिया से तात्पर्य साइप्रस से है जहाँ ताँबे की सुप्रसिद्ध खानें थीं। इससे संकेतित है कि अनातोलिया की ताम्र की खानें हित्ती युग में निश्शेषित होती जा रही थीं। इसके अतिरिक्त इससे हित्तियों के **पश्चिम में ईजियन प्रदेश के साथ व्यापारिक सम्बन्ध** होने का पता भी चलता है।

लिपि

बैबिलोनियन कीलाक्षर लिपि का प्रयोग—हित्ती अभिलेख दो लिपियों में प्राप्त होते है : बैबिलोनिया की कीलाक्षर लिपि में और हित्तियों की अपनी स्वदेशी चित्राक्षर (हाइरोग्लाइफिक) लिपि में। बोघ़ज़कोई से प्राप्त अधिकांश अभिलेख **कीलाक्षर लिपि** में हैं। यद्यपि कीलाक्षर लिपि हित्ती-भाषा के लिए सुविधाजनक नहीं थी, फिर भी मध्य एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय लिपि होने के कारण हित्तियों ने उसे अपनाया।

स्वदेशी चित्राक्षर लिपि—हित्तियों की राष्ट्रीय लिपि चित्राक्षर लिपि (हाइरोग्लाइफिक) थी, जिसके **आविष्कारक निश्चित रूप से वे खुद** थे। इस लिपि (चि० ४८) का आविष्कार मिस्री ढंग पर किया गया था, परन्तु दोनों में निश्चितरूपेण कोई सम्बन्ध नहीं था। कोण्डर, जेन्सन, हॉज़्ज़ी तथा टॉमसन इत्यादि अनेक विद्वानों ने इसे पढ़ने का प्रयास किया परन्तु किसी को भी पूर्ण सफलता नहीं मिली; क्योंकि एक मुद्रा को छोड़कर (पृ० ११७, चित्र तथा फु०

चित्र ४८ : एक हित्ती चित्राक्षर अभिलेख का एक अंश

नो०) हित्तियों के **द्विभाषी अभिलेख नहीं मिलते।** फिर भी इसके विषय में कुछ मूल तथ्य उल्लेखनीय हैं। इसके अधिकांश चित्राक्षर जिन वस्तुओं के चिह्न हैं उनको आसानी से पहिचाना जा सकता है। शरीर के विभिन्न अंग, पशुओं के मुख, मेज तथा कुर्सी जैसे फर्नीचिर-उपकरण और मकानों के दृश्य इनमें मुख्य हैं। पंक्तियों को क्रमश बाएँ से दाएँ ओर और दाएँ से बाएँ पढ़ना होता था। यह लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है, इसलिए इसकी भाषा के विषय में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। यह सम्भव है कि इसका उपयोग अधिकतर राजकार्य में होता रहा हो और वे अभिलेख लकड़ी पर उत्कीर्ण किये जाने के कारण नष्ट हो गये हों।

चित्राक्षर लिपि में लिखे गये हित्ती अभिलेखों की **तिथि के** सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। परन्तु अधिकांश पण्डित यह विश्वास करते हैं कि इनका समय साम्राज्य-काल के उत्तर भाग में रखा जा सकता है।

भाषाएँ और साहित्य

भाषाएँ

हित्ती कीलाक्षर अभिलेखों में, जो बोघज़क्कोई से प्राप्त हुए हैं, कम से कम **आठ भाषाओं** का प्रयोग हुआ है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हित्ती साम्राज्य में आठ भाषाएँ बोली जाती थीं। वास्तव में इनमें केवल हित्ती और अक्कादी केवल ये **दो भाषाएँ ही ऐसी थीं जिनका राजकार्यों के लिए प्रयोग होता था।** अन्य भाषाओं का प्रयोग या तो नाममात्र के लिए होता था अथवा किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए।

हित्ती समाज में प्रचलित भाषाएँ—हित्ती भाषाओं में सर्वप्रथम उल्लेख उनकी अपनी **'हित्ती भाषा'** का किया जाना चाहिए। सर्वप्रथम **ह्रोज़्नी ने** यह प्रतिपादित किया कि इस भाषा का सम्बन्ध आर्य-भाषा परिवार से है। यद्यपि अब अधिकांश विद्वान् इस मत को स्वीकृत करने लगे हैं, फिर भी यह स्मरणीय है कि **हित्ती भाषा में इन्डो-यूरोपियन शब्द बहुत कम** हैं। इसलिए इस भाषा-परिवार में हित्ती भाषा का क्या स्थान है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। आजकल अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि हित्ती भाषा आर्य-परिवार की एक विशिष्ट शाखा है। इसको 'हित्ती' नाम आधुनिक काल में दिया गया है। वास्तव में हित्ती अभिलेखों में **'हित्तिलि'** नाम का प्रयोग एक अन्य प्राचीनतर भाषा के लिए किया गया है। जब विद्वानों को यह ज्ञात हुआ

तब उन्होंने 'हित्ती' भाषा के नाम की खोज की। परन्तु हित्तियों ने अपनी भाषा का कोई नाम नहीं दिया है। इसलिए विद्वान् लोग इस बात पर सहमत न हो सके कि 'हित्ती' भाषा को किस नाम से पुकारा जाय। इसके परिणामस्वरूप 'हित्ती' नाम ही चलता रहा और अभिलेखों में **जिस भाषा को 'हित्तिलि' कहा गया है उसे पुरा-हित्ती (प्रोटो-हित्ती) कहा जाने लगा।** पुरा-हित्ती भाषा का अभिलेखों में बहुत कम प्रयोग हुआ है और अभी तक इसका किसी अन्य भाषा के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सका है। परन्तु इतना निश्चित है कि यह आर्येतर भाषा थी। अब यह प्रायः माना जाने लगा है कि यह प्रारम्भिक-अनातोलियनों की भाषा रही होगी।

तीसरी भाषा जिसका हित्तियों ने प्रयोग किया बैबिलोन की **अक्कादी भाषा** थी। इसका उपयोग पश्चिमी एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होने के कारण किया गया। इसके अतिरिक्त उन्होंने **सुमेरियन भाषा** का भी प्रयोग किया। उन्होंने अपने उपयोग के लिए अनेक हित्ती-सुमेरियन शब्द-सूचियाँ बनाई थीं। उनकी पाँचवीं भाषा **'हुर्री'** थी जो सम्भवतः मितन्नी राज्य की भी प्रमुख भाषा थी। उनकी अन्य तीन भाषाएँ हित्ती भाषा की तरह आर्य-परिवार से सम्बद्ध प्रतीत होती हैं। इनमें **लूवियन** और **पालाई**—इन दो का केवल यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है। उनकी अपेक्षा उन्होंने **मितन्नी राज्य के शासकों की भाषा** को अधिक महत्त्व दिया। इसमें किक्कुली नामक विद्वान् की अश्वविद्या पर एक पुस्तक भी प्राप्त हुई है। इस भाषा का संस्कृत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध लगता है। अनातोलिया में हुर्री और मितन्नी राज्य के शासकों की भाषा का प्रयोग उस समय प्रारम्भ हुआ होगा जब मितन्नी की शक्ति बढ़ी हुई थी। हित्ती भाषा का अध्ययन करते समय वहाँ की **चित्राक्षर-लिपि (हाइरोग्लाइफिक) में लिखे हुए अभिलेखों की भाषा** का भी ध्यान रखना होगा। यह भाषा पढ़ी नहीं जा सकी है इसलिए इसका सम्बन्ध उपर्युक्त भाषाओं से जोड़ना कठिन है। क्योंकि इस भाषा को अभी तक कोई नाम नहीं दिया जा सका है, इसलिए इसे 'हाइ-रोग्लाइफिक-हित्ती-भाषा' कहा जा सकता है।

साहित्य

हित्ती राजकीय अभिलेख—हित्तियों के साहित्य का ज्ञान हमें उनके कीलाक्षर अभिलेखों से होता है। इनमें सबसे पहले राजकीय अभिलेखों का उल्लेख किया जा सकता है जो **साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं।** इनमें से कुछ में हित्ती सम्राटों के भाषण संगृहीत हैं। उदाहरण के लिए

हत्तुसिलिस् प्रथम के 'राजनीतिक वसीयतनामा' नामक भाषण को लीजिए, जिसमें उसने सभा के सम्मुख अपने दत्तकपुत्र मुर्सिलिस् प्रथम को उत्तराधिकारी घोषित किया था। इसमें राजा अपनी प्रजा के साथ स्वतन्त्रता और स्वाभाविकता के साथ वार्तालाप करता प्रतीत होता है। हित्ती अभिलेखों में **इतिहास के प्रति विशेष रुचि** प्रकट की गई है। उदाहरणार्थ हित्ती नरेश भाषण देते समय पिछली घटनाओं का उल्लेख करके यह दिखाते थे कि आन्तरिक कलह से राज्य की किस प्रकार हानि हो जाती है। इसी प्रकार सामन्तों को पत्र भेजते समय दोनों पक्षों के पिछले सम्बन्धों का इतिहास दिया जाता था और देवताओं को बलि देते समय राजा की पिछली सफलता की कथा को कृतज्ञता-ज्ञापन के हेतु दोहराया जाता था। बहुत से राजकीय अभिलेख उनमें उल्लिखित शासकों की सफलता का सम्पूर्ण वृत्तान्त देते हैं। **हत्तुसिलिस् तृतीय का एक अभिलेख तो उसकी 'आत्मकथा' ही बन गया है**। इसमें उसकी बाल्यावस्था से लेकर उस अभिलेख के लिखे जाने तक के जीवन का वृत्तान्त मिलता है। इस प्रकार के अभिलेख अन्य देशों में प्रायः अप्राप्य रहे हैं।

आख्यान साहित्य—हित्तियों का दूसरे प्रकार का साहित्य आख्यानात्मक है, परन्तु अभाग्यवश इस पर प्रकाश देने वाले अभिलेख अधिकांशतः खण्डितावस्था में ही उपलब्ध हुए हैं। फिर भी इनसे इतना स्पष्ट हो जाता है कि इन आख्यानों का **साहित्यिक दृष्टि से अधिक मूल्य नहीं है**। अधिकांश आख्यान सरलतम परन्तु रूक्ष गद्य में कहे गये हैं। पद्य का किसी भी स्थान पर प्रयोग नहीं हुआ है। लेकिन कथावस्तु बर्बर होते हुए भी **मनोरंजक** है। बहुत से आख्यान निस्सन्देह विदेशी हैं। इनमें बैबिलोनिया का **गिलगमेश आख्यान** भी सम्मिलित है। हुर्री जाति के भी बहुत से आख्यान हित्ती अभिलेखों में मिलते हैं। इनमें दो आख्यानों में देवताओं में राजपद के लिए होने वाले संघर्ष का वर्णन है। इन कथाओं से मिलती-जुलती कथाएँ यूनानी पौराणिक साहित्य में भी मिलती हैं। बैबिलोनिया के **कुछ वैज्ञानिक ग्रन्थों के अनुवाद** भी हित्ती अभिलेखों में प्राप्त हुए हैं। मितन्नी लेखक **किक्कुली** की अश्वविद्या पर लिखित पुस्तक का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है

धार्मिक आख्यान—हित्तियों के धार्मिक साहित्य में 'नागदेव (ड्रैगन) का वध' और 'लुप्त देवता' नाम के आख्यान प्रसिद्ध हैं। इन दोनों आख्यानों के **कई संस्करण प्राप्त** हुए हैं, जो परस्पर न्यूनाधिक भिन्न हैं। उदाहरण के लिए **'नागदेव का वध'** आख्यान के एक संस्करण में कथा का नायक ऋतुदेव पहले नागदेव से पराजित होता है परन्तु बाद में एक देवी और मनुष्य की सहायता

से उस पर विजय प्राप्त कर लेता है। लेकिन इस आख्यान के दूसरे संस्करण में ऋतुदेव नागदेव से न केवल पराजित होता है वरन् नागदेव उसके नेत्रों और हृदय पर भी अधिकार कर लेता है। तब ऋतुदेव चालाकी से अपने पुत्र का विवाह नागदेव की पुत्री से कर देता है और उसका पुत्र वधूगृह में प्रवेश करते समय अपने श्वसुर से अपने पिता का हृदय और नेत्र माँग लेता है। इसके बाद पुनः युद्ध होता है जिसमें ऋतुदेव अपने पुत्र और नागदेव दोनों का वध कर देता है।

लुप्तदेव की कथा—'लुप्तदेव की कथा' में ऋतुदेव (एक अन्य संस्करण में उर्वरता का प्रतीक तेलिपिनु नाम का देवता) लुप्त हो जाता है जिससे पृथिवी पर जीवन-शक्ति का अभाव हो जाता है और अकाल पड़ने से देवता और मनुष्य भूखे मरने लगते हैं। तब देवगण एक **मधुमक्खी की सहायता से 'लुप्तदेव'** का पता लगाते हैं और उसके क्रोध को शान्त करते हैं। यह आख्यान भी कितने ही रूपों में मिलता है। साहित्यिक दृष्टि से ये कथाएँ उच्चकोटि की नहीं हैं और धार्मिक अथवा नैतिक दृष्टि से भी इनको उदात्त नहीं कहा जा सकता। परन्तु हित्ती जाति के धार्मिक विश्वासों के विषय में ये हमारे ज्ञान का मुख्य स्रोत हैं। इसी दृष्टि से इनका महत्त्व है।

बौद्धिक क्षेत्र में हित्तियों की सफलता के सम्बन्ध में और अधिक तथ्य ज्ञात नहीं हैं। सम्भवतः इस क्षेत्र में उनकी सफलता बहुत अधिक थी भी नहीं। उनकी रुचि दर्शन और विज्ञान जैसे विषयों में सम्भवतः बिलकुल नहीं थी। इसलिए उनके अभिलेखों में इन विषयों से सम्बद्ध सामग्री अत्यल्प है।

हित्ती कला

प्राचीन राज्य में कला की प्रगति—हित्ती इतिहास का अध्ययन करते समय अभी तक हमारा ध्यान बोग्ज़कोई पर ही केन्द्रित था, क्योंकि यहाँ से प्राप्त अभिलेखों से ही हम हित्ती राजनीतिक इतिहास और संस्कृति की मुख्य धाराओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं। परन्तु कला का अध्ययन करते समय देश और काल की सीमाएँ अधिक विस्तृत हो जाती हैं। कारण स्पष्ट है। हित्तियों की कला का सम्बन्ध एक ओर प्रारम्भिक-अनातोलियनों की कला से जोड़ा जा सकता है तो दूसरी ओर उसकी परम्पराएँ, साम्राज्य के पतन के बाद भी, सीरिया के 'नव-हित्ती' राज्यों में शताब्दियों तक जीवित रहती हैं। **प्रारम्भिक अनातोलियनों की कला के महत्त्वपूर्ण अवशेष अलजहुयुक नामक स्थान पर प्राप्त समाधियों में मिलते हैं। इनमें रजत और ताम्र की पशुमूर्तियाँ, स्वर्णपात्र और आभूषण इत्यादि**

सम्मिलित हैं। **इस युग की सर्वोत्तम कलाकृतियाँ** हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड हैं जिन पर ज्योमितिक चित्र बने हैं। इस प्रकार के मृद्भाण्डों का प्रयोग प्राचीन-राज्य के अन्त तक चलता रहता है। **प्राचीन-राज्य की** अवशिष्ट कलाकृतियों में मृद्भाण्डों और मुद्राओं को छोड़कर कुछ उल्लेखनीय नहीं है। इस काल की मुद्राएँ भी अधिकांशतः उन विदेशी असीरियन व्यापारियों की है जिन्होंने दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के पहले और प्राचीन-राज्य युग के प्रारम्भ में अनातोलिया में अपने उपनिवेश स्थापित किये हुए थे।

साम्राज्य-काल में पाषाण-कला का उद्भव—साम्राज्य-काल में स्थिति में अचानक परिवर्तन होने लगता है। अब न केवल हस्तनिर्मित मृद्भाण्डों के स्थान पर **चक्रनिर्मित, रक्तवर्णी, पॉलिश किए हुए सुन्दर मृद्भाण्डों** का निर्माण होने लगता है, वरन् **स्थापत्य कला** का गौरवपूर्ण ढंग से आविर्भाव होता है और **वास्तुकला** में नए प्रयोग किए जाते हैं। इस युग में बने राजप्रासाद और मन्दिर तथा उनकी दीवारों के निचले भाग के पाषाण-खण्डों और समस्त देश में यत्रतत्र पर्वत शिलाओं पर रिलीफ में बनी विशाल मूर्तियाँ उनके हस्तलाघव का प्रमाण हैं। वास्तव में साम्राज्य-काल में पाषाण-स्थापत्य और वास्तुकला का यकायक उद्भव और विकास कुछ समस्यामूलक हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि इसमें उन्हें हुर्री जाति से प्रेरणा मिली थी। परन्तु हुर्री जाति की कला कृतियों के नमूने अप्राप्य होने से हित्तीकला का **हुर्रीकला से सम्बन्ध स्थापित करना हास्यास्पद** लगता है। अधिक सम्भावना इस बात की है कि वे इस क्षेत्र में **मिस्रियों से प्रभावित** हुए हों। इस काल में उनके मिस्र से घनिष्ठ राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध थे और मिस्र में समुन्नत पाषाण-कला का अस्तित्व था, ये निर्विवाद तथ्य हैं। अतः इस क्षेत्र में हित्तियों ने मिस्र से कुछ सीखा था, यह अनुमान करना असंगत नहीं कहा जा सकता।

हत्तुसस् नगर का निर्माण—जो कुछ भी रहा हो, हित्तियों ने पाषाण का बहुत प्रचुरता से प्रयोग किया है, इसमें सन्देह नहीं। उनकी राजधानी **हत्तुसस्** (आधुनिक बोग़ज़कोई) पश्चिमी एशिया का प्रथम पाषाण-प्राचीर-युक्त नगर था। यह समुद्र से ३,००० फुट ऊँचे पठार पर स्थित था। इसकी लम्बाई २२०० मीटर और चौड़ाई ११०० मीटर थी। सम्भवतः विस्तार में यह अपने समय के बैबिलोन से भी बड़ा था। इसके चारों ओर दोहरी प्राचीर थी। **मुख्य प्राचीर** दोनों ओर से पत्थर की बनी थी और उसके मध्य पत्थर के टुकड़े भरे हुए थे। प्राचीर का बाह्य भाग विशेष रूप से दृढ़ बनाया गया था। यह ५५०० मीटर लम्बी थी। इससे बीस फुट दूर दूसरी लघु प्राचीर थी। दोनों प्राचीरों पर सौ-सौ

फुट की दूरी पर चतुर्भुज **तोरण** (टॉवर) बने थे। मुख्य प्राचीर में तीन द्वार थे। इनके अतिरिक्त शत्रु पर अचानक आक्रमण करने के लिए **गुप्त द्वारों** का प्रबन्ध था। हत्तुसस् के अतिरिक्त अनातोलिया के अन्य **प्रमुख नगर** ओयुक, इकोनियन, ल्याना और कोमना थे। ये वास्तव में छोटे-छोटे कस्बे मात्र थे। अनातोलिया के बाहर साम्राज्य के मुख्य नगर कार्शेमिश, हमथ, कादेश और अलेप्पो थे। ये भी प्रसिद्ध होने के बावजूद विस्तार की दृष्टि से आजकल के लघु कस्बों से अधिक बड़े नहीं थे।

मन्दिरों की योजना—हत्तुसम् नगर के उत्खनन से साम्राज्य-काल के कुछ भवनों के अवशेष प्रकाश में आये हैं, जिनसे हित्ती वास्तुकला का काफी ज्ञान होता है। इन भवनों में **पाँच मन्दिर** प्रमुख हैं। ये बनावट में एक सदृश हैं। बैबिलोनिया और क्रीट के मन्दिरों के सामान हित्ती मन्दिरों में एक **केन्द्रीय प्रांगण** होता था जिसके चारों ओर **लघुकक्ष** रहते थे। प्रांगण का क्षेत्रफल २०० से ५०० वर्ग मीटर तक मिलता है। परन्तु हित्ती मन्दिरों की कुछ अपनी विशेषताएँ भी थीं। बैबिलोनियन मन्दिरों में गर्भगृह हिन्दू मन्दिरों के समान द्वार के सम्मुख बना होता था जिससे प्रांगण में उपस्थित उपासक सुविधापूर्वक देवदर्शन कर सकें। इसके विपरीत हित्ती मन्दिरों में गर्भगृह प्रांगण के एक कोने में बना
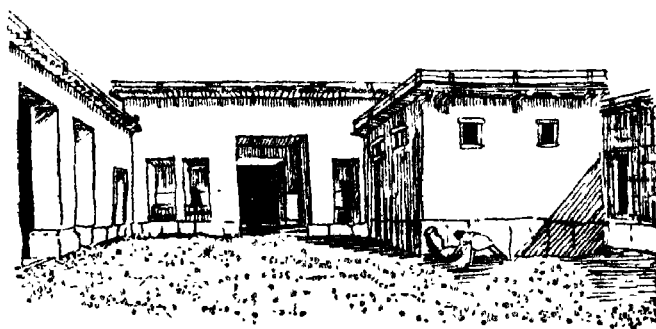
चित्र ४९ : बोघज़कोई के एक मन्दिर का काल्पनिक पुनर्निर्माण

होता था और उसका द्वार मूर्ति के सम्मुख न होकर बगल में होता था (चित्र ४९)। स्पष्ट है कि हित्ती मन्दिरों में देवदर्शन का अधिकार कुछ ही व्यक्तियों को रहा होगा। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार हित्ती मन्दिरों की एक अन्य विशेषता **वातायन** हैं। बैबिलोनियन मन्दिरों में प्रकाश आने के लिए केवल दीवार के ऊपरी भाग में लघु छिद्र बने होते थे। परन्तु हित्ती मन्दिरों में विशाल वातायनों के द्वारा प्रकाश के आने की व्यवस्था की गई

थी। मन्दिरों का मुख्य द्वार किस ओर होना चाहिए इसके लिए निश्चित नियम नहीं था।

बिल-हिलानी अथवा द्वार-मण्डप—हित्तियों ने वास्तुकला में कुछ नए प्रयोग भी किये। इनमें प्रमुख है राजप्रासादों के अग्रभाग में **द्वार-मण्डप** (पोर्च) की व्यवस्था। बोघज़कोई में १४ वीं अथवा १३ वीं शताब्दी ई० पू० से ही इसका प्रयोग आरम्भ हो गया था, इसके प्रमाण मिलते हैं। द्वार-मण्डप में जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी होती थीं। इसकी छत दो स्तम्भों पर टिकी रहती थी और स्तम्भ दो पशु-मूर्तियों पर। इसका प्रयोग साम्राज्य के पतन के बाद भी सीरिया के नव-हित्ती राज्यों में होता रहा। वहाँ इसे **'बिल-हिलानी'** नाम से पुकारा जाता था। 'हिलानी' हित्ती भाषा का शब्द है और इसका अर्थ 'द्वार-मण्डप' होता है। अतः यह लगभग निश्चित प्रतीत होता है कि द्वार-मण्डप का प्रयोग सर्वप्रथम हित्तियों ने ही किया। **कालान्तर में इसको असीरियनों ने अपनाया और लोकप्रिय बनाया।**

स्थापत्य कला

राजाओं की रिलीफ में मूर्तियाँ—अपने भवनों को अलंकृत करने के लिए हित्तियों ने रिलीफ स्थापत्य से सहायता ली। उनके रिलीफ-चित्रों में उनके देश का इतिहास भी है और धर्म भी। साम्राज्य-काल की रिलीफ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ मन्दिरों और राज-प्रासादों की दीवारों के निचले पाषाण-निर्मित भागों और पर्वत शिलाओं पर प्राप्त होती हैं। ये सब निश्चित रूप से हित्ती राजाओं द्वारा निर्मित कराई गई थीं। इनमें कुछ मूर्तियाँ खुद हित्ती राजाओं की हैं, जिनमें उन्हें देवोपासना करते हुए दिखाया गया है (चि० ५०)। देवोपासना के ऐसे दृश्यों में देवता को बहुधा मानव रूप में खड़े हुए अथवा बैठे हुए चित्रित किया गया है। कहीं-कहीं उस के स्थान पर उसके प्रतीक को अंकित कर दिया गया है।
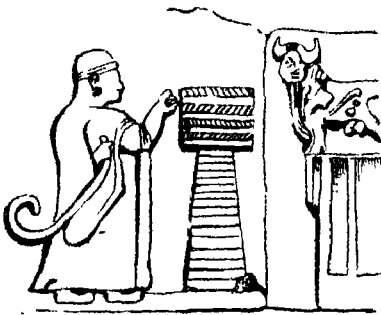
चित्र ५० : पुजारी वेश में ऋतुदेव के प्रतीक वृषभ की पूजा करते हुए एक हित्ती राजा की अलजहुयुक से प्राप्त मूर्ति

यजिलीकय की गैलरी—हित्ती स्थापत्य का सर्वोत्तम उदाहरण यजि-

लीकय की विशाल दीर्घा (गैलरी) है जिसमें देवियों और देवताओं को दो पंक्तियों में चलने की मुद्रा में दिखाया गया है। ऐसा लगता है मानों दो जलूस गैलरी के मुख्य भाग में एक दूसरे के सम्मुख आकर मिल रहे हैं। देवियों की पंक्ति का नेतृत्व **सिंहवाहिनी मातृशक्ति** कर रही है (चि० ५१)। उसका नाम **'हेपत'** दिया गया है। उसके हाथ में एक अज्ञात धर्म-चिह्न है। उसके पीछे एक लघु देवता की आकृति बनी है जिसके हाथ में परशु है। वह भी सिंह पर आरूढ़ है। उसके पीछे दो देवियाँ है जो हेपत के समान वस्त्र धारण किए हुए हैं और एक **द्विमुखी चील पर** खड़ी हुई हैं। द्विमुखी चील का भाव सम्भवतः

चित्र ५१ : यजिलीकय दीर्घा का मुख्य दृश्य

बैबिलोनिया से लिया गया था जहाँ यह कुछ भिन्न रूप में सुमेरियन युग से ही लोकप्रिय था (पृ० १०३)। हेपत के दाहिनी ओर किरीटधारी पशु खड़े हैं। ऐसे ही पशु प्रमुख देवता के बाँई ओर खड़े हैं, जो हेपत के सम्मुख दो लघु आकृतियों पर खड़ा हुआ है। यह देवता दाढ़ीधारी है उसके हाथमें गदा और दूसरे में धर्म-चिह्न है। उसके पीछे एक देवता, जो उसी के सदृश परन्तु दाढ़ी रहित है, दो शिलाओं पर खड़ा है। उसके पीछे एक अन्य देवता हैं जिसके हाथ में गेहूँ की बाली है। यह दृश्य यजिलीकय दीर्घा (गैलरी) के मुख्य भाग में उत्कीर्ण है। इस अतिरिक्त दीर्घा के अन्य स्थलों पर सहस्रों **देवियों और देवताओं को पंक्तिबद्ध रूप** में चलने की मुद्रा में चित्रित किया गया है। देवताओं की मुद्रा और वेषभूषा में कोई वैयक्तिक वैशिष्ट्य न होने के कारण उनको पहिचानना कठिन है। केवल उनके प्रतीकों, आयुधों, वाहनों और टोपियों की सहायता से उनके व्यक्तित्व का कुछ अनुमान किया जा सकता है। कहीं-कहीं उनके नाम भी उत्कीर्ण मिलते हैं, परन्तु उनको पढ़ना कठिन है।

यजिलीकय के दृश्य का अर्थ—यजिलीकय के इस दृश्य का क्या अर्थ है, इसके विषय में विद्वानों में भारी वैमत्य है। **टेक्सियर ने**, जिसने यजिलीकय
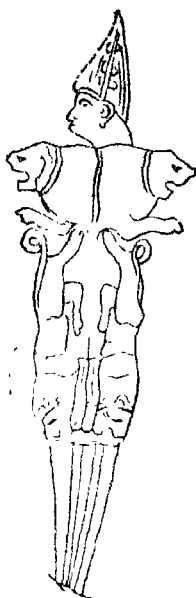
चित्र ५२ : यजिलीकय में प्राप्त एक विचित्र देवता के चित्र की अनुकृति

में गैलरी की खोज की थी, इसे यूनानी आख्यानों में उल्लिखित वीरांगनाओं (अमेज़न्स् ; पुरुषोचित गुण रखनेवाली युद्धप्रिया स्त्रियाँ) और पफ्लेगोनियनों के मिलन का दृश्य बताया है। **कौपर्ट और हेमिल्टन** ने इसे दो जातियों के मिलन का दृश्य माना है। परन्तु **गुर्नी** के अनुसार यह हित्तियों के सहस्रों देवताओं का एक स्थान पर चित्रण मात्र है। हमारा विचार है कि हित्तियों के धर्म में उनके प्रमुख देवता के प्रमुख देवी के साथ विवाह के सम्बन्ध में कुछ वैसा ही आख्यान प्रचलित रहा होगा जैसा हिन्दू धर्म में शिव-पार्वती विवाह के सम्बन्ध में मिलता है। उसी का अंकन इस दृश्य में हुआ है। उनके प्रमुख देवता की शिव के साथ और हेपत की सिंहवाहिनी दुर्गा के साथ सादृश्यता (पृ० २०२) इस सुझाव को पर्याप्त आधार प्रदान करती है।

हित्ती रिलीफ-चित्रों की विशेषता—उपर्युक्त रिलीफ-चित्रों में बैबिलोनियन और असीरियन स्थापत्य के समान देवताओं के **धड़ को सीधे परन्तु सिर और पैरों को पार्श्व (प्रोफाइल) की ओर से** दिखाया गया है। देवियों को पूर्णतः पार्श्व की ओर से चित्रित करने का प्रयास किया गया है परन्तु इसमें अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है (चि० ५१)। फिर भी सम्पूर्ण शरीर को पार्श्व की ओर से दिखाने का पश्चिमी एशिया के इतिहास में यह प्रथम प्रयोग था। इस दृष्टि से इसे प्रशंसनीय माना जा सकता है।

'द्वार- संरक्षक' की मूर्ति—हित्ती रिलीफ-चित्रों में सबसे सुन्दर बोग़ज़कोई के एक द्वार के पार्श्व में बनी हुई योद्धा की मूर्ति है जो **'द्वार-संरक्षक'** के नाम से प्रसिद्ध है। (चि० ५३) इसमें भी धड़ को पूर्णरूपेण परन्तु मुख और पैरों को पार्श्व की ओर से दिखाया गया है। इसके स्तनों को इतना उभार कर दिखाया गया है कि कुछ विद्वान् इसे **स्त्री-योद्धा** (अमेज़न) का चित्र मानते हैं। परन्तु अधिक सम्भावना इस बात की है कि यह या तो किसी ऐसे **देवता की आकृति** है जिसे द्वार का संरक्षक माना जाता था, अथवा किसी साधारण हित्ती योद्धा की। यह आकृति **इतने उभरे रिलीफ** में है कि बगल से खड़े होकर देखने पर मुख का दूसरा भाग भी दिखाई देता है। इसको वास्तव में रिलीफ तथा 'पूर्णशिल्प' (स्कल्प्चर इन दि राउंड) के बीच की अवस्था कहा जा सकता है। **पूर्णशिल्प में**

हित्तियों को अधिक सफलता नहीं मिली। बोग़ज़कोई तथा **अलजहुयुक से प्राप्त स्फिंक्स् तथा सिंह मूर्तियों** के शरीर का अग्र भाग उनके इस दिशा में किए गए प्रयास के नमूने हैं, परन्तु ये कलात्मक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इनके अतिरिक्त **धातु की कुछ लघु मूर्तियाँ** प्राप्त हुई हैं जो स्वर्णकार की सफलता का परिचायक हैं।

चित्र ५३ : 'द्वार-संरक्षक' की मूर्ति—सामने और पार्श्व की ओर से

मुद्रा-निर्माण-कला

हित्ती मुद्राओं की विशेषताएँ—हित्ती रिलीफ-चित्रों में प्राप्त मूर्तियों से मिलती-जुलती आकृतियाँ उनकी मुद्राओं पर मिलती हैं। ये मुद्राएँ शंकु (कोन), घन (क्यूब) और बेलन (सिलिण्डर) के **आकार** में मिलती हैं। इनमें बीच में प्रायः चित्राक्षर (हाइरोग्लाइफिक) **लिपि में** अभिलेख अथवा किसी देवता या उसके प्रतीक का चित्र अंकित मिलते हैं। कुछ मुद्राएँ ऐसी भी हैं जिन पर उनके अधिकारी **राजा की आकृतियाँ** बनी हुई हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध **तारकोन्देमोस की द्विभाषी रजत मुद्रा** है (पृ० १७१)। यह हित्ती मुद्रा-कला का सर्वोत्तम नमूना मानी जाती है। राजमुद्राओं पर अधिकतर अधिकारी राजा का 'मोनोग्राम' और उसके ऊपर **'पक्षयुक्त-सूर्य-चक्र'** मिलता है (चि० १५ पृ० २३)। 'पक्षयुक्त-सूर्य-चक्र' का भाव सम्भवतः मिस्र से लिया गया था। कालान्तर में इसे फारस के हखामशी सम्राटों ने कुछ परिवर्तन करके अपना लिया। बैबिलोनिया का इस क्षेत्र में अपेक्षया कम प्रभाव मिलता है। हित्ती और बैबिलोनियन मुद्राओं के डिजायन भी प्रायः एक दूसरे से भिन्न हैं। परन्तु साम्राज्य के पतन के पश्चात् सीरियन हित्तियों की मुद्राकला बैबिलोन के प्रभाव से न बच सकी और धीरे-धीरे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो बैठी। स्थापत्य में हित्ती परम्पराएँ

अपेक्षया दृढ़तर सिद्ध हुईं, परन्तु उन पर भी धीरे-धीरे स्थानीय सीरियन और असीरियन प्रभाव पड़ता गया और अन्त में उनका हित्ती वैशिष्ट्य भी सर्वथा विलुप्त हो गया, जैसा कि **सिन्दजिर्ली और सक्जेगोजू** के स्थापत्य से स्पष्ट है।

हित्ती धर्म

हित्तियों के प्रादेशिक सम्प्रदाय—प्रारम्भ में अनातोलिया के निवासी पशुओं और **प्राकृतिक शक्तियों**, जैसे पेड़, नदी और पर्वतादि को पूजते थे। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ तक उनके अधिकांश देवताओं का मानवीकरण हो गया था और प्रत्येक नगर तथा प्रदेश में एक विशिष्ट देवता को मान्यता मिलने लगी थी। इन प्रादेशिक देवताओं में ऋतुदेव बहुत लोकप्रिय था। उसकी उपासना विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न नामों और रूपों में होती थी। आख्यानों में उसे इल्लुयनक देवता का बध करने वाला कहा गया है। उसका **वाहन** और प्रतीक **वृषभ** था। अनातोलियन कलाकृतियों में वह रथारूढ़ तथा सीरियन कलाकृतियों में परशु और त्रिशूल धारण किए हुए मिलता है।

चित्र ५४ : बारहसिंगे पर आरूढ़ एक हित्ती देवता

वह हित्तियों का प्रमुख युद्धदेवता भी था। उसका वाहन वृषभ, आयुध त्रिशूल तथा पत्नी के सिंहवाहिनी होने से वह हिन्दू देवता **शिव के अनुरूप** लगता है। उसका पशुपति रूप में चित्रण इस सादृश्य को अतिरिक्त आधार प्रदान करता है (चि० ५५)। तोरुस प्रदेश और उत्तरी सीरिया में हुर्री जाति का बाहुल्य था, इसलिए वहाँ हुर्री **ऋतुदेव तेशुब** और उसकी पत्नी **हेबत** अथवा **हेपत** की उपासना लोकप्रिय थी। अलेप्पो, समूहा, कुम्मनी तथा हुर्मा उनकी पूजा के केन्द्र थे। उसका शर्मा नाम का एक पुत्र था। इन स्थानों की कलाकृतियों में **हेपत** को सिंहवाहिनी (दुर्गा ?) के रूप में दिखाया गया है। एक अन्य हुर्री देवी **शौसक** थी, जिसे बैबिलोनियन ईश्तर का दूसरा रूप माना जाता है। हत्तुसिलिम् तृतीय ने इसे अपनी व्यक्तिगत-देवी (पर्सनल डीटी) बनाया था। हित्ती राज्य के केन्द्रीय प्रदेश में प्राचीन हित्ती देवियों और देवताओं की उपासना अधिक लोकप्रिय थी। इनमें **अरिन्ना नगर की सूर्यदेवी** मुख्य थी। उसे स्थानीय ऋतुदेव की पत्नी माना जाता था। पश्चिमी प्रदेश में

सरहुण्डी की, जिसका सम्बन्ध एट्रूस्कन देवता 'तर्कोन' से हो सकता है, उपासना होती थी। वह नव-हित्ती राज्यों का भी प्रमुख देवता था। हित्तियों ने

चित्र ५५ : हित्ती 'पशुपति'

कुछ बैबिलोनियन और सुमेरियन देवताओं, जैसे **अनु, एनलिल, निनलिल** तथा **इया** को भी अपना लिया था। इनके अतिरिक्त उनके अन्य असंख्य देवी-देवता थे जिनके केवल नामों का ही उल्लेख करना कठिन है।

हित्ती राजधर्म का विकास—हित्ती सम्राटों का इन **प्रादेशिक सम्प्रदायों के प्रति दृष्टिकोण बहुत ही उदार** था। जिस प्रकार उन्होंने अनातोलिया के लघु राज्यों को मिलाकर एकता की स्थापना की, परन्तु प्रादेशिक स्वतन्त्रता को एकदम **नष्ट** नहीं किया उसी प्रकार साम्राज्य के सर्वोच्च धर्माधिकारी का पद धारण करने के बावजूद उन्होंने प्रादेशिक धर्म-सम्प्रदायों को दबाने की चेष्टा नहीं की। उल्टे प्रादेशिक धर्म-केन्द्रों में प्रतिवर्ष व्यक्तिगत रूप से उत्सवों में उपस्थित रहकर, अपने पदाधिकारियों को वहाँ के मन्दिरों को सहायता देने का आदेश देकर और राजघोषणाओं में प्रादेशिक देवताओं को बराबर स्थान देकर उन्होंने इन सम्प्रदायों को फलने-फूलने का अवसर दिया। इस पर भी धीरे-धीरे विभिन्न सम्प्रदायों में समन्वय होकर **एक राष्ट्रीय-धर्म का विकास** होता गया। इसका **एक कारण राजघोषणाओं** के लेखक थे जो सुविधा के लिए समान लगनेवाले देवताओं को वर्गीकृत कर देते थे। इससे देवसमूह में व्यवस्था आने लगी। दूसरे, हित्ती शासकों ने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक समझा कि वे खुद जिन देवताओं की उपासना करते हैं उनके प्रति प्रजा

भक्ति-भाव रखें। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होंने अपनी **देवियों और देवताओं का तादात्म्य** बहुत से प्रादेशिक देवताओं के साथ स्थापित कर दिया। इस प्रकार प्रादेशिक सम्प्रदायों की विविधता को प्रोत्साहन देते हुए भी उन्होंने एक केन्द्रीय राजधर्म को विकसित करने और लोकप्रिय बनाने में सफलता प्राप्त की।

हित्ती राजधर्म के प्रमुख देवी-देवता—हित्तियों का नवोदित राजधर्म मिस्र, बैबिलोनिया तथा यूनान के धर्मों से सर्वथा भिन्न था। **इस धर्म की केन्द्र-बिन्दु मातृशक्ति** थी जिसकी समस्त पश्चिमी एशिया में विविध रूपों में पूजा होती थी। एशिया माइनर के विभिन्न प्रदेशों में भी उसके विभिन्न रूपों को मान्यता प्राप्त थी, ऐसा हम देख चुके हैं। हित्ती शासकों ने इनमें सर्वोच्च पद **अरिन्ना की सूर्यदेवी को दिया**। उसको 'हित्ती देश की रानी', 'पृथिवी और आकाश की रानी' एवं 'हित्ती देश के राजाओं तथा रानियों की स्वामिनी' इत्यादि विशेषणों से विभूषित किया गया है। वह हित्ती राष्ट्र और राज्य की संरक्षिका मानी जाती थी। युद्ध और राष्ट्रीय संकट के समय हित्ती राजा सर्वप्रथम उसको ही उपासना द्वारा प्रसन्न करते थे। साम्राज्य के उत्तर काल में जब हित्ती धर्म पर हुर्री जाति का प्रभाव पड़ा, उसका तादात्म्य **हुर्री देवी हेबत, हेपत अथवा हेपित** के साथ स्थापित कर दिया गया। सूर्यदेवी का पति **ऋतुदेव** था। उसको 'हित्ती देश का स्वामी' और 'स्वर्ग का स्वामी' आदि विशेषण दिए गए हैं। उससे युद्धों में सहायता देने की प्रार्थना की जाती थी। जब हुर्री देवी हेबत के साथ सूर्यदेवी का तादात्म्य स्थापित हुआ तब ऋतुदेव को भी **हेबत के स्वामी तेशुब** से अनन्य माना जाने लगा। हित्ती राजधर्म में **सूर्यदेव** को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। धार्मिक आख्यानों में उसे 'देवराज' कहा गया है और मिस्र के साथ की गई सन्धि में उसे प्रमुखतम स्थान दिया गया है। वह न्याय और सत्य का देवता माना जाता था। उसका प्रभाव इतना अधिक था कि हित्ती सम्राट् 'सूर्य' उपाधि धारण करके अपने को धन्य मानते थे।

यजिलीकय में राष्ट्रीय देवताओं आ अंकन—हित्ती राजधर्म का पूर्ण विकास हमें यजिलीकय दीर्घा (गैलरी) के स्थापत्य में मिलता है (चित्र ५१)। इसमें देवियोंमें **प्रमुख स्थान मातृशक्ति सिंहवाहिनी 'हेपत'** को मिला है। देवताओं की पंक्ति जिसको प्रथम स्थान दिया गया है उसका नाम क्या है यह कहना कठिन है, परन्तु मातृशक्ति के हेपत नाम से अनुमान किया जा सकता है कि वह **तेशुब** होगा। यजिलीकय के स्थापत्य का विशद विवेचन हमने अन्यत्र किया है। यहाँ पर इतना ही उल्लेख करना वांछनीय है कि यजिलीकय के

देवता आनातोलिया के **राष्ट्रीय धर्म का पूर्णरूप से प्रतिनिधित्व** करते हैं। यद्यपि हित्ती अभिलेखों में बैबिलोनियन देवताओं का उल्लेख मिलता है परन्तु यजिलीकय की देव-पंक्तियों में उनको स्थान नहीं दिया गया है।

हित्ती मन्दिर—यजिलीकय दीर्घा हित्तियों का पवित्र धर्मस्थान थी, परन्तु साधारण हित्ती नागरिकों के लिए ऐसे उन्मुक्त धर्मस्थल से **मन्दिर** अधिक आकर्षक रहे होंगे। उनके दो प्रकार के मन्दिर उत्खनन में मिलते हैं : छोटे और बड़े। छोटे **मन्दिरों** में यद्यपि कई देवताओं की मूर्तियाँ रहती थीं तथापि उनकी काम एक ही पुजारी से काम चल जाता था। अन्य मन्दिर विशालतर थे। इनमें प्रांगण के चारों ओर लघुकक्ष बने होते थे। इनकी व्यवस्था कई पुजारी करते थे। कुछ नगरों में मन्दिर **स्थानीय प्रशासन का केन्द्र** भी थे, इसलिए उनमें धार्मिक और प्रशासन सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करने के लिए बहुत बड़ी संख्या में कर्मचारी और पदाधिकारी रहते थे। मन्दिरों में **देवमूर्ति** को एक उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया जाता था। ये मूर्तियाँ बहुधा लोहे जैसी बहुमूल्य धातु अथवा लकड़ी की बनती थीं। इसलिए ये आजकल उपलब्ध नहीं होतीं। प्रत्येक देवमूर्ति के आयुध और चिह्न निश्चित थे। साधारण मन्दिरों में देवमूर्ति के स्थान पर उस **देवता के प्रतीक**, जैसे ऋतुदेव के स्थान पर उसके प्रतीक वृषभ की मूर्ति स्थापित करना पर्याप्त माना जाता था।

हित्ती धर्म में कर्मकाण्ड—हित्ती धर्म की पूजा-विधि और कर्मकाण्डीय अंग **हिन्दूधर्म के पूजापाठ और कर्मकाण्ड से** मिलते-जुलते थे। उदाहरणार्थ हिन्दूधर्म के समान हित्ती धर्म में भी मन्दिर के देवता की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना पुजारियों का कर्त्तव्य माना जाता था। उसको स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहिनाने, भोजन-पान कराने और संगीत-नृत्यादि के द्वारा उसके मनोरंजन कराने का **दैनिक कार्यक्रम** निश्चित रहता था। एक अभिलेख में पुजारियों को इन सब अनुष्ठानों को सम्पन्न करने की विधि बताई गई है। इन कर्त्तव्यों को पूरा करते समय पुजारियों को **शारीरिक स्वच्छता और पवित्रता** का ध्यान रखना होता था। वे रात में मन्दिर के बाहर नहीं रह सकते थे। देवार्पित भोजन कोई अन्य मनुष्य न खाले इसका ध्यान रखा जाता था। उपासकों का कर्त्तव्य था कि वे मन्दिरों में भेंट आदि चढ़ाते रहें। फसल तैयार हो जाने पर उसकी भेंट पहले मन्दिर में चढ़ाई जाती थी तथा सर्वोत्तम पशुओं, विशेषतः भेड़ों और बकरियों को बलि के लिए अर्पित करना पुण्यकर्म समझा जाता था। कुछ कलाकृतियों में दिखाया गया है कि राजा और रानी पात्र में जल जैसी कोई वस्तु छोड़ रहे हैं और सेवक पीछे एक

पशु को पकड़े खड़ा है (चि० ५६)। एक स्थान पर पुजारी को वेदी में जिसमें अग्नि प्रज्वलित हो रही है, आहुति छोड़ते हुए दिखाया गया है। **नरमेध की**

चित्र ५६ : एक हित्ती राजा अपनी रानी सहित पूजा करते हुए

प्रथा सम्भवतः लोकधर्म में प्रचलित थी। राजधर्म में भी उसको स्थान प्राप्त था, इसका कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। देवताओं के सम्मान में प्रतिवर्ष कितने ही **उत्सव** मनाए जाते थे, जिनमें **धार्मिक आख्यानों** का पारायण किया जाता था। अधिकांश उत्सवों में राजा व्यक्तिगत रूप से भाग लेते थे। इन उत्सवों के कार्यक्रम का विवरण हमें हित्ती अभिलेखों में मिलता है।

देवताओं और मनुष्यों का सम्बन्ध—हित्तियों के देवता **अदृश्य और अमर** थे, परन्तु अन्य बातों में उनको मनुष्यों के समान माना जाता था। दूसरे शब्दों में हित्ती जाति देवताओं के मानवीकरण से बहुत आगे नहीं बढ़ पाई थी। उसके देवताओं का मनुष्यों से वही सम्बन्ध था जो स्वामी का दासों से होता है। इस दृष्टि से हित्ती धर्म **सुमेरियन धर्म के सदृश था** (पृ० ८३-४)। भलीभाँति सेवा करने पर भी मनुष्य निश्चित रूप से देवताओं से सहायता पाने की आशा नहीं कर सकता था। यह सर्वथा सम्भव माना जाता था कि उपासक जिस समय सहायता के लिए प्रार्थना करे उस समय उसका उपास्यदेव यात्रा कर रहा हो, शयन-कक्ष में हो अथवा नृत्यादि का आनन्द ले रहा हो। यह भी आवश्यक नहीं माना जाता था कि उसकी प्रार्थना सुन लेने के बाद देवता उसकी सहायता करेगा ही। **मनुष्य और राज्य पर विपत्ति आने के कारण** देव-सेवा में भूल, किसी कारणवश प्रार्थना का न पहुँच सकना और देवता के ओर से लापरवाही, तीनों ही हो सकते थे। इनके अतिरिक्त हित्ती जन ऐसी असंख्य प्रेतात्माओं में भी विश्वास करते थे जो सदैव मनुष्य की भूल और देवताओं की लापरवाही से अनुचित लाभ उठाने के चक्कर में रहती हैं।

देवताओं की इच्छा जानने के उपाय—मनुष्य को उसकी अपनी लापरवाही के कारण जो दण्ड मिलता था, उससे वह देवता को सन्तुष्ट किए बिना छुटकारा नहीं पा सकता था। बहुधा मनुष्य को अपने अपराध का ज्ञान नहीं होता, अतः **देवताओं से यह आशा की जाती थी कि वे उसे अपने क्रोध का कारण** बतायेंगे। यहाँ पर हित्ती धर्म पर बैबिलोनियन प्रभाव सर्वथा स्पष्ट है (पृ० ८६, १२८)। बैबिलोनियनों के समान हित्ती भी देवताओं की इच्छा कई उपायों द्वारा ज्ञात करते थे। उनका विश्वास था कि देवता प्रायः किसी उन्मत्त व्यक्ति के मुख से अथवा **स्वप्न में प्रकट होकर** अपनी इच्छा व्यक्त कर देते हैं। इसके अतिरिक्त **बलि दिये गए पशु के यकृत और पक्षियों की गतिविधि का अध्ययन** करके भी भविष्य को जानने की चेष्टा की जाती थी। बोग़ज़कोई में भेड़ के यकृत की मिट्टी की एक वैसी ही अनुकृति मिली है, जैसी बैबिलोनिया में प्रचुरता से उपलब्ध होती हैं। एक अन्य उपाय, जिसमें बूढ़ी स्त्रियाँ अधिक निष्णात मानी जाती थीं, **एक प्रकार की 'लॉटरी'** था। कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य करने के पूर्व इन उपायों द्वारा शकुन-विचार करना आवश्यक माना जाता था।

धर्म में जादू का स्थान—अन्य प्राचीन जातियों के समान हित्ती जाति भी **जादू में विश्वास** करती थी। उनके साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश जादू विषयक अनुष्ठानों से सम्बद्ध है। उनके क़ानून में **काले जादू** का प्रयोग करना (जिसमें आसुरी शक्तियों से सहायता ली जाती थी) मार-पीट करने जैसे अपराधों के समान माना गया है। **सफेद जादू** को (जिसमें पुण्यात्माओं से सहायता ली जाती थी) रोगों को दूर करने, घर से दुर्भाग्य और भूत-प्रेत आदि को भगाने, भूमि की उर्वरता को बढ़ाने, सेना से महामारी दूर करने, शत्रुओं को शाप देने, मित्रों का भाग्य जगाने तथा किसी व्यक्ति अथवा देवता की सहानुभूति और प्रेम प्राप्त करने के लिए प्रायः प्रयुक्त किया जाता था। उनके जादू विषयक अनुष्ठान **'सादृश्यता के सिद्धान्त'** पर आधारित थे। जिस व्यक्ति पर जादू करना होता था उसके सिर का बाल, वस्त्र या उसकी ऐसी ही कोई अन्य वस्तु, अथवा कोई ऐसा चीज़ जो किसी रूप में उसके समान हो (जैसे उसी नाम से पुकारी जाने वाली कोई वस्तु) ले ली जाती थी और उसके साथ अनुष्ठान और मन्त्रों सहित इच्छित क्रिया की जाती थी। उनका विश्वास था कि इस प्रकार के अनुष्ठान के परिमाणस्वरूप वह व्यक्ति इच्छित कार्य करने के लिए विवश हो जायगा। इस प्रकार के अनुष्ठानों का **धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध** स्वाभाविक था। अगर उपासक यह अनुभव करता था कि देवता उसकी प्रार्थना

सुनने के लिए उपस्थित नहीं है तो वह जादू के द्वारा उसको बुला सकता था। इसी प्रकार जादू के द्वारा घर से प्रेतात्माओं को भगाया जा सकता था।

मृतक-संस्कार—कुछ हित्ती अभिलेखों में राजाओं और रानियों की अन्त्येष्टि-क्रिया का उल्लेख हुआ है। इस क्रिया में तेरह दिन लगते थे। हत्तुसिलिस प्रथम के भाषण-अभिलेख के अन्तिम वाक्यों से मालूम होता है कि प्राचीन-राज्य के शासकों को दफनाया जाता था, परन्तु साम्राज्य के उत्तर-काल तक उनका दाह-संस्कार करने की प्रथा आरम्भ हो गई थी। इस विषय में उनके रिवाज होमरकालीन यूनानियों के रिवाजों से मिलते-जुलते थे। दोनों ही जातियों में मृत-शरीर को चिता में जलाया जाता था, चिता को ठंडा करने के लिए पेय पदार्थों को छिड़का जाता था, अस्थियों को तेल अथवा चर्बी में रखा जाता था और तत्पश्चात् उन्हें सुन्दर वस्त्रों में लपेट कर एक पाषाण कक्ष में रख दिया जाता था। इसके बाद सहभोज का आयोजन किया जाता था। इन समानताओं के साथ-साथ दोनों देशों की प्रथाओं में कुछ भेद भी मिलते हैं, परन्तु वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

परलोकवाद—हित्तियों का परलोक के अस्तित्व में विश्वास था अथवा नहीं, कहना कठिन है। तथापि कुछ मुद्राओं पर ऐसे दृश्य अवश्य मिलते हैं जिनको पारलौकिक जीवन की झाँकी माना जा सकता है। एक मुद्रा पर एक न्यायाधीश को उच्चासन पर विराजमान दिखाया गया है। उसके सामने उसका अनुचर एक व्यक्ति (मृतात्मा ?) को उपस्थित कर रहा है। अनुचर के दो मुख हैं—एक से वह न्यायाधीश को देख रहा है और दूसरे से बन्दी को। बन्दी के पीछे तीन अन्य व्यक्ति दिखाए गये हैं। यह दृश्य ईजियन कलाकृतियों में अंकित मृतात्माओं के न्याय-सम्बन्धी चित्रों से सादृश्य रखता है। एक अन्य मुद्रा पर मृतात्माओं को दयालु परन्तु भयानक जीवों द्वारा प्रदत्त भोजन करते हुए चित्रित किया गया है।

हिन्दू धर्म से सादृश्य—हित्ती धर्म का ईजियन धर्म के अतिरिक्त हिन्दू धर्म के साथ घनिष्ठ परन्तु अप्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रतीत होता है। हित्ती और हिन्दू धर्मों के अनुष्ठान और पूजाविधि समान हैं और हिन्दू देवता शिव हित्ती ऋतुदेव से सादृश्य रखते हैं, ऐसा हम देख चुके हैं (पृ० २०२)। हित्ती धर्म के समान हिन्दू धर्म में भी पशुओं का देवताओं के वाहन अथवा प्रतीक के रूप में प्रयोग हुआ है। मातृशक्ति की पूजा दोनों धर्मों में प्रचलित थी और यजिलीकय के समान भारतीय स्थापत्य में भी मातृशक्ति का वाहन सिंह दिखाया गया है। इन तथ्यों से संकेत मिलता है कि भारत में पश्चिमी एशिया से आनेवाली प्रागै-

सिहासिक जातियों का एक अंश अवश्य ही उस सांस्कृतिक वातावरण में रहा था जिसमें सिंहवाहिनी मातृशक्ति और वृषभ पर आरूढ़ होनेवाले त्रिशूलधारी, पशुपति 'देवराज' की उपासना प्रचलित थी।

हित्तियों का विदेशों से सम्बन्ध

मिस्र की हित्ती सभ्यता को देन

जिस समय हित्ती साम्राज्य का निर्माण हुआ मिस्र में १८ वें वंश के फराओ राज्य कर रहे थे, बैबिलोनिया में कसाइट तथा दक्षिण-पूर्वी यूरोप में मिनोअन सभ्यता के निर्माता। असीरिया की नवोदित शक्ति भी शनैः शनैः अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अपना स्थान बनाती जा रही थी। हित्ती और असीरियन राज्यों के मध्य स्थित मितन्नी राज्य की शक्ति भी पर्याप्त श्रद्धेय थी। **ईरान और भारत में** इस समय आर्यों का प्रसार हो रहा था। इन अन्तिम दो देशों के साथ हित्तियों के प्रत्यक्ष राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक सम्बन्ध थे, यह कहना तो असम्भव है, तथापि इन देशों के समान हित्ती जाति में भी आर्य तत्त्वों के अस्तित्व के कारण भारतीय, ईरानी तथा हित्ती धर्मों में कुछ समानताएँ अवश्य दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ तक शेष पश्चिमी एशिया, ईजियन प्रदेश और मिस्र का सम्बन्ध है, हित्ती राज्य एक प्रकार से इन देशों की सभ्यताओं को जोड़ने वाली शृङ्खला था। मिस्रियों के लिए अनातोलिया अनजान और रहस्यमय था। इच्छा होने और प्रयत्न करने के बावजूद वे १९वीं शताब्दी ई० के पूर्व उस पर अपना आधिपत्य स्थापित नहीं कर सके। परन्तु हित्तियों के लिए **मिस्र दूर होते हुए भी आकर्षक था**। जब उन्होंने मितन्नी राज्य का अन्त करके उत्तरी सीरिया पर विजय प्राप्त की तब उनके साम्राज्य की सीमाएँ मिस्र के एशियाई साम्राज्य की सीमाओं का स्पर्श करने लगी। इसके परिणामस्वरूप मिस्र की सभ्यता का हित्ती सभ्यता पर प्रभाव पड़ा। बोघज़कोई से प्राप्त **पाषाण-स्फिंक्स्** तथा हित्ती कलाकृतियों में **'पक्षयुक्त-सूर्य-चक्र'** का प्रयोग इसका प्रमाण हैं। इतना ही नहीं, यह भी असम्भव नहीं है कि हित्तियों ने अपनी **चित्राक्षर** (हाइरोग्लाइफिक) **लिपि का** विकास मिस्री लिपि से प्रेरणा पाने के बाद किया हो। लेकिन दोनों लिपियों में किसी प्रकार का सम्बन्ध सिद्ध करना असम्भव है।

बैबिलोनिया और असीरिया के साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान—बैबिलोनिया के साथ हित्तियों के राजनीतिक सम्बन्ध इतने घनिष्ठ नहीं थे जितने मिस्र के साथ। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य हम उन्हें बैबिलोन पर आक्र-

मण करके हम्मूरबी के वंश का अन्त करता अवश्य पाते हैं, परन्तु उसके पश्चात् मितन्नी राज्य की स्थापना, असीरिया की प्रबलता और मिस्र की प्रतिद्वन्द्विता के कारण वे इस ओर अधिक ध्यान न दे सके। बैबिलोन के कसाइटों की दृष्टि में भी हित्ती बर्बर (गोय्यिम) से अधिक नहीं थे। इन कारणों से दोनों देशों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध बहुत कम स्थापित हो पाए। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से अनातोलिया पर बैबिलोनिया का सांस्कृतिक प्रभाव तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० की अन्तिम शताब्दियों से ही पड़ने लगा था। इस अप्रत्यक्ष सम्पर्क का माध्यम वे असीरियन व्यापारी थे जिन्होंने २५वीं शताब्दी ई० पू० के बाद से अनातोलिया में उपनिवेशों की स्थापना प्रारम्भ कर दी थी। उन्होंने हित्तियों को बैबिलोनियन **व्यापार-पद्धति, पशु-बलि द्वारा शकुन विचारने की विद्या,** सुमेरियन देवता अनु, इया, एनलिल तथा निनलिल और गिल्गामेश एवं अन्य अनेक बैबिलोनियन देवताओं और वीरों के **आख्यानों** से परिचित कराया। परन्तु हित्ती जाति बैबिलोन के प्रति सर्वाधिक कृतज्ञ सम्भवतः **कीलाक्षर** (क्यूनीफॉर्म) लिपि और लिखने के लिए **मिट्टी की पाटियों** के ज्ञान के लिए थी, जिसका प्रयोग उसने क़ानूनी और व्यापारिक पत्रों के लिखने में किया। बैबिलोनियनों और असीरियनों ने इस सम्पर्क से क्या लाभ उठाया यह कहना कठिन है, लेकिन इतना निश्चित है कि हित्तियों का कुछ प्रभाव बैबिलोनियन और विशेषतः असीरियन कला पर अवश्य पड़ा। हित्ती **'द्वार-मण्डप'** (बिल-हिलानी) का इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। हित्ती धर्म का भी असीरियनों पर कुछ असर पड़ा था। इस अनुमान का आधार हित्ती देवताओं के नामों की असीरियनों के व्यक्तिगत नामों के अंश रूप में विद्यमानता है।

ईजियन प्रदेश से सम्बन्ध—हित्तियों ने पश्चिमी एशियाई सांस्कृतिक धाराओं को ईजियन सभ्यता के निर्माताओं तक पहुँचाया। इस कर्त्तव्य को पूरा करते समय उन्होंने ईजियनों पर खुद अपना प्रभाव डाला और कुछ बातों में उनसे प्रभावित हुए। हित्ती और ईजियन **धर्मों** और **कला-कृतियों** में हमें जो थोड़ी-बहुत सादृश्यता मिलती है उसका कारण यह सम्पर्क ही होना चाहिए। बहुत से विद्वान् तो हित्ती और मिनोअन जातियों की अनन्यता में भी श्रद्धा रखते हैं। लेकिन यह मत अधिक सबल प्रतीत नहीं होता, क्योंकि मिनोअन जाति सम्भवतः न तो 'आरमीनॉयड' थी और न 'आर्य'। फिर भी दोनों जातियों के सदूर भूत में एक ही प्रदेश से प्रादुर्भूत होने की सम्भावना को सर्वथा विस्मृत नहीं किया जा सकता।

एट्रूस्कन जाति का मूल—हित्ती सभ्यता के प्रभाव-विस्तार के प्रसंग में

इटली की एट्रूस्कन जाति का उल्लेख भी किया जाना चाहिए। इस जाति ने इटली में रोमन सभ्यता के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दिया था। एट्रूस्कनों और हित्तियों के धर्मों तथा कलाकृतियों में बहुत साम्य है। कुछ एट्रूस्कन कलाकृतियाँ तो अनातोलिया से आई प्रतीत होती हैं। एट्रूस्कनों के नाम भी हित्ती नामों से मिलते-जुलते हैं। एक एट्रूस्कन नाम के प्रथमांश 'तारकु—' और अनेक हित्ती नामों के प्रथमांश 'तारको—' अथवा 'तार्क—' की समानता सुस्पष्ट है। यूनानी आख्यानों से भी इस विषय पर कुछ प्रकाश मिलता है। इनमें कहा गया है कि एट्रूस्कन जाति का मूल निवास स्थान एशिया माइनर का लीडिया प्रदेश था। यह सर्वथा सम्भव है कि साम्राज्य के पतन के पश्चात् हित्ती जाति का एक भाग पश्चिम की ओर बढ़कर इटली पहुँच गया हो।

हित्तियों की राष्ट्रीय जागरूकता—अपने उत्कर्ष काल में चारों ओर सुसंस्कृत जातियों से घिरे होने के बावजूद हित्ती जाति ने शताब्दियों तक अपना सांस्कृतिक वैशिष्ट्य बनाए रखने में सफलता पाई। उदाहरणार्थ उसने बैबिलोन की कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) लिपि और धार्मिक आख्यानों को अवश्य अपनाया, परन्तु अपनी चित्राक्षर (हाइरोग्लाइफिक) लिपि और राष्ट्रीय देवताओं की उपासना को नहीं छोड़ा। उसकी कला भी, जैसा कि बोग़ज़कोई और यजिलीकय की कृतियों से स्पष्ट है, विशुद्ध राष्ट्रीय कला थी। ये तथ्य उसकी राष्ट्रीय जागरूकता के परिचायक हैं।

ऊपर दिया गया चित्र कार्केमिश से प्राप्त 'नव-हित्ती' कला का अच्छा उदाहरण है। इसमें एक पक्षयुक्त सिंह के मस्तक के ऊपर टोपधारी मानवमुख जोड़ दिया गया है, परन्तु दोनों का कलात्मक समन्वय करने में कलाकार को सफलता नहीं मिली है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार नव-हित्ती कला मेसोपोटामियन और असीरियन कला-परम्पराओं के प्रभाव में आकर अपना वैशिष्ट्य खोती जा रही थी।

परिशिष्ट

हित्ती जाति के आविर्भाव की समस्या

'मूल अनातोलियन' और 'आर्य-हित्ती' जातियाँ—यद्यपि बोघ़ज़कोई से प्राप्त अभिलेखों और अन्य साक्ष्य से हित्ती इतिहास और संस्कृति की मुख्य धाराओं का ज्ञान हो जाता है, तथापि अब भी ऐसी बहुत सी समस्याएँ हैं जो विवाद का विषय बनी हुई हैं। इनमें सर्वप्रमुख समस्या हित्ती जाति की उत्पत्ति विषयक है। ज्ञात साक्ष्य का अध्ययन करने से मालूम होता है कि दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में अनातोलिया में कम से कम दो जातियाँ निवास कर रही थीं। इनमें एक जाति की विशेषताएँ थीं नुकीली नासिका, लघु चिबुक तथा पीछे की ओर डाले गये केश। इस जाति का चित्रण यजिलीकय की दौड़ती हुई आकृतियों, बोघ़ज़कोई की 'द्वार-संरक्षक' की मूर्ति तथा ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित एक लघु स्वर्ण मूर्ति में मिलता है। यह जाति न तो सेमेटिक मालूम होती है और न आर्य। गस्टॉग ने इसमें मंगोलियन तत्त्व सिद्ध करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि इस जाति के पुरुष अपने केशों को पीछे की ओर डालकर जूड़ा बाँधते थे, जो एक मंगोली फैशन है। परन्तु यह तर्क सुपुष्ट नहीं है। यूरोप में पुरुषों में जूड़ा बाँधने का फैशन १९ वीं शताब्दी ई० तक प्रचलित था। हित्तियों के पड़ोसी मिनोअनों में भी इसका प्रचलन था। वास्तव में यह जाति आधुनिक आरमीनियनों से मिलती-जुलती थी। अतः प्रोफेसर लस्चन ने इसे 'आरमीनोॅयड' संज्ञा दी है। दूसरी जाति, जिसका चित्रण बोघ़ज़कोई के स्फिंक्स् और वहाँ से प्राप्त अन्य लघुमूर्तियों में मिलता है, लम्बी परन्तु चपटी मुखाकृति वाली थी। यह तथ्य कि हित्ती जन कम से कम दो जातियों के थे, मिस्री स्मारकों पर प्राप्त उनके चित्रण से भी समर्थित होता है, जिनमें उपर्युक्त दोनों प्रकार के मनुष्यों को हित्ती सैनिकों अथवा बन्दियों के रूप में दिखाया गया है। हित्तियों की भाषाओं का अध्ययन करने से भी यही संकेत मिलता है। जैसा कि हमने देखा है, उनके अभिलेखों में कम से कम आठ भाषाओं का प्रयोग हुआ है। इनमें कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) लिपि में लिखे हुए अभिलेखों की भाषा, जो सम्भवतः हित्ती शासक वर्ग की भाषा थी, इन्डो-यूरोपियन परिवार से सम्बद्ध प्रतीत होती है। पालाई और लूवियन भाषाएँ भी इसी वर्ग में रखी जा सकती हैं। शेष भाषाओं का इस परिवार से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

इन तथ्यों के आधार पर यह मत प्रकट किया गया है कि हित्ती समाज **दो जातियों के मिश्रण** से बना था—**'प्रारम्भिक अनातोलियन'** और **'इन्डो-यूरोपियन'**। इनमें प्रारम्भिक अनातोलियन जाति का तादात्म्य स्मारकों के 'आरमीनॉयड' प्रकार से स्थापित किया जा सकता है। यह अनातोलिया की मूल जाति रही होगी। इसके ऊपर ऐतिहासिक हित्ती जाति ने अधिकार कर लिया जिसका सम्बन्ध **इन्डो-यूरोपियन** परिवार से था। मिस्र के एक अभिलेख में हित्ती राजदूतों को उत्तरी सीरिया का **'मरियन'** कहा गया है। यह आर्य भाषा का शब्द है और 'युवक', 'योद्धा' इत्यादि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हॉर्श्नी ने भी हित्तियों में इन्डो-यूरोपियन तत्त्व के अस्तित्व पर बल दिया है।

निष्कर्ष—लेकिन उपर्युक्त विवेचन से यह अर्थ निकालना अनुचित होगा कि हित्तियों का शासक-वर्ग विशुद्ध इन्डो-यूरोपियन परिवार का अंग था। **एक तो** उनके समाज में मातृसत्तात्मक परिवार-प्रथा के कुछ तत्त्व मिलते हैं। **दूसरे,** उनके नामों से, मिस्रियों द्वारा उल्लिखित 'जवजश' और 'तवशशी' जैसे कुछ नामों को छोड़कर, आर्यत्व की ध्वनि नहीं निकलती। सुप्पिलिल्युमस्, मुत्तलु, हत्तुसिलिस् तथा मुर्सिलिम् जैसे नाम स्पष्टतः आर्येतर हैं। **तीसरे,** कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) अभिलेखों की भाषा, जिसमें आर्य तत्त्व पाये जाते हैं, शासक-वर्ग की ही भाषा थी, यह निश्चित रूप से कहना असम्भव है। जब तक उनकी हाइरोग्लाइफिक लिपि नहीं पढ़ ली जाती, तब तक उनकी भाषा कौन सी थी इसका अन्तिम रूप से निर्णय करना दुष्कर है। **चौथे,** उनके धर्म में भी ऐसे अनेक तत्त्व हैं जो मूलतः आर्येतर प्रतीत होते हैं। इन तथ्यों के आधार पर **हॉल महोदय** ने यह निष्कर्ष निकाला है कि हित्ती शासक जाति आर्य न होकर अनातोलिया की कोई स्थानीय जाति थी। **किंग नामक** सुप्रथित विद्वान् भी इसी मत को अधिक समीचीन समझते हैं। परन्तु इस सुझाव को स्वीकृत करने से हित्ती भाषाओं में आर्य तत्त्व की व्याख्या करना कठिन हो जाता है। **अतः हमें यही सम्भावना अधिक मान्य प्रतीत होती है कि हित्ती शासक-वर्ग में आर्य और आर्येतर, दोनों तत्त्वों का मिश्रण था।**
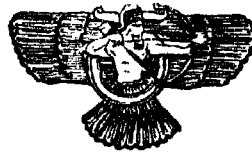
७

असीरियन साम्राज्य और सभ्यता

"For a distance of one month and twenty five days' march I devasted the districts of Elam. I spread salt and thorn bush there (to injure the soil).... The dust of Susa, of Madaktu, of Haltemash and of their other cities, I carried it off to Assyria.... The voice of man, the steps of flocks and herds, the happy shouts of mirth.... I put an end to them in its fields, which I left for the asses, the gazelles, and all manner of wild beasts to people."

—*An inscription of Ashurbanipal*

"There was a city of large extent, the name of which was Larissa; but Medians of old inhabited it."

—*Xenophon on Nineveh*; *Anabasis* (*iii*.4,7)

नवयुग का प्रारम्भ—पश्चिमी एशिया और मिस्र के इतिहास में **तेरहवीं शताब्दी ई० पू० के अन्तिम वर्ष और बारहवीं शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भिक दो दशक** राजनीतिक परिवर्तनों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। इन पच्चीस-तीस वर्षों में **मिस्र के** १९ वें राजवंश का, जिसके शासक घोर साम्राज्यवादी थे, अन्त हुआ (१२०५ ई० पू०) और २० वें वंश की स्थापना के

इस पृष्ठ के ऊपर असीरियन देवराज अशुर के चिह्न का चित्र दिया गया है। इसमें 'पक्षयुक्त-सूर्यचक्र' के मध्य खड़े हुए अशुर को शत्रुओं के विनाश के लिए बाण चलाते हुए दिखाया गया है। 'पक्षयुक्त-सूर्यचक्र' का भाव असीरियनों ने मिस्र से लिया था। (तु० पृ० ३३, चित्र और फु० नो०)।

साथ अराजकता, अव्यवस्था और दौर्बल्य का युग प्रारम्भ हुआ जो लगभग पाँच सौ वर्षों तक चला। लगभग इसी समय **एशिया माइनर में** हित्ती साम्राज्य का अन्त हुआ और उसका स्थान नई-नई शक्तियाँ लेने लगीं। ११८३ ई० पू० में **बैबिलोन** के विदेशी कसाइट वंश का भी शताब्दियों तक शासन करने के पश्चात् पतन हो गया और 'पाशे के वंश' की स्थापना हुई। बैबिलोन में होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों के कारण फैली हुई अव्यवस्था का लाभ उठा कर **असीरिया,** जिस पर बैबिलोन का आधिपत्य था, असुरदान (११८३-११४० ई० पू०) के नेतृत्व में स्वतन्त्र हो गया। इस प्रकार कुछ ही वर्षों में **मिस्र और पश्चिमी एशिया के प्रमुख देशों में नये राजवंशों की स्थापना** हो गई। इनमें आगामी शताब्दियों में असीरिया सर्वाधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। वास्तव में बारहवीं शताब्दी ई० पू० के आरम्भ से लेकर सातवीं शताब्दी ई० पू० के अन्तिम पद में निनेवेह के पतन तक 'निकट-पूर्व' का इतिहास मुख्यतः असीरियन साम्राज्य का इतिहास है।

असीरियन साम्राज्य का इतिहास जानने के साधन

विदेशी ग्रन्थ और स्वदेशी अभिलेख—असीरियन साम्राज्य के इतिहास पर प्रकाश देने वाले प्राचीन साहित्यिक साक्ष्य में **यहूदी बाइबिल** और यूनानी इतिहास-ग्रन्थ प्रमुख हैं। प्रथम शताब्दी ई० पू० के यूनानी इतिहासकार **डियोडोरस** ने असीरियन इतिहास पर विस्तार से लिखा है परन्तु उसके द्वारा दी गई सूचनाएँ अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुई हैं। हेलेनिस्टिक युग में **ऐबीडेनस** नामक विद्वान् ने बेरोसॉस के बैबिलोनियन इतिहास के समान असीरियन इतिहास पर एक ग्रन्थ की रचना की थी, परन्तु वह भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। असीरिया के इतिहास पर सर्वाधिक प्रकाश उसके अपने अभिलेखों से मिलता है जो वहाँ के नगरों के उत्खनन में प्राप्त हुये हैं। इनमें **'समकालीन-इतिहास'** (दि सिन्क्रोनस हिस्टरी) बहुत प्रसिद्ध है। इसकी रचना सम्भवतः असुरबनिपाल (पृ० २२२-२३) ने कराई थी। इसमें असीरिया और बैबिलोनिया के समकालीन इतिहास की रूपरेखा दी गई है। पश्चिमी एशिया में इसके समान विश्वसनीय ऐतिहासिक अभिलेख बहुत कम मिले हैं। इसके अतिरिक्त वे अभिलेख भी, जिनमें असीरियन सम्राट् अपने **वार्षिक अभियानों का विस्तृत विवरण** उत्कीर्ण कराकर राजकीय-संग्रहालय में सुरक्षित रखवा लेते थे, उल्लेखनीय हैं। इनसे प्रत्येक असीरियन सम्राट् के शासन काल की प्रमुख घटनाओं का ज्ञान हो जाता है। असुरबनिपाल ने अपने शासन काल में

राजकीय अभिलेखों के अतिरिक्त **बैबिलोनियन और असीरियन साहित्यिक अभिलेखों** को भी एकत्र संगृहीत कराया। उसके **पुस्तकालय** में ३०,००० 'ग्रन्थ' सुरक्षित थे।

'लिम्मू-सूची' और उसका महत्त्व—मिस्र और बैबिलोन के समान, असीरिया में, सम्वत् के प्रयोग के अभाव में तिथिक्रम की कोई निश्चित प्रणाली नहीं थी। परन्तु हम उसके इतिहास का तिथिक्रम वहाँ की 'लिम्मू-सूची' के द्वारा निश्चित कर सकते हैं। असीरियन राजधानी में प्रत्येक वर्ष के प्रथम दिन एक धार्मिक उत्सव मनाया जाता था जिसमें प्रधान देवता का अभिनय करने का सम्मान पहले वर्ष सम्राट् को और उसके बाद उसके पदाधिकारियों को उनके पद की प्रतिष्ठा के अनुसार मिलता था। इस उत्सव की घोषणा लिम्मू पदाधिकारी के नाम से की जाती थी और उसी **के नाम पर वर्ष का नामकरण** किया जाता था। हमें अदाद-निरारी द्वितीय (९११ ई० पू०-८९० ई० पू०) के शासन काल से लेकर असुरबनिपाल (६६९ ई० पू०-६२६ ई० पू०) के समय तक के प्रत्येक वर्ष के लिम्मुओं की सूची प्राप्त है। यह स्पष्ट है कि अगर एक भी लिम्मू की तिथि निश्चित हो जाए तो शेष लिम्मुओं की तिथियाँ अनायास निश्चित की जा सकती हैं। इससे असीरियन तिथिक्रम को निर्धारित करने में बहुत सहायता मिली है। असीरियन सम्राट् किसी घटना का विवरण देते समय उस घटना के वर्ष के अधिकारी लिम्मू का नाम भी दे देते थे। इससे लिम्मू-सूची से अभिलेख में उल्लिखित लिम्मू की तिथि जान कर उस घटना का समय निर्धारित किया जा सकता है। हाल ही में अशुर नगर के उत्खनन में एक प्राचीनतर लिम्मू-सूची मिली है जिससे **असीरिया का १३०० ई० पू० तक का तिथिक्रम** स्पष्ट हो गया है।

राजनीतिक इतिहास

प्रारम्भिक असीरियन साम्राज्यों का उत्थान और पतन

प्रथम असीरियन साम्राज्य : तिगलथपिलेसर प्रथम का युग—तेरहवीं शताब्दी ई० पू० में शलमनेसर प्रथम और तुकुल्ती निनुर्त (पृ० १६८-६९) के शासन काल में असीरिया की **साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा** स्पष्ट हो गई थी, इसलिए उसके उत्कर्ष को पश्चिमी एशिया के सभी देश शंका की दृष्टि से देखते थे। ११८३ ई० पूर्व में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद धीरे-धीरे शक्ति संचित करके बारहवीं शताब्दी ई० पू० का अन्त होने के पहले ही **तिगलथ-**

पिलेसर प्रथम (लगभग १११०–११०० ई० पू०) के नेतृत्व में एक विशाल साम्राज्य स्थापित करके असीरियनों ने इस शंका को सत्य कर दिखाया। तिगलथपिलेसर प्रथम ने पूर्व में मीडों को दबाया, एशिया माइनर में हित्तियों की बची-खुची शक्ति का अन्त किया, पश्चिम में भूमध्यसागर तक लूटपाट की और दक्षिण में बैबिलोन पर अधिकार स्थापित करके 'सुमेर और अक्काद का स्वामी' विरुद धारण किया। उसने अपनी **राजधानी** कल्ली से हटाकर असुर में स्थापित की और ईश्तर तथा बेल के मन्दिर बनवाये। व्यक्तिगत जीवन में वह **कुशल शिकारी था**। अगर उसके अभिलेखों का विश्वास किया जाये तो उसने १२० शेर पैदल और ८०० रथ में बैठकर मारे थे।

दौर्बल्य का युग—परन्तु तिगलथपिलेसर का साम्राज्य स्थायी सिद्ध नहीं हुआ। उसके पश्चात् लगभग दो शताब्दी के लिए असीरियन राज्य पुनः **अव्यवस्थित और दुर्बल** हो गया तथा उसके विरोधियों की शक्ति बढ़ गई। इसका एक कारण **ऐरेमियनों का आक्रमण** था। यह अर्ध-सभ्य सेमेटिक जाति अभी तक रेगिस्तान के यायावर जीवन को नहीं भूली थी। तिगलथ-पिलेसर के **अयोग्य उत्तराधिकारी** ऐरेमियनों के प्रवाह को रोकने में समर्थ नहीं थे। इसलिए बैबिलोनिया और असीरिया का मध्यवर्ती प्रदेश शीघ्र ही उनके हाथ से निकल गया। यद्यपि ऐरेमियन नाम मात्र के लिए असीरियन प्रजा बने रहे तथापि उनका उत्कर्ष असीरियन दुर्बलता का एक सबल कारण और प्रमाण बन गया। साम्राज्य के अस्थायी सिद्ध होने का दूसरा कारण तिगलथपिलेसर की **दोषपूर्ण नीति** थी। वह विजित राज्यों में केवल लूटपाट करके सन्तुष्ट रहा, उन्हें साम्राज्य के प्रान्तों के रूप में संगठित करने की ओर उसने बिल्कुल ध्यान नहीं दिया।

दूसरा असीरियन साम्राज्य : असुरनसिरपाल द्वितीय का युग—असीरियन साम्राज्य और गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करनेवाला व्यक्ति **असुर-नसिरपाल द्वितीय** (८८४–८५९ ई० पू०) था। असीरियन साम्राज्य का इतिहास कई दृष्टि से उसके शासन काल से प्रारम्भ होता है। प्रथम, उसने असीरियन **सेनाओं के संगठन में सुधार** करके उनको वह व्यवस्था और दुर्दम्यता प्रदान की जिसका चरमोत्कर्ष बाद में सारगोनी सेनाओं (७२२–६२६ ई० पू०) में हुआ। दूसरे, असीरियन जाति का नाम जिन अत्याचारों के साथ संयुक्त है, वे सब असुरनसिरपाल के समय से प्रारम्भ होते हैं। सम्भवतः **वह विश्व की सर्वाधिक क्रूर जाति का क्रूरतम शासक** था। प्रत्येक नगर को,

चित्र ५९ : असुरनसिरपाल द्वितीय के राजप्रासाद से प्राप्त 'पक्षयुक्त-नरवृषभ' की एक मूर्ति

जो उसका विरोध करने का साहस करता था, जीतने के बाद जला देना, उसके वयस्क नागरिकों के नाक, कान और हाथ-पैर काटकर उनका जीवितावस्था में ही एक ढेर लगवा देना जिससे वे सब सड़कर मर जाएँ, बच्चों को जिन्दा आग में जला देना और राजा को असीरिया लाकर भाँति-भाँति की यातनाएँ देने के बाद आग में भुनवा डालना उसके द्वारा दिया जाने वाला साधारण दण्ड था। एक हाथ में मशाल और दूसरे में तलवार लेकर उसने तूफान की भाँति विजय-यात्रा की। जगरोस पर्वतमाला से दक्षिणी आरमीनिया और साइलीशिया होते हुए उसने फरात नदी पार की और कार्शेमिश नगर को अपने अधीन करता हुआ वह भूमध्यसागर के तट पर स्थित फिनीशियन नगरों तक जा पहुँचा। जहाँ भी वह निकल जाता था केवल बरबादी, सामूहिक हत्या और अग्निकाण्ड के चिह्न शेष बचते थे। परन्तु खुद असीरियनों के लिए यह अर्ध-बर्बर शासक **महान् निर्माता और कला-प्रेमी** सिद्ध हुआ। उसके समय से असीरिया की साम्राज्ययुगीन कला का इतिहास प्रारम्भ होता है। उसने अपनी **राजधानी** अशुर से हटाकर पुनः कल्ह्री में स्थापित की जहाँ से उसके समय की बहुत सी कलाकृतियाँ मिली हैं (चित्र ५९)। इनमें कुछ असीरियन कला के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान रखती हैं।

शलमनेसर तृतीय और उसके उत्तराधिकारी—असुरनसिरपाल का पुत्र और उत्तराधिकारी **शलमनेसर तृतीय** (८५९–८२४ ई० पू०) उसी के समान **क्रूर परन्तु योग्य** था। उसने सीरिया, इज़राइल और फिनीशिया राज्यों के संघ को पराजित किया और बैबिलोन को अधीन होने के लिए विवश किया।

जिस समय उसकी मृत्यु हुई, असीरिया 'निकट-पूर्व' की सबसे बड़ी शक्ति था। खुद असीरिया बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित दिखाई देता था और असीरियनों की क्रूरता ने विजित राज्यों में विद्रोह करने का साहस खत्म कर दिया दिया था। परन्तु इसके बावजूद असीरिया का **यह दूसरा साम्राज्य स्थायी सिद्ध नहीं हुआ। इसके मुख्य कारण** श्ल्मनेसर के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता, प्रत्येक सम्राट् की मृत्यु के पश्चात् होने वाले गृह-युद्ध, अशुर के राजधानी न रहने पर पुजारी वर्ग का असन्तोष, उत्तर में उरर्तु राज्य का उत्कर्ष और विजित राज्यों का प्रान्तों के रूप में संगठित न किया जाना थे। ८२४ ई० पू० से ७४५ ई० पू० तक का समय असीरियन इतिहास में पुनः अव्यवस्था और दौर्बल्य का युग है।

तीसरा असीरियन साम्राज्य : तिगलपथपिलेसर तृतीय—असीरिया के तीसरे और अन्तिम परन्तु सर्वाधिक स्थायी साम्राज्य का निर्माता **तिगलथ-**

चित्र ६० : लूट में मिले हुए माल की गणना करते हुए क्लर्क; तिगलथ-पिलेसर के शासनकाल के एक रिलीफ-चित्र का एक अंश

पिलेसर तृतीय था। अपने शासन काल के अट्ठारह वर्षों में (७४५–७२७ ई० पू०) उसने दक्षिण में फारस की खाड़ी, उत्तर में आरमीनिया और पश्चिम में भूमध्यसागर तक विस्तृत **साम्राज्य** स्थापित किया। इतने विशाल साम्राज्य पर अभी तक किसी असीरियन ने शासन नहीं किया था। साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उसने **स्थायी सेना** का निर्माण किया और

कम से कम असीरिया के निकटवर्ती राज्यों को साम्राज्य के **प्रान्तों के रूप में** परिणत किया। विद्रोही राज्यों को दबाए रखने के लिये उसने उनकी **जनता को बलपूर्वक दूरस्थ प्रदेशों में बसाने की नीति** अपनाई, जिससे उनकी शक्ति अपने को नये वातावरण के अनुकूल बनाने में ही नष्ट हो जाये।

शलमनेसर पंचम—तिगलथपिलेसर तृतीय के उत्तराधिकारी शलमनेसर पंचम (७२७–७२२ ई० पू०) के समय इजराइल और टायर नगर ने मिस्र के उकसाने पर विद्रोह कर किया परन्तु उसने उन्हें तत्काल दबाने में सफलता प्राप्त की।

सारगोनी वंश

सारगोनी वंश की स्थापना : सारगोन द्वितीय—शलमनेसर पंचम के उपरान्त उसके साम्राज्य पर उसके योग्य सेनापति शर्रुकिन अथवा सारगोन (७२२-७०५ ई० पू०) ने अधिकार कर लिया। सुप्रसिद्ध अक्कादी विजेता सारगोन प्रथम से अन्तर दिखाने के लिए उसके अपने अभिलेखों में उसे **सारगोन द्वितीय** कहा गया है। उसके राज्यारोहण के समय कैल्डियन सरदार मर्दुक-बल्दान ने एलमी सहायता से बैबिलोन पर अधिकार करके स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप पश्चिमी प्रदेशों में भी विद्रोह होने लगे। सारगोन ने पहले पश्चिम की ओर ध्यान दिया। उसने **इज़राइल** का पूर्णरूपेण दमन कर दिया और वहाँ के अधिकांश नागरिकों को दूरस्थ मीडिया भेज दिया। इसी समय उरतु के शासक रूसस और 'मुश्की के मीता' (जो सम्भवतः अनातोलिया की फ्रीगियन जाति का शासक था) के भड़काने पर उत्तर-पूर्व में मीडिया के मन्नाई प्रदेश और उत्तर-पश्चिम के कार्शेमिश इत्यादि नगरों में विद्रोह के लक्षण दिखाई देने लगे। सारगोन ने मन्नाई के शासक दायक्कु को पराजित किया, कार्शेमिश को जीता और सम्भवतः **रूसस** को भी हराने में सफलता प्राप्त की। रूसस ने इस असफलता के कारण आत्महत्या कर ली। **'मुश्की के मीता'** ने भी सारगोन से मैत्री करने में भलाई समझी। इस प्रकार उत्तर-पश्चिम, उत्तर और उत्तर-पूर्व में स्थिति सुदृढ़ करने के बाद सारगोन ने **बैबिलोन** की ओर ध्यान दिया। उसने मर्दुक-बल्दान को निर्णायक रूप से पराजित किया और फारस की खाड़ी तक अपना अधिकार स्थापित किया। इस प्रकार उसका **साम्राज्य** साइलीशिया से फारस की खाड़ी तक और मन्नाई से मिस्र की सीमा तक विस्तृत हो गया जिसमें, केवल अर्द्ध-स्वतन्त्र फिनीशियन नगरों और जूडा राज्य को छोड़कर, सर्वत्र सारगोन के प्रतिनिधि शासन कर रहे थे।

सारगोन विजेता होने के साथ महान् **निर्माता** भी था। अशुर, निनेवेह कल्खी के गौरव से पूर्ण सन्तोष न पाने पर उसने निनेवेह के पास **सारगोनपुर**, दुरशर्रुकिन, नामक उपनगर बसाया जिसके कलात्मक भवनों और मन्दिरों की बहुत प्रशंसा की जाती है।

सेनाक्रेरिब—सारगोन का पुत्र और उत्तराधिकारी सिन-अख्री-इरिब अथवा सेनाक्रेरिब (७०५-६८१ ई० पू०) अपने पिता के समान **महत्त्वाकांक्षी और निर्माता था**। उसने अपनी राजधानी **निनेवेह का पुनर्निर्माण** कराया और उसके नागरिकों को बहुत-सी सुविधाएँ प्रदान कीं। परन्तु उसमें सारगोन के समान **दूरदर्शिता न थी**। बार-बार विद्रोह करने पर उसने ६८९ ई० पू० में **बैबिलोन को पूर्णतः विध्वस्त कर दिया**। इतना ही नहीं उसने यह भी घोषणा कर दी कि मर्दुक अशुर का सेवक है। इससे असीरियनों के प्रति बैबिलोनियनों का रहा-सहा सद्भाव भी जाता रहा। इस विद्रोह में बैबिलोन को **एलमियों** से सहायता मिली थी। इस दुस्साहस के लिए एलमियों को दण्डित करने के लिए सेनाक्रेरिब ने उन पर आक्रमण किया और एलम के तटवर्ती प्रदेश में खूब लूट-पाट की। इससे एलम असीरिया का कट्टर शत्रु हो गया। सेनाक्रेरिब का सबसे मूर्खतापूर्ण कार्य **मिस्र पर आक्रमण** करना था। यद्यपि इस विषय पर उसके अपने अभिलेख मौन हैं तथापि हेरोडोटस और यहूदी अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि उसने मिस्र पर आक्रमण करने के लिए एक विशाल सैन्य लेकर प्रस्थान किया था; परन्तु मिस्र की सीमा के पास सेना में महामारी फैल जाने के कारण उसे लौटना पड़ा।

एसरहद्दोन—६८१ ई० पू० में सेनाक्रेरिब को उसके कुछ पुत्रों ने मार डाला। उसके सबसे छोटे पुत्र असुर-अख़-इदिन अथवा एसरहद्दोन (६८१-६६९ ई० पू०) ने पितृहन्ता भाइयों का वध कर के साम्राज्य को अधिकृत किया। वह अपने पिता से अधिक **नीतिकुशल** था। सर्वप्रथम उसने **बैबिलोन नगर का पुनर्निर्माण** करवा कर बैबिलोनियन जनता की सहानुभूति प्राप्त की। इसका परिणाम यह हुआ कि जब कैल्डियन नेता मर्दुक-बल्दान के पुत्र ने विद्रोह किया और एलमी शासक का आक्रमण हुआ तो स्थानीय जनता ने उनका साथ नहीं दिया। इससे एसरहद्दोन को उत्तर और उत्तर-पश्चिम में **आक्रमणकारी क्रिम्मरियन, सीथियन और मीडियन जातियों को दबाने** का समय मिल गया। जहाँ तक मिस्र का सम्बन्ध था, उसके प्रति उसने अपने पिता की नीति ही अपनाई। पिछले असीरियन सम्राटों के समय मिस्र सीरिया और फिलिस्तीन को असीरिया के विरुद्ध बराबर उकसाता रहा था। ६७७ ई० पू० में एसरहद्दोन

ने इस काँटे को सदैव के लिये निकालने के लिये **प्रस्थान** किया। मार्ग में **सीडोन नगर का विध्वंस** करता हुआ वह मिस्र **पहुँचा**। ६७१ ई० पू० में सम्पूर्ण **मिस्र पर उसका अधिकार** स्थापित हो गया। परन्तु उसने न तो 'फराओ' उपाधि धारण की और न मिस्रवासियों की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयास किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके लौटते ही **वहाँ विद्रोह हो गया**। एसरहद्दोन उसे दबाने के लिए लौटा परन्तु मार्ग में बीमार होकर मर गया।

सारगोनी वंश का चरमोत्कर्ष : असुरबनिपाल और उसका युग—एसरहद्दोन ने मरने के पहले अपने बड़े पुत्र असुरबनिपाल को सम्राट् और छोटे पुत्र शमश-शुम-उकिन को बैबिलोन का गवर्नर घोषित कर दिया था। **असुर-बनिपाल** (६६९-६२६ ई० पू०) असीरिया का अन्तिम महान् सम्राट् सिद्ध हुआ। उसने सर्वप्रथम **मिस्र के विद्रोह को दबाया** और वहाँ के शीबिज नगर को पूर्णतः विध्वस्त कर दिया। इसी प्रकार **उसने फिनीशिया को भी दबा दिया**। लीडिया ने नये सम्राट् को सन्तुष्ट करने के लिए दूत भेजे। इसके बाद असुर-बनिपाल ने **एलम** की ओर ध्यान दिया जो बराबर बैबिलोन को विद्रोह करने के लिये उकसाता रहता था। वहाँ का शासक तूमान पूर्णतः पराजित हुआ, एलमी बन्दियों को पीटते-पीटते मार डाला गया, उनके सेनापति को जीवित ही आग में जला दिया गया और तूमान के भाई के शरीर को टुकड़े-टुकड़े कर के देश भर में स्मृति-चिह्न के रूप में बाँट दिया गया। खुद तूमान का सिर काटकर निनेवेह में राजकीय भोज के अवसर पर पेड़ पर लटकाया गया और इसके बाद नगर में एक स्तम्भ पर टाँग दिया गया।

६५२ ई० पू० में **बैबिलोन में शमश-शुम-उकिन ने विद्रोह किया**। इसमें उसे फिलिस्तीन, फिनीशिया, एलम और भूतपूर्व कैल्डियन सरदार मर्दुक-बल्दान के पौत्र से सहायता मिली। परन्तु असुरबनिपाल ने उसे दबाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की। एलम द्वारा इस विद्रोह में शमश-शुम-उकिन का साथ दिए जाने से असुरबनिपाल का क्रोध पुनः भड़क उठा। इसलिए इस बार उसने एलम पर पूरी शक्ति के साथ आक्रमण किया। सूसा नगर को पूर्णतः नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया और एलम की अधिकांश जनता को दूरस्थ देशों में भेज दिया गया। एक **स्वतन्त्र देश के रूप में एलम का अस्तित्व सदैव के लिए विलुप्त हो गया**। ६३५ ई० पू० में असुरबनिपाल ने निनेवेह में विजयोत्सव मनाया जिसमें उसके रथ को खींचने का काम बन्दी राजाओं ने किया।

सेनाचेरिब के समान असुरबनिपाल भी **कला के विकास में** व्यक्तिगत रूप

से रुचि लेता था। उसने बहुत से मन्दिर बनवाए, पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और निनेवेह के राजप्रासाद को पुनर्निर्मित कराया। उसके समय के रिलीफ-चित्र असीरियन स्थापत्य का सर्वोत्तम उदाहरण हैं। निर्माण-कार्य के साथ वह **बौद्धिक और साहित्यिक** गतिविधि में भी रुचि रखता था। वह स्वयं 'तुप-शर्रुति' (मिट्टी की पाटियों पर लिखने की कला) में निपुण था। इसमें केवल कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) लिपि का ज्ञान ही नहीं साहित्यिक रचना-कार्य भी आ जाता है। उसकी साहित्यिक अभिरुचि का सर्वोत्तम प्रमाण उसके द्वारा स्थापित **निनेवेह का पुस्तकालय** है। इसमें संगृहीत ३०,००० साहित्यिक और ऐतिहासिक अभिलेखों में उसने बहुत से खुद पढ़े थे और कुछ सम्भवतः खुद लिखे भी थे। इन तथ्यों के प्रकाश में यह कहना असंगत न होगा कि जिस प्रकार हम्मूरबी बैबिलोनियन संस्कृति का प्रतिनिधि था उसी प्रकार **असुर-बनिपाल असीरियन संस्कृति का।**

शासन प्रबन्ध

असीरियन सभ्यता का महत्त्व—असीरियन सभ्यता का बैबिलोनियन और सुमेरियन सभ्यताओं के साथ वही सम्बन्ध था जो रोमन सभ्यता का यूनानी और ईजियन सभ्यताओं के साथ बताया जाता है। जिस प्रकार रोम ने यूनान के ह्रास काल में यूनानी, और यूनानी सभ्यता के माध्यम से ईजियन सभ्यता के बहुत से तत्त्वों को जीवित रखा और दूरस्थ देशों में फैलाया उसी प्रकार **असीरिया ने बैबिलोनियन सभ्यता के माध्यम से सुमेरियन सभ्यता के बहुत से तत्त्वों को जीवित रखा** और पश्चिमी एशिया के दूरस्थ देशों में फैलाया। इस दृष्टि से देखने पर बैबिलोनियनों को जो गौरव प्राप्त है वह बहुत कुछ असीरियनों को मिलना चाहिये। अगर असीरिया न होता तो बैबिलोन का बहुत सा ज्ञान-विज्ञान पश्चिमी एशियाई जातियों की समान सम्पत्ति बने बिना विलुप्त हो जाता और आधुनिक इतिहासकार पश्चिमी एशिया के इतिहास का इतने विस्तार से पुनर्निर्माण न कर पाते।

केन्द्रीय शासन-व्यवस्था

सम्राट् की शक्ति सर्वोच्च होने के कारण—सारगोनी वंश के नरेशों ने जिस विशाल साम्राज्य को शासित किया उसमें असीरिया के अतिरिक्त आर-मीनिया, मीडिया, फिलिस्तीन, सीरिया, फिनीशिया, सुमेर, एलम तथा मिस्र देश सम्मिलित थे। **इतना विशाल साम्राज्य** न तो पहले कभी स्थापित हुआ

था और न भविष्य में हखामशी वंश के उत्कर्ष तक स्थापित हो पाया। इसे उस **'विश्व-साम्राज्य'** (यूनीवर्सल एम्पायर) की कल्पना के प्रत्यक्षीकरण का प्रथम प्रयास कहा जा सकता है जिसे भविष्य में कुरुप महान्, अलेक्जेण्डर और ऑगस्टस ने मूर्त रूप दिये। इतने बड़े साम्राज्य की स्थापना और सततरूपेण होने वाले विद्रोहों के बावजूद उसे अपने अधिकार में बनाए रखने में असीरियनों को सफलता मिली, इसका कारण उनकी राजनीतिक-व्यवस्था और सैनिक-शक्ति थे। असीरियन जाति में **एकता की भावना** सुमेरियनों और बैबिलोनियनों से अधिक बलवती थी। वे यह विश्वास करते थे कि उनके देश में केवल एक ही राजा हो सकता है, इसलिए अपने **सम्राट् को वे एकता का प्रतीक** मानते थे। इस विश्वास को **'लिम्मू' नामक पद से सम्बद्ध प्रथा से** बड़ा बल मिला (पृ० २१६)। इस प्रथा से गवर्नरों और स्थानीय पदाधिकारियों की सम्मान पाने की लालसा बहुत कुछ पूरी हो जाती थी, इसलिए वे राजा का विरोध करने का प्रयास अपेक्षया कम करते थे। असीरियन सम्राटों की शक्ति बढ़ी-चढ़ी होने का एक और कारण तथा प्रमाण मुख्य **पदों का वंशानुगत न होना** है। बैबिलोनिया में प्रत्येक स्थानीय गवर्नर अपने प्रदेश में धार्मिक अनुष्ठानों को खुद पूरा करता था और अपने पद का वंशानुगत रूप से उपभोग करता था। परन्तु असीरिया में पिता के बाद उसका पद पुत्र को मिलने की घटनाएँ बहुत विरल हैं। उदाहरणार्थ ८५६ ई० पू० से ७५२ ई० पू० तक असीरिया में पाँच तुर्तनु (प्रधान सेनापति) हुए परन्तु उनमें किसी ने इस पद को वंशानुगत रूप से प्राप्त नहीं किया था।

पुजारियों और सामन्तों का प्रशासन पर प्रभाव—असीरिया में राजा की शक्ति पर कम से कम सिद्धान्ततः कोई प्रतिबन्ध नहीं था। परन्तु व्यवहार में उस पर **पुजारी वर्ग का प्रभाव** रहता था। असीरियन राज्य असीरिया के सर्वोच्च देवता अशुर की सम्पत्ति माना जाता था। उसी के नाम पर सब क़ानून बनते थे, कर संगृहीत होते थे और युद्ध लड़े जाते थे। खुद **सम्राट् को सूर्य देवता शमश का अवतार** माना जाता था। उसे अपनी नीति कार्यान्वित करते समय, किसी व्यक्ति को उच्च पद पर नियुक्त करते समय और ऐसे ही अन्य महत्त्वपूर्ण अवसरों पर देवता से मार्ग-दर्शन के लिए प्रार्थना करनी होती थी। इस प्रथा के कारण पुजारियों को राजनीति को प्रभावित करने का अवसर मिल जाता था। सारगोन, एसरहद्दोन और असुरबनिपाल जैसे सम्राट् भी उनकी इच्छा के विरुद्ध मत प्रकट करनेवाली देववाणी (ओरेकिल) को ठुकराने का साहस नहीं करते थे। क्योंकि उच्चतम पुजारी-पदों पर केवल सामन्त वर्ग के

सदस्य ही नियुक्त किये जा सकते थे, इसलिए इस प्रथा के कारण राजनीति पर **सामन्त वर्ग का भी काफी प्रभाव हो** गया। यह प्रथा असीरियन राजतन्त्र को स्थायित्व प्रदान करनेवाली सिद्ध हुई, क्योंकि इससे राजा की निरंकुशता को बनाए रखते हुए उसकी स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबन्ध लगाया जा सका।

प्रान्तीय शासन

प्रान्तीय-व्यवस्था का क्रमिक विकास—तुकुल्ती-निनुर्त द्वितीय, असुर-नसिरपाल द्वितीय और शल्मनेसर तृतीय के समय **प्रान्तीय शासन-व्यवस्था सरल थी**, परन्तु ज्यों-ज्यों साम्राज्य का विस्तार होता गया और प्रान्तों की संख्या बढ़ती गई, उनकी शासन-व्यवस्था भी **जटिलतर होती गई**। ये **प्रान्त तीन प्रकार** के थे। **प्रथम**, वे प्रान्त जो प्रति वर्ष केन्द्रीय सरकार को एक निश्चित मात्रा में कर देते थे। उनकी स्थिति वैसी ही थी जैसी साधारणतः कर देनेवाले राज्यों की होती है। **दूसरे**, वे राज्य जिन्हें कर भी देना होता था और बेगार के लिए मजदूर भी। इसके अतिरिक्त उन्हें सम्राट् के एक प्रतिनिधि—जबिल-कुदुरी—को रखना होता था। **तीसरे वर्ग में** ऐसे नगर थे जो पूर्णतः सम्राट् के अधीन कर दिये गये थे। उनका गवर्नर 'शक्नु' या 'उरसु' कहलाता था। पहले और दूसरे वर्ग के प्रान्तों को आन्तरिक मामलों में पूरी स्वतन्त्रता रहती थी, परन्तु तीसरे वर्ग के प्रान्तों में शक्नु का शब्द ही क़ानून होता था। सारगोनी वंश की स्थापना के पूर्व इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन हुए। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था तिगलथपिलेसर तृतीय द्वारा बड़े-बड़े प्रान्तों का छोटे-छोटे जिलों में विभाजन। ये छोटे जिले **'पख्ती'** कहलाए और उनके अफ़सर 'बेल-पख्ती' या 'पख्ती का स्वामी'। उनकी सहायता के लिए अन्य बहुत से पदाधिकारी होते थे। तिगलथपिलेसर ने **विजित प्रान्तों की जनता को दूरस्थ देशों में बसाने की नीति** का अवलम्बन भी किया। इससे उस जाति की शक्ति अपने को नये देश के अनुकूल बनाने में व्यय हो जाती थी और उसे विद्रोह करने का अवसर नहीं मिल पाता था। इस नीति को **सारगोनी वंश के शासकों** ने भी अपनाया। असीरियन प्रान्तीय-व्यवस्था के विषय में अन्य तथ्य ज्ञात नहीं हैं। फिर भी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह बैबिलोनियन, मिस्री और हित्ती साम्राज्यों की प्रान्तीय-व्यवस्था से अधिक समुन्नत थी।

युद्ध कला

असीरियनों की सफलता का कारण—असीरियन साम्राज्य की **शक्ति और सफलता का दूसरा प्रमुख स्रोत** सेनाओं का समुचित संगठन था। चाहे
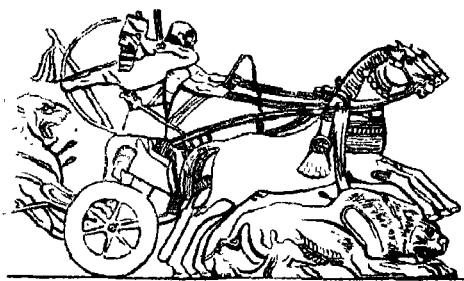
चित्र ६१ : असुरबनिपाल के राजप्रासाद से प्राप्त शिकार का एक रिलीफ-चित्र

हार हो या जीत, परवर्ती असीरियन सम्राटों ने सेनाओं के संगठन में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं किया। इस-लिए अनेक बार असफलता का मुख देखने और यदा-कदा गृहयुद्धों और विद्रोहों में फँसे रहने के बावजूद वे हर बार साम्राज्य का पुनर्निर्माण करने में समर्थ हो सके। इस व्यवस्था को स्थापित करने का श्रेय किसी एक सम्राट् को नहीं, वरन् कितने ही सम्राटों को दिया जाना चाहिए। असीरियनों के पास न तो अलेक्जेण्डर के समान योग्य सेनापति थे और न इस्लाम जैसा धर्म ही था जो उन्हें समस्त विश्व पर विजय प्राप्त करने के लिए सर्वस्व बलिदान करने के लिए प्रेरित करता। उनकी सैनिक सफलता का वास्तविक कारण, रोमन सम्राटों की सफलता के समान, साम्राज्य का सैनिक-संगठन था।

असीरियन सेनाएँ—सारगोनी युग में असीरिया में **दो प्रकार के सैनिक** थे। पहले वर्ग में मामूली सी सैनिक शिक्षा प्राप्त किये हुए व्यक्ति थे और दूसरे में स्थायी **राष्ट्रीय-सेना** के सदस्य। सिद्धान्ततः प्रत्येक नागरिक को कुछ समय के लिए सेना में काम करना पड़ता था, परन्तु व्यवहार में जो व्यक्ति अपने स्थान पर किसी दास को भेज सकता था अथवा धन दे सकता था उसे अनिवार्य सैनिक-सेवा से छुटकारा मिल जाता था। प्रत्येक **गवर्नर के पास व्यक्तिगत सेना** रहती थी। उसी पर उस प्रान्त की सुरक्षा का उत्तरदायित्व रहता था। अगर गवर्नर को अतिरिक्त सैनिकों की आवश्यकता होती थी तो सम्राट् अपनी सेना उसकी सहायता के लिए भेजते थे। सारगोनी युग में बड़े-बड़े अभियानों में कभी-कभी समस्त राष्ट्रीय सेना से काम लेने की आवश्यकता पड़ जाती थी। जैसा कि कहा जा चुका है, सिद्धान्ततः **प्रत्येक वयस्क पुरुष को अनिवार्य रूप से सेना में काम** करने के लिए बुलाया जा सकता था, परन्तु व्यवहार में केवल उन व्यक्तियों को बुलाया जाता था जिन्हें सामरिक अभियानों का थोड़ा बहुत अनुभव होता था; क्योंकि शिक्षित सैनिकों के बीच में अशिक्षित सैनिकों की उप-स्थिति से अव्यवस्था उत्पन्न होनेका भय रहता था। राष्ट्रीय सेना में अनिवार्य रूप से काम करने के लिए **सैनिक भरती करने का काम** स्थानीय दस्तकारों की

श्रेणियाँ और बेगार लेने वाले अफसरों का काम होता था। ऐसी व्यवस्था से सैनिकों को लाभ भी रहता था और हानि भी। सैनिक सेवा करते समय सैनिकों को, जो अधिकांशतः कृषक और दस्तकार होते थे, अपने व्यक्तिगत काम की ओर से उदासीन रहना होता था। परन्तु इसके बदले में केन्द्रीय सरकार से वस्त्र, भोजन और समुचित वेतन मिलता था। इसके अतिरिक्त अभियान के अन्त में लूट का अधिकांश माल उनमें बराबर बाँट दिया जाता था। प्रत्येक सैनिक को एक सफल अभियान में उससे अधिक धन मिल जाता था जितना वह कई वर्षों में कमा पाता था।

सेनाओं का संगठन—असीरियन सेनाएँ कई भागों में विभाजित रहती थीं, जैसे रथ सेना, हल्के हथियारों से युक्त अश्वारोही सेना तथा हल्के और भारी शस्त्रों से युक्त पैदल सेना। खाई खोदनेवाले श्रमिक पृथक् रूप से संगठित किए जाते थे। रथ सेना का महत्त्व कम हो गया था परन्तु धनुर्धारी पदाति सेना और अश्वारोही सेना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गई थीं। अनुशासन बनाए रखने के लिए सेना के विविध अंगों को 'किस्री' नामक भागों में और किस्री को पचास-पचास और दस-दस सैनिकों की छोटी-छोटी टुकड़ियों में बाँट दिया जाता था। सेना की क्षमता बनाए रखने के लिए एक गुप्तचर विभाग भी स्थापित किया गया था, जिसके बहुत से पत्रादि उत्खन में प्राप्त हुए हैं। असीरियन गवर्नरों और अन्य अधिकारियों को इस विभाग के पास अपने कार्य का विवरण भेजना पड़ता था।

चित्र ६२ : दो असीरियन योद्धा

असीरियनों का रणकौशल—असीरियन सरकार **युद्ध-विद्या के वैज्ञानिक अध्ययन** की ओर समुचित ध्यान देती थी। उनके युद्ध **अभियान का केन्द्र एक कैम्प** होता था, जिसकी योजना परवर्ती रोमन कैम्पों के सदृश होती थी। उन्होंने **प्रतिरक्षात्मक युद्धों** की तरफ बहुत ध्यान दिया और प्रान्तों में तथा खुद असीरिया में सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की। परन्तु उनको इससे अधिक सफलता **आक्रमणात्मक युद्धों** में मिली। वे अलेक्जेण्डर और नैपोलियन के समान शत्रु पर यकायक और तीव्रता के साथ आक्रमण करने में विश्वास करते थे। **घेरा डालने की कला** में वे विशेष रूप से चतुर थे। वे पहियों पर चलने वाले भली-भाँति सुरक्षित चबूतरे बनाते थे जिनमें बैठे हुए सैनिक शत्रु पर निर्भय होकर आक्रमण कर सकते थे। उनके **अस्त्र-शस्त्रों** में धनुष-बाण, भाले, परशु, और गदाएँ इत्यादि थे (चि० ६२)। सैनिकों की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। उनके घुड़सवार ही नहीं वरन् धनुष और बर्छीधारी सैनिक भी ताम्र और लोहे के कवच धारण करते थे। ये कवच मध्यकालीन यूरोप में प्रचलित कवचों से मिलते-जुलते होते थे। सामन्त रथों में बैठकर लड़ते थे। खुद **सम्राट् व्यक्तिगत रूप से युद्ध में भाग** लेते थे। सेनापतियों के लिए तो युद्ध में भाग लेना अनिवार्य होता था। ऐसे उत्साही और व्यवस्थित आक्रमणकारियों का सामना करने योग्य शक्ति और साहस पश्चिमी एशिया के बहुत कम नगरों और जातियों के पास थे। असीरियनों का रणकौशल इसी से सिद्ध है कि सारगोनी युग (७२२-६२६ ई० पू०) के पूर्व भी उनकी सेनाएँ रथ, अश्वारोही और पैदल इत्यादि अंगों में विभाजित थीं और घेरा डालने की कला में निपुण हो चुकी थीं, जब कि हखामशी सेनाएँ ५वीं और ४थी शताब्दी ई० पू० में भी कबीलों के अनुसार विभाजित थीं और खुद यूनानी तीसरी शताब्दी ई० पू० तक घेरा डालने की विद्या में अधिक कुशल नहीं हो पाये थे।

विजित शत्रुओं के साथ व्यवहार—विजय पाने के बाद असीरियन नरेश शत्रु-नगरों को जला देते थे। जो सैनिक जितने अधिक **शत्रुओं का बध** करता था उतना ही अधिक पारितोषिक पाता था। इसलिए असीरियनों की विजय होने के बाद शत्रु-नगरों के बहुत कम निवासी जीवित बच पाते थे। यह नीति अमानुषिक थी परन्तु इससे शत्रुओं को बन्दी रूप में रखने का झंझट नहीं रहता था और बहुत-सी खाद्य-सामग्री भी बच जाती थी। प्रत्येक सैनिक के द्वारा मारे गये शत्रुओं की संख्या और लूट के माल का हिसाब लिखने के लिए लिपिक नियुक्त रहते थे (चि० ६०)। **सामूहिक हत्याकाण्ड** की अध्यक्षता बहुधा सम्राट् स्वयं करते थे। शत्रु सामन्तों को विशेष गौरव प्रदान किया जाता था। या तो

उनके हाथ, पैर, नाक, आँख और कान इत्यादि काट दिये जाते थे या उन्हें मीनार के ऊपर से फेंक दिया जाता था अथवा बच्चों सहित धीमी-धीमी आग में जला दिया जाता था। असुरनसिरपाल अपने एक लेख में एक नगर को जीतने का विवरण इस प्रकार देता है :

"उनके तीन हजार सैनिकों को मैंने मौत के घाट उतार दिया...बहुत से बन्दियों को मैंने आग में जला दिया ...कुछ की मैंने अँगुलियाँ काट डालीं और कुछ की नाक तथा कान काट डाले। बहुतों की मैंने आँखें निकाल लीं। मैंने एक ढेर जीवित शत्रुओं का और एक मृत शत्रुओं के सिरों का लगवाया। बहुतों के सिरों को नगर में काष्ठ-स्तम्भों पर लटकवा दिया। उनके युवकों और युवतियों को मैंने जिन्दा जलवा दिया...।"

ये अत्याचार और नृशंस आचरण अधिकांश असीरियन सम्राटों के शासन-काल में सैनिक नीति के रूप में आवश्यक समझे जाते थे। जिस प्रकार सर्जन घाव ठीक करने के लिए चीर-फाड़ आवश्यक मानते हैं उसी प्रकार असीरियन शासक प्रान्तों को वश में करने के लिए शत्रुओं के नगरों को जलाना और उनकी सामूहिक रूप से हत्या करवाना आवश्यक मानते थे। दूसरे शब्दों में राज्य की शक्ति का आधार विशुद्ध सैनिक बल था। इसलिए असीरियन साम्राज्य एक प्रकार का 'सैनिक-यन्त्र'(मिलिटरी मशीन) बन गया था। युद्ध करना, विजय पाना, लूट-पाट से घर भरना, इसी को वे राजनीति समझने लगे थे। यह ठीक है कि इससे उन्हें बहुत लाभ थे : इससे जनता में देशभक्ति की भावना बढ़ती थी, लूट में मिले धन की सहायता से विलासिता का जीवन व्यतीत किया जा सकता था तथा युद्धों में बन्दी बनाये गये शत्रुओं को दास बनाकर उनसे खेतों में काम लिया जा सकता था। परन्तु कुछ गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः **यही नीति उनके पतन का कारण बनी**। इससे न केवल उनके शत्रुओं की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई वरन् देश की आर्थिक-व्यवस्था की नींव भी खोखली हो गई (पृ० २५१-५२)।

विधि-संहिता और दण्ड-व्यवस्था

असीरियन विधि-संहिता—असीरियन क़ानूनों पर प्रकाश देनेवाले अधिकांश अभिलेख क़लात-शेरकात (अशुर) स्थान से प्राप्त हुए हैं। ये १२वीं-१३वीं शताब्दी ई० पू० के हैं। इनके अतिरिक्त कुछ खण्डित अभिलेख भी मिले हैं जो असीरियन क़ानूनों के अन्य संस्करण हो सकते हैं। इन अभिलेखों में

तीन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। पहला, जिसमें साठ पैराग्राफ हैं, **स्त्रियों से सम्बन्धित है**। दूसरा, जो अच्छी अवस्था में नहीं मिलता, **भूमि-व्यवस्था** से सम्बन्धित है। इसमें इकतीस पैराग्राफ हैं। तीसरे में, जो बहुत ही खण्डितावस्था में मिला है, **विश्वासघात से सम्बन्धित** क़ानूनों पर प्रकाश डाला गया है। इन क़ानूनों को विद्वान् 'असीरियन विधि-संहिता' संज्ञा देते हैं। परन्तु अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका है कि ये क़ानून वास्तव में एक 'विधि-संहिता' के रूप में थे अथवा नहीं। हम्मूरबी की विधि-संहिता और इन क़ानूनों की शैली में स्पष्टतः अन्तर है। हम्मूरबी की विधि-संहिता में प्रत्येक क़ानून के पहले अपराध को बताकर फिर उसके लिए दण्ड निर्धारित किया गया है, परन्तु असीरियन क़ानूनों में या तो किसी विशेष मामले (केस) का विस्तार से विवरण मिलता है अथवा न्यायालयों के वास्तविक फैसलों को दे दिया गया है। इसलिए कुछ विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि तथाकथित असीरियन 'विधि-संहिता' वास्तव में असीरियन क़ानूनों पर **न्यायज्ञों** (जूरिस्ट्स्) की टीका या व्याख्या है।

हम्मूरबी की विधि-संहिता से मूलभूत अन्तर—विद्वानों का प्रारम्भ से ही यह विचार रहा है कि असीरियन विधि-संहिता का **उद्भव स्वतन्त्र रूप से** हुआ। दूसरे शब्दों में असीरियन विधि-संहिता का बैबिलोनियन विधि-संहिता से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक तो दोनों विधि-संहिताओं की **शब्दावली और फार्मूले सर्वथा भिन्न** हैं। दूसरे, असीरियन दण्ड-व्यवस्था निश्चित रूप से **बैबिलोनियन दण्ड-व्यवस्था से अधिक कठोर और बर्बर** है। वस्तुतः हम्मूरबी की विधि-संहिता में उल्लिखित दण्डों से असीरिया में, जहाँ की जनता अधिक उच्छृंखल संघर्षप्रिय थी, काम चल भी नहीं सकता था। तीसरे, बैबिलोनियन क़ानून कभी असीरिया में लागू नहीं किये गये और न बैबिलोनियन क़ानूनों का सम्भवतः १२ वीं शताब्दी ई० पू० के पहले वहाँ अध्ययन हुआ।

मितन्नी विधि-संहिता का प्रभाव ?—कुछ विद्वानों का यह विचार है कि असीरियन कानूनों पर मितन्नी कानूनों का प्रभाव पड़ा। मितन्नी राज्य ने दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य असीरिया पर प्रभुत्व स्थापित किया हुआ था। दूसरी ओर हित्तियों से भी मितन्नियनों का सम्पर्क था और हित्तियों के पास अपनी एक विधि-संहिता थी (पृ० १८३-८६)। अतः यह अनुमान किया गया है कि सम्भवतः मितन्नी जाति के पास भी एक विधि-संहिता थी जिसका प्रभाव असीरियन विधि-संहिता पर पड़ा। परन्तु अभाग्यवश **मितन्नियनों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बहुत सीमित है**। अतः जब तक उनकी अपनी विधि-संहिता का अस्तित्व सिद्ध

न हो जाए तब तक असीरियन विधि-संहिता के ऊपर उसके प्रभाव की कल्पना करना सर्वथा निराधार प्रयास होगा।

असीरियन दण्ड-व्यवस्था—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि असीरियन विधि-संहिता पर किसी अन्य जाति की विधि-संहिता का प्रभाव सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है। अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि असीरियन विधि-संहिता किसी अन्य देश के प्रभाव का प्रतिफल न होकर **खुद असीरियनों की रचना** थी। इसके पक्ष में सब से सबल प्रमाण यह है कि असीरियन विधि-संहिता **'विशुद्ध असीरियन' सामाजिक परिस्थिति की पृष्ठभूमि में बनाई गई लगती है।** इसमें दिये गये **निर्मम दण्ड** असीरियनों के उद्दण्ड स्वभाव से मेल खाते हैं—जैसे अपराधी के नाक-कान काट देना, जीभ निकाल लेना, कोड़े मारना, उसे नपुंसक कर देना, भारी जुर्माना करना तथा बेगार लेना इत्यादि। कुछ मामलों में **वादी को क़ानून अपने हाथ में ले लेने की सुविधा** थी। अगर कोई व्यक्ति अपनी पत्नी को किसी परपुरुष के साथ पाता था तो वह उस पुरुष को जान से मार देने पर भी हत्या का अपराधी नहीं माना जाता था। जानबूझ कर गर्भपात कराने वाली स्त्री को कठोरतम दण्ड मिलता था। किसी की पत्नी पर झूठा कलंक लगाने वाले व्यक्ति को बाँध कर नदी में फेंक दिया जाता था। अगर वह तब भी बच जाता था, जिसकी सम्भावना बहुत कम रहती थी, तब भी उसे छोड़ा नहीं जाता था वरन् कठोरतर दण्ड दिया जाता था। नदी में डुबो कर मार डालने का दण्ड हम्मूरबी की विधि-संहिता में भी है, परन्तु वहाँ इसका इतना अधिक प्रयोग नहीं मिलता। **व्यापार सम्बन्धी अपराधों का सम्बन्ध धर्म से** माना जाता था। हम्मूरबी की विधि संहिता में इन अपराधों को भी 'सिविल' अपराधों के अन्तर्गत रखा गया है।

असीरियन विधि-संहिता की प्राचीनता की सम्भावना—असीरियन क़ानूनों की प्राचीनतम प्राप्त प्रतिलिपियाँ १२वीं-१३वीं शताब्दी ई० पू० की हैं। परन्तु यह सर्वथा सम्भव है कि जिस प्रकार हम्मूरबी की विधि-संहिता प्राचीनतर सुमेरियन विधि-संहिता के आधार पर बनाई गई थी उसी प्रकार असीरियन विधि-संहिता भी किसी प्राचीनतर विधि-संहिता के आधार पर बनाई गई हो। परन्तु इस अनुमान को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

विधि-संहिता के प्रान्तों में प्रयोग की सम्भावना—असीरियन प्रान्तों में उनकी विधि-संहिता का प्रयोग होता था या नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु अनुमान किया जाता है कि कुछ प्रान्तों में अवश्य होता होगा क्योंकि असीरियन **सरकार इतनी शक्तिशाली थी कि उसे सब प्रान्तों में**

लागू कर सके। दूसरे, इसका लागू किया जाना **निर्धन जनता और व्यापारियों के हित में** था। इस दृष्टि से असीरियन शासन-व्यवस्था की रोमन शासन-व्यवस्था से तुलना की जा सकती है।

सामाजिक व्यवस्था

असीरियन समाज के प्रमुख वर्ग—अभाग्यवश असीरियन व्यापारिक और क़ानूनी अभिलेख जो अभी तक प्राप्त हुए हैं, अधिकांशतः केवल राजपरिवार से सम्बन्धित हैं, इसलिए इनसे असीरियन समाज पर प्रत्यक्ष रूप से विस्तरशः प्रकाश नहीं मिलता। परन्तु इनसे असीरियन सामाजिक संगठन के विषय में कुछ मूल तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। उदाहरणार्थ इनसे ज्ञात होता है कि असीरियन समाज में दो मुख्य दल थे: स्वतन्त्र नागरिक और दास। **स्वतन्त्र नागरिक तीन वर्गों में** विभाजित थे—मारबनुति अथवा श्रीमन्त वर्ग, उम्माने अथवा दस्तकार वर्ग और खुब्शी अथवा श्रमिक वर्ग। **मारबनुति अथवा श्रीमन्त वर्ग** के सदस्यों को बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त थे। उन्हीं में से गवर्नरों, पुजारियों, सेनापतियों तथा अन्य उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। वे संख्या में कम थे, इसलिए कभी-कभी इस वर्ग की स्त्रियों को भी गवर्नर जैसे उच्च पद पर नियुक्त कर दिया जाता था। मारबनुति के विशेषाधिकारों की रक्षा का सफल प्रयास समस्त साम्राज्य-युग में किया जाता रहा। **उम्माने या दस्तकार वर्ग** के सदस्यों की संख्या अधिक थी। 'उम्माने' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक था, क्योंकि इसमें वे सभी व्यक्ति सम्मिलित थे जिनका एक निश्चित धन्धा था—जैसे तम्करू या बैंकर, तुपशर्रू या लिपिक, परवरू या कुम्हार, नग्गरू अथवा बढ़ई। फिर भी पेशों की भिन्नता सामाजिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि हर नगर में प्रत्येक पेशे के व्यक्तियों के निवास के लिए पृथक् मुहल्ले थे। **खुब्शी या श्रमिक वर्ग** में समाज के बहुसंख्यक लोग थे। मुख्यतः इसी वर्ग से राष्ट्रीय सेना को सैनिक और विदेशों में उपनिवेशन के लिए नागरिक मिलते थे। यह वर्ग अत्यन्त निर्धन था। परन्तु कुछ क़ानून ऐसे थे जिससे उनकी दशा अन्य देशों के श्रमिकों से अच्छी हो गई थी। **दास वर्ग में** युद्धों में पकड़े हुए बन्दी और ऋण न चुका सकने के कारण स्वतन्त्रता खो देने वाले नागरिक सम्मिलित थे। उनको समाज के उच्च वर्गों की सेवा करके जीवन व्यतीत करना होता था। सेनाकेरिब के समय के एक रिलीफ-चित्र में कोड़ेधारी निरीक्षकों को दासों से भारी पाषाण-खण्ड

खिंचवाते हुए दिखाया गया है। मुँड़ा हुआ सिर और चिरे हुए कान **दासता के चिह्न** थे।

विदेशियों की स्थिति—असीरियनों की राजधानी निनेवेह एक अन्तर्राष्ट्रीय नगर था। वहाँ एशिया माइनर से लेकर एलम तक के निवासी देखे जा सकते थे। राजलिपिकों को विदेशी भाषाओं के विचित्र शब्दों को लिखना एक समस्या रहती थी। कुछ विद्वानों का विचार है कि निनेवेह में खुद असीरियन अल्पसंख्यक थे और विदेशी जातियाँ बहुसंख्यक। बहुत से विदेशियों ने **असीरियन नागरिकता** प्राप्त कर ली थी। विदेशियों के लिए नागरिकता प्राप्त करने के कई ढंग थे, जैसे किसी असीरियन स्त्री से विवाह कर लेना अथवा किसी असीरियन का दत्तक पुत्र बन जाना इत्यादि।

स्त्रियों की दशा—असीरियन विधि-संहिता से स्त्रियों की दशा पर प्रचुर प्रकाश मिलता है। असीरियन क़ानून इस विषय पर प्राचीन विश्व की किसी भी अन्य जाति के क़ानूनों से अधिक **विस्तार में विचार करते हैं**। स्त्रियों द्वारा चोरी, स्त्रियों द्वारा पुरुषों पर या पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर आक्रमण, व्यभिचार और गर्भपात—इन सभी अपराधों पर विस्तरशः नियम मिलते हैं। झूठी गवाही द्वारा **पत्नी पर दोषारोपण** भी एक विषय है। **तलाक़** और पति द्वारा पत्नी को छोड़ देने पर **पत्नी के लिए निर्वाह** की सुविधा के ऊपर उस युग को देखते हुए काफी उदारता के साथ विचार किया गया है।

असीरियन समाज की व्यवस्था बैबिलोनियन समाज की व्यवस्था से अधिक जटिल थी। उदाहरण के लिए बैबिलोनियन विधि-संहिता से ज्ञात होता है कि वहाँ **विवाह के पश्चात् स्त्री पति के घर** आकर रहती थी। असीरियन विधि-संहिता में इसके साथ **दूसरी प्रथा** को भी मान्यता दी गई है जिसमें स्त्री पिता के घर रहती थी और पति उससे बीच-बीच में मिलने जाता था। अगर किसी लड़की की मँगनी होने के बाद **शादी के पहले ही वर की मृत्यु** हो जाती थी अथवा वह भाग जाता था तो उस लड़की के पिता को उसकी शादी वर के किसी छोटे भाई से, जो दस वर्ष या इससे अधिक आयु का होता था, करनी पड़ती थी। और अगर वर का कोई भाई नहीं होता था तो उसे वह सब धन, खाने के सामान को छोड़कर, लौटाना होता था जो मंगनी के अवसर पर वर का पिता उसे देता था। **विवाहिता स्त्रियों को पर्दे** में रहना होता था, परन्तु अविवाहिताओं, वेश्याओं, पुजारिणों और दासियों को पर्दे में रहने की मनाही थी। जो व्यक्ति पुजारिणों, वेश्याओं और दासियों को जान-बूझकर पर्दे

में जाने देता था उसे कठोर दण्ड दिया जाता था, जिसमें कान काट दिया जाना, ५० कोड़े खाना, और एक महीने तक बेगार करना भी सम्मिलित थे। प्रो० ऑमस्टीड के अनुसार **पर्दे की प्रथा का जन्म** असीरिया में ही हुआ था। स्त्रियों से **पतिभक्ति** की पूरी आशा की जाती थी, परन्तु पुरुष जितनी चाहे **उपपत्नियाँ** रख सकता था। **राजाओं के अन्तःपुर** (हरम) में बहुधा अनगिनत उपपत्नियाँ होती थीं जिनका समय गायन-वादन और पारस्परिक कलह में व्यतीत होता था।

असीरियन बहुप्रसवी नहीं थे। उच्च परिवारों में साधारणतः एक व्यक्ति के दो तीन पुत्र होते थे। निम्न श्रेणी के परिवारों में यह औसत और भी कम रहता था। सम्भवतः इसीलिए जान-बूझकर **गर्भपात करानेवाली स्त्री को कठोरतम दण्ड** दिया जाता था। अगर गर्भपात कराते समय वह मर भी जाती थीं तब भी उसे सूली पर चढ़ा दिया जाता था। असीरिया में जनसंख्या कम होने का एक प्रभाव और पड़ा। बहुधा सरकार को उच्च वर्ग—मारबनुति—से आवश्यक संख्या में योग्य पदाधिकारी और कर्मचारी नहीं मिल पाते थे। अतः इस वर्ग की **स्त्रियों को भी उच्च पदों पर नियुक्त** कर दिया जाता था। उनके गवर्नर होने के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। कभी-कभी तो वे **वास्तविक शासिका** भी बन जाती थीं। **सम्मुरामत या सेमिरामिस** तथा **नक्रिश** नामक रानियाँ इसका उदाहरण हैं।

खुब्शी वर्ग की स्त्रियों की दशा—खुब्शी वर्ग की स्त्रियों की दशा भी अच्छी थी। कुछ क़ानूनों से संकेतित है कि **सरकार उनके कल्याण का विशेष रूप से ध्यान** रखती थी। उदाहरणार्थ १२ शती ई० पू० के एक क़ानून के अनुसार अगर खुब्शी वर्ग के किसी सैनिक को शत्रु ने बन्दी बना लिया होता था और उसकी पत्नी के पास जीवन-यापन का कोई साधन नहीं होता था तो उसके प्रार्थना करने पर नगर के मजिस्ट्रेट, सम्राट् के प्रतिनिधि के रूपमें, उसके लिए सरकारी खर्चे से एक **मकान और भूमि का प्रबन्ध** करते थे। दो वर्ष बीतने के पश्चात् वह स्त्री पुनर्विवाह कर सकती थी। अगर इसके बाद उसका पति लौट आता था तो वह अपनी पत्नी को पुनः प्राप्त कर सकता था। उसके दूसरे पति को उसे छोड़ना होता था, परन्तु उससे उत्पन्न सन्तान पर उसका अधिकार रहता था। पहले पति की अनुपस्थिति में जो भूमि और मकान उसकी पत्नी को दिये जाते थे वे एक निश्चित धन के देने या निश्चित समय तक बेगार करने पर उसको (पहले पति को) मिल जाते थे। अगर पहले पति के युद्ध में मारे जाने का निश्चित समाचार मिल जाता था तो उस स्त्री को वह भूमि और मकान

खाली कर देने होते थे। परन्तु दो वर्ष तक उन्हें उपयोग में लाने के बदले में उसे कुछ नहीं देना पड़ता था।

उपर्युक्त व्यवस्था एक उदाहरण मात्र है। इससे असीरियन सरकार द्वारा ख़ुब्शी वर्ग और विशेषतः स्त्रियों के कल्याण के लिए लिए जाने वाले कार्यों का पता चलता है। यह सर्वथा सम्भव है कि इस प्रकार की व्यवस्था इससे मिलती-जुलती अन्य आपत्तियों के अवसरों पर भी की जाती हो। **सम्भवतः असीरियन सरकार सिद्धान्ततः अपने ख़ुब्शी सैनिकों के बच्चों और स्त्रियों के जीवन-निर्वाह को, उनकी अनुपस्थिति में, अपना कर्त्तव्य मानती थी।**

आर्थिक संगठन

राज्य और नागरिकों के आर्थिक सम्बन्ध—असीरिया में राज्य और नागरिकों के आर्थिक सम्बन्ध अपेक्षया घनिष्ठ थे। **प्रत्येक नागरिक को राज्य की सेवा** अनिवार्य रूप से सेना में कार्य करके, राज्य के निर्माण-कार्यों में बिना पारिश्रमिक लिए सहयोग देकर और अपनी उपज के एक भाग को मन्दिरों में भेंट चढ़ाकर करनी होती थी। 'उम्माने' अथवा साधारण वर्ग के अधिकांश सदस्य व्यक्तिगत रूप से उपर्युक्त सेवाएँ करते थे, लेकिन उच्च वर्ग—मारबनुति—के सदस्य इनके बदले में चाँदी देकर या शारीरिक श्रम के लिए अपने स्थान पर दास भेज कर मुक्ति पा जाते थे। **कर इकट्ठा करने का भार सेना** के पदाधिकारियों पर रहता था।

कृषि का महत्त्व—असीरिया का आर्थिक जीवन बैबिलोनिया के आर्थिक जीवन से अधिक भिन्न नहीं था। दोनों देशों में नदियों और नहरों से सिंचाई
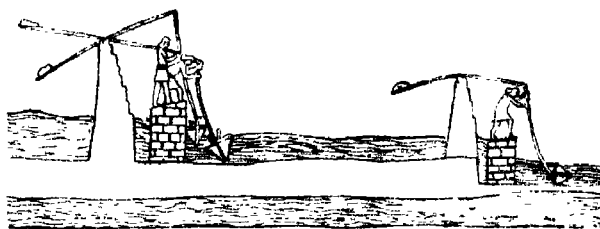
चित्र ६३ : नदी के जल को ऊपर उठाकर खेतों तक पहुंचाने के लिए प्रयुक्त होने वाले यन्त्र 'शडूफ' का सेनाकेरिब के राजप्रासाद से प्राप्त चित्र

होती थी और **शडूफ** (चि०६३) से कृषक नहरों से प्राप्त जल को खेतों तक पहुचाते थे। दोनों देशों में मुख्यतः गेहूँ, जौ, बाजरा और तिल की खेती होती थी

तथा दस्तकार एक से उद्योग-धंधों को अपनाए हुए थे। **भार और माप के पैमाने** भी दोनों देशों में समान थे। अन्तर केवल इतना था कि बैबिलोनिया में व्यापार को अधिक महत्त्व प्राप्त था और असीरिया में कृषि कर्म को। असीरियन समाज के मारबनुति अथवा श्रीमन्त वर्ग में बड़ी-बड़ी जागीरों के स्वामियों का बाहुल्य था जो **व्यापारियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे**। अभाग्यवश **असीरियन कृषकों के विषय में हमारा ज्ञान बहुत कम है**। उदाहरणार्थ हम यह नहीं जानते कि अधिकांश कृषक खुद भूमिधर थे अथवा 'मारबनुति' से भूमि लगान पर लेते थे। कुछ अभिलेखों में भूमि पट्टे पर लेने का उल्लेख हुआ है, परन्तु इसकी शर्तें बहुत कड़ी बताई गई हैं। **मजदूरी सस्ती थी** और भूमि भी आजकल की अपेक्षा अधिक उर्वर थी। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि 'उम्माने' वर्ग में समृद्ध कृषकों की संख्या काफी रही होगी।

उद्योग-धन्धे—असीरिया में, उसके सम्राटों द्वारा लूट कर लाये धन के कारण, बहुत से उद्योग-धन्धे पनपने लगे थे। **धातुएँ** खानें-खोदकर निकाली जाती थीं अथवा विदेशों से आयात की जाती थीं। उनसे भाँति-भाँति के उपकरण बनाए जाते थे। **शीशे के उपकरण बनाना, कपड़ा बुनना और रँगना** तथा बर्तनों पर मीनाकारी उनके प्रमुख उद्योग थे। सेनाकेरिब के एक अभिलेख में (लगभग ७०० ई० पू०) **'पेड़ पर उत्पन्न होनेवाली ऊन' अर्थात् कपास** का उल्लेख हुआ है। पश्चिमी एशिया में कपास के अस्तित्व का यह प्राचीनतम उदाहरण है। सम्भवतः वे कपास भारत से भी मँगाते थे। प्रत्येक उद्योग में साधारणतः पिता के पश्चात् पुत्र के द्वारा वह पेशा अपना लिए जाने की परम्परा थी। इसके अतिरिक्त **शिष्य रखने की प्रथा** भी थी। उदाहरणार्थ किसी युवक को कुछ वर्षों के लिए किसी जौहरी या स्वर्णकार के पास छोड़ दिया जाता था। वह कुछ धन लेकर उसे अपने पेशे के गुर सिखा देता था।

विदेशी व्यापार और व्यापार की विधियाँ—असीरिया में व्यापार को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, इसलिए इस क्षेत्र में असीरियन श्रीमन्त वर्ग विशेष सक्रिय नहीं था। इसका लाभ विदेशी **ऐरेमियनों** ने उठाया। उन्होंने धीरे-धीरे समस्त असीरियन व्यापार को अपने क़ब्जे में कर लिया। खुद असीरियन सम्राट् विदेशी व्यापार के महत्त्व को समझते थे इसलिए उसकी उन्नति का प्रयास करते रहते थे। विदेशी व्यापार **काफ़िलों** के द्वारा होता था। असीरियन **व्यापारी और बैंकर** अपना धन लगाकर माल तैयार करते थे और **सौदागरों—सुखरू—के द्वारा** उसे बाहर भेजते थे। सौदागर व्यापारियों को २५ प्रतिशत सूद आसानी से दे देते थे, इससे लगता है कि उन्हें इसमें प्रचुर

लाभ होता था। सारगोनी युग में **विनिमय का माध्यम** सोना, चाँदी और ताँबा थे। सीसा जो पहले खूब लोकप्रिय था, अब गौण होता जा रहा था। सेनाक्रेरिब के एक अभिलेख से मालूम होता है कि उसने चाँदी के **आधे शेकल के टुकड़े** विनियम-माध्यम के रूप में प्रयुक्त होने के लिए चलाए थे। इन्हें पश्चिमी एशिया की प्राचीनतम मुद्राएँ कहा जा सकता है। बाजार में **भावों का उतार-चढ़ाव** बहुत अधिक होता था। उदाहरणार्थ एक सफल युद्ध-अभियान के पश्चात् लूट में मिले धन के कारण दासों, घोड़ों और ऊँटों का मूल्य गिर जाना साधारण बात थी।

असीरियन विधि-संहिता में **व्यापारियों की सुविधा के लिए बहुत से क़ानून** मिलते हैं। यदि कोई व्यक्ति लिखित अनुबन्ध करने और धन लेने के पश्चात् उसे तोड़ने का प्रयास करता था तो उसे उस धन का दस गुना देवता के मन्दिर में जमा करना होता था और धार्मिक जलूस के अवसर पर देवता के रथ के लिए दो घोड़े देने होते थे। किसी-किसी अवसर पर उसे विष पीना पड़ता था और उसके सबसे बड़े लड़के या लड़की को देवता के सम्मुख जिन्दा जला दिया जाता था। शायद **सारगोनी युग में ये दण्ड दिये जाने बन्द** हो गये थे परन्तु इनका उल्लेख प्राचीन फार्मूलों के रूप में बराबर होता रहा।

धर्म और दर्शन

असीरियन देवराज अशुर—असीरियनों का धर्म प्रारम्भ में बैबिलोनियन धर्म से मिलता-जुलता था। अन्तर केवल इतना था कि उनका प्रमुख देवता मर्दुक न होकर अशुर था। इसलिए जब उन्होंने **बैबिलोनियन आख्यानों को अपनाया, उनमें मर्दुक का स्थान अशुर को दे दिया।** उदाहरणार्थ उनकी विश्व-सृजन की कथा में मर्दुक के स्थान पर अशुर ही तियामत को पराजित करता है। प्रारम्भ में अशुर इसी नाम के नगर का **स्थानीय देवता मात्र** था। उस समय उसको एक सौर-देवता (सोलर गॉड) माना जाता था। पक्षयुक्त-सूर्यचक्र (विंग्ड सन डिस्क) उसका चिह्न या प्रतीक था। इस चक्र के मध्य खुद अशुर को चित्रित किया जाता था (पृष्ठ २१४, चि० और फु०नो०)। प्रति वर्ष उसके सम्मान में उसी प्रकार '**कृषि-नाटक**'(फर्टिलिटी ड्रामा) होते थे जिस प्रकार बैबिलोन में मर्दुक के सम्मान में। परवर्ती युगों में जब अशुर नगर असीरिया की राजधानी बना तो वहाँ के देवता 'अशुर' को **राष्ट्रीय देवता** के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। यद्यपि पक्षयुक्त-सूर्यचक्र को उस समय भी अशुर का चिह्न या

प्रतीक माना जाता रहा, परन्तु खुद अशुर का व्यक्तित्व पूर्णरूपेण परिवर्तित हो गया। प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० में असीरियनों को अनेक युद्ध लड़ने पड़े। एक प्रकार से युद्ध ही उनका राष्ट्रीय उद्योग हो गया। इसलिए उनका देवता अशुर भी युद्ध-देवता माना जाने लगा। अब अशुर युद्ध और शान्ति में राष्ट्र का, विशेषतः राजा का मार्ग-प्रदर्शन करता था और अपने दैवी प्रकोप से असीरियनों के शत्रुओं को नष्ट करता था। असीरियनों का यह विश्वास था कि जितने अधिक शत्रुओं की बलि अशुर को दी जाएगी वह उतना ही सन्तुष्ट होगा। असुरनसिरपाल के शासन-काल के एक रिलीफ-चित्र में बन्दियों को सम्भवतः अशुर के सम्मुख बलि दिये जाते हुए दिखाया गया है। असीरियन अशुर को सिद्धान्ततः साम्राज्य का स्वामी मानते थे। सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह अशुर के विरुद्ध विद्रोह समझा जाता था। इसलिए विद्रोही नगरों में अग्निकांड, शत्रु जनता का सामूहिक रूप से वध और उस पर नृशंस अत्याचार ये सभी अशुर के नाम पर किये जाते थे।

असीरियन सम्राट् अपने देवता अशुर के चिह्न (सूर्यचक्र) को युद्धक्षेत्र में ले जाते थे और उसे विजित नगरों में उपासना किये जाने के लिए स्थापित करते थे। परन्तु यह स्पष्ट है कि शस्त्र के बल पर अपनी सत्ता जमानेवाला देवता अन्य जातियों में आसानी से लोकप्रिय नहीं हो सकता था। इसलिए असीरियन जाति के नष्ट होते ही अशुर की उपासना भी पूर्णतः समाप्त हो गई। परन्तु स्मरणीय है कि इस क्षेत्र में असीरियनों का कुछ प्रभाव ईरानियों पर अवश्य पड़ा, क्योंकि अशुर के समान उनके देवता अहुरमज़्दा का चिह्न भी पक्षयुक्त-सूर्यचक्र ही था। हो सकता है सूर्यचक्र के साथ उन्होंने अशुर सम्प्रदाय के अनुष्ठान सम्बन्धी कुछ तत्त्वों को भी अपना लिया हो।

असीरियन अन्धविश्वास—असीरिया एक ऐसा देश था जहाँ मनुष्य को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए न केवल अपने प्रतिद्वन्द्वियों से सजग रहना पड़ता था, वरन् अन्य पशुओं और प्राकृतिक दुर्घटनाओं के विरुद्ध भी निरन्तर संघर्ष करना होता था। इस संघर्षमय जीवन के परिणामस्वरूप असीरियन बैबिलोनियनों से भी अधिक निराशावादी हो गये। वे यह विश्वास करने लगे कि विश्व अशुभ और आसुरी शक्तियों से भरा हुआ है। उनसे बचने का एकमात्र उपाय है मन्त्र-शक्ति और वह पुजारियों के पास है। असीरिया में बालक और वृद्ध सभी ऐसे ताबीज़ धारण करते थे जिन पर भाँति-भाँति की आकृतियाँ खुदी रहती थीं अथवा मन्त्र लिखे रहते थे। बहुत से ताबीजों पर सात जादुई शब्द सात बार लिखे रहते थे। इन्हें विशेष प्रभावकारी

समझा जाता था। इस प्रकार के अन्धविश्वास और बहुत से देशों में मिलते हैं लेकिन असीरिया में इनकी अति हो गई थी।

पुजारियों का एक वर्ग शकुनों के शुभाशुभ फल पर विचार करता था। उन्हें 'बरू' (ज्योतिषी) कहा जाता था। उनको समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त था। उनका **ज्योतिष विषयक ज्ञान** अधिकांशतः बैबिलोनियनों की देन था, परन्तु इस विषय पर कुछ ग्रन्थों की रचना असीरिया में भी हुई थी। उनके अन्धविश्वासों से अप्रत्यक्ष रूप में एक लाभ भी हुआ। इससे उनको **खगोल-विद्या विषयक तथ्य संग्रह करने की आवश्यकता** पड़ी जिनसे कालान्तर में विशुद्ध विज्ञान की प्रगति में सहायता मिली।

परलोकवाद—असीरियनों के परलोक विषयक विचार अधिक स्पष्ट नहीं थे। वे यह विश्वास करते थे कि मृत्यु के बाद आत्मा **अज्ञात** राक्षसी द्वारा रक्षित **नेरगा** नामक लोक में जाती है, जिसके गहन अन्धकार में उसे अपनी परीक्षा देनी होती है। अगर वह कुकर्मी सिद्ध होती है तो उसे **घोर यातनाएँ** दी जाती हैं। इस संकट से मुक्ति पाने का उपाय **स्वर्गीय** जल है परन्तु उसकी एक बूँद मिलनी भी दुष्कर है।

असीरियन निराशावाद

शंकावादी मनोवृत्ति—जब कोई सभ्यता पुरानी हो जाती है तब प्रायः उसके मूल्यों में उसके मानने वालों का विश्वास नहीं रहता। अविश्वास, सन्देह और उदासीनता उस सभ्यता के अध्यात्मिक आधारों को नष्ट करने लगते हैं। मेसोपोटामिया के निवासियों में अपनी सभ्यता के सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति ऐसी **शंकावादी मनोवृत्ति** प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० में दिखाई देती है। इस मनोवृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण **'निराशावादी स्वामी और दास का संवाद'** नामक कृति है। इसमें यह दिखाया गया है कि जिसे श्रेष्ठ अथवा उत्तम जीवन कहा जाता है उसका अस्तित्व ही संदेहास्पद है। यह संवाद काफी लम्बा है परन्तु इसका कथानक सरल है। इसमें एक स्वामी दास से कहता है कि वह एक विशेष कार्य करना चाहता है। दास उस कार्य के अच्छे पक्ष बताकर उस कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित करता है। परन्तु तभी उसका स्वामी उस कार्य को न करने की इच्छा प्रकट करता है। दास तत्क्षण उस कार्य के बुरे पक्ष दिखला कर उसे न करने के विषय में सहमति प्रकट करता है। इस प्रकार प्रेम, देव-भक्ति, दया इत्यादि अनेक बातों पर विचार करके निष्कर्ष निकाला

गया है कि इनमें कोई भी कार्य अपने आप में शुभ अथवा अशुभ नहीं है। जीवन के सभी बहुचर्चित मूल्य व्यर्थ हैं। उदाहरण के लिए स्वामी कहता है :

'दास मुझ से सहमत हो' ! 'हाँ, मेरे स्वामी हाँ'।
'मैं अपनी प्रजा को दान दूँगा'। 'ऐसा ही करो, स्वामी ऐसा ही करो',
'क्योंकि जो व्यक्ति अपनी प्रजा को दान देता है,
'उसका दान स्वयं मर्दुक के हाथ में आता है।'
'नहीं दास मैं प्रजा को दान नहीं दूँगा।'
'मत दो मेरे स्वामी मत दो,
'आप प्राचीन नगरों के भग्नावशेषों पर खड़े हों और घूमें,
'(और) नई तथा पुरानी मानव अस्थियाँ देखें,
'कौन सुकर्मी है और कौन कुकर्मी !'

अर्थात् चाहे मनुष्य पाप करे अथवा पुण्य इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। न कोई सुकर्मियों को स्मरण करता है और न कुकर्मियों को। हम नहीं जानते कि प्राचीन काल के असंख्य मानवों में कौन कुकर्मी थे और कौन सुकर्मी। फिर अच्छे कर्मों के करने से क्या लाभ ? इस युग में इस शंकावाद के जन्म का कारण सम्भवतः असीरियनों के अनवरत चलने वाले युद्ध और उनके द्वारा विजित शत्रुओं पर अकारण किए जाने वाले अत्याचार थे।

असीरियन कला

वास्तुकला

प्रारम्भिक साम्राज्यों के युग में असीरियन वास्तुकला—असीरियन अच्छे योद्धा होने के साथ कुशल कलाकार भी थे। सम्भवतः युद्धविद्या के अतिरिक्त एक मात्र कला ही ऐसा क्षेत्र है जिसमें वे बैबिलोनियनों को मात दे सके और सुमेरियनों की समता कर सके। लूट कर लाई गई सम्पदा के कारण असीरियन सम्राटों और निनेवेह, अशुर तथा कल्ख़ी जैसे नगरों के निवासियों की रुचि परिष्कृत हो गई थी, जिसको परितुष्ट करने के लिए असीरियन कलाकारों ने सुन्दर ताम्रमूर्तियाँ, शृंगारोपकरण, फर्नीचर, आभूषण और चित्रादि बनाए। तिगलथपिलेसर प्रथम के समय से ही असीरियन सम्राटों का ध्यान भवन-निर्माण की ओर गया। उन्होंने इसके लिए बैबिलोनियनों के समान ईंटों का प्रयोग किया, परन्तु पाषाण आसानी से उपलब्ध होने के कारण इसका प्रयोग अधिक प्रचुरता से किया गया। खुद तिगलथपिलेसर प्रथम ने अशुर के मन्दिर

का पाषाण से पुनर्निर्माण कराया। उसके बाद के शासकों ने मंदिरों को प्रचुर सम्पदा प्रदान की, परन्तु अधिक ध्यान राजप्रासादों के निर्माण की ओर दिया। **असुरनसिरपाल द्वितीय ने** अपनी राजधानी निनेवेह के स्थान पर कल्ख़ी नगर को बनाया। वहाँ उसने नहर, प्राचीर तथा एक भव्य राजप्रासाद निर्मित कराया। इस राजप्रासाद की दीवारों पर युद्ध, शिकार और धार्मिक अनुष्ठानों के दृश्यों को रिलीफ-चित्रों में अंकित किया गया। **इलमनेसर तृतीय** ने अधिकांश भवन अशुर नगर में बनवाए। अशुर को सुरक्षित करने के लिए उसने एक खाई और दोहरी प्राचीर का निर्माण भी कराया, जिसमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर तोरण बने हुए थे। इनमें कुछ को नक्काशीदार ईंटों से सजाया गया था।

सारगोनी युग में भवन-निर्माण-कार्य—तिगलथपिलेसर तृतीय के समय वास्तुकला में नए प्रयोग किए गए। इनमें राजप्रासाद के लिए **'द्वार-मण्डप'** का प्रयोग प्रमुख है जिसे उन्होंने हित्तियों से सीखा (पृ० १९८) था। तिगलथ-पिलेसर का राजप्रासाद तत्कालीन पश्चिमी एशिया का भव्यतम राजप्रासाद रहा होगा। **सारगोन द्वितीय ने** भी अपनी विजय यात्राओं के मध्य भवन-निर्माण के लिए समय निकालने में सफलता पाई। कल्ख़ी और निनेवेह के राजप्रासादों से सन्तोष न पाने पर उसने निनेवेह के पास एक वर्गमील में एक लघुनगर **'दुर-शर्रूकिन' अथवा सारगोनपुर** (आधुनिक खोर्साबाद) बसाया, जिसमें रिलीफ-चित्रों, चमकीले टाइलों और विशाल मूर्तियों से सज्जित राजप्रासाद, जिगुरत और मन्दिरों का निर्माण कराया गया। राजप्रासाद के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करने के लिए संगमरमर, ताम्र, रजत, स्वर्ण और बहुमूल्य पाषाणों से बने हुए भाँति-भाँति के उपकरण और फर्नीचर मँगवाए गए। बैबिलोनिया में इतने भव्य राजप्रासाद का निर्माण इसके पूर्व कभी नहीं हुआ था।

सारगोन के उत्तराधिकारी **सेनाक्रेरिब ने** भवन-निर्माण में व्यक्तिगत रूप से रुचि ली। एक रिलीफ-चित्र में उसे राजप्रासाद के द्वार के लिए निर्मित मूर्तियों को अपनी देख-रेख में स्थानान्तरित कराते हुए दिखाया गया है। उसका सर्वोत्तम कार्य **निनेवेह नगर का, जिसे उसने अपनी राजधानी के रूप में चुना, पुनर्निर्माण करवाना था**। सेनाक्रेरिब ने तेबिल्तु नदी पर बाँध बनवा कर और खुसुर के दलदलों को सुखाकर नगर के क्षेत्रफल को लगभग दुगुना करवाया

और उसमें एक विशाल कृत्रिम चबूतरे पर एक भव्य राजप्रासाद का निर्माण कराया। इसमें प्रकाश के लिए छतों में वातायन (लाइट वे ल्स) बनवाए गए तथा स्तम्भों को रजत और ताम्रपत्रों से सुशोभित किया गया। राजप्रासाद के के लिए विविध प्रकार के पाषाण उपलब्ध करने के लिए निकटवर्ती पर्वतों का पर्यवेक्षण किया गया। राजप्रासाद को सजाने के लिए ताम्र के बारह विशालकाय सिंह और बारह वृषभ बनवाए गये और अनेक उपवन तथा बगीचे लगवाए गए। नगर के निकटवर्ती पर्वतों के झरनों का जल लाने के लिए **कृत्रिम जलमार्ग** (ऐ कीडक्ट) का निर्माण कराया गया (चित्र ६४)। नगर के उत्तर में
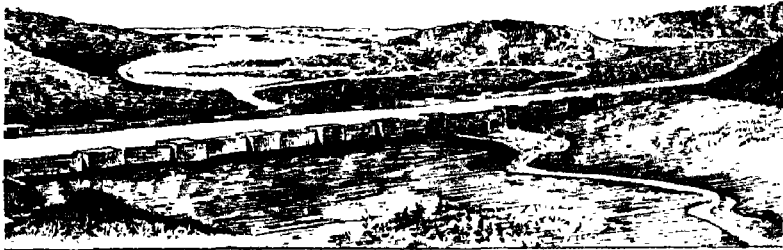
चित्र ६४ : सेनाक्रेरिब द्वारा निर्मित कृत्रिम जलमार्ग (ऐ कीडक्ट) का काल्पनिक पुनर्निर्माण

एक विशाल कृषि-क्षेत्र (प्लान्टेशन) की व्यवस्था की गई। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि सेनाक्रेरिब ने जनकल्याण में अन्य शासकों से अधिक रुचि ली। उसने निनेवेह का एक वैज्ञानिक योजना के अनुसार पुनर्निर्माण कराया और उसकी उन्नति के लिए आसपास के प्राकृतिक साधनों का उपयोग किया। **एसरहद्दोन** ने सेना-क्रेरिब के निर्माण कार्य को जारी रखा और अपने राजप्रासादों और मन्दिरों को अन्य देशों से लूटकर लाए गए बहुमूल्य उपकरणों से भर दिया। परन्तु सेना-क्रेरिब का राजप्रासाद साठ वर्षों में ही जीर्ण-शीर्ण हो गया, इसलिए **असुरबनिपाल** को उसका पुनर्निर्माण करवाना पड़ा।

असीरियन स्थापत्य

असीरियन स्थापत्य का आविर्भाव—असीरियन कला का सर्वोत्तम

पक्ष रिलीफ-चित्र हैं। इनका असीरियन कला के इतिहास में वही स्थान है जो यूनानी कला के इतिहास में मूर्तिकला का। इस कला का उद्भव कैसे और कब हुआ, यह कहना कठिन है। यह निश्चित है कि असीरियन इस क्षेत्र में मिस्र के ऋणी नहीं हो सकते क्योंकि दोनों देशों के कलाकारों को सर्वथा पृथक् क्षेत्रों में सफलता मिली है। उदाहरणार्थ न तो तत्कालीन मिस्री कलाकार असीरिया के दहाड़ते शेर और जंगली घोड़े बना सकते थे और न असीरियन कलाकार स्वाभाविक मूर्तियाँ बनाने में मिस्री कलाकारों की समता कर सकते थे। असीरियनों ने अपने पड़ोसी हित्तियों से वास्तुकला के कुछ पाठ पढ़े थे, परन्तु स्थापत्य में वे उनसे भी प्रभावित नहीं मालूम होते, क्योंकि उनके प्रारम्भिक रिलीफ-चित्रों पर हित्ती प्रभाव का पूर्णतः अभाव है। जहाँ तक बैबिलोन का सम्बन्ध है, यह आपाततः अस्वीकार्य लगता है कि दो-चार पाषाण-खण्डों का आयात करके कुछ कलाकृतियाँ निर्मित करने वाले देश की कला असीरिया जैसे देश की कला की पूर्वज रही हो जहाँ असंख्य पाषाण खण्डों पर धार्मिक तथा युद्ध और शिकार सम्बन्धी दृश्य अंकित करके राजप्रासादों और मन्दिरों को सुसज्जित किया गया था। परन्तु प्रारम्भिक असीरियन कला पर बैबिलोनियन प्रभाव इतना सुस्पष्ट है कि इस सम्भावना को स्वीकृत करना ही पड़ता है। फिर भी यह सर्वथा निश्चित है कि कालान्तर में असीरियनों ने इस क्षेत्र में मौलिक प्रतिभा प्रदर्शित की और पाषाण-खण्डों पर ऐसे दृश्य उत्कीर्ण किए जिनकी नक़ल करना भी बैबिलोनियन कलाकारों के लिए असम्भव था।

चित्र ६५ : सिंहशावक ले जाते हुए व्यक्ति का असीरियन रिलीफ-चित्र

स्थापत्य के प्राचीन नमूने—असीरियन रिलीफ-चित्रों के प्राचीनतम नमूने असुरनसिरपाल द्वितीय (८८३-८५९ ई० पू०) के समय के हैं। ये बैबिलोनियन

रिलीफ-चित्रोंसे मिलते-जुलते हैं। इनमें निनर्तु के मन्दिर में मर्दुक का तिआमत के साथ युद्ध का दृश्य उल्लेखनीय है। असीरियन रिलीफ-चित्रों में किनारीदार वस्त्र शरीर को पूरी तरह ढक लेते हैं, इसलिए वे मानवाकृतियाँ न लगकर कठपुतलियाँ मालूम होते हैं और दो आकृतियों की मुद्राओं में भिन्नता होने पर भी उनके व्यक्तित्व में अन्तर नहीं मालूम होता (चित्र ६६)। यह दोष परवर्ती रिलीफ-चित्रों में भी दिखाई देता है।

चित्र ६६ : एक असीरियन राजा और उसका मन्त्री

लेकिन इन मूर्तियों का प्रभाव दर्शक के मन पर वैबिलोनियन मूर्त्तियों से सर्वथा भिन्न पड़ता है। यह तथ्य असीरियन कला के स्वतन्त्र विकास का प्रमाण है।

सारगोनी युग में पशुओं के अंकन में सफलता—असीरियनों को सब से अधिक सफलता पशुओं की आकृतियों के अंकन में मिली है। वस्तुतः इस क्षेत्र में कोई अन्य जाति उनसे अधिक सफल न हो पाई। उन्होंने युद्ध और शिकार के दृश्यों में शेर, घोड़े, गधे, कुत्ते, बकरी और हिरण आदि पशुओं का सभी सम्भव मुद्राओं में—शान्त मुद्रा को छोड़कर—अंकन किया है। निनुर्त के मन्दिर में ऊँची रिलीफ में दहाड़ते हुए शेर की स्वाभाविक परन्तु प्रभावोत्पादक मूर्त्ति प्राचीनतम है। इसके बाद सारगोन के समय के खोर्साबाद (सारगोनपुर) के 'जंगली मांसल घोड़े', सेनाक्रेरीब के निनेवेह के राजप्रासाद में अंकित 'घायल सिंहनी' (चित्र ६७) और असुरबनिपाल के समय के 'मरणासन्न सिंह' तथा 'शेर का शिकार' रिलीफ-चित्र असीरियन कलाकारों की सफलता के साक्षी हैं।

शिकारी कुत्ते : एक असीरियन रिलीफ चित्र

इनमें से कुछ चित्र विश्वकला के इतिहास में पशुओं के अंकन का सर्वोत्तम उदाहरण माने जाते हैं।
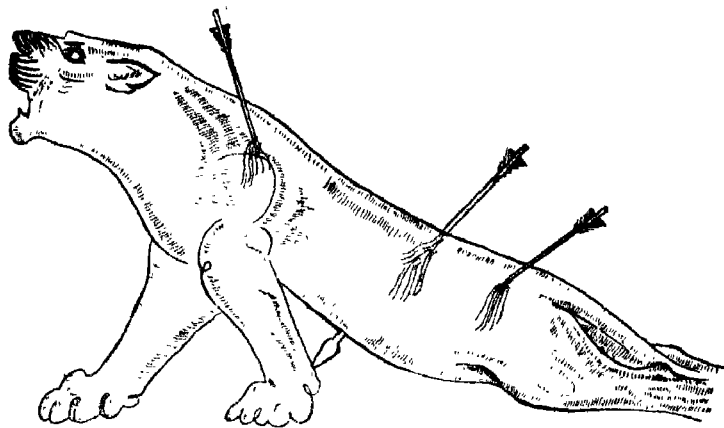
चित्र ६७ : 'घायल सिंहनी'

मूर्तिकला—'पूर्ण-मूर्तिकला' (स्कल्प्चर इन दि राउन्ड) में असीरियनों को उतनी सफलता नहीं मिली। उनकी मूर्तियों के बहुत कम नमूने प्राप्य हैं और जो मिलते हैं वे निर्जीव प्रतीत होते हैं। केवल **असुरनसिरपाल द्वितीय की मूर्त्ति** इसका अपवाद है। इसमें उसके प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक मिलती है।

अन्य कलाएँ

चित्रकला और अन्य गौण कलाएँ—कुयुंजिक और असुर से प्राप्त अवशेषों से प्रतीत होता है कि असीरियन **रंगीन और ग्लेज़ किए हुए 'टेम्पेरा'** चित्र बनाने में कुशल थे। ये चित्र उनके रिलीफ-चित्रों से मिलते-जुलते हैं परन्तु मिस्री और ईजियन चित्रों से एकदम भिन्न हैं। रंगीन ग्लेज़ का प्रयोग उन्होंने ईंटों और मृद्भाण्डों पर भी किया। कालान्तर में यह कला बैबिलोन और हखामशी ईरान में लोकप्रिय हुई। असीरियन मुद्राओं का प्रयोग भी प्रचुरता से करते थे। परन्तु उनकी अधिकांश मुद्राएँ कलात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। बैबिलोनियनों के समान वे भी **मुद्राकला** में सुमेरियनों की समता न कर सके। जहाँ तक अन्य लघु कलाओं का सम्बन्ध है हमारे पास विश्वसनीय साक्ष्य बहुत कम हैं। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वे सुन्दर डिजाइनों से

अलंकृत वस्त्र, ग्लेज़ किए हुए मृद्भाण्ड और बहुमूल्य काष्ठ और धातुओं से फर्नीचर बनाते थे। परन्तु उत्खनन में इनके बहुत कम नमूने मिले हैं।

असीरियन बौद्धिक उपलब्धियाँ

विज्ञान

कसाइट शासनकाल में बैबिलोनियन संस्कृति का बहुत ह्रास हुआ था। ऐरेमियन और कैल्डियन आक्रमणों के कारण बैबिलोनियनों की साहित्य और विज्ञान के प्रति उदासीनता बढ़ गई थी। दूसरी ओर असीरिया में असुरबनिपाल जैसे सम्राट् अंशतः व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और अंशतः अपनी स्वाभाविक रुचि के कारण ज्ञान-विज्ञान की प्रगति में सहायता दे रहे थे। इसलिए सारगोनी युग में बैबिलोन के स्थान पर **असीरियन नगर पश्चिमी एशिया की बौद्धिक गति-विधि के केन्द्र हो गए**। परन्तु असीरियनों की ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अपनी मौलिक देन वस्तुतः बहुत कम है। जो तथ्य ज्ञात हैं उनसे लगता है कि इस क्षेत्र में उनकी सफलता रोमनों के समान प्राचीन ज्ञान को संगृहीत तथा व्यवस्थित करने और उसे स्थायित्व प्रदान करने तक सीमित थी। उनकी अपनी रुचि सम्भवतः **ज्योतिष** और **युद्धकला** को छोड़कर किसी अन्य विद्या में नहीं थी। ज्योतिष के अध्ययन में खुद असीरियन शासक रुचि लेते थे। उन्होंने ऐसे पदाधिकारी नियुक्त किए हुए थे जिनका कार्य खगोल-विद्या सम्बन्धी आँकड़े इकट्ठा करना था। इनका प्रयोग पुजारी लोग ज्योतिष के अध्ययन में करते थे। हेलेनिस्टिक काल के यूनानी विद्वानों ने भी इनसे बहुत लाभ उठाया। असीरियन चिकित्सकों के पास **शरीर-रचना-शास्त्र** पर एक विशाल शब्दावली थी और उन्होंने रोगों के लक्षणों का अध्ययन भी काफी ध्यानपूर्वक किया था, परन्तु इस क्षेत्र में वे बैबिलोनियनों से आगे नहीं बढ़ पाये। **रसायन-शास्त्र** में उनकी रुचि उद्योग-धन्धों, विशेषतः चमड़ा उद्योग तथा मीनाकारी में काम आनेवाली रासायनिक प्रक्रियाओं तक सीमित थी। कपड़ों को रँगना वे निश्चित रूप से जानते थे परन्तु उनके साहित्य में इसका वर्णन नहीं है। **भौतिक-विज्ञान** के कुछ प्रमुख सिद्धान्त उन्हें अनुभव से ज्ञात थे, जैसा कि उनकी **इन्जीनियरिंग** के क्षेत्र में प्राप्त सफलता से मालूम होता है। सेनाक़ेरिब के शासनकाल में निनेवेह नगर के लिए एक **कृत्रिम-जलमार्ग** (ऐक्वीडक्ट) द्वारा तीस मील दूर से जल लाने का प्रबन्ध किया गया था। इसमें एक स्थान पर जल को नदी के ऊपर से लाया गया था (चित्र ६४)।

लिपि और भाषाएँ

'तुप-शर्रुति' और भाषाएँ—साम्राज्य की विशालता के कारण असीरियन सरकार और नागरिकों को बहुत बड़ी संख्या में लिपिकों की आवश्यकता पड़ती थी। इन **लिपिकों** को प्राचीन सुमेरियन और असीरियन भाषाओं का ही नहीं वरन् सेमेटिक भाषा की विभिन्न शाखाओं का भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता था। इनमें ऐरेमियन भाषा प्रमुख थी। असुरनसिरपाल ने असीरिया में बहुत से ऐरेमियनों को बसा दिया था। दूसरे, सीरिया का, जहाँ ऐरेमियन बहुसंख्यक थे, साम्राज्य से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसलिए सारगोनी युग में **ऐरेमियन भाषा** का भी खूब प्रयोग होता था। इसका प्रमाण ऐरेमियन भाषा में उत्कीर्ण अभिलेख हैं जो असीरियन नगरों में प्रचुर संख्या में मिलते हैं। जो लिपिक व्यापारिक पत्रादि लिखते थे उनका ज्ञान साहित्यिक और वैज्ञानिक ग्रन्थों को लिखने वाले लिपिकों से कम होता था। कुछ अभिलेखों से **लिपिकों को दी जाने वाली शिक्षा** पर प्रकाश मिलता है। इनसे ज्ञात होता है कि अभिलेख लिखने की कला **'तुपशर्रुति'** कहलाती थी। विद्यार्थी को पहले व्यक्तिवाचक शब्द लिखने का अभ्यास कराया जाता था और उसके पश्चात् वाक्य-विन्यास का। भाषाओं में उसे सबसे पहले **सुमेरियन** सिखाई जाती थी और फिर अक्कादी अथवा असीरियन और ऐरेमियन। यह अभ्यास काफी समय तक चलता था। विद्यार्थी को योग्य बनाने के लिए उससे सुमेरियन ग्रन्थों का अनुवाद कराया जाता था। परन्तु यह शब्दानुवाद न होकर भावानुवाद होता था। इसी कारण यह प्राचीन और मृत भाषा इस समय तक असीरिया में बनी रह सकी। **सेमेटिक भाषा की बोलियों** को सीखने के लिए इतने अभ्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इसके लिए पर्यायवाची शब्दों का संग्रह काफी माना जाता था। ऐसी **पर्यायवाची शब्द-सूचियाँ** काफी संख्या में प्राप्त हुई हैं और आधुनिक काल में इन भाषाओं को सीखने का प्रमुख साधन हैं।

कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) लिपि में सुधार—असीरियनों ने बैबिलोनियनों की कीलाक्षर लिपि को **सरल और लोकप्रिय** बनाने का भी काफी प्रयास किया। २००० ई० पू० से ही हम उनको ध्वनि-चित्रों में **रेखाओं की संख्या कम करने और चिह्नों को वर्गाकार बनाने का प्रयास** करता पाते हैं। सम्भवतः मीडिया और उरर्तु में इसी सरल लिपि का प्रचार हुआ था। एशिया माइनर के हित्तियों ने भी इसे अपनाया।

साहित्य

बैबिलोनियन साहित्य का अध्ययन—हाल ही में हुए पुरातात्त्विक अन्वेषणों से ज्ञात होता है कि बैबिलोनिया की महान् साहित्यिक कृतियों का **अनुवाद और सम्पादन** असीरिया में १३वीं शती ई० पू० के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। वास्तव में बैबिलोनियन साहित्य की दो महानतम कृतियों—**'गिलगामेश महाकाव्य'** और **'विश्व-सृजन की कथा'**—का ज्ञान आधुनिक विद्वानों को सबसे पहले इनके अशुर और निनेवेह से प्राप्त असीरियन संस्करणों से ही हुआ था। असीरियन सम्राटों ने प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की सुरक्षा के लिए **पुस्तकालय** स्थापित किये थे। असुरबनिपाल के पुस्तकालय में ३०,००० 'ग्रन्थ' थे। इनका विधिवत वर्गीकरण और सूचीकरण किया गया था। बहुत से अभिलेखों पर असुरबनिपाल के द्वारा पढ़े जाने का चिह्न लगा है। दो अभिलेख ऐसे हैं जिनमें असुरबनिपाल ने अपने ज्ञान और शौर्य का वर्णन किया है।

असीरियनों की साहित्यिक सफलता—इस पुस्तकालय की स्थापना का उद्देश्य प्राचीन बैबिलोनियन ज्ञान-विज्ञान को सुरक्षित रखना था, इसलिए इसमें संगृहीत अधिकांश ग्रन्थ बैबिलोनियन ग्रन्थों के अनुवाद या प्रतिलिपियाँ थे। असीरियनों के अपने मौलिक साहित्य पर इनसे बहुत कम प्रकाश मिलता है। वास्तव में देखा जाय तो **असीरियनों का अपना कोई स्वतन्त्र साहित्य था ही नहीं**—केवल दो प्रकार की रचनाओं को छोड़ कर। पहले प्रकार का साहित्य, जो विशुद्ध असीरियन प्रतीत होता है, **देववाणियाँ** (ओरेकिल्स्) है। यूनान के समान असीरिया में भी पुजारी देववाणियों को अस्पष्ट करके अपने प्रभाव को बनाए रखने का प्रयास करते थे। इन देववाणियों से ही कालान्तर में राजकीय अभिलेखों की अलंकृत और कल्पना-प्रधान शैली विकसित हुई। **असीरियन राजकीय अभिलेख** प्रारम्भ में बैबिलोनियन भवन-अभिलेखों के सदृश थे। इनमें देवता की स्तुति, भवन को समर्पित करने वाले राजा का नाम, भवन का विवरण और भविष्य में भवन को क्षति पहुँचाने वाले के लिए शाप—इन बातों का उल्लेख रहता था। बाद में इन अभिलेखों का रूप धीरे-धीरे परिवर्तित हो गया और असीरिया के ऐतिहासिक अभिलेख अस्तित्व में आए। इनमें भवन-समर्पण के विवरण के स्थान पर राजा के द्वारा प्राप्त विजयों का विवरण दिया जाने लगा। कुछ बाद में **घटनाओं को तिथिक्रमानुसार या अभियानों के क्रम के अनुसार लिखने की प्रथा** प्रचलित हुई। यह प्रथा चौदहवीं शताब्दी ई० पू० में अस्तित्व में आ चुकी थी। सारगोनी युग में अभिलेख लिखवाने वाले राजा के शासन काल के प्रत्येक वर्ष अथवा प्रत्येक अभियान का **अलंकृत शैली** में विवरण दिया जानेलगा।

सेनाक्रेरिब और असुरबनिपाल के **त्रिपार्श्व (प्रिज़्म) अभिलेख** इसी प्रकार के हैं। अभिलेख लिखने की यह विशिष्ट **'असीरियन' शैली** थी। इसमें बैबिलोनियन 'भवन-अभिलेखों और 'हित्ती-ऐतिहासिक अभिलेखों' (पृ० १९४) दोनों की विशेषताएँ आ गई थीं।

असीरिया का पतन

असुरबनिपाल के उत्तराधिकारी

असुरबनिपाल के समय दुर्बलता के चिह्न : अन्त का प्रारम्भ—असुरबनिपाल के शासन काल में असीरियन साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर था। इतने बड़े साम्राज्य पर शासन करने का सौभाग्य (या दुर्भाग्य?) अभी तक किसी व्यक्ति को प्राप्त नहीं हुआ था। परन्तु उसके शासन काल के अन्तिम दिनों में **पतन के चिह्न** स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने लगे थे। **मिस्र पहले ही स्वतन्त्र** हो गया था (लगभग ६५१ ई० पू०)। उत्तर में उरतु राज्य की शक्ति घट जाने के कारण **बर्बर जातियों का दबाव** बढ़ता जा रहा था जिससे राजकोप और सेना की शक्ति कम होती जा रही थी। उसकी मृत्यु के कुछ पहले सीथियनों ने आरमीनिया से लेकर मिस्र तक का प्रदेश रौंद डाला था। मिस्र के स्वतन्त्र फराओ ने उन्हें धन देकर बड़ी कठिनाई से अपनी रक्षा की थी। उत्तर-पूर्व में भी उवक्षत्र (सियक्सीज) के नेतृत्व में **मीडिया में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना** हो गई थी (६३० ई० पू०), और वह क्रिम्मरियनों और सीथियनों की सहायता से असीरिया पर आक्रमण करने का अवसर ढूँढ़ रहा था। दक्षिण में एलम के राजनीतिक रंगमंच से विलुप्त हो जाने से **ईरान की नवोदित जातियों** को रोकने वाली कोई शक्ति नहीं रह गई थी। अगर यूनानी साक्ष्य का विश्वास किया जाय तो खुद असुरबनिपाल के शासन काल में, ६३४ ई० पू० और ६३० ई० पू० में, निनेवेह पर आक्रमण हुए थे, यद्यपि तब असीरिया के शत्रुओं को उसके विरुद्ध सफलता नहीं मिल पाई थी।

निनेवेह का पतन—६२५ ई० पू० में असुरबनिपाल की मृत्यु होते ही साम्राज्य-विघटन की प्रक्रिया बलवती हो गई। बैबिलोन में असुरबनिपाल की मृत्यु के अगले वर्ष विद्रोह हुआ और **कैल्डियन गवर्नर नेबोपोलस्सर ने** स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। असुरबनिपाल के निकम्मे उत्तराधिकारियों में इतनी शक्ति नहीं थी कि वे साम्राज्य के इस विघटन को रोक सकें। ६१५ ई० पू० में **नेबोपोलस्सर तथा उवक्षत्र ने असीरिया के विरुद्ध संघ** बनाया और उसी वर्ष उस पर आक्रमण कर दिया। ६१२ ई० पू० में निनेवेह का पतन हुआ

और असुरबनिपाल के अन्तिम उत्तराधिकारी को प्राणों से हाथ धोने पड़े। **मीडिया और बैबिलोन ने असीरियन साम्राज्य को आपस में बाँट लिया।** पश्चिमी प्रदेश, कार्शेमिश और हर्रान इत्यादि नगर तथा उत्तर में अशुर तक का प्रदेश बैबिलोन को मिले तथा शेष असीरिया और उत्तरी प्रान्त मीडिया को। कई शताब्दी पश्चात् कैल्डियन नेतृत्व में बैबिलोन पुनः पश्चिमी एशिया की राजनीति का केन्द्र बना।

असीरिया के पतन की पूर्णता—असीरियनों का विनाश उनके जातीय वैशिष्ट्य के अनुरूप ही हुआ। जिस प्रकार उन्होंने सूसा और बैबिलोन इत्यादि नगरों को विध्वस्त किया था उसी प्रकार, वरन् उससे कहीं अधिक पूर्णता के साथ, विजेताओं ने निनेवेह का विध्वंस किया। उसका भव्य राजप्रासाद जिसे असुरबनिपाल ने कुछ वर्ष पूर्व ही बनवाया था, उसके गौरवशाली मन्दिर और विदेशी व्यापारियों से परिपूर्ण बाजार और असुरबनिपाल का अप्रतिम पुस्तकालय जिसमें स्थान-स्थान से लाकर सहस्रों अभिलेखों की प्रतियाँ संगृहीत की गई थीं, अतीत की कहानी हो गए। सेनाक्रेरिब के राजप्रासाद के निकट अवस्थित ईश्तर का मन्दिर, जिसका वैभव एक मुहावरा था, धूलधूसरित हो गया और उसकी सैकड़ों वर्ष पुरानी मूर्त्ति खण्डित कर दी गई। असुरबनिपाल के राजप्रासाद के समीप बना नेबू का मन्दिर जिसको ईश्तर के मन्दिर के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था, नष्ट कर दिया गया। निनेवेह के नागरिकों का सामूहिक वध हुआ और असुरबनिपाल के उत्तराधिकारी ने जलते राजप्रासाद की लपटों में प्राण त्याग कर अपने सम्मान की रक्षा की। संक्षेप में, निनेवेह की भव्यता और चहल-पहल खण्डहरों की कुरूपता और श्मशान की शान्ति में परिवर्तित हो गए। सातवीं शताब्दी ई० पू० में निनेवेह नगर विश्व का स्वामी था परन्तु इसके दो सौ वर्ष पश्चात् जब एक्जनाफन उसके पास से गुजरा तो उसने वहाँ 'लरिस्सा' नगर के खण्डहर देखे जहाँ 'प्राचीन काल में मीड जाति' निवास करती थी (पृ० २१४)। केवल दो सौ वर्षों में निनेवेह का नाम तक लोगों को विस्मृत हो चुका था। सम्भवतः विश्व में इतना पूर्ण और दुःखद अन्त किसी अन्य नगर का नहीं हुआ।

असीरिया के पतन के कारण

प्रान्तीय व्यवस्था के दोष—असीरियन साम्राज्य की दुर्बलता के प्रमुख कारण प्रान्तीय शासन-व्यवस्था के दोष, राजपरिवार और पुजारी वर्ग का सतत संघर्ष और असीरियन जाति की क्रूरता थे। प्रारम्भ में असीरियन सम्राटों ने

विजित राज्यों को स्थायी रूप से साम्राज्य के प्रान्तों के रूप में संगठित करने का कष्ट नहीं उठाया। वे वहाँ लूटपाट करके ही सन्तुष्ट हो जाते थे। इसके फलस्वरूप उनके लौटते ही वे राज्य विद्रोह कर देते थे। तिगलथपिलेसर तृतीय के समय से कुछ राज्यों को प्रान्तों के रूप में परिणत करने की नीति अपनाई गई। इससे स्थिति कुछ सुधरी परन्तु पूरी तरह नहीं। इसका कारण था असीरियनों का प्रान्तों के साथ अनुचित व्यवहार। उन्होंने प्रान्तों से करों और सैनिक सेवा के रूप में बहुत कुछ लिया और आवश्यकता पड़ने पर **एक प्रदेश की आबादी को दूसरे प्रदेशों में बसा दिया।** उदाहरणार्थ सारगोन ने यहूदियों को मीडिया में और असुरबनिपाल ने एलमियों को थीबिज में तथा मिस्रियों को एलम में बसाया। परन्तु उन्होंने कभी यह महसूस नहीं किया कि उनका भी प्रान्तों के प्रति कुछ कर्त्तव्य है। इसलिए वे विजित राज्यों की सहानुभूति कभी प्राप्त नहीं कर सके।

सैनिक और धार्मिक दलों का सतत संघर्ष—असीरिया की आन्तरिक-व्यवस्था में भी बहुत से दोष थे। एक, असीरिया में प्रारम्भ से ही **दो दल** थे—सैनिक और धार्मिक। प्रत्येक सम्राट् के लिए यह आवश्यक रहता था कि वह इन दोनों दलों का सहयोग प्राप्त करे, क्योंकि **सैनिक दल** के सहयोग के बिना अगर साम्राज्य की स्थापना असम्भव थी तो **धार्मिक दल** के सहयोग के बिना उसे स्थायी नहीं बनाया जा सकता था। परन्तु इन दोनों दलों में मेल रखना लगभग असम्भव था। तिगलथपिलेसर तृतीय ने सैनिक दल की सहायता से साम्राज्य का निर्माण किया। सारगोन के समय धार्मिक दल का प्रभाव बढ़ा। धार्मिक दल की भी दो शाखाएँ थीं : **एक अशुर का दल** और दूसरा मर्दुक का। मर्दुक बैबिलोनिया का प्रमुख देवता था परन्तु उसे बहुत से असीरियन भी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। इसलिए प्रत्येक बुद्धिमान असीरियन सम्राट् बैबिलोन को अधिकृत करके भी **मर्दुक के पुजारियों** के अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करता था। सारगोन के पुत्र सेनाक्रेरिब ने बैबिलोन को विध्वस्त करके और मर्दुक को अशुर का अनुचर घोषित करके मर्दुक-दल की सहानुभूति खो दी। एसरहद्दोन ने राज्यारोहण करते ही इस भूल को सुधारा। इससे स्पष्ट है कि असीरियन सम्राटों को सदैव सैनिक और धार्मिक दलों के बीच सन्तुलन रखना पड़ता था। इसमें उनकी बहुत सी शक्ति व्यय हो जाती थी।

आर्थिक व्यवस्था का दोष—असीरियन आन्तरिक-व्यवस्था का दूसरा प्रमुख दोष उनके आर्थिक जीवन से सम्बन्धित है। **असीरियन आर्थिक जीवन का मेरुदण्ड व्यापार न होकर** कृषि-कर्म था। परन्तु असीरियन सम्राटों के

निरन्तर चलनेवाले युद्धों से यह मेरुदण्ड टूट गया। असीरियन सेनाओं को अधिकांश सैनिक इसी वर्ग से मिलते थे। इसलिए ज्यों-ज्यों युद्धों की संख्या बढ़ती गई, कृषकों की संख्या घटती गई। एक समय ऐसा आया जब **असीरियन राज्य का आर्थिक जीवन लगभग पूर्णतः लूट-पाट पर निर्भर हो गया।** यह व्यवस्था तभी तक चल सकती थी जब तक असीरियन सेनाएँ निरन्तर लड़ती और विजय प्राप्त करती रहतीं। उनके एक बार पराजय होने पर ही असीरियन आर्थिक-व्यवस्था धराशायी हो सकती थी, और यही हुआ भी।

असीरियन क्रूरता—प्रान्तों की सहानुभूति को खो देने का एक और कारण असीरियनों की क्रूरता थी। असीरियनों ने विजित राज्यों को भयभीत रखने के लिये उन पर **अकल्पनीय अत्याचार किये। परन्तु इससे विरोध कम होने के स्थान पर बढ़ता गया।** यह जानते हुए भी कि पराजित होने पर सम्पूर्ण नगर को जला दिया जाएगा और नागरिकों को अकथनीय अत्याचार सहने होंगे, अधिकांश स्थानों पर असीरियनों के विरुद्ध विद्रोह कम नहीं हुए। ज्यों-ज्यों असीरियनों के अत्याचार बढ़ते गए, प्रतिरोध की मात्रा और प्रतिरोधियों की संख्या में भी वृद्धि होती गई। अन्त में असीरियनों को अपनी इस अमानुषिक नीति का दुःखद परिणाम भुगतना पड़ा; क्योंकि जैसे ही उनके शत्रु कैल्डियनों और मीडों को उन्हें एक बार निर्णायक रूप से पराजित करने में सफलता मिली उन्होंने उनसे उनकी क्रूरता का भयंकर प्रतिशोध लिया और अपने क्रोध की ज्वाला में केवल असीरियन नगरों को ही नहीं, असीरियन जाति और सभ्यता को भी समूल नष्ट कर दिया।
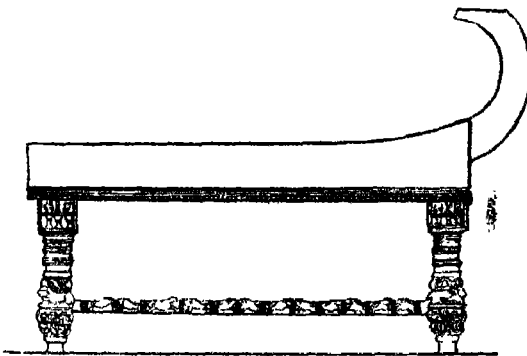
इस पृष्ठ पर असुरबनिपाल की शय्या का चित्र दिया गया है। इसका निर्माण सम्भवतः फिनीशियनों ने किया था।

८

असीरियन साम्राज्य के प्रतिस्पर्द्धी और शत्रु

"And it came to pass that night, that the angel of the Lord went out, and smote in the camp of the Assyrians an hundred four score and five thousand : and when they arose early in the morning, behold, they were all dead corpses."

—*Kings* 19,35.

नई सेमेटिक जातियाँ—प्रारम्भिक असीरिया (पृ० १६७-७०) के समकालीन राज्यों के शासक—हित्ती, मितन्नियन और कसाइट—अर्ध-आर्य थे। उनका उत्थान पश्चिमी एशिया में आर्यों के प्रसार का प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। परन्तु यह प्रयास असफल रहा। धीरे-धीरे, १२वीं शताब्दी ई० पू० तक, इन सब राज्यों का अन्त हो गया और **पश्चिमी एशिया पुनः सेमेटिक जातियों के हाथ में चला गया।** असीरियन साम्राज्य के प्रसार को रोकने की चेष्टा करने वाली अधिकांश जातियाँ, जैसे यहूदी (अध्याय ९), फिनीशियन, ऐरेमियन तथा **कैल्डियन** (अध्याय १०) सेमेटिक ही थीं।

इस पृष्ठ के ऊपर फिनीशियन पुरुषों की पोशाक 'कीटोन' का चित्र दिया गया है। इस पोशाक को बाद में यूनानियों ने अपनाया।

फिनीशियन जाति और सभ्यता

फिनीशियनों का आविर्भाव—सम्भवतः फिनीशियन मूल रूप से **केनानी जाति का ही एक** अंग थे। १२०० ई० पू० के पश्चात् मिस्र के एशियाई साम्राज्य का पतन और क्रीट की नाविक शक्ति का अन्त हो जाने पर उन्होंने लेबनान की पहाड़ियों और भूमध्यसागर के मध्य अवस्थित प्रदेश पर अधिकार कर लिया। उनके **टायर, सीडोन** और **बाइबिलोस** नगरों की सैनिक शक्ति अधिक नहीं थी परन्तु व्यापारिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ये प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध में पश्चिमी एशिया के प्रमुख नगरों में गिने जाते थे। इनकी **शासन-व्यवस्था** राजतन्त्रात्मक थी परन्तु वास्तविक सत्ता स्थानीय धनी परिवारों के हाथ में रहती थी। **टायर इनमें सबसे** अधिक शक्तिशाली था, जब कि **बाइ-बिलोस** का महत्त्व धार्मिक केन्द्र के रूप में भी था। **सीडोन नगर** टायर से बीस मील उत्तर और बाइबिलोस से ५० मील दक्षिण की ओर स्थित था। चौरस मैदान में बसा होने के कारण यह अधिक विस्तृत परन्तु आक्रमणकारियों के लिए सुलभ था। जब ईरानियों ने इस पर अधिकार किया, तो इसके स्वाभिमानी अधिकारियों ने इसमें आग लगा दी। चालीस सहस्र व्यक्ति इसमें जलकर मर गए। परन्तु कुछ कालोपरान्त इसका पुनरोदय हो गया।

राजनीतिक इतिहास—फिनीशियनों का इतिहास उनके नगरों का इति-हास है। प्राक्-अलेक्जेन्डर यूनानियों की तरह वे भी अपने को एकता के सूत्र में कभी आबद्ध न कर सके। उनके **चरमोत्कर्ष** का युग दसवीं शताब्दी ई० पू० से सातवीं शताब्दी ई० पू० तक रहा। इस युग में टायर में **हिराम** नामक प्रतापी राजा हुआ। पुरानी बाइबिल से ज्ञात होता है कि वह डेविड और सोलोमन नामक यहूदी राजाओं का घनिष्ठ मित्र था। कुछ समय पश्चात् फिनीशियनों को असीरियन आक्रमणों का सामना करना पड़ा। यद्यपि वे कई बार असीरियन सम्राटों को कर देने को मजबूर हुए, लेकिन उन्होंने उनका प्रभुत्व कभी स्थायी रूप से स्वीकृत नहीं किया। उल्टे उन्होंने असीरिया के सम्पर्क से लाभ उठाया। अब शान्तिपूर्ण समय में फिनीशियन व्यापारियों को मेसोपोटामिया के बाजारों से व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव हो गया। असीरिया का पतन होने पर फिनीशियनों को **मिस्री और कैल्डियन आक्रमणों का** सामना करना पड़ा, जिससे उनकी शक्ति शनैः शनैः घटने लगी। इससे लाभ उठाकर **ईरानियों और उनके बाद यूनानियों** ने उन पर अधिकार कर लिया।

फिनीशियन धर्म—धार्मिक दृष्टि से फिनीशियन बहुदेववादी और चेतन-वादी थे। अर्थात् वे पृथिवी पर स्थिति प्रत्येक वस्तु—पर्वत, नदी, पशु, पक्षी आदि को दैवी शक्ति से युक्त मानते थे। इन दैवी शक्तियों या देवताओं को **'बाल'** कहा जाता था। हर नगर का एक प्रमुख 'बाल' होता था। टायर नगर के बाल को **'मेलकार्थ'** कहा जाता था। देवियों में सर्वप्रमुख स्थान **एस्तार्त** अथवा ऐस्तोरेथ (ईश्तर) को प्राप्त था। वह कहीं सतीत्व की संरक्षिका मानी जाती थी और कहीं दाम्पत्य प्रेम की प्रतीक। अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न रखने के लिए वे जिन उपायों का अवलम्बन करते थे उनमें पशुबलि, मानव-शिशुबलि और दुग्ध, मक्खन, तेल तथा सुरा आदि की भेंट चढ़ाना उल्लेखनीय हैं।

फिनीशियन नाविक एवं व्यापारी—फिनीशिया डेढ़ सौ मील लम्बा परन्तु अत्यन्त संकीर्ण प्रदेश था। यह खाद्यान्न उत्पन्न करने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त परन्तु **व्यापार के लिए आदर्श था।** लेबनान की पर्वतमाला पूर्व से
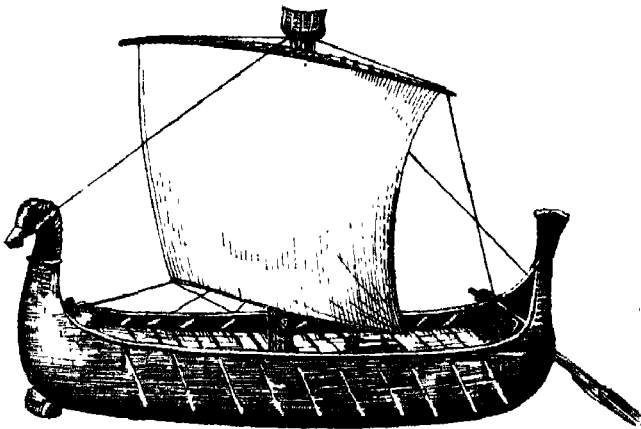
चित्र ७० : एक फिनीशियन जलपोत

आने वाले आक्रमणकारियों से फिनीशियनों की रक्षा ही नहीं करती थी वरन् उन्हें जहाज़ बनाने के लिए देवदार जैसी मजबूत लकड़ी, बहुमूल्य खनिज पदार्थ तथा ऐसी नदियाँ भी प्रदान करती थी जिनकी तलहटी में जैतून और शराब की खेती सम्भव थी। फिनीशियन पश्चिमी समुद्रतट से मछली और घोंघे पकड़ते थे और उन्हें कूट पीस कर ऐसे पक्के रंग बनाते थे जिनमें रंगे हुए वस्त्रों की तत्कालीन सभ्य विश्व में माँग थी। इन सुविधाओं के कारण वे शीघ्र ही

कुशल नाविक और व्यापारी बन गए। मिनोअन और मिस्री साम्राज्यों के पतन के पश्चात् तो वे सम्पूर्ण भूमध्यसागरीय प्रदेश की सर्वाधिक प्रगतिशील और शक्तिशाली व्यापारी जाति माने जाने लगे। सत्तर फुट तक लम्बे परन्तु संकीर्ण और अपेक्षया कम ऊँचे पालदार जलयानों (चि० ७०) के कारण फिनीशियन **तत्कालीन विश्व में आधुनिक अंग्रेज़ों और जापानियों की तरह महत्त्वपूर्ण हो** उठे। उस समय तक दिशा-सूचक-यन्त्र का आविष्कार नहीं हुआ था फिर भी उन्होंने, वास्कोडिगामा के लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व ही, **उत्तमाशा अन्तरीप तक यात्रा** कर ली थी।

सामुद्रिक मार्ग के अतिरिक्त फिनीशियन **स्थल-मार्ग से भी व्यापार करते थे**। उनके कारवाँ पूर्व में फारस की खाड़ी और उत्तर-पूर्व में कैस्पियन समुद्र तक जाते थे। अपने नगरों में बने बर्तनों, गहनों और रंगीन कपड़ों के अतिरिक्त वे अरब से सुगन्धित इत्र तथा तेल, भारत से मसाले तथा हाथीदाँत, मिस्र से रूई, अफ्रीका से स्वर्ण, स्पेन से खाद्यान्न, यूनान से ताँबा, टीन और संगमरमर तथा काकेशस से खनिज पदार्थों और दासों का एवं अन्य अनेक पदार्थों का व्यापार करते थे।

फिनीशियन शिल्पकला—फिनीशियन कुशल व्यापारी होने के साथ निपुण शिल्पी और दस्तकार भी थे। **जहाज़ बनाने की कला में** वे अत्यन्त कुशल थे। **मिस्रियों से** उन्होंने शीशे के बर्तन तथा पॉलिशदार मृद्भाण्ड बनाना, कपड़ा बुनना और रंगना तथा धातुओं को ढालकर और पीट कर बर्तन और आभूषण बनाना और उन पर नक्काशी करना इत्यादि कलाएँ सीखी थीं। मिस्र के अतिरिक्त उन्होंने **सभी पश्चिमी एशियाई देशों से** अपनी कलाकृतियों को सजाने के लिए डिजाइन ग्रहण किये। इसीलिए वे अन्य देशों में अपनी कलात्मक और व्यापारिक कुशलता के लिए प्रसिद्ध हो गए। **असीरियन सम्राटों ने** उनके कलाकारों को अपने राजप्रासादों के फर्नीचर और धातु की कलाकृतियाँ बनवाने के लिए बुलाया (पृ० २५२, चि० और फु० नो०) तो यहूदी राजा सोलोमन ने **येरूसलम के मन्दिर के निर्माण-कार्य में सहायता** देने के लिए। १००० ई० पू० के बाद कई शताब्दियों तक फिनीशियन कलाकार और शिल्पी असीरिया से लेकर इटली तक के देशों को अपनी कलाकृतियों से सजाते रहे।

फिनीशियनों का सांस्कृतिक कड़ी के रूप में कार्य—फिनीशियनों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क से उन सभी देशों को लाभ हुआ जिनके साथ उन का सम्बन्ध था। उदाहरणार्थ **यूनानी**, जो इस समय तक सभ्यता के क्षेत्र में

पिछड़े हुए थे, फिनीशियन व्यापारियों के द्वारा फिनीशिया और अन्य पूर्वी देशों में निर्मित **कला-कृतियों और शृंगारोपकरणों** से परिचित हुए। मिस्र की शीशे और श्वेत पाषाण की कलात्मक बोतलें, सीडोन और टायर में निर्मित फर्नीचर, एवं कांस्य तथा रजत की मनोहर तश्तरियाँ और हाथी-दाँत के सुन्दर कंघे (चित्र ७१) धनी यूनानी नागरिकों के घरों की शोभा बढ़ाने लगे। इतना ही नहीं उन्होंने फिनीशियनों की **कीटोन** नामक पोशाक (चि० ६९) को भी अपनाया। फिनीशियनों द्वारा निर्यात किए हुए फर्नीचर और रजत तथा कांस्य की तश्तरियों और थालों पर यूनानियों ने **विविध देशों के कलाचिह्न** देखे—जैसे असीरियन जीवन-वृक्ष और मिस्री स्फिंक्स् इत्यादि। यह भी असम्भव नहीं है कि यूनानियों ने ईजियन द्वीपों में फिनीशियनों की फैक्टरियों में श्रमिकों के रूप में काम किया हो और इन सब कला-कृतियों के **निर्माण की तकनीक** सीखी हो।

चित्र ७१ : एक फिनीशियन कंघा

फिनीशियन वर्णमाला—फिनीशियनों ने शिल्प की तकनीक तथा कीटोन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण एक अन्य देन यूनानियों और यूनानियों के माध्यम से यूरोप को दी। यह देन थी **वर्णमाला** का ज्ञान। सम्भवतः इस समय तक इससे बढ़कर कोई अन्य देन एशिया ने यूरोप को नहीं दी थी। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में (लगभग १३०० ई० पू०) पश्चिमी प्रदेशों के सेमाइटों ने मिस्री चित्राक्षर (हाइरोग्लाइफिक) लिपि के आधार पर एक वर्णमाला का आविष्कार किया था। फिनीशियनों ने इसे अपना लिया। इसमें कुल **२१ वर्ण** थे। ये सब व्यंजन थे। स्वरों के लिए इसमें कोई चिह्न नहीं था; वे अलिखित रहते थे। यह लिपि बैबिलोन की कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) लिपि से अधिक सुविधापूर्ण थी। फिनीशियनों ने इन वर्णों को एक निश्चित क्रम से रखा जिससे प्रत्येक वर्ण को एक नाम दिया जा सके और विद्यार्थी को उन्हें याद करने में सुविधा हो। जिस प्रकार विद्यार्थी-शिशु हिन्दी में 'क' के लिए कबूतर और 'ख' के लिए खरगोश इत्यादि चिह्न याद करता है उसी प्रकार उनकी वर्णमाला में प्रथम वर्ण के लिए अलिफ (=बैल) और दूसरे के लिए बेथ(=मकान) चिह्न थे। इसी प्रकार अन्य सब वर्णों के लिए चिह्न नियत थे। जब फिनीशियन शिशु अपनी वर्णमाला याद करता था तब 'अलिफ', 'बेथ' इत्यादि कहता था।

इन्हीं दो शब्दों से पूरी वर्णमाला के लिए अंग्रेजी में **ऐल्फेबेट शब्द बना है**। भारत में उर्दू भाषा अभी तक अरबी लिपि में लिखी जाती है, इसलिए उसकी वर्णमाला के याद करने में प्रयुक्त होने वाले अलिफ बे इत्यादि शब्द इस देश के निवासियों को भी फिनीशियनों की देन का स्मरण करा देते हैं।

वर्णमाला के साथ फिनीशियनों ने **पेन, स्याही, पेपाइरस** इत्यादि उपकरणों का भी प्रचार किया। पेपाइरस मिस्र में पैदा होता था, परन्तु लेखन-कार्य में इसकी सर्वत्र आवश्यकता होती थी। यूनानी भी फिनीशियन व्यापारियों द्वारा पेपाइरस आयात करते थे। वे इसे 'पेपाइरोस' कहते थे। इससे अंग्रेजी भाषा का 'पेपर' शब्द बना है। **पेपर** का निर्माण करने वाले व्यापारी अधिकांशतः फिनीशियन नगर बाइबिलोस से आते थे, इसलिए यूनानी भाषा में 'पेपर' के लिए 'बाइबिलोस' शब्द का भी प्रयोग होता था। बाइबिलोस शब्द से ही यूनानी भाषा में **बिबिलिया** (पुस्तक) और 'बिबिलिया' से **बाइबिल** शब्द बने।

फिनीशियन उपनिवेश—मिस्री साम्राज्य के पतन और क्रीट के विनाश के पश्चात् फिनीशियनों ने अपनी जलशक्ति का उपयोग **उपनिवेश** स्थापित करने में भी किया। इस दृष्टि से उनका इतिहास आधुनिक इंग्लैण्ड के इतिहास से साम्य रखता है। अंग्रेजों के समान फिनीशियनों ने भी विदेशों के साथ **अवसरवादी नीति** का प्रयोग किया। मिस्र जैसे सभ्य और शक्तिशाली देशों से वे केवल व्यापार सम्बन्ध स्थापित करके सन्तुष्ट हो जाते थे परन्तु निर्बल और अर्धसभ्य देशों को वे अपने नियन्त्रण में रखने का प्रयास करते थे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे वहाँ अपनी कोठियों, मन्दिरों और दुर्गों का निर्माण करते थे। यही केन्द्र शनैः शनैः समृद्ध उपनिवेशों के रूप में परिणत हो गए। इनमें अफ्रीका के भूमध्यसागरीय तट पर स्थित **कार्थेज**, सिसली का **पालेर्मो** तथा स्पेन का **कैडिज** प्रमुख हैं। इनमें **कार्थेज सबसे शक्तिशाली** था जो कुछ ही समय में **'भूमध्य-सागर की रानी'** बन बैठा। इसे टायर नरेश हिराम के उत्तराधिकारियों ने बसाया था। फिनीशिया के पतन के पश्चात् यह न केवल अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए रहा वरन् भूमध्यसागरीय-जगत् पर अपना नियन्त्रण बनाए रखने के लिए इसने रोम से भयानक संघर्ष भी किया जिसका विवरण इस पुस्तक के दूसरे भाग में किया जाएगा।

ऐरेमियन जाति

ऐरेमियनों का आविर्भाव—जिस प्रकार वर्णमाला का प्रचार फिनी

शियनों ने पश्चिमी देशों में किया उसी प्रकार ऐरेमियनों ने पूर्वी देशों में। ऐरेमियनों ने **१६वीं शताब्दी ई० पू०** में पश्चिमी एशिया में प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया था। १२वीं शताब्दी ई० पू० तक उत्तर में हित्ती, दक्षिण में मिस्री और पूर्व में बैबिलोनियन सभ्यताओं से प्रभावित होकर उन्होंने **सीरिया में सुसंस्कृत और शक्तिशाली राज्य** स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। सीरिया उनका मुख्य क्रीड़ास्थल था, इसलिए उन्हें **'सीरियन'** भी कहा जाता है। उनके नगरों में दमिश्क सब से बड़ा था।

व्यापारिक सभ्यता—ऐरेमियन जाति कभी एक राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं हो पाई, परन्तु उसके **व्यापारिक सम्बन्ध** लगभग समस्त पश्चिमी एशियाई देशों के साथ थे। असीरियन बाजारों में ऐरेमियन व्यापारी पर्याप्त संख्या में दृष्टिगोचर होते थे। निनेवेह के उत्खनन में बहुत से **ऐरेमियन कांस्य भार** और **ऐरेमियन भाषा में उत्कीर्ण अभिलेख** प्राप्त हुए हैं।

ऐरेमियन लिपि और भाषा—ऐरेमियनों की सभ्यता बहुत ही समुन्नत थी। १००० ई० पू० के पूर्व ही **ऐरेमियन वर्णमाला** का प्रयोग कर रहे थे, जिसे उन्होंने सम्भवतः फिनीशियनों से प्राप्त किया था। जिस प्रकार प्राचीन काल में बैबिलोनियन व्यापारियों ने कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) लिपि को समस्त पश्चिमी एशिया में लोकप्रिय बनाया था उसी प्रकार ऐरेमियन व्यापारियों ने अपने बिल, रसीद, हुण्डी, इत्यादि पत्रों में प्रयोग करके नई लिपि को। धीरे-धीरे समस्त पश्चिमी एशिया में कीलाक्षर लिपि के स्थान पर फिनीशियन-ऐरेमियन लिपि प्रयुक्त होने लगी। इस लिपि के साथ **ऐरेमियन भाषा** का भी प्रचार हुआ और कम से कम बैबिलोनिया के पश्चिम में यह खूब लोकप्रिय हो गई। असीरियन नगरों में धीरे-धीरे ऐरेमियन भाषा-भाषी व्यक्तियों की संख्या असीरियन भाषा-भाषियों से भी अधिक हो गई। अतः वहाँ सार्वजनिक कार्यों में असीरियन और ऐरेमियन दोनों भाषाओं का प्रयोग होने लगा। सरकारी कार्यालयों में **ऐरेमियन क्लर्कों की नियुक्ति** होने लगी। बहुधा एक ही कार्यालय में एक व्यक्ति पेपाइरस पर पेन और स्याही से ऐरेमियन भाषा और लिपि में लिखता था और दूसरा व्यक्ति मिट्टी की पाटियों पर असीरियन भाषा को कीलाक्षर लिपि में। ऐरेमियन भाषा का यहूदी राज्यों में भी प्रचार हुआ। उत्तर में यह पश्चिमी एशिया माइनर तक पहुँची। वहाँ के सार्डिस नगर में इस भाषा में लिखा हुआ एक अभिलेख मिला है।

फ्रीगियन और लीडियन राज्य

फ्रीगिया राज्य—प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में बासफोरस

जलडमरूमध्य द्वारा यूरोप से फ्रीगियन नामक जाति ने अनातोलिया में **प्रवेश** किया। **फ्रीगियन इन्डो-यूरोपियन परिवार के सदस्य** थे। उन्होंने हित्ती धर्म और सभ्यता की अवशिष्ट परम्पराओं को अपना लिया। हित्तियों के समान वे भी मातृशक्ति और उसके प्रेमी देवता के उपासक थे। उन्हें वे क्रमशः **साइबिल और अतिस** कहते थे। उनकी मातृशक्ति के पुजारियों के लिए खुद को नपुंसक करना आवश्यक होता था। फ्रीगियनों का सर्वाधिक प्रसिद्ध राजा **मीडास** (७१५ ई० पू०) हुआ जिसने अपना राज्य हैलिस नदी तक विस्तृत किया और अपार सम्पत्ति एकत्र की। सम्भवतः यही वह विश्वविश्रुत मीडास है जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि उसके छूने से प्रत्येक वस्तु सोना हो जाती थी। फ्रीगियनों ने अनातोलिया में असीरियन प्रसार को रोकने में काफी सफलता प्राप्त की, लेकिन सातवीं शताब्दी ई० पू० में पश्चिमी अनातोलिया में लीडिया नामक एक अन्य राज्य के उत्कर्ष और बर्बर जातियों के आक्रमणों के कारण उनकी शक्ति का अन्त हो गया।

लीडिया राज्य—लीडिया राज्य की राजधानी **सार्डिस** थी। उसके शासक बुद्धिमान थे। उन्होंने खुद को असीरिया के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष में नहीं फँसाया। इस राज्य का सब से प्रतापी परन्तु अन्तिम शासक **क्रोयसस** (५७०-५४६ ई० पू०) था। उसके राज्य में लगभग सम्पूर्ण एशिया माइनर सम्मिलित था। उसके समय तक असीरियन साम्राज्य का अन्त और मीडिया का उत्कर्ष हो चुका था तथा एशिया माइनर के पश्चिमी तट पर स्थित **यूनानी उपनिवेश** शक्तिशाली हो गये थे। क्रोयसस ने मीडियन आक्रमण का सफल प्रतिरोध किया और यूनानी उपनिवेशों से अच्छे सम्बन्ध स्थापित किए। परन्तु छठी शताब्दी ई० पू० के मध्य हखामशी सम्राट् **कुरुष महान्** ने मीडिया पर अधिकार करने के बाद क्रोयसस को पराजित कर दिया और एशिया माइनर को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया।

प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास में लीडियन जाति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यूरोप और एशिया को जो व्यापारिक मार्ग जाता था, उस पर इसका नियन्त्रण था। सम्भवतः इसी कारण वह सांस्कृतिक उन्नति और क्रोयसस के शासन काल में **सिक्कों का आविष्कार** कर सकी।

उरर्तु राज्य

उरर्तु राज्य और सभ्यता—उरर्तु राज्य (बाइबिल का अरराट) असीरिया के उत्तर में था। इसकी राजधानी वान इसी नाम की झील के दक्षिण-

पूर्व में थी। यहाँ के निवासियों को असीरियन अभिलेखों में **'खल्दी के पुत्र'** कहा गया है इसलिए इसे बहुधा 'खल्दी राज्य' भी कहा जाता है। उरर्तु राज्य के निवासियों की सभ्यता पड़ोस के सभ्य देशों की सभ्यताओं से प्रभावित थी। विशेषतः हित्ती, बैबिलोनियन और असीरियन सभ्यताओं से।

असीरिया से संघर्ष—उरर्तु जाति का सर्वप्रथम उल्लेख **शल्मनेसर प्रथम** (१३ वीं शताब्दी ई० पू०) के अभिलेखों में हुआ है, परन्तु इसने पश्चिमी एशिया की राजनीतिक गतिविधि में महत्वपूर्ण भाग ९ वीं शताब्दी ई० पू० से लेना प्रारम्भ किया। एक ओर इसने उत्तर की अर्द्धसभ्य जातियों को दजला और फ़रात की उर्वर घाटी में घुसने से रोका तो दूसरी ओर **असीरियन साम्राज्य के विस्तार में बाधा** डाली। असुरनसिरपाल द्वितीय, तिगेलथपिलेसर तृतीय और शल्मनेसर चतुर्थ (७८२-७७२ ई० पू०) ने इसकी शक्ति तोड़ने की चेष्टा की परन्तु असफल रहे। सारगोनी वंश के शासकों को भी उरर्तु ने बहुत परेशान किया था। परन्तु असीरिया के पतन के साथ उरर्तु की शक्ति भी धीरे-धीरे समाप्त हो गई। ईरान के हख़ामशी सम्राटों के शासनकाल में यहाँ इन्डो-यूरोपियन भाषाएँ बोलने वाली जातियाँ बस गई, नगरों के नाम बदल गए और यह प्रदेश उरर्तु के स्थान पर आरमीनिया कहलाने लगा।

उत्तर की बर्बर जातियाँ और पूर्व के मीड

उरर्तु के उत्तर और कालासागर के तटवर्ती प्रदेश में बर्बर सीथियनों और क़िम्मरियनों का निवास था। वे लगभग एक सी भाषाएँ बोलते थे। अपने पड़ोसी राज्यों के लिये वे सदैव भय का कारण बने रहते थे। प्रारम्भ मे वे उरर्तु के कारण असीरिया को हानि नहीं पहुँचा सके परन्तु बाद में उन्होंने **उरर्तु की शक्ति तोड़ने में सफलता** प्राप्त कर ली। इसके बाद उनका एक भाग मीडिया चला गया और दूसरा एशिया माइनर। एशिया माइनर में उन्होंने फ्रीगियन राज्य का अन्त करके **मीडास को आत्म हत्या करने के लिए बाध्य** किया। तत्पश्चात् उन्होंने लीडिया के नवोदित राज्य को पराजित करके वहाँ के राजा **गाइगीज़ को मार डाला**। असीरियन साम्राज्य के अन्तिम दिनों में उन्होंने पश्चिम में बहुत उत्पात मचाया। असीरियनों की बहुत सी शक्ति तो उन्हें रोकने में ही नष्ट हो गई, फिर भी उन्हें उनके प्रतिरोध में पूर्ण सफलता नहीं मिली। असुरबनिपाल ने उन्हें एशिया माइनर के दक्षिण पूर्व में स्थित साइलिशिया में पराजित करने में सफलता प्राप्त की, परन्तु उसकी वृद्धावस्था में और उसकी मृत्यु के बाद उन्होंने पुनः शक्ति संचित कर ली और

असीरिया से लेकर मिस्र तक के विशाल भू-प्रदेश को रौंद डाला (लग० ६३०—६१० ई० पू०)। मिस्र के फ़ाराओ ने धन देकर अपनी रक्षा की। अन्त में पश्चिमी ईरान के **मीडियन आर्यों** ने, जो असीरिया का विनाश करके शक्तिशाली हो गए थे, इन बर्बर लुटेरों को पराजित करके और पुनः उत्तर की ओर लौटने को बाध्य करके सभ्य विश्व को इनके आतंक से मुक्त किया।

बैबिलोनिया और क़ैल्डियन जाति

कसाइट वंश के पतन से लेकर ७३२ ई० पू० में असीरियन आधिपत्य स्थापित होने तक बैबिलोन में **छः वंशों ने राज्य किया**। इनमें अधिकांश के शासक **क़ैल्डियन** जाति के थे। इन वंशों में सबसे पहला **'पाशे का वंश'** था। इसका सबसे प्रसिद्ध शासक **नेबूशद्रेज़्ज़र प्रथम** था। लगभग १०० वर्षों तक शासन करने के उपरान्त इस वंश का अन्त हो गया। उसके पश्चात् **'समुद्र-राजवंश'** ने २१ वर्ष और **'बाज़ी वंश'** ने २० वर्ष तक राज्य किया। **बाज़ी वंश** बैबिलोन का छठा राज वंश कहलाता है। इसके आधिपत्य का अन्त एलमी आक्रमण के कारण हुआ था। एलमी शासक बैबिलोन को केवल छः वर्ष तक अपने नियन्त्रण में रख सके। उनका वंश बैबिलोन का **सातवाँ राजवंश** कहलाता है। लगभग ९५० ई० पू० में एलमी वंश के पतन से लेकर असीरियन आधिपत्य की स्थापना तक बैबिलोन में **तीन राजवंशों ने और राज्य किया**। इनके अधिकांश शासकों की शक्ति नाममात्र की थी। यद्यपि वे बराबर असीरियनों का प्रतिशोध करते रहे परन्तु इस प्रयास में सफल नहीं हो पाये।

एलम

भौगोलिक स्थिति और देश का नाम—ईरान का दक्षिण-पश्चिमी भाग अधिकांशतः पर्वतीय और अंशतः **करुन नदी** द्वारा सिंचित मैदान है। इसका मैदानी भाग पिछले पाँच हज़ार वर्षों में लगभग १२५ मील बढ़ गया है, क्योंकि करुन नदी आजकल जहाँ गिरती है, प्राचीन काल में उससे १२५ मील उत्तर में गिरती थी। इस प्रदेश को इसके निवासी अपने प्रधान नगर और राजधानी सूसा के नाम पर **अन्सान सुंसुंक**, असीरियन एलम्तु अथवा **एलम** (= पर्वतीय), यूनानी **एलमेज़** और ईरानी **औवज** कहते थे। मध्यकाल में इसे खूज़िस्तान कहा जाने लगा। आजकल यह ईरान के अर्बिस्तान प्रान्त के अन्तर्गत है।

राजनीतिक इतिहास—एलम की सभ्यता बहुत समुन्नत न होते हुए भी **सुमेरियन सभ्यता के बराबर प्राचीन और उससे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थी।**

वस्तुतः भौगोलिक दृष्टि से ईरान का अंग होते हुए भी, हखामशी सभ्यता के उत्कर्ष तक, यह प्रदेश मेसोपोटामियन सांस्कृतिक जगत् का अंग बना रहा। इसके **राजनीतिक इतिहास की विषय-वस्तु** ही मेसोपोटामिया में शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना होने पर उसके प्रभुत्व को मान लेने के लिए मजबूर हो जाना और उसके दुर्बल हो जाने पर स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेना तथा अवसर पाकर खुद सुमेर और अक्काद पर आक्रमण कर देना था। सुमेरियन आख्यानों से ज्ञात होता है कि इसके एक नरेश **हुंबाबा** ने, जिसे सुमेरियनों ने दैत्य कहा है, सुमेर पर आक्रमण करके वहाँ एलमी देवताओं की पूजा प्रचलित कर दी थी। उसका विनाश गिल्गामेश और एनकीडू ने किया (पृ० ४८-४९)। **'सुमेर और अक्काद' युग में** (लग० ३०००-२००० ई० पू०) एलम पिछड़ा हुआ रहा और उसे इयन्नातुम (पृ० ४९), सारगोन (पृ० ५२), नरामसिन (पृ० ५३) तथा दुंगी (पृ० ५५) जैसे सम्राटों के प्रभुत्व को मानने के लिए विवश होना पड़ा। लेकिन बीच-बीच में वह सफल विद्रोह भी करता रहा। बैबिलोन के उत्कर्ष के पूर्व तो उसके राजाओं ने दक्षिणी सुमेर पर अधिकार कर के साम्राज्य-स्थापन के लिए ईसिन राज्य और **हम्मूरबी के साथ संघर्ष** भी किया (पृ० ५६, ११३-१४)। हम्मूरबी के उत्तराधिकारियों को भी वे बराबर परेशान करते रहे। १३ वीं शताब्दी ई० पू० में एलम की शक्ति बहुत बढ़ गई और
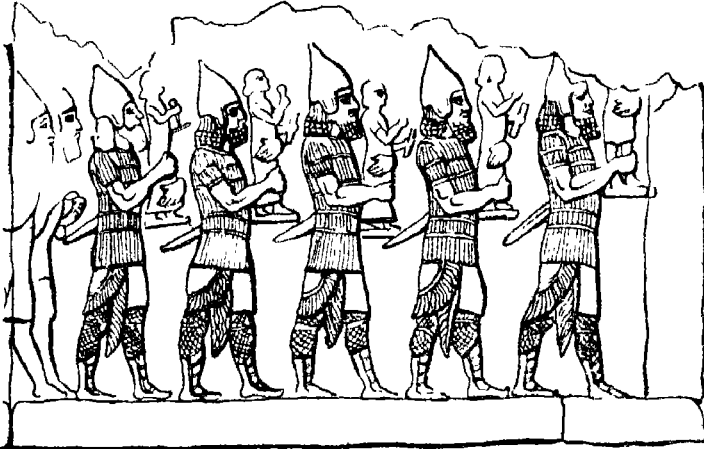
चित्र ७२ : एलमी देवताओं की मूर्तियों को निनेवेह ले जाते हुए असीरियन सैनिक

उसका पहला और अन्तिम साम्राज्य स्थापित हुआ। ११८० ई० पू० में इसके निर्माता **शुत्रुक-नहुन्ते** (१२०७-११७१ ई० पू०) ने बैबिलोन पर आक्रमण

करके कसाइट वंश का अन्त किया, अपने पुत्र को बैबिलोन का गवर्नर नियुक्त किया और नरामसिन-पाषाण और मर्दुक की मूर्त्ति सूसा भिजवा दी। उसके उत्तराधिकारियों के समय एलम की सेनाएँ अशुर तक जा पहुँची।

असीरिया से संघर्ष—लेकिन एलम के इस गौरव का शीघ्र ही अन्त हो गया। यद्यपि इसके बाद उन्होंने एक बार पुनः बैबिलोन को अधिकृत करके छः वर्ष के लिए '**एलमी वंश**' (पृ० २६२) की स्थापना की (१००७–१००१ ई० पू०), लेकिन तत्पश्चात् **असीरिया का उत्कर्ष** हो जाने के कारण उनकी प्रगति रुक गई। लेकिन उन्होंने असीरिया के प्रभुत्व को आसानी से स्वीकृत नहीं किया। सारगोन द्वितीय (पृ० २२०), सेनाक्रेरिब (पृ० २२१) तथा असुर-बनिपाल (पृ० २२२) ने बार-बार उन पर आक्रमण किये, लेकिन वे अवसर पाकर फिर विद्रोह कर देते थे। इससे क्रुद्ध होकर असुरबनिपाल ने उनकी राजधानी को जला दिया, राजा का सिर काट कर निनेवेह भेज दिया और जनता को साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों में बसा दिया। उसने **एलम का विनाश** इतनी पूर्णता से किया कि कुछस मय बाद खुद ईरानी उसके पुराने गौरव को भूल गये।

एलमी सभ्यता—एलमी समाज **काले नेग्रिटो, गोरे तूरानी और सेमेटिक** जनों के मिश्रण से बना था। उनकी अपनी **विशिष्ट राष्ट्रीय संस्कृति** थी, लेकिन वे सदैव सुमेरियन-बैबिलोनियन सांस्कृतिक प्रभाव की परिधि के अन्तर्गत रहे। उनके कुछ अभिलेख उनकी अपनी **चित्राक्षर लिपि** में हैं जो अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी हैं और कुछ कीलाक्षर लिपि में। इनमें सुमेरियन, अक्कादी और एलमी तीनों भाषाओं का प्रयोग हुआ है। उनकी **संख्या-पद्धति** बैबिलोन के समान षष्ठिमूलक न होकर दशमलव-प्रणाली पर आधारित थी। उनके देवसमूह में **शल नाम की देवी और इंशुशिनाक देवता** को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था और उपासना-विधि बैबिलोनियन विधि से सादृश्य रखती थी।

१

यहूदी इतिहास और सभ्यता

And Moses said unto God, Behold, when I come unto the children of Isreal and shall say unto them, The God of your fathers hath sant me unto you; and they shall say to me: What is his name? what shall I say unto them?

And God Said unto Moses: I AM THAT I AM: and he said, thus shalt thou say unto the children of Israel, I AM hath sent me unto you.

—*Exod. iii*, 13-14.

फिलिस्तीन का भूगोल

फिलिस्तीन का भूगोल—यहूदियों का देश फिलिस्तीन 'उर्वर अर्धचन्द्र' का दक्षिण-पश्चिमी सिरा है। यह लगभग १५० मील लम्बी पट्टी है जिसके पूर्व में अरब का रेगिस्तान है और पश्चिम में भूमध्यसागर। इसका कुल **क्षेत्रफल** दस हजार वर्ग मील से भी कम है। इसकी **मुख्य नदी जोर्डन** है जो दक्षिण में मृत्यु-समुद्र (डेड सी) में गिरती है। इसके उत्तरी समुद्र-तट पर कुछ अच्छे बन्दरगाह हैं, परन्तु उन पर यहूदियों के आगमन के पूर्व ही फिनीशियनों (पृ० २५५-५७) ने अधिकार कर लिया था। प्राकृतिक साधनों, जैसे खनिज

इस पृष्ठ के ऊपर फिलिस्तीन के गेज़ेर नामक स्थान से प्राप्त एक यहूदी पाषाण-अभिलेख (लगा० ९०० ई० पू०) का चित्र दिया गया है। इसमें एक किसान के वार्षिक कार्यक्रम का विवरण लिखा है, इसलिए इसे 'गेज़ेर का कृषि-पञ्चांग अभिलेख' कहते हैं।

पदार्थ की दृष्टि से यह अत्यन्त निर्धन है। इसका अधिकांश भाग अनुर्वर है, यद्यपि उत्तरी प्रदेश दक्षिण की अपेक्षा अधिक समृद्ध कहा जा सकता है। यहाँ वर्षा केवल शीत ऋतु में और वह भी यत्र-तत्र और बहुत कम होती है तथा कृत्रिम सिंचाई के साधन अनुपलब्ध हैं। इन कारणों से यह देश कृषि-कर्म के लिए बहुत आकर्षक नहीं है। लेकिन अब से तीन सहस्र वर्ष पूर्व यह सम्भवतः इतना अनुर्वर और शुष्क नहीं था। बाइबिल में कई जगह इसे 'दूध और मधु' का का देश कहा गया है। प्रथम शताब्दी ई० का लेखक जोसेफस भी लिखता है कि उसके समय में यहाँ पर्याप्त वर्षा होती थी। शायद पिछले दो सहस्र वर्षों में अंशतः वर्षा के शनैः शनैः कम हो जाने और अंशतः निरन्तर होते रहने वाले युद्धों में कृषकों के मारे जाने से कृषि-कर्म का ह्रास हो जाने के कारण रेगिस्तान का विस्तार बढ़ गया है।

भौगोलिक स्थिति का संस्कृति पर प्रभाव—फिलिस्तीन देश मिस्र, बैबिलोनिया, असीरिया, अनातोलिया और फिनीशिया के मध्य स्थित था। एक प्रकार से यह एशिया और अफ्रीका को जोड़ने वाली कड़ी था। यहाँ इन दोनों महाद्वीपों के लक्ष्मीभक्त व्यापारी तथा विजिगीषु सम्राट् परस्पर स्पर्द्धा करते थे। इससे एक ओर जहाँ इसके निवासियों को विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं में स्नान करने का अवसर मिला, वहाँ दूसरी ओर सदैव अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए संघर्षरत रहना पड़ा। उन्हें विवश होकर इनमें से किसी एक का पक्ष लेना होता था और ऐसा करके शेष की शत्रुता सहन करनी पड़ती थी। ऐसे देश को अपना कर यहूदी कभी स्वतन्त्र अथवा शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने की आशा नहीं कर सकते थे।

इतिहास जानने के साधन

बाइबिल-विद्या—यहूदी सभ्यता के इतिहास जानने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत पुरानी बाइबिल अथवा **'ओल्ड टेस्टामेन्ट'** नाम का ग्रन्थ है। इसमें यहूदियों का केवल इतिहास ही नहीं वरन् धर्म, दर्शन और साहित्य सभी कुछ सुरक्षित है। यह ग्रन्थ **३९ पुस्तकों** (बुक्स) अथवा अध्यायों में विभाजित है। इसमें उल्लिखित घटनाओं को श्रद्धालु यहूदी और ईसाई पूर्णतः विश्वसनीय मानते हैं। यद्यपि आधुनिक काल में इतिहास का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने वाले विद्वान् इसके **आलोचनात्मक अध्ययन (हायर क्रिटिसिज़्म)** पर बल देते हैं और इसमें उल्लिखित अनेक व्यक्तियों और घटनाओं की ऐतिहासिकता में सन्देह करते हैं, तथापि पिछले कुछ दशकों में मिस्र, असीरिया तथा विशेषतः

फिलिस्तीन में हुई पुरातात्त्विक खोजों के प्रकाश में अब यह माना जाने लगा है कि इसमें प्रदत्त यहूदी इतिहास की कम से कम मुख्य धाराएँ सर्वथा विश्वसनीय हैं। इस प्रसंग में ८५० ई० पू० का **'मेश-पाषाण'** अथवा 'मोआब-पाषाण', हेजेकिया नामक यहूदी नरेश के शासन काल का **'सिलोम अभिलेख'**, तथा स्टारकी नामक विद्वान् द्वारा **तैल-एद्-दुवीर स्थल से अन्वेषित मृद्भाण्ड-अभिलेख** विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनसे ओल्ड टेस्टामेन्ट की 'किंग्स्' नामक पुस्तक में वर्णित कुछ घटनाओं का समर्थन हुआ। १९४८ ई० में जेरिको के समीप **बाइबिल के कुछ अंशों की चर्मपत्रों पर लिखी हुई प्रति** पुरातत्त्व की बाइबिल-विद्या को नवीनतम देन है। ऑल्ब्राइट ने इसको दूसरी शताब्दी ई० पू० की बताया है।

जाति

यहूदी जाति के नाम : 'इज़रायल'—यहूदी जाति मूलतः **सेमेटिक परिवार की एक शाखा** थी (पृ० ३९)। दो सहस्र ई० पू० के पहले किसी समय यह सुमेर (बाइबिल का शिनार) में आ कर बस गई थी। यह अपने को **'बनी इज़रायल'** (इज़रायल के पुत्र) कहती थी। **इज़रायल नाम** का सर्वप्रथम प्रयोग बाइबिल की पहली पुस्तक 'जेनेसिज़' में अब्राहम के पौत्र जेकब के लिए और तत्पश्चात् प्रायः यहूदियों के बारह क़बीलों (ट्राइब्स) के लिए हुआ है, क्योंकि वे अपने को जेकब के बारह पुत्रों का वंशज मानते थे। पुरातात्त्विक दृष्टि से इसका प्रयोग सर्वप्रथम मेनेप्टाह नामक फराओ के मिस्र के थीबिज़ स्थान से प्राप्त सुप्रसिद्ध **'इज़रायल-पाषाण'** (इज़रायल-स्टेले) में हुआ है (लग० १२३० ई० पू०)। यह आजकल क़ाहिरा संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें मिस्री फराओ द्वारा फिलिस्तीन के कुछ शहरों को जीतने के प्रसंग में 'इज़िरायल' को नष्ट करने की बात कही गई है। इस नाम का प्रयोग निश्चयतः जाति के अर्थ में हुआ है, परन्तु यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है कि यह जाति वही थी जिसे हज़रत मूसा ने संघबद्ध किया था (पृ० २६९), अथवा इज़रायलियों का कोई प्राचीनतर संघ।

'हिब्रू' और 'जिउ'—यहूदियों के लिए प्रयुक्त होने वाला दूसरा नाम **'हिब्रू' है**। इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। परम्परागत मत के अनुसार इसका अर्थ है फरात (अथवा जोर्डन ?) के 'उस पार रहने वाला'। सम्भवतः इसी नाम का प्रयोग प्रारम्भिक बैबिलोनियन अभिलेखों में **'हबीरू'** और मिस्र के अमर्ना-पत्रों में **'हबीरी'** रूपों में हुआ है। इन दोनों रूपों को

अभिव्यक्त करने के लिए जिन चित्राक्षरों का प्रयोग किया गया है, उनसे लगता है कि इसका मूल अर्थ 'खानाबदोश', 'विदेशी', अथवा 'लुटेरा' था। प्रारम्भ में इसका प्रयोग मोआबी, अम्मानी, एडोमी तथा यहूदी आदि अनेक जातियों के लिए किया जाता था। इनमें बाद में यहूदी अथवा इज़रायली जाति ही इतिहास में प्रसिद्ध हुई, इसलिए कालान्तर में यह नाम उसके साथ विशेष रूप से संयुक्त हो गया। इससे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि उस समय इज़रायली जाति में ऐसा कोई वैशिष्ट्य नहीं था जिससे उसे पश्चिमी एशिया की अन्य अर्ध-बर्बर सेमेटिक जातियों से पृथक् किया जा सकता। जहाँ तक खुद 'यहूदी' अथवा 'जिउ' नाम का सम्बन्ध है, इसका अर्थ है 'जूडा का निवासी'। इसलिए इसका प्रयोग केवल दक्षिणी फिलिस्तीन के निवासियों के लिए ही किया जाना चाहिए। लेकिन सामान्यतः इसे 'इज़रायल' और 'हिब्रू' नामों का पर्यायवाची मान लिया जाता है।

यहूदी परिभ्रमण (माइग्रेशन्स्) और इतिहास

यहूदी 'माइग्रेशन्स्'

अब्राहम : सुमेर से फिलिस्तीन—यहूदियों का प्रारम्भिक इतिहास बाइबिल की प्रथम पाँच पुस्तकों-पेन्टातुएच-में सुरक्षित है। इनमें पहली पुस्तक है जेनेसिज, जिसमें बताया गया है कि यहूदियों के आदि पूर्वज **अब्राहम** अम्रफेल (हम्मूरबी ? पृ० ११४) नामक नरेश के शासन काल में सुमेर के उर नगर (उर ऑव दि कैल्डीज़) में निवास करते थे। उनका वर्णन एक यायावर क़बीले के सरदार के रूप में हुआ है। वहाँ से वह, प्रभु का आदेश होने पर, अपने परिवार और साथियों सहित हरान होते हुए फिलिस्तीन, जिसे बाइबिल में केनान कहा गया है, चले गए। इस देश को प्रभु ने उनके वंशजों को देने का वचन दिया था। तब से यहूदी फिलिस्तीन को अपने लिए **'ईश्वर-प्रदत्त देश'** (प्रोमिज़्ड लैण्ड) मानते हैं।

जेकब : फिलिस्तीन से मिस्र—फिलिस्तीन में अब्राहम को **इस्मायल** और आइज़क नाम के पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें आइज़क का पुत्र **जेकब** ही कालान्तर में इज़रायल नाम से विख्यात हुआ। उसके समय में केनान में भयंकर अकाल पड़ा जिससे विवश होकर यहूदियों को दक्षिण में **मिस्र की ओर** चला जाना पड़ा, जहाँ वे नील नदी के डेल्टा वाले प्रदेश में बस गए। यह विवरण कहाँ तक विश्वसनीय है, कहना कठिन है। सम्भवतः यह वह

समय था जब मिस्र पर हिक्सो स नामक जाति ने आधिपत्य स्थापित किया था। यह असम्भव नहीं है कि उनके साथ यहूदी जाति का एक भाग मिस्र चला गया हो। त्यूरिन-पत्रों की राजसूची में कई हिक्सो स नरेशों के नाम उल्लिखित हैं। इनमें एक नाम **'जेकब-हेर'** भी है। कुछ विद्वानों ने तो उसके आइज़क-पुत्र जेकब होने की कल्पना भी की है।

मूसा : मिस्र प्रवास और 'एक्सोडस'—यहूदियों के मिस्र प्रवास और वहाँ से वापस लौटने का विवरण पेन्टाटुएच की दूसरी पुस्तक 'एक्सोडस' में मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि यहूदी वहाँ ४३० वर्ष तक (!) मिस्रियों के दास बनकर रहे थे। उनको इस अपमानपूर्ण जीवन से मुक्ति दिलाने वाले, विलक्षण प्रतिभासम्पन्न पुरुष थे हज़रत **मूसा** (मो जिज़)। वे जाति से यहूदी थे, लेकिन घटनाचक्रवश तीन महीने की आयु में ही माता द्वारा त्याग दिए जाने के कारण उनका लालन-पालन एक मिस्री राजकुमारी ने किया था। उनका मो जिज़ नाम सम्भवतः मिस्री नाम 'एहमो स' का संक्षिप्त रूप है। राजपरिवार में पलने के कारण उनकी शिक्षा एक राजकुमार की भाँति हुई थी। लेकिन उनकी सहानुभूति यहूदी दासों के साथ थी। धीरे धीरे वह उनके नेता बन बैठे। तदनन्तर उन्होंने फराओ से यहूदियों को मुक्त करने की प्रार्थना की जिसे उसने ठुकरा दिया। इस पर उनके देवता या:वेह ने फराओ को सुबुद्धि देने के लिए मिस्र को **'दस महामारियों'** का शिकार बनाया। इस विपत्ति से घबरा कर फराओ ने यहूदियों को फिलिस्तीन लौट जाने की अनुमति दे दी। लेकिन जैसे ही वे मिस्र की सीमा के निकट पहुँचे उसने उन पर आक्रमण कर दिया। उसको इस विश्वासघात का दण्ड देने के लिए या:वेह के आदेश से समुद्र ने **उसे और उसकी सेना को 'निगल' लिया।**

हजरत मूसा ने यहूदियों को केवल स्वतन्त्रता ही नहीं दिलाई, वरन् उनके परस्पर संघर्षरत बारह क़बीलों को एकता के सूत्र में भी आबद्ध किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने उन्हें **या:वेह** को अपना एकमात्र देवता मानने का उपदेश दिया और **'दस ईश्वरीय आदेशों' (टेन कमाण्डमेण्ट्स)** के रूप में एक नया जीवन-दर्शन प्रदान किया। लेकिन खुद उनके भाग्य में 'ईश्वर-प्रदत्त देश' में प्रवेश करना नहीं लिखा था, क्योंकि मार्ग में ही, १२० वर्ष की अवस्था में, प्रभु ने उन्हें अपने पास बुला लिया।

मूसा और 'एक्सोडस' की ऐतिहासिकता—हजरत मूसा के जीवन और यहूदियों के मिस्र से वापस लौटने (एक्सोडस) की कथा बाइबिल, तात्मुद-साहित्य और रब्बियों की अनुश्रुतियों में सुरक्षित है। ये घटनाएँ ऐतिहासिक हैं

अथवा नहीं, कहना कठिन है। मिस्री इतिहास में कहीं भी हजरत मूसा, महामारियों अथवा समुद्र में डूबकर मृत्यु को प्राप्त होनेवाले फराओ की चर्चा नहीं हुई है। खुद मूसा का जीवन अनेक सर्वथा अविश्वसनीय अनुश्रुतियों से आच्छादित है और 'दस आदेशों' को बाइबिल-विद्या-विशारद पर्याप्त परवर्ती मानते हैं। लेकिन इन बातों के बावजूद **'एक्सोडस' ऐतिहासिक घटना प्रतीत होती है** क्योंकि मिस्री फराओ रेमेसिस द्वितीय (लग० १३००-१२३४ ई० पू०) के एक अभिलेख में कहा गया है कि उसने कुछ सेमेटिक कबीलों को, जो अपनी उदर-पूर्त्ति के लिए मिस्र आ गए थे, नील के मुहाने वाले प्रदेश में बसने की अनुमति दी थी। आजकल कुछ विद्वान् रेमेसिस द्वितीय को **'एक्सोडस' का फराओ** मानते हैं और कुछ 'इजरायल-पाषाण' के मेनेप्टाह को (१२३४-१२२५ ई० पू०)। जहाँ तक **मूसा की ऐतिहासिकता** का सम्बन्ध है, इसके विषय में केवल इतना कहना ही यथेष्ट होगा कि वह राम और कृष्ण के समान विश्व की उन महान् विभूतियों में से एक हैं जो अपनी संदिग्ध ऐतिहासिकता के बावजूद करोड़ों लोगों के हृदय पर राज्य करते हैं।

फिलिस्तीन विजय

फिलिस्तीन के केनानी—पेन्टातुएच की तीसरी और पाँचवी पुस्तकें—'ड्यूटेरोनोमी' तथा 'लेविटिकस'—क़ानून और धर्म-नियमों से सम्बन्धित हैं। चौथी पुस्तक **'नम्बर्स'** में यहूदियों के, आरोन के नेतृत्व में, फिलिस्तीन की ओर प्रयाण तथा केनान पर आक्रमण का विवरण दिया गया है। इससे ज्ञात होता है कि जिस समय यहूदियों ने 'ईश्वर-प्रदत्त देश' को जीतने के लिए प्रयास करना आरम्भ किया, वहाँ सेमेटिक जाति की एक अन्य शाखा 'केनानी' निवास कर रही थी (पृ० ११२)। सुदृढ़ **प्राचीरों से सुरक्षित उसके अनेक नगर** समृद्ध व्यापारिक केन्द्र थे। इन नगरों को पराजित करके केनान पर अधिकार करना यहूदी कबीलों के लिए बड़ा दुष्कर सिद्ध हुआ। अपनी शक्ति भर प्रयत्न करने के बावजूद वे केवल छोटे-मोटे अरक्षित केनानी नगरों को ही हस्तगत कर सके। यहाँ तक कि **येरूसलम** को भी वे कई शताब्दी तक नहीं जीत पाए।

फिलिस्तीनों का आक्रमण—यहूदियों को **केनान में पूरी सफलता न मिलने का दूसरा कारण फिलिस्तीन नामक जाति थी।** यह सम्भवतः ईजियन सभ्यता की निर्माता भूमध्यसागरीय जाति की एक शाखा थी। क्रीट के पतन के पश्चात् इसने नए निवास स्थान की खोज में भूमध्यसागर के दक्षिणी-पूर्वी और पूर्वी तटवर्ती प्रदेशों पर आक्रमण किए। **११०० ई० पू० के लगभग जब**

यहूदी जोशुआ के नेतृत्व में कुछ सफलता प्राप्त कर रहे थे, इसने गाजा और जाफा के मध्य स्थित समुद्रतटीय प्रदेश को अधिकृत कर लिया। कालान्तर में इसी जाति के नाम पर इस देश का नाम फिलिस्तीन (पेलेस्टाइन) पड़ा। इसके आक्रमण से यहूदियों के प्रसार का मार्ग सर्वथा अवरुद्ध हो गया।

जजों के शासन का अन्त—वस्तुतः यहूदी अपने 'ईश्वर-प्रदत्त देश' पर कभी पूर्णतः अधिकार स्थापित नहीं कर पाए। ओल्ड टेस्टामेण्ट में पेन्टा-तुएच के पश्चात् क्रमशः जोशुआ, जजिज, रूथ, सेमुअल प्रथम, सेमुअल द्वितीय तथा क्रोनिकिल्स् नाम की पुस्तकें हैं। इनमें प्रदत्त इतिहास अपेक्षया अधिक विश्वसनीय है। इनसे ज्ञात होता है कि जोशुआ की आरम्भिक सफलता के पश्चात् यहूदियों की प्रगति रुक गई। उल्टे उन्हें कभी केनानियों का प्रभुत्व स्वीकृत करना पड़ा और कभी फिलिस्तीनी, मोआबी अथवा मिदयानी जातियों का। उनका शासनाधिकार अभी तक स्थानीय सरदारों अथवा 'जजो' के हाथ में था जो अपने नाम मात्र के अधिकारों के कारण यहूदी कबीलों में एकता बनाए रखने में प्रायः असमर्थ रहते थे। इस दोष को दूर करने के लिए यहूदियों ने १०२५ ई० पू० के लगभग अन्तिम जज सेमुअल के स्थान पर सॉल नामक व्यक्ति को अपना राजा बनाया।

संयुक्त यहूदी राज्य

Joel - (see 29th book of old Testament - Bible).

सॉल—संयुक्त यहूदी राज्य का प्रथम नरेश सॉल (लग० १०२५–१००० ई० पू०) दक्षिणी प्रदेश के बेंजामिन क़बीले का सदस्य था। वह अत्यन्त बहादुर और प्राचीन सरल जीवन का समर्थक था। अपने शासन काल के प्रारम्भ में वह वह बहुत लोक प्रिय था, लेकिन बाद में अन्तिम जज सेमुअल के विद्वेष और अपने दामाद डेविड की प्रतिद्वन्द्विता के कारण असफल सिद्ध हुआ। फिलिस्तीनों के विरुद्ध युद्ध में उसकी सेनाएँ बुरी तरह पराजित हुई, जिससे निराश होकर उसने आत्महत्या कर ली।

डेविड—जिस समय सॉल फिलिस्तीनों के विरुद्ध युद्धों में असफल होकर अपनी लोकप्रियता खो रहा था, डेविड (लग० १०००–९७५ ई०पू०) ने यहूदियों के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके और सेमुअल को अपने पक्ष में मिलाकर अपनी स्थिति दृढ़ कर ली थी। इसलिए सॉल की मृत्यु के पश्चात् उसे उसके पुत्र इश्बाल को अपदस्थ करके राज्य को हस्तगत करने में कठिनाई नहीं हुई। इसके बाद उसने पश्चिम में फिलिस्तीनों, उत्तर में सीरियाई राज्यों, पूर्व में अम्मोन और मोआब तथा दक्षिण में एडोम राज्यों को पराजित करके एवं हम्माथ तथा टायर

के साथ मैत्री करके यहूदी राज्य को विस्तृत और सुरक्षित किया। उसने अपने राज्य का आधार सैनिक शक्ति को बनाया और पुजारियों की महत्त्वाकांक्षा का दमन किया।

डेविड ने अपनी राजधानी येरूसलम नगर में स्थापित की। उसने बारह यहूदी क़बीलों में एकता की भावना को दृढ़ करने की चेष्टा की। वह इतिहास में में गोलियथ के विजेता, बाथशेबा के प्रेमी, अप्रतिम वीणावादक और 'बुक ऑव् साम्स्' के लेखक के रूप में प्रसिद्ध है। उसका शासनकाल यहूदी इतिहास का स्वर्ण युग माना जाता है। लेकिन स्मरणीय है कि डेविड को सामरिक योजनाओं, निर्माण-कार्य और दृढ़तर शासन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए करों में भारी वृद्धि करनी पड़ी थी, जिससे उसकी मृत्यु के पूर्व ही राज्य के अनेक भागों में असन्तोष के स्वर कर्णगोचर होने लगे थे।

सोलोमन—डेविड का उत्तराधिकारी उसका पुत्र सोलोमन (लग० ९७५–९३५ ई० पू०) था। वह संयुक्त यहूदी राज्य का अन्तिम शासक था। परवर्ती यहूदी, ईसाई और मुस्लिम साहित्य में उसे वही स्थान प्राप्त है जो भारतीय साहित्य में विक्रमादित्य को। इनमें उसको विश्व का सबसे बुद्धिमान, न्यायप्रिय और उदार नरेश बताया गया है। परन्तु बाइबिल से उसके विषय में जो सूच-नाएँ उपलब्ध होती हैं उनसे इस विश्वास का समर्थन नहीं होता। इनसे ज्ञात होता है कि राज्यारोहण के पश्चात् उसने अपने सब प्रतिद्वन्द्वियों को मौत के घाट उतार दिया था। वह बैबिलोनिया, असीरिया और मिस्री सम्राटों के वैभव पूर्ण जीवन से अत्यधिक प्रभावित हुआ था और उनकी नकल करना चाहता था। इस महत्त्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए उसने व्यापार, बेगार और करों का सहारा लिया। उसने टायर के राजा हिराम के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किए और एक विशाल व्यापारिक बेड़ा बनवाया। उसके समय में येरूसलम एक समृद्ध व्यापारिक केन्द्र बन गया। उसकी वार्षिक आय ३६६ टेलेन्ट सुवर्ण थी। इस धन का उपयोग उसने भोग-विलास और निर्माण-कार्य में किया। उसके अन्तःपुर में ७०० पत्नियाँ और ३०० उप-पत्नियाँ थी। उसने येरूसलम के अधूरे दुर्ग तथा ४,००० घोड़ों के अस्तबल को पूरा कराया और अपने लिए एक नए राजप्रासाद और याःवेह के लिए एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया। उसका देश फिलस्तीन प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से निर्धन था, इसलिए उसको इन भवनों के निर्माण के लिए बहुत सी सामग्री और कारीगरों का विदेशों से आयात करना पड़ा। उसने सुवर्ण, रजत, कांस्य और बहुमूल्य काष्ठ का इतनी अधिक मात्रा में आयात किया कि करों को बढ़ा देने के

बावजूद उसका कोष इस भार को वहन न कर सका। इस कमी को पूरा करने के लिए उसने हिराम को, जिससे उसने अधिकांश सामग्री खरीदी थी, बीस नगर दे दिये और जनता से बेहद **बेगार** ली। प्रति माह लगभग १०,००० यहूदी श्रमिक हिराम की खानों और जंगलों में काम करने लिए भेज दिए जाते थे।

सोलोमन के कृत्यों से स्पष्ट है कि यहूदी अनुश्रुतियों में उसके ज्ञान (**विज़्डम ऑव सोलोमन**) और महत्ता की प्रशंसा के बावजूद उसे एक महान् शासक मानना दुष्कर है। वह निश्चित रूप से प्रजाहित के प्रति विस्मरणशील, अत्याचारी और धनलोलुप नरेश था। अधिक-से-अधिक हम उसे एक कुशल व्यापारी और उत्साही भवन-निर्माता कह सकते हैं।

सोलोमन के बाद

उत्तरी क़बीलों का विद्रोह—सोलोमन के साथ यहूदी गौरव के संक्षिप्त युग का अन्त हो गया। उसके बाद उसका लड़का **रेहोबॉम** राजा बना, परन्तु उत्तर के दस क़बीलों ने उसके नेतृत्व को मानने से इन्कार कर दिया। उसके इस **विद्रोह की पृष्ठभूमि** में केवल सोलोमन के अपव्यय और अत्याचारों की स्मृति ही नहीं, कई और कारण भी थे। उत्तरी क़बीले प्रगतिशील और विदेशी सांस्कृतिक धाराओं से प्रभावित थे। वे नागरिक जीवन व्यतीत करने के आदी हो गए थे और अपने पड़ोसी केनानियोंके देवताओं (बालीम) को पूजने लगे थे। इसके विपरीत दक्षिणी क़बीले प्राचीन यहूदी जीवन-विधि और धर्म-कर्म को अपनाए हुए थे और विदेशी संस्कृतियों के प्रभाव से दूर रहना चाहते थे। वे अभी तक रेगिस्तान के यायावर जीवन को नहीं भूले थे। इन भेदों के कारण किसी-न-किसी समय दोनों पक्षों में संघर्ष होना अवश्यम्भावी था।

इज़रायल का पतन—रेहोबॉम के शासनकाल में होने वाले इस विद्रोह के कारण यहूदी राज्य दो भागों में बँट गया—उत्तर में इज़रायल और दक्षिण में जूडा। इज़रायल राज्य की राजधानी समरिया नगर बना और जूडा की येरूसलम। लगभग दो शताब्दी तक ये दोनों राज्य अपने पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए रहे। लेकिन उन्हें सदैव असीरियन आक्रमणों से भयभीत रहना पड़ा और समय-समय पर असीरिया को कर देकर सन्तुष्ट करना पड़ा। अन्त में **७२२ ई० पू० में असीरियनों ने इज़रायल को जीतकर उसके अस्तित्व को पूर्णतः मिटा दिया** और वहाँ की जनता को अपने विशाल साम्राज्य में यत्र-तत्र बसा दिया। धीरे-धीरे ये यहूदी पश्चिमी एशिया की जातियों में घुलमिल गए और

अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो बैठे। इसलिये इन्हें यहूदी इतिहास में **'दस विलुप्त इज़रायली क़बीले'** कहा जाता है।

जूडा का पतन और 'रे`स्टोरेशन'—इजरायल के पतन के पश्चात् जूडा राज्य एक शताब्दी से अधिक समय तक अपना अस्तित्व बनाए रहा। परन्तु ५८६ ई० पू० में कैल्डियन सम्राट् **नेबूशद्रेज़र** ने इसका भी अन्त कर दिया। उसने येरूसलम को लूट कर जला दिया और उसके अधिकांश महत्त्वपूर्ण नागरिकों को बन्दी रूप में बैबिलोन में बसा दिया। इस बन्दी जीवन (**बैबिलोनियन के`प्टीविटी**) का अन्त ४७ वर्ष पश्चात् हुआ, जब हखामशी सम्राट कुरुष (सायरस) महान् ने ५३९ ई० पू० बैबिलोन पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त यहूदियों को फिलिस्तीन लौटने और **येरूशलम में मन्दिर का पुनर्निर्माण** करने की अनुमति प्रदान की। उसकी इस कृपा का लाभ बहुत कम यहूदियों ने उठाया, क्योंकि उस समय तक जो यहूदी बैबिलोन में स्थायी रूप से बस चुके थे उन्होंने अपने फल-फूलते कारोबार को छोड़कर पुनः येरूशलम जाना बुद्धिमानी नहीं समझी। लेकिन फिर भी वे काफी संख्या में येरूशलम वापस लौट आए। इस प्रकार हखामशी संरक्षण में एक नया परन्तु **लघु यहूदी** राज्य अस्तित्व में आया। यह घटना **'रे`स्टोरेशन'** कहलाती है।

परवर्ती इतिहास—यहूदियों के नए राज्य का इतिहास गौरवपूर्ण नहीं है। ५३९ से ३३२ ई० पू० तक यह हखामशी संरक्षण में रहा। इसके बाद इस पर **अले`क्जेन्डर** ने और तत्पश्चात् मिस्र के **टॉलेमी** नरेशों ने अधिकार कर लिया। ६३ ई० पू० में यह **रोमन प्रभुत्व** के अन्तर्गत आ गया। अन्त में ७० ई० पू० में इसके विद्रोह कर देने के कारण रोमनों ने येरूशलम का विध्वंस करके इसको अपने साम्राज्य का एक प्रान्त बना डाला। इसके बाद लगभग दो सहस्र वर्ष तक यहूदी विश्व के विभिन्न देशों में बिखरे रहे। हाल ही में, १९४८ ई० में, उन्होंने **इज़रायल की पुनः स्थापना** करने में सफलता पाई है।

यहूदी सभ्यता

यहूदी सभ्यता पर बैबिलोन का प्रभाव—यहूदी सभ्यता के विकास पर बैबिलोनियन, मिस्री, हित्ती, असीरियन और ईरानी सभ्यताओं का गहरा प्रभाव पड़ा था। बैबिलोन के साथ यहूदियों का घनिष्ठ सम्बन्ध उस समय से चला आया था जब उनके आदि पुरुष अब्राहम **सुमेर के उर नगर में** निवास करते थे। जब वे वहाँ से हर्रान होते हुए केनान आए तब अपने साथ बैबिलोनियन सभ्यता और धर्म के अनेक तत्त्व लाए होंगे। **केनान में बस जाने के बाद भी**

यहूदी बैबिलोनियन सभ्यता के प्रभाव की परिधि के अन्दर रहे क्योंकि उस समय केनान में जो जाति बसी हुई थी वह खुद बैबिलोनियन सभ्यता से प्रभावित थी। उसके सम्पर्क में आने पर यहूदियों का बैबिलोनियन सभ्यता से, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, प्रभावित होना अवश्यम्भावी था। उनका बैबिलोन के **'विश्व-सृजन'** और **'जलप्लावन'** जैसे आख्यानों से परिचय (पृ० ९९) और **उनके प्राचीनतम क़ानूनों पर हम्मूरबी की विधि-संहिता का प्रभाव** (पृ० २८५) इन्हीं प्राचीन सम्पर्कों का परिणाम माने जाने चाहिए। लेकिन **'बैबिलोनियन-बन्दी जीवन' के समय** उन पर बैबिलोन का गम्भीरतम प्रभाव पड़ा। उस समय से बैबिलोनियन भाग्यवाद और निराशावाद उनके जीवन-दर्शन का भी महत्त्वपूर्ण अंग बन गए (पृ० २८२)। इसका सर्वोत्तम प्रमाण है **'बुक ऑव जॉब'** जो केवल विचारों में ही नहीं कथावस्तु की दृष्टि से भी एक प्राचीन बैबिलोनियन कृति का यहूदी रूपान्तर मात्र है (पृ० १३५–३६)।

अन्य जातियों का प्रभाव—फिलिस्तीन की मिस्र से निकटता और कई शताब्दी तक नील के डेल्टा वाले प्रदेश में रहने के कारण यहूदी लोग मिस्री सभ्यता से भी बहुत प्रभावित हुए। हजरत **मूसा पर अख्नाटन के विचारों का प्रभाव** इसका उदाहरण है। फिलिस्तीन में बसने के बाद वे **हित्ती, ऐरेमियन, फिनीशियन तथा अन्य अनेक जातियों के सम्पर्क में आए** जिनका उनके ऊपर न्यूनाधिक प्रभाव अवश्य पड़ा। यद्यपि उनके नबियों ने अपने धर्म से इन विजातीय तत्त्वों को निकालने का बहुत प्रयास किया (पृ० २७९-८०), लेकिन इसमें उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली। उल्टे हखामशी शासनकाल में **ईरानी** (पृ० २८३-८४) और हेलेनिस्टिक युग में **यूनानी** धर्म-दर्शन के प्रभाव के कारण उनके धार्मिक विश्वास और रहन-सहन बराबर बदलते चले गए।

यहूदी संस्कृति का एकांगी विकास—उपर्युक्त विवरण का अर्थ यह नहीं है कि यहूदी सभ्यता फिलिस्तीन में और उसके आस-पास बसी हुई सभ्य जातियों की सभ्यताओं का सम्मिश्रण मात्र थी। निश्चयतः यहूदियों का अपना **विशिष्ट जीवन-दर्शन** था जिसके आलोक में उन्होंने विदेशी और विजातीय सांस्कृतिक तत्त्वों के प्रभाव को रोकने अथवा उनमें आवश्यक संशोधन करने की चेष्टा की। इसका एक प्रमाण तो यही है कि मिस्री बैबिलोनियन और असीरियन साम्राज्यों के निकट सम्पर्क में रहने के बावजूद उन्होंने **न किसी कला में रुचि ली और न विज्ञान में**। यह ठीक है कि सोलोमन के शासनकाल में येरुसलम में एक विशाल **राजप्रासाद और मन्दिर का निर्माण** किया गया था, परन्तु ये बैबिलोनियन अथवा मिस्री भवनों की तुलना में नगण्य थे और इनका निर्माण

यहूदियों ने नहीं फिनीशियनों ने किया था। ये भवन कलात्मक दृष्टि से कैसे थे, कहना कठिन है क्योंकि इनकी स्थिति का ठीक ठीक ज्ञान न होने के कारण इनका उत्खनन अभी तक नहीं हो पाया है। जहाँ तक स्थापत्य का प्रश्न है इसके विकास का मार्ग उनके धर्म ने अवरुद्ध कर दिया था। याःवेह का दूसरा आदेश मूर्तिपूजा के विरुद्ध ही नहीं किसी भी वस्तु की कैसी भी मूर्त्ति अथवा अनुकृति बनाने के विरुद्ध था। इसलिए वे याःवेह को मानव-रूपधारी मानते हुए भी उसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति को असम्भव समझते थे।

कला और विज्ञान में रुचि का अभाव—कला के समान यहूदियों ने **विज्ञान में भी कोई दिलचस्पी नहीं ली।** उनकी इन्जीनियरिंग, खगोल-विद्या, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, अथवा गणित जैसे विषयों में रुचि थी, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। उनका **चिकित्सा-शास्त्र** भी ओल्ड टेस्टामेण्ट की '**लेविटिकस**' नामक पुस्तक में किए गए कुछ रोगों के अध्ययन तक सीमित था और सर्जरी खतने (लिंगाग्रकर्त्तन) के ज्ञान तक। वास्तव में उनकी समस्त भावनाएँ और शक्तियाँ धर्म पर इतनी अधिक केन्द्रित हो गई थीं कि उनके लिए जीवन के किसी अन्य पक्ष की ओर विशेष ध्यान देना सम्भव ही नहीं रह गया था। **दर्शन क़ानून और साहित्य भी**, जिनमें उनका सांस्कृतिक वैशिष्ट्य कुछ उभर पाया है, उनके धर्म से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थे।

यहूदी धर्म

यहूदी संस्कृति का सब से सबल पक्ष और विश्व को उनकी महानतम देन उनका धर्म है। इस धर्म का विकास बहुत धीरे धीरे हुआ था। अध्ययन की सुविधा के लिए हम इसके क्रमिक विकास को पाँच युगों में बाँट सकते हैं: प्राक्-मूसा युग, 'एकदेवपूजा' का युग, सुधार का युग, बैबिलोनियन-बन्दी-जीवन का युग और ईरानी प्रभाव का युग।

प्राक्-मूसा युग

बहुदेववाद और सर्वचेतनवाद—मूसा के आविर्भाव के पूर्व यहूदी जाति का कोई राष्ट्रीय देवता नहीं था। उस समय वे **बहुदेववादी ही नहीं, सर्वचेतनवादी** (ऐनिमिस्टस) थे। वृषभ, भेड़ और नाग-पूजा को विशेष लोकप्रियता प्राप्त थी। इन आधिदैविक शक्तियों की कल्पना विभिन्न रूपों में की गई थी, यद्यपि बाद में इनके मानव रूपधारी होने पर बल दिया जाने लगा था। इनको सामान्यतः 'एल' (=देवता) कहा जाता था।

इनको प्रसन्न करने के लिए वे जादू-टोने, पिशाच-विद्या और बलि-क्रिया आदि की सहायता लेते थे और इनके जानकार **ओझाओं और पुजारियों को श्रद्धा** तथा **विस्मय की दृष्टि से** देखते थे। बहुत से यहूदी केनानियों के **'बालीम'** (=देवताओं) **को** प्रजनन का पुरुष तत्त्व और **ऐश्तोरेथ** (ईश्वर का स्थानीय रूप) को स्त्री तत्त्व मानकर पूजते थे। **भविष्य-दर्शन में भी उसका विश्वास** था। नील के मुहाने वाले प्रदेश में निवास करते समय सर्वचेतनवादी विचार धारा को अतिरिक्त बल मिला। खुद हजरत मूसा के जीवन काल में उनके अनुयायियों का **सुनहले बछड़े (गोल्डन काफ)** को पूजना और उसके सामने नग्न होकर नृत्य करना ही इसका एकमात्र प्रमाण नहीं है, बाइबिल के प्राचीन अंश यहूदियों के ऐसे आदिम धार्मिक विश्वासों के अवशिष्ट चिह्नों से परिपूर्ण हैं।

राष्ट्रीय 'एकदेवपूजा' का युग

एकदेवपूजावाद : याःवेह का शुद्ध नाम—यहूदी धर्म के इतिहास का दूसरा युग हजरत मूसा के आविर्भाव के समय से प्रारम्भ होता है। हजरत मूसा एकेश्वरवादी (मोनोथीस्ट) नहीं थे क्योंकि वह अन्य जातियों के अनेक देवताओं के अस्तित्व को स्वीकृत करते थे। लेकिन वह **'एकदेवपूजावाद'** (**मोनोलेट्री**) के समर्थक अवश्य थे। उन्होंने यहूदियों को यह उपदेश दिया कि वे अपना **एक मात्र देवता जाःवेह अथवा याःवेह** को मानें। याःवेह सम्भवतः मूल रूप से केनानियों का एक स्थानीय देवता **'याह'** अथवा **'याहू'** था जिसका केनान से प्राप्त कुछ कांस्यकालीन (लग० ३००० ई० पू०) मृद्-भाण्ड अभिलेखों में उल्लेख हुआ है। सर्वप्रथम सोलहवीं शताब्दी ई० में हुई एक भूल के कारण आजकल बहुत सी पुस्तकों में उसका नाम 'जेहोवा' अथवा 'येहोवा' लिखा मिलता है। प्राचीन काल में **यहूदी जिस वर्णमाला का प्रयोग करते थे** वह फिनीशियन वर्णमाला के सदृश थी। इसमें स्वरों के लिए चिह्न नहीं थे, इसलिए वे 'याःवेह' नाम लिखते समय केवल YHVH व्यञ्जन लिखते थे। वे याःवेह के नाम को बहुत पवित्र मानते थे। उसके **तीसरे आदेश** के अनुसार वे उसके निष्प्रयोजन उच्चारण को बुरा मानते थे। इसलिए जब कालान्तर में स्वर-चिह्नों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ, तब इसे अशुद्ध होने से बचाने के लिए इसमें यहूदी भाषा में 'प्रभु' अर्थ में प्रयुक्त होने वाले शब्द के स्वर EOA जोड़े जाने लगे। ये इस बात का संकेत थे कि पाठक उस नाम के स्थान पर 'प्रभु' पढ़ें। बाद में धीरे धीरे लोग इस बात को भूल गए और इन सब अक्षरों को मिला कर YEHOVAH अथवा JEHOVAH पढ़ने लगे।

याःवेह् का स्वरूप—याःवेह नाम का क्या अर्थ था, यह स्पष्ट नहीं है। जब हजरत मूसा ने उससे पूछा था कि अगर मेरे साथी मुझसे पूछें कि तुझे किसने भेजा है तो मैं क्या कहूँ, तो उसने उत्तर दिया था। "मैं वह हूँ जो हूँ......इस प्रकार जाकर तू इजरायल के पुत्रों से कहेगा, मैं हूँ जिसने मुझे तुम्हारे पास भेजा है" (पृ० २६५)। उसके इस उत्तर से यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि इस युग में उसकी कल्पना अमूर्त्त चेतन सत्ता के रूप में की गई थी क्योंकि बाइबिल से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि फिलिस्तीन में प्रवेश करते समय तक याःवेह परवर्ती युग का न्यायशील, कृपालु और सर्वशक्तिमान ईश्वर नहीं बन पाया था। इस युग में भी वह बहुत से देवताओं में एक था तथा उसकी शक्ति और न्याय-क्षेत्र केवल फिलिस्तीन तक सीमित थे। वह मानव-देहधारी ही नहीं, मानवीय गुण-दोषों से युक्त भी था। वह प्रसन्न होने पर कृपा करता था तो अप्रसन्न होने पर सदाचारी और निष्पाप मनुष्यों को भी दण्ड दे सकता था। वह जान-बूझ कर और अनजान में किए गए अपराधों में भेद नहीं करता था। वह चञ्चल और मनमौजी था। उसके फैसले पूर्णतः उसकी सनक पर निर्भर रहते थे। वह प्रायः गलतियाँ करता था और उनको करके पछताता था। वह मुख्यतः युद्ध का देवता था। वह असीरियनों और उनके देवता अशुर के समान नृशंस, एक सैनिक के समान गर्वीला और बिगड़े रईस की तरह प्रशंसा का भूखा था। अपनी आत्मतुष्टि के लिए वह समूची जातियों और देशों को नष्ट करने को तैयार हो जाता था। कई बार वह अपने 'प्रिय पुत्र' यहूदियों को समूल नष्ट करने पर उतारू हो गया था। अन्य देवताओं से वह बहुत ईर्ष्या करता था। उसने मूसा को जो 'दस आदेश' दिए थे उनमें 'पहला आदेश' था 'तू मेरे सामने किसी और देवता की पूजा नहीं करेगा'। इसी प्रकार दूसरे आदेश में मूर्त्तिपूजा का निषेध करते समय उसने घोषित किया कि वह अत्यन्त ईर्ष्यालु है और जो लोग दूसरे देवताओं की अथवा मूर्त्तियों की पूजा करते हैं उनका पीछा वह चार सन्तति तक भी नहीं छोड़ता!

लेकिन याःवेह के इन दोषों और सीमाओं के बावजूद यहूदी उसे अपना संरक्षक और मुक्तिदाता मानते थे। उनके लिए वह प्रकाश, सदाचार और न्याय का स्रोत, तथा विधवाओं और अनाथों का सहायक था। यद्यपि उसके इन गुणों को इस युग में विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था तथापि कालान्तर में यही उसके विशिष्ट गुण बने। उसने हजरत मूसा को जो **'दस आदेश'** (**टेन कमान्डमेन्ट्स**) दिए थे उनको अधिकांश बाइबिल-विद्या-विशारद सातवीं

शताब्दी ई० पू० से पहले की रचना मानने के लिए प्रस्तुत नहीं है, लेकिन कुछ 'आदेशों' के विचार बीजरूप में मूसा-युग की देन प्रायः मान लिए जाते हैं। पहला और दूसरा आदेश इसके उदाहरण हैं।

धार्मिक और सामाजिक पतन—वास्तव में इस युग में याःवेह की उपासना कर्मकाण्ड और बलि आदि पर इतनी अधिक निर्भर थी कि उसका धर्म नैतिक अथवा आध्यात्मिक धर्म हो ही नहीं सकता था। बाइबिल के अनुसार इस कर्मकाण्ड की रूप-रेखा और **धर्म में पुजारियों का स्थान** खुद हजरत मूसा ने निश्चित कर दिए थे। लेकिन ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया और धर्म का कर्मकाण्ड वाला पक्ष अधिक महत्वपूर्ण, पुजारी वर्ग अधिक विलासी और विदेशी देवता अधिकाधिक लोकप्रिय होते गए। सोलोमन के शासन काल में, और उसके पश्चात् विशेषतः इज़रायल राज्य में, राजाओं की निरंकुशता, उच्च वर्ग के वैभव और असीरियन आक्रमण के भय के कारण निर्धनों की निर्धनता, बेगार-प्रथा की भयंकरता, सूदखोरी, बेरोजगारी और भ्रष्टाचार में जो वृद्धि हुई उसको **धार्मिक और नैतिक पतन** का परिणाम माना गया। इसलिए धीरे-धीरे धर्म में सुधार की आवश्यकता और मांग जोर पकड़ती गई।

सुधार का युग : यहूदी नबी

यहूदी नबी—पुराने यहूदी धर्म की बुराइयों को दूर करने की मांग रखने और इस दिशा में प्रयत्न करने वाले व्यक्ति **नबी** अथवा **पैगम्बर (प्रोफेट)** कहे गए हैं। ये नबी बड़े ही **विचित्र प्राणी** थे। इनमें कुछ मामूली सा पारिश्रमिक लेकर ग्राहकों को उनके भाग्य का दर्शन कराने का दावा करते थे और कुछ नृत्य, गान और सुरापान जैसे कृत्रिम साधनों का सहारा लेकर उन्मत्तावस्था में प्रलाप करते थे और आशा करते थे कि उसे दैवी संदेश माना जायगा। लेकिन ऐसे **कृत्रिम नबियों** का समाज में विशेष मान नहीं था। **यहूदियों के सच्चे नबी भविष्य-द्रष्टा से अधिक समाजवादी थे**। वे प्रायः गाँवों के सरल और धर्म भीरू गडरिये अथवा किसान थे जो नगरों के चौराहों पर लोगों को एकत्र करके उच्च वर्ग को उसके भ्रष्टाचार, विलासिता और धार्मिक पतन के लिए फटकारते थे, आधुनिक प्रजातान्त्रिक देशों के विरोधी दलों के नेताओं की तरह भाषण देकर जनता को उसके विरुद्ध उकसाते थे और राजाओं को उनके अन्यायपूर्ण शासन के लिए धमकाते थे। वे यह दावा करते थे कि इसके लिए उन्हें **प्रभु से प्रेरणा** मिली है। इसलिए उनकी चेतावनी को **'भविष्यवाणी' (प्रोफेसी)** माना जाता था।

एलिजा और एलिशा—यहूदी नबियों की परम्परा में सबसे पहला महत्त्व-पूर्ण नाम एलिजा का है। उसने इजरायल के तत्कालीन राजा अहाब (लग० ८७६–८५४ ई० पू०) की प्राचीन सामाजिक परम्पराएँ तोड़ने के कारण भर्त्सना की, नगरों की **वर्द्धमान विलासिता का विरोध** किया और विदेशी देवताओं के बढ़ते प्रभाव को रोकने की चेष्टा की। उसने और उसके **एलिशा** जैसे अनुयायियों ने अपने लक्ष्य को पाने के लिए इजरायल **राजपरिवार और 'बालीम' के पुजारियों की हत्या** करने में भी संकोच नहीं किया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वे **अन्य देवताओं के अस्तित्व में विश्वास** नहीं करते थे। उनका कहना था कि याःवेह न्यायप्रिय और दयालु है और यहूदियों को केवल उसी की उपासना करनी चाहिए।

मुख्य नबियों के मूल सिद्धान्त—एलिजा और एलिशा के पश्चात् धर्म सुधार का प्रयास अमोस, होसिया, आइसेया तथा माइका नामक नबियों ने किया। इन चारों ने अपने उपदेश ७६० ई० पू० से लगभग ७०० ई० पू० के मध्य दिये। ये निश्चयतः एलिजा इत्यादि से अधिक प्रबुद्ध और प्रगतिशील थे। उन्होंने यह महसूस किया कि हिंसात्मक उपायों से बुराई को समूल नष्ट नहीं किया जा सकता। इसलिए उन्होंने पुरातन धर्म और जीवन-विधि को बलात् लौटाने की अपेक्षा उन्हें नए आदर्शों और दर्शन से अनुप्रेरित करने का प्रयास किया। एक, उन्होंने **विशुद्ध एकेश्वरवाद का प्रतिपादन** किया। उन्होंने अन्य जातियों के देवताओं के अस्तित्व को ही सर्वथा अस्वीकृत कर दिया। एलिजा के बलप्रयोग से यह सिद्धान्त विदेशी देवताओं की लोकप्रियता के लिए अधिक घातक सिद्ध हुआ। दूसरे, उन्होंने प्रतिपादित किया कि **याःवेह केवल न्याय, प्रकाश और ज्ञान का स्रोत है और** सब मनुष्यों का दयालु पिता है। उसकी शक्ति सीमित है, केवल इसलिए क्योंकि वह अन्याय और क्रूरता का कारण नहीं हो सकता। बुराई का स्रोत वह नहीं खुद मनुष्य है। तीसरे, उन्होंने **धर्म के नैतिक पक्ष पर बल** दिया। उनके अनुसार याःवेह बलि और अनुष्ठान से नहीं, दया, पवित्र आचरण और न्यायपूर्ण कृत्यों से प्रसन्न होता है। इस सिद्धान्त से सामाजिक अन्याय, आर्थिक शोषण और भ्रष्टाचार जैसी बुराइयों को दूर करने में बड़ी सहायता मिली।

अमोस, होसिया, माइका और आइसेया—यहूदी नबियों के ये विचार बड़े क्रान्तिकारी थे। इन्होंने यहूदी धर्म को नया मोड़ और पुराने विश्वासों को नया अर्थ प्रदान किया। उदाहरण के लिए याःवेह को विश्व का एक मात्र देवता और सब मनुष्यों का दयालु पिता मानने से इस विश्वास का कि यहूदी

उसके 'प्रिय पुत्र' हैं, अर्थ बदल गया। **अमोस** ने घोषित किया कि इज़रायल-पुत्रों ने पाप करके याःवेह के क्रोध को भड़का दिया है। याःवेह ने कृपा करके उन्हें ज्ञान दिया था, लेकिन उन्होंने याःवेह को छोड़ दिया है और पाप का मार्ग पकड़ लिया है। इसलिए वे उसके क्रोध के शिकार बनेंगे। इसी प्रकार **होसिया** ने यहूदियों को उनके पाप और आपसी विद्वेष के लिए धिक्कारा और घोषणा की कि याःवेह का क्रोध असीरियन सेनाओं के रूप में उन पर टूटेगा, यद्यपि बाद में खुद असीरिया का भी विनाश हो जाएगा। इज़रायल के पतन के बाद जब जूड़ा को असीरिया की ओर से भय उपस्थित हुआ, तब इस राष्ट्रीय संकट के समय वहाँ **आइसेया** और **माइका** नाम के दो नबियों का आविर्भाव हुआ। इनमें आइसेया अधिक प्रसिद्ध है। उसने अमोस और होसिया के समान सामाजिक अन्याय, आर्थिक शोषण और धार्मिक पतन पर खेद और क्रोध प्रकट किया और जूड़ा नरेश को असीरिया तथा मिस्र दोनों के साथ मैत्री रखने—अर्थात् **तटस्थता की नीति अपनाने पर बल** दिया।

जेरेमिया—आइसेया की सलाह को उसकी मृत्यु के काफी बाद में जूड़ा के **जोशुआ** नामक नरेश (६३९–६०८ ई० पू०) ने मूर्त्तरूप प्रदान करने की चेष्टा की। लेकिन जनता ने उसका पूरी तरह साथ नहीं दिया। जब ६१२ ई० पू० में असीरिया का पतन हुआ, तब उन्होंने बहुत खुशी मनाई। लेकिन शीघ्र ही उन्हें बैबिलोन के कैल्डियनों की ओर से वैसा ही गम्भीर भय उत्पन्न हो गया। इस भय का कारण नबी **जेरेमिया** के अनुसार उनका याःवेह की इच्छा को जान-बूझकर ठुकरा देना था। उसने **जूडा नरेश से नेबूशद्रेज्ज़र की प्रभुसत्ता मान लेने का अनुरोध** किया क्योंकि उसके अनुसार याःवेह ने 'अपने सेवक' नेबूशद्रेज्जर को सब राष्ट्रों का स्वामी बना दिया था। उसकी इस वाणी को यहूदियों ने देश के साथ विश्वासघात समझा और उसे भाँति-भाँति के कष्ट दिए। लेकिन जब येरूसलम का पतन हुआ और उन्हें बैबिलोन में बन्दी जीवन व्यतीत करना पड़ा, तब उन्हें जेरेमिया की सलाह का रहस्य समझ में आया। परन्तु तब तक बहुत देर हो चुकी थी।

'बैबिलोनियन-बन्दी-जीवन' का युग

इज़कील और 'आइसेया द्वितीय'—येरूसलम के पतन के बाद, जब यहूदियों को उनके पाप का दण्ड मिल गया, यहूदी **नबियों की वाणी प्रेमपूर्ण, मृदु और आशावादी हो गई**। उदाहरणार्थ **इज़कील** नामक नबी ने अपने प्रारम्भिक उपदेशों में आइसेया और जेरेमिया के समान यहूदियों के पापों के परि-

णाम का भयानक चित्र खींचा और अपने देवता के स्थान पर विदेशी देवताओं की उपासना करनेवाले येरूसलम की तुलना एक वेश्या से की, लेकिन नेबूशद्रेज्जर द्वारा उसका विध्वंस हो जाने पर उसने घोषित किया कि अन्ततोगत्वा प्रभु प्रसन्न होंगे, बैबिलोन के बन्दी यहूदी लौटेंगे, येरूसलम में मन्दिर का पुनर्निर्माण होगा और याःवेह की संरक्षकता में आदर्श समाज की स्थापना होगी। इसी प्रकार **'आइसेया द्वितीय'** ने भविष्यवाणी की कि ईरानी नरेश कुरुष बैबिलोन जीतकर यहूदी बन्दियों को मुक्त करेगा और वे लौटकर नए मन्दिर और नगर का निर्माण करेंगे। यहूदियों को आशा दिलाने के लिए इजकील ने यह भी प्रतिपादित किया कि याःवेह हर मनुष्य को केवल उसके अपने अपराधों का दण्ड देता है, उसके साथियों अथवा पूर्वजों के अपराधों का नहीं।

यहूदी धर्म पर बैबिलोनियन प्रभाव—जिस समय इजकील और 'आइसेया द्वितीय' आशा का सन्देश दे रहे थे, बैबिलोन में बन्दी यहूदियों का धर्म परिवर्तित होता जा रहा था। एक, बैबिलोन में अपना सांस्कृतिक वैशिष्ट्य लुप्त होने का भय देखकर उन्होंने अपने **कर्मकाण्ड सम्बन्धी नियमों को जटिलतर और कठोरतर कर दिया**। इससे उनके धर्म का क्रिया पक्ष पुनः सबल होने लगा और सैद्धान्तिक पक्ष से अधिक महत्त्व धारण करने लगा। दूसरे, उनकी इच्छा के विपरीत **बैबिलोनियन जीवन-दर्शन उन्हें प्रभावित करने लगा**। उदाहरणार्थ यह विचार कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और हम उसके कार्यों के रहस्य को नहीं समझ सकते, इसलिए हमें उसकी इच्छा को बिना किसी विरोध के स्वीकृत कर लेना चाहिए, निश्चयतः उनके धर्म पर बैबिलोनियन प्रभाव का प्रमाण है। यह विचार सब से अधिक 'बुक ऑव जॉब' में उभरा है।

हखामशी-युग

नए विचार—ईरानी आधिपत्य के युग में यहूदी धर्म में अनेक परिवर्तन हुए। अभी तक यहूदी धर्म विशुद्ध लौकिक धर्म था। किसी भी नबी ने यह प्रतिपादित नहीं किया था कि मनुष्य को परलोक में उसके कर्मों का फल मिलता है। यद्यपि वे **'शिओल'** के अस्तित्व में अवश्य विश्वास करते थे जहाँ मरने के बाद अच्छे बुरे सब प्राणी—मूसा जैसी कुछ महान् आत्माओं को छोड़कर—जाते हैं और कुछ समय पश्चात् विलुप्त हो जाते हैं, तथापि इसे वे विशेष महत्त्व नहीं देते थे। इसी प्रकार अभी तक उनके धर्म में प्रभु के विरोधी **'शैतान'** की कल्पना भी नहीं थी, जो मनुष्य को कुकर्म करने के लिए भड़काता है। ईरानी धर्म का प्रभाव पड़ने पर वे इन दोनों बातों में विश्वास करने लगे। दूसरे शब्दों

में उनका धर्म परलोकवादी और द्वैतवादी हो गया। दूसरे, अब वे यह विश्वास करने लगे कि शीघ्र ही एक मसीहा (त्राता) का आविर्भाव होगा जो उन्हें कष्टों से मुक्ति दिलाएगा। उसका आविर्भाव होने पर ईश्वरीय राज्य (किंग्डम ऑव गॉड) की स्थापना होगी। उस समय सब जगह शान्ति छा जाएगी, युद्ध बन्द हो जायेंगे और ज्ञान के आलोक से पृथिवी उसी तरह परिपूर्ण हो जाएगी जैसे समुद्र पानी से है। इस विश्वास का घनिष्ठ सम्बन्ध 'मृतात्माओं के पुनरुज्जीवन' (रिसरे`क्शन), तथा 'अन्तिम न्याय' (लास्ट जजमेण्ट) सिद्धान्तों के साथ था। ये सब विचार हस्लामशी युग में शनैः शनैः स्पष्ट और सबल होते गए और कालान्तर में ईसाई धर्म की आधार शिला बने।

यहूदी दर्शन

यहूदी विचारों में निहित असंगतियाँ—यहूदियों की जीवन दृष्टि प्रकृत्या धार्मिक थी, इसलिए उन्होंने विशुद्ध दार्शनिक समस्याओं में उतनी रुचि नहीं ली जितनी यूनानियों ने। वे हर बात के गूढ़ार्थ को जानने का प्रयास अवश्य करते थे, लेकिन तर्क को ज्ञान का आधार बनाकर व्यवस्थित सिद्धान्तों के प्रतिपादन और अपने निष्कर्षों में निहित असंगतियों को सुलझाने की चेष्टा उन्होंने कभी नहीं की। उदाहरणार्थ वे यह मानते थे कि ईश्वर केवल एक है और वह सबको समान दृष्टि से देखता है और उसका शासन दैवी और नैतिक नियमों पर आधारित है, परन्तु इसके साथ ही वे यह भी मानते थे कि वे खुद उसके 'प्रिय पुत्र' हैं और अन्य जातियों की तुलना में उसकी विशेष कृपा के अधिकारी रहे हैं। वे यह कभी नहीं समझ पाए कि ईश्वर का मानव-मात्र का दयालु पिता होना और यहूदियों को अपना 'प्रिय पुत्र' मानना, उसकी न्यायप्रियता और क्षमाशीलता, मनुष्य की इच्छित कर्म करने की स्वतन्त्रता और भाग्यवाद—ये सब परस्पर विरोधी बातें हैं। एक ओर वे कहते कि ईश्वर ने मनुष्य को अन्य प्राणियों और वस्तुओं पर, जिसे उसने 'बहुत अच्छी' बनाकर सन्तोष प्रकट किया था, शासन करने, फलने-फूलने और अपनी संख्या बढ़ाने का आदेश दिया (पृष्ठ १) था लेकिन दूसरी ओर वे घोर निराशा और शंकाओं के शिकार भी रहते थे। एक भजन (साम्) की एक पंक्ति है : 'मूर्ख ने अपने हृदय में कहा है, ईश्वर नहीं है'। इससे संकेतित है कि कि यहूदी समाज में नास्तिक जन सर्वथा अज्ञात नहीं थे। 'बुक ऑव जॉब' में जॉब का ईश्वर को एक ऐसा सर्वशक्तिशाली राक्षस बताना जो सब मनुष्यों को अकारण कष्ट देता है, इसका

are commenced with ... heart rayni's, 10, 3am ...

एक और उदाहरण है। ऐसा लगता है कि यह पुस्तक यहूदी समाज में बढ़ते हुए शंकावाद को दूर करने के लिए ही लिखी गई थी।

५— 'ऐक्ले जिएस्टिज़' का निराशावाद—यहूदी शंकावाद और निराशावाद की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति 'बुक ऑव ऐक्ले जिएस्टिज़' में हुई है। इसका रचयिता सोलोमन को बताया गया है। परन्तु यह निश्चित रूप से तीसरी शताब्दी ई०पू० से प्राचीनतर नहीं हो सकती। सार्तों ने इसकी रचना २५०–१६८ ई०पू० के मध्य मानी है। इसमें जीवन की समस्या का घोर निराशावादी उत्तर दिया गया है। इनमें बताया गया है कि मनुष्य को जीवन में जो दुःख प्राप्त होते हैं उनका उसके कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। **मनुष्य के सुख-दुःख उसके गुण-दोष का नहीं, विशुद्ध संयोग का परिणाम होते हैं।** अच्छे आदमी कष्ट पा सकते हैं और बुरे सुखों का उपभोग कर सकते हैं (तुलनीय पृ० २३९-४०)। जो लोग धन को सुख का कारण मानते हैं वे भी भूल करते हैं क्योंकि **धन से भी स्थायी सुख नहीं** मिलता। बहुत से लोग ज्ञान खोजते हैं, परन्तु **ज्ञान**, मूर्खता से श्रेष्ठतर होने पर भी मनुष्य का सहायक नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसके होने से दुःखों की अनुभूति तो तीव्रतर हो जाती है, लेकिन उनको दूर करने में बिलकुल सहायता नहीं मिलती। मृत्यु सभी की होती है चाहे कोई ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, धनी हो अथवा निर्धन। भूतकाल के लोग सुखी थे अथवा भविष्य में सुखी-समाज की स्थापना होगी, यह सोचना भी व्यर्थ है क्योंकि **संसार में कभी कोई नवीन बात नहीं होती।** जैसा जो कुछ आजकल है, वैसा ही सब कुछ भूतकाल में था और भविष्य में रहेगा। हम प्रगति कर रहे हैं अथवा करेंगे यह सोचना ही भ्रम है। इसी प्रकार पारलौकिक जीवन में सुख पाने की आशा करना भी मूर्खता है, क्योंकि **मरने के बाद सब का एक सा हाल होता है।** सब धूल से बनते हैं, और धूल में मिल जाते हैं। वस्तुतः मनुष्य का जीवन एक ऐसा लक्ष्यहीन चक्र है जो जहाँ से चलता है वहीं रुक जाता है। यह एक ऐसा संघर्ष है जिसमें हार के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। इसलिए मृत्यु के दिन को, जो इस मृग-मरीचिका से मुक्ति दिलाता है, जन्म दिन से श्रेष्ठतर मानना चाहिए।

क़ानून, समाज और सदाचार

विधि-संहिता

यहूदी तोराः अथवा क़ानून-साहित्य—धर्म और दर्शन के बाद यहूदी प्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति उनके न्याय-विधान और साहित्य में हुई है।

उनका न्याय-विधान, जो उनकी सामाजिक और नैतिक अवस्था को जानने का प्रमुख साधन है, 'ओल्ड टेॅस्टामेन्ट' की प्रथम पाँच पुस्तकों—**पेन्टातुएच**—में संगृहीत है। यहूदी लोग इसे **तोराः** कहते हैं। तोराः का अर्थ प्रायः क़ानून (लॉ) किया जाता है, परन्तु इसका सही अर्थ है 'उपदेश'। **इन पुस्तकों की रचना कब हुई कहना कठिन है**। लेकिन इतना स्पष्ट है कि इनमें दिए गए क़ानून विभिन्न युगों में लिखे गए थे, बाद में उनको एकत्र संगृहीत कर दिया गया। इनके प्राचीनतम अंशों के **दो संस्करण** मिलते हैं जो क्रमशः इज़रायल और जूडा में ८वीं शती ई० पू० में लिखे गए थे। इनमें ईश्वर के लिए **एलोहिम** और **जाःवेह** अथवा याःवेह नाम प्रयुक्त हुए हैं। इसलिए इन्हें क्रमशः E और J तथा सम्मिलित रूप से JF कहा जाता है। इन प्राचीनतम अंशों के क़ानून **हम्मूरबी की विधि-संहिता से, कम से कम सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित नियमों में बहुत सादृश्य** रखते हैं। उदाहणार्थ **'बुक ऑव कोॅवेनॅन्ट'** (एक्सो० २०।२१-२२।२३) का 'आँख के लिए आँख और दाँत के लिए दाँत' नियम हम्मूरबी के ऐसे ही एक नियम (पृ० १२१) का अक्षरशः अनुवाद लगता है। इस तथ्य के प्रकाश में यहूदियों का यह विश्वास कि 'बुक ऑव कोॅवेनॅन्ट' का 'आविष्कार' मूसा ने किया था, अग्राह्य हो जाता है। अगर मूसा ने इस पुस्तक की रचना की होती तो इस पर मिस्री क़ानूनों का प्रभाव मिलता, बैबिलोनियन विधि-संहिता का नहीं।

'बुक ऑव कोॅवेनॅन्ट' के अतिरिक्त प्राचीन यहूदी क़ानून **'ओल्डर डेॅकालोॅग'** (एक्सो० ३४।१७-२६) तथा **'बुक ऑव होलीनेस'** (लेवि० १७-२६) में मिलते हैं। ये सब पुस्तकें सम्भवतः नबियों के आविर्भाव के पूर्व अस्तित्व में आ चुकी थीं। बाद में नबियों ने अपने उपदेशों में सामाजिक न्याय और सदाचार का जो उच्च आदर्श रखा उसको जनता के जीवन में उतारने के लिए नए क़ानून बनाए गए। वे **'बुक ऑव ड्यूटेरोनोॅमी'** के 'ड्यूटेरोनोॅमिक कोड' में (७वीं शती ई० पू०), जिसे D कहा जाता है, सुरक्षित हैं। बैबोलियन दासता से मुक्त होने पर यहूदी पुजारियों ने उपासना-विधि और कर्मकाण्ड को व्यवस्थित करने के लिए प्राचीन और नवीन धर्म-नियमों को एकत्र संगृहीत करके **पुजारियों की विधि-संहिता** बनाई। इसे P कहते हैं। हखामशी शासन काल में इन सब पुस्तकों को वर्तमान रूप दिया गया। इसी को पेन्टातुएच अथवा तोराः कहा जाता है। ४४४ ई० पू० में **एज़रा** नामक पुजारी ने सब यहूदियों को बुलाकर **बुक ऑव दि लॉ ऑव मोॅज़िज** का पाठ करवाया था। इसमें एक सप्ताह लगा था। उस समय यहूदियों ने इसको सदैव के लिए अपने विधान के

रूपमें स्वीकृत किया था। एजरा द्वारा प्रस्तुत यह विधान सम्भवतः पेन्टाटुएच अथवा तोराः ही था।

यहूदी क़ानून और धर्म—यहूदी क़ानूनों को प्रायः **तीन भागों में** बाँटा जाता है—कर्मकाण्ड विषयक, नैतिक और सामाजिक। लेकिन यह विभाजन नितान्त अवैज्ञानिक और भ्रामक है क्योंकि उनके अधिकांश कानून ऐसे हैं जो प्रकृत्या अनुष्ठान विषयक, सामाजिक और नैतिक किसी भी वर्ग में रखे जा सकते हैं। प्राचीन युग में प्रायः सभी जातियाँ यह विश्वास करती थीं कि उनके क़ानून उन्हें उनके देवता ने दिए थे। बैबिलोनियन अपने कानूनों को शमश की देन मानते थे (पृ०११६), मिस्री टॉथ की, यूनानी डायोनाइसस की और ईरानी अहुरमज़्दा की। **यहूदियों का विश्वास था कि उनके क़ानून याःवेह ने सिनाई पर्वत पर हज़रत मूसा को दिए थे।** लेकिन इस विषय में वे अन्य जातियों से एक क़दम आगे थे। वे अपने क़ानूनों को याःवेह की देन ही नहीं, उसकी इच्छा (डिवाइन विल) मानते थे। इसलिए सिद्धान्ततः प्रत्येक यहूदी के लिए याःवेह को एकमात्र देवता मानने के साथ उसकी इच्छा का पालन करना आवश्यक था। व्यवहार में वे इन क़ानूनों का पालन कहाँ तक करते थे, यह दूसरी बात है। निश्चयतः इन नियमों और क़ानूनों में **अव्यावहारिक आदर्शवाद** पर्याप्त मात्रा में है। खुद यहूदी नरेश इनको पूरी तरह व्यवहार में लाना असम्भव और कम से कम व्यक्तिगत स्वार्थ की दृष्टि से अवांछनीय मानते रहे होंगे। लेकिन यह भी सर्वथा निश्चित है कि ये क़ानून यहूदियों के लिए सदैव **प्रेरणा का स्रोत बने रहे**।

यहूदी विधि-संहिता की व्यापकता—यहूदी विधि-संहिता अन्य प्राचीन विधि-संहिताओं से अधिक **व्यापक** थी। इसमें धार्मिक, उपासना-सम्बन्धी और नैतिक नियम तो मिलते ही हैं, दैनिक भोजन, सार्वजनिक और व्यक्तिगत शुचिता, प्रसव, मासिक-धर्म, लैङ्गिक विपर्यास, कामातुरता, यौन रोग, कोढ़ तथा अन्य भयंकर रोगों का उपचार एवं खतने की विधि जैसे विषयों का भी विस्तार से विवेचन किया गया है। **विल ड्यूरेण्ट** के अनुसार 'यह धर्म का दैनिक जीवन के प्रत्येक विस्तर के नियामक और राजकौशल के आधार के रूप में प्रयोग का इतिहास में पूर्णतम प्रयास था।'

यहूदी क़ानूनों की जनतान्त्रिक प्रकृति—यहूदी विधान अन्य तत्कालीन जातियों के विधानों से अधिक प्रगतिशील और जनतान्त्रिक था। इसमें अधिकांश अपराधों के लिए **व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को स्वीकृत** किया गया है। इसमें **न्यायाधीशों** के लिए रिश्वत अथवा भेंट लेना, तथा

पक्षपात करना और राजाओं के लिए सम्पत्ति का संग्रह, स्थायी सेना का निर्माण, निरंकुशता के साथ शासन करना, और प्रजाजनों से विदेशों में काम करने के लिए बेगार लेना वर्जित कहा गया है। राजाओं से आशा की गई है कि वे नया मकान बनाने वाले, अंगूर का नया बाग लगाने वाले, नव-विवाहित, डरपोक और निर्बल-हृदय व्यक्तियों को अनिवार्य सैनिक-सेवा से मुक्त रखेंगे, अपने को क़ानून का निर्माता नहीं सेवक समझेंगे तथा विधान की एक प्रति अध्ययन के हेतु सदैव अपने पास रखेंगे।

दण्ड-व्यवस्था · Exodus- chapters 21. [illegible]; chapter 22

यहूदी क़ानून ही नहीं न्याय और दण्ड-व्यवस्था भी धर्म पर आधारित थी। उनके न्यायाधीश पुजारी थे और मन्दिर न्यायालय। दण्ड सामान्यतः 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त पर आधारित थे, लेकिन साधारण अपराधों में मुआवजा देने पर काम चल जाता था। मानव हत्या को गम्भीर अपराध माना जाता था और इसके अपराधी के लिए मृत्युदण्ड का विधान था। याःवेह का 'दूसरा आदेश' था : 'तू हत्या नहीं करेगा'। इस अपराध के अतिरिक्त यह दण्ड मूर्त्तिपूजा, व्यभिचार, पिता पर आक्रमण, दास की चोरी, जादू-टोने के प्रयोग और अप्राकृत मैथुन जैसे अपराध करने पर दिया जाता था। **अपराधी को दण्ड देना अभियोगी अथवा उसके स्वजनों का कर्त्तव्य** माना जाता था। हत्या के मामलों मे भी अभियोगी ही अपराधी को दण्ड देता था। लेकिन उसे कुछ नगर ऐसे अवश्य घोषित करने होते थे जहाँ चले जाने पर उसे अपराधी को छूने का अधिकार नहीं रहता था। **'नवम आदेश'** में याःवेह ने अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही न देने की आज्ञा दी है। अन्यत्र कहा गया है कि झूठी गवाही देने वाले को वही दण्ड दिया जाय जो उसकी गवाही को सही मान लेने पर अपराधी को दिया जाता।

सामाजिक-व्यवस्था

दासों की अवस्था और ऋण सम्बन्धी क़ानून—यहूदी विधि-संहिता कुछ मामलों में अन्य देशों की विधि-संहिताओं से उदार भी थी। इसमें न केवल **अतिथि-सत्कार** और **अनाथों की सहायता** के लिए विस्तरशः नियम दिए गए हैं वरन् दासों और कर्जदारों की अवस्था सुधारने की ओर भी ध्यान दिया गया है। अन्य अनेक जातियों के समान यहूदी भी अपने **बन्दी शत्रुओं को दास बना लेते थे**। उनको प्रायः जंगलों में लकड़ी काटने अथवा खाने खोदने

का काम दिया जाता था। लेकिन उनके मालिकों का उनके जीवन पर अधिकार नहीं माना जाता था। याःवेह के **'चौथे आदेश'** के अनुसार सब लोगों के समान दासों को भी प्रति सप्ताह 'सब्बाथ' की छुट्टी मिलती थी। उन्हें अवकाश में काम करके व्यक्तिगत सम्पत्ति अर्जित करने और अपनी स्वतन्त्रता खरीदने का अधिकार भी था। **नबियों द्वारा सामाजिक अन्याय और शोषण के विरुद्ध चलाया गया आन्दोलन** इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। यहूदी विधि-संहिता में कहा गया है कि मालिकों को प्रति सातवें वर्ष अपने क्रीत दासों को मुक्त कर देना चाहिए। **ऋण सम्बन्धी नियमों** में कहा गया है कि यहूदियों को एक दूसरे से सूद नहीं लेना चाहिए और हर सातवें वर्ष अपना पारस्परिक ऋण माफ कर देना चाहिए। इस सिद्धान्त के अव्यावहारिक सिद्ध होने पर हर पचासवें वर्ष सब दासों और कर्जदारों की मुक्ति का नियम बनाया गया। इसे 'जुबिली' कहा जाता था।

परिवार-संस्था और स्त्रियों की दशा—यहूदी समाज में **संयुक्त-परिवार-संस्था** प्रचलित थी। इसमें पिता और माता के अतिरिक्त उनके अविवाहित बच्चे, विवाहित लड़के और उनकी पत्नियाँ और बच्चे तथा दास-दासियाँ सम्मिलित माने जाते थे। परिवार में **पिता को लगभग असीम अधिकार** प्राप्त थे। वह समस्त सम्पत्ति और परिवार के सदस्यों के जीवन का स्वामी होता था। निर्धन होने पर वह अपनी कुमारी लड़की को, उसके रजस्वला होने के पूर्व, बेच सकता था और उसका जिसके साथ चाहता विवाह कर सकता था। सिद्धान्ततः वह अपनी **पत्नी का भी निरंकुश स्वामी** होता था। पत्नी का सर्वोच्च धर्म था पति की आज्ञा का पालन करना। लेकिन व्यवहार में **स्त्रियाँ काफी सम्मान प्राप्त** करती थी। साराः, रशेल, मिरियम तथा ईस्थर के नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। डेबोराः तथा हुल्डाः नाम की स्त्रियाँ क्रमशः जज और नबी रूप में सम्मानित हुई थीं। **आदर्श स्त्री** वह मानी जाती थी जो अपने पति और बच्चों की देखभाल और घर का प्रबन्ध मेहनत और सूझ-बूझ से करती थी। याःवेह ने अपने **पाँचवे आदेश में** माता-पिता दोनों का आदर करने की आज्ञा दी थी।

विवाह-संस्था—अगर यहूदी समाज का आधार-स्तम्भ परिवार-संस्था थी तो परिवार-संस्था की नींव थी विवाह-संस्था। **विवाह-सम्बन्ध वर-वधू के माता-पिता निश्चित करते थे,** लेकिन **प्रेम विवाह** भी अज्ञात नहीं थे। युद्ध के अवसरों अथवा किसी क़बीले में स्त्रियों की संख्या कम हो जाने पर दूसरे क़बीलों की **स्त्रियों के हरण** के भी उदाहरण मिलते हैं, परन्तु बहुत कम। यहूदी विवाह

एक प्रकार से आसुर-विवाह होते थे क्योंकि वरपक्ष को वधू के बदले में उसके पिता को यथाशक्ति धन देना होता था। बोआज़ ने रूथ को, जेकब ने लिएह और रहेल को तथा नबी होसिया ने अपनी पत्नी को इसी प्रकार खरीदा था। दहेज-प्रथा भी प्रचलित थी।

यहूदियों की सुरक्षा बहुत कुछ उनकी संख्या पर निर्भर थी, इसलिए सम्पन्न पुरुष कई-कई विवाह करते थे और विवाह योग्य कुमारियों और बाँझ स्त्रियों को घृणास्पद, ब्रह्मचर्य को पाप, विवाह-संस्था को आवश्यक और मातृत्व को श्रद्धेय माना जाता था। प्रभूत सन्तान उत्पन्न करने के बाद जब पत्नी सन्तानोत्पत्ति के योग्य नहीं रहती थी, तब प्रायः वह अपने पति को अपनी दासियाँ इस कार्य के लिए अर्पित करती थी। किसी पुरुष के मर जाने पर उसकी पत्नी पर उसके भाई का और भाई के न होने पर निकटतम सम्बन्धी का अधिकार हो जाता था। लेकिन स्त्रियाँ पति की सम्पत्ति मानी जाती थीं इसलिए उनका पर-पुरुष के साथ सम्बन्ध जघन्य अपराध माना जाता था। यह अपराध करने पर उसे और उसके प्रेमी को मृत्युदण्ड दिया जाता था। याःवेह का सातवाँ आदेश था। 'तू व्यभिचार नहीं करेगा'। दसवें आदेश में भी उसने पड़ोसी की पत्नी की लालसा न करने का उपदेश दिया है। तलाक देना पुरुषों के लिए आसान था, स्त्रियों के लिए लगभग एकदम असम्भव।

लेकिन सम्भवतः याःवेह के आदेश को वेश्यागमन के विरुद्ध नहीं माना जाता था। येरूसलम में वेश्याओं की भरमार थी। विशेषतः सीरिया और मोआब इत्यादि पड़ोसी राज्यों की स्त्रियाँ, जो फेरी का सामान बेचने के साथ रति-व्यापार भी करती थी, प्रायः आती रहती थीं। सोलोमन ने इस विषय में क़ानूनों को बहुत शिथिल कर दिया था।

आर्थिक अवस्था

व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार—यहूदी व्यक्तिगत सम्पत्ति अर्जित और सञ्चित करना दैवी अधिकार मानते थे। उनकी सम्पत्ति की परिभाषा काफी व्यापक थी क्योंकि इसमें भूमि मकान और पशु आदि ही नहीं, पत्नी, परिवार के अन्य सदस्य तथा दास-दासियाँ भी सम्मिलित माने जाते थे। दसवें आदेश में कहा गया है : 'तू अपने पड़ोसी के मकान की लालसा नहीं करेगा, तू अपने पड़ोसी की पत्नी की लालसा नहीं करेगा, न उसके दास की, न दासी की न उसके बैल की, न उसके गधे की और न उस किसी भी वस्तु की जो तेरे पड़ोसी की है।' इसी प्रकार आठवें आदेश में कहा गया है: 'तू चोरी नहीं करेगा।'

इन आदेशों ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को धार्मिक आधार प्रदान कर दिया।

यहूदियों का **मूल उद्यम पशुपालन** था। वे शताब्दियों तक यायावर जीवन व्यतीत करते रहे थे इसलिए वे, विशेषतः दक्षिणी प्रदेशों के यहूदी पशु-पालन को आदर्श उद्यम मानते थे और मकानों की अपेक्षा तम्बुओं में रहना पसन्द करते थे। बाद में उन्होंने अञ्जीर, जैतून और अंगूर की **खेती** करना भी शुरू कर दिया। सोलोमन के शासन काल में धनाधिक्य होने पर **उद्योग-धन्धे** विकसित हुए। उस समय से यहूदी व्यापारी येरूसलम में ही नहीं, दमिश्क, टायर तथा सीडोन में भी फलने-फूलने लगे और समस्त पश्चिमी एशिया में व्यापार और उद्योग-धन्धों के लिए **ऋण देनेवाले साहूकारों** के रूप में प्रसिद्ध होने लगे।

यहूदी समाज के तीन स्तम्भ और 'दस आदेश'—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यहूदी समाज के **तीन आधार स्तम्भ** थे—धर्म, परिवार और व्यक्तिगत सम्पत्ति। यह तथ्य उनके 'दस आदेशों' (टेन कमान्डमेन्ट्स) पर सरसरी दृष्टि डालते ही स्पष्ट हो जाता है। इनमें **पहले चार आदेश प्रकृत्या धार्मिक हैं।** इनमें क्रमशः एकमात्र याःवेह की पूजा करने (पृ० २७८), उसकी ओर किसी भी वस्तु की कैसी भी मूर्ति अथवा अनुकृति न बनाने (पृ० २७८), याःवेह के नाम को निष्प्रयोजन न लेने (पृ० २७७) और सप्ताह के सातवें दिन को सब्बाथ—विश्रान्तिवार—रूप में मनाने की आज्ञा दी गई है। **पाँचवे और सातवें आदेशों में** क्रमशः माता पिता का आदर करने (पृ० २८८) और व्यभिचार से बचने (पृ० २८९) का आदेश देकर परिवार संस्था को सबल किया गया है और **छठे, आठवें, नवें तथा दसवें आदेशों में** हत्या (पृ० २८७), चोरी (पृ० २८९), झूठी गवाही (पृ० २८७) और पड़ोसी की सम्पत्ति की लालसा (पृ० २८९) का निषेध करके व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को।

यहूदी साहित्य

'ओल्ड टेस्टामेन्ट'—यहूदियों की सर्वोत्तम साहित्यिक कृति 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' अथवा पुरानी बाइबिल है। यह पश्चिम एशिया के ही नहीं विश्व के **महानतम ग्रन्थों में** एक मानी जाती है। इसकी रचना कई शताब्दियों में सम्पन्न हुई थी (पृ० २८५-८६)। साधारणतः कहा जा सकता है कि इसकी प्रथम पुस्तकें प्राचीनतम हैं और ऐक्लेजिएस्टिज जैसे दार्शनिक अंश नवीनतम।

आख्यान और कथाएँ—'ओल्ड टेस्टामेन्ट' में पश्चिमी एशिया की कुछ सुन्दरतम कृतियाँ सुरक्षित हैं। इनमें कुछ जैसे 'विश्व-सृजन' और 'जलप्लावन' आख्यान, सुमेरियन और बैबिलोनियन कथाओं का यहूदी संस्करण मात्र हैं और अनेक अंश यत्र-तत्र पुनरुक्ति-दोष के कारण नीरस हो गए हैं लेकिन कुछ रचनाएँ विशेषतः प्रेमकथाएँ, युद्धगान, प्रेमगीत, तथा नबियों की वाणियाँ अत्यन्त रोचक और भावपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए रूथ, आइज़क और रेबेका, जेकब और रशेल, जोजेफ और बेञ्जामिन, सेम्सन और डिलायला, ईस्थर, जूडिथ तथा डेनियल की कथाएँ विश्व-साहित्य में आदरणीय स्थान रखती हैं।

काव्य साहित्य : धर्मगीत—यहूदी काव्य-धारा मूसा और डेबोराः के गीतों (साँग ऑव मोज़िज़ तथा साँग आव डेबोराः) से प्रारम्भ होती है और धर्मगीतों की पुस्तक (बुक ऑव साम्स्) तथा सोलोमन के गीत (बुक ऑव सोलोमन) में पूर्णत्व प्राप्त करती है। यहूदी धर्मगीत स्पष्टतः बैबिलोनियन धर्मगीतों द्वारा प्रभावित हुए थे (पृ० १३९-४०)। एक धर्मगीत पर अखनाटन के सूर्य-स्तोत्र का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। बाइबिल में इन्हें डेविड की रचना कहा गया है, लेकिन सम्भवतः ये हख़ामशी काल के कवियों की रचनाएँ हैं। इनमें धर्मप्राण यहूदियों की भक्तिभावना की अत्यन्त भाव-पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। यद्यपि बीच-बीच में इनमें याःवेह के रौद्र रूप और यहूदियों की युद्ध-प्रियता की छाप भी मिलती है, लेकिन शेष सामग्री नास्तिकों के हृदय को हिला देने में भी समर्थ लगती है।

सोलोमन का गीत—बाइबिल के रचयिता अधिकांशतः नबी और पुजारी थे, इसलिए इसके अन्तर्गत उनके लौकिक साहित्य का बहुत कम अंश आ पाया है। लेकिन 'सोलोमन का गीत' इसका अपवाद है। इसकी **रचना कब और किसने की, कहना कठिन है,** क्योंकि इस पर न केवल ईश्तर और तामुज के प्रेम-विषयक बैबिलोनियन गीत का और शुलेमिथ देवी और उसके प्रेमी डाड से सम्बन्धित कैनानी गीत का प्रभाव लगता है वरन् प्रेमी-प्रेमिका के एक दूसरे को भाई-बहिन कहने से मिस्री प्रभाव का और कुछ यूनानी शब्दों के प्रयोग के कारण हेलेनिस्टिक प्रभाव का संकेत भी मिलता है। इसका मूल स्रोत चाहे जो रहा हो, इतना निश्चित है कि इसमें अत्यन्त **उत्कट और उच्छृंखल प्रेम की अभिव्यक्ति** हुई है जो शेष बाइबिल की प्रकृति के **सर्वथा** प्रतिकूल है। The Book of Proverbs..

'बुक ऑव प्रॉवर्ब्स'—बाइबिल की **मुहावरे की पुस्तक** (बुक ऑव प्रॉवर्ब्स)

यहूदियों के सांसारिक ज्ञान का निचोड़ प्रस्तुत करती है। इसका रचयिता सोलोमन को बताया गया है और हो सकता है कि इनमें कुछ सचमुच उसके द्वारा रचे गये हों। लेकिन ये अधिकांशतः सुमेरियन (पृ० १००) मिस्री और यूनानी प्रभाव की देन लगते हैं। सम्भवतः इनको तीसरी-दूसरी शताब्दी ई० पू० में एकत्र संगृहीत करके वर्तमान रूप दिया गया था।

'बुक ऑव जॉब'—यहूदी साहित्यिक प्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति 'बुक ऑव जॉब' में हुई है। कार्लाइल ने इसे विश्व की सर्वोत्तम कृति बताया है। पहले कालेन जैसे विद्वान् इसे एक यूनानी नाटक से प्रभावित मानते थे, लेकिन अब यह सिद्ध हो गया है कि यह एक प्राचीन बैबिलोनियन कथा का रूपान्तर मात्र है (पृष्ठ १३५-३६)। इसकी रचना पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में किसी समय हुई थी लेकिन इसके बाद भी इसमें प्रक्षिप्तांश जोड़े जाते रहे। जेस्ट्रो ने इसके तीसरे से इक्तीसवें अध्यायों को ही मूल रचना माना है और उनमें भी यत्र-तत्र प्रक्षिप्तांशों की संभावना स्वीकृत की है। इस पुस्तक का मुख्य विषय है: सुकर्मी मनुष्य क्यों कष्ट पाते हैं? कभी-कभी ऐसा क्यों लगता है कि ईश्वर कुकर्मियों का पक्ष लेता है और पुण्यात्माओं को कष्ट देता है? इस कथा का नायक जॉब एक अत्यन्त निष्पाप और धार्मिक व्यक्ति है। लेकिन इसके बावजूद वह भयानक कष्टों का शिकार होता है। उसकी सम्पत्ति नष्ट हो जाती है, बच्चे और पशु मर जाते हैं और वह खुद भयानक रोगों का शिकार हो जाता है। प्रारम्भ में वह इन कष्टों को सह लेता है लेकिन धीरे-धीरे उसका साहस साथ छोड़ने लगता है। वह निराश होकर उस दिन को कोसता है जब उसका जन्म हुआ था। उसके मित्र उसे समझाते हैं कि मनुष्यों पर आनेवाली विपदाएँ उनके दुष्कर्मों का परिणाम होती हैं, इसलिए उन्हें साहसपूर्वक सह लेना चाहिए। लेकिन जॉब को इससे सन्तोष नहीं होता। धीरे-धीरे उसकी शंकाएँ बढ़ती जाती हैं और वह ईश्वर को एक ऐसा सर्वशक्तिशाली राक्षस मान बैठता है जो अकारण सब मनुष्यों को कष्ट देता है, उनका 'वैरी' है।

सम्भवतः यह कथा मूलतः इतनी ही थी। बाद में इसमें उपोद्घात और उपसंहार के रूप में कुछ और बातें जोड़ दी गईं। एक तो इसके नास्तिकवादी प्रभाव को दूर करने के लिए प्रारम्भ में याःवेह और शैतान का एक संवाद जोड़ दिया गया जिसमें याःवेह जॉब को अपना प्रिय सेवक बताता है। लेकिन शैतान चुनौती देता है कि जॉब की धार्मिकता तभी तक है जब तक वह सुखों का उपभोग कर रहा है। इस पर याःवेह उसे जॉब को कष्टों में डाल कर उसकी धार्मिकता की परीक्षा लेने की अनुमति दे देता है। दूसरे, ईश्वर के मनुष्य के

प्रति व्यवहार को न्यायपूर्ण सिद्ध करने के लिए कथा के अन्त में यह और जोड़ दिया गया कि जॉब के अत्यधिक शंकालु हो जाने पर याःवेह ने आकाशवाणी द्वारा प्रकृति के भीषण और अति गुरु रूप को जॉब के सम्मुख प्रकट किया। इससे जॉब यह समझ गया कि अपनी क्षुद्र बुद्धि की सहायता से मनुष्य ईश्वर की महिमा को, उसके कृत्यों के रहस्य को नहीं जान सकता। उसके पश्चाताप करने पर याःवेह ने उसे क्षमा कर दिया और दीर्घ जीवन तथा प्रभूत सम्पत्ति प्रदान की। इस प्रकार जॉब को सब कुछ मिल गया, सिवाय इस प्रश्न के उत्तर के कि सुकर्मी मनुष्य क्यों कष्ट पाते हैं। काश वह भारत के किसी सन्त से मिला होता!

यहूदी सभ्यता की देन

यहूदी जाति राजनीतिक महत्त्व की दृष्टि से पड़ोस में निवास करने वाली बैबिलोनियन, मिस्री और असीरियन जातियों की तुलना में अत्यन्त नगण्य थी और इतिहास के रंगमंच पर काफी देर से अवतीर्ण हुई थी। लेकिन उसकी सभ्यता ने मानव इतिहास को जितना प्रभावित किया है उतना शायद मिस्री और बैबिलोनियन सभ्यताओं ने भी नहीं, हित्ती और असीरियन सभ्यताओं की तो बात ही क्या। उसके डेविड और सोलोमन जैसे राजा तथा होसिया और अमोस जैसे नबियों की स्मृति मिस्र के रेमेसिसों, बैबिलोन के हम्मूरबियों और और असीरिया के असुरबनिपालों से अधिक स्थायी सिद्ध हुई है। इसका प्रमुख कारण रहा है उनका धर्म। उनके अनागतदर्शी नबियों ने जिस नैतिक धर्म का विकास किया था उसे कालान्तर में ईसाइयों ने अपने धर्म की पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकृत किया। उन्होंने ओल्ड टेस्टामेन्ट को अपनी बाइबिल का अभिन्न अंग मान लिया जिससे यहूदियों का सम्पूर्ण सांस्कृतिक उत्तराधिकार—उनके दस आदेश, कानून, जलप्लावन और जगत् की उत्पत्ति जैसे आख्यान, ईश्वर की विश्व के विधायक और संरक्षक के रूप में कल्पना आदि—उनका अपना हो गया। ईसा मसीह खुद यहूदी थे और उन्होंने यह घोषित किया था कि उनका उद्देश्य (मिशन) 'तोराः' अथवा 'लॉ' का समापन था, विनाश नहीं। सन्त पॉल भी 'लॉ' को उस अध्यापक के समान मानते थे जो मनुष्य को ईसा मसीह के पास ले जाए। यहूदी नबियों ने घोषित किया था कि 'याःवेह के दिन' (डे ऑव याःवेह) 'दैवी राज्य' (किंगडम ऑव गॉड) की स्थापना होगी। लेकिन उनकी यह कल्पना सदोष थी क्योंकि वे इसको एक भावी घटना मानते थे और इस राज्य के नागरिक होने का अधिकारी केवल यहूदियों को। ईसाई

धर्म ने इन दोनों दोषों को दूर किया और दैवी राज्य को भावी घटना नहीं जन-जन के हृदय में सदैव विद्यमान रहने वाला सत्य बताया और इसका अधिकारी नागरिक मनुष्य मात्र को घोषित किया। लेकिन इस नई व्याख्या के बावजूद यह माना जाता रहा कि मानव जीवन में आध्यात्मिक क्रान्ति ला देने वाले इस दैवी संदेश के बीज यहूदी नबियों की वाणी में ही प्रस्फुटित हुए थे। इसलिए इस अर्थ में यहूदियों को ईश्वर का प्रिय-पुत्र और उनके धर्म-ग्रन्थ को ईश्वर प्रणीत माना जाता रहा।
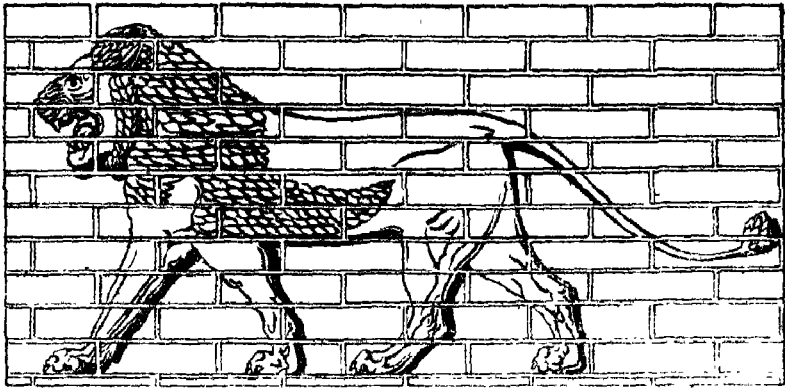
१०

कैल्डियन पुनर्जागरण

All this came upon the king Nebuchadnezzar. At the end of twelve months he walked in the palace of the kingdom of Babylon. The king spake, and said, Is not this great Babylon, that I have built for the house of the kingdom by the might of my power, and for the honour of my majesty?

—*Daniel IV*, 28-30.

राजनीतिक इतिहास

कैल्डियन जाति

असीरिया के आधिपत्य से मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् बैबिलोन के इतिहास में सेमेटिक जाति की एक शाखा कैल्डियन के नेतृत्व में शक्ति, वैभव तथा समृद्धि का एक नवीन, संक्षिप्त परन्तु गौरवपूर्ण युग प्रारम्भ होता है। कैल्डियनों का ध्यान बहुत समय से बैबिलोनिया के उर्वर भू-प्रदेश पर लगा हुआ था। असीरियन साम्राज्य के युग में उन्होंने ऐरेमियनों के साथ बैबिलोनिया में प्रवेश किया। परन्तु वे छोटे-छोटे कबीलों में बँटे हुए थे, इसलिए असीरियन उनसे परेशान रहने के बावजूद उनको दबाये रखने में सफल रहे।

इस पृष्ठ के ऊपर नेबूशद्रेज्जर के शासनकाल के बैबिलोन के 'विजय मार्ग' (पृ० ३०२) के दोनों ओर निर्मित भित्तियों पर बनी पशु-मूर्तियों में से एक सिंह का चित्र दिया गया है। यह मार्ग ईश्तर द्वार से होकर गुजरता था।

सारगोन द्वितीय का समकालीन कैल्डियन सरदार **मर्दुक बल्दान** बहुत योग्य था। उसने कैल्डियनों में एकता स्थापित की और ऐरेमियनों तथा एलमियों को असीरिया के विरुद्ध सहायता देने के लिये उकसाया। ७२१ ई० पू० में उसने विद्रोह कर दिया। बारह वर्ष तक बैबिलोन पर उसका अधिकार बना रहा परन्तु अन्त में सारगोन ने उसे पराजित करने में सफलता पाई। इससे कैल्डियन हतोत्साह नहीं हुए। वे बराबर असीरिया के विरुद्ध विद्रोह करते रहे। **सेनाक्रेरिब** के बैबिलोन को ध्वस्त कर देने पर भी उनके उत्पात बन्द नहीं हुए। उल्टे बैबिलोन के निवासियों की सहानुभूति उन्हीं की ओर हो गई। **असुरबनिपाल** का कैल्डियन सरदार नेबू-पल-उसुर अथवा **नेबोपोलस्सर** को गवर्नर नियुक्त करना कैल्डियनों के प्रभाव का सूचक है।

राजनीतिक इतिहास

नेबोपोलस्सर—नेबोपोलस्सर (६२५-६०४ ई० पू०) ने असुरबनिपाल की मृत्यु के अगले वर्ष ही **स्वतन्त्रता की घोषणा** कर दी। उस समय उसका अधिकार बैबिलोन और बोरसिप्पा से अधिक दूर तक नहीं था। परन्तु वह महत्त्वाकांक्षी और दूरदर्शी व्यक्ति था। असीरियन साम्राज्य के विघटन से लाभ उठाने के लिए उसने मीडिया के शासक **उवक्षत्र** के साथ सन्धि की और ६१२ ई० पू० में निनेवेह पर आक्रमण करके **असीरियन साम्राज्य का सदैव के** लिये अन्त कर दिया। कुछ वर्ष पूर्व तक यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं था कि नेबोपोलस्सर ने निनेवेह की विजय में क्रियात्मक भाग लिया था अथवा नहीं। परन्तु हाल ही में **गैड** नामक विद्वान् द्वारा प्रकाश में लाए गए एक अभिलेख से यह स्पष्ट हो गया है कि उसने इस अभियान में व्यक्तिगत रूप से भाग लिया था। इस विजय के पश्चात् **दोनों विजेताओं ने असीरियन साम्राज्य को आपस में बाँट लिया।** नेबोपोलस्सर को सम्पूर्ण उर्वर-अर्धचन्द्र, अर्थात् उत्तर में असुर नगर तक और पश्चिम में भूमध्यसागर तक के प्रदेश मिले और उवक्षत्र को पूर्वी तथा उत्तरी पर्वतीय प्रदेश।

मिस्र का आक्रमण : नेबूशद्रेज्जर की विजय—नेबोपोलस्सर के शासन काल के अन्तिम वर्षों में मिस्री फराओ **नीको द्वितीय** ने पश्चिमी एशिया पर आक्रमण करके सीरिया और फिलिस्तीन पर अधिकार कर लिया। असीरियन साम्राज्य का उत्तराधिकारी होने के कारण नेबूशद्रेज्जर इन प्रदेशों को अपने प्रभाव के अन्तर्गत मानता था। ६०४ ई० पू० में उसने अपने पुत्र नेबू-कुदुर-असुर अथवा **नेबूशद्रेज्जर** को इन प्रान्तों पर अधिकार करने के लिये भेजा। **नीको**

बुरी तरह पराजित हुआ। नेबूशद्रेज्जर ने मिस्र की सीमाओं तक उसका पीछा किया परन्तु तभी उसे अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर लौटना पड़ा। यह युद्ध मिस्र और बैबिलोन का प्रथम प्रत्यक्ष संघर्ष कहा जा सकता है।

नेबूशद्रेज्जर द्वारा साम्राज्य निर्माण—नेबूशद्रेज्जर (६०४-५६२ ई० पू०) बैबिलोनिया के सम्पूर्ण इतिहास में **महानतम शासकों में गिना जाता है।** वह अपनी सैनिक सफलता के लिये ही नहीं वरन् सांस्कृतिक गति-विधियों के लिए भी प्रसिद्ध है। उसने सीरिया और फिलिस्तीन के अधिकांश भाग पर पहले ही अधिकार कर लिया था। लेकिन जूडा ने, जेरेमिया के चेतावनी देने के बावजूद (पृ० २८१), उसका विरोध किया। उसे इस दुस्साहस का दण्ड देने के लिए नेबूशद्रेज्जर ने ५९६ ई० पू० में और उसके बाद ५८६ ई० पू० में आक्रमण किए। जूडा का पतन हुआ और **येरूसलम के अधिकांश नागरिक बन्दी बनाकर बैबिलोन भेज दिए गए** जहाँ वे ५३८ ई० पू० में कैल्डियन साम्राज्य का पतन होने तक रहे। इसके बाद **फिनीशियन नगरों ने भी उसके प्रभुत्व को स्वीकृत कर लिया।** बाइबिल के एक अस्पष्ट संकेत के अनुसार उसने ५६८-६९ ई० पू० में **मिस्र पर भी सफल आक्रमण** किया था।

मीडिया से सम्बन्ध—नेबूशद्रेज्जर के अभिलेख प्रचुर संख्या में प्राप्त हुए हैं, परन्तु उनसे मन्दिरों के जीर्णोद्धार अथवा निर्माण के विवरण के अतिरिक्त कोई महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त नहीं होती। नेबूशद्रेज्जर की सामरिक सफलता को देखते हुए यह तथ्य आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। अतः बहुत से विद्वानों ने यह अनुमान प्रकट किया है कि नेबूशद्रेज्जर मीडिया के राजा के अधीन था और उसने ये युद्ध अपने स्वामी के संकेत पर लड़े थे। परन्तु इस मत के समर्थन में प्रमाणों के अभाव और नेबूशद्रेज्जर के समय में **बैबिलोन की समृद्धि और शक्ति** को देखते हुए यह सम्भव नहीं लगता। इसके अतिरिक्त हेरोडोटस के अनुसार एक बार नेबूशद्रेज्जर ने **लीडिया और मीडिया संघर्ष में मध्यस्थता** भी की थी। यह तथ्य उसके मीडिया के शासक के अधीन नहीं वरन् स्वतन्त्र होने का द्योतक है।

नेबूशद्रेज्जर के उत्तराधिकारी—नेबूशद्रेज्जर के पश्चात् उसके पुत्र ने केवल दो वर्ष (५६२-६० ई० पू०) और उसके बाद **नेर्गल-शर-उसुर** नामक एक **धनी सामन्त** ने चार वर्ष राज्य किया। ५५६ ई०पू० में उसके पुत्र की हत्या करके पुजारियों ने **नेबू-नाइद** अथवा **नबोनिडस** (५३६-५३९ ई० पू०) नामक **व्यापारी को सम्राट् नियुक्त किया।** नबोनिडस की रुचि राजनीति से अधिक **निर्माण-कार्य और पुरातत्त्व** में थी (पृ० ४२-४३)। **उसके शासन काल में ईरान**

में **कुरुष महान्** के नेतृत्व में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना हुई। कुरुष ने ५५० ई० पू० में मीडिया पर और ५४५ ई० पू० में लीडिया पर अधिकार करके अपने राज्य को साम्राज्य में परिणत किया। ५३९ ई० पू० में उसने **बैबिलोन पर आक्रमण किया।** नबोनिडस की पराजय हुई और ५३८ ई० पू० में बैबिलोन के पुजारियों ने **कुरुष का 'त्राता' के रूप में स्वागत** किया।

कैल्डियन धर्म और दर्शन

कैल्डियन पुनर्जागरण—कैल्डियन अपने को प्राचीन बैबिलोनियनों का वंशज मानते थे, इसलिए उन्होंने प्राचीन **बैबिलोनियन सभ्यता को पुनर्स्थापित करने का भरसक प्रयास** किया और कुछ सीमा तक उन्हें इसमें सफलता भी मिली। कम से कम बैबिलोनियन क़ानून, शासन-पद्धति, तथा उद्योग और व्यापार पर आधारित आर्थिक-व्यवस्था को नवजीवन प्रदान करने में वे सफल रहे। इसीलिए उनके शासनकाल को बहुधा **'नव-बैबिलोनियन'** अथवा **'कैल्डियन पुनर्जागरण का युग'** कहा जाता है।

'पुनर्जागरण' की सीमा—परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कैल्डियनयुगीन बैबिलोनियन सभ्यता और प्राचीन बैबिलोनियन सभ्यता में कोई अन्तर नहीं था। निश्चित रूप से कैल्डियन समय की गति के विपरीत नहीं जा सकते थे। हम्मूरबी के शासन काल से नेबूशद्रेज़्ज़र के शासन काल तक **पश्चिमी एशिया में हुए परिवर्तनों** तथा **आन्तरिक विकास** के परिणामस्वरूप बैबिलोनियन जीवन-दर्शन में जो परिवर्तन आ गए थे उनको मिटाना कैल्डियनों की शक्ति के बाहर था। इसलिए उनके पुनर्जागरण के कारण प्राचीन **बैबिलोनियन सभ्यता के बाह्य रूप की पुनर्स्थापना अधिक हुई मूल तत्त्वों की कम।** इसका सबसे अच्छा उदाहरण कैल्डियन धर्म है।

कैल्डियन देवताओं का व्यक्तित्व—कैल्डियन शासनकाल में बैबिलोनियन धर्म का बाह्य रूप प्राचीन काल के समान हो गया और **मर्दुक को पुनः सर्वोच्च देवता का पद मिला।** परन्तु प्राचीन धर्म के बावजूद कैल्डियनों की धर्म दृष्टि प्राचीन बैबिलोनियनों के समान नहीं हो पाई। बैबिलोनियनों ने अपने देवताओं को मानवीय रूप में देखा था। उनके देवता अमर थे, परन्तु उनमें मानवीय दुर्बलताएँ भी थीं। इसलिए पुजारी मन्त्र के बल से उन्हें अपने वश में कर सकते थे। इसके विपरीत कैल्डियनों ने अपने देवताओं को **सर्वशक्तिमान** माना और उनके **ग्रहों से तादात्म्य पर बल** दिया। अब ग्रहों का अध्ययन करके मनुष्य देवताओं

की गतिविधि के सम्बन्ध में कुछ अनुमान कर सकता था परन्तु उनके **अन्तिम लक्ष्य को जानना या जादू के ज़ोर से उन्हें वश में करना उसके लिये असम्भव था।**

कैल्डियन भाग्यवाद—देवताओं के विषय में कैल्डियनों की इस कल्पना के दो परिणाम हुए। एक, इसके कारण कैल्डियन घोर भाग्यवादी हो गए। क्योंकि मनुष्य देवताओं के लक्ष्य को नहीं जान सकता, इसलिए उसे भाग्य में जो लिखा हो स्वीकृत कर लेना चाहिए। परन्तु कैल्डियन जीवन-दृष्टि में देवताओं द्वारा लिखित **भाग्य को स्वीकृत करने का उद्देश्य** इससे देवताओं को प्रसन्न करके **परलोक** में सुख पाना नहीं था। वस्तुतः पारलौकिक सुख-दुःख की ओर उनका ध्यान विशेष था भी नहीं। उनके भाग्यवाद का अर्थ देवताओं के रहस्य को न समझने के कारण उनकी अज्ञात इच्छा का स्वीकार मात्र था।

आध्यात्मिक चेतना—देवताओं और ग्रहों को एक मानने तथा उनको मनुष्य का भाग्य-विधाता स्वीकृत करने का प्रभाव उनकी आध्यात्मिक चेतना पर भी पड़ा। उन्होंने ऐसे बहुत से **पूजागीत** और **स्तुतियाँ** लिखीं जिनमें देवताओं को मनुष्य के आचार और व्यवहार पर विचार करने वाला बताया गया है। यद्यपि इस युग में भी **सदाचार से तात्पर्य** बहुधा देवताओं को यथाविधि बलि इत्यादि देना था, परन्तु यत्र-तत्र वास्तविक सदाचार पर भी बल दिया गया है। उनकी बहुत सी स्तुतियाँ तो ऐसी हैं जिन्हें मामूली अन्तर के साथ यहूदी भी प्रयुक्त कर सकते थे।

कैल्डियन निराशावाद—कैल्डियन धर्म में देवताओं का स्थान उच्चतर हो जाने से **मनुष्य का स्थान** निम्नतर हो गया। अब मनुष्य ग्रहों में निवास करने वाले सर्वशक्तिमान भाग्य-विधाता देवताओं की तुलना में अत्यन्त **तुच्छ** और **सत्कर्मविहीन** हो गया। कैल्डियन जीवन-दृष्टि में मनुष्य उस कैदी के समान था जिसके हाथ पैर बँधे हो और अँधेरे में भटक रहा हो। मनुष्य ने खुद को इतना दुर्बल असहाय और पापिष्ठ कभी नहीं समझा था। कैल्डियनों का यह विश्वास था कि मनुष्य प्रकृत्या पाप किए बिना नहीं रह सकता। परन्तु पाप से बचने के लिए शरीर को यन्त्रणा देकर मुक्ति पाने में उनको आस्था नहीं थी। इस दृष्टि से वे घोर भौतिकवादी थे। वे **नैतिक जीवन का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं मानते** थे। इसलिए देवताओं से प्रार्थना करते समय वे सदाचारी होने का नहीं वरन् सुख से जीवन व्यतीत करने के लिए सम्पत्ति, दीर्घायु तथा पुत्रादि का वरदान मांगते थे।

व्यावहारिक सदाचार—धर्म और सदाचार के पार्थक्य के कारण बैबि-

लोनियनों का व्यावहारिक जीवन बहुत दूषित हो गया। उनका नगर बैबिलोन अपने **वेश्यालयों के लिए समस्त विश्व में बदनाम** था। हेरोडोटस के अनुसार बैबिलोन में प्रत्येक स्त्री को जीवन में कम से कम एक बार ईश्तर के मन्दिर में किसी पर-पुरुष के साथ, जो भी उसे पसन्द कर लेता था, समागम करना पड़ता था। यह एक ऐसा प्रतिबन्ध था जिसे धनी वर्ग की स्त्रियों को भी मानना पड़ता था। प्रत्येक मन्दिर में देवदासियाँ रहती थीं जो देवता की प्रसन्नता के लिए रति-व्यापार करती थीं। बैबिलोन के जिगुरत में प्रत्येक रात्रि एक देवदासी सुसज्जित कक्ष में देवता की प्रतीक्षा करती थी। बहुत सी स्त्रियाँ मदिरालयों का संचालन करती थीं। ये **मदिरालय** भी वेश्यावृत्ति के केन्द्र थे। धनी पुरुष अपने भोग के लिए **उप-पत्नियाँ** रखते थे। विवाह के पूर्व युवक-युवतियों को परस्पर मिलने-जुलने की पूरी स्वतन्त्रता दी जाती थी। ऐसे सम्बन्ध को **प्रयोग-विवाह** माना जाता था जो दोनों पक्षों में किसी एक की इच्छा से टूट सकता था। पूर्ण-विवाह माता-पिता द्वारा स्थिर किये जाते थे, परन्तु बहुधा पिता **अपनी पुत्री को धन लेकर बेच देते थे**। हेरोडोटस के अनुसार **विवाह योग्य लड़कियों का एक बाजार लगता था**, जिसमें उन्हें नीलाम कर दिया जाता था। परन्तु खरीदने वाले व्यक्ति को यह वचन देना होता था कि वह उस लड़की से विवाह करेगा। अधिकांश निर्धन पुरुष अपनी लड़कियों से **वेश्यावृत्ति** कराते थे। बैबिलोन के पतनशील युग में आचार-हीनता केवल स्त्रियों तक सीमित नहीं थी, पुरुषों में भी फैल गई थी। अब बैबिलोन के नागरिकों का ध्यान साहित्य और कला की साधना के स्थान पर अपने बालों को घुँघराले बनाने और रंगने तथा शरीर को आभूषणों से सजाने और सुगन्धित करने में अधिक रहता था। बैबिलोनियन समाज के भ्रष्ट आचरण के विषय में सुनकर चौथी शताब्दी ई० पू० में अलेक्जेन्डर को घोर जुगुप्सा हुई थी।

ज्योतिष और खगोल-विद्या

कैल्डिया : 'खगोल-विद्या की माता'—कैल्डियन ग्रहों को देवता मानते थे और सिद्धान्ततः भाग्यवादी थे, इसलिए खगोल-विद्या और ज्योतिष के अध्ययन में बहुत रुचि लेते थे। बैबिलोन के पतन के आठ सौ वर्ष उपरान्त भी वे **रोमन साम्राज्य** में अपनी खगोल-विद्या में निपुणता के लिए प्रसिद्ध थे और उनका देश 'खगोल-विद्या की माता' कहलाता था। सम्भवतः **नए टेस्टामेन्ट** में पूर्व के जिन बुद्धिमान पुरुषों का जिक्र हुआ है, वे कैल्डिया के ज्योतिषी ही थे। कैल्डियन पुजारी बेरोसॉस (तीसरी शताब्दी ई० पू०) की सही

भविष्यवाणियों से प्रसन्न होकर एथेन्सवासियों ने उसकी मूर्तियाँ स्थापित की थीं। सम्भवतः हेलेनिस्टिक युग के पूर्व कैल्डियन 'निकट-पूर्व' के योग्यतम खगोलवेत्ता और ज्योतिषी थे।

कैल्डियनों ने समय के विभाजन की पुरानी पद्धति में कुछ संशोधन किया। उन्होंने सप्ताह को सात दिनों में, दिन को १२ घण्टों में और घण्टे को १२० मिनटों में बाँटा। **ग्रहणों का अध्ययन** उन्होंने विशेष रूप से किया। इस विषय में उनका ज्ञान अन्य तत्कालीन जातियों से अत्यधिक विकसित था और उनकी ग्रहण विषयक भविष्यवाणियाँ बहुधा ठीक उतरती थीं। वे लगभग ३५० वर्ष तक, ५३८ ई० पू० में बैबिलोन के पराभव के बाद भी, ग्रहण आदि घटनाओं का विवरण रखते रहे, जिससे हेलेनिस्टिक युग के वैज्ञानिकों ने बहुत लाभ उठाया। उनके नेबू-रिमन्नु नामक खगोल वेत्ता द्वारा निश्चित की गई **वर्ष की लम्बाई** और वर्ष की वास्तविक लम्बाई में, जिसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने निश्चित किया है, केवल २६ मिनट का अन्तर है। एक अन्य कैल्डियन खगोलवेत्ता किडिन्नु ने पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में **पृथिवी की धुरी के वार्षिक झुकाव की खोज की।** कैल्डियनों ने नक्षत्रों को बारह राशियों में विभाजित किया। **इससे आकाश का मानचित्र** बनाने में सहायता मिली।

बैबिलोन का पुनर्निर्माण

हेरोडोटस का बैबिलोन वर्णन—ज्योतिष और खगोल-विद्या के अतिरिक्त कैल्डियनों ने भवन-निर्माताओं के रूप में भी कीर्ति अर्जित की। उनके बनवाए हुए भवनों के कारण बैबिलोन समस्त विश्व में प्रसिद्ध हो गया। विशेषतः पश्चिमी देशों में उसे अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। जब 'इतिहास पिता' **हेरोडोटस** ने अपने ग्रन्थ की रचना के लिए व्यक्तिगत रूप से अनुभव प्राप्त करने के लिए विदेशों की यात्रा की, तब वह बैबिलोन भी गया था। उसके 'इतिहास' में कैल्डियनयुगीन बैबिलोन के वैभव और सामाजिक जीवन का बड़ा दिलचस्प वर्णन मिलता है। उसके अनुसार **बैबिलोन का क्षेत्रफल** २०० वर्गमील था। स्पष्टतः इसमें नगर के क्षेत्रफल के चारों ओर स्थित उपवनों और कृषि-क्षेत्रों को भी सम्मिलित कर लिया गया है। उसके शेष विवरण की पुष्टि १८९९ से १९१७ ई० तक जर्मन विद्वान् **कोल्डेवी** द्वारा बैबिलोन में किए गये उत्खनन से हो जाती है।

बैबिलोन के उत्खनन में जिन भवनों के अवशेष प्राप्त हुए हैं वे सब कैल्डियन सम्राटों ने बनवाए थे। इससे पुराने भवन असीरियन सम्राट् सेनाकेरिब की

प्रतिहिंसा के शिकार हो गये थे, इसलिए उनके अवशेष आजकल उत्खनन में प्राप्त नहीं होते।

नेबूशद्रेज्जर का बैबिलोन—कैल्डियन सम्राटों में नेबोपोलस्सर, नेबूशद्रेज्जर तथा नबोनिडस निर्माण-कार्य में विशेष रूप से रुचि रखते थे। **नेबोपोलस्सर** ने एक राजप्रासाद का निर्माण कराया और बैबिलोन के **पुनर्निर्माण की योजना** बनाई। उसके पुत्र **नेबूशद्रेज्जर** ने, जो अपने वंश का ही नहीं वरन् समस्त पश्चिमी एशिया का सबसे महान् निर्माता था, राजप्रासाद को पूर्ण कराया और नगर के नव-निर्माण की योजना को कार्यान्वित किया। उसने बैबिलोन की सुरक्षा के लिए पुरानी **आन्तरिक प्राचीर** (इमगुर-बेल) को पूरा कराया और एक नवीन **बाह्य प्राचीर** (निम्मिति-बेल) बनवाई जो हेरोडोटस के अनुसार, ५६ मील लम्बी और इतनी चौड़ी थी कि चार घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाला रथ उसके ऊपर चल सके। इन दोनों प्राचीरों के मध्य एक उपयुक्त स्थान पर उसने ईंटों के एक विशाल चबूतरे पर एक **विशाल दुर्ग** (कस्र) का निर्माण कराया। इन दोनों प्राचीरों के अतिरिक्त उसने और बहुत-सी **दीवारें** और **खाइयाँ** बनवाईं जिससे नगर पूरी तरह सुरक्षित रहे। उसने कितने ही नवीन भवन और मार्ग भी बनवाये जिनके कारण बैबिलोन तत्कालीन विश्व का सुन्दरतम नगर बन गया। फ़रात नदी उस समय बैबिलोन के बीच से बहती थी। उसके दोनों तटों को मिलाने के लिए नेबूशद्रेज्जर ने एक **पुल बनवाया** जिसके अवशेष उत्खनन में प्राप्त हुए हैं। उसके द्वारा बनवाये हुए मार्गों में दुर्ग से मर्दुक के मन्दिर ए-सागिल को जाने वाला मार्ग जो एबुर-शबु अर्थात् **'विजय मार्ग'** कहलाता था, उल्लेखनीय है। यह मार्ग **इश्तर-द्वार** (चित्र ७५) से गुजरता था, जिसमें पॉलिशदार बहुरंगी ईंटों से रिलीफ में मूर्तियाँ बनी हुई थीं। ईश्तर-द्वार के पीछे नेबूशद्रेज्जर का **राजप्रासाद** और **राजकार्यालय** थे।
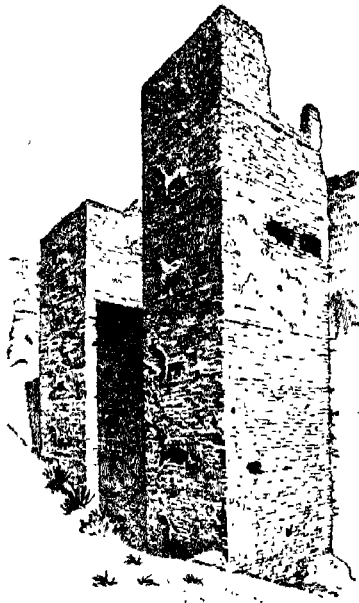
चित्र ७५ : ईश्तर-द्वार
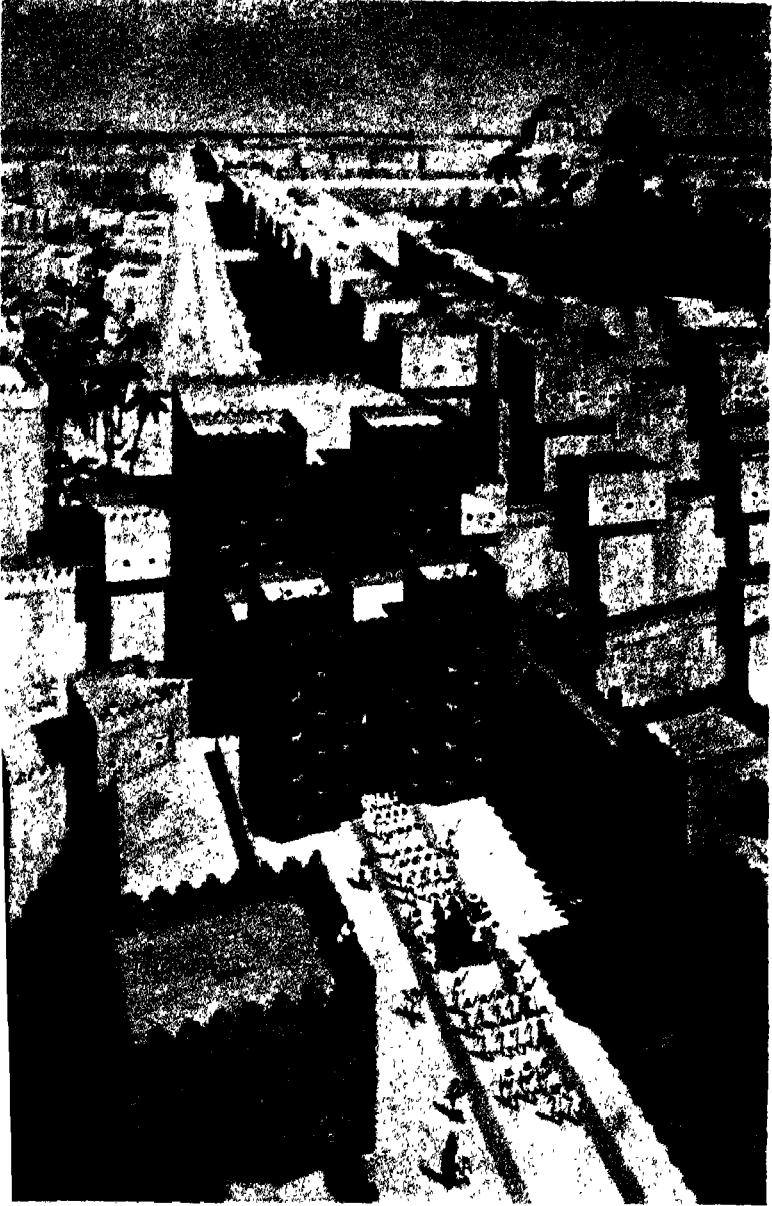
नेबोपोलेस्सर द्वारा निर्मित ईश्तर-द्वार का काल्पनिक समवायवी चित्र

—ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, यूनीवर्सिटी ऑव शिकागो

इस द्वार के पास ही वह विशाल जिगुरत था जो इतिहास में बैबिलोन की मीनार के नाम से प्रसिद्ध है। राजप्रासाद के समीप सुप्रथित झूलते बाग थे, जिनकी यूनानी विश्व के सात आश्चर्यों में गणना करते थे। ये नेबूशद्रेज्जर की मीडियन रानी (उवक्षत्र की पुत्री) के लिए बनवाए गए थे, जो बैबिलोन की गर्मी सहन नहीं कर पाती थी। ये उपवन स्तम्भों पर टिके हुए थे इनमें फरात नदी का पानी ऊपर चढ़ाने वाले यन्त्र लगे थे जिनको राजकीय दास चलाते रहते थे।

अन्य नगरों में निर्माण-कार्य—नेबूशद्रेज्जर ने बैबिलोन के अतिरिक्त अन्य नगरों में भी भवन निर्मित कराए। इनमें **बोरसिप्पा में ए-ज़िदा मन्दिर का निर्माण** उल्लेखनीय है। सम्भवतः वह पहला बैबिलोनियन शासक था जिसने समुद्री यातायात से लाभ उठाने के लिए फारस की खाड़ी के तट पर एक बन्दरगाह बनवाया। **नेबोनिडस** ने नेबूशद्रेज्जर की भवन-निर्माण की परम्परा को जीवित रखा। उसने बैबिलोन, सिप्पर तथा हर्रान में मन्दिर बनवाए।

बैबिलोन का विश्व इतिहास में स्थान

महान् राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र—विश्व की प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास में बैबिलोन नगर का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। यह एक **महान् साम्राज्य की राजधानी** ही नहीं एक प्रकार से पश्चिमी एशिया की **सांस्कृतिक राजधानी** भी था। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य तक समस्त पश्चिमी एशिया बैबिलोन के सांस्कृतिक प्रभाव को महसूस करने लगा था। इस दृष्टि इसे **सुमेरियन सांस्कृतिक थाती को अन्य देशों तक पहुँचाने का श्रेय** दिया जा सकता है।

बैबिलोनियन भाषा और लिपि की लोकप्रियता—बैबिलोनियनों के सांस्कृतिक प्रभाव का **प्रमाण और माध्यम** बैबिलोनियन भाषा और कीलाक्षर लिपि थे। १५ वीं शताब्दी ई० पू० तक उनकी भाषा और लिपि समस्त पश्चिमी एशिया और मिस्र में **कूटनीतिक पत्र-व्यवहार का अन्तर्राष्ट्रीय माध्यम बन** चुकी थीं। मिस्री सम्राट् असीरिया, बैबिलोनिया और सीरिया ही नहीं, फिलिस्तीन में स्थित अपने गवर्नरों के साथ पत्र-व्यवहार करते समय भी इनका प्रयोग करते थे। उत्तरी मेसोपोटामिया के **मितन्नी** शासकों और अनातोलिया के **हित्तियों** ने भी कीलाक्षर लिपि को अपनाया था। **असीरिया** में कीलाक्षर लिपि का प्रयोग बहुत पहले ही प्रारम्भ हो चुका था। उनसे उनके उत्तर में निवास करनेवाली **उरर्तु जाति** ने इस लिपि को लिया। बैबिलोन के पूर्वी पड़ोसी **एलम** की अपनी

स्वदेशी चित्राक्षर लिपि थी। दूसरी शहस्राब्दी ई० पू० में वहाँ भी उसके स्थान पर बैबिलोनियन लिपि का प्रचार हो गया। बैबिलोन के पतन के पश्चात् **फारस के हखामशी सम्राटों ने** अपनी प्राचीन भाषा के लिए कीलाक्षर लिपि के आधार पर एक चिह्न सूची बनाई जिससे बैबिलोनिया तथा सूसियाना (एलम) में की जानेवाली राजघोषणाओं में उनकी भाषा भी स्थान पा सके।

बैबिलोनियन साहित्य और धर्म की लोकप्रियता—बैबिलोनियनों की भाषा और लिपि से परिचित हो जाने पर पड़ोसी जातियाँ उनके साहित्य से भी न्यूनाधिक परिचित हुईं। और क्योंकि उनका साहित्य अधिकांशतः प्रकृत्या धार्मिक था, इसलिए उनके साहित्य से परिचित होने का अर्थ था उनके **धर्म और धार्मिक आख्यानों से** परिचित होना। अतः बैबिलोनियन भाषा और लिपि का विदेशों में प्रचार होना खुद इस बात का प्रमाण है कि वे देश बैबिलोनियन साहित्य और धर्म से भी न्यूनाधिक रूप से प्रभावित हुए थे।

घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्धों का प्रभाव—कीलाक्षर लिपि और बैबिलोनियन भाषा के प्रचार के अतिरिक्त बैबिलोन के विदेशों के साथ **व्यापारिक सम्बन्ध भी उसके सांस्कृतिक प्रभाव को गहनतर करने में सहायक हुए।** सुमेरियनों के व्यापारिक सम्बन्ध मुख्यतः पूर्व में **एलम** और **सिन्धु-प्रदेश** तथा उत्तर में असीरिया के साथ थे। पश्चिम में सीरिया और फिलिस्तीन पर उनकी दृष्टि थी, परन्तु इस ओर उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। हम्मुरबी के शासन काल में बैबिलोनियन साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया और व्यापारी अपने को पहले से अधिक सुरक्षित अनुभव करने लगे। इसलिए उस समय बैबिलोनिया के **पश्चिमी देशों के साथ** व्यापारिक सम्बन्ध दृढ़तर हुए। **कसाइटों** ने इस ओर विशेष रूप से ध्यान दिया। वे बराबर इस बात का प्रयास करते रहे कि उनके सौदागरों को सीरिया और फिलिस्तीन में किसी प्रकार की असुविधा न हो(पृ० १६२)।

पश्चिमी एशियाई जातियों और यूनान पर प्रभाव—बैबिलोन के राजनीतिक प्रभाव, उसकी भाषा, लिपि और साहित्य के प्रचार तथा व्यापारिक सम्बन्धों के कारण उसकी संस्कृति की लहरें सभी पड़ोसी जातियों को छूने लगीं। **असीरियन** (पृ० १६९), **केनानी** (पृ० ११२), **हित्ती** (पृ० २०९-१०) और **यहूदी** (पृ० २७४-५) जातियों पर उनका जो प्रभाव पड़ा उसकी चर्चा यथास्थान की जा चुकी है। बाद में, सम्भवतः हित्तियों और यहूदियों के माध्यम से उनके साहित्य का प्रभाव **यूनानियों** पर भी पड़ा। उदाहरण के लिए यूनानी राष्ट्र-वीर **हरक्युलिज़** का चरित्र गिल्गामेश के चरित्र से असाधारण रूप से साम्य रखता है। जिस प्रकार गिल्गामेश ईश्तर के द्वेष के कारण कष्ट उठाता है उसी प्रकार हरक्युलिज हेरा के द्वेष के

कारण। बैबिलोनियनों के '**ईश्तर और तामुज**' आख्यान ने भी यूनानी कल्पना को बहुत प्रभावित किया। यूनानी देवी एफ्रोडाइट और उसके प्रेमी एडोनिस की कथा इस बैबिलोनियन कथा का यूनानी संस्करण लगती है। **आर्तेमिस और एक्टियोन की कथा** पर भी इसके प्रभाव का यत्किञ्चित आभास मिलता है। इसमें बताया गया है कि एक्टियोन ने आर्तेमिस को सरोवर में स्नान करते समय नग्न रूप में देख लिया था। इससे क्रोधित होकर आर्तेमिस ने उसे पशु बना दिया जिससे वह अपने ही शिकारी कुत्तों द्वारा मार डाला गया।

बैबिलोनियन कथाओं का यूनानी आख्यानों पर प्रभाव का एक और उदाहरण देदालुस नामक इन्जीनियर के पुत्र **इकारोस की कथा** है। इसमें इकारोस मोम से जुड़े परों की सहायता से अकाश में उड़ता है। लेकिन वह अपने पिता की चेतावनी की परवाह न करके सूर्य के अत्यन्त निकट चला जाता है जिससे उसके परों का मोम पिघल जाता है और वह समुद्र में गिर जाता है। यह कथा स्पष्टतः **एटन गडरिए की कथा** से व्युत्पन्न लगती है।

भारत और बैबिलोन—पूर्व में बैबिलोन का सर्वाधिक प्रभाव एलम और ईरान पर पड़ा। इसकी विस्तृत चर्चा अन्यत्र की गई है। जहाँ तक बैबिलोन और भारत के सम्बन्धों का प्रश्न है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सुमेरियन युग के पश्चात् दोनों देशों के व्यापारिक सम्बन्ध एकदम समाप्त नहीं हो गए थे। यद्यपि भारत में आर्यों के आक्रमण और सिन्धु-सभ्यता के पतन के कारण जो उथल-पुथल हुई उससे इन सम्बन्धों में शिथिलता अवश्य आई होगी, परन्तु इसके बाद भारत बैबिलोन और अन्य पश्चिमी एशियाई राज्यों में पुनः सम्बन्ध स्थापित हो गए थे, ऐसा अनुमान करने के लिए पर्याप्त संकेत उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ यहूदी धर्म-ग्रन्थों और असीरियन अभिलेखों में ऐसे अनेक पदार्थों का उल्लेख हुआ है जिनके नाम भारतीय प्रतीत होते हैं। बाइबिल में उल्लिखित **ओफिर** (आभीर ? सुप्पर ?), **कर्पस** (कपास) और **कोफ** (कपि) एवं असुरबनिपाल के एक अभिलेख में कपड़े के लिए प्रयुक्त '**सिन्धु**' शब्द इस प्रसंग में उदाहरणीय हैं। भारतीय साहित्य में भी भारतीय व्यापारियों के पश्चिमी देशों की ओर जाने का वर्णन मिलता है। एक जातक कथा में, जो मूलतः उत्तर-वैदिककालीन हो सकती है, '**बवेरु**' राज्य (बैबिलोन) की यात्रा का उल्लेख है। अथर्ववेद में **तैमात, उरुगूल, ताबुव, तस्तुव, आलिगी, विलिगी** इत्यादि ऐसे अनेक शब्द आए हैं जो विदेशी प्रतीत होते हैं। ग्रिफिथ, ह्विटनी तथा ब्लुमफील्ड जैसे विद्वानों ने इन शब्दों को 'अस्पष्ट' बताया है। लेकिन बाल गंगाधर तिलक इनको बैबिलोन की अक्कादी भाषा से आया हुआ बताते

हैं। इनमें 'तैमात' तो निश्चयतः बैबिलोनियन 'तियामत' है। उरुगूल शब्द का प्रयोग भी उनके अनुसार अक्कादी भाषा में पाताल के अर्थ में हुआ है। इसी प्रकार वैदिक शब्द 'अप्सु' का सम्बन्ध अक्कादी शब्द 'अब्जु' से जोड़ा जा सकता है। श्री तिलक का तो यहाँ तक कहना है कि 'उरुक्रम', 'उरुगाय' 'उर्वशी' तथा 'अप्सुजित' जैसे सब शब्द अक्कादी शब्दों से व्युत्पन्न हुए होंगे।

भारतवासी केवल बैबिलोनियन भाषा और साहित्य से ही नहीं ज्ञान-विज्ञान से भी न्यूनाधिक परिचित थे। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का अनुमान है कि भारत में भार की इकाई के लिए प्रयुक्त होने वाला **'मन' शब्द** बैबिलोनियन शब्द 'मीना' से निकला होगा। भारतीय ज्योतिष पर बैबिलोनियन प्रभाव का मत भी पूर्णतः सिद्ध न हो सकने के बावजूद अनेक विद्वानों द्वारा प्रतिपादित हुआ है। इन तथ्यों के प्रकाश में बैबिलोनिया के पड़ोस में **'मित्र, अग्नि, वरुण और नासत्यद्वय' की उपासक मितन्नी जाति की उपस्थिति** महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

खण्ड २

मिस्र

(समस्त) विश्व तेरे हाथ में है,
जैसा भी तूने उन्हें बनाया है।
जब तू उदय होता है, वे जी जाते हैं,
जब तू अस्त होता है, वे मर जाते हैं;
क्यों कि तू खुद के जीवन का विस्तार है,
मनुष्य तेरे कारण जीवित रहते हैं,
जब कि (उनके) नेत्र तेरे सौन्दर्य को निहारते हैं,
जब तक कि तू अस्त नहीं हो जाता।

—अख्नाटन के सूर्य-स्तोत्र का एक अंश
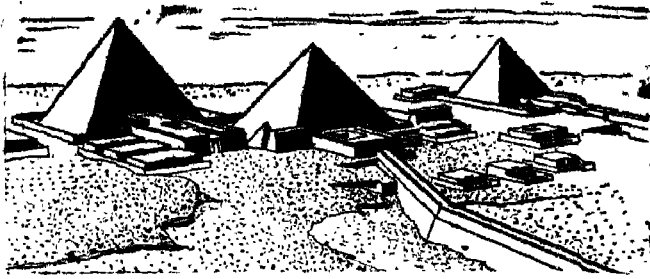
११

पिरेमिड युग

All world fears Time, but Time fears the Pyramids.

—*An Arab Proverb.*

भूगोल

मिस्र अफ्रीका महाद्वीप के उत्तर-पश्चिम में नील नदी द्वारा सिंचित एक छोटा-सा देश है। यह उत्तर में भूमध्यसागर, पश्चिम में लीबियन रेगिस्तान (जो विशाल सहारा रेगिस्तान का प्रसरण मात्र है), पूर्व में लालसागर और दक्षिण में नील के महाप्रपातों से घिरा हुआ है। मेसोपोटामिया में सभ्यता के स्वाभाविक विकास में विदेशी आक्रमणों के कारण बराबर विघ्न पड़ता रहा, लेकिन इन प्राकृतिक बाधाओं से सुरक्षित रहने के कारण मिस्र पर ऐतिहासिक युग में असीरियनों के पूर्व, हिक्सोस को छोड़कर, कोई और विदेशी जाति आधिपत्य स्थापित नहीं कर पाई। धर्म, दर्शन और राजनीतिक संगठन इत्यादि

इस पृष्ठ के ऊपर दिए गए चित्र में मिस्र के गिजेह नामक स्थान पर स्थित तीन पिरेमिडों के मूल रूप की पुनर्योजित रूपरेखा दी गई है। ये भवन मिस्र के 'प्राचीन-राज्य युग' के मिस्री राजाओं की समाधियाँ हैं। इनके नाम पर इस युग को 'पिरेमिड युग' कहते हैं। द्रष्टव्य है कि प्रत्येक पिरेमिड के सामने, पूर्व दिशा की ओर, कुछ इमारतें बनी हैं। इनमें एक इमारत पिरेमिड में दफन राजा का मन्दिर है और शेष उस मन्दिर में आवश्यक मृतक-संस्कारों को दोहराने और उसके पारलौकिक जीवन को सुखी करने के लिए भोजन सामग्री और वस्त्रादि अर्पित करने वाले पुजारियों के रहने के मकान। प्रत्येक पिरेमिड और उससे सम्बद्ध इमारतों को एक प्राचीर से घेर दिया गया है, जिसके बाहर प्रमुख सामन्तों और रानियों की समाधियाँ (मस्तबे) बने हैं। मध्यवर्ती भवनसमूह को नीचे घाटी में बसे नगर से मिलाने के लिए एक पाषाण-मार्ग बना हुआ है। इसके दूसरे सिरे पर एक भव्य द्वार बना था जो चित्र में नहीं दिखाया गया है।

के जन्म और विकास का अध्ययन करने वाले विद्वानों के लिए यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि विश्व में सम्भवतः मिस्र ही ऐसा देश है जहाँ मानव सभ्यता का विकास चार सहस्र वर्ष तक लगभग पूरी तरह अपनी स्वाभाविक गति से होता रहा और जहाँ उस विकास का अध्ययन करने के लिए प्रचुर सामग्री भी उपलब्ध हो जाती है। प्राचीन अमेरिकी सभ्यताएँ भी मानव सभ्यता के पृथक्कृत विकास का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, परन्तु वे न तो इतनी समुन्नत थीं और न इतनी प्राचीन।

नील की घाटी—नील नदी, जिसे प्राचीन मिस्र निवासी 'हापी' कहते थे, भूमध्य रेखा के समीप यूगेण्डा के पर्वतों से निकलती है और चार सहस्र मील लम्बे टेढ़े-मेढ़े मार्ग को तय करके उत्तर में भूमध्यसागर में गिरती है। इसकी **उपरली या दक्षिणी घाटी में** आधुनिक सूडान और दक्षिणी मिस्र का कुछ भाग सम्मिलित है। इसका उत्तरी भाग **नूबिया** कहलाता है। यह प्रदेश बड़ा ऊबड़-खाबड़ है। इसमें कम-से-कम छः स्थलों पर नदी पर्वतीय शिलाओं को काटकर सीधा मार्ग बनाने में सफल नहीं हो पाई है। ये स्थल महाप्रपात (केटेरेक्ट) कहलाते हैं। इनमें तीन महाप्रपात यातायात में भारी बाधा उपस्थित करते हैं। शेष को पार करना भी भारी साहस की अपेक्षा रखता है। अन्तिम महाप्रपात, जो मिस्र की ओर से गिनने पर पहला कहा जाएगा, एलिफेन्टाइन के समीप है। इसके उत्तर में नील की **निचली या उत्तरी घाटी है**। यही मिस्र देश है। इसे भी दो भागों में विभाजित किया जाता है : **दक्षिणी मिस्र**, जिसमें केवट घाटी वाला प्रदेश सम्मिलित किया जाता है और उत्तरी मिस्र जिसके अन्तर्गत नील का मुहाना आता है। मिस्र के इतिहास में **घाटी और मुहाने वाले प्रदेश का भेद सदैव महत्त्वपूर्ण** रहा है।

मिस्र का उर्वर भाग—मिस्र मूलतः लीबियन रेगिस्तान का एक भाग है। इसके केवल मध्यवर्ती भाग में नील ने १० से २० मील चौड़ी और ३० से ४० फुट मोटी **उर्वर मिट्टी की पट्टी** बना दी है। यह उर्वर प्रदेश, जो मिस्र के कुल क्षेत्रफल का केवल ३.५ प्रतिशत है, १०,००३ वर्गमील से अधिक नहीं है। यह यूरोप के सबसे छोटे देश बेल्जियम से भी १० प्रतिशत कम और भारत के सबसे छोटे राज्य **केरल के लगभग बराबर** है। इस छोटे से उर्वर भूखण्ड में प्रति वर्ग मील लगभग १२०० व्यक्ति रहते हैं जबकि बेल्जियम में, जहाँ आबादी का घनत्व यूरोप में सब से अधिक है, यह औसत केवल ७०० है।

मिस्र : 'नील का वरदान'—जनसंख्या के घनत्व की दृष्टि से एक आधुनिक औद्योगिक देश के समान होते हुए भी मिस्र प्राचीन काल से ही कृषि-

प्रभाव देख रहा है। यहाँ चावल, रूई, गन्ने और गेहूँ की खेती होती है। इसकी भूमि बहुत उपजाऊ है। अगर जरा भी ध्यान से काम लिया जाय तो वर्ष में दो फसलें पैदा करना कठिन नहीं होता। लेकिन यहाँ वर्षा नाममात्र की होती है। दक्षिणी मिस्र में तो वर्षा हुए कभी-कभी वर्षों बीत जाते हैं और उत्तरी मिस्र, अर्थात् नील के मुहाने वाले प्रदेश में वर्षा की मात्रा अधिक होने पर भी कृषि-कर्म के लिए सर्वथा अपर्याप्त रहती है। इसलिए मिस्रियों को कृषि-कर्म में आवश्यक जल के लिए भी पूर्णतः नील पर निर्भर रहना होता है। इसीलिए 'इतिहास-पिता' हेरोडोटस ने मिस्र को 'नील का वरदान' कहा था।

नील के बिना मिस्र की क्या अवस्था होती इसका कुछ अनुमान ग्रीष्म ऋतु में मिस्र का भ्रमण करके लगाया जा सकता है। उस समय नील की धार सूख कर पतली हो जाती है और खेत सूख जाते हैं। उस समय, जब तक जल को 'शडूफ' की सहायता से ऊपर न लाया जाय या गहरे कुएँ खोद कर न निकाला जाए, कृषि-कर्म असम्भव रहता है। जल के अभाव में वृक्ष क्या मनुष्य और पशु तक सूखने लगते हैं। लेकिन जून के प्रारम्भ में, जब कि जीवन का उल्लास पूर्णतः विनिष्ट हो गया प्रतीत होता है, नील की धार शक्तिशाली होने लगती है। पूरी गर्मी इस में जल बढ़ता जाता है। अक्टूबर के अन्त अथवा नवम्बर के प्रारम्भ तक सारी घाटी बाढ़ के पानी में डूब जाती है, किनारे टूट जाते हैं और खेत डूब जाते हैं। इसके बाद बाढ़ उतरनी प्रारम्भ होती है और इसके साथ मिस्री कृषकों का जीवनोल्लास भी लौटने लगता है। वे अपने-अपने खेतों को सम्हालने के लिए निकल पड़ते हैं जिनकी भूमि बाढ़ द्वारा लाई मिट्टी के कारण उर्वर हो गई होती है। इस प्रकार नील प्रति वर्ष जीवन-मृत्यु के संघर्ष और जीवन की विजय का प्रतीक उपस्थित करती है।

नील का मिस्री जीवन पर प्रभाव—मिस्र जैसे ब्यूबसम प्रदेश में प्रादेशिक भावना का बलशाली होना सर्वथा स्वाभाविक था। इसीलिए प्राग्वंशीय युग में हम मिस्र को अनेक नगर-राज्यों में विभाजित पाते हैं। परन्तु ऐतिहासिक युग में नील राष्ट्रीय-जलमार्ग बन गई, जिससे मिस्री सम्राटों के लिए राजनीतिक एकता स्थापित करना सरल हो गया। दूसरे, नील के कारण मिस्रियों के सामने ऐसी अनेक समस्याएँ आई जिनको हल करने का प्रयास करने पर विज्ञान-कौशल (टक्नोलॉजी) की प्रगति हुई। बाढ़ के पानी को संगृहित रखने के लिए तालाबों और झीलों का एवं उसे विभिन्न प्रदेशों में भेजने के लिए नहरों का निर्माण तथा उसे नहरों से उच्चतर धरातल पर स्थित खेतों तक पहुँचाने के लिए शडूफों का प्रयोग इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।

मिस्री जीवन में सूर्य का स्थान—अगर मिस्र में नील नदी जीवन और मृत्यु के संघर्ष की कहानी प्रति वर्ष दोहराती है तो सूर्य प्रतिदिन। यह सभी जानते हैं कि सूर्य प्रातःकाल पूर्व में उदय होता है और दिन में आकाश की यात्रा-सी करते हुए पश्चिम में अस्त हो जाता है। लेकिन मिस्रियों के लिए यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनके देश में सूर्य अपनी **पूर्ण प्रचण्डता के साथ चमकता है,** इसलिए उनको सूर्य के अस्तित्व का उससे कहीं अधिक बोध होता है जितना हम भारतीयों को। प्राचीन मिस्री यह भी जानते थे कि **सूर्य-द्वारा प्रदत्त प्रकाश और उष्णता जीवन के** लिए अपरिहार्य हैं। इसलिए वे सूर्य देव 'रे' को सर्वोच्च देवता, सृष्टि का कारण मानने लगे थे। जिस देश में सूर्य का प्रकाश अबाध रूप से नहीं मिलता, उसे वे मनुष्य के रहने योग्य नहीं मानते थे। लेकिन नील और सूर्य, इन दोनों शक्तियों में किस की महिमा अधिक है, इसका निश्चय वे कभी नहीं कर पाए और इन दोनों देवताओं में सर्वोच्च स्थान पाने के लिए सदैव संघर्ष चलता रहा।

मिस्री इतिहास जानने के साधन

साहित्यिक साक्ष्य

बाइबिल, हेरोडोटस और डायोडोरस—१८वीं शताब्दी ई० के अन्तिम दशक तक प्राचीन मिस्री सभ्यता के अध्ययन में रुचि रखने वाले विद्वानों को यूनानी और रोमन लेखकों के ग्रंथों, ओल्ड टेस्टामेन्ट तथा प्राचीन मिस्री पुजारी मनेथो की कृति के परवर्ती लेखकों की रचनाओं में उद्धृत अंशों से सन्तुष्ट रहना होता था। **यूनानी और रोमन लेखकों में** हेरोडोटस और डायोडोरस प्रमुख हैं परन्तु उनके विवरण आधुनिक इतिहासकारों के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि ये विवरण उस समय लिखे गए थे जब मिस्र की प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराएँ पूर्णतः विलुप्त नहीं हुई थीं और मिस्री भाषा एक जीवित भाषा थी, तथापि ये लेखक न तो इस भाषा को बोल सकते थे और न समझते थे। प्राचीन मिस्री स्मारक भी उनके लिए अबोध्य ही थे। इसलिए उनके विवरण में हमें **सत्य के साथ कल्पना का ऐसा मिश्रण** मिलता है जिसे पुरातात्त्विक साक्ष्य की सहायता के बिना पृथक् करना असम्भव है।

मनेथो और उसके कार्य का महत्त्व—प्राचीन भारतीयों के समान मिस्रियों की भी इतिहास-लेखन में विशेष रुचि नहीं थी। लेकिन जब मिस्र पर यूनानी आधिपत्य स्थापित हुआ, तब उन्होंने वहाँ के प्राचीन इतिहास के अध्ययन

की ओर ध्यान दिया। तीसरा शताब्दी ई० पू० में टॉलेमी प्रथम फिलाडेल्फस (३०५-२८५ ई० पू०) नामक मिस्र के यूनानी नरेश ने सेबेनाइटॉस स्थान के निवासी **मनेथो** अथवा **मैनेटॉथ** नामक पुजारी को प्राचीन मिस्री अभिलेखों को एकत्र संगृहीत, व्यवस्थित और अनूदित करने का भार सौंपा। इस कृति का मिस्री इतिहास के लिए **वही महत्त्व है** जो बेरोसॉस के ग्रन्थ का बैबिलोनिया के लिए। आजकल मनेथो की कृति का जूलियस अफ्रीकेनस, यूसीबियस तथा जोसेफस प्रभृति परवर्ती लेखकों की रचनाओं में उद्धृणों के रूप में सुरक्षित लगभग आधा भाग ही प्राप्य है, और वह भी प्रतिलिपिकों की असावधानी के कारण बहुत **अशुद्ध** हो गया है। इस में मनेथो ने, उसके अपने समय में ज्ञात प्राचीन मिस्री राजाओं को सूचीबद्ध करके उन्हें **तीस वंशों में विभाजित** किया था। उसका यह विभाजन अनेक दृष्टि से **अशुद्ध है**। बहुत से उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनमें उसने उन राजाओं को एक ही वंश में परिगणित कर दिया है जो वस्तुतः विभिन्न वंशों में थे। इसके अतिरिक्त कुछ वंशों के विषय में उसने यह नहीं बताया है कि तिथिक्रमीय दृष्टि से वे एक दूसरे के पूर्वगत अथवा अनुगत न होकर समकालीन थे। लेकिन आधुनिक खोजों से यह स्पष्ट होता जा रहा है कि इन दोषों के बावजूद मनेथो की सूची में अनेक **बहुमूल्य सूचनाएँ** मिलती हैं। उसके द्वारा किया गया मिस्री राजाओं का वंश-विभाजन भी अत्यन्त **उपयोगी** और सत्य के काफी निकट सिद्ध हुआ है। इसलिए मिस्री-विद्या-विशारद इसे बराबर मान्यता देते आए हैं और इसके आधार पर प्रथम वंश की स्थापना से प्रारम्भ होने वाले युग को वंशीय (डायनेस्टिक) और उससे पहले के युग को प्राग्वंशीय (प्री-डायनेस्टिक) कहते हैं।

पुरातात्त्विक साक्ष्य

प्राचीन मिस्री स्मारक आदि—मिस्र के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास को प्रकाशित करने वाले सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य प्राचीन मिस्री अभिलेख और स्मारकादि है। मिस्र के विभिन्न युगों में निर्मित **पिरेमिड, मन्दिर और कीलियाँ** आदि स्मारकों और **मूर्त्ति, भित्तिचित्र, अस्त्र-शस्त्र** एवं **वस्त्राभूषण** इत्यादि कलाकृतियों से हमें उनके द्वारा भौतिक क्षेत्र में उपलब्ध सफलता का ज्ञान होता है। वस्तुतः **मिस्री सभ्यता के भौतिक पक्ष का अध्ययन करने के लिए** हमारे पास जितनी सामग्री है उतनी किसी अन्य प्राचीन सभ्यता के लिए नहीं है।

साहित्य और इतिवृत्तादि—मिस्र के राजनीतिक इतिहास, साहित्य

धर्म और दर्शन आदि का ज्ञान मन्दिरों और समाधियों की दीवारों, पाषाण-खण्डों और पेपाइरस-पत्रों पर लिखे हुए ग्रन्थों तथा अभिलेखों आदि से होता है। भाग्यवश मिस्र में प्राचीन काल से ही इतिवृत्त और राजसूचियाँ लिखने की प्रथा थी। इसमें पाँचवें वंश के शासन काल में लिखी गई सूची प्राचीनतम है। आजकल इसके केवल कुछ अंश ही प्राप्य हैं जो क़ाहिरा और पालेर्मो संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इसके बाद १८ वें और १९ वें वंशों के शासन काल में कार्नाक, एबाइडोस तथा सक्कर स्थानों में मन्दिरों और समाधियों की दीवारों पर अभिलिखित अधिकृत (ओफीशियल) सूचियों का स्थान आता है। इनमें थट्मोस तृतीय के समय में अभिलिखित कार्नाक की सूची नितान्त अविश्वसनीय परन्तु सेती प्रथम और रेमेसिस द्वितीय के शासन काल में लिखी गई एबाइडोस और सक्कर की सूचियाँ असाधारण रूप से शुद्ध सिद्ध हुई है। त्यूरिन संग्रहालय में सुरक्षित सूची, जो त्यूरिन-सूची कहलाती है, एबाइडोस और सक्कर की सूचियों के समय की है। इसमें प्रत्येक राजा के नाम के साथ उसके शासन काल की अवधि और कई वंशों के कुल राजाओं के शासन की अवधियों का योग भी दिया गया है। इस प्रसंग में तैल-एल-अमर्ना से प्राप्त मिस्री-राजाभिलेख-संग्रहालय का उल्लेख भी किया जाना चाहिए। इससे तत्कालीन मिस्री साम्राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर अत्यन्त रोचक और ज्ञानवर्द्धक प्रकाश मिलता है। अनेक बातों में इस ज्ञान का परिवर्धन और समर्थन एशिया माइनर में बोघज़कोई स्थान से प्राप्त हित्ती-राज्याभिलेख-संग्रहालय के पत्रों द्वारा हुआ है।

आधुनिक काल में मिस्री-विद्या का जन्म और विकास

नेपोलियन का अभियान और शांपोल्यों की खोज—आधुनिक काल में मिस्री-विद्या (इजिप्टोलोजी) का अध्ययन **नेपोलियन के मिस्री अभियान** (१८९७ ई०) और **शांपोल्यों** (१७९०-१८३२ ई०) नामक फ्रेञ्च विद्वान् द्वारा मिस्री चित्राक्षर लिपि के उद्घाटन (डेसीफरमेंन्ट) से प्रारम्भ होता है। शांपोल्यों के पूर्व एक अँग्रेज विद्वान् **डॉ० टॉमस यंग** ने एक ऐसा मिस्री स्तम्भ-अभिलेख खोज निकाला था जिसके निचले भाग (बेस) पर यूनानी लिपि में लिखा था कि उस अभिलेख को 'टॉलेमी' और 'किलोपाट्रा' ने उत्कीर्ण कराया था। इसके अतिरिक्त इस स्तम्भ की लाट पर एक अभिलेख मिस्री चित्राक्षर (हाइरोग्लाइफिक) लिपि में भी उत्कीर्ण था। **शांपोल्यों** के समय तक यह भी सिद्ध हो गया था कि मिस्री चित्राक्षर अभिलेखों में राजाओं के नामों को एक रेखा द्वारा घेर

दिया जाता था। इस रेखा से बने अण्डाकार चिह्न को 'कार्तूश' कहा जाता है। उपर्युक्त अभिलेख में भी ऐसे दो 'कार्तूश' बने हुए थे। इससे शांपोल्यों ने यह अनुमान किया कि इनमें 'टॉलेमी' और 'किलोपाट्रा' नाम लिखे हुए हैं। इस अनुमान के आधार पर उसने इन नामों में प्रयुक्त होने वाले यूनानी अक्षरों की तुलना 'कार्तूशों' में प्रयुक्त चित्राक्षरों से करके बारह चित्राक्षरों को पहिचान लिया। इसके बाद रोज़ेटा-प्रस्तर की सहायता से प्रगति करना अपेक्षया आसान था। २ फुट साढ़े ४ इंच चौड़े और ३ फुट ९ इंच ऊँचे इस प्रस्तर पर १९५ ई० पू० में मिस्र के टॉलेमी नामक नरेश ने हाइरोग्लाइफिक, डॉमेटिक तथा यूनानी लिपियों में लेख उत्कीर्ण कराए थे। १७९९ ई० में नेपोलियन के सैनिकों ने इसे नील की रोज़ेटा नामक शाखा के मुहाने के समीप खाई खोदते समय प्राप्त किया था, इसलिए आजकल यह **'रोज़ेटा-प्रस्तर'** कहलाता है।

मिस्र की प्राचीन चित्राक्षर लिपि का रहस्य खुल जाने पर मिस्री-विद्या में आगे प्रगति करना सरल हो गया। मिस्र के अधिकाँश स्मारक धरातल के उपर हैं, इसलिए इन पर उत्कीर्ण अभिलेखों का अध्ययन करने के लिए चित्रा-लिपि से परिचय मात्र की आवश्यकता थी। इस विषय में **'इजिप्ट एक्स्प्लोरेशन फंड' तथा इजिप्शियन रिसर्च एकाउंट'** द्वारा किया गया कार्य प्रशंसनीय है। व्यक्तिगत रूप से यहाँ **नेविए, वीडमान, पेट्री, मास्पेरो, बज, ब्रेस्टेड** तथा **फ्रेंकफर्ट** इत्यादि इतिहासकारों का उल्लेख होना चाहिए जिनके ग्रन्थों को मिस्री-विद्या के क्रमिक विकास की अवस्थाओं का संकेत माना जा सकता है।

मिस्री इतिहास का तिथिक्रम

मिस्री सभ्यता के प्रमुख युग—सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से मिस्र के वंशीय युग को कई भागों मे विभाजित किया जाता है। प्रथम दो वंशों के शासनकाल में मिस्री सभ्यता प्राग्वंशीय सभ्यता से विशेष भिन्न नहीं थी, इसलिए मिस्री सभ्यता के **प्राचीनतम युग** का अध्ययन करते समय प्रथम दो वंशों के शासन काल को उसी में सम्मिलित कर लिया जाता है। तीसरे वंश की स्थापना से लेकर बीसवें वंश के पतन तक के सुदीर्घ युग में मिस्री सभ्यता के उत्कर्ष के तीन काल माने गये हैं। **प्राचीन राज्य का युग** जिसमें तीसरे से छठें वंश ने राज्य किया, **मध्य राज्य का युग** जिसमें ११ वें और १२ वें वंशों ने राज्य किया तथा **साम्राज्य का युग** जिसमें १८ वें से लेकर २० वें वंश ने राज्य किया। इन युगों के मध्यवर्ती

युगों में और २० वें वंश के पतन के पश्चात् मिस्र प्रायः आन्तरिक दौर्बल्य और विदेशी आक्रमणों का शिकार रहा। प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में २२ वें वंश की स्थापना से लेकर ३३२ ई० पू० में वंश के पतन तक तो उस पर लगातार, (केवल २६ वें स्वदेशी **साइत वंश** के १३८ वर्ष के शासन काल को छोड़कर) **विदेशी आधिपत्य** बना रहा। इतने दीर्घ काल तक दासता का जीवन व्यतीत करने का कारण मिस्री जाति की जीवन शक्ति बहुत दुर्बल हो गई। इसलिए ३३२ ई० पू० में **अलेक्ज़ेण्डर** द्वारा यूनानी आधिपत्य की स्थापना के पश्चात् चार सहस्र वर्ष से भी अधिक प्राचीन **मिस्री सभ्यता और भाषा शनैः शनैः विलुप्त होने लगी** और कुछ ही शताब्दी पश्चात् खुद मिस्र निवासी अपने पूर्वजों की महान् सफलता को भूल गये।

'डेड रेकनिंग' विधि—मिस्री इतिहास की यह संक्षिप्त रूपरेखा निर्विवाद रूप से स्वीकृत की जाती है, परन्तु इन युगों के निश्चित तिथिक्रम (एब्सोल्यूट क्रोनोलॉजी) के विषय में विद्वानों में भारी मतभेद है। प्रारम्भ में मिस्री शासक प्रत्येक **वर्ष का नामकरण** उस वर्ष की प्रमुख घटना के आधार पर करते थे। बाद में उन्होंने वर्षों का नामकरण करने के स्थान पर अपने शासन की वर्ष संख्या देना प्रारम्भ किया। परन्तु ये दोनों ही विधियाँ क्रमबद्ध इतिहास जानने में विशेष सहायक नहीं होतीं। इस कठिनाई के कारण हमारे पास केवल यही उपाय रह जाता है कि हम अंतिम वंशों के शासकों से, जिनकी तिथि हमें यूनानी और ईरानी साक्ष्य से ज्ञात है, प्रारम्भ करें और उनके पहले राज्य करने वाले नरेशों के शासन काल के वर्षों की गणना करते हुए प्राचीनतर वंशों की ओर चलें। इस विधि को 'डेड रेकनिंग' कहा जाता है। इस विधि का आलम्बन करते समय मिस्री अभिलेखों में प्रदत्त राजसूचियों में दिए गए नामों और शासन की अवधियों को मनेथो के साक्ष्य से पूरित किया जा सकता है और जहाँ मिस्री शासकों की बैबिलोनियन और असीरियन शासकों के साथ समकालीनता निश्चित है, वहाँ इससे ज्ञात तिथियों की शुद्धता की जाँच की जा सकती है।

साम्राज्य युग का तिथिक्रम—मिस्र पर ईरान का आधिपत्य ५२५ ई० पू० में स्थापित हुआ था। इस तिथि के पूर्व तक मिस्र पर २६ वंश राज्य कर चुके थे। इनमें अन्तिम ९ वंशों के सम्राटों ने कुल मिलाकर १०५२ वर्ष राज्य किया। दूसरे शब्दों में १८ वें वंश की स्थापना ५२५ + १०५२ = १५७७ ई० पू० के लगभग हुई। यह तिथी मिस्री सम्राटों की **पश्चिमी एशियाई नरेशों के साथ समकालीनता सम्बन्धी ज्ञात तथ्यों के साथ पूर्णरूप से संगत है**। दूसरे,

जैसा कि हम देखेंगे, एक अन्य विधि से भी इस तिथि का समर्थन होता है। इसके पूर्व 'डेड रेकनिंग' विधि विशेष सहायता नहीं देती क्योंकि इसके पहले राज्य करने वाले नरेशों के शासन काल की अवधियाँ बहुत कम ज्ञात हैं। लेकिन इसके स्थान पर एक अन्य विधि का आलम्बन करके कुछ पर्याप्त विश्वसनीय निष्कर्ष निकाले गये हैं। यह दूसरी विधि नक्षत्र-विद्या पर आधारित है।

'सोथिक-चक्र-विधि'—मिस्रियों का जीवन कृषि-कर्म पर अवलम्बित था और कृषि-कर्म नील में आने वाली वार्षिक बाढ़ पर। यह बाढ़ कब आती थी, इसका पूर्व ज्ञान उनको बहुत सहायता देता था। इसके लिए प्राग्वंशीय युग में ही उन्होंने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खोज कर ली थी। उन्होंने यह जान लिया था कि नील में बाढ़ उस समय आनी प्रारम्भ होती है जब **साइरियस नामक नक्षत्र का उदय सूर्योदय के साथ** होता है। और अनेक शताब्दियों के अनुभव से उन्हे यह भी ज्ञात हो गया था कि साइरियस का सूर्योदय के साथ उदय लगभग ३६५ दिन बाद होता है। इसलिए उन्होंने **३६५ दिन का वर्ष** मान लिया था। इसमें ३० ३० दिन के बारह मास होते थे और अन्त मे पॉच अतिरिक्त दिन जोड़ दिये जाते थे। इस प्रकार स्थूल रूप मे उनके प्रथम माह के प्रथम दिन, जब नव-वर्ष का उत्सव मनाया जाता था, साइरियस का उदय सूर्योदय के साथ होता था और नील मे बाढ़ आनी प्रारम्भ होती थी। परन्तु वास्तव मे वर्ष की लम्बाई ३६५¼ दिन होती है। अतः प्रति चार वर्ष पश्चात् साइरियस का उदय उनके वर्ष के प्रथम दिन के सूर्योदय के साथ न होकर एक दिन बाद होना था। मान लीजिए शुरू मे साइरियस का उदय १ जनवरी को हुआ। अब प्रति वर्ष ¼ दिन का अन्तर हो जाने के कारण चार वर्ष बाद यह घटना १ जनवरी को न होकर २ जनवरी को होगी और आठ वर्ष बाद ३ जनवरी को। इस प्रकार मिस्रियों के यथार्थ वर्ष के प्रथम दिन और साइरियस के उदय की तिथि मे अन्तर होता गया। एक समय ऐसा आया जब यह अन्तर कई माह का हो गया। लेकिन तब तक वे अपने ३६५ दिन के अभ्यस्त हो चुके थे, इसलिए उन्होंने इसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की। और फिर ३६५×४=१४६० वर्ष पश्चात् साइरियस पुनः वर्ष के प्रथम दिन सूर्योदय के साथ उदित हुआ। इस प्रकार **१४६० वर्षों का चक्र चलता गया। इसे सोथिक-चक्र** (सोथिक साईकिल) कहा गया है। इस प्रकार का एक सोथिक-चक्र, जब वर्ष के प्रथम दिन साइरियस का उदय सूर्योदय के साथ हुआ, १४० ई० को प्रारम्भ हुआ था। इसलिए इसके पहले १३२० ई० पू०, २७८० ई० पू० तथा ४२४० ई० पू० में सोथिक-चक्र प्रारम्भ हुए होंगे।

सोथिक-चक्र से तिथिक्रम का ज्ञान—इस गणना का मिस्री तिथिक्रम के लिए बहुत महत्त्व है। मिस्री अभिलेखों में किसी नरेश के शासन काल की घटनाओं का उल्लेख करते समय यह प्रायः बताया गया है कि किसी विशेष वर्ष साइरियस का सूर्योदय के साथ उदय किस माह के किस दिन हुआ था। इससे उस नरेश के उस विशेष वर्ष को निश्चित रूप से जाना जा सकता है। उदाहरण के लिए अगर किसी नरेश के अभिलेख में यह लिखा हो कि उसके शासन काल के किसी विशेष वर्ष में साइरियस का सूर्योदय के साथ उदय प्रथम माह के १५ वें दिन हुआ था, और हम यह जानते हैं कि उसने साम्राज्य-युग में राज्य किया तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उसके शासन काल की यह तिथि १३२० ई० पू० के १५ × ४ = ६० वर्ष पश्चात्, अर्थात् १३२०—६० = १२६० ई० पू० होनी चाहिए। यह विधि कितनी विश्वसनीय है इसका एक प्रमाण यही है कि इसके अनुसार अट्ठारहवें वंश की स्थापना १५८० ई० पू० में हुई। डेड रेकनिंग से हमने यह तिथि १५७७ ई० पू० स्थिर की थी। इसलिए १५८० ई० पू० को पूर्णरूपेण विश्वसनीय तिथि माना जा सकता है।

मध्य-और प्राचीन-राज्यों का तिथिक्रम—सोथिक-चक्र विधि की सहायता लेने पर **१२ वें वंश की स्थापना की तिथि** २००० ई० पू० निश्चित होती है। इसे आजकल पर्याप्त विश्वसनीय माना जाता है। इसके पूर्व ११ वें वंश ने लगभग डेढ़ शताब्दी राज्य किया था। इसलिए ब्रेस्टेड ने ११ वें वर्ष की स्थापना और **मध्य-राज्य युग का प्रारम्भ** २१६० ई० पू० में माना है। इन वंशों ने कुल मिल कर ३७२ वर्ष राज्य किया, इसलिए मध्य-राज युग का अन्त १७८८ ई० पू० में माना जा सकता है। १७८८ ई० पू० से लेकर १५८० ई० पू० में साम्राज्य की स्थापना तक मिस्र में सामन्त शक्तिशाली रहे और हिक्सोस नामक विदेशी जाति ने राज्य किया। मध्य-राज्य युग के पूर्व के इतिहास का तिथिक्रम निश्चित करना बड़ा कठिन है। पेत्री जैसे पुराने मिस्री-विद्या-विशारद मनेथो के अपेक्षया परवर्ती साक्ष्य के आधार पर प्रारम्भिक वंशों के काल को बहुत दीर्घ मानते हैं। लेकिन मिस्री सभ्यता के विकास और अन्य ज्ञात अभिलेखिक तथ्यों के आधार पर **ब्रेस्टेड** तथा **हॉल** इत्यादि विद्वानों ने यह विश्वास प्रकट किया है कि **प्रथम वंश की स्थापना चतुर्थ सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य** हुई थी। ब्रेस्टेड ने इस तिथि को लगभग ३४०० ई० पू० माना है और हॉल ने ३६००-३५०० ई० पू०। ब्रेस्टेड के अनुसार ३४०० ई० पू० के बाद ४२० वर्ष तक अर्थात् २९८० ई० पू० तक प्रथम दो वंशों ने राज्य

किया, २९८० ई० पू० से २४७५ ई० पू० तक ३रे से ६ठे वंशों ने तथा २४७५ ई० पू० से २१६० ई० पू० तक ७वें से १०वें वंशों ने।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मिस्री सभ्यता के **प्रमुख युगों का तिथिक्रम** इस प्रकार निर्धारित होता है :

३४०० ई० पू० के पूर्व	—प्राग्वंशीय युग
३४०० ई० पू०	—मेनिज द्वारा संयुक्त राज्य की स्थापना
३४००-२९८० ई० पू०	—प्रथम दो वंशों का शासन
२९८०-२४७५ ई० पू०	—**प्राचीन-राज्य युग अथवा पिरेमिड युग** (३रे–६ठे वंशों का शासन)
२४७५-२१६० ई० पू०	—सामन्तवादी युग (७वें-१०वें वंशों का शासन)
२१६०-१७८८ ई० पू०	—**मध्य-राज्य युग** (११ वें और १२ वें वंशों का शासन)
१७८८ १५८० ई० पू०	—सामन्तों के संघर्ष और हिक्सोस आधिपत्य का युग (१३वें-१७वें वंशों का शासन)
१५८०-१०९० ई० पू०	—**साम्राज्य-युग** (१८वें-२०वें वंशों का शासन)
१०९०-६६३ ई० पू०	—आन्तरिक दौर्बल्य और विदेशी आधिपत्य का युग (२१वें-२५वें वंशों का शासन)
६६३-५२५ ई० पू०	—साइत-युग (२६वें वंश का शासन)
५२५-३३२ ई० पू०	—ईरानी आधिपत्य और विद्रोहों का युग (२७वें-३०वें वंशों का शासन)
३३२ ई० पू०	—यूनानी आधिपत्य की स्थापना।

मिस्र की जातियाँ

उत्तरी मिस्र की जातियाँ—प्रागैतिहासिक युग में उत्तरी मिस्र में **लीबियन** और सेमेटिक जातियाँ निवास करती थी। इनमें लीबियन जाति पश्चिम की ओर से आने के कारण नील के मुहाने के पश्चिमी भाग में बसी हुई थी और सेमेटिक जाति अरब से आने के कारण पूर्वी भाग में। उत्तरी मिस्र में **सेमाइटों** के अस्तित्व का ज्ञान मिस्र की प्राचीनतम भाषा और लिपि पर सेमेटिक प्रभाव और वंशीय युग के नरमेर जैसे प्रारम्भिक नरेशों द्वारा अपने अभिलेखों में उत्तरी मिस्र की शत्रु जाति को सेमेटिक बताने से होता है। बहुत से विद्वान तो मिस्र में सूर्य-पूजा की लोकप्रियता और सूर्यदेव के मिस्री नाम 'रे' को भी सेमाइटों की

देन मानते हैं। सम्भवतः इसी जाति के माध्यम से प्राचीनतम मिस्र पर सुमेर का प्रभाव पड़ा था (पृ० ३४)।

सेमाइटों और लीबियनों के अतिरिक्त प्रागैतिहासिक उत्तरी मिस्र में **एक तीसरी जाति** भी निवास करती थी। इसके सदस्यों का सिर बड़ा, चेहरा गोल और नाक छोटी होती थी। यह जाति दक्षिणी मिस्र में प्रागैतिहासिक युग में अज्ञात थी, परन्तु ऐतिहासिक युग में धीरे-धीरे वहाँ भी फैल गई। डॉ० इलियट स्मिथ इसे आरमीनोयैड जाति की एक शाखा माना है, हॉल ने **ईजियनों की**। अगर हॉल महोदय का अनुमान सही है तो मिस्री और ईजियन सभ्यताओं में जो न्यूनाधिक सादृश्य मिलता है उसका कारण इस जाति को माना जा सकता है।

दक्षिणी मिस्र की जातियाँ—प्राग्वंशीय युग में दक्षिणी मिस्र में निवास करने वाली जाति—जिसका ज्ञान हमें उस युग की समाधियों से प्राप्त अवशेषों और मूर्तियों आदि से होता है—लघु कापालिक थी। जैसा कि मिस्र की स्थूलसम आकृति से स्पष्ट है, नील की उपरली घाटी में इसका प्रवेश निश्चित रूप से **मिस्र के दक्षिण** से हुआ होगा। यह उस **हैमेटिक** परिवार की सदस्या प्रतीत होती है जिसमें उत्तर-पूर्वी अफ्रीका तथा दक्षिणी अरब की गल्लास् तथा सोमाली इत्यादि जातियाँ सम्मिलित हैं। इसके प्राचीन आख्यानों से भी यह स्पष्टतः संकेतित है कि यह इसी प्रदेश से आकर दक्षिणी मिस्र में बसी थी। एक अनुश्रुति के अनुसार हथोर तथा अन्य 'महान् देवता' मिस्र में इसके दक्षिण और पूर्व में स्थित '**देवभूमि**' से आए थे। इस 'देवभूमि' में सम्भवतः दक्षिण-पश्चिमी अरब और वह प्रदेश सम्मिलित था जिसे प्राचीन मिस्री '**पुन्ट**' (आधुनिक इरिट्रिया का तटवर्ती प्रदेश तथा सोमालीलैण्ड) कहते थे। वे पुन्ट को अपना आदि स्थान और वहाँ के निवासियों को अपना सजातीय मानते थे। मिस्री अभिलेखों में **'पुन्ट' नाम के साथ विदेश-सूचक चिह्न का अभाव** और मिस्री कलाकृतियों में उन्हें प्राचीनतम वेश-भूषा में दिखाया जाना इसका प्रमाण है।

होरुस आख्यान—एक और अनुश्रुति से दक्षिणी मिस्रियों के मूलतः दक्षिणी प्रदेश से आने का समर्थन होता है। इस अनुश्रुति के अनुसार इतिहास के प्रारम्भ में होरुस नूबिया पर राज्य करता था। इसके शासन काल के ३६३वें वर्ष में उसके पुत्र 'एडफू अथवा बेःदेत के होरुस' (पक्षयुक्त-सूर्य) ने अपने शत्रु **सेत** के **'अनु'** नामक मिस्र निवासी अनुयायियों पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में होरुस का साथ देने वाले सैनिक **'शेम्सु-होर'** अथवा 'होरुस के अनुयायी' कहलाए। घोर युद्ध के पश्चात् होरुस की विजय हुई और उसका

मिस्र पर अधिकार स्थापित हो गया। इन अनुश्रुतियों में सत्यांश कितना है, कहना कठिन है। परन्तु इनसे यह निश्चित संकेत अवश्य मिलता है कि दक्षिणी मिस्र की प्राग्वंशीय जाति के पूर्वज दक्षिण से आए थे।

प्राचीनतम मिस्र

राजनीतिक विकास

प्राग्वंशीय युग में राजनीतिक विकास—प्राग्वंशीय मिस्र प्रारम्भ में छोटे-छोटे **नगर-राज्यों** में विभाजित था। अनेक दृष्टि से इन राज्यों की तुलना सुमेरियन नगर-राज्यों से की जा सकती है। परन्तु सुमेरियन नगर-राज्य ऐतिहासिक युग में आविर्भूत हुए थे जब कि मिस्री नगर-राज्य प्रागैतिहासिक युग में। ये नगर ४००० ई० पू० के लगभग संयुक्त होकर **दो राज्यों में एकीकृत** हो गये—उत्तरी अथवा नील के मुहाने का राज्य और दक्षिणी अथवा नील की घाटी का राज्य। **दक्षिणी मिस्री** राज्य की राजधानी नेख़ेब (आधुनिक अलकाब) और विशिष्ट रंग श्वेत था। इसके राजा लम्बा श्वेत मुकुट धारण करते थे। उनका राजप्रासाद नेख़ेन और कोषागार 'श्वेत भवन' कहलाता था। उनका राजचिह्न लिली पौधे की शाख एवं संरक्षिका गृध्रदेवी नेख़्बत थी। उत्तरी **मिस्र** की राजधानी बूटो, संरक्षिका इसी नाम की नागदेवी और उसका विशिष्ट रंग लाल था। इसलिए उसके राजा लाल मुकुट धारण करते थे और उनके राजप्रासाद और कोषागार क्रमशः 'पे' और 'रक्तभवन' कहलाते थे। उनके राजचिह्न पेपाइरस का गुच्छा और मधुमक्खी थे। ऐतिहासिक युग में लिली और पेपाइरस की गुम्फित शाखों को प्रायः संयुक्त-राज्य के प्रतीक रूप में अंकित किया गया है।

मिस्र के प्राग्वंशीय नगर-राज्यों का इतिहास सर्वथा अज्ञात है। उत्तरी मिस्री के सात राजाओं के नाम पाँचवें वंश के एक अभिलेख में मिले हैं, परन्तु उनकी सफलता का विस्तृत विवरण देना असम्भव है। ब्रेस्टेड ने अनुमान प्रकट किया है, और सेथे ने इसका समर्थन किया है, कि ३४०० ई० पू० के पहले भी, यद्यपि बहुत थोड़े समय के लिए, एक बार संयुक्त-राज्य की स्थापना हुई थी। इतने दीर्घ समय तक पृथक् अस्तित्व बनाए रखने के कारण इन राज्यों की विशिष्ट परम्पराएँ बहुत दृढ़ हो गईं। ऐतिहासिक युग में काफी बाद तक देश के दो भागों में विभाजित होने की भावना बनी रही, और मिस्री नरेश 'दक्षिणी और उत्तरी मिस्र का स्वामी' विरुद धारण करते रहे।

प्रथम वंश की स्थापना : मेना अथवा मेनिज़—उत्तरी और दक्षिणी राज्यों को संयुक्त करके राजनीतिक एकता और प्रथम वंश की स्थापना दक्षिणी मिस्र में एबाइडोस के समीप स्थित तेनी (यूनानी थिस अथवा थिनिस) नामक स्थान के निवासी **मेना (यूनानी मेनिज़)** ने की थी। अक्कादी नरेश सारगोन के समान उसके विषय में भी परवर्ती युगों में बहुत सी अनुश्रुतियाँ प्रचलित थीं। फ्रंकफर्ट इत्यादि बहुत से विद्वान् उसे ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते और यह विश्वास करते हैं कि इन अनुश्रुतियों में प्रथम वंश के नरमेर, 'बिच्छूराज' (स्कार्पियन किंग) तथा अहा जैसे प्रारम्भिक नरेशों की सफलता को एक काल्पनिक व्यक्ति में आरोपित कर दिया गया है। लेकिन **ब्रेस्टेड** को मेनिज़ की ऐतिहासिकता में पूर्ण श्रद्धा है। जो कुछ भी रहा हो, इतना निश्चित है कि मिस्री सभ्यता के उदय का राजनीतिक पक्ष देश का एकीकरण था और यह घटना उस समय घटित हुई थी जिस समय मेनिज़ के शासन काल को रखा जाता है।

मेनिज़ के उत्तराधिकारी—मिस्र के प्रथम दो वंशों के **१८ नरेशों ने ४२० वर्ष** (लग० ३४००-२९८० ई० पू०) **राज्य किया**। उन सबकी सफलताओं का का व्यक्तिशः विवरण देना कठिन है, लेकिन स्थूलतः कहा जा सकता है कि उन्होंने मिस्र के नव-स्थापित **संयुक्त-राज्य को स्थायित्व प्रदान किया, उत्तरी मिस्र के लीबियनों और सेमाइटों के बराबर होते रहने वाले विद्रोहों का सफलता पूर्वक दमन किया** और विदेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किए। उन्होंने उत्तरी मिस्र के पूर्व में सिनाई प्रायद्वीप की अर्द्धसभ्य जातियों के विरुद्ध युद्ध लड़े और वहाँ की **ताम्र की खानों से लाभ उठाया**। ब्रेस्टेड का अनुमान है कि उनका कुछ सम्बन्ध ईजियन प्रदेश से भी था। वे पर्याप्त गौरव के साथ शासन करते थे। उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण **विरुद 'होरुस'** था। उनके व्यक्तिगत नाम के पहले उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के एकीकरण के प्रतीक रूप में मधुमक्खी और लिली पौधे की शाखा, दक्षिण की गृध्र देवी नेख़बत और उत्तर की नाग देवी बूटो और कभी-कभी होरुस के साथ सेत देवता का उल्लेख रहता था। वे दक्षिण का लम्बा श्वेत अथवा उत्तर का लाल अथवा इन दोनों के मिश्रित रूपवाला मुकुट धारण करते थे।
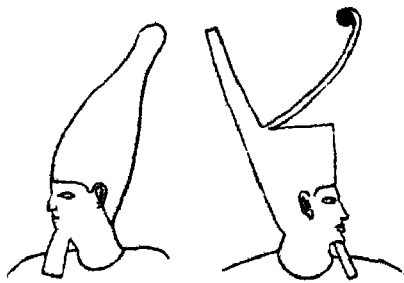
चित्र ७७ : दक्षिणी और उत्तरी राज्यों के मुकुट

सांस्कृतिक विकास

प्राग्वंशीय और प्रारम्भिक-वंशीय युगों में मिस्री संस्कृति की रूपरेखा स्पष्ट होने लगी थी। दूसरे वंश के अन्त तक मिस्रियों ने न केवल दलदलों को सुखाने और सिंचाई की समुचित व्यवस्था करने में सफलता प्राप्त कर ली थी वरन् रीति-रिवाजों पर आधारित क़ानूनों, एक विशिष्ट चित्राक्षर लिपि (दे० आगे), और सौर पंचाङ्ग का आविष्कार और विकास कर लिया था। उन्होंने हाथीदाँत, ताम्र, रजत और स्वर्ण के आभूषण और अन्यान्य उपकरण, पाषाण-भाण्ड, उच्च कोटि के ग्लेज़ किए हुए मृद्भाण्ड और लिलन के सुन्दर वस्त्र बनाने में निपुणता प्राप्त कर ली थी। उनका प्रमुख देवता होरुस था। उसका हियराकोनपोलिस में स्थित मन्दिर पवित्रतम माना जाता था। प्रथम दो वंशों के नरेश अपने को 'शेम्सु-होर' का वंशज मानते थे। होरुस के अतिरिक्त ओसिरिस, सेत, अनुबिस, टॉथ, सोकर, मिन तथा टाः इत्यादि अन्य अनेक देवता थे जिनकी उपासना देश के विभिन्न प्रदेशों में होती थी। पारलौकिक जीवन के विषय में उनके विचारों का संकेत एबाइडोस में स्थित तत्कालीन राजसमाधियों से मिलता है। इनसे ज्ञात होता है कि मृत व्यक्तियों को परलोक में ऐहिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, यह विश्वास इस युग में काफी विकसित हो गया था। 'पिरेमिड युग' में यह मिस्री धर्म और सभ्यता का आधार बना।
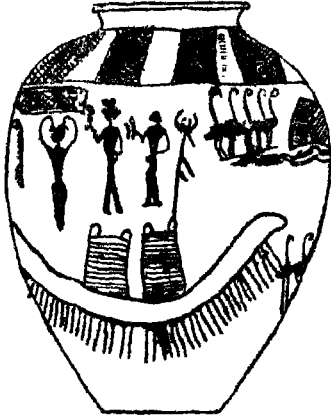
चित्र ७८ : एक प्राग्वंशीय मिस्री मद्भाण्ड जिस पर नौका का चित्र बना है

पिरेमिड युग का राजनीतिक इतिहास

तृतीय वंश : जोसेर और इम्होतेप—तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० के के प्रारम्भ में द्वितीय वंश के पतन और जोसेर के नेतृत्व में तृतीय वंश की स्थापना (२९८० ई० पू०) से मिस्र के इतिहास में सांस्कृतिक प्रगति और भौतिक समृद्धि का एक महान् युग प्रारम्भ होता है जो २४७५ ई० पू० में छठे वंश के पतन तक चला। इसे इतिहासकार **'प्राचीन-राज्य'** अथवा **'पिरेमिड युग'** कहते हैं। **जोसेर के शासनकाल में मेम्फिस (मेन नो फेर) का प्रमुत्व दृढ़-रूपेण स्थापित हुआ और उसके मन्त्री इम्होतेप ने सक्कर के सीढ़ीदार पिरेमिड**

(स्टेप पिरेमिड) का निर्माण कर के **पाषाण वास्तुकला को जन्म दिया।** इम्होतेप लियोनार्डो द विंसी के समान अनेक विषयों और कलाओं में पारंगत था। वह न केवल एक सम्मानित मन्त्री और वास्तुकार (आर्किटेक्ट) था वरन् सुप्रथित ओझा, कुशल वैद्य और लिपि-शास्त्र का ज्ञाता भी था। अनुश्रुतियों में उसे मिस्री लिपि को सुधारने का श्रेय दिया गया है। उसके समय से पच्चीस सौ वर्ष बाद यूनानी उसे चिकित्सा-शास्त्र का देवता मानते थे। उसके सम्मान में अनेक मन्दिर बनवाए गए थे। परवर्ती युगों में उसके देशवासी उसके ज्ञान (विज़डम ऑव इम्होतेप) को उदाहरणीय मानते थे।

जोसेर के उत्तराधिकारी—जोसेर के समय किया गया निर्माण-कार्य सम्भवतः उसके द्वारा सिनाई प्रायद्वीप में **ताम्र की खानों के समुपयोजन** और उत्तरी नूबिया में प्राप्त सैनिक सफलता के कारण सम्भव हो सका था। उसके उत्तराधिकारी भी इस ओर बराबर ध्यान देते रहे। उदाहरणार्थ **नेफ्रू** ने, जो इस वंश का अन्तिम नरेश था १७० फुट लम्बे जलपोत बनवाकर विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन दिया, लेबनान से देवदारु का आयात किया, सिनाई प्रदेश में मिस्री हितों को सुरक्षित किया और उत्तरी नूबिया में विद्रोही जातियों को परास्त किया। अपनी इस सफलता के कारण वह **पहले ढलवां पिरेमिड** का निर्माण करवा सका।

चतुर्थ वंश—मिस्र के चौथे वंश का संस्थापक **खूफू** था। उसने मिस्र का **विशालतम पिरेमिड** बनवाया। उसके समय राज्य का पूर्ण नियन्त्रण राजा के हाथ में आ गया और राज्य का प्रमुख उद्देश्य फराओ के लिए अनश्वर समाधियों का निर्माण करना हो गया। उसके पुत्र **रेफ्रे** के समय **हेलियोपोलिस** के देवता **रे के पुजारियों की प्रतिष्ठा** बढ़ी। उसने एक लघुतर पिरेमिड और सम्भवतः 'विशाल स्फिंक्स्' का निर्माण कराया था। कई सन्ततियों तक इतने **स्मारकों** का निर्माण होते रहने के कारण राज्य की आर्थिक स्थिति खराब होने लगी। सम्भवतः इसीलिए उसके उत्तराधिकारी **मेन्कुरे** का पिरेमिड उसके पिरेमिड से केवल आधा ऊँचा है। मेन्कुरे के पश्चात् स्थिति अधिकाधिक बिगड़ती गई जिसके परिणामस्वरूप २७५० ई० पू० के लगभग हेलियोपोलिस के पुजारी अपने प्रभुत्व के अन्तर्गत एक नए वंश की स्थापना करने में सफल हो गए।

पंचम वंश—मिस्र के पंचम वंश का संस्थापक **यूसेरकाफ** नामक व्यक्ति था। उसके पुत्र **सहुरे** ने मिस्र की नौशक्ति में वृद्धि की तथा फिनीशिया और देवभूमि **'पुन्ट'** पर सफल आक्रमण किए। उसके और उसके उत्तराधिकारियों के शासन काल में नूबिया पर भी कई बार सफल आक्रमण किए गए। परन्तु इसके बावजूद रे के पुजारियों, सामन्तों और सेनापतियों की महत्त्वाकांक्षाएँ बढ़ जाने

के कारण फराओ की शक्ति शनैः शनैः कम होती गई। अब रे उसके नाम का अभिन्न अंग और 'रे का पुत्र' उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपाधि हो गए, सेनापति अपने अभिलेखों में युद्धों में प्राप्त विजय का श्रेय प्राचीन काल की तरह फराओ को न देकर खुद को देने लगे और अपनी सफलता का अधिकाधिक आडम्बर पूर्ण भाषा में वर्णन करने लगे। पुजारियों और सेनापतियों के महत्त्वाकांक्षी हो जाने के कारण केन्द्रीय शक्ति के ह्रास का इतिहास में यह पहला ज्ञात उदाहरण है।

छठा वंश—राजपद की ह्रासोन्मुखी प्रतिष्ठा को बढ़ाने और सामन्तों, पुजारियों तथा सेनापतियों को नियन्त्रण में रखने का महनीय कार्य छठे वंश के प्रथम दो फराओ **तेती द्वितीय** और **पेपी प्रथम** ने किया। पेपी प्रथम को इस कार्य में **ऊनी** नामक सरदार से बहुत सहायता मिली जिसका जीवनवृत्त आजकल उपलब्ध है। ऊनी के नेतृत्व में मिस्री सेनाओं ने दक्षिण में नूबिया और उत्तर में फिलिस्तीन तक धावे मारे। उसने पेपी के पुत्र **मेर्नेरे** को भी राज्य को सुव्यवस्थित और सुसंगठित रखने में सहायता दी। मेर्नेरे के उत्तराधिकारी **पेपी द्वितीय** ने, जो राज्यारोहण के समय शिशु मात्र था मनेथो के अनुसार ९४ वर्ष और त्युरिन सूची के के अनुसार ९० + x वर्ष राज्य किया। विश्व इतिहास में उसके शासनकाल को दीर्घतम माना जा सकता है। उसके समय में भी उत्तर और दक्षिण में महती सफलता प्राप्त की गई। लेकिन उसके बाद उसके दुर्बल और अयोग्य उत्तराधिकारी सामन्तों की वर्द्धमान महत्त्वाकांक्षाओं पर नियन्त्रण न रख सके जिसके कारण २४७५ ई० पू० में छठे वंश का पतन हो गया।

चित्र ७९ : पेपी प्रथम की ताम्र-प्रतिमा

मिस्री धर्म

मिस्री देवसमूह

प्राचीन मिस्रियों के जीवन में धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनकी कला धर्म की सन्देश वाहिका थी, साहित्य और दर्शन धर्म-भावना से परिपूर्ण थे,

राज्य-व्यवस्था धर्मतान्त्रिक थी और आर्थिक संगठन का उद्देश्य धार्मिक संस्थाओं के विकास और धर्म विषयक स्मारकों के निर्माण में सहायता देना था। इसी कारण यूनानी उन्हें विश्व का सर्वाधिक धर्मनिष्ठ मनुष्य मानते थे।

मिस्री देवसमूह की विशालता—मिस्र निवासी अति प्राचीन काल से बहुदेववादी थे। उनके अधिकांश **देवता प्राकृतिक शक्तियों का दैवीकरण थे**। वे प्रकाश से पृथिवी पर जीवन की वर्षा करने वाले **सूर्य**, रात्रि के घोर तिमिर का हरण करके जनमन को आह्लादित करने वाले **चन्द्र**, प्रतिवर्ष अपनी बाढ़ से पृथिवी की उर्वर-शक्ति को पुनरुज्जीवित करने वाली **नील**, अपने उदर से अनन्त निधियों को जन्म देने वाली वसुधा तथा अपने असीम विस्तार में अनन्त तारागणों को आश्रय देने वाले **आकाश** को ही नहीं वरन् **झरनों**, **पर्वतों**, **पशु-पक्षियों**, **लताकुंजों**, **वृक्षों** और विविध **वनस्पतियों** तक को दैवी शक्ति से अभिहित मानते थे। इनमें सूर्य और नील सर्वप्रधान थे। चन्द्रमा की कल्पना उन्होंने ज्ञान और काल (टाइम) के देवता **सिन** के रूप में की थी। उसकी उपासना का केन्द्र श्मून (हरमोपोलिस) नगर था। पृथिवी को वे **क्रेब** नाम का देवता मानते थे और आकाश को नृत नाम की देवी अथवा **हथौर** नाम की दैवी गौ। मेम्फिस का प्रमुख देवता **टाः** किसी प्राकृतिक शक्ति का दैवीकरण न होकर कलाओं और कलाकारों का संरक्षक था। उसके प्रधान पुजारी को प्रायः फराओं के प्रधान कलाकार का पद मिलता था।

मिस्रियों ने अपने **देवताओं की कल्पना** प्रायः मनुष्यों अथवा पशु-पक्षियों अथवा मिले-जुले रूप में की। बहुत से पशु-पक्षियों जैसे वृषभ, श्येन, गौ, हंस, मगर, बकरी, भेड़, बिल्ली कुत्ता तथा सर्प को वे विभिन्न देवताओं का प्रतीक मानते थे। लेकिन, ब्रेस्टेड के अनुसार, प्राचीन-राज्य युग में उनके धर्म में **पशुपूजा** को वह स्थान नहीं मिल पाया था जो परवर्ती युगों में धर्म-भावना के विकृत हो जाने पर मिला। फिर भी उनका **देवसमूह** अत्यन्त विशाल था, इसमें सन्देह नहीं। उनके कुल देवी-देवताओं की संख्या दो सहस्र से भी अधिक रही होगी। विश्व में भारत और रोम को छोड़ कर किसी अन्य देश में इतने विशाल देवसमूह की कल्पना नहीं की गई।

जगत् की उत्पत्ति विषयक कल्पनाएँ—स्थानीय देवताओं की बहुलता के कारण मिस्रियों के **धार्मिक विचारों में राष्ट्रीय स्तर पर पूर्ण सामंजस्य कभी स्थापित नहीं हो पाया**। यद्यपि संयुक्त राज्य की स्थापना होने पर एक से लगने वाले देवताओं का तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास किया गया—जैसे सूर्य के विभिन्न रूपों का—तथापि उनसे सम्बद्ध विचारों और कथाओं में विरोधाभास

प्रायः बना रहा। लेकिन वे परस्पर विरोधी विचारों में एक साथ विश्वास करने में समर्थ थे। इसका सर्वोत्तम प्रमाण है उनकी जगत की उत्पत्ति और आकार विषयक कल्पनाएँ। दार्शनिक स्तर पर 'मेम्फाइट ड्रामा' नामक कृति में जगत् की उत्पत्ति का कारण 'दैवी-प्रज्ञा' (डिवायन इन्टेलिजेन्स्) को कहा गया है (पृ० ३३३)। लेकिन जनमन को रुचिकर लगने वाली पौराणिक कथाएँ भी
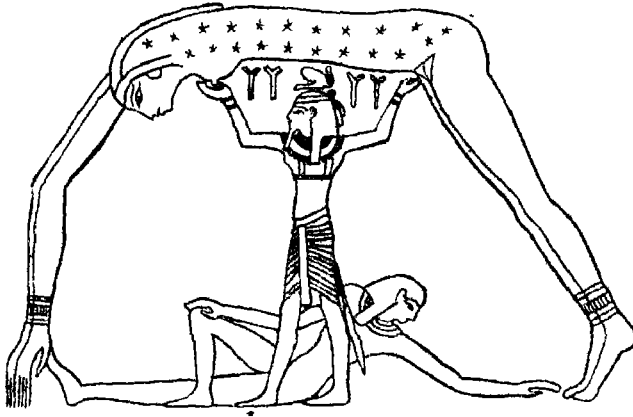
चित्र ८० : शू का क्रेब पर पैर जमा कर नूत को ऊँचा उठाना

अज्ञात नहीं थीं। एक कथा में जगत् को पृथिवीदेव क्रेब के ऊपर खड़ी हुई दैवी गौ माना गया है जिसका पेट नक्षत्रों से जड़ा हुआ आकाश है और जिसे वायुदेव 'शू' सहारा दे रहा है। एक अन्य कथा के अनुसार, जब जगत् के स्थान पर केवल **आदिसमुद्र** (प्राइमेवल सी) था, एक दैवी अण्डे का आविर्भाव हुआ। उससे सूर्यदेव की उत्पत्ति हुई। सूर्य के इस रूप को **एतुम** कहा गया है। उससे **वायुदेव शू** और उसकी बहिन-पत्नी **तेफ्नुत** का जन्म हुआ और उन दोनों से पृथिवीदेव **क्रेब** और आकाश देवी **नूत** का। नूत और क्रेब **ओसिरिस** और **सेत** नामक भाइयों तथा **आइसिस** और **नेपथाइस** नामक बहिनों के माता-पिता थे। कालान्तर में शू ने अधोमुख लेटे क्रेब पर पैर जमा कर नूत को इतना ऊँचा उठाया कि उसका (नूत का) शरीर क्रेब के ऊपर एक गुम्बद के समान लगने लगा (चि० ८०)। सूर्यदेव को मिला कर ये **नौ देवता** मिस्र में प्रमुख माने जाते थे। इनमें भी सूर्य और ओसिरिस की प्रतिष्ठा सबसे अधिक थी।

सूर्यदेव एमन-रे—सूर्य की उपासना मिस्र में लगभग सभी जगह **विभिन्न नामों और रूपों में** होती थी। उत्तरी मिस्र में उसकी पूजा का प्रमुख केन्द्र **ओन्** (यूनानियों का हेलियोपोलिस) नाम का स्थान था। यहाँ उसे रे कहा

जाता था और उसकी कल्पना पश्चिम की ओर गमन करते हुए वृद्ध पुरुष के रूप में की गई थी। थीबिज में उनका नाम **एमन** था। दक्षिणी मिस्र में उसका प्रमुख केन्द्र **एडफू** नामक स्थान था।

चित्र ८१ : पक्षयुक्त-सूर्यचक्र

वहाँ उसकी उपासना श्येन के रूप में **होरस** नाम से होती थी। संयुक्त-राज्य की स्थापना होने पर सूर्य के इन विभिन्न रूपों की अभिन्नता मानी जाने लगी और उसका संयुक्त नाम **एमन-रे** सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ। प्राचीन-राज्य युग में वह सर्वोच्च देवता माना जाता था। उसका प्रतीक 'पक्षयुक्त-सूर्यचक्र' (चि० ८१) मिस्र का राजचिह्न था। मिस्रियों के विश्वास के अनुसार सबसे पहले उसी ने **फराओ के रूप में शासन** किया था। एक बार मनुष्यों ने उसके विरुद्ध षडयन्त्र किया। इससे क्रुद्ध होकर उसने हथौर नामक देवी **को मानव जाति का विनाश** करने के लिए भेजा। लेकिन तत्पश्चात् उसे पश्चात्ताप हुआ और उसने प्रयत्न करके हथौर को बीच में ही रोक दिया। बाद में देवी गौ ने उसे अपनी पीठ पर चढ़ा लिया जिससे वह कृतघ्न मानवों से दूर रह सके। तब से वह आकाश में **दैवी नौका** पर आरूढ़ होकर यात्रा करता है और पृथिवी पर अपने प्रकाश रूपी अमृत की वर्षा करता रहता है।

ओसिरिस आख्यान—सूर्यदेव रे के आकाशगामी हो जाने पर पृथिवी पर उसके प्रतिनिधि—फराओ—राज्य करने लगे। इनमें सबसे पहला स्थान ओसिरिस को दिया गया है। यद्यपि कहीं-कहीं उसको **सूर्य** का पुत्र कहा गया है, तथापि वह मूलतः **नील नदी, पृथिवी की उर्वर-शक्ति तथा हरीतिमा का दैवीकरण** प्रतीत होता है। उसकी उपासना का मूल केन्द्र मुहानेवाले प्रदेश में स्थित देदु स्थान था, लेकिन बाद में एबाइडोस अधिक प्रसिद्ध हो गया। एक नरेश के रूप में वह अत्यन्त **परो-**
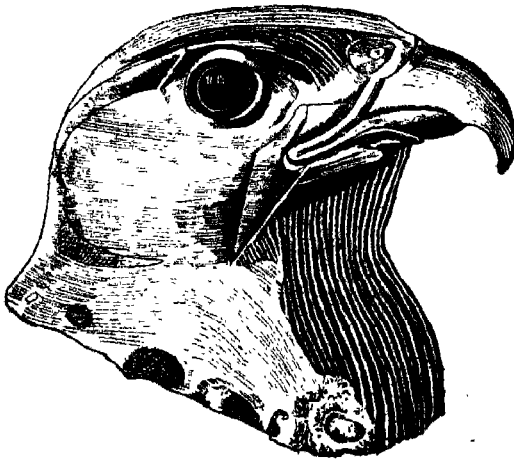
चित्र ८२ : हियराकोनपोलिस के श्येन की स्वर्ण-प्रतिमा का शीर्ष भाग

पकारी और न्यायप्रिय सिद्ध हुआ। शासन कार्य में उसे अपनी बहिन और पत्नी **आइसिस** से बहुत सहायता मिली। उसने मानव जाति को कृषि-कर्म कानून और कलाओं की शिक्षा दी। लेकिन उसके दुष्ट भ्राता **सेत** ने उसकी धोखे से हत्या कर दी। आइसिस ने अपने पति के मृत शरीर के टुकड़ों को एकत्र संगृहीत किया और **शृगालमुख अनुबिस देवता** की सहायता से उसको दफन करने की तैयारी की। लेकिन उसने जो मन्त्र ओसिरिस के मृत शरीर पर पढ़े, उनके प्रभाव से वह पुनरुज्जीवित हो गया। यद्यपि उसके बाद वह पार्थिव जीवन व्यतीत करने योग्य नहीं रह गया, तथापि पाताल लोक का स्वामी अवश्य बन गया। उसके पुनरुज्जीवन के अनन्तर आइसिस ने **होरुस** नामक पुत्र को जन्म दिया। उसका पालन-पोषण उसने मुहानेवाले प्रदेश में गुप्त रूप से किया। युवावस्था प्राप्त करने के बाद होरुस ने घोर संघर्ष करके सेत को पराजित किया और अपने पिता के अपमान और वध का प्रतिशोध लिया। सेत ने देवसभा में होरुस के विरुद्ध आवेदन किया परन्तु वहाँ भी होरुस की विजय हुई।

ओसिरिस आख्यान का महत्त्व—सम्भवतः ओसिरिस की इस कथा में मूलतः नील और वनस्पति जगत् की प्रति वर्ष ग्रीष्म ऋतु में 'मृत्यु' और बाढ़ आने पर 'पुनरुज्जीवन' का प्रतीकात्मक वर्णन था। मिस्रियों के जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं पर आधारित होने के कारण यह शीघ्र ही अत्यन्त **लोकप्रिय** हो गई। उन्होंने इसमें अपने **जीवन और आशाओं की झाँकी देखी और अमरत्व का सन्देश पाया**। जिस प्रकार ओसिरिस मर कर पुनरुज्जीवित हो गया उसी प्रकार सब हो सकते हैं, यह भाव धीरे-धीरे दृढ़तर होता गया और यह कथा मृत्यु पर जीवन की, निराशा पर आशा की, अन्याय पर न्याय की और अनृत पर **सत्य की विजय का प्रतीक** बन गई। दूसरे, इस कथा के पात्रों ने मिस्रियों के सम्मुख जीवन के **उच्च आदर्शों को मूर्त्तरूप में उपस्थित** किया। एक न्यायी और परोपकारी नरेश के रूप में ओसिरिस, प्रेम के बल से मृत्यु को जीतने वाली पत्नी तथा अनेक कष्ट सह कर सन्तान का पालन करनेवाली माता के रूप में आइसिस तथा पितृभक्त पुत्र के रूप में होरुस के चरित्र को मिस्र निवासी अपने लिए उदाहरणीय मानते थे।

मिस्री कर्मकाण्ड

मन्दिर और पूजा-विधि—मिस्री अपने **मन्दिरों** को देवगृह मानते थे, इसलिए उनको उसी प्रकार बनाते थे जिस प्रकार अपने रहने के मकान। पिरे-

मिडयुगीन मन्दिरों में आगे एक खुला प्रांगण होता था, उसके पीछे स्तम्भयुक्त विशाल कक्ष और उसके पीछे भण्डार के रूप में काम आनेवाले **लघु कक्ष।** इन लघु कक्षों के मध्य गर्भगृह होता था जिसमें लकड़ी की, प्रायः एक से छः फुट तक ऊँची, **प्रतिमा** स्थापित रहती थी। उसे स्वर्ण, रजत और बहुमूल्यों पाषाणों से सजाया जाता था। **देवोपासना** के मुख्य अंग थे प्रतिमा को उत्तम भोजन, पेय और वस्त्रादि अर्पित करना तथा गायन-वादन से सन्तुष्ट करना। मन्दिरों का व्यय राज्य द्वारा अनुदानित भूमि की आय, राजकोष से मिलने वाले खाद्यान्न, सुरा, मधु और तेल आदि तथा उपासकों द्वारा दिए जाने वाले दान पर निर्भर रहता था। **देवार्पित सामग्री** पुजारियों के काम आती थी, लेकिन विशेष अवसरों पर साधारण उपासकों में भी **प्रसाद** वितरित किया जाता था। **देवाख्यानों में उल्लिखित तिथियाँ** विशेष उत्साह के साथ मनाई जाती थीं, उसी प्रकार जैसे हिन्दू कृष्णजन्माष्टमी रामनवमी और विजयदशमी इत्यादि को मनाते हैं।

पुजारी वर्ग—मिस्र में देवता का एकमात्र 'अधिकृत' (ऑफीशियल) सेवक फराओ को माना जाता था। सिद्धान्ततः सब देवताओं की उपासना करने का एकमात्र अधिकार उसी का था। लेकिन वह सब मन्दिरों में एक साथ उपस्थित नहीं रह सकता था, इसलिए व्यवहार में उसे यह कर्त्तव्य अपने **सहायक पुजारियों** को सौंपना होता था। मिस्र के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण मन्दिर में एकाधिक पुजारी रहते थे। उनका प्रधान न केवल विधिवत पूजा कराने के लिए उत्तरदायी होता था वरन् मन्दिर की सम्पत्ति की देखभाल और युद्ध के समय सेना का संचालन भी करता था। बहुत से मन्दिरों में **देवदासियाँ** रहती थीं। उनके कार्य देवता के सम्मुख गायन, वादन और नृत्य करना थे। पुजारी लोग अपने पद का सिद्धान्ततः नहीं तो व्यवहार में वंशानुगत रूप से उपभोग करते थे। वे मन्दिरों में रहते थे, उनकी आय से अपना भरण-पोषण करते थे और कर, बेगार व अनिवार्य सैनिक-सेवा से मुक्त रहते थे। मन्दिरों में एकत्र अतुल सम्पत्ति, स्वतन्त्र सैनिक-शक्ति एवं अपने विशेषाधिकारों के कारण उनकी **प्रतिष्ठा** बहुत बढ़ गई थी। मेम्फिस और हेलियोपोलिस के पुजारी विशेष रूप से शक्तिशाली थे।

परलोकवाद

पारलौकिक जीवन की कल्पना—परलोकवाद को जितना महत्त्व मिस्री धर्म में मिला उतना शायद किसी अन्य धर्म में नहीं। मिस्र में जलवायु की

शुष्कता के कारण मृत शरीर सुदीर्घ समय तक नष्ट नहीं होते। इससे मिस्रियों में मृत्योपरान्त जीवन के नैरन्तर्य में विश्वास उत्पन्न हुआ। वे मृत्यु को जीवन का अन्त न मानकर एक घटना विशेष मात्र मानने लगे। उन्होंने पारलौकिक जीवन की कल्पना बहुत कुछ अपने ऐहिक जीवन के अनुरूप की। उनका विश्वास था कि हर मनुष्य की एक शक्ति विशेष—'का'—होती है जो जन्म के समय उसके साथ आती है, जीवन भर उसके साथ रहती है और मृत्योपरान्त उसके शरीर से चिपटी रहती है। स्मारकों पर 'का' को मानव-शरीर के सदृश दिखाया गया है, इसलिए इसे प्रायः मनुष्य का 'डबल' अथवा 'प्रतिरूप' कहा जाता है। इसकी कल्पना बहुत कुछ पार्थिव शरीर के समान की गई है। मृत्योपरान्त इसकी उदरपूर्ति के लिए मृतक की समाधि में भोजन-सामग्री रखी जाती थी। कुछ समाधियों में उसके लिए शौचालयों की व्यवस्था की गई है। एक स्थल पर चिन्ता व्यक्त की गई है कि कहीं भोजन-सामग्री के अभाव में 'का' अपने मल का भक्षण न करने लगे। 'का' के अतिरिक्त मिस्री 'आत्मा' के अस्तित्व में भी विश्वास करते थे, जो शरीर में उसी प्रकार निवास करती है जैसे पक्षी पेड़ पर। लेकिन 'का' और 'आत्मा' का परस्पर क्या सम्बन्ध था, यह कहीं भी स्पष्टतः नहीं बताया गया है।

समाधियाँ : पिरेमिड और मस्तबे—क्योंकि मिस्री यह मानते थे कि मृत्योपरान्त भी मनुष्य की 'का' उसके मृत शरीर से चिपटी रहती है, इसलिए वे **शवों के परिरक्षण** की ओर बहुत ध्यान देते थे। प्राग्वंशीय युग में मृतकों को रेत में गड्ढे खोद कर दफन कर दिया जाता था। प्राचीन-राज्य युग तक ये आदिम समाधियाँ विशाल **पिरेमिडों** (विस्तृत विवरण के लिए द्र० पृ० ३०९ का फु० नो०) में परिणत हो चुकी थीं और **मृतक-संस्कार** अत्यन्त **जटिल** हो गया था। फराओ के मृतक-संस्कार में ७० दिन लगते थे। सामन्तों की आयताकार पाषाण-समाधियाँ भी पिरेमिडों से लघुतर होने के बावजूद काफी बड़ी होती थीं। आजकल मिस्र में साधारण जनों के मकान के बाहर इस आकार के चबुतरे होते हैं जिन्हें 'मस्तबा' कहा जाता है। इसलिए इन समाधियों को **'मस्तबा'** कहा जाने लगा है। इनमें पूर्व दिशा ओर एक कक्ष बनाया जाता था, जिसकी दीवारों पर **मृतक के जीवन से सम्बद्ध प्रमुख घटनाओं को रिलीफ-चित्रों में अंकित कर दिया जाता था**। ये चित्र तत्कालीन मिस्री सभ्यता पर रोचक और ज्ञानवर्धक प्रकाश देते हैं। इस कक्ष के बराबर, कभी-कभी गैलरी द्वारा संयुक्त, एक लघु कक्ष होता था जिसमें **मृतक की प्रतिमा** स्थापित की जाती थी। प्रयत्न किया जाता था कि वह प्रतिमा उसके शरीर की यथार्थ अनुकृति हो

जिससे उसकी 'का' उससे चिपटी रह कर कक्ष में रखे भोजन और पेय का भक्षण कर सके। इन कक्षों से कुछ दूर हटकर मस्तबे के नीचे एक **शवकक्ष** बनाया जाता था। इसमें मृत-शरीर को, उस पर उसे नष्ट होने से बचाने वाले लेप लगा कर, काष्ठ की सुन्दर शवपेटिका में बन्द करके और उस पेटिका को एक पाषाण-पेटिका (सेॅर्कोफेॅगस) में रख कर उस कक्ष में बन्द कर दिया जाता था। उसके साथ मृतक के लिए आवश्यक खाद्यान्न, पेय, शृङ्गारोपकरण तथा ताबीज आदि रख दिए जाते थे। उसके बाद उस कक्ष के मार्ग को पूर्णतः अवरुद्ध कर दिया जाता था।

समाधियों की देखभाल—उपर्युक्त संस्कार के पश्चात् भी मृतात्मा को बराबर भोजनादि दिए जाने की आवश्यकता बनी रहती थी। इसलिए धनी पुरुष अपनी मृत्यु के पूर्व एक या अधिक **पुजारी नियुक्त कर जाते थे**, जिनका कार्य उनकी समाधि में आवश्यक संस्कारों को दोहराते रहना और भोजन-पेयादि पहुँचाते रहना होता था। इन पुजारियों के प्रतिपालन और समाधि की देख-रेख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे अपनी **सम्पत्ति का एक भाग अनुदानित कर जाते थे**। सिद्धान्ततः यह व्यवस्था सदैव के लिए की जाती थी, परन्तु व्यवहार में चार-पाँच सन्तति पुराने पूर्वजों की अपेक्षा निकटतर पूर्वजों की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगता था। मिस्री नरेश अपने प्राचीन-तर पूर्वजों की समाधि की देख-रेख के लिए अनुदानित चली आई आय को प्रायः अपने प्रिय सामन्तों की समाधियों की देख-रेख के लिए प्रदान कर देते थे।

'मृतकों की दुनिया'—लेकिन उपर्युक्त विवरण का अर्थ यह नहीं है कि मिस्री अपने मृतकों को इसी दुनिया का निवासी मानते थे। 'पिरेमिड टेक्स्ट्स' में अनेक स्थलों पर पश्चिम में स्थित **'मृतकों की दुनिया'** की कल्पना मिलती है जहाँ सूर्य देवता प्रतिदिन सन्ध्या समय जाते हैं। एक अन्य स्थल पर **'पाताल'** की चर्चा हुई है जहाँ मृतात्माएँ प्रतिदिन सूर्यदेव की दैवी नौका की प्रतीक्षा करती हैं। एक स्थान पर आकाश के उत्तर-पूर्वी कोने में **'यारूलोक'** (फील्ड ऑव यारू) को स्थित बताया गया है, जहाँ पुण्यात्माएँ आनन्दमय जीवन व्यतीत करती हैं। यहाँ प्रवेश करने के लिए मृतात्माओं को एक नाव में बैठ कर जाना होता था जिसका दैवी मल्लाह केवल उन्ही आत्माओं को स्थान देता था जिन्होंने कभी कोई पाप नहीं किया। यद्यपि यहाँ पाप-कर्म से तात्पर्य अनैतिक कर्मों से नहीं अनुष्ठान सम्बन्धी कर्त्तव्यों को पूरा न करने से है, तथापि इतिहास में यह पहला उदाहरण है जब किसी जाति ने पारलौकिक सुख-दुख को ऐहिक जीवन के कर्मों पर निर्भर माना। और फिर पुण्य-कर्मों का सम्बन्ध
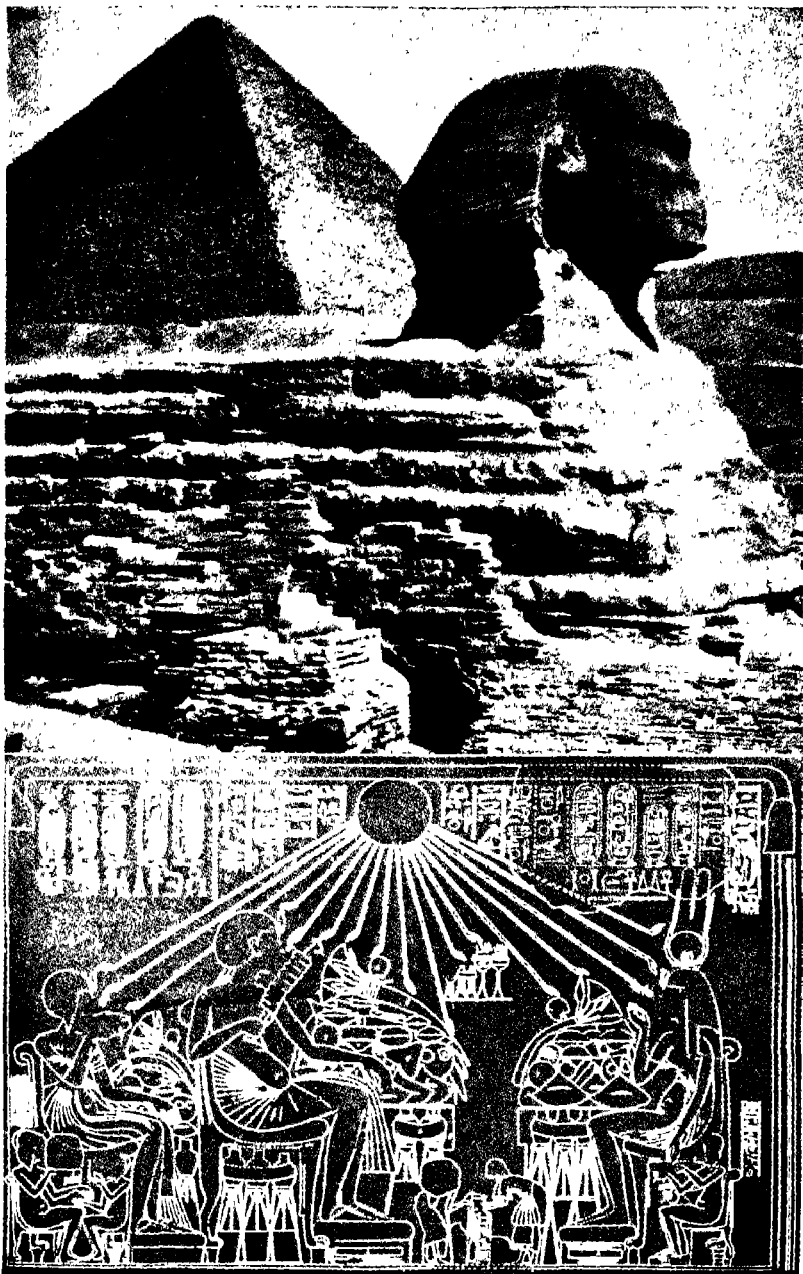
(अ) मिस्री स्फिक्स और पिरेमिड (आ) अख्नाटन का भोज
— हटन पिक्चर लाइब्रेरी

सदाचार से जोड़ने वाले व्यक्ति भी सर्वथा अज्ञात नहीं थे। कुछ सामन्तों ने अपनी समाधियों पर गर्व के साथ यह लिखवाया है कि उन्होंने दीनों की सहायता करके और सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करके पुण्यार्जन किया था। परलोकवाद के इस पक्ष को ओसिरिस के आख्यान से बहुत बल मिला। क्योंकि वह अपने सद्गुणों के कारण अन्ततोगत्वा विजयी हुआ था, इसलिए सब मनुष्य अपने पुण्यों के प्रताप से उसके समान विजयी हो सकते हैं, खुद ओसिरिस बन सकते हैं, इस विश्वास से **धर्म का नैतिक पक्ष सबलतर हो** गया।

दर्शन

'मेम्फिस का धर्मशास्त्र'—पिरेमिडयुगीन मिस्रियों के उच्चतम दार्शनिक विचार **'मेम्फिस का नाटक'** अथवा **'मेम्फिस का धर्मशास्त्र'** (मेम्फाइट ड्रामा या मेम्फाइट थियोलोजी) नामक कृति में सुरक्षित हैं। इसे विश्व की प्राचीनतम दार्शनिक रचना माना जा सकता है। ब्रेस्टेड के अनुसार इसे हेलियोपोलिस के पुजारियों ने चतुर्थ सहस्राब्दी के मध्य किसी समय लिखा था। ८ वीं शताब्दी ई० पू० में शबाक नामक फराओ ने 'पूर्वजों की इस महान् कृति' को पुराने पेपाइरस ग्रन्थों से एक काले पत्थर पर उत्कीर्ण कराया था। अभाग्यवश यह पाषाण एक चक्की के निचले पत्थर के रूप में कई वर्ष तक काम में आता रहा जिसके कारण आटे के साथ इसके संदेश का बहुत-सा भाग पिस गया। फिर भी इसका जितना अंश पठनीय है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ज्ञानवर्धक है। इसमें मेम्फिस के देवता टाः का आह्वान करते समय उसे **देवताओं का 'हृदय' और 'जिह्वा'** कहा गया है। मिस्री भाषा में इन शब्दों से तात्पर्य वस्तुतः क्रमशः 'प्रज्ञा' और 'वाक्' से था। इसलिए देवताओं का हृदय और जिह्वा होने का अर्थ था उनकी प्रज्ञा और वाक् होना। आगे कहा गया है कि टाः ने **हृदय में सब वस्तुओं को सोचा और जिह्वा से उनके नाम लिए,** जिससे जगत् की उत्पत्ति हुई। दूसरे शब्दों में इस ग्रन्थ में **दैवी प्रज्ञा** (डिवायन इन्टेलिजेन्स्) **और वाक् के रूप में टाः जगत् का कारण और निर्माता** घोषित किया गया है। यह विचार जगत् की उत्पत्ति विषयक अन्य मिस्री और विदेशी कल्पनाओं से सर्वथा भिन्न और अत्यधिक विकसित है। इसका प्रौढ़ रूप इस बात का संकेत है कि इस ग्रन्थ की रचना से कई शताब्दी पूर्व ही मिस्री दार्शनिक इन समस्याओं पर विचार करने लगे थे।

नैतिक दर्शन : 'मात' की कल्पना—मिस्र के नैतिक दर्शन का केन्द्र-बिन्दु **'मात'** का सिद्धान्त था। इस शब्द का अंग्रेजी अथवा हिन्दी में अनुवाद करना

लगभग असम्भव है। कहीं इसका अर्थ न्याय प्रतीत होता है, कहीं सत्य, कहीं नियम और कहीं व्यवस्था। इतना ही नहीं इसका प्रयोग नैतिक अर्थ में भी किया गया है और सामाजिक, वैधानिक अथवा आध्यात्मिक अर्थ में भी। इसकी कल्पना सम्भवतः वैदिक ऋषियों की 'ऋत' की कल्पना से मिलती-जुलती थी। पिरेमिड टेक्स्ट्स में कहा गया है कि सब देवता मात पर निर्भर हैं। इसका अर्थ है कि सब प्राकृतिक शक्तियाँ जिनके वे दैवीकरण हैं, दैवी नियमों अथवा मात के अनुसार चलती हैं। ये नियम ही प्रकृति में नियमितता (रेग्युलेरिटी), समाज में न्याय और व्यक्तिगत जीवन में सत्य के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। मनुष्य को व्यक्तिगत जीवन मे तभी सफलता मिलती है जब वह उसका मात के साथ सामंजस्य रखता है।

राजनीतिक दर्शन—मिस्री राजनीतिक दर्शन के मूलाधार थे उनका विश्व की अनश्वर और अपरिवर्तनशील प्रकृति में विश्वास और मात का सिद्धान्त। मिस्री विश्व-दृष्टि में **सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था पूर्णतः अपरिवर्तनशील** थी। परिवर्तन होते हैं लेकिन अपनी नियमितता और नैरन्तर्य के कारण मूलतः प्रकृत्या नित्य हैं। उदाहरणार्थ दिन रात में परिवर्तित होता है और रात दिन में। लेकिन यह परिवर्तन एक नित्य व्यवस्था का नियमित चक्र होने के कारण खुद प्रकृत्या स्थायी है। वास्तविक महत्त्व इसी स्थायित्व का है। एकाकी घटनाएँ महत्त्वहीन होती हैं। केवल एक एकाकी घटना महत्त्वपूर्ण रही है, और वह है 'जगत् की उत्पत्ति'। इसीलिए मिस्री इसे **'आदि समय'** (फर्स्ट टाइम) कहते थे। जगत् की उत्पत्ति के **समय सूर्यदेव रे ने अव्यवस्था का अन्त करके 'दैवी व्यवस्था'—मात—की स्थापना की।** उसके उत्तराधिकारी फराओ उस व्यवस्था को बनाए रखने के लिए प्रयत्न करते थे। इसीलिए जब कोई फराओ आन्तरिक संघर्षों का अन्त कर के शान्ति स्थापित करता था, तब वह यह दावा करता था कि उसने अव्यवस्था का अन्त कर के मात की स्थापना कर दी है।

राज्य और फराओ का तादात्म्य—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राज्य-संस्था की मिस्री अवधारणा हमारी अवधारणा से सर्वथा भिन्न थी। वास्तव में मिस्री भाषा में 'राज्य' के लिए कोई शब्द था ही नहीं। उनकी बुद्धि में यह बात कभी नहीं आ पाई कि उनका राज्य एक मानव-निर्मित संस्था है। वे उसे **ईश्वर-प्रदत्त, शाश्वत और अपरिवर्तनशील संस्था** मानते थे। इस संस्था का प्रतीक था फराओ। दैवी व्यवस्था—मात—का अधिपति होने के कारण वही समस्त सत्ता का स्वामी—मूर्तिमान राज्य—था। फ्रांसीसी नरेश लुई चतुर्दश का दावा **'मैं राज्य हूँ'** उससे अधिक मिस्री नरेशों पर लागू होता था। जिस प्रकार जन-

तन्त्र की कल्पना स्वतन्त्रता और समानता अवधारणाओं के बिना असम्भव है, उसी प्रकार मिस्री राज्य की कल्पना फराओ की दैवी सत्ता के बिना।

मिस्र में राज्य और फराओ का तादात्म्य किस सीमा तक पहुँच गया था, इसका संकेत मिस्री अभिलेखों के वे अंश हैं जहाँ किसी फराओ की सफलता का वर्णन किया गया है। ऐसे स्थलों पर उस फराओ विशेष की सफलता की नहीं, आदर्श फराओ की सफलता वर्णित है। उदाहरणार्थ जिस अभिलेख में पेपी द्वितीय की लीबियनों पर प्राप्त विजय का वर्णन है, उसमें पराजित लीबियन सरदारों के नाम भी दिए गए हैं। लेकिन ठीक यही नाम उससे दो सौ वर्ष पूर्व राज्य करने वाले फराओ सहुरे ने भी गिनाए हैं। पुरानी सूचियों को दोहरा देने की यह प्रवृत्ति साम्राज्य-काल में भी मिलती है। इसका कारण यह नहीं था कि जिन नरेशों ने पुरानी सूचियों को दोहराया वे झूठे थे। निश्चयतः उनकी सफलता वास्तविक थीं। लेकिन मिस्री जीवन-दृष्टि में फराओ का शत्रु पर विजय पाना सर्वथा स्वाभाविक था, इसलिए **किसी विशिष्ट फराओ की विशिष्ट सफलता जिसे आधुनिक इतिहासकार महत्त्व देते है,** उनकी दृष्टि में गौण थी। उनके लिए महत्त्व इस बात का था कि फराओ सर्वोच्च है और शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। इसलिए उसने जिन शत्रुओं को पराजित किया उनके असली नामों के स्थान पर पुरानी सूची को दोहरा देने में कोई दोष नहीं माना जाता था। इस प्रकार आदर्श फराओ की कल्पना ने फराओ विशेष के व्यक्तित्व को गौण कर दिया। **यह प्रवृत्ति, जैसा कि कि हम अन्यत्र देखेंगे, उनकी मूर्तिकला में भी मिलती है।** उनकी बहुत कम मूर्तियाँ ऐसी हैं जिनमें किसी फराओ विशेष का व्यक्तित्व उभर पाया है। अधिकांश मूर्तियों में उनका व्यक्तित्व आदर्श फराओ के व्यक्तित्व में तिरोहित हो गया है।

शासन और न्याय-व्यवस्था

मिस्री शासन-व्यवस्था में फराओ का स्थान—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है मिस्री शासन व्यवस्था पूर्णतः धर्मतान्त्रिक (थियोक्रेटिक) थी। मिस्री नरेश सूर्यदेव रे के प्रतिनिधि होने के कारण खुद देवता माने जाते थे। मृत्यु के बाद उनकी पूजा उनके पिरेमिड के सामने बने मन्दिर में होती थी। यह विश्वास कालान्तर में इतना दृढ़ हो गया कि चौथी शताब्दी ई० पू० में अलेक्जेण्डर को भी अपने को एमन-रे का पुत्र घोषित करके मिस्री जनता को सन्तुष्ट करना पड़ा था। उनके प्रजाजन उनका नाम तक लेने से झिझकते थे, इसलिए उन्हें प्रायः 'अच्छा देवता' अथवा 'पेर-ओ' (बाइबिल का फराओ)

कहा जाता था। मूलतः यह नाम उनके राजप्रासाद के लिए प्रयुक्त होता था। वे अत्यन्त वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। उनका ज्येष्ठ पुत्र प्रायः अपनी बहन से विवाह करके साम्राज्य का उत्तराधिकारी होता था। राज्य की आय का एक बहुत बड़ा भाग उनके हरम और परिवार के भरण-पोषण पर व्यय किया जाता था। **सिद्धान्ततः वे राज्य के सर्वेसर्वा होते थे।** वे न केवल **राज्याध्यक्ष होते** थे वरन् **सर्वोच्च सेनापति, सर्वोच्च पुजारी** और **सर्वोच्च न्यायाधीश** भी होते थे। वे साम्राज्य के उच्चतम पदाधिकारियों को नियुक्त करते थे। लेकिन व्यवहार में सामन्तों, पुरोहितों, प्रभावशाली पदाधिकारियों और प्रिया महारानियों की इच्छाएँ तथा राज्य की परम्पराएँ उनकी **निरंकुशता पर नियन्त्रण** रखती थीं। वे क़ानून के निर्माता न होकर उसके संरक्षक माने जाते थे, इसलिए **क़ानून के विरुद्ध कार्य करना उनके लिए प्रायः असम्भव** रहता था। कम-से-कम चौथे वंश के **राजपुत्र उच्च पदाधिकारियों अथवा मन्त्रियों के रूप में कठोर श्रम करते थे।** इससे उन्हें प्रशासकीय अनुभव हो जाता था जिसका लाभ वे शासक बनने पर उठाते थे। वे बराबर राज्य की दैनिक समस्याओं की ओर ध्यान देते थे, महत्त्वपूर्ण पत्रों को खुद पढ़ते थे और अपने सभासदों के साथ जाकर सार्वजनिक-निर्माण-कार्य का निरीक्षण करते थे। केन्द्रीय सरकार के मुख्य कार्यालय उनके राजप्रासाद में ही होते थे।

प्रधान-मन्त्री—फराओ के बाद राज्य का सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति प्रधान मन्त्री था। वह **राज्य का प्रधान वास्तुकार, प्रधान न्यायाधीश और राजाभिलेख-संग्रहालय का अध्यक्ष** होता था। उसके कार्यालय में विशाल संख्या में क्लर्क और लिपिक काम करते थे। वह केन्द्रीय अभिलेख-संग्रहालय और स्थानीय अभिलेख-संग्रहालयों में सामंजस्य रखता था। इनके अतिरिक्त वह **अन्यान्य अनेक पदों का उपभोग** करता था। चौथे वंश के शासन काल में **इस पद पर प्रायः युवराज को नियुक्त किया** जाता था। बाद में अन्य राजपुत्रों और राजभक्त सामन्तों को भी इसके योग्य समझा जाने लगा। तीसरे वंश के तीन मन्त्री **इम्होतेप, केगेम्ने** तथा **टाःहोतेप** ने अपने ज्ञान के बल पर अतुल कीर्ति अर्जित की।

कोषाध्यक्ष और प्रान्तीय व्यवस्था—मिस्री राज्य का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी **'प्रधान कोषाध्यक्ष'** था। वह सम्पूर्ण देश की वित्त-व्यवस्था को नियन्त्रित रखता था। उसके अधीन दो **उप-कोषाध्यक्ष** रहते थे जो राजप्रासादों, मन्दिरों और पिरेमिडों के निर्माण के लिए खानें खुदवा कर पाषाणादि का प्रबन्ध करने के लिए उत्तरदायी होते थे। प्रशासकीय सुविधा के लिए मिस्र लगभग

४० प्रान्तों में विभाजित था। ये वास्तव में वे प्राचीन राज्य थे जिनको एकीकृत करके प्रथम वंश के पहले दो राज्य—उत्तरी और दक्षिणी—स्थापित किए गए थे। लेकिन अब इन पर स्वतन्त्र राजाओं के स्थान पर फराओ द्वारा नियुक्त गवर्नर राज्य करते थे। इन प्रान्तों की शासन-व्यवस्था केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के सदृश थी। केन्द्र और प्रान्तों का सम्बन्ध जोड़ने में सर्वाधिक हाथ राजकोषागार का रहता था। प्रान्तीय गवर्नर करों के रूप में अनाज, मधु, पशु तथा अन्यान्य वस्तुओं को संगृहीत करते थे और उसे केन्द्रीय कोषागार में जमा करते थे। उनके न्याय, भूमि तथा सिंचाई इत्यादि से सम्बद्ध कार्यालय भी **केन्द्रीय सरकार के सम्पर्क** में रहते थे।

शासन-व्यवस्था के गुण-दोष—'प्राचीन-राज्य' की शासन-व्यवस्था उस युग की प्राचीनता को देखते हुए **आश्चर्यजनक रूप से विकसित** थी। भारत में ऐसी व्यवस्था मौर्य युग तक और यूरोप में रोमन साम्राज्य के आविर्भाव तक स्थापित नहीं हो सकी। लेकिन विश्व के सब निरंकुश राजतन्त्रों के समान इसकी सफलता भी **राजाओं की योग्यता पर निर्भर** थी। दूसरे, मिस्री राज्य की **सैनिक शक्ति अत्यन्त दुर्बल थी**। सम्भवतः देश के प्राकृतिक बाधाओं से घिरा होने के कारण मिस्री फराओ अपने को पर्याप्त सुरक्षित अनुभव करते थे और अपने पास कोई स्थायी सेना नहीं रखते थे। इस विषय में वे पूर्णतः **मन्दिरों और प्रान्तों की सेनाओं पर निर्भर** रहते थे। प्रान्तीय सेनाएँ भी प्रायः सार्वजनिक निर्माण-कार्य में लगी रहती थीं। गम्भीर सैनिक संकट उपस्थित होने पर फराओ प्रान्तों और मन्दिरों की सेनाओं को शीघ्रातिशीघ्र एकत्र संगृहीत करते थे और उसे किसी योग्य पदाधिकारी को सौंप देते थे। उनके पास शिक्षित सैनिक पदाधिकारी नहीं थे। सिविल पदाधिकारी ही प्रायः सैनिक पदाधिकारी भी होते थे। इसलिए फराओ के अयोग्य होने पर प्रान्तीय गवर्नरों का महत्त्वाकांक्षी हो जाना साधारण बात थी।

न्याय-व्यवस्था—सैनिक पदाधिकारियों के समान मिस्र में **न्यायाधीशों का भी अलग वर्ग नहीं था**। प्रायः सिविल पदाधिकारी ही न्यायाधीशों के कर्तव्यों को पूरा करते थे। कुछ मामलों में **फराओ से** मुक़दमे पर विचार करने के लिए आवेदन (अपील) किया जा सकता था। शेष मामलों में राज्य का **प्रधान-मन्त्री** प्रधान न्यायाधीश होता था और प्रान्तों में गवर्नर। प्रान्तों में न्याय विषयक कर्तव्यों को पूरा करने की दृष्टि से स्थानीय पदाधिकारी अथवा न्यायाधीश **छः अदालतों** में विभाजित रहते थे।

क़ानून और न्याय-प्रक्रिया—मिस्र के **क़ानून-संग्रह आजकल प्राप्य नहीं**

हैं। लेकिन इतना स्पष्ट है कि पाँचवे वंश के शासन काल तक उनके क़ानून बहुत जटिल, विस्तृत परन्तु स्पष्ट हो चुके थे। विश्व में किसी मुक़दमे का प्राचीनतम विवरण सम्भवतः मिस्र से उपलब्ध एक पत्र में मिलता है। यह उत्तराधिकार सम्बन्धी झगड़े के विषय में है और आजकल ब्रिटिश-संग्रहालय में सुरक्षित है। मिस्री **न्यायालयों की कार्य-रीति बहुत समुन्नत थी।** वहाँ वादी और प्रतिवादी दोनों को न्यायाधीशों के सम्मुख अपने-अपने पक्ष का समर्थन और विपक्षी के तर्कों का खण्डन करना होता था—परन्तु मौखिक रूप से नहीं वरन् लिखकर। **न्याय-विधि का सम्मान** करने की भावना भी पर्याप्त बलवती हो चुकी थी। यहाँ तक कि राजपरिवार के सदस्यों पर भी उनके अपराधों के लिए नियमानुसार मुक़दमे चलते थे। राजनीतिक और साधारण अपराधों में कोई भेद नहीं माना जाता था।

सामाजिक-व्यवस्था

सामाजिक वर्गभेद और रहन-सहन—'प्राचीन-राज्य युग' में मिस्री समाज **पाँच वर्गों में विभाजित था**—राजपरिवार, सामन्त, पुजारी, मध्यमवर्ग तथा सर्फ और दास। भूमि सिद्धान्ततः फराओ के हाथ में थी। व्यवहार में उसने इसे अधिकांशतः पुजारियों, पुराने राजाओं के वंशजों और सामन्तों में विभाजित किया हुआ था, जिनकी बड़ी-बड़ी जागीरों में **दास और सर्फ** काम करते थे। **मध्यम वर्ग** में लिपिक, व्यापारी, कारीगर और स्वतन्त्र किसान सम्मिलित थे। उनके विषय में विशेष तथ्य ज्ञात नहीं है। सम्भवतः वे पेपाइरस-पत्र, जिनसे उनके विषय में जानकारी हो सकती, नष्ट हो गए हैं। प्राचीन-राज्य युग में सबसे अधिक प्रतिष्ठा **राजपरिवार, सामन्तों** और **पुजारियों** की थी, लेकिन वर्ग-व्यवस्था आश्चर्यजनक रूप से लचीली थी। हर व्यक्ति कोई भी पेशा अपना सकता था। केवल राजपरिवार के सदस्य इस अधिकार से वञ्चित थे। सर्फ भी प्रायः उच्च पदों पर पहुँच जाते थे। लेकिन उच्च और निम्न वर्ग के लोगों के **रहन-सहन** में भारी अन्तर था। उच्च वर्ग के लोग विशाल हवादार भवनों में रहते थे जिनके वातायनों और द्वारों पर गहरे रंगों में रंगे पर्दे पड़े रहते थे और फ़र्शों पर भारी दरियाँ बिछी रहती थी। उनके कमरे आबनूस के सुन्दर पलंगों, कुर्सियों, और आल्मारियों तथा बहुमूल्य पाषाण, स्वर्ण, रजत और ताम्र के पात्रों से सुसज्जित रहते थे। इन भवनों के चारों ओर उपवन और प्रायः एक कृत्रिम सरोवर होता था जहाँ गृहपति अपने मित्रों और परिवार के साथ मनोरंजन करते थे। उनकी स्त्रियाँ आधुनिक लगने वाले

जूड़े बाँधती थी और लिपिस्टिक, सुगन्धित तेल तथा गालों की सुर्खी का प्रयोग करती थीं। पुरुष दाढ़ी बनाते थे परन्तु सिर पर बड़ी-बड़ी विग धारण करते थे। फराओ की विग सबसे बड़ी होती थी। विग धारण करने में सुविधा हो, इसके लिए वे प्रायः अपने केश कटवा डालते थे। स्त्रियाँ भी विग धारण करती थीं। स्त्री-पुरुष दोनों सादे, कम परन्तु बहुमूल्य **वस्त्र** धारण करते थे। दस वर्ष से कम की आयु के बच्चे प्रायः नग्न रहते थे। इसके विपरीत **निर्धन लोग गन्दे** मोहल्लों में छोटी-छोटी झोपड़ियों में रहते थे जिनमें न तो आसानी से प्रकाश का प्रवेश हो पाता था और न स्वच्छ वायु उपलब्ध होती थी। उनके पास फर्नीचर के नाम पर प्रायः एकाध टूटा स्टूल और बर्तनों के नाम पर केवल भद्दे मृद्भाण्ड होते थे।

पारिवारिक जीवन—मिस्री समाज की इकाई परिवार था। **प्रत्येक व्यक्ति की विध्यनुसार केवल एक पत्नी होती थी** और उसी की सन्तान को पारिवारिक सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिलती थी। फराओ भी इस नियम के अपवाद नहीं थे। लेकिन समृद्ध पुरुष अनेक उप-पत्नियाँ रखते थे। मिस्री समाज के प्रत्येक वर्ग में **भाई-बहिन के विवाह की प्रथा** थी, इसलिए पति-पत्नी में प्रायः शैशवावस्था से ही स्नेह-सम्बन्ध रहता था। मिस्री कविता में भाई-बहिन शब्दों का प्रयोग प्रेमी-प्रेमिका के अर्थ में हुआ है। तत्कालीन स्मारकों पर दाम्पत्य जीवन की मधुरता को अभिव्यक्त करने वाले अनेक चित्र मिलते हैं। परिवार के अन्य सदस्यों में **पारस्परिक स्नेह** को अत्यावश्यक गुण माना जाता था।

स्त्रियों की प्रतिष्ठा—मिस्री समाज में स्त्रियों को अत्यन्त **प्रतिष्ठित स्थान** प्राप्त था मैक्समूलर के अनुसार किसी अन्य जाति ने स्त्रियों को उतना उच्च वैधानिक सम्मान प्रदान नहीं किया जितना मिस्रियों ने। विवाह स्थिर करते समय कन्या की राय ली जाती थी। विवाह-संस्कार में वर यह वचन देता था कि वह अपनी पत्नी की बात मानेगा। विवाहोपरान्त परिवार में पत्नी को हर मामले में पति के समान माना जाता था। पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारणी उसकी सबसे बड़ी लड़की होती थी, यद्यपि वसीयत लिखकर इस नियम की अवहेलना की जा सकती थी। सम्भवतः भाई-बहिन के विवाह की प्रथा का कारण भी यह उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम ही था। **वंश-परम्परा माता से चलती थी** और पिता की तुलना में माता और मातामह (नाना) के सम्बन्ध को घनिष्ठतर माना जाता था। स्त्रियों को पर्याप्त **सामाजिक स्वतन्त्रता** भी प्राप्त थी। रिलीफ-चित्रों में उन्हें पुरुषों के साथ सार्वजनिक भोजों और उत्सवों में भाग लेते हुए, आज़ादी के साथ घूमते हुए और

उद्योग-व्यापार में भाग लेते हुए दिखाया गया है। वे प्रायः प्रेम-व्यापार में भी पहल करती थी। परवर्ती युगों की मिस्री महिलाओं द्वारा प्रेमियों को लिखे गए अनेक प्रेम-पत्र आजकल उपलब्ध हैं।

मिस्री समाज में व्यभिचारी को अत्यन्त अनैतिक और निन्दनीय माना जाता था। एक पुस्तक में वयोवृद्ध मिस्री नवयुवकों को सलाह देता है कि उन स्त्रियों से, जो विदेशों से आई हैं अथवा जिनके पति विदेश गए हैं, दूर रहो क्योंकि वे गहरे जल की भँवर की तरह अगम्य होती हैं। लेकिन इसके बावजूद इसमें सन्देह नहीं कि व्यावहारिक सदाचार की उनकी कल्पना हमारी कल्पना से बहुत भिन्न थी। वे काम-सम्बन्धों पर बिना झिझक के वार्तालाप कर लेते थे और अपने पूर्वजों के मनोरंजन के लिए उनकी समाधियों पर ऐसी साहित्यिक रचनाएँ और रिलीफ-चित्र उत्कीर्ण कराते थे जो हमारी परिभाषा में अत्यन्त अश्लील कहे जाएँगे। गायिकाओं की उनके समाज में बहुत माँग रहती थी। वे अत्यन्त पारदर्शी वस्त्र धारण करती थीं। कभी-कभी तो वे उनके बिना भी केवल हाथों, पैरों और गले में कुछ आभूषण पहिन कर, सन्तुष्ट हो जाती थीं।

आर्थिक अवस्था

कृषि-कर्म—मिस्री समाज के आर्थिक जीवन का आधार कृषि-कर्म था (चित्र ८३)। वे मुख्यतः गेहूँ, जौ, मटर, सरसों, अंजीर, जैतून, खजूर, फ्लेक्स्, सन तथा अंगूर और अन्य अनेक फलों की खेती करते थे। मिस्र में कृषि-कर्म अपेक्षया आसान था। बिना हल चलाए भी मिस्री किसान कई-कई फसल पैदा कर सकते थे। सिंचाई व्यवस्था का आधार नील नदी थी। उसमें आई बाढ़
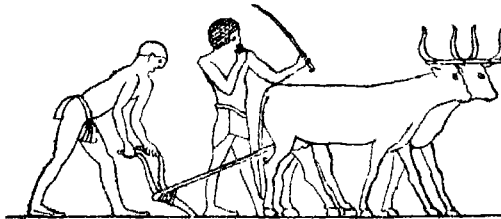
चित्र ८३ : पिरेमिड युग का हल

के जल को संगृहीत करने और खेतों तक पहुँचाने के लिए तालाबों और नहरों का जाल फैला हुआ था। कृषि-कर्म में मिस्री सरकार किसानों की सहायता करती थी—सिंचाई के लिए जल, बाढ़ के आने की सूचना और उपज बढ़ाने

के लिए मुफ्त सलाह देकर। सौरपंचांग का आविष्कार किसानों की सुविधा के हेतु ही हुआ था। इन सुविधाओं के बदले किसानों को उपज का १० से २० प्रतिशत भाग कर के रूप में देना होता था। कर खाद्यान्न आदि के रूप में दिए जाते थे। जो किसान समय पर कर नहीं देते थे उनके खेतों को सिंचाई के लिए जल नहीं दिया जाता था।

पशुपालन—मिस्रियों का दूसरा प्रमुख उद्यम पशुपालन था (चि० ८४)। उनके प्रमुख पालतू पशु थे गाय, भेड़, बकरी, और गधा। पालतू बन्दरों से
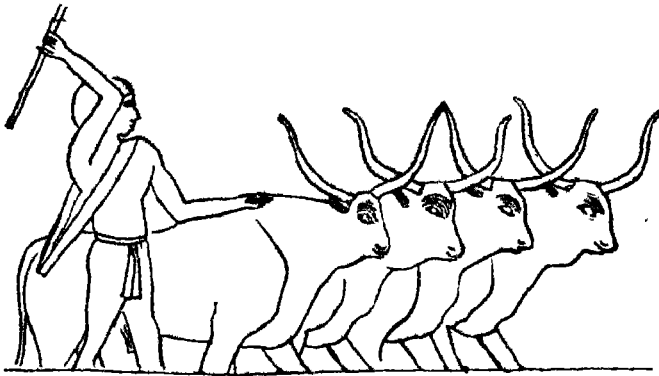
चित्र ८४ : पिरेमिड युग का एक मिस्री पशुपालक

हल्का बोझा ढोने और फल तोड़ने का काम लिया जाता था। इसके अतिरिक्त वे मुर्गियाँ पालते, मछलियाँ पकड़ते और अन्य पशु-पक्षियों का शिकार करते थे।

उद्योग-धन्धे—मिस्र में पाषाण, इमारती लकड़ी और खनिज पदार्थों के अभाव के कारण उद्योग-धन्धों के विकास के लिए बहुत कम सुविधा थी। लेकिन इस अभाव को वे पड़ोसी प्रदेशों में खानें खोद कर और विदेशों से आवश्यक माल का आयात कर के पूरा कर लेते थे। पाषाण, ताम्र, हरा और नीला ताम्रांगीयिज (मेलेकाइट), वैदूर्य और नीलमणि प्राप्त करने के लिए वे पड़ोसी प्रदेशों में अभियान भेजते थे। वे ताम्र को पिघला कर अस्त्र-शस्त्र, बर्तन और अन्यान्य उपकरण बनाने की कला में कुशल थे। लोहा ज्ञात था पर सम्भवतः पिघलाने की विद्या अज्ञात होने के कारण बहुत कम प्रयुक्त होता था। उनके स्वर्णकारों की कला के कम नमूने अवशिष्ट हैं लेकिन रिलीफ-चित्रों में स्वर्णकारों को भी काम करते हुए दिखाया गया है। असीरिया और नूबिया से वे देवदारु, हाथीदाँत और आबनूस (पृ० १५६, चित्र और फु० नो०) का आयात करते थे और इनसे अपने फराओ और सामन्तों के लिए बहुमूल्य फर्नीचर उपकरण

बनाते थे। वे कई प्रकार के जलपोत बनाने की कला में भी कुशल थे—माल ढोने के लिए भारी और श्रीमन्तों की यात्रा के लिए हल्के और सुन्दर। विभिन्न प्रकार के पाषाणों से बर्तन, गुलदस्ते और तश्तरियाँ आदि बनाने की पुरानी कला जीवित थी परन्तु शनैः शनैः कुम्हार की कला अधिक लोकप्रिय होती जा
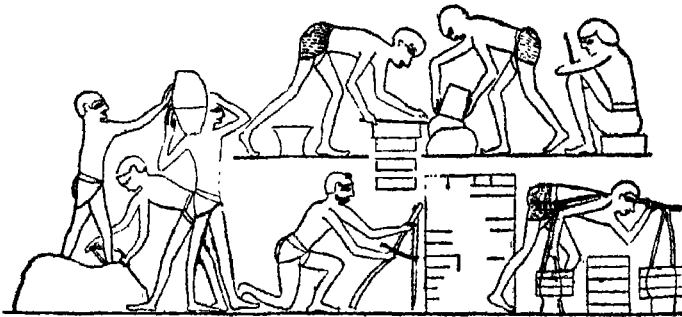
चित्र ८५ : प्राचीन मिस्र में ईंट बनाने की विधि

रही थी। उनके मृद्भाण्ड कलात्मक दृष्टि से सुन्दर नहीं हैं, परन्तु सामन्तों और फराओ के कोषागारों में तेल, सुरा और खाद्यान्न आदि रखने के लिए बनाए जाने वाले विशाल मृद्भाण्ड उल्लेखनीय हैं। पशुओं से प्राप्त चमड़े और खालों से वे भाँति-भाति के वस्त्र और ढाल इत्यादि और पेपाइरस पौधे से कागज़ (चित्र ९०) हल्की नावें, चप्पलें, चटाइयाँ और रस्सियाँ आदि बनाते थे। ईंटे बनाने की कला भी बहुत समुन्नत थी (चित्र ८५)। निम्न वर्ग की स्त्रियाँ कातने और बुनने का काम करती थीं। उच्च वर्ग में उत्तम कोटि के लिनन

चित्र ८६ : पिरेमिड युग का एक कुम्हार

वस्त्रों की बहुत माँग थी। इस विद्या में मिस्र निवासी इतने कुशल थे कि साधारण रूप से देखने पर उनके द्वारा तैयार वस्त्र सिल्क के मालूम होते थे और उनको पहिनने वाली महिलाओं का अंग-सौष्ठव स्पष्टरूपेण दिखाई देता था। मिस्रियों के

इन उद्योग-धन्धों की झाँकी उनके रिलीफ-चित्रों में सुरक्षित है। इनसे ज्ञात होता है कि इनमें अधिकांश वस्तुएँ प्रायः फैक्टरियों में बनाई जाती थीं जिनमें साधारणतः दस से लेकर बीस श्रमिक कार्य करते थे।

व्यापार-प्रणाली—मिस्र में **आवागमन और यातायात का प्रमुख माध्यम नील नदी** थी। इसमें हमेशा विभिन्न प्रकार की नावें चलती देखी जा सकती थीं, जिनमें विभिन्न प्रान्तों से अनाज, पशु तथा अन्य सामान फराओ के कोषागार में जमा होने अथवा बाजारों में बिकने के लिए लाए जाते थे। विनिमय का **माध्यम अदल-बदल की प्रणाली थी**, लेकिन बड़े-बड़े सौदों में वस्तुओं का मूल्य सोने, चाँदी अथवा ताँबे के निश्चित भार के छल्लों में चुकाया जाता था। चाँदी अनातोलिया से आती थी और कम उपलब्ध होने के कारण **सोने से** महँगी थी। मिस्र की व्यापार-प्रणाली पर्याप्त विकसित थी। व्यापारी आपस में **लिखित अनुबन्ध** करते थे, आवश्यक वस्तुओं के लिए **'ऑर्डर'** तथा प्राप्त माल की **रसीद** देते थे। **वसीयतनामे** लिखे जाते थे। हर सामन्त के पास बहुत से लिपिक और क्लर्क रहते थे। एलिफेन्टाइन नामक स्थल से २६वीं शताब्दी ई० पू० के एक सामन्त के अनेक **व्यापार-पत्र** उपलब्ध हुए हैं।

आर्थिक संगठन का दोष—मिस्री आर्थिक संगठन का प्रमुख दोष **केन्द्रीकरण** था। मिस्र में राज्य और समाज के हितों को एक माना जाता था, इसलिए राज्य सबसे बड़ी व्यापारिक-संस्था बन गया था। प्राचीन-राज्य युग में यह प्रवृत्ति इतनी बलशाली नहीं हो पाई थी। परन्तु पिरेमिड जैसे विशाल भवनों के निर्माण के कारण राज्य की आर्थिक गतिविधि का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा था और निजी-व्यापार करने वाले व्यक्तियों की संख्या घटती जा रही थी।

मिस्री लिपि

लिपि की आवश्यकता—प्राचीन मिस्रियों को लेखन कला के ज्ञान की आवश्यकता कई कारणों से पड़ी। उनके मृतक-संस्कार में ऐसे अनेक मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था जिनका परिरक्षण मृत-शरीर के चिरस्थायित्व के लिए आवश्यक माना जाता था। परन्तु **मन्त्रों का भविष्य के लिए परिरक्षण** केवल लिपि के द्वारा ही सम्भव था। **आर्थिक और प्रशासनात्मक** दृष्टि से भी उन्हें लिपि के ज्ञान की आवश्यकता महसूस हुई। प्रारम्भिक-वंशीय युग से ही उनके फराओ अपनी भू-सम्पत्ति की प्रति दूसरे वर्ष गणना कराते थे। उनके कोषागार

से सम्बद्ध अधिकारियों को राज्य की आय और व्यय का विवरण रखना होता था। ये सब कार्य लेखन-कला के ज्ञान के बिना होने असम्भव थे।

मिस्र की प्राचीन लिपि **चित्राक्षर लिपि** (हाइरोग्लाइफिक) कही जाती है। **'हाइरोग्लाइफ'** यूनानी शब्द है। इसका अर्थ है 'पवित्र चिह्न'। इस लिपि में कुल मिलाकर **२००० चित्राक्षर** थे। इनमें कुछ चित्रों में मनुष्य की विभिन्न आकृतियों का अंकन है और कुछ में पशुओं और पक्षियों की। शेष ज्योमितिक आकृतियाँ इत्यादि हैं। कीलाक्षर लिपि के समान **मिस्री** लिपि के **चिह्न भी तीन प्रकार के हैं : भाव-बोधक** (आइडियोग्राफिक), **ध्वनि-बोधक** (फोनेटिक) तथा **संकेत-सूचक** (डिटरमिनेटिव्ज)। लेकिन मिस्र में इनका एक साथ प्रयोग प्रारम्भ से ही मिलने लगता है। इसका सर्वोत्तम प्रमाण प्रथम वंश के एक प्रारम्भिक नरेश **'नरमेर की स्लेट पट्टिका'** (चि० ८७) है। इस पट्टिका के मध्य भाग के अधिकांश

चित्र ८७ : नरमेर की स्लेट पट्टिका

में राजा की आकृति है। वह एक पराजित शत्रु को अपनी गदा से आतंकित कर रहा है। पट्टिका के शीर्ष भाग के 'कार्तूश' में दो चित्राक्षर हैं। इनमें पहला 'नर' नामक मछली का है और दूसरा सम्भवतः छेनी का, जिसका उच्चारण 'मेर' था। इस प्रकार दोनों को मिलाकर राजा का होरुस नाम 'नरमेर' लिखा गया है। दूसरे शब्दों में मिस्रियों ने इसमें शब्दांश-लिपि (सिलेबिक स्क्रिप्ट) का प्रयोग किया है। इस पट्टिका का राजा के मुख के सामने वाला चित्र शब्दांश लिपि के प्रयोग का एक और उदाहरण है। इसमें श्येन रूपधारी होरुस अपने हाथ में एक रस्सी पकड़े हुए है जो एक सेमाइट की नाक में बँधी हुई है। इस मनुष्य का केवल सिर दिखाया गया है। उसके शरीर के स्थान पर एक आयत सा बना दिया गया है जो वस्तुतः 'देश' शब्द के लिए प्रयुक्त होनेवाला चिह्न है। इससे छः कमलनाल निकल रहे हैं। कमलनाल के लिए प्रयुक्त होनेवाले मिस्री शब्द का उच्चारण 'ख' था और 'ख' शब्द का अर्थ १००० भी होता था। इसलिए छः कमलनालों को अंकित करने का अर्थ हुआ ६ हजार।

अतः गार्डिनर के अनुसार इस पूरे चित्र का अर्थ है : 'होरुस ६००० विदेशी बन्दियों को उनके देश से पकड़कर फराओ के सामने लाता है।' यह लेख मिस्र में प्रथम राजवंश के युग में शब्द-चित्रों और ध्वनि-लिपि के सम्मिलित प्रयोग का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है।

द्रुत (हाइरेटिक) लिपि—मिस्री चित्राक्षरों को बनाते समय वस्तुओं के यथार्थ रूप को अंकित करने का प्रयास किया जाता था, इसलिए इसे लिखने में बहुत समय लगता था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए प्रथम वंश के शासन काल से ही मिस्रियों ने एक प्रकार की **द्रुत अथवा घसीट** (हाइरेटिक) लिपि का विकास कर लिया था (चि० ८८)। प्रथम वंश के चौथे नरेश जत की समाधि से द्रुत लिपि में लिखा हुआ लेख मिला है। द्रुत लिपि और मिस्री चित्राक्षर लिपि में उतना ही अन्तर था (चि० ८९) जितना हस्तलिखित और मुद्रित अंग्रेजी अक्षरों में होता है। इसका प्रयोग पत्रादि लिखने में किया जाता था और चित्राक्षर लिपि का प्रयोग स्मारकों पर लेख उत्कीर्ण करने और औपचारिक अवसरों पर।
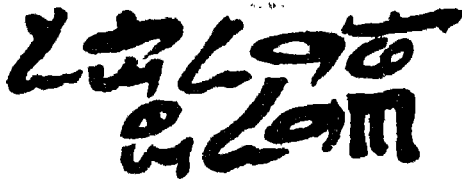
चित्र ८८ : एक हाइरेटिक अभिलेख का एक अंश

मिस्री वर्णमाला—सुमेरियन लिपि अपने विकास की अन्तिम अवस्था तक ध्वनि-लिपी बनी रही, वर्णमाला नहीं बन पाई थी (पृ० ९१)। परन्तु मिस्रियों ने प्राचीन-राज्य-युग में २४ **अक्षरों की एक वर्णमाला** का आविष्कार करने में सफलता प्राप्त कर ली। अभाग्य-वश वे बहुत **पुरातनपन्थी** थे। ध्वनि-चिह्नों की सहायता से लिखना उनकी आदत हो गई थी। इसलिए वे वर्णमाला का आविष्कार करने के बाद भी अपनी चित्र-लिपि और ध्वनि-लिपि का यथावत् प्रयोग करते रहे। उन्होंने वर्णमाला को भाव-बोधक और ध्वनि-बोधक चित्रों के सहायक के रूप में प्रयुक्त किया, स्वतन्त्र माध्यम के रूप में नहीं। अतः

चित्र ८९ : मिस्री चित्राक्षर (ऊपर) और हायरेटिक (नीचे) लिपियों की तुलना

उनकी वर्णमाला वह महत्त्व प्राप्त न कर सकी और उससे वह लाभ न उठाया जा सका जो ध्वनि-लिपि का प्रयोग बन्द करके केवल वर्णमाला का प्रयोग करने पर मिलना सम्भव था। यह कार्य बाद में **फिनीशियनों** ने किया (पृ० २५६-८)।

'डिमॉटिक' लिपि—आठवीं शताब्दी ई० पू० के लगभग मिस्रियों ने 'हाइरेटिक' लिपि से भी शीघ्रतर लिखी जाने वाली लिपि का आविष्कार किया जिसे **'डिमॉटिक'** कहा जाता है। यह एक प्रकार की **'शार्टहैण्ड' लिपि** कही जा सकती है। यूनानी और रोमन युगों में इसका सामान्य रूप से प्रयोग किया जाता था। सुप्रसिद्ध रोजेटा-प्रस्तर (पृ० ३१५) अभिलेख पर भी इसका प्रयोग हुआ है।
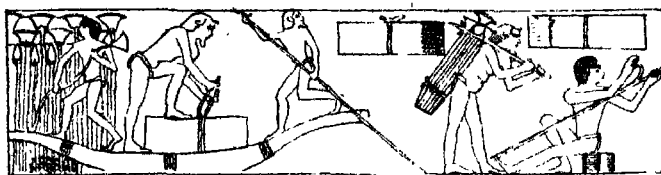
चित्र : ९० पेपाइरस के निर्माण के लिए पेपाइरस-पौधों का संग्रहण
(लग० १५०० ई० पू० का चित्र)

लेखन-सामग्री—मिस्र में प्राचीन राज्य काल से ही **पेपाइरस नरकुल (रीड) के गूदे से बना कागज** लिखने का सामान्य साधन था। पहले पेपाइरस के गूदे को लम्बी चपटी फाँकों में काट लिया जाता था। फिर उन फाँकों को पहले पास पास लम्बवत् और फिर उनके ऊपर उसी प्रकार आड़ी रखकर दबाया जाता था और धूप में सुखा लिया जाता था। इस प्रकार बने पत्रों को चिकना करके और सरेस या गोंद से जोड़कर **लम्बी पट्टियाँ** बना ली जाती थीं। इन पट्टियों को लिपिकों की आवश्यकतानुसार काट कर सिलिण्डराकार लपेट दिया जाता था। पेपाइरस से बने कागज के अतिरिक्त **चर्म-पत्रों** का प्रयोग भी प्रारम्भ से ही होने लगा था। प्राचीन-राज्य के चतुर्थ वंश के शासन-काल में चर्म-पत्रों के प्रयोग का निश्चित उदाहरण मिलता है। कभी-कभी **मृद्‌भाण्डों के टुकड़ों** को भी लिखने के लिए काम में लाया जाता था। उन पर चित्राक्षर नरकुल की लेखनी से भी बनाए जाते थे और **ब्रुश** से भी। सक्कर नामक स्थान से प्राप्त एक रिलीफ-चित्र में दो लिपिकों को काम करते दिखाया गया है। लिपिकों के कान पर ब्रुश अथवा कलम रखी हैं। उनके पास ही एक कलमदान, दवात और रंगों को मिलाने के लिए प्रयुक्त होने वाली तश्तरी
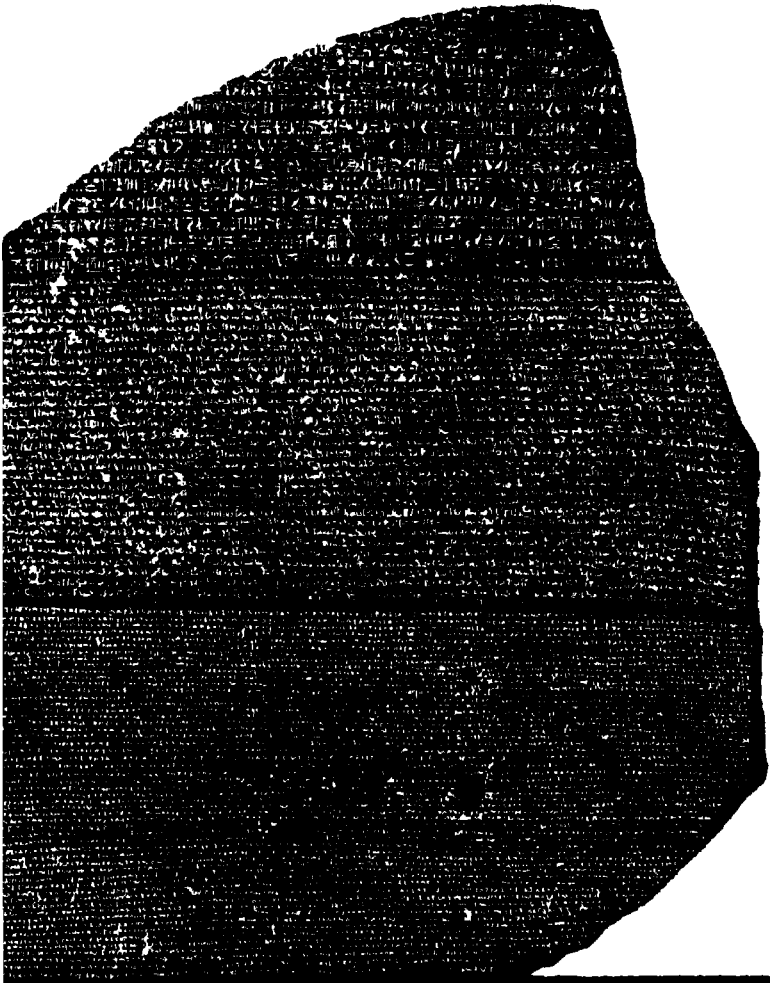
(अ) राजेटा प्रस्तर (आ) एक यूनानी कलश चित्र

—ब्रिटिश संग्रहालय

रखी है। तूतनखामेन की समाधि से भी लिपिकों के अनेक बहुमूल्य उपकरण मिले हैं, जिनमें हाथीदांत की तश्तरियाँ और लकड़ी के स्वर्णखचित कलमदान सम्मिलित हैं।

शिक्षा और साहित्य

शिक्षा पद्धति—मिस्र में राजकार्यालयों और सामन्तों के दफ्तरों में काम करने वाले लिपिकों की भारी संख्या में आवश्यकता पड़ती थी, इसलिए सारे देश में पाठशालाओं का जाल-सा फैला हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा **मन्दिरों में स्थित पाठशालाओं में मिलती** थी। इनमें शिक्षण-कार्य पुजारी करते थे। मिस्र में शिक्षा का उद्देश्य व्यावहारिक—विद्यार्थी को अच्छा पद पाने के योग्य बनाना—था, विशुद्ध ज्ञानार्जन नहीं। इसलिए **सरकार** ने भी शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थियों की सुविधा के लिए पाठशालाएँ खोली हुई थीं। प्रारम्भिक पाठशालाओं में अध्ययन करने के बाद योग्य विद्यार्थी इनमें **निःशुल्क शिक्षा** पाते थे। **पाठ्य-क्रम** का अधिकांश लेखन-कला से सम्बन्ध रखता था यद्यपि सदाचरण का उपदेश भी साथ-साथ चलता रहता था। एक जगह एक अध्यापक उपदेश देता है : 'विद्यार्जन में मन लगाओ और उससे अपनी माता के समान स्नेह करो।' अन्यत्र कहा गया है : 'देखो! ऐसा कोई पेशा नहीं है जिसे कोई दूसरा नियन्त्रित न करता हो, केवल ज्ञानी ही अपने को नियन्त्रित करता है।' मिस्री जन अपने बच्चों को अल्पायु में ही पाठशालाओं में भर्ती करा देते थे। उनके अध्यापक यह मानते थे कि 'लड़कों के कान पीठ पर होते हैं, इसलिए वह तभी सुनता है जब पीटा जाए।' वे विद्यार्थियों को चित्राक्षर और द्रुतलिपि दोनों सिखाते थे और उनसे पत्रों, साहित्यिक कृतियों तथा मुहावरों की नक़ल कराते थे। जब विद्यार्थी इस कला में निपुण हो जाते थे तो उन्हें किसी योग्य अधिकारी के पास काम सीखने के लिये छोड़ दिया जाता था।

मिस्री साहित्य के अध्ययन में कठिनाई—मिस्री साहित्य विशाल था, परन्तु आजकल इसका अंश मात्र शेष है। इसका मूल्याकन करना अत्यन्त कठिन है। इसका कारण है उनकी **लिपि में स्वर-चिह्नों का अभाव**। इससे आधुनिक विद्वान् उनके अधिकाश शब्दों का उच्चारण नहीं कर पाते। इस इस समस्या को हल करने में कुछ सहायता **कॉप्टिक भाषा** से मिली है। यह भाषा प्राचीन मिस्री भाषा की वंशज थी। इसमें अनेक ग्रन्थ प्राचीन यूनानी लिपि में लिखे गये थे जिनके कुछ अंश यूनानी ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। क्योंकि यूनानी लिपि में स्वर भी प्रयुक्त होते हैं, इस लिए इन उद्धरणों की सहायता से

प्राचीन मिस्री भाषा के बहुत से शब्दों का उच्चारण ज्ञात हो गया। फिर भी यह कठिनाई पूरी तरह दूर नहीं हो पाई है।

धार्मिक साहित्य—मिस्री साहित्य प्रकृत्या व्यावहारिक था। उनकी अधिकांश कृतियाँ ऐसी हैं जो किसी न किसी **व्यावहारिक** उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए लिखी गयी थीं। इसीलिए वे **महाकाव्यों, नाटकों और यहाँ तक कि साहित्यिक दृष्टि से आख्यानों की भी रचना कभी नहीं कर पाए।** उनके 'जगत् की उत्पत्ति', (पृ० ३२६-७), तथा 'ओसिरिस, सेत और होरस' (पृ० ३२८) इत्यादि जिन आख्यानों की चर्चा की गई है, वे सब साम्राज्य-युग के अन्त तक केवल जन-कथाओं के रूप में प्रचलित थे। उनको कभी पृथक् साहित्यिक कृतियों के रूप में **लिपिबद्ध नहीं किया गया।** इस युग की विशिष्ट धार्मिक रचनाएँ **'पिरेमिड टेक्स्ट्स्' हैं।** इनमें मृतक-संस्कार में काम आने वाले मन्त्र, पूजागीत और प्रार्थनाएँ आदि सम्मिलित हैं जिन्हें मृत फराओ के पारलौकिक जीवन को संकटरहित करने के लिए उसके पिरेमिड की भित्तियों पर उत्कीर्ण कर दिया जाता था। इनको २६२५ ई० पू० से २४७५ ई० पू० के मध्य लिपिबद्ध किया गया था, लेकिन इनमें प्रदत्त बहुत-सी सामग्री पर्याप्त प्राचीनतर प्रतीत होती है। कुछ तो निश्चित रूप से प्राग्वंशीय युग की मालूम होती है। इस दृष्टि से 'पिरेमिड-टेक्स्ट्स' में मिस्री सभ्यता के कम-से-कम एक सहस्र वर्ष की झाँकी सुरक्षित है।

प्राचीन-युग का शेष साहित्य भी प्रकृत्या व्यावहारिक है। उदाहरणार्थ इम्होतेप, केगेम्ने तथा टाःहोतेप इत्यादि मन्त्रियों ने अपने अनुभव-जनित ज्ञान को लेखबद्ध किया। ये कृतियाँ नीति-ग्रन्थ ('टीचिंग्स्' अथवा 'विज़्डम लिटरेचर') कहलाती हैं। इनके उपलब्ध संस्करण मध्य-राज्य युग से प्राचीनतर नहीं हैं, और उन पर संशोधन और परिवर्धन की स्पष्ट छाप है। इसलिए हमने उनका अध्ययन मध्य-राज्य युग के साहित्य के अन्तर्गत किया है। उनके अतिरिक्त पुजारी-लिपिकों द्वारा तैयार की गई पुराने राजाओं की सूचियाँ उल्लेखनीय हैं। लेकिन साहित्यिक दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है।

विज्ञान

खगोल-विद्या, गणित और चिकित्सा-शास्त्र—मिस्र में साहित्य के समान विशुद्ध विज्ञान के विकास के लिए भी अवसर नहीं था। मिस्रियों की विज्ञान के केवल उन्हीं क्षेत्रों में रुचि थी जिनकी व्यावहारिक जीवन में आवश्यकता पड़ती थी। लेकिन अपनी जिज्ञासा के सीमित होने के बावजूद उन्होंने कुछ क्षेत्रों में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। उदाहरणार्थ उन्होंने **ग्रहों और**

नक्षत्रों का भेद मालूम कर लिया था तथा अपने आदिम यन्त्रों की सहायता से प्रमुख नक्षत्रों की स्थिति का सही अन्दाज करके आकाश का मानचित्र बना लिया था। सौर-पंचांग का आविष्कार उनकी महत्त्वपूर्ण सफलता थी। लेकिन वे इससे आगे प्रगति नहीं कर पाए। उदाहरणार्थ ग्रहणों के कारणों की खोज में वे सर्वथा असफल रहे। इसी प्रकार गणित के मुख्य नियम—**जोड़, घटाना और भाग**—व्यापार और प्रशासन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काफी पहले आविष्कृत हो चुके थे। लेकिन गुणा से वे अन्त तक अपरिचित रहे। इसका काम वे जोड़ से चलाते थे। शून्य और दशमलव-विधि से भी वे अपरिचित थे। उनकी **अंक-पद्धति** में १ से ९ तक की संख्याओं के लिए एक चिह्न था जिसे १, २, ३···९ बार लिखकर ९ तक संख्याएँ लिखी जाती थीं। दूसरा चिह्न दस के लिए था। इसे १, २, ३···९ बार लिखकर १०, २०, ३०···९० संख्याएँ लिखी जाती थीं। इसी प्रकार १०० तथा १००० के लिए निश्चित चिह्नों की सहायता से सैकड़ों और हजारों में संख्याएँ लिखी जाती थीं। दशमलव पद्धति से अपरिचय संख्या चिह्नों को दीर्घ कर देता था। **भिन्नों से उनको दिक्कत होती थी।** उदाहरणार्थ वे १/२ और १/४ तो लिख लेते थे लेकिन ३/४ को १/२ + १/४ लिखते थे। बीजगणित और रेखागणित की प्राथमिक समस्याओं को हल करना उन्हें आ गया था, लेकिन विषम चतुर्भुज का क्षेत्रफल निकालने में दिक्कत का अनुभव करते थे। वृत्त, अर्द्धगोलक और सिलिण्डर का क्षेत्रफल निकालने में उन्होंने काफी सफलता प्राप्त कर ली थी। भवनों की आधार-योजना बनाने में वे असाधारण रूप से कुशल थे। उनके कारीगर स्तम्भों और मेहराबों के प्रयोग से परिचित थे। **चिकित्सा-शास्त्र** में भी उन्होंने पर्याप्त प्रगति कर ली थी। चिकित्सकों का एक वर्ग के रूप में जन्म हो चुका था और फराओ का चिकित्सक एक उच्च पदाधिकारी था। उनके कुछ नुस्खे बड़े उपयोगी और परवर्ती युगों में लोकप्रिय थे। लेकिन अन्ध-विश्वासों और ओझाओं की लोकप्रियता के कारण इस क्षेत्र में अधिक प्रगति नहीं हो पाई। अपने मृतकों के शरीरों को वे विविध प्रकार की दवाएँ लगाकर स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास करते थे, परन्तु इसके बावजूद मानव-शरीर-संरचना से विशेष परिचित नहीं हो पाए थे। भौतिक-शास्त्र और रसायन-शास्त्र से भी वे सर्वथा अनभिज्ञ थे।

कला

मिस्री कला की विशेषताएँ—मिस्रियों में 'कला कला के लिए' दृष्टिकोण का अभाव था। साहित्य और विज्ञान के समान इस क्षेत्र में भी **उनका दृष्टिकोण**

पूर्णतः उपयोगितावादी था। वे प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी थे और अपनी वस्तुओं को सुन्दर बनाने का प्रयास करते थे—परन्तु उन्हीं वस्तुओं को जिनकी कुछ उपयोगिता थी। उदाहरण के लिए उन्होंने राजाओं की विशाल मूर्त्तियाँ बनाई, लेकिन अपने बाजारों अथवा पार्कों को सजाने के लिए नहीं उन्हें परलोक में सहायता देने और अपने **राष्ट्रीय जीवन के आदर्शों को अभिव्यक्त करने के लिए।** उनकी कलाकृतियों में उनके निर्माता कलाकारों की बाह्य विश्व के प्रति व्यक्तिगत प्रतिक्रिया की नहीं राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यक्ति हुई है। और क्योंकि उनकी राष्ट्रीय-व्यवस्था धर्म पर आधारित थी, इसलिए व्यवहार में उनकी **कला धार्मिक विश्वासों को स्थूल रूप देने का साधन** बन गई है। मिस्री इतिहास के विभिन्न युगों में ये विश्वास जैसे-जैसे परिवर्तित होते गये, वैसे-वैसे उनकी कलाकृतियों में भी परिवर्तन होता गया। मिस्री कला की अन्य विशेषताएँ इस तथ्य के प्रकाश में अनायास हृदयंगम हो उठती हैं।

जैसा कि अन्यत्र देखा जा चुका है मिस्री अपने देश को स्थायी अनश्वर दैवी-व्यवस्था का अंग मानते थे (पृ० ३३४) और फराओ को उसका मूर्तिमान प्रतीक। इस विश्वास को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने राजकीय भवनों और मूर्त्तियों के निर्माण में **कठोरातिकठोर पाषाण का** प्रयोग किया। मिस्र जैसे लघु देश में **पाषाण-कला के जन्म की यही व्याख्या सम्भव है।** दूसरे, उन्होंने अपने भवनों और मूर्त्तियों आदि को अति विशाल रूप प्रदान किया। सम्भवतः इनकी **विशालता** से उन्होंने अपने राष्ट्र की शक्ति और गौरव को अभिव्यक्त किया है। राष्ट्रीय जीवन को अभिव्यक्त करने का माध्यम होने के कारण **उनकी कला व्यक्तिवादिनी कम है, रूढ़िवादिनी अधिक।** यह कलाकारों को भावाभिव्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता नहीं देती उन्हें परम्परा के बन्धन में जकड़ती है, यद्यपि इसके कुछ अपवाद भी मिलते हैं।

वास्तुकला

पिरेमिड-निर्माण का उद्देश्य—मिस्रियों के राष्ट्रीय जीवन के आदर्शों की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति उनके पिरेमिडों में हुई है (पृ० ३०९, चि० और फु० नो०) कुछ विद्वानों का कहना है कि मिस्री नरेशों ने इन्हें राज्य की आर्थिक-व्यवस्था बिगड़ने पर जनता को रोजगार देने के लिए बनवाया था। लेकिन यह असम्भव लगता है। जिस समय ये पिरेमिड बनाए गए थे, मिस्र समृद्ध देश था। इसलिए **इनका निर्माण आर्थिक-संगठन के दौर्बल्य का कारण माना जा सकता है, परिणाम नहीं।** वास्तव में मिस्रियों ने पिरेमिडों की रचना अपने राज्य और

उसके प्रतीक फराओं की अनश्वरता और गौरव को अभिव्यक्त करने के लिए की थी। अगर फराओ अमर थे तो उनकी मृत-देह की सुरक्षा और के निवास के हेतु उनकी महत्ता के अनुरूप विशाल और स्थायी समाधियों का निर्माण आवश्यक था। बालसूर्य की किरणें पहले पिरेमिडों पर पड़ें और फिर नील की घाटी में प्रतिबिम्बित हों, हो सकता है इस हेतु इनका इस आकार में निर्माण कराया गया हो। जो भी रहा हो, इतना निश्चित है कि मिस्रियों को अपने उद्देश्य में पूरी सफलता मिली। यद्यपि उनका वह राज्य, जिसकी अनश्वरता के प्रतीक रूप इनका निर्माण किया गया था, हजारों वर्ष पूर्व नष्ट हो गया परन्तु उसके प्रतीक अभी तक लगभग उसी हालत में बने हुए हैं। प्राचीन यूनानी इन्हें विश्व के सात आश्चर्यों में एक मानते थे। आज भी ये प्राचीन विश्व के समग्र भौतिक अवशेषों में सर्वाधिक आकर्षण का विषय हैं।

पिरेमिड-निर्माण-कला का विकास—पिरेमिडों का विकास प्राचीनतर युग की कच्ची ईंटों से बनी समाधियों से हुआ। **नव-पाषाण काल** के मिस्री अपने मृतकों को रेत में गढ़े खोद कर दफन करते थे। इन गढ़ों पर वे रेत का ढेर बना देते थे और उसे पत्थर के टुकड़ों से घेर देते थे। **प्रथम वंश** की स्थापना तक इन गढ़ों की दीवारें और रेत के ढेर को रोकने वाली उपरली दीवारें कच्ची ईंटों से बनाई जाने लगी थीं। **चतुर्थ** सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त के लगभग (लग० ३०५० ई० पू०) कच्ची ईंटों के स्थान पर पाषाण-खण्डों की दीवारें बनाई जाने लगीं। विश्व इतिहास में भवन-निर्माण में **पाषाण के प्रयोग का यह प्राचीनतम उदाहरण है**। इसी से ३००० ई० पू० के लगभग 'मस्तबा' नाम से प्रख्यात समाधियाँ विकसित हुईं (पृ०२३१-३२)।
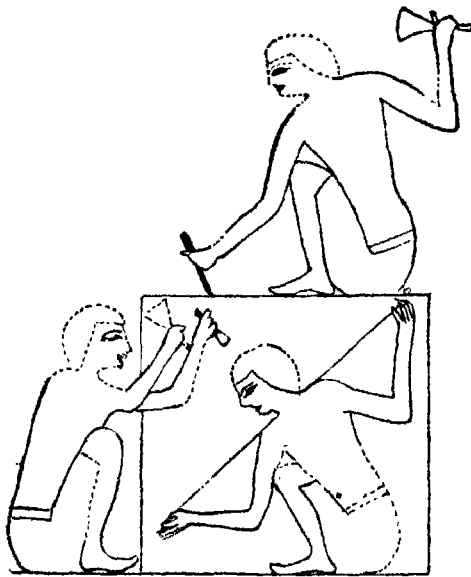
चित्र ९१ : प्राचीन मिस्र में पत्थर तराशने का एक दृश्य

२९८० ई० पू० लगभग जोसेर के मन्त्री इम्होतेप ने सक्कर के समीप एक विशाल मस्तबे के ऊपर क्रमशः लघुतर होते गये मस्तबों की पाँच मंजिलें बनवा कर सुप्रसिद्ध **'सीढ़ीदार पिरेमिड'** (स्टेप पिरेमिड) का निर्माण कराया। १९५ फुट ऊँचा यह भवन, जो पूर्णतः पाषाण-खण्डों से बना है, मस्तबों और पूर्ण पिरेमिडों की मध्यवर्ती कड़ी माना जा सकता है। इसके एक सन्तति बाद फराओ नेफ्रू के शासन काल में जो पिरेमिड बनवाए गए उनमें सीढ़ियों के खाली भागों को भरवा कर ढलवां कर दिया गया। यह **पहला पूर्ण पिरेमिड** था। इसके बाद जो पिरेमिड बने उनको सीढ़ीदार न बनाकर पहले से ही ढलवां बनाया गया। २९०० ई० पू० तक, जब गिजेह में फराओ खूफू के सुप्रसिद्ध **'विशाल पिरेमिड'** का निर्माण प्रारम्भ हुआ, मिस्री इस कला में पारंगत हो चुके थे। ३०५० ई० पू० में उन्होंने भवन-निर्माण में पाषाण का प्रयोग प्रारम्भ ही किया था। इसके केवल डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् वे विश्व का विशालतम पाषाण-भवन बना रहे थे। इस सफलता का अनुमान इसी बात से हो सकता है कि **हेरोडोटस के अनुसार** गिजेह के 'विशाल-पिरेमिड' को एक लाख व्यक्तियों ने बीस साल में बनाया था। यह तेरह एकड़ भूमि में बना है और ४८० फुट ऊँचा तथा ७५५ फुट लम्बा है। इसमें ढाई-ढाई टन भार के २३ लाख पाषाण-खण्ड लगे हैं। ये इतनी चतुरता से जोड़े गये हैं कि कहीं-कहीं तो जोड़ की चौड़ाई एक इंच के हजारवें भाग से भी कम है। आधुनिक युग के बहुत कम कारीगरों में ऐसे भवन बनाने योग्य दक्षता है।

पिरेमिड मन्दिर—मस्तबाओं और पिरेमिडों के अतिरिक्त प्राचीन-राज्य युग के केवल मन्दिरों के अवशेष उपलब्ध हैं। शेष भवन, जिनमें राजप्रासाद एवं सामन्तों के महल भी सम्मिलित हैं, कच्ची ईंटों से निर्मित रहे होने के कारण विनिष्ट हो चुके हैं। पिरेमिडयुगीन मिस्री मेहराब से परिचित थे, परन्तु मन्दिरों में उन्होंने इसके स्थान पर एक पाषाण-खण्ड से बने चौकोर, तालवृक्ष की आकृति वाले अथवा पेपाइरस की शाखों के बण्डल की आकृति वाले स्तम्भों का प्रयोग किया है। स्तम्भों की सहायता से बड़े-बड़े कक्षों की छतों को बनाने की विधि का आविष्कार मिस्रियों की एक महान् सफलता थी।

मूर्त्तिकला

पाषाण-मूर्त्तियाँ—मिस्री मूर्त्तिकला वास्तुकला की सहायक और धर्म से सम्बद्ध थी। यह भी उन्हीं आदर्शों से अनुप्राणित हुई थी जिससे वास्तुकला। इसलिए विशालता, सुदृढ़ता और रूढ़िवादिता इसकी भी उसी प्रकार विशेष-

लाई हैं जितनी प्रकार वास्तुकला की। राजाओं की मूर्तियाँ अधिकांशतः कठोर पाषाण से विशाल आकार और भावविहीन मुद्रा में बनाई गई हैं। उन्हें प्रायः कुर्सी पर पैर लटकाकर मेरुदण्ड को सीधा किये और हाथों को जाँघों पर रखे बैठने की मुद्रा में अथवा हाथ लटकाए बायाँ पैर आगे बढ़ाकर चलने की मुद्रा में दिखाया गया है। बैठी मुद्रा में बनी सर्वोत्तम मूर्तियाँ खेफ्रे और हेमओन की हैं जो क्रमशः काहिरा और लूव्रे संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। खड़ी मुद्रा में बनी मूर्तियों में रानोफर पुजारी की मूर्ति उदाहरणीय है। खेफ्रे के पिरेमिड के सामने स्थित 'विशाल स्फिंक्स' नामक मूर्ति इन सबसे अलग है। विश्व में सम्भवतः इतनी विशाल मूर्ति कभी कहीं नहीं बनाई गई। इस मूर्ति का शरीर सिंह का है और सिर फराओ खेफ्रे का।

मिस्र में मूर्तियों को याथार्थिक प्रभाव प्रदान करने के लिए स्वाभाविक रंगों में रंगा जाता था और आँखें पत्थरी बिल्लौर से बनाई जाती थीं। परन्तु इसके बावजूद इनके मुखों की भावविहीनता यथावत् बनी रहती थी। सम्भवतः वे मूर्तियों की विशालता को राज्य के गौरव का और सुदृढ़ता तथा भाव-विहीनता को स्थायित्व का प्रतीक मानते थे। हो सकता है वे यह सोचते रहे हों कि अगर राज्य अनश्वर है तो उसके शासक को चिन्ता, क्रोध, सफलता और असफलता की भावना से रहित होना चाहिए। उनकी मूर्तियों में कुछ शारीरिक विकृतियाँ सामान्यतः मिलती हैं जैसे जंघाओं की लम्बाई का अनुपात से अधिक होना और हाथ की सब अँगुलियों का समान होना इत्यादि। अब, यह तो नहीं कहा जा सकता कि मिस्री कलाकार शरीर-संरचना से इतने भी परिचित नहीं थे कि अँगुलियों की लम्बाई ठीक दिखा सकें। इसका कारण यही रहा हो सकता है कि भावविहीनता के समान वे इन विकृतियों को राजा और राज्य के स्थायित्व का प्रतीक मानते थे।

याथार्थिक मूर्तियाँ—मिस्री कलाकार साधारण जनों की मूर्तियाँ बनाते समय परम्पराओं के बन्धन से मुक्त रहते थे, इसलिए उनकी प्रतिमाएँ उन्होंने अधिक याथार्थिक शैली में बनाई हैं। इनमें काहिरा संग्रहालय में सुरक्षित प्राचीन-राज्य के एक ओवरसियर की काष्ठ की प्रतिमा, जिसका केवल सिर अवशिष्ट है, बहुत प्रसिद्ध है। यह 'शेख की मूर्ति' नाम से विख्यात है। इसके अज्ञात निर्माता को ब्रेस्टेड ने प्राचीन विश्व के सर्वोच्च कलाकारों में एक माना है। लूव्रे संग्रहालय की 'लिपिक की मूर्ति' भी अत्यन्त प्राणवान् प्रतीत होती है। इसे देखकर ऐसा लगता है मानो इसका लिपिक अपने स्वामी के आदेश को अभी लिपिबद्ध करना प्रारम्भ कर देगा।

धातु-मूर्तियाँ—पिरेमिडयुगीन मिस्री कलाकारों ने धातु से पूर्णाकार मानव-मूर्तियाँ भी बनाईं। इनमें पेपी प्रथम की काष्ठ के ऊपर ताम्रपत्र चढ़ाकर बनाई गई मूर्ति विश्व-प्रसिद्ध है (चि० ७९)। इसमें आँखें ज्वालाकाच (आब्सिडिएन) और चूना-पत्थर से बनाई गई है। यद्यपि यह मूर्ति काफी विकृत अवस्था में मिलती है तथापि इसका शीर्ष भाग (चि० ९२) अब भी प्राचीन विश्व की सर्वोत्तम मूर्तियों में एक माना जाता है। ताम्र के अतिरिक्त मिस्री स्वर्णकारों ने मन्दिरों में प्रयुक्त होने के लिए धातु-मूर्तियाँ बनाईं। इनमें हियराकोनपोलिस के पवित्र **श्येन की प्रतिमा** (चि० ८२) उल्लेखनीय है। इसका शरीर जो ताम्र-पत्र से बनाया गया था नष्ट हो गया है परन्तु स्वर्ण से बना सिर अवशिष्ट है। इसकी आँखें भी ज्वालाकाच से बनाई गई हैं।

चित्र ९२ : पेपी की ताम्र प्रतिमा का शीर्ष भाग

रिलीफ-मूर्तियाँ—प्राचीन-राज्य में मन्दिर और मस्तबाओं में रिलीफ-चित्र बनाने वाले कलाकारों की भी बहुत माँग थी (चि० ९३)। ऐसी मूर्तियाँ बनाते समय वे अंकित वस्तु की लम्बाई-चौड़ाई तो आसानी से दिखा देते थे, लेकिन मोटाई अथवा गोलाई (राउंड-नेस) दिखाने में दिक्कत का अनुभव करते थे। इसलिए उनके रिलीफ-चित्रों में काफी अस्वाभाविकता आ गई है। उदाहरण के लिए वे मानवाकृतियों में सिर और पेट से निचले हिस्से को बगल की ओर से दिखाते थे और शेष शरीर को सामने की ओर से। इतना ही नहीं वे दो समय घटी घटनाओं को एक ही चित्र में अंकित कर देना भी अनुचित नहीं मानते थे। परवर्ती युगों में भी, जब मिस्री कलाकार इन दोषों को दूर करने में समर्थ हो गए, इन परम्पराओं का निर्वाह किया

चित्र ९३ : पिरेमिड युग में एक मस्तबे से प्राप्त एक रिलीफ-चित्र

आता रहा। लेकिन इन दोषों के बावजूद मिस्री रिलीफ-चित्र दर्शनीय है और प्राचीन मिस्री सभ्यता और रीति-रिवाजों पर ज्ञानवर्द्धक प्रकाश देते हैं।

चित्रकला—मिस्री कलाकार अपने रिलीफ-चित्रों को विविध रंगों से रँगते थे। इसलिए इन्हें एक प्रकार से उभरे हुए चित्र कहा जा सकता है। लेकिन चित्रकला का उस समय तक स्वतन्त्र रूप से विकास न हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। यद्यपि इस युग के चित्र कम मिलते हैं, परन्तु जो उपलब्ध हैं उनसे स्पष्ट है कि मिस्री चित्रकार परम्परा के बन्धन में उतने जकड़े हुए नहीं थे जितने मूर्तिकार।
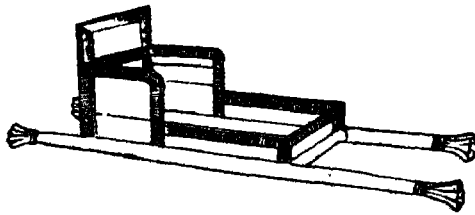
इस पृष्ठ पर पिरैमिड युग की एक रानी हेतेप-हेरेस की पालकी का चित्र दिया गया है। यह देवदारु और आबनूस से बनाई गई थी। इसके उपरले हिस्से पर स्वर्ण-पत्र चढ़े हैं और पिछले भाग पर चित्राक्षर लिपि में अभिलेख उत्कीर्ण हैं।
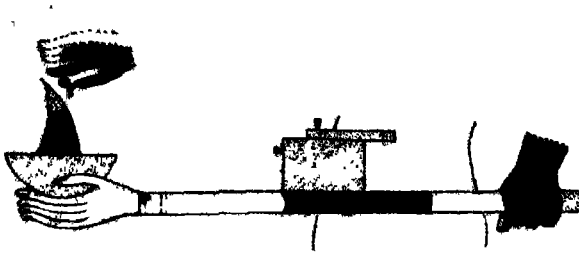
१२

Fill not thy heart with a brother,
Know not a friend; . . . .
When thou sleepest, guard for thyself thine own heart ;
For a man hath no friend in the day of evil.

—The Counsel of Amenembet I to his son.

राजनीतिक इतिहास

सामन्तवादी और मध्य-राज्य युग—२४७५ ई० पू० में छठे वंश के पतन के साथ (पृ० ३२५) मिस्र के प्राचीन-राज्य अथवा पिरेमिड युग का भी अवसान हो गया। इसके बाद लगभग तीन सौ वर्ष तक मिस्र में घोर अव्यवस्था रही और स्थानीय सामन्त लगभग स्वतन्त्ररूपेण शासन करने लगे। **सातवें और आठवें वंशों** के शासन काल में (२४७५-४५ ई० पू०) मेम्फिस की प्रतिष्ठा लगभग समाप्त हो गई और **नवें तथा दसवें वंशों के** शासनकाल में (२४४५-२१६० ई० पू०) राजनीतिक शक्ति का केन्द्र फायूम नखलिस्तान के समीप स्थित हेराक्लियोपोलिस नामक नगर हो गया। लेकिन हेराक्लियोपोलिस के फराओ पिरेमिड-निर्माताओं के समान शक्तिशाली नहीं थे, इसलिए वे स्थानीय सामन्तों की शक्ति तोड़ने में असफल रहे। उनके शासनकाल के अन्त में दक्षिणी मिस्र के थीबिज नगर के सामन्तों ने विशेष प्रतिष्ठा अर्जित की और अन्ततोगत्वा **ग्यारहवें वंश** (२१६०-२००० ई० पू०) की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। लेकिन लगभग समस्त मिस्र के स्वामी होते हुए भी वे सामन्तवादी व्यवस्था को बदल में असमर्थ रहे। इस विषय में उनसे अधिक-

इस पृष्ठ के ऊपर बेनीहसन कब्र से प्राप्त एक मध्य-राज्ययुगीन धूपदान का चित्र दिया गया है।

सफलता बारहवें वंश (२०००-१७८८ ई० पू०) के शासकों को मिली। इस वंश का संस्थापक एमेनेम्हेत प्रथम था। वह सम्भवतः ग्यारहवें वंश के अन्तिम फराओ का मन्त्री था। वह यद्यपि सामन्तों को पूरी तरह नहीं दबा पाया, तथापि उनकी शक्ति कम करके फराओ पद की प्रतिष्ठा बढ़ाने में अवश्य सफल रहा। उसके उत्तराधिकारी सेसोस्त्रिस (सेनुस्रेत) प्रथम ने नील को एक नहर द्वारा लाल सागर से मिलाया, नूबिया के आक्रमणकारियों को पराजित किया तथा हेलियोपोलिस, एबाइडोस तथा कार्नाक में विशाल मन्दिर बनवाए। उसके एक उत्तराधिकारी सेसोस्त्रिस तृतीय ने फिलिस्तीन पर सफल आक्रमण किया और उसके पुत्र एमेनेम्हेत तृतीय (१८४९-१८११ ई० पू०) ने नहरें खुदवा कर तथा फायूम के निकट स्थित मोआरिस झील के जल को नियन्त्रित करके सिंचाई का समुचित प्रबन्ध किया। लेकिन एमेनेम्हेत तृतीय के उत्तराधिकारी अत्यन्त दुर्बल सिद्ध हुए जिससे उसकी मृत्यु के १३ वर्ष उपरान्त ही उसके वंश का अन्त हो गया और मिस्र में घोर अव्यवस्था फैल गई (पृ० ३६५)।

शासन-व्यवस्था

सामन्तवादी व्यवस्था—मिस्र के इतिहास में ११वें और १२वें वंशों का शासनकाल 'मध्य-राज्य युग' कहलाता है। इस युग के पूर्व मिस्र में मध्यकालीन यूरोप की तरह सामन्तवाद का उदय हुआ और देश छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया। ये राज्य एक प्रकार से प्रागैतिहासिक नगर-राज्यों का नया संस्करण थे। इनके शासक नाममात्र के लिए फराओ के अधीन रहते थे, लेकिन व्यवहार में प्रायः पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करते थे। ऐसी स्थिति में फराओ की शक्ति पूर्णतः उसकी योग्यता और व्यक्तित्व पर निर्भर रहती थी। वस्तुतः बारहवें वंश के शासनकाल को छोड़ कर इस सम्पूर्ण युग में मिस्री सामन्त और जागीरदार लगभग पूरी तरह अनियन्त्रित रहे। उनके पास फराओ के समान अपना राजप्रासाद, अन्तःपुर, सेना और कर एकत्र करने वाले कर्मचारी होते थे और वे खुद अपनी-अपनी जागीरों के प्रधान धर्माधिकारी, सेनापति और न्यायाधीश होते थे। वे अपनी राजधानियों में मन्दिर और अन्य सार्वजनिक इमारतें बनवाते थे और दूरस्थ स्थानों से लाभ उठाने के लिए अधिकारियों और सेनाओं को भेजते थे। वे अपनी प्रजा के हित का भी प्रायः उसी प्रकार ध्यान रखते थे, जिस प्रकार किसी उदार फराओ से आशा की जाती थी।

फराओ के अधिकार—मध्य-राज्य युग के फराओ पिरैमिड-युग के फराओ

की तुलना में बहुत दुर्बल थे, लेकिन कुछ नियम और परम्पराएँ ऐसी थीं जिनके कारण वे सामन्तों पर थोड़ा बहुत नियन्त्रण रख पाते थे। एक, बड़े-बड़े सामन्तों के पास दो प्रकार की जागीरें थीं—एक पैतृक, जो उन्हें उत्तराधिकार में प्राप्त होती थी और दूसरी राजकीय, जिसका स्वामी फराओ को माना जाता था यह भूमि उन्हें तभी मिलती थी जब फराओ उनके उत्तराधिकार के दावे को मान्यता प्रदान कर देता था। इस नियम के कारण सामन्तों के ऊपर फराओ का कुछ नियन्त्रण रहता था। परन्तु स्पष्टतः शक्तिशाली जागीरदारों के वैध उत्तराधिकारियों के दावों की उपेक्षा करना उसके लिए असम्भव रहता था, चाहे वह व्यक्तिगत रूप से उनके विरुद्ध क्यों न होता था। दूसरे, प्रत्येक जागीर में फराओ के हितों और वहाँ पाले जाने वाले राजकीय पशुओं की देख-भाल के लिए एक केन्द्रीय पदाधिकारी रहता था। उसकी उपस्थिति छोटे-मोटे जागीरदारों की महत्त्वाकांक्षा पर न्यूनाधिक अंकुश रखती थी। तीसरे, प्रत्येक जागीरदार को केन्द्रीय सरकार के पास वार्षिक कर भेजना होता था। यह कर फराओ का कोषागार अथवा श्वेत-भवन एकत्र करता था (पृ० ३३७)। इस दृष्टि से श्वेत भवन देश की एकता को बनाए रखने में काफी सहायता करता था।

फराओ की आय के साधन—मध्य-राज्य युग के फराओ की आय पिरेमिड युग के फराओ की आय से बहुत कम हो गई थी। एक तो इस युग में प्रान्तों और अधीन सामन्तों से कर के रूप में बहुत कम आय होती थी, दूसरे उनकी व्यक्तिगत जागीरें, सामन्तों की जागीरें बढ़ जाने के कारण, कम हो गई थीं। इन स्रोतों से आय कम हो जाने के कारण मध्य-राज्ययुगीन नरेशों ने नूबिया की सोने की खानों से और विभिन्न प्रदेशों में बिखरी हुई बहुमूल्य पत्थरों की खानों से अधिकाधिक लाभ उठाने की कोशिश की। पुन्ट के साथ व्यापार उनका विशेषाधिकार था। सीरिया और फिलिस्तीन पर यदाकदा किए जानेवाले आक्रमणों से भी राजकोष कुछ समृद्ध होता रहता था।

शासन-व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन—मध्य-राज्ययुगीन मिस्र की शासन-व्यवस्था अन्य दृष्टि से पिरेमिडयुगीन शासन-व्यवस्था के सदृश थी, परन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का उल्लेख करना आवश्यक है। एक प्रधान-मन्त्री, जो पिरेमिड युग के समान (पृ० ३३६) इस युग में भी फराओ के बाद मिस्र का सर्वोच्च सत्ताधारी अधिकारी था, अब खुद किसी बड़ी जागीर का स्वामी होता था। दूसरे शब्दों में यह पद अब किसी बड़े जागीरदार को दिया जाने लगा था। दूसरे, अब प्रधान-मन्त्री की अध्यक्षता में एक नई संस्था—'तीस का सदन' (हाउस ऑव थर्टी) अस्तित्व में आ गई थी। यह निश्चित रूप से न्याय-व्यवस्था

से सम्बद्ध थी, परन्तु 'छः न्यायालयों' से इसका सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। तीसरे, अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा और उपद्रवी सामन्तों को कुछ नियन्त्रण में रखने के लिए फराओ अब अपनी वेतन भोगी स्थायी सेना रखने लगे थे। यद्यपि यह सेना संख्या में बहुत कम थी, फिर भी फराओ, राजप्रासाद और समस्त देश में बिखरे हुए राजकीय दुर्गों की रक्षा करने में समर्थ थी। लेकिन विदेशों के साथ युद्ध जैसी आवश्यकताओं के लिए मध्य-राज्य के शासक भी पिरेमिड निर्माताओं के समान अपने सामन्तों पर ही निर्भर रहते थे।

सामाजिक और आर्थिक संगठन

समाज के प्रमुख वर्ग—मध्य-राज्य युग में मिस्र की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। एक, इस युग में सामन्त समाज का सबसे प्रतिष्ठित वर्ग बन गए। अब उनकी गतिविधि का केन्द्र फराओ की राजधानी न होकर उनकी अपनी जागीरें और प्रान्तीय नगर हो गए। इससे एक **प्रान्तीय-उच्च वर्ग** अस्तित्व में आया। दूसरे, प्राचीन-राज्य युग की तुलना में इस युग में **मध्यम वर्ग** अधिक प्रतिष्ठित और समृद्ध हो गया। विशेष रूप से बारहवें वंश के शासन काल में सामन्तों की शक्ति घटने पर व्यापारियों, सौदागरों, लिपिकों और दस्तकारों का समाज और राज्य की दृष्टि में सम्मान बढ़ गया। उनकी अनेक कब्रें और स्मारक प्रकाश में आए हैं। विशेष रूप से एबाइडोस में ऐसी अनेक कब्रें मिली हैं जिनके स्मारक-पाषाणों पर उनमें दफन मृतकों को केवल 'नागरिक' कहा गया है अथवा उनका केवल नाम दे दिया गया है। इनमें कुछ निश्चित रूप से पर्याप्त धनी थे और अनेक दासों तथा प्रभूत सम्पत्ति के स्वामी थे। वे मन्दिरों को उसी प्रकार दान देते थे जैसे जागीरदार और सामन्त। पिता के बाद उसका पुत्र उसका पेशा अपना लेता था। राजकर्मचारियों में इस परम्परा को विशेष मान्यता प्राप्त थी, इसलिए धीरे-धीरे एक **राजपुरुष-वर्ग** अस्तित्व में आने लगा था। लिपिकों के पेशे को अत्यन्त सम्मानित माना जाता था। **कृषक और दास** खेतों में श्रम करके और अवकाश मिलने पर मजदूरों के रूप में काम करके देश को समृद्ध बनाते थे, लेकिन सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से उनका स्थान अब भी हीनतम था।

धर्म और दर्शन

रे की प्रतिष्ठा में वृद्धि—प्राचीन-राज्य युग में सूर्यदेव रे की प्रतिष्ठा में बराबर वृद्धि होती गई थी। मध्य-राज्य युग में वह निश्चयतः सर्वाधिक सम्मानित

देवता हो गया। अब अन्य देवताओं के पुजारी उसकी प्रतिष्ठा से लाभान्वित होने के लिए अपने देवताओं को उसके विविध रूप घोषित करने लगे और उनके नाम के साथ रे नाम जोड़ने लगे। उदाहरण के लिए सोब्क्, जो मूलतः घड़ियालदेव था, अब सोब्क्-रे कहलाने लगा। सूर्योपासना पर आधृत यह एकेश्वरवादी प्रवृत्ति साम्राज्य-युग में चरम परिणति को प्राप्त हुई।

ओसिरिस की प्रतिष्ठा में वृद्धि—मध्य-राज्य युग में रे के समान ओसिरिस की लोकप्रियता में भी वृद्धि हुई, परन्तु सर्वथा भिन्न कारणों से। रे के सम्मान में वृद्धि का मूल कारण प्रकृत्या राजनीतिक था, जब कि ओसिरिस की सफलता का रहस्य था उसकी साधारण जनों में लोकप्रियता। उसके जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म की कथा (पृ० ३२८-९) को एबाइडोस के पुजारी जनता के सम्मुख प्रतिवर्ष नाटकरूप में प्रस्तुत करते थे। इतना ही नहीं वे जनता को उसमें भाग लेने का अवसर भी प्रदान करते थे। इससे जनमानस में ओसिरिस के प्रति श्रद्धा में निरन्तर वृद्धि होती गई और एबाइडोस मिस्र का एक महान् तीर्थ बन गया। प्रथम वंश के जेर नामक राजा की इस स्थान पर स्थित समाधि को अब भ्रमवशात् ओसिरिस की समाधि माना जाने लगा और उसके दर्शनार्थ दूर-दूर से यात्री दल आने लगे।

परलोकवाद

ओसिरस की महत्ता में वृद्धि होने का दूसरा कारण उसका पारलौकिक जीवन का नियन्ता हो जाना था। उसके परलोक के न्यायाधीश होने की कल्पना पिरेमिड युग में भी विद्यमान थी, लेकिन मध्य-राज्य युग में इसका पूर्ण विकास हो गया और यह मिस्री परलोकवाद का मूलाधार बन गई। अब यह माना जाने लगा कि प्रत्येक मृतात्मा परलोक में ओसिरिस के न्यायालय में जाती है। वहाँ ओसिरस अपने ४२ अधीन न्यायाधीशों की सहायता से उसके कर्मों की जाँच करता है। इस प्रक्रिया के तीन भाग बताए गए हैं: पहले मृतात्मा को यह घोषित करना होता है कि उसने ४२ सूचीबद्ध पाप किए हैं अथवा नहीं। इनमें हत्या, चोरी, असत्य भाषण, धोखेबाजी, झूठी गवाही, व्यभिचार और छुपकर बात सुनना जैसे अपराध सम्मिलित थे। इसके बाद उसे अपने पुण्यकर्मों का—जैसे यथाविधि उपासना करना तथा भूखे को भोजन, प्यासे को जल, नंगे को वस्त्र देना आदि—उल्लेख करना होता था। तदनन्तर शृगालमुख अनुबिस उसका हृदय एक तुला में एक पर से तौलता था जिससे यह ज्ञात हो सके कि उसका बयान सत्य है या नहीं। जो मृतात्माएँ इस जाँच

में खरी उतरती थीं उन्हें पारलोक में (पृ० ३३२) स्वर्गीय सुखों का उपभोग करने के लिए भेज दिया जाता था और जिनका पार्थिव जीवन दुष्कर्मों से परिपूर्ण होता था उन्हें घोर यातनाएँ दी जाती थीं।

धर्म और सदाचार का घनिष्ठ सम्बन्ध—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मध्य-राज्य युग में मिस्री धर्म का सदाचार से घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाने लगा था। सम्भवतः विश्व इतिहास में पहली बार कोई जाति इस विश्वास को विधिवत् विकसित करने में सफल हुई कि पारलौकिक जीवन के सुख-दुःख पार्थिव जीवन के कर्म-प्रभाव पर निर्भर होते हैं। जब हम देखते हैं कि बैबिलोनिया और इज़रायल में पार्थिव जीवन के कर्मों का पारलौकिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता था और पुण्यात्माओं और दुष्टात्माओं सभी को, बिना किसी भेद-भाव के, शियोल भेज दिया जाता था तब मिस्रियों के इस विश्वास का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

पारलौकिक जीवन के संकट—मध्य-राज्ययुगीन परलोकवाद की एक अन्य विशेषता है पारलौकिक जीवन का विविध प्रकार के संकटों से परिपूर्ण माना जाना। पारलौकिक संकटों का उल्लेख 'पिरेमिड टेक्स्ट्स' में भी हुआ है, परन्तु इस युग में इनकी भयंकरता बढ़ जाती है। अब अनेक प्रकार के भयानक जीव—सर्प, घड़ियाल आदि—मृतात्मा को भयभीत करते हैं, उसका भोजन खा जाते हैं और उसके हाथ, पैर, मुख और समग्र पारलौकिक शरीर को नष्ट कर देते हैं। इन सबसे बचने के लिए मृतक की शवपेटिका पर अनेक जादुई मन्त्र लिख दिए जाते थे। इसके अतिरिक्त उसके पारलौकिक जीवन को सुविधापूर्ण बनाने के लिए अन्य अनेक चेतावनियाँ लिख दी जाती थीं। ब्रेस्टेड ने इनके संग्रह को 'कॉफिन टेक्स्ट्स' नाम दिया है। इनसे ही कालान्तर में 'बुक आव दि डेड' का विकास हुआ।

कला

वास्तुकला—मध्य-राज्य युग की वास्तु कला के अध्ययन में सबसे बड़ी कठिनाई तत्कालीन भवनों के अवशेषों की दुष्प्राप्यता है। उनके रहने के मकान पूर्णतः नष्ट हो चुके हैं और हेलियोपोलिस जैसे नगरों में बनवाये गए मन्दिरों के चिह्न भी नहीं मिलते। इस युग के एकमात्र अवशिष्ट भवन गुहा-समाधियाँ हैं जिन्हें तत्कालीन सामन्तों ने बनवाया था। यद्यपि इस युग में मस्तबाओं का निर्माण होता रहा, लेकिन उनसे अधिक लोकप्रियता गुहा-समाधियों को मिलने लगी थी। इस युग में बने फायूम के समीप स्थित पिरैमिड भी
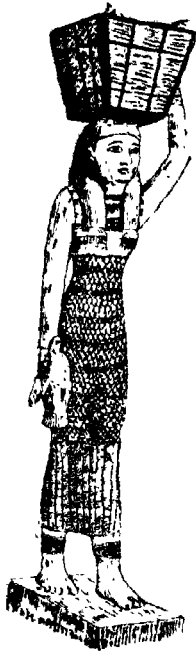
चि० ९६ : मध्य-राज्य युग की एक काष्ठमूर्ति

बहुत छोटे और अधिकांशतः ईंटों के बने हैं। इनमें हवारा का पिरेमिड सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

मूर्तिकला—मध्य-राज्ययुगीन मूर्तिकार प्राचीन-राज्य युग के मूर्तिकारों से अधिक कुशल थे और अधिक विशाल मूर्तियाँ बना सकते थे। एमेनम्हेत की ५० फुट ऊँची प्रतिमा इसका उदाहरण है। लेकिन इसके साथ ही वे पहले की अपेक्षा परम्परागत बन्धनों में भी अधिक जकड़े हुए थे। इसलिए उनके द्वारा निर्मित मूर्त्तियों में उनमें दिखाए गए राजाओं के विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप और कम मिलती है। लेकिन एमेनेम्हेत तृतीय तथा सेसोस्त्रित तृतीय की कुछ प्रतिमाएँ इसका अपवाद हैं।

अन्य ललित कलाएँ—मध्य-राज्य युग में स्वर्णकार की कला का भी विकास हुआ। इस युग की राजकुमारियों और रानियों के अनेक आभूषण और मुकुट आदि समाधियों से प्राप्त हुए हैं। इनमें कुछ ऐसे हैं जिनका निर्माता होना आधुनिक युग के स्वर्णकारों के लिए भी गौरव का कारण हो सकता है। इस युग की चित्रकला भी पिरेमिड युग की तुलना में हीनतर नहीं कही जा सकती।

साहित्य और दर्शन

कथा-साहित्य—मध्य-राज्ययुग में ऐसे अनेक ग्रन्थ लिखे गये जिन्हें साम्राज्य-युग में 'क्लासिक' माना जाता था तथा जिनकी भाषा और शैली की नकल करने का प्रयास किया जाता था। ऐसी रचनाओं में सिनुहे नामक सामन्त की कथा उदाहरणीय है। सिनुहे एमेनेम्हेत प्रथम के पुत्र सेसोस्त्रित का मित्र है। वह सेसोस्त्रित के साथ एक अभियान में गया हुआ है। वहाँ एक सन्देशवाहक एमेनेम्हेत की मृत्यु का समाचार लाता है। सेसोस्त्रित सम्भावित षडयन्त्रों के भय से शीघ्रतापूर्वक गुप्तरूपेण राजधानी चला जाता है। लेकिन सिनुहे का विश्वास है कि सेसोस्त्रित मार डाला जाएगा। उस अवस्था में सेसोस्त्रित के शत्रु उसे भी मार डालेंगे, यह सोचकर वह युद्धस्थल से भाग जाता है और अनेक देशों में मारा-मारा घूमता है। अन्त में सेसोस्त्रित, जो

सिनुहे की आशंका के बावजूद फराओ बनने में सफल हो जाता है, उसे बुला लेता है और अनेक प्रकार से सम्मानित करता है। यह कहानी मिस्र में अत्यन्त लोकप्रिय थी। इसी प्रकार इस युग के उस नाविक की कहानी (स्टोरी ऑव दि शिपरेकेड सेलर) जिसका पोत पुन्ट की ओर जाते समय डूब गया था, सिंदबाद जहाजी की कहानी के समान रोचक और लोकप्रिय थी। इसमें बताया गया है कि वह नाविक एक ऐसे द्वीप पर जा निकला था जहाँ नागरानी राज्य करती थी। उसने उस नाविक का भली-भाँति आतिथ्य सत्कार किया और धन देकर सम्मान सहित मिस्र वापस भेज दिया।

'विज्डम लिटरेचर' अथवा नीति-साहित्य—प्राचीन मिस्र का अधिकांश नीति-साहित्य मध्य-राज्य युग में लिखा गया। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम उन कृतियों का उल्लेख किया जा सकता है जिन्हें पिरैमिड युग के इम्होतेप, केगेम्ने तथा टाःहोतेप इत्यादि वजीरों की रचनाएँ माना जाता था (पृ० ३३६)। इन्हें **'इन्स्ट्रक्शन्स'** अथवा **'विज्डम लिटरेचर'** कहा जाता है। इन्हीं के कारण यूनानी मिस्रियों के ज्ञान को मुहावरा मानते थे। इनकी रचना मूलतः प्राचीन-राज्य युग में हुई थी, परन्तु मध्य-राज्य युग में इनमें सम्भवतः नवीन सामग्री भी जोड़ दी गई। इन कृतियों में **'टाःहोतेप की नीति'** सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वह पाँचवें वंश के एक फराओ का मन्त्री और मेम्फिस का गवर्नर था। वृद्धावस्था में अपने पद से मुक्त होने के पश्चात् उसने अपने पुत्र को शिक्षा देने के लिए अपने अनुभवों को ४२ पेराग्राफ में लेखबद्ध किया। इसमें उसने उससे नम्र, उदार, मधुरभाषी, प्रसन्नवदन और न्यायशील होने का और लोभ, गर्व तथा उच्छृङ्खलता आदि से दूर रहने का अनुरोध किया। विश्व में नैतिक आदर्शों की इतनी स्पष्ट अभिव्यक्ति इसके पूर्व कहीं नहीं हुई।

'मुखर कृषक का आवेदन'—सम्भवतः नीति-ग्रन्थों के अन्तर्गत ही हम **'मुखर कृषक का आवेदन'** (प्ली ऑव एलोकुएन्ट पीजेन्ट) को रख सकते हैं। इसमें एक कृषक एक अधिकारी द्वारा धोखा दिए जाने पर उच्चतर अधिकारियों के पास प्रभावपूर्ण परन्तु सुमधुर शब्दों में आवेदन करता है। उसकी वाक्पटुता से प्रभावित होकर वे उसे फराओ के पास ले जाते हैं। वहाँ फराओ के उत्साहित करने पर कृषक राजकर्मचारियों के विषय में अपना मत अभिव्यक्त करता है और कहता है कि उसके विचार में राजकर्मचारियों को सत्य बोलना, निष्पक्ष भाव से न्याय करना, अपराधियों को दण्ड देना, और डाकुओं का दमन करना चाहिए। उन्हें अनाथों के साथ पिता और विधवाओं के साथ पति जैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। अन्य अधिकांश मिस्री रचनाओं के समान इसके लेखक

का नाम भी अज्ञात है। सम्भवतः इसकी किसी उदार फराओ ने लिखवाया था जो अपने पदाधिकारियों में कर्त्तव्यपरायणता और निष्पक्षता की भावनाएँ दृढ़तर करना चाहता था।

'एमेनेम्हेत का उपदेश'—लेकिन मध्य-राज्य युग में मिस्रियों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण सामान्यतः इतना आदर्शवादी न था। इस युग में देश आन्तरिक संघर्षों में अधिक फँसा रहा, इसलिए उनका दृष्टिकोण निराशावाद की ओर अपेक्षया अधिक झुका रहा। बारहवें वंश के संस्थापक एमेनेम्हेत का अपने पुत्र को दिया गया उपदेश इसका प्रमाण है। इसमें वह उसे बताता है कि कभी किसी मित्र अथवा भाई अथवा किसी अन्य व्यक्ति का विश्वास मत करो क्योंकि जब मनुष्य के बुरे दिन आते हैं कोई उसका साथ नहीं देता (पृ० १५६)।

'वीणावादक का गान'—मिस्री निराशावाद की सर्वाधिक प्रभावशाली अभिव्यक्ति सम्भवतः **'वीणावादक का गान'** (सांग ऑव दि हार्प प्लेयर) में हुई है। इसका मिस्री साहित्य में वही स्थान है जो यहूदी साहित्य में ऐक्ले-जिएस्टिज़ का। इसकी रचना ११ वें वंश के शासन काल में हुई। इसमें कहा गया है कि मृत्यु सब की होती है, चाहे कोई फराओ हो या दास। लेकिन मृत्यु कब होगी और उसके बाद क्या होगा यह कौन जानता है? मरने के बाद कोई वापस नहीं आता जो यह बता सके कि वहाँ क्या होता है? और क्योंकि मृत्यु सबकी होनी है इसलिए ज्ञान, धन, सम्पत्ति और सत्ता सब निरर्थक हैं। अपने साथ न कोई कुछ लेकर आता है और न कुछ लेकर जाता है। इस संसार में केवल एक ही कार्य करणीय है और वह है अपनी मनमानी करना और हँसी-खुशी में समय गुजार देना (तुलनीय, पृ० २८४)।

'इपुवेर की भविष्यवाणी'—'वीणावादक' के गान के समान इपुवेर नामक व्यक्ति की 'भविष्यवाणी' भी यहूदी बाइबिल का अनायास स्मरण दिलाने वाली है। फराओ के सम्मुख आनेवाले संकट की घोषणा करते हुए इपुवेर कहता है कि शीघ्र ही सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था टूट जाएगी, अमीर गरीब और गरीब अमीर हो जाएँगे, विदेशियों के आक्रमण होंगे और सब कुछ नष्टभ्रष्ट हो जाएगा। लेकिन इसके बाद वह एक निर्मल-हृदय **मसीहा—त्राता—का आविर्भाव** होने की घोषणा करता है जो मनुष्यों की उसी प्रकार रक्षा करेगा जैसे गडरिया भेड़ों की करता है। यहूदी समाज में ठीक यही कार्य उनके नबियों ने किया था (पृ० २७९-८१)।
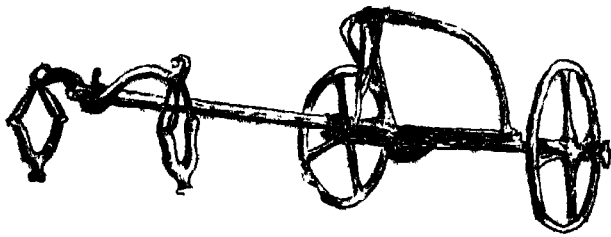
१३

साम्राज्य-युग

Thy Dawning is beautiful in the horizon of the sky,
O living Aton, Beginning of life!
When thou risest in the eastern horizon,
Thou fillest every land with thy beauty.......
Though thou art far away, thy rays are upon the earth ;
Though thou art on high, thy foot prints are the day.

—*A part of the Sun-Hymn of Akhnaton.*

हिक्सोस आक्रमण—१७८८ ई० पू० में १२ वें वंश के पतन के साथ मध्य-राज्य के गौरवपूर्ण युग का अन्त हो गया (पृ० ३५६) और सामन्तों तथा जागीरदारों में सत्ता हड़पने के लिए पुनः संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस अराजकता के कारण वे १७६५ ई० पू० में एशिया से आने वाले **हिक्सोस** नामक आक्रमणकारियों को नहीं रोक पाए। मनेथो इस नाम का अर्थ 'पशुपालक राजा' बताता है, और उन्हें फिनीशियनों और अरबों से सम्बद्ध मानता है। अगर यह सही है कि हिक्सोस सेमेटिक जाति की एक शाखा थे, तो हो सकता है उनके साथ यहूदियों का भी एक दल मिस्र आ गया हो और नील के मुहानेवाले प्रदेश में बस गया हो (पृ० २६९)। जो भी रहा हो इतना निश्चित है कि हिक्ससोस सांस्कृतिक दृष्टि से मिस्रियों से बहुत पिछड़े हुए थे और कुछ ही समय में अपने नए देश की संस्कृति के रंग मे रंग गए। लेकिन वे **अश्वों और रथों के प्रयोग** से परिचित थे, इसलिए मिस्रियों को लगभग दो सौ वर्ष तक अपने

इस पृष्ठ के ऊपर थीबिज की एक राजसमाधि से प्राप्त एक साम्राज्य-युगीन पूर्णाकार (फुल साइज) रथ का चित्र दिया गया है। यह कांस्य, ककड़ी और चमड़े का बना है। इससे तत्कालीन युग के रथ-निर्माताओं की दक्षता का अनुमान लगाया जा सकता है। यह आजकल फ्लोरेंस के पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित रखा हुआ है।

अधीन रखने में सफल रहे (१३वें—१७वाँ वंश)। मिस्रियों को इस राजनीतिक दासता से दो लाभ हुए। एक, वे नई युद्धकला से परिचित हो गए जिसका उपयोग उन्होंने आगामी युगों में किया। दूसरे, विदेशी शासन ने उनके हृदय में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की जिसकी बाढ़ में प्रादेशिक स्वतन्त्रता की भावना बह गई। सत्रहवीं शताब्दी ई० पू० के अन्त और सोलहवीं शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में इस चेतना ने **हिक्सो`स विरोधी आन्दोलन** का रूप ले लिया जिसका सफल नेतृत्व करके थीबिज नरेश **अहमोस प्रथम** ने उन्हें मिस्र से खदेड़ दिया।

अट्ठारहवाँ वंश और पहला साम्राज्य—अहमोस प्रथम के द्वारा अट्ठारहवें वंश की स्थापना से मिस्री इतिहास का साम्राज्य-युग प्रारम्भ होता है। अभी तक मिस्री नरेश केवल नील की घाटी से सन्तुष्ट थे, लेकिन हिक्सो`स के ऊपर प्राप्त विजय ने उनकी साम्राज्य पिपासा को जगा दिया। हाल ही में लड़े गए युद्धों के कारण उनका सैनिक संगठन सक्षम था और वे आक्रमणात्मक युद्धों में कुशल हो गए थे। अहमोस के उत्तराधिकारी अमेनहेतेप प्रथम ने इसका लाभ उठाया और एशिया, नूबिया तथा लीबिया पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिए। उसके पुत्र **थट्मोस प्रथम** ने अपनी सत्ता कार्शेमिश तक स्थापित की। उनके आक्रमणों से मिस्र और पश्चिमी एशिया का संघर्ष प्रारम्भ हुआ जो लगभग एक सहस्र वर्ष तक चला। थट्मोस प्रथम के बाद मिस्र की सत्ता उसकी पुत्री **हतशेपसुत** के हाथ में आई। वह विश्व इतिहास की पहली पूर्ण-सत्ता सम्पन्न शासिका थी। उसे अभिलेखों में 'सूर्य-पुत्र' ('सूर्य-पुत्री' नहीं) जैसे विरुद दिए गए हैं और स्मारकों पर दाढ़ीधारी स्तनविहीन योद्धा के रूप में चित्रित किया गया है। उसने साम्राज्य के संगठन और शान्ति-स्थापन में अत्यधिक कुशलता का परिचय दिया। उसने पुन्ट पर विजय प्राप्त की, कार्नाक में दो सूच्याकार स्तम्भ स्थापित कराए और अनेक मन्दिरों का निर्माण और जीर्णोद्धार कराया। उसके शासन काल के अन्तिम वर्षों में थट्मोस प्रथम की एक उपपत्नी से उत्पन्न पुत्र **थट्मोस तृतीय** ने उसके साथ सहशासक के रूप में राज्य किया। हतशेपसुत की मृत्यु के उपरान्त वह पूर्ण शासक बना। उसे 'प्राचीन मिस्र का नेपोलियन' कहा जाता है। उसने पश्चिमी एशिया पर पन्द्रह

चित्र ९८ : देवोपासना करते हुए एक मिस्री सम्राट्

बार आक्रमण किए, विजित राज्यों में मिस्री सैनिक रखकर उनको स्थायी रूप से साम्राज्य का अंग बनाया, एक शक्तिशाली जलबेड़े का निर्माण किया और लूट तथा कर रूप में मिले धन से मिस्र को समृद्ध करके उसे सांस्कृतिक प्रगति का अवसर प्रदान किया। उसने देश के शासन-प्रबन्ध में महत्त्वपूर्ण सुधार किए, कार्नाक के मन्दिर में नए भवन बनवाए तथा थीबिज और हेलियोपोलिस में सूच्याकार-स्तम्भ स्थापित करवाए। उसकी सफलता से मिस्र 'निकट-पूर्व' की सबसे बड़ी शक्ति हो गया। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी—**अमेनहेतेप द्वितीय, थट्मोस चतुर्थ तथा अमेनहोतेप तृतीय** साम्राज्य को स्थायी बनाए रखने का सफल प्रयास करते रहे। उनकी राजधानी थीबिज तत्कालीन विश्व का सबसे समृद्ध और सुन्दर नगर थी।

अख्नाटन और साम्राज्य का विघटन—अमेनहेतेप तृतीय के साथ मिस्री साम्राज्य के प्रथम गौरवपूर्ण युग का अन्त हो गया। उसका उत्तराधिकारी **अमेनहेतेप चतुर्थ** राजनीति से अधिक धर्म-दर्शन में रुचि रखता था। उसने अपना सारा ध्यान एक नए सौर-देवता एटन की उपासना को लोकप्रिय बनाने में लगाया। इसके प्रतीकस्वरूप उसने अपना नाम **अख्नाटन** रखा और अपनी नई राजधानी का अखटाटन। उसके धार्मिक नीति से देश का पुजारी वर्ग उससे असन्तुष्ट हो गया और शान्तिप्रियता के कारण साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्तों में विद्रोह होने लगे। पश्चिमी एशिया में यह युग हित्तियों के उत्थान का था। लेकिन अख्नाटन उनके आक्रमण से अपने एशियाई प्रान्तों को बचाने के लिए मिस्री सैनिकों का जीवन खतरे में नहीं डालना चाहता था। इसके परिणामस्वरूप प्रान्तों में विद्रोह हुए और मिस्री साम्राज्य का मानों एक क्षण में अन्त हो गया।

चित्र ९९ : आख्नाटन की पत्नी नोफेतीति की मूर्ति

उन्नीसवाँ वंश और दूसरा साम्राज्य—अख्नाटन की मृत्यु के दो वर्ष पश्चात् उसके दामाद **तूतेनखामेन** ने पुराने देवताओं की उपासना पुनः प्रचलित कर दी। लेकिन वह साम्राज्य के गौरव को लौटाने में पूर्णतः असफल रहा। यह कार्य १३५० ई० पू० के लगभग **हर्मेहाब** नामक सेनापति

ने प्रारम्भ किया। उसने देश की शासन-व्यवस्था में सुधार किए, सेना का पुनर्गठन किया, और मिस्र को पुनः साम्राज्य-स्थापन के योग्य बनाया। उसकी सफलता से उसके उत्तराधिकारियों—सेती प्रथम (पृ० १६४) और रेमेसिस द्वितीय—ने लाभ उठाया। रेमेसिस द्वितीय (१२९२-१२२५ ई० पू०) को विश्व के सर्वाधिक विलक्षण शासकों में गिना जाता है। वह साहसी और बलवान परन्तु स्त्र्योचित सौन्दर्य का स्वामी था। उसकी युद्धकला में भी उतनी ही रुचि थी जितनी प्रेम-व्यापार में। उसने पहले नूबिया की सोने की खानों को खुदवाकर राजकोष को पुनरापूरित किया और फिर एशियाई प्रान्तों को हस्तगत करने के लिए आक्रमण किया। फिलिस्तीन-विजय के बाद उसने हित्तियों के विरुद्ध कादेश का प्रसिद्ध युद्ध लड़ा जिसमें मिस्र की पराजय होने के बावजूद वह अपनी योग्यता से सेना के अधिकांश को सुरक्षित लौटाने में सफल हुआ। इसके बाद

चित्र १०० : एक मिस्री सम्राट् और उसकी रानी

१२६९ ई० पू० में उसने हित्तियों से इतिहास-प्रसिद्ध सन्धि की (पृ० १९६-७)। वह एक महान् भवन-निर्माता भी था। उसने कार्नाक के मन्दिर के मुख्य कक्ष को पूरा कराया, लक्सोर के मन्दिर को बढ़ाया, सेती प्रथम द्वारा प्रारम्भ कराए गए आबू-सिम्बेल के गुहा-मन्दिर को पूरा कराया, अनेक प्रसिद्ध मूर्त्तियों का

निर्माण कराया और नील को लाल सागर से मिलाने वाली एक नई नहर बनवाई। व्यक्तिगत जीवन में नारी उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता थी। उसके अन्तःपुर में कई सौ स्त्रियाँ थी। ६७ वर्ष के सुदीर्घ शासन के उपरान्त जब उसकी मृत्यु हुई उसके सौ से अधिक पुत्र और पचास से अधिक पुत्रियाँ थीं। अपनी अनेक लड़कियों से उसने खुद विवाह किया था जिससे उनकी सन्तान भी उतनी ही सुन्दर हो जितना वह खुद था।

बीसवाँ वंश—रेमेसिस द्वितीय के पश्चात् उसके वंश का बड़ी शीघ्रता से ह्रास हुआ। मनेथो के अनुसार १२०५ ई० पू० में सेतनाख्त नामक व्यक्ति ने बीसवें वंश की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारी **रेमेसिस तृतीय** के शासन काल तक मिस्र का कुछ एशियाई प्रान्तों पर नियन्त्रण बना रहा। लेकिन उसके बाद स्थिति बड़ी शीघ्रता से बिगड़ी और बारहवीं शती ई० पू० के मध्य तक मिस्र का एशियाई साम्राज्य अतीत की कहानी हो गया। इसके दो प्रमुख कारण थे—एक, मिस्री पुजारी वर्ग जो सदैव राजकोष को खाली करने और फराओ के अधिकार हड़पने की चिन्ता में रहता था और दूसरे पश्चिमी एशिया, यूरोप तथा खुद मिस्र के पड़ोस में नई-नई शक्तियों का उदय (पृ० २१५) जिनका सामना करना मिस्र के दुर्बल राजाओं की सामर्थ्य के बाहर था।

विदेशी आधिपत्य—मिस्र के बीसवें वंश का पतन और २१वे वंश की स्थापना १०९० ई० पू० में हुई। उसके बाद मिस्र एक शती तक दुर्बल परन्तु स्वतन्त्र रहा। दशवीं शती के मध्य उसकी स्वतन्त्रता का भी अन्त हो गया और ९४५ ई० पू० में उस पर **लीबियनों का अधिकार** हो गया। उनका आधिपत्य ७१२ ई० पृ० तक चला। इस बीच में मिस्र में तीन वंशों—२२वें से २४वें—ने राज्य किया। उनके बाद नूबियनों अथवा **इथियोपियनों ने** (२५ वाँ वंश) ६६३ ई० पू० तक मिस्र पर नियन्त्रण रखा लेकिन उन्हें खुद ६७० से ६६३ ई० पू० तक **असीरियनों का प्रभुत्व** मानना पड़ा।

'साइत युग'—६६३ ई० पू० में नील के मुहाने के पश्चिमी भाग में स्थित साइस स्थान के एक महत्वाकांक्षी शासक **साम्तिक ने** असीरियन सेनाओं को निकाल बाहर किया और कई शती बाद मिस्र में एक स्वतन्त्र राज्य (२६वाँ वंश) की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारी ५२५ ई० पू० तक राज्य करते रहे। नीको द्वितीय के शासन काल में तो उन्होंने एशिया पर भी आक्रमण किए। उन्होंने मिस्र के प्राचीन गौरव को लौटाने का बहुत प्रयास किया, और इसमें सन्देह भी नहीं कि उनके शासन काल में मिस्र एक बार पुनः 'निकटपूर्व' की आदरणीय शक्ति बन गया। लेकिन ५२५ ई० पू० में उनका पतन हो

गया और मिस्र हखामशी साम्राज्य में मिला लिया गया। इसके साथ ही मिस्र के स्वतन्त्र इतिहास का भी अन्त हो जाता है।

अन्त—फारसी आधिपत्य के अन्त (३३२ ई० पू०) के बाद मिस्र पर पहले **यूनानियों** (३३२–४८ ई० पू०) और तत्पश्चात् **रोमनों ने** शासन किया। ३० ई० पू० में इसे रोम साम्राज्य का एक प्रान्त बना लिया गया। इस प्रकार मिस्र की पाँच सहस्र वर्ष पुरानी सभ्यता और पृथक् राजनीतिक अस्तित्व का अन्त हुआ। आज मिस्र स्वतन्त्र है, लेकिन उसकी सभ्यता वह पुरानी सभ्यता नहीं है जिसके भौतिक अवशेष अब भी उसके गौरव और महत्ता का सन्देश दे रहे हैं।

शासन व्यवस्था

फराओ की प्रतिष्ठा—हिक्सोस के विरुद्ध संघर्ष करते समय प्रादेशिक स्वतन्त्रता की भावना दब जाने और एक सक्षम सेना के अस्तित्व में आ जाने से मिस्र की परम्परागत शासन-व्यवस्था में मूलभूत अन्तर उत्पन्न हुए। एक, इस युग में **राज्य और फराओ की शक्ति सेना पर आधृत हो** गई और मिस्री जन स्वभाव से शान्तिप्रिय होते हुए भी घोर **साम्राज्यवादी** हो गए। हिक्सोस आधिपत्य के युग में वे अश्वचालित रथों के निर्माण और सैनिक उपयोग तथा आक्रमणात्मक युद्धकला से परिचित हो गए थे। इस ज्ञान का उपयोग उन्होंने अब साम्राज्य निर्माण में किया और हिक्सोस युद्ध के समय जो **विशाल सेना अस्तित्व में आई, उसे स्थायी रूप दे दिया**। अब फराओ के पुत्र और पुराने सामन्त सिविल पदाधिकारी के स्थान पर सेनापति बनना पसन्द करने लगे। दूसरे, साम्राज्य युग के प्रारम्भ में ही मिस्र से मध्य-राज्ययुगीन **सामन्तवाद विलुप्त हो गया** और पुराने सामन्त फराओ के सेनापति अथवा सभासद मात्र रह गए। अब **फराओ साम्राज्य की शासन-व्यवस्था के हर अंग को खुद नियन्त्रित करने लगे**। उनका कार्यालय देश का सबसे व्यस्त कार्यालय हो गया। अब वे न केवल एशिया और नूबिया पर किए जाने वाले आक्रमणों की अध्यक्षता करते थे, वरन् खानों, व्यापार-मार्गों, सार्वजनिक-निर्माण-कार्यों तथा मन्दिरों की व्यवस्था के निरीक्षण के लिए भी व्यक्तिगत रूप से जाते थे।

मन्त्री की स्थिति—पिरेमिड युग में फराओ को शासन प्रबन्ध में सहायता देने वाला सबसे बड़ा पदाधिकारी मन्त्री था (पृ० ३३६)। यह पद इस युग में भी इसी प्रकार महत्त्वपूर्ण बना रहा। लेकिन राज्य की गतिविधि का क्षेत्र बढ़ जाने के कारण अट्ठारहवें वंश के फराओ एक के स्थान पर **दो मन्त्री** नियुक्त

करने लगे। एक उत्तरी मिस्र के लिए, जिसका कार्यालय हेलियोपोलिस में था और दूसरा दक्षिणी मिस्र के लिए जो फराओ के साथ थीबिज में ही निवास करता था। इनमें दक्षिणी वज़ीर राजधानी में रहने के कारण अपेक्षया अधिक शक्तिशाली होता था। वह राज्य के प्रादेशिक कार्यालयों की गतिविधि को नियन्त्रित करता था तथा दक्षिणी मिस्र के सब दुर्गों, जल और थल सेनाओं तथा मन्दिरों के प्रशासन के लिए उत्तरदायी होता था। 'श्वेत भवन' के अध्यक्ष की सहायता से वह देश की आय-व्यय पर भी नियन्त्रण रखता था। उसे इसकी रिपोर्ट प्रति माह फराओ को देनी होती थी। फराओ के युद्ध अभियान पर चले जाने पर तो उसकी शक्ति असीम हो जाती थी।

न्याय-व्यवस्था—न्याय-व्यवस्था में साम्राज्ययुगीन मन्त्री अपने पूर्वजों से अधिक शक्तिशाली था। यद्यपि उसकी एक उपाधि अब भी **'छः भवनों (न्यायालयों) का अधिपति'** थी, लेकिन व्यवहार में उन न्यायालयों का अस्तित्व मिट चुका था और उनके सारे अधिकार खुद मन्त्री के हाथ में आ गए थे। अब उसके 'दरबार' में ही सब मुकदमे आते थे। इसके अतिरिक्त हर जिले में स्थानीय अदालतें थीं जिनमें स्थानीय पुजारी और सिविल पदाधिकारी उसके प्रतिनिधि की हैसियत से मुकदमों का फैसला करते थे। न्यायाधीशों का कोई पृथक् पद नहीं था लेकिन महत्त्वपूर्ण मुकदमों का निर्णय करने के लिए मन्त्री स्थानीय अदालतों में अपने प्रतिनिधि भेजता रहता था। ये अधिकारी जिन **क़ानूनों** की सहायता से फैसले करते थे, वे आजकल उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन उनका एक **विधि-संहिता** के रूप में अस्तित्व था, इसमें सन्देह नहीं। डियोडोरस के अनुसार हख़ामशी युग के पूर्व पाँच राजाओं ने नए क़ानून बनाए थे। क़ानून का पालन सबको करना होता था। यहाँ तक कि राजद्रोहियों और फराओ के वध का षड्यन्त्र रचने वाले अपराधियों को भी बिना विधिवत मुक़दमा चलाए और उनका अपराध सिद्ध किए दण्ड नहीं दिया जा सकता था।

सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था

आय के साधन—मिस्री सम्राटों ने अपनी सैनिक आवश्यकताओं, सार्वजनिक-निर्माणकार्यों तथा अन्यान्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए देश के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयास किया। एक, उन्होंने **देश की समस्त भूमि, मन्दिरों की भूमि को छोड़कर अपने अधिकार में कर ली**। इसका कुछ अंश वह अपने कृपापात्रों को जोतने के लिए देते रहते थे। दूसरे, उन्होंने देश के **अधिकाधिक उद्योग-धन्धों पर राज्य का एकाधिकार घोषित कर दिया**। विदेशी

व्यापार पर तो पूर्णतः राज्य का एकाधिकार हो गया। ज्यों-ज्यों साम्राज्य का ह्रास होता गया, वे आय के अधिकाधिक साधन अपने नियन्त्रण में लेते गए। लेकिन इससे स्थिति सुधरने के स्थान पर अधिकाधिक बिगड़ती गई।

समाज के प्रमुख वर्ग—साम्राज्य-युग में सामन्तवाद का अन्त हो जाने के कारण स्थानीय प्रशासन के लिए राजकर्मचारियों की भारी संख्या में आवश्यकता पड़ी। इससे **मध्यम वर्ग** को आगे बढ़ने का मध्य-राज्य युग से भी अधिक अवसर मिला और एक ऐसा **राज-पुरुष वर्ग** अस्तित्व में आया जिसमें पुराने सामन्त और मध्यम वर्ग, दोनों के लोग सम्मिलित थे। यह वर्ग धीरे-धीरे केन्द्रीय राजपुरुष वर्ग के साथ घुल मिल गया। इसी वर्ग का उच्च स्तर **नया कुलीन वर्ग** था जिससे फराओ अपने सभासद और उच्चतम पदाधिकारी चुनते थे। १८ वें वंश के एक अधिकारी ने अपनी जनगणना रिपोर्ट में मिस्री जनता को सैनिक, पुजारी, राजकीय-सर्फ तथा दस्तकार इन चार वर्गों में बाँटा है। इस विभाजन में स्पष्टतः सैनिकों के अन्तर्गत राजपुरुषों और मध्यम वर्ग के सब लोगों को सम्मिलित कर लिया गया है। इसका कारण था **मध्यम वर्ग के सब लोगों के लिए सैनिक-सेवा की अनिवार्यता**। समस्त साम्राज्य-युग में सैनिकों का प्रभाव समय की गति के साथ बढ़ता गया और फराओ उन पर सिविल सेवाओं के लिए भी अधिकाधिक निर्भर रहने लगे।

धर्म : अखनाटन की धार्मिक क्रान्ति

अखनाटन के पूर्व मिस्र की धार्मिक अवस्था

पुजारी वर्ग—राजपुरुषों और सैनिकों के अतिरिक्त एक अन्य वर्ग जिसका प्रभाव साम्राज्य-युग में निरन्तर बढ़ता गया, पुजारियों का था। एक तो पुजारियों की **मन्दिरों को भेंट और चढ़ावे के रूप में मिलनेवाली आय** ही काफी थी। दूसरे, साम्राज्ययुगीन फराओ अपनी **राजकीय आय** का एक बहुत बड़ा अंश मन्दिरों के निर्माण और प्रतिपालन पर व्यय करते रहते थे। युद्ध में पकड़े गए दासों को भारी संख्या में मन्दिरों में काम करने के लिए भेज दिया जाता था।
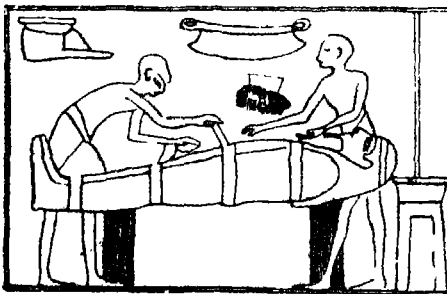
चित्र १०१ : 'ममी' बनाना

रेमेसिस तृतीय ने मन्दिरों को कुल मिलाकर १,१३,००० दास प्रदान किए थे। अनुमान किया गया है कि मिस्र की उर्वर भूमि का ⅙ भाग पुजारियों के अधिकार में था जब कि वे उसकी कुल जनता का २ प्रतिशत मात्र थे। यह तथ्य कालान्तर में साम्राज्य की अवनति का मुख्य कारण सिद्ध हुआ।

पिरेमिड युग में मिस्र के विभिन्न मन्दिरों के पुजारियों में परस्पर कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। लेकिन साम्राज्य युग में इन सबको **एक वर्ग के रूप में संगठित कर दिया गया।** थीब्ज के राजमन्दिर के धर्माध्यक्ष, एमन के प्रधान पुजारी, इसके अधिनायक बने। इससे उसकी शक्ति मेम्फिस के और हेलियो-पोलिस के प्रधान पुजारियों से बहुत अधिक बढ़ गई। अब वे प्रायः **'श्वेत भवन' (राजकोष) के अध्यक्ष अथवा मन्त्री जैसे पदों पर भी नियुक्त किए जाने लगे।** अगर फराओ की रानी को एमन की 'दैवी महिषी' माना जाता था तो धर्माध्यक्ष की पत्नी को देवता की प्रधान उपपत्नी।

धार्मिक अवनति—साम्राज्य-युग में पुजारी वर्ग के अत्यन्त धनी और सत्ताधारी हो जाने से **मध्य-राज्य युग में धर्म और सदाचार में जो घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ था, वह टूट गया।** अब खुद धर्म के संरक्षक भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने लगे। देवताओं के मनोरंजन के हेतु नियुक्त देवदासियाँ वस्तुतः उनका ही मनोरंजन करती थीं। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया उनकी **धनलोलुपता और भ्रष्टाचार** भी बढ़ते गए, जिनकी परितुष्टि के लिए उन्होंने जनता की भावनाओं से खिलवाड़ करना प्रारम्भ कर दिया। एक, अब उन्होंने मृतकों को परलोक में मिलने वाले कष्टों का चित्र पहले से अधिक भयंकर कर दिया। इससे उनसे बचने के लिए परलोक में आवश्यक मन्त्रों की संख्या भी बढ़ गई। अब इन्हें शवपेटिका पर नहीं लिखा जा सकता था, इसलिए इन्हें पेपाइरस-पत्रों पर लिखकर शवपेटिका के अन्दर रखा

चित्र १०२ : एक 'बुक ऑव दि डेड' पर पानी के रंगों से बना चित्र

जाने लगा। इन्हें सम्मिलित रूप से **'मृतकों की निर्देश-पुस्तिका'** (**'बुक ऑव दि डेड'**) कहा जाता है। इस प्रकार परलोक का भय दिखाकर उन्होंने यह दावा करना शुरू किया कि अगर वे चाहें तो अपने जादू के जोर से पापिष्ठों को भी स्वर्ग दिला सकते हैं, देवताओं को मजबूर कर सकते हैं कि उनके **जादुई मन्त्रों से युक्त ताबीजों** से सुरक्षित मृतात्मा को, चाहे उसने कितने ही पाप क्यों न किए हों, स्वर्ग में ही स्थान दें। इनके लिए वे मृतक के सम्बन्धियों से खूब धन वसूल करते थे। इतना ही नहीं, वे खुले आम ऐसे **पापमोचक प्रमाण-पत्र** बेचते थे जिनमें ओसिरिस के न्यायालय की पूरी कार्यवाही और मृतात्मा की मुक्ति का विवरण लिखा रहता था। इन्हें खरीदनेवाले इनपर अपना नाम लिखवा लेते थे। इस प्रकार वे इस जीवन में खूब पाप करने के बावजूद मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में स्थान पाने के अधिकारी मान लिए जाते थे। इन प्रमाण-पत्रों की तुलना मध्यकालीन यूरोप में ईसाई पादरियों द्वारा बेचे जानेवाले पापमोचक प्रमाण-पत्रों (इन्डल्जेन्सिज़) से की जा सकती है।

एकेश्वरवादी प्रवृत्ति—एक ओर जब मिस्री धर्म का अन्तःह्रास हो रहा था, साम्राज्य-स्थापन के कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो रही थी जिसमें प्राचीन सिद्धान्तों और विश्वासों को नया मोड़ देना आवश्यक लगने लगा था। अभी तक मिस्रियों की कल्पना में दुनिया नील की घाटी तक सीमित थी। इसलिए उनके सर्वोच्च देवता भी केवल मिस्र के देवता थे। साम्राज्य की स्थापना होने पर जब फराओ अन्य देशों के स्वामी बने तब उनके देवताओं के लिए भी विश्व का स्वामी होना आवश्यक हो गया। इससे **एकेश्वरवादी प्रवृत्ति** बलवती हुई। लेकिन मिस्री देवसमूह के सब देवता प्रकृत्या स्थानीय थे। इसलिए अनेक मिस्री विचारक इस दृष्टि से भी धर्मसुधार की आवश्यकता अनुभव करने लगे। मिस्री धर्म की यह वह अवस्था थी जब १३७५ ई० पू० में अमेनहोतेप चतुर्थ उर्फ अख्नाटन मिस्र का अधीश्वर बना।

चित्र १०३ : एक मिस्री देवता

अख्नाटन का धर्म

अख्नाटन का एटनवाद—अख्नाटन समस्त मिस्र का ही नहीं सम्भवतः समस्त **विश्व इतिहास का सबसे विलक्षण शासक** हुआ है। उसमें क्लियोपाट्रा

की स्त्र्योचित सुकुमारता, शैली जैसे कवियों की भावुकता और संवेदनशीलता, काण्ट जैसे दार्शनिकों की विचारशीलता, अशोक जैसे राजाओं का आदर्शवाद और अलेक्जेण्डर तथा नेपोलियन जैसे विजेताओं की दृढ़ इच्छा-शक्ति और कर्मठता थी। उसने प्रारम्भ से ही पुजारी वर्ग में फैले भ्रष्टाचार और उनके राजनीति पर अवांछनीय प्रभाव का विरोध किया और **एटन नामक एक नए देवता की उपासना** को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। उसकी प्रशंसा में उसने अपना नाम भी अख्नाटन रख लिया। एटन मूलतः सूर्यदेव रे का ही नाम था। लेकिन अख्नाटन ने उसे उससे केवल मिस्र का ही नहीं समस्त **विश्व का एकमात्र देवता** बताया। उसने **उसकी कल्पना भौतिक सूर्य के रूप में न करके उसकी जीवनदायिनी उष्मा और प्रकाश के रूप में की।** वह उसे ऐसी **निराकार** दैवी शक्ति मानता था जो अपनी किरणों के रूप में समस्त विश्व में व्याप्त है। यह कल्पना प्रकृत्या सर्वथा आधुनिक और पूर्णतः वैज्ञानिक है। अख्नाटन के बाद सहस्रों वर्ष तक कोई व्यक्ति यह नहीं सोच पाया कि सूर्य की क्रियाशीलता का माध्यम खुद सूर्य नहीं उसकी किरणें हैं; वही जीवन, सौन्दर्य और ऊर्जा का स्रोत है। अख्नाटन इस बात को कितना समझता था, कहना कठिन है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसने इसे जिस रूप में रखा, उसमें सुधार करना आज भी आसान नहीं है। उसके एटनवाद में **पुराने अन्ध-विश्वासों की छाया तक नहीं मिलती।** उसका उपास्यदेव केवल मनुष्यों का नहीं, प्राणी मात्र का कृपालु पिता था। उसी ने संसार को बनाया था। वही इसका पालन करता है। अख्नाटन ने अपने **धर्म का नैतिकता के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध** स्थापित किया। उसका देवता एटन न्यायशील और सत्यप्रिय तथा युद्ध और हिंसापूर्ण उपायों से प्राप्त विजयों का विरोधी था। उसके धर्म का **बाह्य रूप बहुत सरल** था। क्योंकि वह **निराकार** था, इसलिए अख्नाटन ने उसकी मूर्त्तियाँ नहीं बनवाईं। लेकिन जनसाधारण उसकी महिमा को हृदयंगम कर सकें, इसलिए उसने **सूर्यचक्र को उसका प्रतीक** माना। इसके चारों ओर उसकी किरणों को दिखाया जाता था जिनके सिरे पर हाथ की आकृति बनी होती थी। इस प्रतीक से एटन के अनुग्रहपूर्ण रूप को कोई भी व्यक्ति समझ सकता था। एटन की **उपासना** सूर्योदय और सूर्यास्त के समय, जब सूर्य की किरणें सर्वाधिक कृपापूर्ण लगती हैं, की जाती थी। इसमें न बहुत अधिक चढ़ावे की आवश्यकता थी, न जटिल कर्मकाण्ड, तन्त्रमन्त्र और पुजारियों की भीड़ की। केवल हृदय से एटन के आभार को मानना और उसकी स्तुति करते हुए श्रद्धा के प्रतीक रूप कुछ पत्र, पुष्प और फल चढ़ाना पर्याप्त था।

एटन सबसे अधिक प्रसन्न उससे होता था जो सच्चे हृदय से उसकी स्तुति करता था। इसलिए पक्षियों का कलरव, बछड़े का रम्भाना और खेतों में प्रसन्नवदन श्रम करते किसानों के गीत उसकी सबसे बड़ी प्रार्थना थे।

अख्नाटन का परलोकवाद—अख्नाटन के धर्म का परलोकवाद भी बहुत सरल था। उसने एमन-रे के पुजारियों द्वारा प्रस्तुत **पारलौकिक जीवन** और खुद ओसिरिस के अस्तित्व को सत्य मानने से इन्कार कर दिया। उसके अनुसार मृत्योपरान्त मनुष्य की आत्मा कुछ समय के लिए या तो स्वर्ग में निवास करती है अथवा उन स्थानों पर जो उसे जीवितावस्था में प्रिय होते हैं। वहाँ वह सूर्य के प्रकाश, पक्षियों के मधुर संगीत और फूलों के मोहक सौन्दर्य से आनन्द लाभ करती है। उसके परलोकवाद में **नरक की कल्पना नहीं मिलती** क्योंकि वह यह सोच भी नहीं सकता था कि दयालु पिता एटन किसी को नारकीय पीड़ाएँ दे सकता है। दुष्टात्माओं के लिए उसके धर्म में एक ही दण्ड था—मृत्यु के पश्चात् उनके अस्तित्व का पूर्ण विनाश इसलिए उसने अपने कृपापात्रों के लिए जो समाधियाँ बनवाईं उनपर उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के याथार्थिक चित्र और खुद उसके द्वारा **एटन की प्रशंसा में रचित स्तोत्र** मात्र अंकित किए गए।

पुराने धर्म का दमन—अख्नाटन ने **प्रारम्भ में अन्य देवताओं के प्रति सहिष्णुता** का व्यवहार करते हुए अपने धर्म को लोकप्रिय बनाने की चेष्टा की। अपने शासनककाल के प्रारम्भ में ही उसने नए देवता के लिए एक भव्य मन्दिर बनवाया और उसका नाम **'एटन महान् की प्रभा'** रखा। थीबिज का नाम भी परिवर्तित करके **'एटन की प्रभा का नगर'** कर दिया गया। लेकिन एमन के पुजारियों ने इस नए अज्ञात देवता के उत्कर्ष का घोर विरोध किया। जब यह विरोध असह्य हो गया तो अख्नाटन ने **उग्र उपायों का अवलम्बन** किया। अब उसने यह निश्चित किया कि वह एटन को विश्व का एकमात्र देवता अपने हृदय में ही नहीं यथार्थ में बना देगा। इस निश्चय को क्रियात्मक रूप देने के लिए उसने अन्य सब देवताओं के मन्दिरों को बन्द कर दिया, उनके पुजारियों को निकाल दिया, अपनी प्रजा को केवल एटन की पूजा करने का आदेश दिया और सार्वजनिक स्मारकों पर लिखे हुए सब देवताओं के नाम मिटवा दिए। यहाँ तक कि अपने पूर्वजों के नामों के अंश रूप में प्रयुक्त पुराने देवताओं के नामों को भी नहीं छोड़ा।

अख्नाटन के बाद—लेकिन अख्नाटन के विचार और कार्य उसके

समय के अनुकूल नहीं थे। इसलिए उसकी मृत्यु के साथ उसका धर्म भी समाप्त हो गया। उसके बाद, उसके दामाद तूतेन-खाटन ने पुराने धर्म को पुनः प्रतिष्ठित किया। उसने पुराने देवताओं की उपासना प्रारम्भ कर दी, पुजारियों के अधिकार लौटा दिए, स्मारकों पर देवताओं के मिटाए गए नाम पुनः लिखवा दिए और अपना नाम बदलकर तूतेनखामेन रख लिया। उसने साम्राज्य की राजधानी भी पुनः थीबिज को ही बनाया। अख्नाटन की नव-स्थापित राजधानी कुछ ही दिनों में उजड़ गई। पुजारियों ने परलोकगत शत्रु से भयंकर बदला लिया। उन्होंने उसे 'घोरतम अपराधी' और देवताओं का शत्रु घोषित किया, अपनी सारी जादुई शक्ति उसकी आत्मा को पीड़ित करने में लगा दी और उसके लिए मृतक-संस्कार करने का निषेध कर दिया। उसका नाम लेना तक महापाप घोषित कर दिया गया। इस प्रकार उसकी मृत्यु के बाद एशियाई साम्राज्य की हानि को छोड़कर सब कुछ फिर वैसा ही हो गया जैसा उसके राज्यारोहण के पहले था।

चि० १०४ : तूतेनखामेन की स्वर्ण अन्तः शवपेटिका का ऊपरी भाग

अख्नाटन का मूल्यांकन

ब्रस्टेड और वीगेल का मत—अख्नाटन का विश्व इतिहास में क्या स्थान है, इस विषय में दो मत प्रायः प्रचलित हैं। **ब्रेस्टेड और आर्थर वीगेल** जैसे कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि अख्नाटन विश्व इतिहास में पहला मनुष्य था जिसने सामाजिक और धार्मिक बन्धनों को तोड़कर अपने व्यक्तिगत आदर्श-वाद को मूर्त्तरूप देने की चेष्टा की। इसलिए उन्होंने उसे **इतिहास का प्रथम 'व्यक्ति' (इण्डिवीजुअल) कहा है।** यद्यपि वह ऐसे समाज में उत्पन्न हुआ था जो हीनतम कोटि के बहुदेववाद और अन्धविश्वासों में जकड़ा हुआ था, परन्तु इसके बावजूद उसने देवत्व के सही अर्थ को समझा और एक **सरल और आडम्बररहित नैतिक एकेश्वरवाद को प्रतिपादित किया।** उस युग में जब मिस्र और पड़ोसी देशों में सामरिक सफलता को महानता का पर्यायवाची माना जाता था, उसने शान्ति, दया, और सत्य का उपदेश दिया। शायद वह **विश्व का पहला मनुष्य था जिसका हृदय क्रूरता से शून्य था।** उसने चौदहवीं

शताब्दी ई० पू० में वे कार्य किए जिन्हें हम बीसवीं शताब्दी ई० में करके लाभान्वित हो सकते हैं। उसने यह दिखाया कि आदर्श पिता और पति को कैसा होना चाहिए, दार्शनिक को क्या सोचना चाहिए, और कलाकार को किस दिशा में प्रयास करना चाहिए। अपने **आदर्श को मूर्त्तरूप देने में वह अपने सर्वस्व की बलि देने में भी नहीं हिचका।** यद्यपि वह अपने प्रयास में असफल रहा, लेकिन उसका आदर्श अब भी विश्व को अनुप्रेरित कर रहा है और तब तक करता रहेगा जब तक 'कौए का रंग श्वेत और हंस का श्याम नहीं हो जाता'।

अख्नाटन के आलोचक—अख्नाटन के इस मूल्यांकन का विरोध करने वाले कहते हैं कि वह वास्तव में एक **मूर्ख और लोभी** नरेश था। उसके धर्म-प्रचार की पृष्ठभूमि में उसकी धर्म-भावना नहीं **मन्दिरों में एकत्र सम्पत्ति को हस्तगत करने की इच्छा** थी। उसने अपने **अज्ञान और** हठवादिता के कारण न केवल मिस्र में उथल-पुथल की और जनता को एक ऐसे धर्म का पालन करने के लिए विवश किया जिसको वह बिल्कुल पसन्द नहीं करती थी, वरन् मिस्र के एशियाई गवर्नरों को असहाय अवस्था में हित्तियों की कृपा पर छोड़ दिया और **साम्राज्य को विनष्ट हो जाने दिया।**

निष्कर्ष : अशोक से तुलना—लेकिन अख्नाटन के विषय में यह धारणा रखनेवालों के साथ मतैक्य करना दुष्कर है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि वह **कवि और दार्शनिक अधिक था, राजनीतिज्ञ कम।** वह यह नहीं समझ पाया कि धार्मिक-क्षेत्र में जबरदस्ती करने से समझाना अधिक अच्छा होता है। इसलिए अपने उत्साह में वह सुधार के बजाय समस्त धार्मिक व्यवस्था का विरोध कर बैठा। इस प्रसंग में **उसकी तुलना अशोक से** करना अनुचित नहीं होगा। अशोक ने भी अख्नाटन के समान राजनीति को धार्मिक आदर्शवाद पर आधृत किया था। परन्तु कई दृष्टि से अख्नाटन को उससे महत्तर स्थान प्राप्त है। एक, अशोक का आदर्शवाद बौद्ध धर्म की देन था, जब कि **अख्नाटन अपने धर्म का प्रतिपादक** खुद था। दूसरे, भारत की धार्मिक सहिष्णुता की परम्परा और बौद्ध धर्मावलम्बियों की सहायता के कारण अशोक का कार्य अपेक्षया सरल था। जब कि अख्नाटन को यह दोनों सुविधाएँ अप्राप्य थी। इसलिए **अशोक 'धर्म-सहिष्णु' होने का गौरव प्राप्त कर सका** जब कि अख्नाटन को उग्र उपायों का अवलम्बन करना पड़ा। लेकिन इसके बावजूद उसे अशोक से कम सफलता मिली यह कहना पर्याप्त साहस की अपेक्षा रखता है।

साहित्य

अखनाटन के स्तोत्र—अखनाटन की आधुनिक युग को सबसे महत्त्वपूर्ण देन उसके द्वारा **एटन की प्रशंसा में** लिखे गए दो स्तोत्र हैं, जो उसके कृपा पात्रों की समाधियों की दीवारों पर लिखे हुए मिले हैं। ये विश्व इतिहास में एकेश्वरवाद पर आधृत प्राचीनतम रचनाएँ हैं। उन्हें प्राचीनतम विश्व की महानतम कृतियों में गिना जाता है। ब्रेस्टेड इन्हें आधुनिक साहित्य में भी स्थान देने को प्रस्तुत है। इनमें अखनाटन ने युद्ध और हिंसा का कहीं नाम तक नहीं लिया है। इसके विपरीत ये उसके **जीवन में उल्लास, पारिवारिक जीवन के प्रति आकर्षण और एटन के प्रति आभार** की भावना से परिपूर्ण हैं। यहूदी ओल्ड टेस्टामेन्ट के १०४ थे 'साम' पर इनका प्रभाव सुस्पष्ट है।

'व्यक्तिगत धर्मनिष्ठा के स्तोत्र' और 'एमेनेमोप का उपदेश'—अखनाटन की मृत्यु के पश्चात् कुछ शिक्षित व्यक्तियों के हृदय में उसकी शिक्षाओं का प्रभाव शेष रहा। उन्होंने एटन के कृपालुता और सदाचार प्रियता जैसे गुणों को एमन रे में आरोपित करने की चेष्टा की। इसका प्रमाण उसकी मृत्यु के दो-तीन सौ वर्ष पश्चात् लिखे गए 'व्यक्तिगत धर्मनिष्ठा के स्तोत्र' हैं। इनमें भी एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है परन्तु **इनका देवता एटन नहीं, प्राचीनतर देवता एमन-रे** है। लेकिन यह एमन बहुत कुछ एटन का ही रूप है, क्योंकि इसमें उसके **प्रेममय अनुग्रह, न्यायशीलता और ज्ञान पर अधिक बल** दिया गया है, शक्ति और गौरव पर कम। इसी प्रकार **'एमेनेमोप के उपदेश** (टीचिंग्स् ऑव एमेनेमोप) में, जिसकी रचना साम्राज्य-युग के अन्त में हुई कहा गया है कि ईश्वर मनुष्य का भाग्यविधाता है इसलिए मनुष्य को सहनशील, शान्तचित्त, उदार तथा ईश्वरभीरु होना चाहिए। इस रचना का बाद में यहूदियों की 'बुक ऑव प्रॉवर्ब्स' (पृ० २९१) पर प्रभाव पड़ा लगता है।

प्रेम गीत—इन ग्रन्थों के अतिरिक्त साम्राज्ययुगीन मिस्र के धार्मिक साहित्य में **'बुक ऑव दि डेड'** की गणना होती है (पृ० २७४)। लौकिक साहित्य के अन्तर्गत इस युग की रचनाओं में सर्वप्रथम **प्रेम गीतों** का उल्लेख होना चाहिए। इनमें अधिकांशतः बहिन भाई के प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है, इसलिए वे भारतीय हृदय में जुगुप्सा उत्पन्न कर सकते हैं, लेकिन मिस्री समाज में ये अत्यन्त लोकप्रिय थे, इसमें सन्देह नहीं। इनमें कुछ तो **पिछली शताब्दी की उर्दू गज़लों के समान प्रतीत होते हैं :**

जब मैं उसका आलिंगन करता हूँ, मानो सुगन्धों की दुनियां में पहुँच जाता हूँ...

जब मैं उसका चुम्बन लेता हूँ, तो उसके ओंठ खुल जाते हैं ;
और मैं बिना शराब के मतवाला हो जाता हूँ।
काश ! कि मैं उसका नीग्रो दास होता
जो उसकी सेवा में रहता है ;
जिससे मैं उसके हर अंग के सौन्दर्य को निरख सकता।

ऐसे **उच्छृंखल गीत** केवल पुरुषों द्वारा ही लिखे जाते रहे हों, ऐसी बात नहीं है। ऐसे भाव तत्कालीन कवयित्रियों ने भी अभिव्यक्त किए हैं। एक बहिन-प्रेमिका अपने भाई-प्रेमी से कहती है :

मैं तेरी सबसे बड़ी बहिन हूँ—
जब हम गहरे विचारों और खुशी में डूबे हुए
साथ साथ घूमते हैं,
तेरा हाथ मेरे हाथ में होता है।
तेरी आवाज मुझे मतवाली बना देती है।
मेरा जीवन तेरी आवाज पर निर्भर है।
तुझे देख पाना मेरे लिए खाने-पीने से बढ़कर है।

कथा-साहित्य—काव्य-साहित्य के साथ इस युग में कथा-साहित्य भी खूब लिखा गया—विशेष रूप से उन्नीसवें वंश के शासन काल में। इसमें अधिकांशतः वे **जनकथाएँ** हैं जो मूलतः प्राचीनतर थीं लेकिन साम्राज्य युग में साहित्यिक रूप धारण करने लगी थीं। शेष हिक्सॉस के विरुद्ध संघर्ष, तथा थट्मोस तृतीय और रेमेसिस द्वितीय जैसे नरेशों के अभियानों पर आधारित थीं। इस युग की लोकप्रिय कथाओं में दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें **पहली कथा एक अभागे राजकुमार की है**। उसे हथौर द्वारा घड़ियाल, सर्प अथवा कुत्ते द्वारा मारे जाने का शाप दिया गया है। युवावस्था में वह अपने जीवन को संकट में डालकर नहरीन के राजा की एक दुर्गम दुर्ग पर चढ़ने की शर्त पूरी करके उसकी पुत्री को जीत लेता है। लेकिन बाद में खुद अपनी कुतिया के कारण मौत का शिकार हो जाता है। यह दुनिया की पहली ज्ञात कहानी है जो नायक द्वारा एक कठिन शर्त पूरी करके नायिका को जीतने के कथानक पर आधारित है। इतनी ही लोकप्रिय सम्भवतः **दो भाइयों की कहानी** थी। इनमें बड़ा विवाहित था और छोटा कुँआरा। बाद में बड़े भाई की पत्नी अपने देवर से प्रेम करने लगती है, लेकिन प्रतिदान न पाने पर अपने पति को उसके विरुद्ध बहका देती है। इस पर छोटा भाई अपनी जान बचाने के लिए घर छोड़कर भाग जाता है और जगह-जगह, अनेक दुस्साहस करता हुआ मारा-मारा फिरता है।

यह भी अपने ढंग की पहली ज्ञात कहानी है जिसमें कोई स्त्री प्रेम का प्रतिदान न पाने पर अपने प्रेमी को दण्ड देने पर उतारू हो जाती है।

कला

वास्तु कला

कार्नाक का मन्दिर—साम्राज्य-युग में मिस्रियों के पारलौकिक जीवन-सम्बन्धी विचारों में मूलभूत परिवर्तन उत्पन्न हो गये थे और फराओ के राज्य के प्रतीक होने में आस्था निर्बल हो गई थी, इसलिए अब फराओ के लिए अमर समाधियाँ—**पिरेमिड—बनाना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया।** लेकिन राज्य के अमरत्व और गौरव में उनकी श्रद्धा अब भी बनी हुई थी। जिसका प्रमाण उनके द्वारा निर्मित **मन्दिर** हैं। ये मन्दिर अधिकांशतः **कठोरतम पाषाण से बनाये गये हैं** और अत्यन्त **विशाल हैं**। कार्नाक का मन्दिर सम्भवतः **विश्व का विशालतम भवन** है। यह १३०० फुट—लगभग चौथाई मील—लम्बा है। इसका **मध्यवर्ती कक्ष १७०** फुट लम्बा और ३३८ फुट चौड़ा है। पेरिस का विशालकाय नोत्रेदाम चर्च भी इससे लघुतर ही है। इस कक्ष की छत छः पंक्तियों में बनाए गए **१३६ स्तम्भों पर** टिकी है जिनमें मध्यवर्ती बारह स्तम्भ ७९ फुट ऊँचे हैं और उनमें प्रत्येक के शीर्ष भाग पर सौ व्यक्ति खड़े हो सकते हैं। इतने विशाल कक्ष को विशालतर दिखाने के लिए इसकी छत को पृष्ठभाग की ओर क्रमशः नीची बनाया गया है। यह मन्दिर लगभग दो सौ वर्षों में बनकर तैयार हुआ था। इसके प्राचीनतम अंश सामन्ती युग के हैं और नवीनतम यूनानी युग के। लेकिन इसके मुख्य भाग को साम्राज्ययुग में ही निर्मित किया गया था। इनमें मध्यवर्ती कक्ष के अतिरिक्त **सम्राज्ञी हतशेपशुत के सूच्याकार-स्तम्भ और 'स्फिक्स-मार्ग'** (एवेन्यु ऑव स्फिक्स्) उल्लेखनीय हैं।

आबू सिम्बेल और लक्सोर के मन्दिर—मिस्री नूबिया में निर्मित आबू सिम्बेल का मन्दिर वस्तुतः एक गुहा-मन्दिर है। इसको सेती प्रथम और रेमेसिस द्वितीय ने बनवाया था। यह १७५ फुट लम्बा और ९० फुट ऊँचा है। इसका मध्यवर्ती कक्ष २० फुट ऊँचे आठ स्तम्भों पर आधारित है जिनके साथ ओसिरिस की १७ फुट ऊँची मूर्त्तियाँ बनी हैं। इसके द्वार पर चट्टान को काट कर बनाई गई फराओं की ६० फुट ऊँची चार मूर्त्तियाँ तक्षित हैं। **लक्सोर का मन्दिर** अमेनहोतेप तृतीय ने बनवाया था। अभाग्यवश वह इसे **पूरा नहीं करा पाया।** लेकिन इसका जो अंश मिलता है वह इसके **निर्माता की बृहदाकार प्रियता का ही नहीं, उसके प्रशंसनीय सौन्दर्य बोध का भी प्रमाण है।**

वस्तुतः इन सभी मन्दिरों की यह विशेषता है कि ये विशाल होने के साथ सुन्दर भी हैं। मिस्री कलाकारों ने कहीं भी **विशालता की वेदी पर सौन्दर्य, सन्तुलन अथवा सौष्ठव की हत्या नहीं की है।**

स्थापत्य

मन्दिरों के सौन्दर्य में वृद्धि करने के लिए मिस्रियों ने स्थापत्य का सहयोग भी लिया। उनके प्रत्येक मन्दिर का कोना कोना भाँति भाँति की मूर्त्तियों से सज्जित रहता था। उनकी इस युग की स्थापत्य कला मूलतः पिरमिड युग की स्थापत्य कला के सदृश है (पृ० ३५२)। लेकिन एक अन्तर है—इनकी विशालता में समय की गति और साम्राज्य प्रसार के साथ वृद्धि होती गई है। **थट्मोस तृतीय और रमेसिस द्वितीय की कठोर पाषाण-निर्मित मूर्तियाँ** तो आकाश को छूती हैं। सम्भवतः साम्राज्य प्रसार के साथ उनकी अहमन्यता में भी वृद्धि होती गई थी, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी कला में हुई है। लेकिन उनकी कुछ मूर्त्तियाँ कलात्मक दृष्टि से निश्चयतः अत्यन्त सुन्दर भी हैं। अमेनहोतेप तृतीय की बर्लिन संग्रहालय में सुरक्षित स्फिंक्स-प्रतिमा, और रेमेसिस द्वितीय की त्युरिन संग्रहालय में सुरक्षित मूर्ति इसका उदारहण है। **अखनाटन के** शासनकाल में हुई धार्मिक क्रान्ति से याथार्थिक मूर्त्तिकला को विशेष बल मिला। इसका सर्वोत्तम उदाहरण है उसकी चूना-पत्थर से बनी मूर्त्ति जो आजकल लूव्र संग्रहालय में रखी हुई है। इस पर उसके भावुक और संवेदनशील प्रकृति

चित्र० १०५ : साम्राज्य युग की एक नर्तकी

की छाप स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार उसकी रानी **नोफ्रेतीति** (पृ० ३६७) की बलुआ पत्थर और चूना पत्थर से बनी दो मूर्तियाँ उनके निर्माता कलाकारों की परम्परागत बन्धनों से मुक्ति का प्रमाण हैं।

अन्य कलाएँ

चित्रकला—मिस्र की चित्रकला के अधिकांश नमूने नष्ट हो चुके हैं, लेकिन जो शेष हैं, धार्मिक और राजनीतिक रूढ़ियों से अप्रभावित लगते हैं। ऐसा लगता है **मिस्र में चित्रकला का जन्म** पिरेमिड युग में हो जाने पर भी विकास काफी बाद में हुआ। इसलिए यह कला धर्म की परिधि से बाहर रह गई। मिस्री चित्रकला के **उपलब्ध नमूनों में सर्वोत्तम अख्नाटन के समय के** हैं। अख्नाटन के प्रकृति-प्रेम के कारण कला जगत् में याथार्थिक प्रवृत्ति को मिली प्रेरणा को इसका कारण माना जा सकता है। उसके समय के कलाकारों को भित्ति-चित्रों में बनैले वृषभ की कुदान, भयभीत हिरण की दौड़ और बत्तख का जल पर अनायास सन्तरण जैसे दृश्य अंकित करने में प्राप्त सफलता इसका प्रमाण है।

चि० १०६ : आठवीं शती ई० पू० की कांस्य की एक देवमूर्ति

अन्य ललित कलाएँ—चित्रकला के अतिरिक्त साम्राज्य-युगीन मिस्री अन्य अनेक ललित कलाओं में भी दक्ष हो चुके थे। **तूतेनखामेन की १९२२ ई० में उत्खनित समाधि से** अब से लगभग ३३०० वर्ष पूर्व छोड़े गए बहुमूल्य काष्ठ, चर्म और स्वर्ण निर्मित फर्नीचर उपकरण, आबनूस और हस्तिदन्त खचित बॉक्स, स्वर्ण और बहुमूल्य पाषाणों से सज्जित रथ, स्वर्ण-पत्र मण्डित सिंहासन, श्वेत पाषाण के सुन्दर भाण्ड तथा जरी के सुन्दर शाही वस्त्र, उपलब्ध हुए हैं। **इनसे** साम्राज्ययुगीन मिस्र की कलात्मक प्रगति और वैभव का पता चलता है।

मिस्रियों की सफलता और देन

मिस्री सभ्यता को विश्व-सभ्यता के इतिहास में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। मिस्रियों ने अन्य देशों से बहुत पहले संयुक्त-राज्य स्थापित करने और इसके आधार स्वरूप राजनीतिक दर्शन और क़ानूनों का विकास करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। भौतिक क्षेत्र में तो वे प्राचीन युग के अमेरिकनों के समान

थे। उन्होंने सिंचाई की सुन्दर व्यवस्था की, विशाल पिरेमिडों और मन्दिरों का निर्माण किया तथा पेपर, ग्लास और मृद्भाण्ड इत्यादि बनाने में निपुणता प्राप्त की। उनका कलाबोध अन्य जातियों से सर्वथा पृथक् था। उन्हें स्तम्भ-पंक्ति, तथा सूच्याकार-स्तम्भों इत्यादि का प्रयोग प्रारम्भ करने का श्रेय प्राप्त है। साइरियस के उदय पर आधारित उनका पंचांग अन्य समकालीन पंचांगों से श्रेष्ठ था। 'निकटपूर्व' के देशों की दृष्टि से वे दर्शन, लेखन-कला, साहित्य तथा गणित इत्यादि अनेक विद्याओं और शास्त्रों के जन्मदाता थे। उनका धर्म बहुदेववादी था परन्तु अख्नाटन के शासन काल में विश्वजनीन ऐकेश्वरवाद को विकसित करके इस क्षेत्र में भी वे अन्य जातियों से आगे निकल गये थे। वे ईश्वर की न्यायशीलता, मृत्यु के पश्चात् मिलने वाले कर्मफल तथा तत्सम्बन्धी अन्य अनेक सिद्धान्तों से परिचित थे। उनकी सदाचार की मध्य-राज्ययुगीन परिभाषा अन्य किसी भी जाति की परिभाषा से उत्तम थी। इन सब तथ्यों के प्रकाश में उन्हें, उनकी सीमाओं के बावजूद प्राचीन विश्व की सर्वाधिक प्रतिभाशाली जातियों में परिगणित किया जा सकता है।

खण्ड ३

ईजियन प्रदेश, यूनान और रोम

ईजियन प्रदेश

काला सागर

एशिया माइनर

भूमध्य सागर

मानचित्र ३

१४

ईजियन सभ्यता

Out in the deep, dark sea there lies a land called Crete,
A rich and lovely land, washed by the waves on every sides
And boasting ninety cities.
One of these cities king Minos ruled
And enjoyed the friendship of almighty Zeus.

—*The Odyssey.*

ईजियन प्रदेश का भूगोल

यूरोप में सभ्यता का आविर्भाव और विकास सर्वप्रथम इसके दक्षिण-पूर्व में स्थित ईजियन प्रदेश में हुआ। ईजियन समुद्र पूर्वी भूमध्यसागर का उत्तरी भाग है। इसका तट चारों ओर खाड़ियों के द्वारा खूब कटा-फटा हुआ है और उपयोगी बन्दरगाहों से पूर्ण है। इसके मध्य असंख्य छोटे-बड़े द्वीप हैं। भौगोलिक दृष्टि से इस प्रदेश को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—यूनान, क्रीट, साइक्लेड्स् (ईजियन समुद्र में डेलोस द्वीप के चारों ओर स्थित द्वीप समूह) तथा एशिया माइनर का पश्चिमी तट (मानचित्र ३)।

इस पृष्ठ के ऊपर क्रीट से प्राप्त परवर्ती-मिनोअन युग (१५००-१४०० ई० पू०) की एक हस्तिदन्त और स्वर्ण निर्मित लघुमूर्ति के शीर्ष भाग का चित्र दिया गया है। यह मूर्ति या तो किसी देवी की है अथवा किसी पुजारिण की।

यूनान

लगभग ४५,००० वर्गमील में विस्तृत यूनान बल्कान प्रायद्वीप का दक्षिण-पूर्वी भाग है। यूरोपियन देशों में यह एशिया और अफ्रीका के निकटतम है, इसलिए यहाँ के निवासियों को बैबिलोनिया, एशिया माइनर तथा मिस्र में उद्भूत होनेवाली साक्षर नागरिक सभ्यताओं के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। यूनान की भूमि उर्वर है, परन्तु उर्वर मैदान यत्र-तत्र बिखरे और पर्वतों से घिरे हैं। जिन स्थानों पर खेती सम्भव है, वहाँ गेहूँ, जौ, जैतून और अंगूर की पैदावार होती है। इसलिए रोटी, शराब तथा तेल यूनानियों का मुख्य भोजन रहे हैं।

लघु राज्यों में विभाजन—यूनान के पर्वत अधिक ऊँचे नहीं हैं परन्तु इनमें दर्रों का अभाव-सा है, इसलिए एक घाटी से दूसरी घाटी में जाना असम्भव न होते हुए भी मुश्किल होता है। इस भौतिक असुविधा के कारण सांस्कृतिक दृष्टि से एक होते हुए भी यूनान प्राचीन काल में अनेक लघु राज्यों में विभाजित रहा। यहाँ उस प्रकार की राष्ट्रीय एकता चौथी शताब्दी ई० पू० तक स्थापित नहीं हो पाई जैसी मिस्र में मिलती है। इस पार्थक्य से यूनानियों को लाभ भी हुए। राजनीतिक एकता के अभाव में यूनान में नगर-राज्य उद्भूत हुए जिनके नागरिकों को अपने राज्य के प्रति बहुत से कर्तव्यों का पालन करना होता था। इससे वे **कुशल राजनीतिज्ञ** तथा **नागरिक स्वतन्त्रता के प्रेमी** हो गए और युद्ध के समय अच्छे योद्धा तथा शान्ति काल में सत्य के दुर्दम्य **जिज्ञासु** सिद्ध हुए। इस मनोवृत्ति को यूनान की जलवायु से और बल मिला। यूनान यूरोप और अफ्रीका के मध्य अवस्थित है इसलिए यहाँ की जलवायु जाड़ों में यूरोप के समान रहती है तो गर्मियों में अफ्रीका के समान। ऐसी जलवायु में रहने के कारण यूनानियों की **वस्त्र और निवास स्थान की आवश्यकताएँ बहुत कम** हो गईं तथा कम मेहनत करके निर्वाह करना सम्भव हो गया। **इससे उनको अतिरिक्त समय** मिल सका जिसका उपयोग उन्होंने **कला और साहित्य की साधना में** किया।

समुद्र का प्रभाव—यूनान में पर्वतीय बाधा के कारण एक घाटी से दूसरी घाटी में जाना कठिन था और नदियाँ छोटी और आवागमन के लिए अनुपयुक्त थीं, इसलिए यूनानियों के लिए समुद्र **आवागमन का सर्वोत्कृष्ट माध्यम बन गया**। दूसरे, कृषिकर्म योग्य भूमि की कमी के कारण उनके लिए **उद्योग-धन्धों का आश्रय** लेना आवश्यक था और **उद्योग-धन्धों से** लाभ उठाने **के लिए विदेशों से व्यापार** सम्बन्ध स्थापित करना। इसलिए **हम** देखते **हैं** कि

प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० की प्रारम्भिक शताब्दियों में ही यूनानी सम्पूर्ण भूमध्य-सागरीय प्रदेश में अपने उपनिवेश स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

उत्तरी और मध्यवर्ती यूनान—यूनान को भौगोलिक दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है--उत्तरी, मध्यवर्ती तथा दक्षिणी। उत्तरी यूनान में **थ्रेस**, मेसीडोनिया तथा **एपिरस** सम्मिलित हैं। ये तीनों प्रदेश यूनान के अन्य प्रदेशों से विशालतर और प्राचीन काल में अपेक्षया पिछड़े हुए थे। **मेसीडोनिया** को तो चतुर्थ शताब्दी ई० पू० तक अर्द्ध-यूनानी माना जाता था। इसको १०,००० फुट ऊँचा ओलम्पस पर्वत **थेसली** से पृथक् करता था। मध्य-वर्ती यूनान के पूर्व में **योबिया द्वीप है** जिसका केल्सिस नगर प्रसिद्ध था। योबिया के दक्षिण-पश्चिम में **एट्टिका** प्रदेश था। इसकी भूमि उपजाऊ है। इस प्रदेश का सर्वप्रमुख नगर इतिहास प्रसिद्ध **एथेन्स** था। एट्टिका से उत्तर-पश्चिम में **बोयोतिया** प्रदेश था जिसका **थीबिज** नामक नगर अपनी प्राचीनता के लिए विख्यात था। बोयोतिया के पश्चिम में स्थित **फोसिस** प्रदेश में **डेल्फी का सुप्रसिद्ध मन्दिर** था। फोसिस के पश्चिम में **एतोलिया** और **एनिस** नाम के प्रदेश थे।

पेलोपोनेसस अथवा दक्षिणी यूनान--मध्यवर्ती यूनान को पेलोपोनेसस अर्थात् दक्षिणी यूनान से **कोरिंथ** की खाड़ी पृथक् और इसी नाम का भूडमरू-मध्य संयुक्त करता है। कोरिंथ के दक्षिण में **अर्गोलिस** नामक प्रदेश था जिसके **माइसिनी** और **टिरींस** नगरों को यूनान की सुप्रसिद्ध कांस्यकालीन सभ्यता को विकसित करने का श्रेय प्राप्त है। अर्गोलिस के पूर्व में **अर्केडिया** और दक्षिण में लेकोनिया प्रदेश थे। अर्केडिया के **टेगिया** और **मेगालोपोलिस** नगर प्रसिद्ध थे परन्तु जो ख्याति **लेकोनिया** के **स्पार्टा** नगर को मिली वह सम्भवतः उसके प्रति-द्वन्द्वी ऐथेन्स के अतिरिक्त यूनान के किसी अन्य नगर को नहीं मिल पाई। **स्पार्टा** के पूर्व में स्थित तेईगेटस पर्वत लेकोनिया को **मेसेनिया** से पृथक् करता था। मेसेनिया के उत्तर और अर्केडिया के पश्चिम में **एलिस** प्रदेश था जहाँ **ओलम्पिया** नामक स्थान पर सुप्रसिद्ध प्रतियोगिताएँ होती थीं। एलिस तथा अर्केडिया के उत्तर में कोरिंथ की खाड़ी के किनारे **एकिया** नाम का प्रदेश था।

क्रीट

क्रीट का महत्त्व—यूनान के दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में स्थित द्वीपों में इसके दक्षिण में स्थित **क्रीट** नाम का द्वीप विशालतम है। यह ईजियन समुद्र को भूमध्यसागर से पृथक् सा करता प्रतीत होता है। अफ्रीका के समुद्र तट से इसका कम से कम फासला १८० मील, नील के मुहाने से ३४० मील और

ट्रॉय से ११५ मील है। अपनी इस भौगोलिक स्थिति के कारण यह इन तीनों महाद्वीपों को मिलानेवाली सांस्कृतिक कड़ी के समान रहा है। इसीलिए ईजियन प्रदेश में साक्षर नागरिक सभ्यता का उद्भव भी सर्वप्रथम यहीं हुआ।

साइक्लेड्स्

ईजियन द्वीपसमूह एक झील के समान है। इसका विस्तार उत्तर से दक्षिण की ओर लगभग ४०० मील और पूर्व से पश्चिम की ओर औसतन २०० मील है। इसके मध्य असंख्य द्वीप हैं। इनमें **पेरोस, नेक्सोस, थेरा, सिफनोस** तथा **मेलोस** उल्लेखनीय हैं। ये परस्पर इतने निकट हैं कि प्राचीन काल में भी बहुधा एक द्वीप से दूसरे द्वीप में जाने में डेढ़ दो घण्टे से अधिक समय नहीं लगता था। वस्तुतः ईजियन समुद्र में यात्रा करते समय मार्ग में भूमि एक साथ कई ओर दिखाई देती है। इन द्वीपों में क्रीट के उत्तर और एट्रिका तथा पेलोपोनेसस के पूर्व में **डेलोस** नामक लघु द्वीप के चारों ओर बिखरे हुए द्वीप **'साइक्लेड्स्'** कहलाते हैं।

एशिया माइनर का पश्चिमी तट

ईजियन प्रदेश का चौथा अंग पश्चिमी एशिया माइनर का तटवर्ती प्रदेश है। यह भौगोलिक दृष्टि से एशिया का अंग है परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से प्राचीन काल में यूनानी जगत् के अन्तर्गत् था। प्रारम्भ में यह प्रदेश ईजियन-माइमिनी-सभ्यता के प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत आया। उस समय यहाँ का प्रमुखतम नगर **ट्रॉय** था जो हेलेस्पॉन्ट (दर्देदानियाल) होकर जानेवाले समुद्री मार्ग पर नियन्त्रण रखता था। कालान्तर में यहाँ अनेक यूनानी उपनिवेश स्थापित हुए जिनमें **एओलिस, आयोनिया,** तथा **केरिया** प्रसिद्ध हैं। इन उपनिवेशों के पूर्व में निवास करनेवाली **माइसियन, लीडियन,** तथा **लीसियन** जातियाँ भी यूनानी संस्कृति से प्रभावित थीं। पश्चिमी एशिया माइनर का समुद्र तट अत्यन्त कटा फटा और अनेक द्वीपों द्वारा सुरक्षित है। इनमें **इम्ब्रोस, लेमनोस, लेस्बोस, किओस, सेमोस** तथा **रोह्ड्स** द्वीप विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इतिहास जानने के साधन

साहित्य—यूनान के ऐतिहासिक युग का इतिहास उसके विशाल साहित्य में, विशेषतः **हेरोडोट्स, थ्यूसीडीडिज** तथा **एरिस्टोटल** जैसे विद्वानों के ग्रन्थों में सुरक्षित है। इसको **पुरातत्त्ववेत्ताओं, पुरालिपिशास्त्रियों** तथा **मुद्राशास्त्रियों** इत्यादि द्वारा की गई खोजों से संशोधित और परिवर्धित किया जा सकता है।

लेकिन उसके मध्यकाल और विशेषतः प्राचीन काल का अध्ययन करने के लिए अब से लगभग सौ वर्ष पूर्व तक मुख्यतः **होमर के इलियड और ओडेसी नामक महाकाव्यों** तथा अन्य लेखकों द्वारा यत्र-तत्र उल्लिखित प्राचीन अनुश्रुतियों और आख्यानों पर निर्भर रहना होता था। इनमें कुछ **आख्यान** जैसे ट्रॉय के राजकुमार पेरिस द्वारा हेलेन का अपहरण तथा क्रीट के राजा मिनोस द्वारा एक समुद्री साम्राज्य पर शासन इत्यादि में प्राचीन इतिहास की प्रतिध्वनि सुरक्षित थी, लेकिन विश्वसनीय साक्ष्य के अभाव में इनको कल्पनाप्रसूत मानकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था और यह विश्वास किया जाता था कि यूनान का इतिहास १२ वीं शताब्दी ई० पू० में लोहे का प्रयोग करनेवाली 'इण्डो-यूरोपियन यूनानी' जाति के आगमन से प्रारम्भ हुआ। लेकिन १८७० ई० के बाद हुई **पुरातात्विक खोजों से** यह सिद्ध हो गया है कि सुमेर, सिन्धु प्रदेश और मिस्र के समान ईजियन प्रदेश में भी एक साक्षर नागरिक सभ्यता प्रादुर्भूत हुई थी जो कई बातों में अन्य समकालीन सभ्यताओं से अधिक समुन्नत थी।

हेनरिख श्लीमान—ईजियन प्रदेश के प्राचीन इतिहास को प्रकाश में लाने का मुख्य श्रेय जर्मनी के एक व्यापारी हेनरिख श्लीमान (१८२२-९० ई०) को प्राप्त है। वह होमर के महाकाव्यों का प्रेमी था और पुरातत्त्व की सहायता से उनकी कथा को सत्य सिद्ध करना चाहता था। पेट्रोल के व्यापार में धन कमाने के उपरान्त उसने १८७१ ई० में एशिया माइनर में **ट्रॉय की खुदाई** प्रारम्भ की। एक वर्ष तक श्रम करने के बाद उसे स्वर्ण और रजत के आभूषणों का एक खजाना प्राप्त हुआ जिसे उसने 'प्रियाम का कोष' घोषित किया। इसके बाद तो वह एक के ऊपर एक दबे हुए ९ ट्रॉय नगरों को प्रकाश में लाने में सफल हुआ। १८७३ ई० में उसने एगामेम्नोन की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए यूनान में **माइसिनी में उत्खनन कार्य** किया। इस बार भी उसे आशातीत सफलता मिली। इसके पश्चात् १८८४ ई० में उसने **टिरींस के होमर द्वारा वर्णित राजप्रासाद और प्राचीर को खोद निकाला**। यद्यपि उसने अपने उत्साह की बाढ़ में बहकर अपनी खोजों से बहुत से गलत निष्कर्ष निकाल लिए थे, लेकिन उसने यह अवश्य सिद्ध कर दिया कि हमें अपने पूर्वजों द्वारा सुरक्षित आख्यानों में अपने सन्देह के प्रति भी सन्देहशील रहना चाहिये। उसके उदाहरण से हम भारतवासी बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

इवान्स और अन्य विद्वानों का कार्य—श्लीमान के पश्चात् उसके कार्य को यूनान में फ्रांस, इंग्लैण्ड तथा जर्मनी इत्यादि देशों के **वेस, वाल्डस्टीन, मुलर, ब्लेजन** तथा **डोर्पफेल्ड** इत्यादि विद्वानों ने जारी रखा। लेकिन ईजियन

पुरातत्त्व के इतिहास में श्लीमान के बाद **डॉ० आर्थर इवान्स** को सम्भवतः सर्वाधिक ख्याति मिली। इवान्स ने अपनी खोज क्रीट के उस स्थल से प्रारम्भ की जिसे श्लीमान ने १८८६ ई० में प्राचीन युग का **नोसोस** घोषित किया था और श्लीमान का अनुमान सही निकला। इसके बाद तो यूरोप के अनेक देशों के पुरातत्त्ववेत्ता और इतिहासकार क्रीट की ओर दौड़ पड़े और उनके सम्मिलित प्रयास से फे स्टास, वासिलिकी, मोक्लोस, गूर्निया तथा अन्यान्य स्थलों में दबे हुए ईजियन सभ्यता के प्राचीन भौतिक अवशेष उसके निर्माताओं की सफलता की कथा सुनाने को विवश हो गये।

ईजियन तिथिक्रम निश्चित करने की विधि—ईजियन जगत् के चारों प्रदेशों—क्रीट, साइक्लेड्स्, यूनान तथा एशिया माइनर—से जो कास्यकालीन साक्षर नागरिक सभ्यता प्रकाश में आई, उसका तिथिक्रम निश्चित करना **अभिलेखों के न पढ़े जा सकने के कारण** बड़ा दुष्कर रहा है। इस विषय में **इवान्स** ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उसने क्रीट से प्राप्त अवशेषों का स्तृत-विभाजन और मृद्भाण्ड कला के विकास के आधार पर **सापेक्ष तिथिक्रम निश्चित करके उसे तीन मुख्य युगों—प्राचीन, मध्यवर्ती और परवर्ती—में बाँटा** और फिर इन तीनों को तीन-तीन उपयुगों में। इन्हें यूनानी आख्यानों में उल्लिखित क्रीट के राजा मिनोस के नाम पर 'मिनोअन' कहा जाता है। इस **सापेक्ष तिथिक्रम में उन्होंने ईजियन और मिस्री सभ्यताओं के पारस्परिक सम्पर्क की ज्ञात तिथियों की सहायता से निश्चित तिथियाँ स्थापित कीं।** उदाहरण के लिए परवर्ती-मिनोअन युग का तीसरा अथवा अन्तिम भाग मिस्र के के १८ वें वंश के अन्त के पूर्व प्रारम्भ हुआ क्योंकि अख्नाटन के राजप्रासाद से मिले ईजियन पात्र इसी युग के हैं। इसी प्रकार थट्मोस तृतीय तथा हतशेप-शुत के दरबार में ईजियन दूत जो पात्र लाए थे वे परवती-मिनोअन युग के प्रारम्भ के हैं। इस प्रकार यत्र-तत्र मिलने वाले संकेतों की सहायता से मिनोअन सभ्यता के तिथिक्रम की स्थूल रूपरेखा बन गई। इससे इसके और इनकी सहायता से यूनान साइक्लेड्स् तथा ट्रॉय के अवशेषों की ऐतिहासिक मीमांसा करना सम्भव हो गया। ईजियन प्रदेश का इस विधि से नवीनतम शोधों के प्रकाश में निर्धारित स्थूल तिथिक्रम पृष्ठ ३९३ की तालिका में प्रस्तुत किया गया है।

ईजियन सभ्यता का इतिहास मुख्यतः भौतिक अवशेषों पर आधारित होने के कारण इसके राजनीतिक घटनाक्रम का विवरण देना असम्भव है। लेकिन उपर्युक्त तिथिक्रम के आधार पर, यूनानी आख्यानों से यत्र-तत्र सहायता लेते हुए इसके उत्थान और पतन की मुख्य धाराओं की रूपरेखा जानी जा सकती है।

क्रीट	साइक्लेड्स्	यूनान	ट्रॉय
नव-पाषाण काल का अन्त ३०००	नव-पाषाण काल का अन्त ३०००	नव-पाषाण काल का अन्त ३०००	नव-पाषाण काल का अन्त ३०००
प्राचीन-मिनोअन (प्रथम) ३०००-२३०० प्राचीन-मिनोअन (द्वितीय) २३००-२१०० प्राचीन-मिनोअन (तृतीय) २१००-२०००	प्राचीन-साइक्लेडिक ३०००-२०००	प्राचीन-हेलेडिक (यूनानी) ३०००-१९००	ट्रॉय (१) ३०००-२४०० ट्रॉय (२) २४००-२२०० ट्रॉय (३-५) २२००-१९००
मध्य-मिनोअन (प्रथम और द्वितीय) २०००-१७०० मध्य-मिनोअन (तृतीय) १७००-१६००	मध्य-साइक्लेडिक २०००-१६००	मध्य-हेलेडिक (यूनानी) १९००-१६००	ट्रॉय (६-७ अ) १९००-१५००
परवर्ती-मिनोअन (प्रथम और द्वितीय) १६००-१४०० परवर्ती-मिनोअन (तृतीय) १४००-११५०	परवर्ती-साइक्लेडिक १६००-११४०	परवर्ती-हेलेडिक (प्रथम) १६००१-६०० परवर्ती-हेलेडिक (द्वितीय) १५००-१४०० परवर्ती-हेलेडिक (तृतीय) १४००-११५०	

इस तालिका की सब तिथियाँ ई० पू० में हैं और सत्य के पर्याप्त समीप मानी जा सकती हैं। भविष्य में ज्ञात तथ्यों के प्रकाश में इनमें संशोधन करना सदैव अनिवार्य रहेगा।

उत्थान और पतन

नव-पाषाण काल—पूर्व-पाषाण काल में ईजियन प्रदेश में मनुष्यों के निवास करने का कोई चिह्न नहीं मिलता। लेकिन नव-पाषाणकालीन अवशेष, साइक्लेड्स् में कम परन्तु यूनान में थेसली से लेकर पेलोपोनेसस तक, ट्रॉय प्रथम के नीचे तथा क्रीट में नोसोस के समीप मिले हैं। इस नव-पाषाणकालीन संस्कृति के निर्माता पॉलिश किए हुए पाषाणोपकरण, मिट्टी की मूर्त्तियाँ, धागा कातने की तकलियाँ, करघे तथा हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड बनाते थे, कृषिकर्म से परिचित थे तथा मातृशक्ति की उपासना करते थे। इस संस्कृति की तिथि आजकल प्रायः ६०००-३००० ई० पू० मानी जाती है।

प्राचीन-युग

प्राचीन-मिनोअन, हेलेडिक और साइक्लेडिक युग तथा पहले पाँच ट्रॉय—क्रीट में ताम्र-युग ३००० ई० पू० के आस पास प्रारम्भ हुआ। **प्राचीन-मिनोअन युग** के अन्त तक इसके निवासी ताम्र में टिन मिलाकर कांस्य बनाना और एक चित्राक्षर-लिपि में लिखना सीख चुके थे। **यूनान में** नव-पाषाण काल का अन्त लगभग तभी हुआ जब क्रीट में। लेकिन यहाँ के निवासियों को धातु के प्रयोग का ज्ञान सम्भवतः दक्षिण-पश्चिमी एशिया माइनर से आने वाली किसी आर्येतर जाति के आगमन के कारण हुआ था। यह जाति क्रीट और साइक्लेड्स् के तत्कालीन निवासियों से मिलती-जुलती थी लेकिन उसकी सभ्यता समकालीन क्रीट की सभ्यता से हीनतर थी। यही बात **साइक्लेड्स्** के विषय में कही जा सकती है। जहाँ तक **ट्रॉय** का सम्बन्ध है, प्रारम्भिक-काँस्य युग में यह नगर पाँच बार बना और नष्ट हुआ। ट्रॉय प्रथम (३००० ई० पू० ?) वस्तुतः एक नगर न होकर अपरिष्कृत पाषाण-खण्डों की प्राचीर से सुरक्षित दुर्ग मात्र था जिसके शासक हेलेस्पॉट के स्वामी होने के कारण एशिया और यूरोप के व्यापार पर चुंगी लगाकर समृद्ध होते जा रहे थे। ट्रॉय द्वितीय के दुर्ग का घेरा भी केवल चौथाई मील था लेकिन इसकी प्राचीर मोटी और तोरणयुक्त थी। इसका सबसे बड़ा मकान, जो राजप्रासाद रहा होगा ६० × ३३ फुट क्षेत्रफल में बना हुआ था। यह नगर २२०० ई० पू० के लगभग आग से जलकर नष्ट हो गया। इसके बाद १९०० ई० पू० तक यह तीन बार निर्मित और विनिष्ट हुआ।

मध्य-युग

मध्य-मिनोअन युग—मध्य-काँस्य युग में **क्रीट की सभ्यता** में बहुत उन्नति हुई, यद्यपि यह प्रकृत्या प्राचीन-मिनोअन युगीन सभ्यता का ही विकसित रूप थी। इसकी **निर्माता जाति** भी वही प्रतीत होती है। इसके शासकों ने मध्य-मिनोअन (प्रथम) में फेस्टॉस तथा मल्लिया में अपने लिए अनेक विशाल-कक्षयुक्त भव्य **प्रासादों**, खाद्य सामग्री रखने के लिये भण्डारगृहों, अपने कारीगरों के लिए फैक्टरियों और मन्दिरों का निर्माण कराया। इनमें गन्दे पानी को निकालने के लिए नालियों की समुचित व्यवस्था थी। उनके बहुरंगे और तिरछी, वर्तुल और **सर्पिल रेखाओं से सज्जित चक्र-निर्मित मृद्भाण्ड** और **भित्तिचित्र** मनोहर थे और उन्होंने अपनी चित्राक्षर-लिपि से एक रेखा-लिपि (लाइनियर ए) को विकसित कर लिया था। लेकिन **मध्य-मिनोअन (द्वितीय)** के अन्त में उनके ऊपर भूकम्प जैसी कोई भारी विपत्ति आई जिसके कारण पहले नोसोस और उसके कुछ बाद फेस्टॉस, मोक्लोस तथा गूर्निया इत्यादि के राज-प्रासाद भस्मीभूत हो गये, मृद्भाण्ड धूम्रालिप्त हो गये और उनमें ईंट-मिट्टी भर गई। **मध्य-मिनोअन (तृतीय)** अपेक्षया ह्रास का युग था।

मध्य-साइक्लेडिक और हे लेडिक युग तथा छठे ट्रॉय की स्थापना—मध्य-मिनोअन युग में **साइक्लेड्स् क्रीट** के प्रभाव के अन्तर्गत रहे और **ट्रॉय** में छठे नगर का आविर्भाव हुआ। यूनान में **मध्य हे लेडिक** का प्रारम्भ कुछ देर से, १९०० ई० पू० के लगभग, हुआ। इस समय यहाँ इण्डो-यूरोपियन यूनानियों की पहली लहर प्रविष्ट हुई। परवर्ती डोरियन यूनानियों से, जिन्होंने यूनान की कांस्यकालीन सभ्यता का अन्त किया, पृथक् करने के लिए इन्हें 'एकियन' कहा जाता है। पिछले दशक के पूर्व तक यह निश्चितरूपेण ज्ञात नहीं था, लेकिन वेन्ट्रिस द्वारा माइसिनी की रेखा-लिपि (लाइनियर बी) पढ़ लिए जाने के कारण अब यह निर्विवाद तथ्य हो गया है कि ऐतिहासिक यूनानियों की पहली शाखा—**एकियन**—१९०० ई० पू० के लगभग यूनान में प्रविष्ट हो चुकी थी। उनकी शक्ति के केन्द्र माइसिनी, टिरींस, पाइलोस, थीबिज, ईजिना तथा एथेंस आदि नगर थे। उनकी सभ्यता पर क्रीटी सभ्यता की छाप स्पष्ट है। एकियनों का उल्लेख ही सम्भवतः हित्ती अभिलेखों में **'अहिजावा'** और मिस्री अभिलेखों में **'एकईवश'** नामों से हुआ है।

परवर्ती-युग

परवर्ती मिनोअन युग—मध्य-मिनोअन युग के पश्चात् क्रीट में **सांस्कृतिक पुनर्जागरण** का युग आता है। इस युग में नोसोस, फेस्टॉस, टाइलिस, स
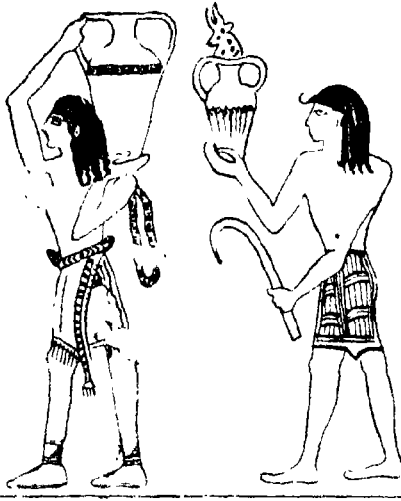
चि० १०८ : फराओ की सेवा में बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट-स्वरूप लाते हुए दो 'केफ्टिऊ' (क्रीटवासी); थीबिज में प्राप्त एक भित्ति-चित्र

हेगिया ट्रियाडा तथा गूर्निया में **भव्य प्रासादों का निर्माण** हुआ, लगभग समस्त क्रीट में **राजनीतिक एकता** स्थापित हुई और सम्भवतः पड़ोसी प्रदेशों ने भी नोसोस के आधिपत्य को स्वीकृत किया। नोसोस की **भौतिक समृद्धि,** फेस्टॉस और हेगिया ट्रियाडा के राजप्रासादों की नोसोस के राजप्रासाद से सादृश्यता तथा साइक्लेड्स् और यूनान पर क्रीट की सभ्यता का प्रभाव इसका प्रमाण है। **एक यूनानी आख्यान में मिनोस के एथेंस जीतने का उल्लेख है।** इसके अनुसार मिनोस की पत्नी पेर्सीफे पोसिडोन नामक देवता के शाप के कारण दैवी वृषभ से प्रेम करने लगी जिसके परिणामस्वरूप उसके गर्भ से **मिनोटोर**—नरमुख-वृषभ—का जन्म हुआ। मिनोस ने उसे देदालस द्वारा निर्मित भूलभुलइयाँ (लेबाइरिंथ) में कैद कर दिया। इसके बाद उसने एथेंस जीतकर उसके राजा को प्रति नवें वर्ष सात युवक और इतनी ही युवतियाँ मिनोटोर की क्षुधा शान्त करने के लिए देने को विवश किया। भेंट की तीसरी किश्त में एथेंस नरेश ईजियस का पुत्र **थीसियस** मिनोटोर का वध करने के इरादे से गया। उसको देखकर मिनोस की पुत्री एरियाड्ने मोहित हो गई। उसने थीसियस को जादू की तलवार दी और यह बताया कि भूलभुलइयाँ में जाते समय अपनी बाँह से एक धागे को छोड़ते जाने पर प्रत्यागमन के समय उसे पकड़कर लौटा जा सकता है। थीसियस अपने इरादे में सफल हुआ, मिनोटोर का वध हुआ और एरियाड्ने थीसियस के साथ क्रीट से भाग आई। मार्ग में थीसियस ने अपने वचन को पूरा करने के हेतु उससे विवाह किया, परन्तु रात में उसे अकेली छोड़कर भाग गया।

परवर्ती मिनोअन युग के नरेशों के **मिस्र और अन्य अनेक देशों के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध थे।** उनके मृद्भाण्डों का उपयोग मिस्री सम्राट उसी

प्रकार गर्व के साथ करते थे जैसे कोई आधुनिक धनी भारतीय अंग्रेजी 'क्रॉकरी' का। १८ वें वंश के अनेक राजाओं के लिए 'केफ्टिऊ' (क्रीट) और 'महान् समुद्र' (ईजियन) के 'महान् राजा' (मिनोस) ने बहुमूल्य भेंट भेजी थी जिन्हें मिस्री कलाकृतियों में सगर्व चित्रित किया गया है (चि० १०८, १०९)। लेकिन १४५० ई० पू० के आस-पास क्रीट निवासियों को यकायक किसी भारी विपत्ति का पुनः सामना करना पड़ा। इस समय के लगभग फैस्टॉस, हेगिया ट्रियाडा तथा टाइलिसस् के भव्य भवन भस्मीभूत हुए तथा नोसोस को माइसिनी के एकियनों ने अधिकृत कर लिया। १४०० ई० पू० के लगभग खुद **नोसोस का भी विनाश** हो गया। इसके राजप्रासाद के अवशेषों पर उसके जलाए जाने के चिह्न—जले हुए शहतीर, काली

चि० १०९ : थीबिज के भित्ति-चित्रों में अंकित एक 'केफ्टिऊ' का चित्र

दीवारें, आग में पकी हुई मिट्टी की पाटियाँ जिन पर अभिलेख उत्कीर्ण हैं—इसके साक्षी हैं। इस विनाश का कारण भूकम्प अथवा शत्रु का आक्रमण नहीं वरन् क्रीटवासियों का **एकियनों के विरुद्ध विद्रोह** रहा होगा। इसके कुछ बाद ही गूर्निया, जेक्रो तथा पेलेकास्ट्रो का भी विध्वंस हो गया।
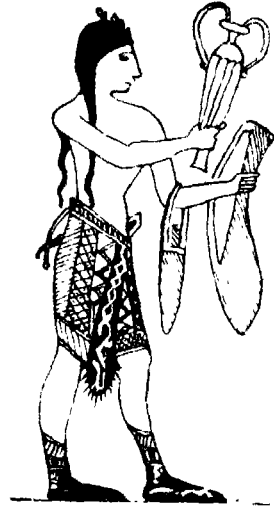
नोसोस के विनाश से क्रीट की सभ्यता समूल नष्ट हो गई हो, ऐसी बात नहीं है। क्रीट में इसके बाद भी राजप्रासादों का निर्माण हुआ और उद्योग-धन्धे पनपे, लेकिन वे हीनतर कोटि के थे। १४वीं और १३वीं शताब्दी ई० पू० में क्रीट का अधिकाधिक ह्रास होता गया। इलियड में उल्लिखित ट्रॉय पर हुए आक्रमण के लिए जब सेना संगठित की गई थी तब पाइलोस ने ९०, अर्गोलिस ने १८० और थेसली ने २२० जहाज दिये थे, जब कि क्रीट ने कुल ८०। इससे ११८४ ई० पू० तक क्रीट की शक्ति दुर्बल हो जाने का संकेत मिलता है। १२ वीं शती ई० पू० के अन्त में—यूनानी अनुश्रुतियों के अनुसार ११०४ ई० पू० में—यूनान पर आधिपत्य स्थापित करने के बाद **यूनानियों की डोरियन नाम की शाखा क्रीट में भी बस गई**। इस प्रकार कांस्यकालीन क्रीट शनैः शनैः इतिहास के रंगमंच से विलुप्त हो गया।

परवर्ती साइक्लेडिक युग और छठे ट्रॉय का उत्कर्ष एवं विनाश—

परवर्ती-मिनोअन युग में **साइक्लेड्स्** प्रारम्भ में क्रीट के सांस्कृतिक और सम्भवतः राजनीतिक प्रभुत्व के अन्तर्गत रहे। १४०० ई० पू० के पश्चात्, क्रीट का पतन होने पर उन पर परवर्ती हेलेडिक (माइसिनी) सभ्यता का अधिकाधिक प्रभाव पड़ने लगा। **ट्रॉय के इतिहास में यह युग छठे नगर के चरमोत्कर्ष का है।** श्लीमान की मृत्यु के पश्चात् इस नगर का उत्खनन डोर्पफेल्ड ने किया और परिष्कृत पाषाण-खण्डों से निर्मित पर्याप्त भव्य भवन, चार द्वारों से युक्त प्राचीर तथा माइसिनी से प्राप्त मृद्भाण्डों का प्रकाशन किया। आजकल अधिकांश विद्वान् इसी को इलियड का ट्रॉय मानते हैं। यूनानी परम्पराओं के अनुसार इसे यूनानियों ने इसके राजकुमार पेरिस द्वारा हेलेन का अपहरण कर लेने पर **११८४ ई० पू० में** ध्वस्त कर दिया था। इस घटना के आधार पर ही होमर ने 'इलियड' महाकाव्य की रचना की थी। पुरातात्त्विक दृष्टि से भी इसका विनाश १२०० ई० पू० के लगभग हुआ था, यद्यपि ब्लेजन ने इसका अन्त १३०० ई० पू० में रखा है और इसके बाद बसने वाले नगर (७ अ) को इलियड का ट्रॉय माना है।

परवर्ती-हेलेडिक (माइसिनी) युग

परवर्ती-हेलेडिक अथवा यूनानी (प्रथम) सभ्यता मध्य-हेलेडिक युग की एकियन सभ्यता का ही विकसित रूप थी। इस युग में इसका मुख्य केन्द्र **माइसिनी** था जो अपनी भौगोलिक स्थिति और व्यापारिक सुविधाओं के कारण और सम्भवतः इसके निकट स्थित ताम्र की खानों के कारण शनैः शनैः अधिकाधिक धनी और शक्तिशाली होता गया। मध्य-हेलेडिक युग के अन्त में इस पर जो नरेश राज्य कर रहे थे उन्हें, उनकी समाधियों को आधुनिक काल में दिए गए नाम पर, **'शाफ्ट ग्रेव' वंश** का कहा जाता है। इन समाधियों से श्लीमान को अत्यन्त बहुमूल्य आभूषण मुकुट, स्वर्णपत्र की नकाबें, कांस्य की स्वर्णखचित कृपाणें, स्वर्ण-वक्षस्त्राण तथा अन्य अनेक बहुमूल्य उपकरण मिले। शायद विश्व के किसी अन्य कांस्यकालीन स्थल से इतना मूल्यवान कोष प्राप्त नहीं हुआ है। इन समाधियों के राजाओं ने लगभग १५०० ई० पू० तक शासन किया। उनके बाद माइसिनी की सत्ता उन राजाओं के हाथ में आई जिन्हें उनकी समाधियों के ही नाम पर **'थोलोस टूम्ब' वंश** (१५००-१४०० ई० पू०) का कहा जाता है। उनके शासन काल में यूनान क्रीट की संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित हुआ और एकियनों ने मिनोअनों की 'लाइनियर ए' लिपि को कुछ सुधार कर अपनाया। इस संशोधित लिपि को **'लाइनियर बी'** कहा जाता है। उनका

शासनकाल माइसिनी सभ्यता के चरमोत्कर्ष का काल था। १४५० ई० पू० के लगभग क्रीट में भूकम्प आया जिसका लाभ उठाकर माइसिनियनों ने **नोसोस को अधिकृत कर लिया**। इसका संकेत इस युग में मिनोअन सभ्यता पर माइसिनी सभ्यता के तत्वों—भित्ति-चित्रों में युद्ध के दृश्यों की भरमार, वास्तु-कला में माइसिनी ढंग के स्तम्भों का प्रयोग तथा माइसिनी ढंग की समाधियों का मिलना है। दूसरे, नोसोस से इस युग में 'लाइनियर बी' लिपि में लिखे यूनानी भाषा के अभिलेख मिलते हैं। यह उन पर यूनानी एकियनों के आधि-पत्य का अकाट्य प्रमाण है। परवर्ती हे`ले`डिक (द्वितीय) के अन्त में, अर्थात् पन्द्रहवीं शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध में, माइसिनी पूर्वी **भूमध्यसागरीय-प्रदेश का राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र** बन गया। इसका यह गौरव **परवर्ती हे`ले`डिक (तृतीय) में भी** बना रहा। उस समय इसके मिस्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुए। अख्नाटन की राजधानी अख्टाटन से माइसिनी मृद्भाण्ड प्रचुर मात्रा में मिले हैं। इसके अतिरिक्त मेलोस, थेरा, रोहड्स, मिलेटस तथा साइप्रस में उसके उपनिवेश थे और उसके व्यापारी पश्चिम में इटली तक अपने जलपोत भेजते थे।

लेकिन नोसोस पर माइसिनी का प्रभुत्व अधिक समय तक नहीं रहा। १४०० ई० पू० के लगभग नोसोस भस्मीभूत हुआ। इसका कारण शायद स्थानीय जनता का विद्रोह था (पृ० ३९७)। लेकिन इससे 'थोलोस ट्रम्ब' वंश की शक्ति कम नहीं हुई। १३५० ई० पू० के लगभग उसने दुर्ग (एक्रोपोलिस) का पुनर्निर्माण कराया और २३ फुट मोटी तथा ६० फुट ऊँची पाषाण-प्राचीर निर्मित कराई। इसमें दो द्वार थे जिनमें एक सुप्रसिद्ध **'सिंहद्वार'** (लो`यन गेट) था। इस दुर्ग में सर्वोच्च स्थल पर **नया राजप्रासाद** बनवाया गया। माइसिनी का इस प्रकार पुनर्निर्माण करवाने वाले नरेश का नाम ज्ञात नहीं है, लेकिन उसकी समाधि को यूनानी आख्यान में उल्लिखित एक परवर्ती नरेश एत्रियस के नाम पर 'एत्रियस का कोष' कहा जाने लगा है। इस अज्ञात नरेश का वंश १३ वीं शताब्दी ई० पू० के अन्त तक शासन करता रहा। १२१० ई० पू० में इसके प्रमुख भवन जला दिये गये। यूनानी अनुश्रुतियों के अनुसार इस समय के लगभग उत्तराधिकार के प्रश्न पर एत्रियस और थाइस्टीज नामक भाइयों में संघर्ष हुआ था। इसे विनाश के इन चिह्नों का कारण माना जा सकता है। एत्रियस का उत्तराधिकारी ही इतिहास-प्रसिद्ध एगामेम्नोन था जिसके नेतृत्व में एकियनों ने ट्रॉय को विध्वंस्त (११८४ ई० पू०) किया। थ्यूसीडीडिज के अनुसार ट्रॉय के युद्ध के ८० वर्ष वर्ष बाद अर्थात् ११०४ ई० पू० में **'हेराक्लीड'**

के नेतृत्व में डोरियनों ने दक्षिणी यूनान को अधिकृत कर लिया। यह जाति एकियनों के समान इण्डो-यूरोपियन (आर्य) परिवार की सदस्या थी और लोहे के उपयोग से परिचित थी। आधुनिक इतिहासकार उसके आगमन को 'आक्रमण' कहते हैं लेकिन यूनानी अनुश्रुतियों में इसे 'हेराक्लिज के वंशजों का प्रत्यागमन' कहा गया है। उसके प्रादुर्भाव से ईजियन प्रदेश में लौह युग का सूत्रपात हुआ। माइसिनी और अन्य राज्यों के एकियन नरेश मार डाले गये, उनके नगर विध्वस्त कर दिए गए और देश की संस्कृति के भौतिक वैभव को गहरा धक्का पहुँचा। अगली साढ़े तीन शताब्दियों (लगभग ११००-७५० ई० पू०) में जिन्हें इतिहासकार यूनान का **'मध्य काल'** कहते हैं, यूनान के निवासी मिनोअन-माइसिनी संस्कृति के अनेक तत्त्वों को भुला बैठे, लेकिन कुछ को उन्होंने आत्मसात करने में भी सफलता प्राप्त की। यह जातीय और सांस्कृतिक सम्मिश्रण कालान्तर में यूनान की महान् 'क्लासिकल' सभ्यता की आधार-शिला बना।

माइसिनी सभ्यता मूलतः मिनोअन सभ्यता पर आधृत थी, यद्यपि एकियनों की अपनी परिस्थिति और जातीय विशेषताओं के अनुरूप इसके स्वरूप में कुछ अन्तर आ गया था। **माइसिनी धर्म** इसका उदाहरण है। मिनोअनों के समान माइसिनियन भी महामातृशक्ति और उसके पुत्र के उपासक थे, लेकिन उनके 'लाइनियर बी' अभिलेखों में परवर्ती यूनानी देवता पोसिडोन, एथेना तथा अपोलो आदि का उल्लेख भी हुआ है। वे अपने पूर्वजों की भी उपासना करते थे, जिससे कालान्तर में **वीरोपासना** (हीरो वर्शिप) का विकास हुआ।

ईजियन सभ्यता के निर्माता

ईजियन प्रदेश की कांस्यकालीन सभ्यता के इतिहास से स्पष्ट है कि इसका प्रमुख केन्द्र क्रीट था, यद्यपि बाद में नोसोस की शक्ति घटने पर यूनान के माइसिनी नगर की प्रतिष्ठा समस्त पूर्वी-भूमध्यसागरीय प्रदेश में सर्वोच्च हो गई थी। साइक्लेड्स् की संस्कृति प्रारम्भ में क्रीट द्वारा प्रभावित रही और बाद में माइसिनी द्वारा। ट्रॉय पर क्रीट, माइसिनी और हित्ती, इन तीनों सभ्यताओं का प्रभाव पड़ा और खुद यूनानी ये कभी निश्चित नहीं कर पाए कि ट्रॉय निवासी यूनानी थे अथवा एशियाई।

ईजियन सभ्यता के निर्माता इण्डो-यूरोपियन यूनानी नहीं—ईजियन सभ्यता के उद्गम और निर्माताओं के अभिज्ञान के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है। इतना निश्चित है कि इसके विकास में नव-पाषाण काल

से लेकर काँस्य काल तक कोई विघ्न नहीं पड़ा। इसलिए इस प्रदेश की नव-पाषाणकालीन जाति ही कांस्यकालीन सभ्यता की निर्माता रही होगी। यह जाति कौन-सी थी? कुछ विद्वानों ने यह सुझाव रखा है कि यह श्रेय आर्यों अथवा **इण्डो-यूरोपियनों** को दिया जाना चाहिए। लेकिन यह विचार त्याज्य है क्योंकि ईजियन सभ्यता के निर्माता अगर आर्य थे और नव-पाषाण काल से ही क्रीट में रह रहे थे, तब क्रीट को आर्यों का आदि देश मानना आवश्यक हो जायगा जो सर्वथा अस्वीकार्य धारणा होगी। वास्तव में आर्य जाति का ईजियन प्रदेश में प्रवेश सर्वप्रथम १९०० ई० पृ० के लगभग एकियनों के रूप में हुआ। उसने यूनान की माइसिनी सभ्यता का निर्माण किया था, मिनोअन सभ्यता का नहीं।

मिस्र और एशिया माइनर से सम्बन्ध—ईजियनों की कलाकृतियों से संकेतित है कि वे मिस्रियों के समान कत्थई रंग और काले बालों वाली भूमध्यसागरीय जाति के सदस्य थे। **इवान्स** का विचार था कि मिस्रियों की एक शाखा ही मेनिज के शासन काल में हुई उथल-पुथल के कारण नील के मुहानेवाले प्रदेश से आकर क्रीट में बस गई थी। बाद में **सरगी, हॉल, मेकेंजी** तथा **क्रेश्मर** इत्यादि विद्वानों ने इस सुझाव का पूर्णतः अथवा अंशतः समर्थन किया। **स्पेंग्लर** तो ईजियन सभ्यता को मिस्री सभ्यता की शाखा मात्र मानता था। ईजियनों का प्राचीन अफ्रीका में मिलने वाली एक विशिष्ट लुंगी बाँधना, यूनान और इटली में अब भी ऐसे लोगों का मिलना जो जातीय दृष्टि से ट्यूटनों और स्लावों की तुलना में प्राचीन मिस्रियों के निकटतर हैं, क्रीट के धर्मचिह्न—दोहरे परशु—का प्राग्वंशीय मिस्र में तावीज के रूप में मिलना, प्राचीन मिनोअन (प्रथम) के ताम्रोपकरणों का प्राग्वंशीय मिस्री उपकरणों के सदृश होना और दोनों देशों की कलाकृतियों में सादृश्य इस मत के आधार कहे गए हैं। लेकिन **ईजियनों का घनिष्ठ सम्बन्ध मिस्र से ही नहीं एशिया माइनर से भी लगता है**। दोनों देशों के लोग मिट्टी की पाटियों पर लिखते थे और मातृशक्ति, उसके प्रेमी देवता, स्तम्भ और वृषभ की उपासना करते थे। परवर्ती यूनानी क्रीट की मातृदेवी को फ्रीगिया की मातृदेवी से अभिन्न मानते थे। एशिया माइनर के केरिया प्रदेश में तो 'दोहरे परशु' वाले जियस (देवराज) को ही विशेष मान्यता प्राप्त थी। वहाँ उसका यह आयुध लेब्राइस कहलाता था। नोसोस के राज-प्रासाद में स्थान-स्थान पर यह चिह्न बना था। हो सकता है इसी कारण वह कालान्तर में 'लेबाइरिंथ' नाम से विख्यात हो गया हो। लेकिन स्पष्टतः इन सादृश्यताओं के कारण क्रीट की सभ्यता को मिस्री अथवा हित्ती सभ्यताओं का

संशोधित रूप नहीं माना जा सकता। निश्चित रूप से इस सभ्यता का **अपना वैशिष्ट्य** था जिसके कारण यह अपनी पड़ोसी सभ्यताओं से सर्वथा पृथक् हो गई थी। उदाहरणार्थ मिस्री कला की विशेषता विशालता है, ईजियन कला की लघुता। मिस्री कला के प्रतीक पिरेमिड हैं, ईजियन कला के प्रतीक हैं राज-प्रासाद। मिस्री सभ्यता के निर्माता प्रकृत्या समष्टिवादी थे, ईजियन नागरिक व्यक्तिवादी। ऐसा प्रतीत होता है कि **ईजियन सभ्यता ने भी उसी समान नव-पाषाणकालीन संस्कृति के तत्वों को उत्तराधिकार में प्राप्त किया था जिनसे पूर्वी-भूमध्यसागर के अन्य देशों की सभ्यताएँ विकसित हुई थीं।** जो भी रहा हो, इतना निश्चित है कि ईजियन सभ्यता अन्य सभ्यताओं से सादृश्य रखते हुए भी तत्वतः भिन्न थी।

ईजियन कला

ईजियन कला की विशेषताएँ—ईजियन सभ्यता का सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक ज्ञात पक्ष कला है। यह **अन्य समकालीन सभ्यताओं की कला परम्पराओं से प्रकृत्या भिन्न थी।** उदाहरणार्थ असीरिया और मिस्र की कलाएँ राज्य और धर्म के गौरव की अभिव्यक्ति का साधन थीं। इस संकीर्ण उद्देश्य के कारण वे अनेक रूढ़ियों के बन्धनों में बँधी रही और उनका सर्वांगीण विकास कभी नहीं हो पाया। लेकिन ईजियन कला **सार्वजनीन** थी और **सामान्य मनुष्यों के जीवन से भी उतनी ही प्रेरणा प्राप्त करती थी जितनी राजाओं के जीवन से।** इस विशाल और उन्मुक्त दृष्टि के कारण ही ईजियन कलाकार अपने को **रूढ़ियों के बन्धन से मुक्त** रख सके और उनकी कलाकृतियां इतनी **सजीव** हो सकी। बहुत से चित्रों में उन्होंने पशुओं अथवा मानवों के क्षण-विशेष के भावों और चेष्टाओं को रेखाओं में बाँधने में ऐसी सफलता पाई है जिसकी अतिरंजित प्रशंसा करना असम्भव है। उन्होंने अन्य देशों के कलाकारों की तकनीक और शैलियों से बहुत सीखा, परन्तु उनका **अन्धानुकरण कभी नहीं किया।** उन्होंने उनसे जो कुछ लिया, पूरी तरह स्वदेशी रूप देकर।

लघु कलाएँ

तक्षण और स्थापत्य—ईजियन कला की **सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है लघुता।** उन्होंने कभी मिस्रियों के समान पाषाण की विशाल मूर्त्तियाँ बनाने में रुचि नहीं ली। उन्होंने अपनी दक्षता का प्रदर्शन लघु-पात्र, मुहर, प्याले, तश्तरियाँ और फूलदान बनाने में किया है। ये वस्तुएँ मिट्टी, पाषाण,

हस्तिदन्त और धातुओं से बनाई जाती थीं। उदाहरण के लिए उनकी बोस्टन संग्रहालय में सुरक्षित साढ़े ६ इञ्च ऊँची **हाथीदाँत की, परवर्ती मिनोअन युग में निर्मित मूर्त्ति** को ही लीजिए। यह सम्भवतः **नागदेवी अथवा उसकी पुजारिन** की है। वह अपने दोनों हाथों में सर्प लिए है और एक स्वर्णपत्रों से निर्मित झालरदार लहँगा (स्कर्ट), चुस्त ब्लाउज तथा ऊँचा हैट पहिने हुए है। उसकी वेषभूषा इतनी 'आधुनिक' है कि कुछ ही दशक पहले कोई भी महिला उसे पहिन कर लंदन और न्यूयार्क की सड़कों पर अनायास घूम सकती थी (पृ० ३८७ चि० और फु० नो०) इसी प्रकार की कलात्मक सफलता स्टीटाइट (एक विशेष प्रकार की सेलखड़ी) से बनाए गए **'कृषकों के पात्र'** (हार्वेस्टर्स वेस) पर मिलती है। यह पात्र, जो हेगिया ट्रियाडा से प्राप्त हुआ था, परवर्ती-मिनोअन युग का है और दुनिया की सर्वोत्तम कलाकृतियों में गिना जाता है। इसका केवल ऊपरी भाग ही उपलब्ध है। इसमें कृषकों के एक समुदाय को एक पुजारी के नेतृत्व में शायद खेत से लौटते हुए दिखाया गया है। कृषकों के हाथों में औजार हैं और वे झूम-झूम कर गा रहे हैं और पुजारी, जिसका सिर घुटा हुआ है, अपने हाथ में एक बाजा लिए है। स्टीटाइट से ही बने एक अन्य पात्र में, जिसे **'राजा का पात्र'** कहते हैं एक शासक को एक योद्धा और उसके साथियों का स्वागत करते हुए अथवा उन्हें विदा देते हुए चित्रित किया गया है। योद्धा अपने स्वामी के सामने अटेंशन की मुद्रा में खड़ा है। उसके पीछे पंक्तिबद्ध सैनिक हैं। इस चित्र पर परवर्ती यूनानी स्थापत्य की झलक मिलती है। एक अन्य पात्र पर, जो **'घूंसेबाजों का पात्र'** (बोक्सर्स् वेस) कहलाता है और हेगिया ट्रियाडा से मिला था, एक मुष्टिका-युद्ध का चार दृश्यों में अंकन है। इनमें एक योद्धा द्वारा मुष्टि का प्रहार, दूसरे के द्वारा आत्मरक्षा, एक का आहत होकर पतन और दूसरे का विजयानन्द बड़े ही प्रभावोत्पादक रूप में दिखाए गए हैं। इसी प्रसंग में उनके स्वर्णकारों की कलात्मक सफलता का उल्लेख भी किया जा सकता है। इसका सर्वोत्तम नमूना स्पार्टा के समीप स्थित **वाफियो स्थान से प्राप्त माइसिनियन युग के दो स्वर्ण निर्मित प्याले** हैं। बहुत से विद्वान् इन्हें क्रीट से निर्यात किया गया मानते हैं। इन पर स्वर्णकार ने बनैले वृषभों की मूर्त्तियाँ तक्षित करने में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है (चि० ११०)।

चित्र ११० : वाफियो से प्राप्त एक स्वर्ण निर्मित प्याला।

चित्रकला—चित्रकला में ईजियनों को अन्य कांस्यकालीन सभ्य जातियों की तुलना में अधिक सफलता मिली। इसमें उनके **जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की झाँकी** सुरक्षित है। वे अपने चित्र प्रायः गीले प्लास्टर पर किये गए चूने के लेप पर बनाते थे, इसलिए इनको बनाने में जल्दी रहती थी। इन चित्रों में प्रायः प्राकृतिक दृश्यों और वनस्पतियों का अंकन हुआ है, परन्तु उनको बनाने वाले कलाकारों ने उन्हें **याथार्थिक रूप में देने का विशेष प्रयास नहीं किया है।** उनके चित्र सुन्दर लगें इसके लिए वे गुलाब को हरा रंग सकते थे और पौधे को उल्टा बना सकते थे। वे अपनी कला परम्परा के अनुसार **पुरुषों को काले रंग में और स्त्रियों को श्वेत अथवा पीत** रंग में दिखाते थे। उनकी चित्रकला के सर्वोत्तम नमूनों में सर्वप्रथम **'कप बेयरर'** चित्र उल्लिखित होना चाहिए। इसमें एक लम्बे स्वस्थ युवक को एक विशाल प्याला लिए हुए दिखाया गया है। उसका वर्ण श्याम है और वह कलाई पर मुद्रा धारण किए है। हेगिया ट्रियाडा से प्राप्त एक भित्ति-चित्र में **एक काली बिल्ली को धीरे-धीरे एक तीतर की ओर बढ़ते हुए** दिखाया गया है। एक अन्य चित्र में एक **नीले पक्षी को शिलाओं के मध्य उड़ते हुए** अंकित किया गया है। ये चित्र अत्यन्त सरल परन्तु बहुत ही आकर्षक हैं। मेलोस से प्राप्त एक चित्र में, जो किसी क्रीटी कलाकार की कृति लगता है, एक **उड़ती मछली** दिखाई गई है। ईजियन कलाकार कुछ रेखाओं की सहायता से भीड़ का भाव व्यक्त करने की कला में भी पर्याप्त दक्ष थे। **माइसिनियन नगरों के भित्तिचित्रों में** सैनिक-जीवन की अभिव्यक्ति का प्राधान्य दिखाई देता है।

मृद्‌भाण्ड कला—प्राचीन मिनोअन युग के कुम्हार मिट्टी के बर्तन हाथ से बनाते थे, इसलिए उनकी कृतियाँ विशेष सुन्दर नहीं हो पाती थीं। लेकिन **मध्य-मिनोअन युग** में चाक और भट्टी के आविष्कार के कारण इस कला की अप्रतिम प्रगति हुई और मिनोअन कुम्हार अनेक आकृतियों के घड़े, प्याले और तश्तरियाँ आदि बनाने लगे। ये आकृतियाँ प्रायः **धातु पात्रों की नकल** हैं और इन्हें प्रायः उन्हीं के समान पतला **चिकना और सुडौल** बनाने का प्रयास किया गया है। इस युग के बहुत से मृद्‌भाण्ड तो अपने **पतलेपन के कारण 'अण्डे के छिलके' जैसे कहे जाते हैं।** इनमें काली पृष्ठभूमि पर श्वेत अथवा लाल रंग की **सर्पिल रेखाओं वाले** और वनस्पति से **सम्बन्धित डिजायन वाले मृद्‌भाण्ड** विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गूर्निया से प्राप्त **एक मृद्‌भाण्ड, जिस पर गहरे कत्थई रंग में दो अष्टपाद बने हैं,** ईजियन मृद्‌भाण्ड कला के सर्वोत्तम नमूनों में गिना **जाता है।**

७

नोसोस के राजप्रासाद के अन्तःपुर का काल्पनिक चित्र
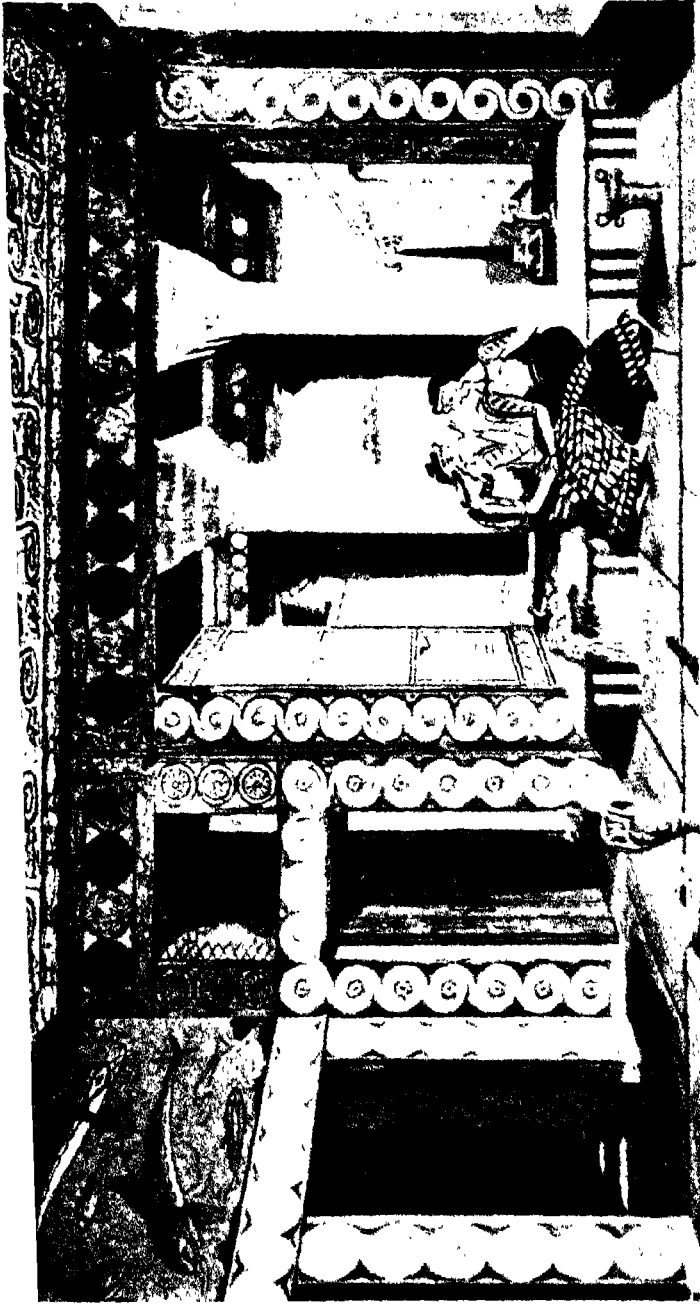
—इवान्सके आधारपर

वास्तु कला

ईजियन नगर—ईजियन वास्तुकला का ज्ञान हमें नोसोस, फेस्टॉस, हेगिया ट्रियाडा, माइसिनी, टिरींस तथा ट्रॉय इत्यादि स्थानों से प्राप्त राजप्रासादों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण भवनों और राजसमाधियों के ध्वंसावशेषों से होता है। उनके किसी नगर के वैसे अवशेष अभी तक कहीं नहीं मिले हैं जैसे भारत में मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा में, यद्यपि गूर्निया और प्लेकेस्ट्रो इत्यादि कुछ स्थानों से सामान्य नागरिकों के कुछ भवनों को खोद निकाला गया है और राजप्रासादों के भित्ति-चित्रों में यत्रतत्र दो तीन मंजिल ऊँचे, वातायन और बाल्कनी युक्त मकानों के अंकन से उनके विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है।

चित्र १११ : नोसोस के राजप्रासाद का काल्पनिक चित्र

नोसोस का राजप्रासाद—ईजियन वास्तुकला के सर्वोत्तम नमूने राजप्रासाद हैं। इनमें भी नोसोस के राजप्रासाद को चूड़ामणि कहा जा सकता है। नोसोस पहाड़ी क्रीट के उत्तरी तट के लगभग मध्य में समुद्र से कुछ हट कर स्थित थी। इसके ढाल पर छः एकड़ भूमि में सुप्रथित राजप्रासाद बनाया गया था। इसके दक्षिणी द्वार पर सीढ़ीदार द्वार-मण्डप था जहाँ फेस्टॉस से आने वाली सड़क समाप्त होती थी। इसमें घुसने पर २००×८५ के केन्द्रीय प्रांगण में पहुँचा जाता था। इसके चारों ओर भण्डारगृह, फेक्टरियां, पाठशाला, राजकीय कार्यालय, सिंहासन-कक्ष और राजपरिवार के रहने के लिए भवन बने थे। यह एक गाँव के सदृश आत्मनिर्भर था लेकिन विशाल दीर्घाओं, सोपान-श्रेणियों,

भित्ति-चित्रों, स्नानगृहों, शौचालयों, प्रकाश-कूपों तथा जल और सफाई की समुचित व्यवस्था के कारण अतीव समृद्ध और सुविधापूर्ण हो गया था। इसके एक विशाल-कक्ष में **'दोहरे परशु'** का चिह्न बना था, इसलिए इसे **'दोहरे परशु का कक्ष'** (हाल ऑव दि डबल एक्स) कहते हैं। इसके उत्तर में **काष्ठ-स्तम्भमाला युक्त विशाल-कक्ष** (हाल ऑव कालोनेड) **तथा विशाल सोपान श्रेणी** (ग्रॉंड स्टेयरकेस) थे। राजप्रासाद के पास ही राजकुमारों और पदाधिकारियों के भवन बने थे। ये भी इन सब सुविधाओं से युक्त थे। नोसोस के बाद क्रीट का विशालतम राजप्रासाद **फेस्टॉस** में था। इसके शासकों ने ही **हेगिया ट्रियाडा** में अपने लिए ग्रीष्म-भवन बनवाया था। यूनान के एकियनों के मुख्य राजप्रासाद **माइसिनी** और **टिरींस** में थे। उनका उल्लेख किया जा चुका है।

ईजियन सभ्यता का बौद्धिक पक्ष

ईजियन चित्राक्षर लिपि—ईजियन सभ्यता के अध्ययन में सबसे बड़ी समस्या उनकी लिपियों का अनुद्घाटित रहना है। उनकी लिपि मूलतः चित्राक्षर लिपि (हाइरोग्लाइफिक) थी। इसका जन्म प्राचीन-मिनोअन युग में व्यापार सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था। इसमें लगभग **१३५ चिह्न** थे, जिनमें अधिकांश द्वार, आँख, सिर, जलपात्र, पक्षी, जहाज, मकान, इत्यादि वस्तुओं के थे। इनमें कुछ मिस्री चित्राक्षरों के, और लगभग **४० हित्ती चित्राक्षरों के सदृश** हैं। लेकिन ईजियन लिपि स्पष्टतः मिस्री और हित्ती लिपियों से भिन्न थी। मिस्री लिपि वहाँ की चित्रकला से घनिष्ठरूपेण सम्बद्ध थी और उसके अभिलेख प्रायः भित्ति-चित्रों के साथ मिलते हैं। कभी-कभी तो चित्रों और चित्राक्षरों में भेद करना कठिन हो जाता है। लेकिन ईजियन अभिलेख भित्ति-चित्रों से सर्वथा असम्बद्ध थे और बैबिलोनियन क्यूनीफॉर्म लिपि के समान मिट्टी की पाटियों पर स्टाइलस से लिखे जाते थे। क्रीट का सबसे महत्त्वपूर्ण और रहस्यमय अभिलेख १९०८ ई० में प्रकाश में आया। यह साढ़े **छः इञ्च व्यास की एक मिट्टी की तश्तरी** पर उत्कीर्ण है। इस पर सर्पिल पंक्ति में २४१ चित्राक्षर लिखे हैं। ब्यूरी का विचार है कि यह लेख कोई मन्त्र है। उन्होंने इसे क्रीटी न मान कर विदेशी माना है।

रेखा-लिपियाँ—मध्य-मिनोअन युग में सम्भवतः चित्राक्षर लिपि के असुविधापूर्ण होने के कारण मिनोअनों ने रेखा-लिपि **(लाइनियर ए)** विकसित

की, यद्यपि चित्राक्षर लिपि का प्रयोग भी बराबर होता रहा। इसका विकास चित्राक्षर लिपि के सरलीकरण से हुआ अथवा स्वतन्त्र रूप से, कहना कठिन है। इसे या तो बाएँ से दाएँ लिखा जाता था अथवा पहली पंक्ति को बाएँ से दाएँ और दूसरी को दाएँ से बाएँ। इसमें लगभग ९० **चिह्न** थे। इसको बाद में माइसिनियनों ने अपना कर **'लाइनियर बी'** नामक लिपि को विकसित किया (चि० ११३)। इसमें लगभग ६४ **चिह्न** थे। इसके अभिलेख पहले केवल **नोसोस** में मिले थे, लेकिन ब्लेजन और वेस के प्रयास के कारण पाइलोस और माइसिनी से भी ऐसे सहस्राधिक अभिलेख प्राप्त हो गये हैं। हाल ही में **मालकेल वेन्ट्रिस** नामक विद्वान् ने इसका रहस्य-भेदन किया है। ईजियन चित्राक्षर और 'लाइनियर ए' लिपियाँ अभी तक अनुद्वाचित हैं।

चित्र ११२ : एक क्रीटी अभिलेख

वैज्ञानिक प्रगति—ईजियन चित्राक्षर और 'लाइनियर' लिपियों के अपठित रहने के कारण ईजियन सभ्यता के बौद्धिक पक्ष—भाषा, दर्शन, धार्मिक विश्वास, आख्यान और साहित्य आदि का अध्ययन करना असम्भव है। 'लाइनियर बी' लिपि के पढ़े गए अभिलेख भी अधिकांशतः भण्डारगृह की वस्तुओं

चित्र ११३ : 'लाइनियर बी' लिपि के कुछ रेखा-चिह्न

के सूचीपत्र हैं, इसलिए इनसे भी इस विषय में विशेष सहायता नहीं मिलती। लेकिन इन अभिलेखों और भौतिक क्षेत्र में प्राप्त सफलता से उनके द्वारा की गई **वैज्ञानिक प्रगति** का कुछ अनुमान किया जा सकता है। उदाहरणार्थ उनके

अभिलखों में प्रयुक्त अंक चिह्नों से मालूम होता है कि उनका **गणित** दशमलव पद्धति पर आधृत था। चाँदी और स्वर्ण के टुकड़ों को सम्भवतः **विनिमय-माध्यम** के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। उनकी **भार-प्रणाली** बैबिलोनियन भार-प्रणाली से प्रभावित लगती है। वे कुशल नाविक थे, अतः **खगोल-विद्या** में दिलचस्पी रखते रहे होंगे। उनके पास अपना **पंचांग था,** यह डोरियन युग की परम्पराओं में उल्लखित है। उनकी **इञ्जीनियरिंग** के क्षेत्र में प्राप्त सफलता ने परवर्ती युगों में अनेक आख्यानों को जन्म दिया। उदाहरणार्थ मिनोस के प्रधान मूर्त्तिकार और **इञ्जीनियर देदालुस की कथा** जिसमें उसे एक विचित्र भूलभुलइयाँ (लेबाइरिंथ) को बनाने का श्रेय दिया गया है। इसमें मिनोस ने मिनोटोर को बन्दी बनाया हुआ था। बाद में मिनोस देदालुस से अप्रसन्न हो गया और उसे उसके पुत्र इकारोस सहित भूलभुलइयाँ में कैद कर दिया। लेकिन देदालुस ने बन्दीगृह में ही अपने और इकारोस के लिए **पंख** बना लिए और वहाँ से भाग निकला। मार्ग में इकारोस देदालुस के मना करने के बावजूद बहुत ऊँचा उड़ा जिससे उसके पंखों का मोम पिघल गया और वह समुद्र में गिर पड़ा (पृ० ३०५)।

राजनीतिक संगठन

मिनोस की प्रतिष्ठा और शक्ति—क्रीट के राजनीतिक और सैनिक संगठन का विस्तरशः अध्ययन करना असम्भव है, लेकिन उनकी सभ्यता की प्रकृति, भित्ति-चित्रों से संकेतित तथ्यों तथा परवर्ती परम्पराओं की सहायता से इस विषय में कुछ अनुमान किए जा सकते हैं। **यूनानी आख्यानों में मिनोस को एक महान् समुद्राधीश (थेलेसोक्रेट) कहा गया है।** **थ्यूसीडीडिज़** के अनुसार मिनोस "पहला नरेश है जिसके विषय में हम जानते हैं कि उसके पास एक जलबेड़ा था और जिसने सब 'यूनानी समुद्रों' पर शासन किया था। उसने साइक्लेड्स् पर राज्य किया और वहाँ अपने पुत्रों को गवर्नर नियुक्त करके उनमें अधिकांश को पहली बार उपनिवेशित किया। उसने, सम्भवतः अपनी आय को अशंक करने के लिए, समुद्र को, जलदस्युओं के भय से जितना सम्भव हो सका मुक्त किया"। **होमर** ने भी मिनोस के नब्बे नगरों पर शासन करने और 'महान जियस' के साथ मैत्री रखने का उल्लेख किया है।

मिनोआ सम्भवतः क्रीट नरेशों की उपाधि थी, वैसे ही जैसे फराओ मिस्री सम्राटों की और सीज़र रोम के सम्राटों की। उनके विशाल राजप्रासाद और वैभव उनकी **शक्ति और समृद्धि** का प्रमाण माने जा सकते हैं। वे सम्भवतः

राज्य के **प्रधान पुजारी, प्रधान सेनापति और प्रधान न्यायाधीश** माने जाते थे। अपनी प्रजा से वे खाद्यान्न और पेय आदि विविध वस्तुएँ **कर** स्वरूप प्राप्त करते थे। इनको संगृहीत रखने के लिए उनके राजप्रासाद में विशाल **भण्डार** बने हुए थे। इनकी व्यवस्था के लिए वे अनेक **लिपिक और पदाधिकारी** नियुक्त करते थे। इसी कोष की सहायता से वे अपने राज्य और परिवार के व्यय-भार को वहन करते होंगे।

सैनिक-व्यवस्था—नोसोस के मिनोआ अपनी सुरक्षा के लिए जनता की धर्मनिष्ठा और जलसेना पर निर्भर थे। उनके सैनिक पतली **बरछियाँ, धनुष** और 8 **आकार की ढालें** धारण करते थे, लेकिन धातु के कवचों के प्रयोग से अपरिचित थे। शौर्य-प्रदर्शन से सम्बद्ध खेलों के समय चमड़े के **शिरस्त्राण** धारण किए जाते थे। ये कवच उनके गालों तक को ढक लेते थे और देखने में रोमन शिरस्त्राणों के सदृश थे। उनकी लिपि में **'रथ'** चिह्न के प्रयोग से उनके द्वारा रथों के प्रयोग का पता चलता है। इन रथों में दो अश्वों को जोता जाता था। हेगिया ट्रियाडा से प्राप्त एक राजपात्र पर एक सेनानायक को 'अटेंशन' अवस्था में राजाज्ञा लेते हुए प्रदर्शित किया गया है (पृ० ४०३)।

सामाजिक जीवन

जीवन के प्रति दृष्टिकोण : श्रीमन्तों का रहन-सहन—ईजियन नागरिक जीवन को आनन्द से व्यतीत करना जानते थे। उनके भित्ति-चित्रों और अन्य कलाकृतियों से ज्ञात होता है कि वे **स्वातन्त्र्य** और **सौन्दर्य प्रेम** में क्लासिकल यूनान के पूर्व विश्व की सब जातियों से आगे थे, यद्यपि उनका सौन्दर्य-बोध परवर्ती यूनानियों के समान संयमित न होकर कुछ उच्छृंखल था। उनकी राजसभा १३-१४ वीं शताब्दी ई० के यूरोपियन राजाओं की राजसभाओं के समान दरबारियों से भरी रहती थी। उनके राजप्रासाद असीरियन राजप्रासादों के समान भव्य थे। असीरियन राजप्रासादों का वातावरण सम्राटों की निरंकुशता और शेष समाज से अपेक्षया पृथक् रहने के कारण जीवनहीन रहता था, जब कि ईजियन **राजप्रासादों का वातावरण, सभासदों की चहल-पहल के कारण उन्मुक्त और सजीव** रहता था।

ईजियन **राजप्रासाद** स्नानगृहों, वातायनों, प्रकाशकूपों, नाट्य-गृहों और अन्य अनेक **सुविधाओं से युक्त** थे। इनको स्वच्छ रखने के लिए समुचित व्यवस्था की जाती थी और सजाने के लिए सब ललित कलाओं की सहायता ली जाती थी। शीत के प्रकोप को शान्त करने के लिए इनमें **भट्टियाँ** बनी थीं।

जाड़े की लम्बी रातों में मिनोअन नरेश **शतरंज जैसा खेल** खेलते थे। उनकी एक अत्यन्त सुन्दर खल की मेज, जिस पर चौकोर खाने बने हैं उत्खनन में मिली है। यह हस्तिदन्त, सोना, चाँदी और बहुमूल्य पाषाणों से बनाई गई है।

ईजियन **श्रीमन्तों की वेश-भूषा** बहुत सादी होती थी। वे प्रायः जाँघिए के ऊपर एक लुंगी बाँधते थे। शरीर का ऊपरी भाग सामान्यतः नग्न रहता था, यद्यपि औपचारिक अवसरों पर एक कपड़ा ओढ़ लिया जाता था। मिस्रियों के विपरीत वे भड़कीले रंगों में रँगे वस्त्र पसन्द करते थे। पुरुषों में हैट धारण करने की प्रथा नहीं थी, यद्यपि कभी-कभी उन्हें परों की टोपी ओढ़े दिखाया गया है (चि० ११४)। पैरों में वे ऊँचे बूट पहिनते थे जो हित्ती नरेशों के बूटों से सादृश्य रखते हैं। वे **स्त्रियों के समान लम्बे केश रखते थे,** आभूषणों के शौकीन थे और **पतली कमर को सौन्दर्य का प्रमाण** मानते थे। भित्ति-चित्रों में उनकी कमर को अविश्वसनीय रूप से पतली करके दिखाया गया है। वास्तव में अगर उनके चित्रों में पुरुषों को लाल और स्त्रियों को पीले रंग में दिखाने की प्रथा न होती तो उनमें चित्रित स्त्री-पुरुषों में भेद करना कठिन हो जाता।

चित्र ११४ : नोसोस के एक भित्ति-चित्र में अंकित कोई क्रीटी राजा अथवा सामन्त

स्त्रियों की दशा—बहुत सी बातों में ईजियनों की तुलना रोमनों और आधुनिक यूरोपियनों से की जा सकती है। उदाहरण के लिए वे रोमनों के समान मुष्टियुद्ध, कुश्ती और मानव-पशु युद्धों के शौकीन थे। उनका सौन्दर्य-बोध ऐसे **रक्तपातपूर्ण मनोरंजनों** से जरा भी कुण्ठित नहीं होता था। इतना ही नहीं **इन खेलों में पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी भाग लेती थीं।** उनके भित्ति-चित्रों में पुरुषों के समान स्त्रियों को भी बिना किसी भेदभाव के रथ चलाते हुए, महिषों से युद्ध करते हुए, आखेट करते हुए और सार्वजनिक उत्सवों में भाग लेते हुए चित्रित किया गया है। उनके समाज में स्त्री-पुरुषों के मिलने-जुलने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। कुछ चित्रों में स्त्रियों को प्रासादों के वातायनों में बैठा दिखाया गया है लेकिन वे **पर्दा-प्रथा से पूर्णतः** अपरिचित प्रतीत होती हैं। आधुनिक युग में **'सोसायटी'** का जो भाव है वह ईजियन युग में पहली बार मिलता है। सम्भवतः मिनोअन स्त्रियों को मिस्री स्त्रियों से भी अधिक स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा प्राप्त थी। धर्म और शासन व्यवस्था पर भी उनका प्रभाव था। प्लूटार्क के अनुसार क्रीटवासी अपने

देश को मातृभूमि कहते थे। उनके धर्म में मातृशक्ति के सर्वोच्च स्थान और पुजारिणों के महत्त्व को भी उनके समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा का सूचक माना जा सकता है।

मिनोअन स्त्रियाँ **सर्वथा 'आधुनिक' लगने वाले वस्त्र पहिनती थी** और १८ वीं शती ई० की यूरोपियन महिलाओं के समान **जूड़े** बाँधती थी। वे ऐसे ब्लाउज पहिनती थीं जिनके कालर ऊपर उठे होते थे परन्तु बाँह, गर्दन,

चित्र ११५ : एक क्रीटी 'खिलाड़ी' की हाथीदांत की मूर्त्ति

और स्तन अनावृत रहते थे। बीसवीं शती ई० में निर्मित लगने वाले उनके लहंगों (स्कर्ट्स) में समानान्तर झालरें बनी होती थीं। चित्रों में पुरुषों के समान उनकी कमर को भी अविश्वसनीय रूप से पतली करके दिखाया गया है। सिरों पर ऊँचे हैट भी धारण करती थीं। (पृ० ३८७ चि०और फु० नो०)।

ईजियन धर्म

आर्य और आर्येतर धाराएँ—ईजियनों के धर्म के विषय में हमारा ज्ञान मुख्यतः भौतिक साक्ष्य पर आधारित होने के कारण अत्यल्प है। मध्यकालीन यूनानी धर्म में हमें इण्डो-यूरोपियन धार्मिक धारा के साथ एक **प्राचीनतर धर्म की धारा** उसी तरह दिखाई देती है जिस प्रकार भारत में वैदिक धर्म के साथ आर्येतर धर्म की। यह धारा ईजियन धर्म की ही रही होगी। इसका यूनानी धर्म के साथ मिश्रण माइसिनियन युग में होने लगा था, क्योंकि माइसिनी सभ्यता के निर्माता एकियन यूनानी थे और पोसिडोन, अपोलो तथा अन्य यूनानी देवी-देवताओं से परिचित होते हुए भी ईजियन देवी-देवताओं की उपासना करते थे।

मातृदेवी का सम्प्रदाय—ईजियन सभ्यता के निर्माता मिस्रियों हित्तियों और परवर्ती यूनानियों की तरह बहुदेववादी थे। उनके देवसमूह में सर्वोच्च स्थान, सम्भवतः समाज में महिलाओं की उच्चतर प्रतिष्ठा के कारण, मातृदेवी

को प्राप्त था। यूनानी उसे **हि सिबिल** कहते थे। उसकी मूर्त्तियाँ बालकों का पोषण करती हुई माता, सिंहों से रक्षित दुर्गा अथवा पुष्पाच्छादित वृक्ष के नीचे विराजमान वनदेवी इत्यादि अनेक रूपों में मिलती हैं। सम्भवतः उसका **नागों से विशेष** सम्बन्ध था (पृ० ३८८, चित्र और फ० नो०)।

प्रधान देवता—ईजियन मातृदेवी के साथ एक युवक देवता की भी उपासना होती थी। यूनानी उसे वेल्केनोस् और क्रीट का जियस कहते थे। वह मातृदेवी का पुत्र था और उसका लालन पालन ईडा पर्वत की गुफाओं में हुआ था। कालान्तर में वह महत्त्वपूर्ण देवता और मातृदेवी का प्रेमी बना। उसका **प्रतीक वृषभ** था। उसी ने वृषभ रूप में मिनोस की पत्नी पेसीफे के गर्भ से नरवृषभ—**मिनोॅटोॅर**—को उत्पन्न किया था। उसका और मातृ-शक्ति दोनों का प्रतीक **'दोहरा परशु'** (डबल एक्स) था। सम्भवतः जिस स्थान पर इसे अंकित कर दिया जाता था उसे दैवीशक्ति द्वारा सुरक्षित माना जाता था। इन तथ्यों से ईजियन धर्म का सम्बन्ध सामान्यतः मिस्र तथा पश्चिमी एशिया और विशेषतः एशिया माइनर से संकेतित है।

धर्म-प्रतीक—मातृशक्ति, उसके प्रेमी देवता और उनसे सम्बद्ध वृषभ, दोहरे परशु तथा नाग आदि प्रतीकों के अतिरिक्त ईजियन अन्य अनेक दैवी-शक्तियों और प्रतीकों को पूजते थे। इनमें **सूर्य, चन्द्र, पर्वत, गुफाएँ, वृक्ष, पाषाण-स्तम्भ, स्वस्तिक तथा ३ का चिह्न** आदि सम्मिलित हैं। प्रत्येक ईजियन नागरिक अपने घर में एक स्तम्भ स्थापित करता था जिस पर कभी-कभी सिंह अथवा कपोत की मूर्त्ति बना दी जाती थी। **तीन की संख्या** का वे अधिका-धिक प्रयोग करने का प्रयास करते थे। उनका एक और धर्मचिह्न था—**वृषभ के सींग**। इसे वेदिकाओं और राजमहालयों की छतों पर बनाया जाता था (चि० १११)।

मन्दिर और पूजा-विधि—प्रारम्भ में क्रीटवासी **खुले मैदानों में, वृक्षों के नीचे अथवा ईडा जैसे पर्वतों के शिखरों पर देवोपासना** करते थे। कालान्तर में इन की पवित्रता और चढ़ावे में आने वाले उपहारों की रक्षा के निमित्त इनको लघु कक्षों का रूप दिया जाने लगा। इस प्रकार मन्दिर अस्तित्व में आये। ये **मन्दिर** सामाजिक उपासना के लिए थे। व्यक्तिगत पूजा के निमित्त घरों में भी लघु मूर्त्तियाँ और स्तम्भ स्थापित किए जाते थे तथा वेदियाँ बनाई जाती थीं।

ईजियन मन्दिरों में प्रवेश करने वाले उपासकों को पहले अपने को जल और तेल से पवित्र करना होता था। तत्पश्चात् वे देवी शक्ति को सन्तुष्ट करने के

लिए अर्घ्यदान देते थे, खाद्यान्न, पेय, तथा फल-फूल समर्पित करते थे और और कभी-कभी गाय, बैल, भेड़ बकरी आदि की बलि देते थे। बहुत से मन्दिरों में देवपूजा में संगीत की सहायता भी ली जाती थी। उपासक और उपास्य-देव के बीच पुजारिणें, और कभी-कभी पुजारी, मध्यस्थता करते थे। पुजारिणों का महत्त्व अधिक होने से उनकी वेशभूषा अधिक पुनीत मानी जाती थी और खुद राजा भी पूजा करते समय उसी को धारण करते थे।

ईजियन सभ्यता की देन

ईजियन सभ्यता का यूनानी सभ्यता के साथ वही सम्बन्ध था जो सिन्धु-सभ्यता का वैदिक सभ्यता के साथ। जिस प्रकार सैन्धव सभ्यता को नष्ट कर देने के बावजूद वैदिक आर्य उसके प्रभाव से न बच सके उसी प्रकार यूनानी ईजियन सभ्यता के निर्माताओं को पराजित करने और उनकी सभ्यता के बाह्य पक्ष को ध्वस्त करने में सफल हो जाने के बावजूद उसके प्रभाव से अछूते न रह सके। उन्होंने प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः ईजियनों से अनेक बातें ली—जैसे नक्षत्र-विद्या और समुद्र-यात्रा में उसका प्रयोग, धार्मिक प्रभाव और राजाओं की निरंकुशता से विहीन राजनीतिक संगठन, सामाजिक स्वतन्त्रता की भावना, बहुत से देवी-देवता, मल्लयुद्ध और खेलकूद में रुचि तथा अनेकानेक उत्सव। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जा रहा है ईजियनों की परवर्ती 'क्लासिकल' यूनानी सभ्यता को देन का संकेत देनेवाले नए-नए तथ्य प्रकाश में आते जा रहे हैं।

इस पृष्ठ के ऊपर क्रीट से प्राप्त एक पालकी के मोडेल का चित्र (लग० १६०० ई० पू०) दिया गया है।

१५

होमर-काल और 'क्लासिकल' यूनान का जन्म

The isles of Greece ! the isles of Greece !
Where burning Sappho loved and sung,
Where grew the arts of war and peace,
Where Delos rose, and Phoebus sprung !
Eternal mummer gilds them yet,
But all, except their sun, is set.

—*Byron, Don Juan III.*

होमर-काल

'ग्रेट माइग्रेशन्स्'

एयोलियन और आयोनियन जातियाँ—यूनान के इतिहास में १२०० ई० पू० से लेकर ७५० ई० पू० तक का युग 'मध्य-काल' कहलाता है। इस युग के प्रारम्भ में इण्डो-यूरोपियन यूनानियों की बहुत सी शाखाएँ जनसंख्या में वृद्धि और नवागन्तुकों के दबाव के कारण नए निवास स्थान की खोज करने के लिए बाध्य हो गईं। उनके इस परिभ्रमण को यूनानी इतिहास में 'ग्रेट माइ-ग्रेशन्स्' कहा जाता है। उदाहरण के लिए थेसली और बोयोतिया के एयो-लियनों ने लेस्बोस और चियोस द्वीपों तथा एशिया माइनर के निकटस्थ प्रदेश

इस पृष्ठ के ऊपर साइलिक्स नाम से प्रसिद्ध प्यालों के एक नमूने पर अंकित चित्र दिया गया है। इसमें एक बच्चे को खरगोश का पीछा करते दिखाया गया है। बालक के अंग सौष्ठव के अंकन में कलाकार को श्लाघ्य सफलता मिली है।

को अधिकृत किया और एट्टिका के आयोनियन साइक्लेड्स् होते हुए एशिया माइनर के तट तक पहुँच गए। उनके नाम पर ये प्रदेश क्रमशः एयोलिस और आयोनिया कहलाए। इन अनातोलियन आयोनियनों ने कालान्तर में यूनानी सभ्यता के विकास में श्रद्धेय योगदान दिया।

डोरियनों का 'आक्रमण' और मध्य-युग का प्रारम्भ—एयोलियनों और आयोनियन के अपेक्षया शान्त और धीमे 'माइग्रेशन' की तुलना में डोरियनों का यूनान में प्रवेश अप्रत्याशित और हिंसापूर्ण था। एट्टिका और अर्केडिया के अतिरिक्त वे लगभग समस्त यूनान में न्यूनाधिक संख्या में फैल गए। वहाँ से वे क्रीट और रोह्डस् होते हुए एशिया माइनर के दक्षिण-पश्चिम तक पहुँचे। वे यूनान में पहले से बसे हुए एकियनों से भाषा, धर्म और सामाजिक संगठन आदि की दृष्टि से भिन्न नहीं थे, लेकिन **सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए** थे। उनके मुख्य उद्यम पशुपालन और आखेट थे जिसके कारण उनके क़बीलों को स्थायी जीवन व्यतीत करने का अभ्यास नहीं था। यूनान के इतिहास में उनके आक्रमण का वही महत्त्व है जो भारतीय इतिहास में वैदिक आर्यों के आक्रमण का। दोनों ही देशों में ये आक्रमण नागरिक सभ्यता की सुदीर्घ परम्पराओं के अन्त, लौह युग के प्रारम्भ और कम से कम भौतिक दृष्टि से सांस्कृतिक ह्रास का कारण सिद्ध हुए। वैदिकयुगीन भारत के समान यूनानी इतिहास के मध्यकाल पर भी पुरातत्त्व से कोई प्रकाश नहीं मिलता। इस युग की भौतिक संस्कृति के प्रधान अवशेष हैं **'ज्योमितिक शैली' के डिजायन वाले मृद्भाण्ड** जो कलात्मक दृष्टि से मिनोअन-माइसिनी मृद्भाण्डों की तुलना में निर्जीव लगते हैं। इसके स्थापत्य और वास्तुकला के उपलब्ध नमूने भी सर्वथा नगण्य हैं। लेकिन इसके बावजूद यूनानी इतिहास में इस युग का भारी **महत्त्व** है। एक, इस युग में **क्लासिकल यूनान के लिए पृष्ठभूमि निर्मित हुई**। जिस प्रकार भारत में वैदिक काल में आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का समन्वय हुआ उसी प्रकार यूनान में मध्यकाल (१२००-७५० ई० पू०) में मिनोअन-माइसिनी संस्कृति की अवशिष्ट परम्पराएँ डोरियन, और एशिया माइनर के यूनानी उपनिवेशों के माध्यम से आए एशियाई संस्कृति के तत्वों से मिलीं। दूसरे, इस युग में यूनान की विभिन्न जातियों और क़बीलों में, जाने अथवा अनजाने, रक्त-सम्मिश्रण हुआ जिससे **'क्लासिकल' यूनानी जाति अस्तित्व में आई**। बहुत से विद्वानों ने इस रक्त-सम्मिश्रण को ही **यूनानियों के उत्कर्ष का कारण माना है**। इस तथ्य के प्रकाश में यह धारणा कि यूनानी संस्कृति की उत्कृष्टता का कारण यूनानी जाति के रक्त की विशुद्धि को मानना चाहिए, गलत हो जाती है।

वीर-काल—यूनान के इतिहास में मध्य-काल की प्रथम दो शताब्दियों को प्रायः **वीर-काल (हीरोइक एज)** कहा जाता है। यह वह युग था जब प्राचीन राजनीतिक-व्यवस्था टूट गई थी, युद्ध सामान्य बात हो गए थे, कृषिकर्म और उद्योग-धन्धों का ह्रास और व्यापार का लगभग पूर्णतः विनाश हो गया था तथा जनता में अशान्ति और सुरक्षा की भावना बढ़ गई थी। ऐसी परिस्थिति में साहसी और महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों के लिए अपने बाहुबल से स्थानीय जनता को अपने अधीन कर लेना तथा युद्ध और लूट-पाट द्वारा यश अर्जित करना कठिन नहीं था। वे लोहे के कवचों और कांस्य के हथियारों से सज्जित होकर अपने प्रतिस्पर्धियों से लड़ते थे और अगर उन्हें हराने में सफल हो जाते थे तो उनके कवच और हथियार अधिकृत करके उनके मृत शरीरों को रथ में बाँध कर घसीटते थे। शत्रु नगर का पतन होने पर उसके निरीह नागरिकों को मौत के घाट उतार दिया जाता था अथवा दास बना लिया जाता है। उनके इन करनामों के आधार पर **भाट और चारण गीतों की रचना करते थे** और उन्हें राजकीय भोजों और उत्सवों में गाकर सुनाते थे। ये गीत **यूनान का ही नहीं यूरोप का प्राचीनतम साहित्य** थे। इनमें कुछ, जो यूनानियों के ट्रॉय पर आक्रमण को केन्द्र बनाकर लिखे गये थे, विशेष रूप से लोकप्रिय सिद्ध हुए। आठवीं शताब्दी ई० पू० में सम्भवतः होमर नामक कवि ने इन्हें एक सूत्र में आबद्ध करके व्यवस्थित रूप प्रदान किया।

होमर

होमर : यूनान का गुरु—होमर और उनसे द्वारा प्रणीत माने जाने वाले **इलियड और ओडाइसी** महाकाव्यों को यूनानी इतिहास में वही स्थान प्राप्त है जो भारतीय इतिहास में वेदव्यास और उनके द्वारा सम्पादित वेदों को। उसने इन महाकाव्यों की रचना की थी अथवा नहीं, यह प्रश्न पिछले सौ वर्षों से यूरोपियन विद्वानों को आकुल करता रहा है। आजकल अधिकांश विद्वान् इन दोनों ग्रन्थों के पारस्परिक और एक ही ग्रन्थ के एक अंश के दूसरे अंश से तथ्यात्मक, भावात्मक और शैली-सम्बन्धी भेदों के आधार पर यह मानते हैं कि सम्भवतः **ये ग्रन्थ दो विभिन्न लेखकों की कृतियाँ हैं** जिन्हें उन्होंने प्राचीन काल से चली आई सामग्री के आधार पर लिखा होगा और जिनमें कुछ सामग्री बाद में भी जोड़ी गई होगी। **कम से कम ओडाइसी में, जिसमें इसी नाम के राजा के ट्रॉय युद्ध के उपरान्त किए गए साहसपूर्ण कृत्यों का वर्णन है, इलियड के लेखक की प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं मिलता।** लेकिन **चाहे ये ग्रन्थ एक व्यक्ति ने**

लिखे थे अथवा अनेक ने, अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि **प्राचीन यूनानी इन्हें एक ही व्यक्ति की कृति मानते थे और उसे अपने देश का गुरु (एजूकेटर ऑव ग्रीस) स्वीकृत करते थे।** कई शताब्दी तक ये महाकाव्य यूनान के सामान्य नागरिकों के लिए सांस्कृतिक जीवन का और पाठशालाओं में औपचारिक शिक्षा का आधार बने रहे। इनका यूनानियों के लिए वही महत्त्व था जो प्राचीन भारतीयों के लिए वेदों का तथा यहूदियों के लिए बाइबिल का। जब यूनानियों के सामने कोई नैतिक समस्या आती थी तो **होमर का वचन निर्णायक माना जाता था।** कूटनीतिक वार्ताओं में विरोधी पक्ष अपने-अपने दावों को सिद्ध करने के लिए उसके महाकाव्यों को उद्धृत करते थे। जैसे संस्कृत कवि और नाटककार रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत को **उपजीव्य काव्य** मानते थे वैसे ही एस्काइलस जैसे महान् यूनानी लेखक तक अपनी कृतियों को 'होमर के भोज का एक ग्राम' कहकर उस महाकवि का अभिनन्दन करते थे। इसके अतिरिक्त समस्त यूनान में होमर की सार्वजनीन प्रतिष्ठा यूनानियों के राजनीतिक भेदभाव के बावजूद **सांस्कृतिक एकता का आधार बनी।**

होमर कालीन संस्कृति

होमर का युग—हेरोडोटस ने होमर को नवीं शताब्दी ई० पू० में रखा है, लेकिन आधुनिक विद्वान् उसे **आठवीं शताब्दी ई० पू० में आविर्भूत** हुआ मानते हैं। वह इलियड में एकियन राजाओं के शासन काल में हुई घटनाओं का वर्णन करता है और उस युग की सभ्यता की धुंधली सी झाँकी उसके ग्रन्थों में यत्रतत्र उपलब्ध भी होती हैं। उदाहरणार्थ वह स्वयं लोह-युग में उत्पन्न होने के बावजूद अपने पात्रों से कांस्य के खड्ग प्रयुक्त करवाता है। लेकिन **वह माइसिनियन सभ्यता से घनिष्ठतः परिचित नहीं है।** माइसिनी युग में मृतकों को भूमि में गाड़ा जाता था, लेकिन उसके पात्रों का अग्नि-संस्कार होता है। उसके पात्र अधिकांशतः अशिक्षित हैं। सम्भवतः उसके युग में यूनानी फिनीशियनों के सम्पर्क में आने के बाद लेखन-कला को नए सिरे से सीख रहे थे और यह पूरी तरह भूल चुके थे कि उस समय के चार-पाँच शताब्दी पहले तक एकियनों की अपनी एक विशिष्ट लिपि—लाइनियर बी—थी। ओडाइसियस में फिनीशियनों का प्राधान्य इसके परवर्ती युग में लिखे जाने का अकाट्य प्रमाण है, क्योंकि १२ वीं शताब्दी ई० पू० में फिनीशियन उतने प्रभावशाली नहीं हुए थे जितने इसमें दिखाए गए हैं। माइसिनियन युग में लोहा अत्यन्त मूल्यवान था और आभूषण बनाने के काम आता था। इलियड में इसका प्रयोग कुल्हाड़ी

और चाकू तक के लिए होता है। होमर-काल के साधारण भवन माइसिनियन युग के भव्य राजप्रासादों से सर्वथा भिन्न हैं और भित्तिचित्रों से पूर्णतः विहीन हैं। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि माइसिनियन युग की सभ्यता की यत्रतत्र स्मृति शेष होने पर भी होमर द्वारा वर्णित सभ्यता उसके अपने समय—आठवीं शताब्दी ई० पू०—की है, माइसिनी युग की नहीं।

राज्य-व्यवस्था—होमर काल में राज्य की व्यवस्था अत्यन्त आदिम अवस्था में थी। एकियन युग के विशाल नगर ध्वस्त हो चुके थे और नए नगरों की स्थापना नहीं हो पाई थी। प्रत्येक राज्य कुछ **ग्राम-समूहों** का एक शिथिल संगठन मात्र था। इन ग्राम-समूहों के निवासी अपने को किसी **एक पूर्वज की सन्तान** मानते थे और प्रायः एक सामन्त के अधीन रहते थे। जो सामन्त सर्वाधिक शक्तिशाली होता था उसे राजा मान लिया जाता था। सिद्धान्ततः वह राज्य का सर्वोच्च सेनापति, न्यायाधीश और धर्माधीश माना जाता था। लेकिन व्यवहार में सुव्यवस्थित और लिखित कानूनों के अभाव में वह न्यायाधीश के स्थान पर मध्यस्थ के रूप में ही कार्य कर पाता था। अधिकांश झगड़ों का फैसला दोनों पक्ष युद्ध और हत्याओं द्वारा खुद ही कर लेते थे। उसका धर्माध्यक्ष होना भी उस युग में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं था। जहाँ तक उसके सर्वोच्च सेनापति होने का प्रश्न है, उसका यह अधिकार महत्त्वपूर्ण होते हुए भी नाम-मात्र का था क्योंकि **उसकी सेना उसकी अपनी न होकर अधिकांशतः सामन्तों द्वारा अनुदानित होती थी**। वस्तुतः इस युग में युद्धों का निर्णय सेनाओं की क्षमता और अनुशासन पर इतना निर्भर था भी नहीं। प्रायः सैनिक-शक्ति को आजमाने के स्थान पर दोनों पक्षों के नायक आपस में द्वन्द-युद्ध करके झगड़ों का फैसला करते थे। इसलिए उस युग में सामान्य सैनिकों के अस्त्र-शस्त्र भी बहुत साधारण होते थे।

होमर काल में सिद्धान्ततः राजा की सहायता के लिए **दो सभाएँ** रहती थीं—**ब्यूल** और एगोरा। **ब्यूल** सामन्तों की सभा थी और **एगोरा** स्वतन्त्र नागरिकों की। इन्हीं से क्लासिकल-युग में कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र का विकास हुआ। लेकिन होमरकाल में इन संस्थाओं का संगठन अत्यन्त शिथिल था। इनके न तो अधिकार निश्चित थे न कर्त्तव्य। इसी प्रकार इस युग में निश्चित **कर-व्यवस्था का भी अभाव था और राज्य** की आय अधिकांशतः भेंटों और लूटमार पर निर्भर थी। इस युग में राज्य-संगठन कितना शिथिल था, यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। इथेका राज्य का स्वामी ओडाइ-सियस अपने राज्य से बीस वर्ष तक अनुपस्थित रहा था। इस बीच में इथेका

में न तो कोई प्रतिशासक (रीजेन्ट) नियुक्त हुआ, न किसी सभा की बैठक हुई और न किसी को यह महसूस हुआ कि इतने लम्बे समय तक सरकारी कार्यों के स्थगन से समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है। वस्तुतः इस युग में यूनानियों की **राजनीतिक चेतना इतनी विकसित थी ही नहीं कि वे सामाजिक-व्यवस्था के लिए सरकार को अपरिहार्य मानते।**

सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था—होमरकालीन यूनान की सामाजिक और आर्थिक-व्यवस्था भी अत्यन्त सरल थी। इस युग के **समाज की इकाई परिवार** था, जिसका नियन्त्रण पिता के हाथ में रहता था। सिद्धान्ततः वह परिवार का निरंकुश शासक होता था, उसके सदस्यों को कठोरतम दण्ड दे सकता था और देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अपने पुत्रों को बलिदान कर सकता था। लेकिन व्यवहार में वह अपने परिवार के सुख-दुःख का ध्यान रखता था और प्रायः सर्वसम्मति से कार्य करता था। **स्त्रियों की दशा** सन्तोषजनक थी। वे सार्वजनिक कार्यों में पुरुषों के समान भाग लेती थीं और पर्दे से अपरिचित थीं, यद्यपि उनका कार्यक्षेत्र घर में और गौरव मातृत्व में निहित माना जाता था। होमरकालीन यूनानियों को पत्नी प्राप्त करने के लिए कन्या के पिता को कुछ पशु देने होते थे, यद्यपि खुद कन्या का पिता बदले में कुछ धन दहेज के रूप में देता था। इसे स्त्री-धन माना जाता था। **सुन्दर स्त्रियों के लिए संघर्ष** सामान्य बात थी। उन्हें यूनानी 'हीरो' अपने शौर्य का पारितोषिक मानते थे। जब एगामेम्नोन को पारितोषिक के रूप में प्राप्त सुन्दरी **क्राइसीज** को त्यागना पड़ा तब उसने उसके बदले में एकीलिज को मिली हुई रूपमती **ब्राइसीज़** को पाने का हठ किया था, जो दोनों वीरों में घोर विद्वेष का कारण सिद्ध हुआ। वस्तुतः ट्रॉय के युद्ध के मूल कारण आधुनिक इतिहासकार कुछ भी क्यों न बताएँ, कम से कम उनका तात्कालिक कारण स्पार्टा नरेश मेनोलोस की पत्नी सौन्दर्यमयी हेलेन का ट्रॉय के राजकुमार पेरिस द्वारा अपहरण ही था।

होमरकालीन यूनानी बहुत **सादा जीवन** व्यतीत करते थे। वे प्रायः लँगोट के ऊपर एक वस्त्र ओढ़ लेते थे जिसका एक हिस्सा उनके ऊर्ध्व भाग को ढँक लेता था और दूसरा अधोभाग को। घरों में वे प्रायः नंगे पैर रहते थे यद्यपि बाहर जाते समय कभी-कभी जूते पहिन लेने की भी प्रथा थी। पुरुषों में लम्बे केश और दाढ़ी-मूँछ रखने की प्रथा थी।

इलियड और ओडाइसियस में मुख्यतः सामन्तों के जीवन का वर्णन है। लेकिन समाज में **वर्गभेद दृढ़ नहीं** हो पाया था। कोई भी सूरमा जो युद्ध में असाधारण शौर्य का प्रदर्शन करता था, **सामन्त बन जाता था**। शारीरिक श्रम

को हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता था। धनी वर्ग की स्त्रियाँ, राजा और सामन्त तक हाथ से काम करने में नहीं हिचकिचाते थे। हर धनी सामन्त के पास कुछ व्यक्ति होते थे जो शान्तिकाल में उसकी जागीर में काम करते थे और युद्धकाल में सेना में, परन्तु वे दास नहीं थे। उनके साथ प्रायः परिवार के सदस्यों जैसा व्यवहार किया जाता था। इस युग के **मुख्य उद्यम** कृषिकर्म, आखेट और पशुपालन थे। गाड़ियाँ बनाने वाले बढ़ई, हथियार बनाने वाले लुहार, सुर्णकार और कुम्हार के अतिरिक्त विशिष्ट उद्योग-धन्धों में कुशल कारीगरों का अभाव था। हर परिवार को अपने औजार, कपड़े, खाद्यान्न इत्यादि खुद बनाने अथवा उत्पन्न करने होते थे। व्यापारियों का अस्तित्व सम्भवतः था ही नहीं और लेन-देन पूर्णतः अदल-बदल की प्रणाली पर आधृत था।

होमरकालीन धर्म

यूनानी देवताओं का रूप और धर्म का सदाचार से पार्थक्य—अन्य इण्डो-यूरोपियन जातियों के समान यूनानियों के देवता भी अधिकांशतः **प्राकृतिक शक्तियों का दैवीकरण** थे। उनके धर्म का मुख्य उद्देश्य था मनुष्य का प्राकृतिक शक्तियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना जिससे उनमें आत्म-विश्वास और सुरक्षा की भावना उत्पन्न हो। इसलिए उन्होंने उनको ऐसे देवताओं के रूप में कल्पित किया जिनमें **मनुष्यों के गुण-दोष सभी थे**। उनके देवता मनुष्यों के समान भोजन-पान करते थे, प्रसन्न और दुखी होते थे। परस्पर लड़ते थे और मनुष्यों के संघर्षों में सक्रिय भाग लेते थे। वे मनुष्यों से स्वतन्त्रतापूर्वक मिलते थे और नश्वर नारियों के गर्भ से सन्तान उत्पन्न करते थे। उनमें और मनुष्यों में केवल एक अन्तर था—वे अमृत पान कर लेने के कारण **अमर** थे और मनुष्य मर्त्य। वे अपने उपासकों से तभी प्रसन्न होते थे जब उनको पर्याप्त भेंट और उपहार दिए जाते थे, उन्हें कोई सनक उठती थी अथवा उनका अपना कोई मतलब होता था। वे सामान्यतः सत्यवादिता और सदाचरण को पसन्द करते थे और दुष्कर्मियों को दण्डित करते थे, परन्तु अनिवार्यतः नहीं। **ऐसा धर्म कभी नैतिकता (मोरेलिटी) की आधारशिला नहीं बन सकता था।** इस युग में नैतिकता का सम्बन्ध धर्म की अपेक्षा वीरभाव से अधिक था। होमर ने मनुष्य के जिन गुणों की प्रशंसा की है, वे हैं—शौर्य, आत्म-नियन्त्रण, देश-भक्ति, ज्ञान (चालाकी के अर्थ में), मित्र-प्रेम, शत्रु से घृणा आदि। अपने स्वार्थ की बलि देकर परोपकार करने वाला अथवा शत्रु को क्षमा कर देने वाला मनुष्य उसकी दृष्टि में कभी आदर का पात्र नहीं हो सकता था।

यूनानी अपने देवताओं का निवास-स्थान उत्तरी यूनान में स्थित **ओलम्पस पर्वत पर** मानते थे जहाँ वे आनन्दमय जीवन व्यतीत करते थे, एक दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र रचते थे और मनुष्यों के भाग्य का निर्णय करने के लिए सभाएँ करते थे। उनमें कुछ छोटे थे कुछ बड़े, लेकिन किसी भी देवता को शेष से बहुत अधिक शक्तिमान् नहीं माना जाता था। उदाहरणार्थ वज्रधारी **आकाश देव जियस** को वे देवराज और देवताओं तथा मनुष्यों का पिता मानते थे, लेकिन उसकी अपेक्षा **सूर्यदेव अपोलो** अथवा युद्ध और उद्योग-धन्धों की देवी **एथेना** को अधिक सम्मान प्रदान करने में भी नहीं हिचकिचाते थे। वे अपने देवताओं के लिए **मन्दिर** बनाते थे, लेकिन इनका उपयोग मिस्री मन्दिरों से सर्वथा भिन्न था। मिस्री मन्दिर पुजारियों के गढ़ थे और उनमें देवताओं की उपासना बड़ी जटिल और रहस्यमय विधियों से की जाती थी। लेकिन यूनानी धर्म की पूजा-विधि अत्यन्त सरल थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार के लिए और राजा सामूहिक रूप से समस्त राज्य के लिए देवोपासना करता था। इसलिए यूनान में सबल **पुजारी वर्ग का प्रादुर्भाव कभी नहीं हो पाया** और मन्दिरों की कल्पना उन भवनों के रूप में की जाती रही जहाँ उनके देवता अथवा देवी कभी-कभी निवास करने के लिए आ जाते थे।

परलोकवाद—यूनानियों का धर्म प्रवृत्तिमार्गी और सुखार्थी होने के साथ **ऐहिक** भी था। धार्मिक जीवन व्यतीत करने से मनुष्य पापों के फल से बच सकता है, उसे आध्यात्मिक शान्ति मिल सकती है और परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है, ये सब विचार उन्हें कभी बोधगम्य नहीं हो सके। इसके परिणाम-स्वरूप **पाप-पुण्य की धारणाएँ, ईश्वरीय आदेश, देव-प्रसाद द्वारा पाप-मोचन और कायाक्लेश द्वारा मोक्ष की प्राप्ति इत्यादि विश्वास जो पौर्वात्य धर्मों में भारी महत्त्व रखते थे, उनकी धर्म-दृष्टि में अज्ञात रहे**। वे परलोक का स्वामी **हेडिज़** नामक देवता को मानते थे लेकिन वह न देवताओं के शुभ कार्यों का विरोध करता था और न भूकम्पों और महामारियों द्वारा मनुष्यों को प्रताड़ित करता था। उसका लोक न स्वर्ग था न नरक। इसमें मृतात्मा कुछ समय के लिए वैसा ही जीवन व्यतीत करती थी जैसा उसने पृथिवी पर बिताया था। परलोक सम्बन्धी इस धारणा के कारण यूनानियों ने अपने मृतकों की ओर कभी विशेष ध्यान नहीं दिया। वे वैदिक आर्यों के समान उनका दाह-संस्कार करते थे। मृतकों के लिए विशाल समाधियाँ बनाना और उनके भोजनादि की व्यवस्था करना उनके लिए अकल्पनीय था।

क्लासिकल यूनान का जन्म : राजनीतिक विकास और इतिहास

यूनान के इतिहास में ७५० ई० पू० से ४७९ ई० पू० तक का युग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस युग में यूनान के नगर-राज्यों का उदय हुआ, समस्त भूमध्यसागरीय प्रदेश में औपनिवेशिक प्रसार हुआ तथा उस महान् क्लासिकल सभ्यता का आविर्भाव हुआ जिसके लिए यूनान विश्व में प्रसिद्ध है।

सामान्य राजनीतिक विकास

राजाओं का अन्त और कुलीनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था का उदय—होमर कालीन यूनान का राजनीतिक और आर्थिक संगठन राजतन्त्रात्मक (मोनार्किकल) और ग्राम्य था। लेकिन, जैसा कि हम देख चुके हैं उस युग के राजाओं की शक्ति नाममात्र की थी। यथार्थ सत्ता सामन्तों की सभा—ब्यूल—के हाथ में थी। ८०० ई० पू० तक लगभग सभी राज्यों में सामन्तों की शक्ति इतनी बढ़ गई कि वे राजाओं को पूर्णतः अपदस्थ कर दें। ८०० ई० पू० से ७०० ई० पू० तक यूनान के अधिकांश राज्यों की शासन-व्यवस्था सामन्तवादी अथवा **कुलीनतन्त्रीय (ओलीगार्किकल)** रही। होमर काल में हम यूनान पर अनेक राजाओं को शासन करता पाते हैं, जिनका नेता माइसिनी का एगामेम्नोन था। लेकिन मध्य-काल के अन्त होने पर सारा यूनान छोटे-छोटे नगर-राज्यों में विभाजित मिलता है। अकेला क्रीट, जिस पर होमर काल में आइडोमिनियस का प्रभुत्व था, पचास से अधिक नगर-राज्यों (पोलीज) में बँट चुका था। यही अवस्था सामान्यतः सम्पूर्ण यूनानी जगत् की थी। इनमें पेलोपोनेसस के **स्पार्टा** और **कोरिंथ**, मध्यवर्ती यूनान के **एथेंस**, **थीबिज** और **मेगारा**, एशिया माइनर का **मिलेटस** तथा इजियन द्वीप समूह के **केल्सिस** तथा **मिटाइलीन नगर-राज्य** विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

'तानाशाहों' का युग और जनतन्त्र की स्थापना—कुलीनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के युग में यूनान की परिस्थिति में बड़ी तेजी से परिवर्तन हुआ। एक, इस युग में देश की जनसंख्या में बहुत वृद्धि हुई जिससे **भूमि के लिए संघर्ष** बढ़ने लगा। दूसरे, यूनानी जो अब तक **उद्योग-धन्धों और व्यापार** में पिछड़े हुए थे, फिनीशियनों के सम्पर्क के कारण इन क्षेत्रों में रुचि लेने लगे। **इससे समाज में मध्य-वर्ग**—दस्तकार, व्यापारी तथा सौदागर—अस्तित्व में **आया। उसने स्वदेश में तैयार अतिरिक्त माल को अन्यत्र बेचने की सुविधा**

प्राप्त करने के लिए भूमिहीन वर्ग से मिलकर कुलीनतन्त्रीय शासन-व्यवस्था का विरोध किया। इस **वर्ग-संघर्ष** की तीव्रता के कारण उत्पन्न हुई अव्यवस्था का लाभ उठाकर ७०० ई० पू० के लगभग अवसरवादी नेताओं ने जनता को फुसलाकर अपनी ओर मिला लिया और शस्त्र-बल से राजसत्ता अपने अधिकार में कर ली। इन नेताओं को यूनानी **'टायरेण्ट्स'** (तानाशाह) कहते थे। उनका शासन काल कुलीनतन्त्र के अन्त और जनतन्त्र के उदय के मध्य संक्रान्तिकाल के समान था। ये 'टायरेण्ट्स' प्रारम्भ में पर्याप्त उदार और लोकप्रिय थे, लेकिन धीरे-धीरे अत्याचारी हो गए। इससे कालान्तर में 'टायरेण्ट्' शब्द ही 'अत्याचारी शासक' का पर्यायवाची हो गया। लेकिन इस बीच में जनता में **राजनीतिक चेतना** बढ़ती जा रही थी जिसके परिणामस्वरूप छठी शती ई० पू० में धीरे-धीरे सर्वत्र टायरेण्ट्स को उन्मूलित कर दिया गया और अधिकांश नगर-राज्यों की शासन-व्यवस्था **जनतन्त्रात्मक** हो गई, यद्यपि एशिया माइनर के यूनानी उपनिवेशों में ईरानी आक्रमण के भय के कारण वे अपनी सत्ता कुछ अधिक समय तक बनाए रखने में सफल रहे।

उपर्युक्त विवरण में यूनान के राजनीतिक विकास की जो सामान्य रूपरेखा दी गई है, उसका सर्वोत्तम उदाहरण एथेंस है और यह उत्तर के थेसली जैसे अविकसित प्रदेशों और स्पार्टा जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर सब नगर-राज्यों पर लागू होती है, यद्यपि स्थानीय परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक नगर-राज्य के विकास में न्यूनाधिक अन्तर अवश्य रहा। इसलिए हम केवल एथेंस और स्पार्टा के विकास का विस्तरशः अध्ययन करेंगे, शेष नगर-राज्यों के इतिहास की मुख्य धाराएँ उनके इतिहास का अध्ययन करते समय स्वतः स्पष्ट हो जाएँगी।

एथेंस का विकास

एथेंस एट्टिका प्रदेश का ही नहीं समस्त यूनान का सबसे महत्त्वपूर्ण नगर था। यहाँ यूनानियों की **आयोनियन शाखा का प्राधान्य था** लेकिन उसने इस प्रदेश पर शनैः शनैः और शान्तिपूर्वक अपनी सत्ता स्थापित की थी, इसलिए यहाँ के निवासियों में शासक और शासित के बीच उतना भेद नहीं था, जितना स्पार्टा में। दूसरे, एट्टिका मूल्यवान धातुओं की खानों और प्राकृतिक बन्दरगाहों के कारण प्रकृत्या **समृद्ध व्यापारिक प्रदेश** था, कृषि-प्रधान नहीं। इन दोनों तथ्यों ने एथेंस के इतिहास को अत्यधिक प्रभावित किया।

राजतन्त्र का अन्त और कुलीनतन्त्र की स्थापना—माइसिनी युग में भी एथेंस के अस्तित्व का प्रमाण पुरातत्त्व से मिलता है, लेकिन होमर काल

में इसका विशेष महत्त्व नहीं था। अन्य यूनानी नगर-राज्यों के समान प्रारम्भ में इसकी शासन-व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी। उस युग में किसी समय, थ्यूसीडीडिज़ के अनुसार **थीसियस के** शासन काल में, उसके नेतृत्व में **एट्टिका के बारह नगर-राज्यों को एकीकृत किया गया**। इससे यह यूनान के प्रमुख नगरों में गिना जाने लगा। इसका अन्तिम ज्ञात नरेश **कोड्रस** था। उसके पश्चात् राजसत्ता सामन्तों के हाथ में आई। उनकी दो सभाएँ थीं। **एक सभा नौ आर्कनों अथवा संरक्षकों की थी** जो प्रति वर्ष सामन्त वर्ग द्वारा निर्वाचित होते थे। वे ही राजकार्य के लिए उत्तरदायी होते थे। दूसरी सभा को **'काउन्सिल ऑव एरियोपेगस'** कहा जाता था। भूतपूर्व आर्कन इसके सदस्य होते थे। यह सभा आर्कनों पर अंकुश रखती थी, हत्या और विद्रोह आदि से सम्बद्ध गम्भीर मुक़दमों पर विचार करती थी और अनुशासनहीन नागरिकों को दण्ड देती थी। लेकिन अभी तक एथेंस के **क़ानूनों को लिखित रूप नहीं** दिया जा सका था। इसलिए न्याय-व्यवस्था पर अधिकार होने से सामन्त निर्धन कृषकों के ऊपर बहुत अत्याचार करने लगे। दूसरे, इस समय तक एथेंस में अंगूर और जैतून की खेती प्रारम्भ हो चुकी थी। लेकिन अंगूर और जैतून के बाग़ काफी समय बाद लाभकर सिद्ध होते हैं, इसलिए इनकी खेती केवल धनी किसान और सामन्त ही कर सकते थे। इससे धीरे-धीरे निर्धन किसानों पर ऋण का भार बढ़ता गया और वे पहले अपनी भूमि और फिर खुद को बंधक रखने के लिए बाध्य हो गए। इस प्रकार वे स्वतन्त्र **कृषकों के स्थान पर कृषक-दास (सर्फ) बनने** लगे। इस स्थिति से उत्पन्न असन्तोष का लाभ उठाकर ६३२ ई० पूर्व में **साइलोन** नामक सामन्त ने अपने श्वसुर, मेगारा के टायरेन्ट थ्येग्नीज़ की सहायता से एथेंस में अपनी निरंकुशता स्थापित करने की चेष्टा की। यद्यपि उसका यह प्रयास असफल रहा, लेकिन इससे प्रशासन में सुधार की अपरिहार्यता स्पष्ट हो गई। ६२१ ई० पू० में **ड्रेको** नामक व्यक्ति को क़ानूनों को लिखित रूप देने का भार सौंपा गया। लेकिन अन्यायपूर्ण और निष्ठुर कानूनों को लिखित रूप देने मात्र से आर्थिक संकट दूर नहीं हो सकता था। जब विद्रोह के लक्षण स्पष्ट होने लगे तो ५९४ ई० पू० में सब पक्ष **सोलन** नामक सामन्त को आर्कन चुन कर उसे सुधार करने का पूर्ण अधिकार देने के लिए प्रस्तुत हो गए।

सोलन के सुधार : महाजन-तन्त्र की स्थापना—सोलन कोड्रस का वंशज था और कुशल व्यापारी होने के साथ विद्वान्, कवि और बुद्धिमान राजनीतिज्ञ भी था। उसने एथेंस के सामाजिक और राजनीतिक संगठन में मूलभूत परिवर्तन किए :

(१) **समाज को चार वर्गों में विभाजित** किया : (अ) ५०० बुशल से अधिक आय वाले (आ) ३०० से ५०० बुशल आय वाले और (इ) २०० से ३०० बुशल आय वाले व्यक्ति तथा (ई) स्वतन्त्र श्रमिक।

(२) उसने शासन-समितियों को पुनर्गठित किया : (अ) पुरानी **काउन्सिल ऑव एरियोपेगस** पूर्ववत् रही, लेकिन अब प्रथम वर्ग का कोई भी व्यक्ति उसका सदस्य हो सकता था। (आ) ब्यूल की सदस्यता तीसरे वर्ग के सदस्यों तक के लिए खोल दी गई। केवल स्वतन्त्र श्रमिक इसकी सदस्यता से वंचित रहे। इसके सदस्यों की संख्या ४०० थी, इसलिए इसे **'काउन्सिल ऑव फोर हंडरेड'** भी कहा जाता है। यह असेम्बली के विचार के लिए विषय निर्धारित करती थी। (इ) **असेम्बली अथवा एक्लेसिया** की सदस्यता का अधिकार-श्रमिक वर्ग को भी दिया। आर्कनों को चुनने का अधिकार जो पहले एरियोपेगस के हाथ में था, अब इस सभा को दे दिया गया। यह केवल उन विषयों पर विचार कर सकती थी जो ब्यूल इसके पास भेजती थी। (ई) देश के **सर्वोच्च न्यायालय** के न्यायाधीश बनने का अधिकार चारों वर्गों को दे दिया। यह न्यायालय आर्कनों के निर्णयों के विरुद्ध पुनरावेदन (अपील) सुनता था और न्यायाधीशों पर लगाये जाने वाले भ्रष्टाचार के आरोपों पर विचार करता था।

(३) निर्धनों की दशा सुधारने के लिए सोलन ने पुराने ऋणों को (सामान्य व्यापारिक ऋणों को छोड़कर) माफ कर दिया, ऋण न चुका सकने के कारण दास बने मनुष्यों को स्वतन्त्र कर दिया, भविष्य में ऋण के बदले अपने आप को बन्धक रख सकने का अधिकार छीन लिया और बन्धक रखे हुए भूमिखण्ड स्वतन्त्र कर दिए। मध्यमवर्गीय व्यापारियों के हितार्थ और देश की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए उसने भार और नाप की प्रणाली तथा मुद्रा-नीति में सुधार किए, विदेशी व्यापारियों और दस्तकारों को नागरिकता के अधिकार प्रदान करके एथेंस में बसने के लिए प्रोत्साहित किया, खाद्यान्न के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया, जैतून और अंगूर की खेती और निर्यात को प्रोत्साहन दिया, हर पिता के लिए अपने पुत्र को किसी न किसी व्यापार की शिक्षा देना अनिवार्य कर दिया और कोई काम न करने वाले व्यक्ति के लिए भारी दण्ड निर्धारित किया। सोलन को **पंचांग में सुधार** और लौरियम में चाँदी की **खानों की खुदाई** आरम्भ कराने का भी श्रेय प्राप्त है।

(४) सोलन बालकों के शारीरिक विकास के साथ **बौद्धिक विकास** को भी आवश्यक मानता था। इसलिए उसने उनके लिए शारीरिक व्यायाम के साथ

काव्य-संगीत की शिक्षा देने की व्यवस्था की। इसके अतिरिक्त उसने राज्य को युद्ध में मारे गए व्यक्तियों के बच्चों के पालन-पोषण के लिए उत्तरदायी घोषित किया, राज्य के निरीक्षण में **वेश्यावृत्ति वैध घोषित कर दी**, बलात्कार को जघन्य अपराध ठहराया और **अपव्ययात्मक धार्मिक समारोहों को कम करने का प्रयास किया**।

सोलन के सुधारों का मूल्यांकन—सोलन यूनान के महानतम भविष्य-द्रष्टा राजनीतिज्ञों में गिना जाता है। उसका उद्देश्य जनतन्त्र की स्थापना करना नहीं वरन् नवोदित धनी वर्ग, सामन्त वर्ग और निर्धन जनता के हितों में सामञ्जस्य स्थापित करके राज्य की स्थिति को सुदृढ़ करना था। इसके लिए उसने **मध्यमार्ग का अवलम्बन किया**। एक ओर उसने उग्रदलीय नेताओं की भूमि का सम-विभाजन करने की माँग को ठुकरा दिया, क्योंकि ऐसा करने में गृहयुद्ध होने का भय था, तो दूसरी ओर उसने उन अनुदार नेताओं के इस मन्तव्य को भी नहीं माना कि सामान्य जनों को मताधिकार से वंचित रखा जाना चाहिए। उसने समय की माँग को पूरा करने के लिए राजकीय पदों का आधार कुलीनता के स्थान पर धन को बनाया और एथेंस को क्रान्तिकारी परिवर्तनों से बचा लिया। यद्यपि **उसकी व्यवस्था को जनतन्त्र के स्थान पर महाजन-तन्त्र (टीमोक्रेसी) कहना अधिक उचित होगा**, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि मताधिकार को अधिक व्यापक करके उसने एथेंस के **भावी जनतन्त्र का बीजारोपण** किया। उसके सुधारों के परिणामस्वरूप उच्च पदों पर सामन्तों के साथ अन्य धनी व्यक्ति भी नियुक्त होने लगे और आम जनता को उन्हें नियन्त्रण में रखने और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने का अधिकार मिल गया।

क्लीस्थेनिज़ के सुधार—सोलन के सुधारों का सर्वाधिक विरोध भूमि के सम-विभाजन की माँग करनेवाले उग्र दल ने किया। उसकी सहायता से ५६० ई० पू० में **पीसिस्ट्रेटस** नामक सामन्त टायरेंट् बन बैठा। उसने धनी महत्त्वाकांक्षी सामन्तों को एथेंस से निष्कासित किया, कृषकों को पशु और बीज बाँट कर प्रसन्न किया और विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित किया। उसके बाद उसके हिप्पार्कस और हिप्पियास नामक पुत्रों ने कुछ समय तक उसकी उदार नीति जारी रखी, लेकिन हिप्पार्कस की मृत्यु के बाद हिप्पियास अत्याचारी हो गया। ५१० ई० पू० में सामन्तों ने **आइसोगोरास** के नेतृत्व में स्पार्टा की सहायता से उसको अपदस्थ कर दिया। इस सफलता से प्रोत्साहित होकर वे अपनी पुरानी शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का प्रयास करने लगे, लेकिन **क्लीस्थेनिज़** नामक

उदार-हृदय सामन्त द्वारा पराजित हुए। क्लीस्थेनिज़ ने एथेंस के जनतन्त्र को पूर्णतर करने के लिए नया संविधान बनाया :

(१) सामन्तों की शक्ति तोड़ने के लिए उसने समाज को रक्त-सम्बन्ध पर आधारित कबीलों के स्थान पर **दस प्रादेशिक वर्गों में विभाजित किया।** इनकी सदस्यता प्रदेश-विशेष में निवास करने पर ही मिलती थी, यद्यपि संविधान के लागू हो जाने के बाद व्यवहार में यह वंशानुगत हो गई। इन प्रदेशों को एथेंस का अंग माना जाता था। इनके सदस्यों में एकता की भावना दृढ़ करने के लिए उनके आदि पूर्वजों और जातीय त्यौहारों की कल्पना की गई।

(२) शासन-व्यवस्था को जनतान्त्रिक रूप देने के लिए उसने (अ) ब्यूल अथवा 'काउन्सिल ऑव फोर हण्डरेंड' के स्थान पर **'काउन्सिल ऑव फाइव हण्डरेंड'** की स्थापना की। इसके लिए प्रत्येक जाति से ५०-५० सदस्य प्रति वर्ष 'लॉटरी' डालकर चुने जाते थे। यह काउन्सिल विशाल थी, इसलिए इसके सदस्यों को ५०-५० की कमेटियों में विभाजित कर दिया गया था। प्रत्येक कमेटी ३५-३६ दिन तक शासन करती थी। काउन्सिल के अधिकार सर्वोच्च थे। देश की अर्थ-व्यवस्था, विदेश नीति तथा असेम्बली के विचार के लिए विषय-निर्धारण इसी के हाथ में थे। (आ) लेकिन काउन्सिल द्वारा प्रस्तावित किसी बिल को स्वीकृत, अस्वीकृत अथवा संशोधित करना **असेम्बली के** हाथ में था। यह युद्ध घोषित कर सकती थी और अर्थ-व्यवस्था की देख-भाल करती थी। इसकी बैठक दस दिन में एक बार होती थी। (इ) **एरियोपेगस** का महत्त्व और अधिकार घट गए लेकिन अस्तित्व बना रहा।

(३) तानाशाही की स्थापना के भय को दूर करने के लिए और जनतन्त्र को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए क्लीस्थनिज ने (अ) **'ऑस्ट्रेसिज़्म'** नियम बनाया। इसके अनुसार प्रतिवर्ष, असेम्बली की इच्छा होनेपर, जनसाधारण बहुमत से किसी भी व्यक्ति को राज्य के लिए घातक घोषित कर सकते थे। ऐसे व्यक्ति को दस वर्ष के लिए देश से निष्कासित रहना होता था। इस सभा में कम से कम ६००० व्यक्तियों की उपस्थिति आवश्यक थी। कालान्तर में यह नियम दलगत राजनीति का साधन बन गया। (आ) ५०१ ई० पू० में **सेना का पुनर्गठन** किया गया। अब हर जाति अपना सेनापति खुद चुनने लगी। इसके अतिरिक्त दस सेनापतियों (स्ट्रेटेगोई) की एक समिति बनाई गई। (इ) ४८७ ई० पू० के पश्चात्, जब से आर्कनों को 'लॉटरी' से चुनने का नियम लागू हुआ, **'स्ट्रेटेगिया'** अथवा सेनापतियों की समिति बहुत शक्तिशाली हो गई।

क्लीस्थेनिज के सुधारों से एथेंस का जनतन्त्र पूर्णतर हुआ। अब तानाशाही की स्थापना का भय कम हो गया, जनता का प्रशासन में प्रत्यक्ष भाग बढ़ गया और सामान्य नागरिकों को राजनीतिक समस्याओं का ज्ञान होने लगा। लेकिन अभी प्रशासन पर **कुलीनतन्त्रीय प्रभाव शेष** था। इसका पूर्णतः निराकरण पाँचवीं शती में पेरिक्लिज के युग में हुआ।

स्पार्टा

स्पार्टा के अपवादात्मक विकास के कारण—स्पार्टा पेलोपोनेसस अर्थात् दक्षिणी यूनान के लेकोनिया प्रदेश का प्रधान नगर था। जहाँ यूनान के शेष राज्यों में जनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था का विकास हुआ वहाँ स्पार्टा में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विरोधी सैनिक निरंकुशवाद का। उसके इस अपवादात्मक विकास के **तीन प्रमुख कारण** थे। एक, अच्छे बन्दरगाहों के अभाव और उत्तर-पूर्व और पश्चिम में पर्वतों से घिरा हुआ होने के कारण स्पार्टा **शेष यूनान से कुछ पृथक्-सा** था। इससे उसके निवासियों के **स्वभाव में एकाकिता** आ गई। दूसरे, स्पार्टा में व्यापार की प्रगति नहीं हुई। इससे वहाँ **जनतन्त्र की माँग करनेवाले व्यापारिक वर्ग का उदय न हो सका**। तीसरे, स्पार्टा के डोरियन शासकों ने लेकोनिया के मूलनिवासी एकियनों को अपना कृषकदास (सर्फ) बना लिया था। उनको **हेलोट** कहा जाता था। लेकिन संख्या में हेलोट अपने विजेताओं से बहुत अधिक थे और उनके **विद्रोह करने की आशंका** सदैव बनी रहती थी। यह आशंका उस समय और भी बढ़ गई जब जनसंख्या में वृद्धि के कारण अतिरिक्त भूमि की आवश्यकता पड़ने पर स्पार्टा ने बजाय उपनिवेश बसाने के, जैसा कि अन्य यूनानी राज्य करते थे, अपने पड़ोसी **मेसेनिया को अधिकृत कर लिया** और उसके नागरिकों को हेलोट बना डाला (७३०-३५ ई० पू० ?)। बाद में उसने इटली में **टेरेण्टम नामक** उपनिवेश की स्थापना भी की। इसके बाद लगभग एक सदी तक स्पार्टा की भू-क्षुधा शान्त रही और उसके निवासी अन्य राज्यों के समान यूनान की सांस्कृतिक गतिविधि में भाग लेते रहे। वस्तुतः सातवीं शती ई० पू० के पूर्वार्द्ध में एक प्रकार से स्पार्टा ही यूनान का सांस्कृतिक नेता था। लेकिन **६४० ई० पू० में मेसेनिया ने विद्रोह किया**। इसमें उसे अर्गोलिद और अर्केडिया से सहायता मिली। लेकिन प्रारम्भिक असफलता के बावजूद स्पार्टा **टायरटियस** नामक कवि-राजनीतिज्ञ-सेनापति के नेतृत्व में उसका दमन करने में सफल रहा। इस विद्रोह ने स्पार्टा के शासकों की आँखें खोल दीं। अब वे समझ गए कि अन्य राज्यों के समान व्यापार, कृषि, कला और

साहित्य में रुचि रखकर वे अपने से दस गुने हेलोटों को नियन्त्रित नहीं रख सकेंगे। इसलिए उन्होंने सब प्रकार के सुखों को तिलांजलि देकर अपने को सैनिक जाति के रूप में परिणत करने का संकल्प कर लिया।

'लाइकर्गस' का संविधान—स्पार्टा में ६०० ई० पू० के लगभग जो नई व्यवस्था लागू हुई वह लाइकर्गस (६२५ ई० पू० ?) के नाम से संयुक्त है। ब्यूरी जैसे बहुत से आधुनिक विद्वानों को उसकी ऐतिहासिकता में शंका है, लेकिन हेरोडोटस और प्लुटार्क आदि पुराने इतिहासकार उसे उसी प्रकार ऐतिहासिक मानते थे जैसे एगामेम्नोन को। **उसका उद्देश्य** स्पार्टा की शासक डोरियन जाति को शक्तिशाली बनाकर बहुसंख्यक हेलोटों को नियन्त्रण में रखने योग्य बनाना था। इसके लिए उसने नागरिकों के स्वास्थ्य, अनुशासनशीलता और सैनिक-शिक्षा पर बल दिया :

(१) स्पार्टा के नागरिक स्वस्थ और बलिष्ठ बनें इसके लिए उसने अनेक निष्ठुर नियम लागू किए। (अ) नवजात शिशु के दुर्बल होने अथवा उसके शरीर के सदोष होने पर उसका पिता उसका बध कर सकता था। पिता के हाथ से बचने पर उसे एक समिति का सामना करना पड़ता था जो **दुर्बल शिशुओं को टाइगेटस पर्वत की चोटी से फिंकवा देती थी**। स्वस्थ शिशुओं को भी तीन दिन के लिए पर्वतीय गुहाओं अथवा जंगलों में छोड़ दिया जाता था। जो शिशु इस परीक्षा में सफल होते थे और जीवित बच जाते थे, वही अपनी माताओं के पास लौट पाते थे। (आ) सात वर्ष तक माँ की गोद मे पलने के बाद बच्चों को बीस वर्ष की आयु तक **राजकीय शिविर में सैनिक-शिक्षा** दी जाती थी। वहाँ उन्हें हर ऋतु में घास-फूस के बिस्तर पर खुले मैदान में सोना होता था, सार्वजनिक भोजनालय में खाना पकाना और खाना होता था और चोरी करके भोजनालय का चन्दा देना होता था। उन्हें **चोरी करने के लिए प्रोत्साहित** किया जाता था क्योंकि सफल चोरी को चुस्ती और चतुरता का प्रमाण माना जाता था। लेकिन चोरी करते समय पकड़े जाने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था। उनके **पाठ्यक्रम** में साहित्य और कला को कोई स्थान नहीं था। बारह वर्ष की आयु से उन्हें शरीर ढकने के लिए प्रतिवर्ष एक वस्त्र मिलने लगता था। वयस्क लोग विद्यार्थियों को प्रायः लड़ाते रहते थे जिससे आपसी झगड़ों में वीरता की परीक्षा हो सके। तोंद निकल आने पर उन्हें देश निकाला दिया जा सकता था। (इ) बीस वर्ष की आयु में उन्हें **विवाह करने की अनुमति मिलती थी, लेकिन गृहस्थ** जीवन व्यतीत करने की नहीं। उन्हें अब भी सार्वजनिक भोजनालयों में भोजन करना होता था और इसके लिए खाद्यान्न-रूप

मे चन्दा देना होता था। उन्हें अपनी बैरकों में ही रहना और सोना पड़ता था। **वे अपनी पत्नी से भी रात में चोरी-छिपे ही मिल पाते थे।** कभी-कभी तो किसी स्त्री के कई-कई बच्चे हो जाते थे लेकिन उसका पति उसका मुँह तक नहीं देख पाया होता था। (ई) स्पार्टा का युवक तीस वर्ष की आयु में वयस्क होता था। उस समय से उसे **असेम्बली में भाग लेने का अवसर मिलता था।** अब वह उन पदों पर नियुक्त हो सकता था जिनके लिए अधिक उम्र की शर्त नहीं होती थी। लेकिन इस समय भी—साठ वर्ष की आयु तक—उसे सैनिक-शिक्षा यथावत् मिलती रहती थी और उसका समय शान्तिकाल में व्यायामशाला, सार्वजनिक भोजनालय अथवा क्लबों में बीतता था और युद्ध काल में युद्धस्थल में। (उ) स्पार्टा में **विवाह को आवश्यक** माना जाता था। अविवाहित पुरुष मताधिकार से वंचित रखे जाते थे और निस्सन्तान विवाहितों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। लेकिन प्रेम को विवाह का कारण नहीं परिणाम माना जाता था। विवाह का उद्देश्य सन्तान उत्पन्न करना था, इसलिए **स्वस्थ शिशु की कामना से कोई भी स्त्री पर-पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर सकती थी** और पुरुष पराई स्त्री से। इतना ही नहीं वृद्ध और रुग्ण पतियों से आशा की जाती थी कि वे राज्य को स्वस्थ नागरिक प्रदान करने के हेतु किसी स्वस्थ और सुन्दर नवयुवक को आमन्त्रित करके उसका अपनी पत्नी से सम्बन्ध स्थापित कराएँगे। लेकिन काम-पिपासा शान्त करने के लिए **अप्राकृतिक सम्बन्ध को भी अनैतिक नहीं माना जाता था।** प्रायः स्पार्टा के हर लड़के का कोई बुजुर्ग प्रेमी होता था। इस व्यवस्था से स्पार्टावासियों को वेश्याओं की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी। (ई) **स्पार्टा की नारियाँ** घरों में रहती थीं और अपेक्षया सुख का जीवन व्यतीत करती थीं। लेकिन विवाह के पूर्व तक उन्हें भी पुरुषों के समान शारीरिक-व्यायाम, मल्लयुद्ध और भाग-दौड़ आदि की शिक्षा मिलती थी। वे अपने स्वास्थ्य की ओर सजग रहें, इसके लिए उन्हें सार्वजनिक समारोहों में नग्नावस्था में नाचने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। वे सार्वजनिक समस्याओं पर स्वच्छन्दतापूर्वक विचार-विमर्श करती थीं, धार्मिक समारोहों में भाग लेती थीं और व्यक्तिगत सम्पत्ति की स्वामिनी होती थीं।

(२) नागरिकों को स्वभाव से कठोर और स्वदेश भक्त बनाने के लिए लाइकर्गस ने धनी-निर्धन में भेद कम करने और पूँजीवादी मनोवृत्ति को दबाने की चेष्टा की। इसके लिए देश में **सोना-चाँदी के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, और लोहे की मुद्राएँ प्रचलित की गईं।** इससे धन-संचय अत्यधिक

कठिन हो गया। विदेशी विचारों के दूषित सम्पर्क से स्पार्टावासी दुर्बल और विलासी न हो जाएँ इसके लिए उनकी **विदेश-यात्रा पर प्रतिबन्ध लगाया** गया और विदेशियों को स्पार्टा आने के लिए हतोत्साह किया गया।

(३) यह व्यवस्था जिन लोगों (हेलोटों) को वश में रखने के लिए लागू की गई थी, उनकी अवस्था बहुत खराब हो गई। अब वे स्वतन्त्र नागरिकों के अधीन रहते थे और उन्हें **विध्यानुसार निश्चित मात्रा में खाद्यान्न आदि देते थे**। इसके अतिरिक्त वे राज्य अथवा अपने व्यक्तिगत स्वामी द्वारा बताए गए अन्य कार्य तथा युद्ध के समय **सैनिक-सेवा** भी करते थे। उनको राज्य के बाहर बेचा नहीं जा सकता था। उनकी गतिविधि पर नियन्त्रण रखने के लिए **गुप्त पुलिस** की व्यवस्था थी जिसके सदस्यों को किसी भी खतरनाक हेलोट का वध करने का अधिकार प्राप्त था।

(४) स्पार्टा की राजनीतिक व्यवस्था भी सामाजिक संगठन के समान विचित्र थी। (अ) इसकी रूपरेखा राजतन्त्रात्मक थी क्योंकि राज्य के अध्यक्ष राजा थे। लेकिन उनकी निरंकुशता को रोकने के लिए एक के स्थान पर **दो राजाओं की व्यवस्था** की गई थी और उन्हें सीनेट—गेरूसिया—के अधीन रखा गया था। वे जियस के पुजारी माने जाते थे, सेना की अध्यक्षता करते थे और कुछ मामलों में मुकदमों का फैसला करते थे। (आ) **गेरूसिया के २८** सदस्य थे। ये अपेला द्वारा चुने जाते थे। इनकी आयु साठ वर्ष से अधिक होनी आवश्यक थी लेकिन वे आजीवन इसके सदस्य रहते थे। दोनों राजा भी इसके सदस्य माने जाते थे। गेरूसिया स्पार्टा का सर्वोच्च न्यायालय और व्यवस्थापिका सभा थी। इसके द्वारा प्रस्तावित बिल अपेला (असेम्बली) में रखे जाते थे। (इ) **अपेला** के सदस्यों की संख्या ८,००० के लगभग रहती थी क्योंकि प्रत्येक स्वतन्त्र नागरिक जो ३० वर्ष या इससे अधिक आयु का होता था इसका सदस्य समझा जाता था। यह सभा गेरूसिया और डायरेक्टरी के सदस्यों का चुनाव करती थी और गेरूसिया द्वारा प्रस्तावित बिलों को पास करके क़ानूनों का रूप देती थी। यह खुद कोई बिल प्रस्तावित नहीं कर सकती थी। इसकी अध्यक्षता पहले राजा करते थे। बाद में एफोरों के हाथ में यह अधिकार आ गया। यह बिलों पर बहस न कर केवल मत देती थी। मतदान शोर मचा कर किया जाता था। जिस मत के पक्ष के समर्थन में सबसे जोरदार शोर मचता था उसको स्वीकृत माना जाता था। (ई) डायरेक्टरी के सदस्य **एफोर** कहलाते थे। ये संख्या में पाँच होते थे। ५५६ ई० पू० के बाद एफोरों की शक्ति बहुत बढ़ गई और और वे देश के सर्वोच्च न्यायाधीश

और सत्ताधारी बन बैठे। गेरूसिया और अपेला की अध्यक्षता, नागरिकों की शिक्षा का प्रबन्ध, हेलोटों को नियन्त्रण में रखने का उत्तरदायित्व तथा विदेशी नीति का संचालन सभी कुछ उनके अधिकार में आ गए।

आलोचना—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्पार्टा की शासन-व्यवस्था **रूपरेखा में राजतन्त्रात्मक, सिद्धान्त में गणतन्त्रात्मक और यथार्थ में कुलीन-तन्त्रात्मक** थी। इसका मूलाधार था निरङ्कुश सैनिक समाजवाद। इसमें नागरिकों को राज्य के लिए माना गया था राज्य को नागरिकों के लिए नहीं। इसलिए इसमें **समाज के लिए व्यक्ति को बलि कर दिया गया।** कई शती तक समस्त स्पार्टा एक सैनिक शिविर की भाँति रहा जिसमें शारीरिक स्वस्थता के नाम पर **हृदय और मस्तिष्क** को सुखा दिया गया। ५५० ई० पू० के बाद स्पार्टा में एक भी साहित्यकार, वैज्ञानिक अथवा कलाकार का नाम सुनाई नहीं देता। अगर **'सोलन ने एथेंस वालों को मनुष्य बनाया था तो लाइकर्गस ने स्पार्टा वालों को यन्त्र बना डाला'।** उसके बाद अगली कई शती तक स्पार्टा निवासी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, वात्सल्य, दाम्पत्य प्रेम, पारिवारिक जीवन—इन सभी सुखों से वंचित रहे। यह ठीक है कि नई व्यवस्था ने उन्हें बलिष्ठ, अनुशासन-शील और स्वदेश-भक्त बनाया, लेकिन इसके साथ ही इससे वे दम्भी, उग्र, लोभी, कामुक, स्वार्थी और संकुचित मनोवृत्ति के भी हो गए। शुरू में समस्त यूनानी उन्हें प्रशंसा की दृष्टि से देखते थे, उनके बलिष्ठ और सुन्दर युवकों की अनुशासनशीलता पर मोहित थे उनके देश-प्रेम को आदर्श मानते थे और कहते थे कि 'सब यूनानी जानते हैं कि उचित क्या है परन्तु एक मात्र स्पार्टा वाले ही उसे करते हैं।' लेकिन बाद में जब स्पार्टा **रक्षक के स्थान पर भक्षक बनने लगा** और नगर-राज्यों की व्यवस्था में हस्तक्षेप करने लगा तो सब उसके पतन की कामना करने लगे। इसीलिए जब उसका पतन हुआ तो आश्चर्य सबको हुआ, दुःख किसी को भी नहीं।

ईरान-यूनान संघर्ष

ईरानी आक्रमण के कारण—जिस समय छठी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में एथेंस का जनतन्त्र और स्पार्टा का सैनिक निरङ्कुशवाद क्रमशः पूर्णता प्राप्त कर रहे थे, ईरान में हखामशी साम्राज्य का विस्तार हो रहा था। इसके संस्थापक **कुरुष (साइरस) महान्** (५५८-२९ ई० पू०) ने पूर्व में बैक्ट्रिया और काबुल की घाटी और पश्चिम में लीडिया और एशिया माइनर के यूनानी उपनिवेशों को जीत कर इसे भारत और यूनान का पड़ोसी बना दिया था।

उसके उत्तराधिकारी **कम्बुजिय** अथवा केम्बाइसिज़ (५२९-२१ ई० पू०) ने इसमें मिस्र सम्मिलित किया और उसके उत्तराधिकारी **दारयवौष** अथवा डेरियस (५२१-४८५ ई० पू०) ने थ्रेस, मेसीडोन (लग० ५१२ ई० पू०) तथा 'हिन्दुश' अथवा भारत के पंजाब प्रदेश का कुछ भाग (लगभग ५१० ई० पू०)। इस विशाल साम्राज्य को उसने २१ प्रान्तों में विभाजित किया। इनमें आयोनिया और लीडिया, जिनका क्षत्रप (गवर्नर) सार्डिस में निवास करता था, पहले दो प्रान्त थे, और थ्रेस २१ वाँ। इसके बाद उसने यूनान पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इसके **कई कारण** थे। (१) आयोनियन यूनानियों को यूनानी राज्यों से बराबर सहायता मिलती रहती थी। इस संकट से मुक्ति पाने का सरल उपाय यही था कि ईजियन समुद्र पार करके यूनान को भी विशाल हखामशी साम्राज्य का अंग बना लिया जाता। (२) ५०६ ई० पू० में एथेंस के भूतपूर्व टायरेन्ट् **हिप्पियास** (पृ० ४२६) ने एथेंस से निष्कासित होने के बाद सार्डिस में शरण ली। उसने सार्डिस के **क्षत्रप को यूनान पर आक्रमण करने के लिए उकसाया** और वचन दिया कि अगर ईरानी उसे पुनः एथेंस का टायरेन्ट् बना देंगे तो वह एथेंस को उनके प्रभुत्व के अन्तर्गत रखेगा। (३) दारयवौष के यूनान पर आक्रमण का तात्कालिक कारण **आयोनियनों का विद्रोह था**। ईरानी आधिपत्य की स्थापना से आयोनियनों को आन्तरिक शान्ति, सुरक्षा और अखिल हखामशी साम्राज्य में व्यापार की सुविधा जैसे लाभ प्राप्त हुए, परन्तु इसके बदले में उनकी स्वतन्त्रता नष्ट हो गई और उनकी प्रतिभा, जो स्वतन्त्र नगर-राज्यों में ही विकसित हो सकती थी, कुण्ठित होने लगी। इससे विवश होकर उन्होंने उन्होंने **५९९ ई० पू० में विद्रोह** कर दिया। इस विद्रोह में उन्हें **एथेंस से २० और एरिट्रिया से ५ युद्धपोतों की सहायता मिली**। इस संघर्ष में पहले उन्होंने सार्डिस को अधिकृत करने में सफलता पाई, लेकिन अन्ततोगत्वा **आपसी फूट और हखामशी सम्राज्य की तुलना में अपनी दुर्बलता के कारण वे पराजित हुए**। ईरानियों ने विद्रोही नगरों के नेता मिलेटस को लगभग पूर्णतः विध्वंस्त कर दिया गया। **इस विद्रोह** के परिणामस्वरूप आयोनियन यूनानियों की रही-सही शक्ति का अन्त हो गया, उनकी सांस्कृतिक प्रगति रुक गई, ईरान को परेशान देखकर थ्रेस और मेसीडोन स्वतन्त्र हो गए और दारयवौष का यूनान पर आक्रमण का विचार निश्चय में बदल गया। कहा जाता है कि वह इससे इतना क्रोधित हुआ कि उसने एक दास को यह भार सौंप दिया कि वह प्रतिदिन खाना खाते समय उसे पुकार कर कहे, 'श्रीमान्, एथेंस वालों को स्मरण रखिए।'

मेराथोन का युद्ध—दारयवौष का प्रतिशोधात्मक अभियान ४९२ ई० पू०

में प्रारम्भ हुआ जब उसने एक विशाल जलबेड़ा और पदाति सेना भेज कर थ्रेस, थेसोस और मेसीडोन को पुनर्विजित किया। इसके बाद उसने सब यूनानी राज्यों को हखामशी प्रभुत्व स्वीकृत कर लेने का आदेश भेजा। थीबिज, अर्गोस और ईजिना इत्यादि अनेक राज्यों ने विविध कारणों से उसका प्रतिरोध न करने का निश्चय किया तथा एथेंस और स्पार्टा ने सामना करने का। ४९१ ई० पू० में डेटिस नामक मीड के सेनापतित्व में ६०० जलपोतों पर आरूढ़ दो लाख हखामशी सैनिकों ने नेक्सो स और साइक्लेड्स् विजय करते हुए ईजियन समुद्र पार किया और योबोया को अधिकृत कर लिया। इसके बाद उन्होंने इरिट्रिया को जीतकर उसे सम्पूर्णतः ध्वस्त कर दिया और उसके नागरिकों को दास बना कर एलम भेज दिया। एथेंस और स्पार्टा ने इरिट्रिया को कोई सहायता नहीं दी। इसके बाद ईरानियों ने हिप्पियास की सलाह पर अपनी सेना मेराथोन के समीप एकत्र की। एथेंस उनका सामना करने के लिए नौ सहस्र सैनिक एकत्र कर पाया। एक सहस्र सैनिक प्लेटाई ने भेजे। स्पार्टा वालों ने सहायता देने का वचन दिया परन्तु, इस अन्धविश्वास के कारण कि उनकी सेना पूर्णिमा के पूर्व मैदान में नहीं उतर सकती, वे मेराथोन उस समय पहुँचे जब युद्ध समाप्त हो चुका था। इसलिए एथेंस वालों को ईरान की मेराथोन में एकत्र सेना का, जिनकी संख्या ३० हजार से एक लाख तक आँकी जाती है, सामना केवल दस सहस्र सैनिकों से करना पड़ा। लेकिन इस इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध में उन्होंने मिल्टियाडिज़ के नेतृत्व में निर्णायक रूप से विजय प्राप्त की। अगर हेरोडोटस का विश्वास किया जाय तो इसमें ईरानियों के लगभग ६४०० सैनिक मारे गए जबकि एथेंस के कुल १९२। इस विजय का यूनान के इतिहास पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। यह पहला अवसर था जब यूनानियों को यह विश्वास हुआ कि अजेय ईरानियों को भी पराजित किया जा सकता है। दूसरे, इससे हखामशी साम्राज्य का पश्चिम की ओर प्रसार रुक गया और यूनानियों में अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखने की आशा उत्पन्न हुई। एथेंस वालों को इस विजय से यूनान का त्राता होने का गौरव मिला, उनमें आत्म-विश्वास उत्पन्न हुआ और उनके शौर्य की धाक जम गई।

दारयवौष की मृत्यु—लेकिन खुद ईरानी सम्राट् के लिए यह पराजय सीमा पर लड़े गए एक युद्ध में सेनापतियों की मूर्खता से घटी दुर्घटना से अधिक नहीं थी। इसलिए उसने दुगने उत्साह से एथेंस पर पुनः आक्रमण की तैयारी की। अगर वह अपनी योजना को कार्यान्वित कर पाया होता तो एथेंस यूनान की रक्षा कर पाता, यह पर्याप्त सन्देहप्रद है। लेकिन यूरोप के भाग्य से नया आक्रमण

प्रारम्भ होने के पूर्व ही दारयवौष को मिस्र में हुए विद्रोह की ओर ध्यान देना पड़ा और उसे दबाने के पहले ही उसकी मृत्यु (४८५ ई० पू०) हो गई।

क्षयार्ष का आक्रमण—दारयवौष का उत्तराधिकारी क्षयार्ष (कज़रक्सीज़) अपने शासन काल (४८५-६६ ई० पू०) के प्रारम्भिक वर्षों में मिस्र और बैबिलोन के विद्रोहों का दमन करने में व्यस्त रहा। लेकिन उसके बाद उसने यूनान पर आक्रमण करने के लिए एक विशाल सैन्य संगृहीत की। सम्भवतः आधुनिक युग के पूर्व इससे विशालतर सेना कभी किसी देश में एकत्र नहीं की गई। अगर हेरोडोटस का विश्वास किया जाय तो उसकी विजयवाहिनी में २६ लाख ३१ हजार सैनिक थे और लगभग इतनी ही संख्या में इंजीनियर, व्यापारी, सेवक तथा वेश्याएँ आदि। इनमें केवल मीड और ईरानी ही नहीं भारतीय, बैबिलोनियन, असीरियन, मिस्री, फिनीशियन, सीरियन, लीडियन, केरियन, थ्रेसियन, बैक्ट्रियन, सोग्डियन, फ्रीगियन और आयोनियन इत्यादि अन्य अनेक जातियों और देशों के लोग सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त उसने आयोनियनों, मिस्रियों और फिनीशियनों की सहायता से १२०७ युद्धपोतों का एक शक्तिशाली जलबेड़ा भी तैयार किया था।

थर्मोपाइलेई का युद्ध—जिस समय क्षयार्ष यूनान पर आक्रमण की तैयारी कर रहा था, एथेंस में मिल्टियाडिज़ और एरिस्टिडिज़ का पतन और थेमिस्टोक्लिज़ का उत्थान हो रहा था। थेमिस्टोक्लिज़ ने स्थलसेना के स्थान पर जलसेना को सबल बनाया। उसकी सलाह पर स्पार्टा ने ४८१ ई० पू० में ईरान का प्रतिरोध करने का समर्थन करने वाले राज्यों की कोरिंथ में सभा बुलाई। इसमें निश्चय किया गया कि ईरानियों की कमर तोड़ने के लिये उनके जलबेड़े को नष्ट करने का प्रयास किया जाय और उनकी सेना की प्रगति थर्मोपाइलेई के समीप रोकी जाय। इस योजना के अनुसार स्पार्टा नरेश लियोनिडास को दस सहस्र सैनिकों सहित थर्मोपाइलेई दर्रे की सुरक्षा के लिए भेजा गया और थेमिस्टोक्लिज़ को जलबेड़े का अध्यक्ष बनाकर आर्तेमिजयम की ओर। लेकिन दस सहस्र सैनिकों के लिए ईरानियों की विशाल वाहिनी को रोक पाना असम्भव था। इसके बावजूद उन्होंने जिस साहस और वीरता से असम्भव को सम्भव बनाने की चेष्टा की वह **यूनानी इतिहास की सर्वाधिक सम्मानपूर्ण घटनाओं में से एक है**। इन दस सहस्र सैनिकों में केवल दो जीवित बचे जिनमें एक ने बाद में शर्म से आत्महत्या कर ली। इस सम्मानपूर्ण पराजय (४८० ई० पू०) से यूनानियों का सिर गर्व से ऊँचा हो गया।

आर्तेमिजयम का युद्ध और एथेंस का पतन—स्थल युद्ध के समान

आर्तेमिजयम के समुद्री युद्ध में भी यूनानी सफलता प्राप्त नहीं कर पाए और क्षयार्ष की विजयवाहिनी बराबर आगे बढ़ती गई। अन्त में उसने एथेंस को अधिकृत करने में सफलता पाई। लेकिन तब तक उसके निवासी उसे खाली करके सालिमस और ईजिना की ओर जा चुके थे। इससे क्रोधित होकर क्षयार्ष ने **एथेंस को भस्मीभूत कर दिया**। इस प्रकार उसने सार्डिस के विध्वंस और मेराथोन की पराजय का प्रतिशोध लिया।

सालिमस, प्लेटाई और माइकेल के युद्ध : ईरानियों का पराभाव—इस समय तक क्षयार्ष को अबाध रूप से सफलता मिलती रही थी जिससे उसको विश्वास होने लगा था कि वह कुछ ही समय में सम्पूर्ण यूनान को अधिकृत कर लेगा। लेकिन इसके बाद भाग्य ने पलटा खाया। थेमिस्टोक्लिज के आग्रह करने पर आर्तेमिजयम की पराजय के उपरान्त यूनानी जलबेड़ा **सालिमस** की ओर बढ़ा जहाँ अल्पसंख्यक होने के बावजूद यूनानियों के लघु जलपोत ईरानियों के विशाल परन्तु मन्दगति जलपोतों को पराजित करने में सफल रहे। यह युद्ध **विश्व इतिहास के निर्णायक युद्धों में गिना जाता है**, क्योंकि इससे ईरानी आक्रमणकारियों की यूनान विजय की अभिलाषा नष्ट हो गई और यूनानियों का उत्साह द्विगुणित हो गया। क्षयार्ष इससे इतना हतोत्साह और क्रोधित हुआ कि उसने फिनीशियन नौ-सेनापति को कायर कहकर मरवा डाला और अपने तीन लाख ईरानी, मीड, बैक्ट्रियन और भारतीय सैनिकों को मार्डोनियस नामक सेनापति के अधिकार में छोड़कर खुद शेष सेना सहित थेसली होते हुए सार्डिस वापस चला गया। लेकिन उसकी अनुपस्थिति में मार्डोनियस को भी सफलता नहीं मिली। उल्टे वह **प्लेटाई के युद्ध** (४७९ ई० पू०) में मुख्यतः स्पार्टा की सेना की वीरता और उनके सेनापति पोसेनियस के चातुर्य्य के कारण निर्णायक रूप से पराजित हुआ और मारा गया। लगभग उसी समय—यूनानी लेखकों के अनुसार उसी दिन—ईरानी जलबेड़ा भी **माइकेल के युद्ध** में नष्टभ्रष्ट कर दिया गया। इन पराजयों ने ईरानियों की कमर तोड़ दी। अगले वर्ष तक सब यूनानी राज्य और द्वीप स्वतन्त्र हो गए तथा हेलेस्पोंट पुनः यूनानी आधिपत्य के अन्तर्गत आ गया। इस प्रकार ईरान-यूनान के महान् संघर्ष का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

यूनानियों की विजय के कारण—हखामशी साम्राज्य की तुलना में यूनान एक लघु देश था और छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। लेकिन (१) यह **हखामशी साम्राज्य के केन्द्र से बहुत दूर** था। क्षयार्ष की आधी से अधिक शक्ति तो अपनी सैन्य को यूनान तक पहुँचाने, यातायात के साधनों को **सुरक्षित रखने और खाद्य-सामग्री का प्रबन्ध करने में ही नष्ट गई**। (२) **हखामशी**

सेना आवश्यकता से अधिक विशाल थी। इससे उसकी **गतिशीलता बहुत कम हो गई।** (३) **ईरानी सेना में एकता का अभाव** था। उसके सैनिक अनेक जातियों के थे और विभिन्न भाषाएँ बोलते थे। इसके विपरीत यूनानियों में राजनीतिक एकता के अभाव के बावजूद सांस्कृतिक और भाषात्मक एकता थी। (४) ईरानी सैनिक वेतनभोगी सेवक थे। वे राजाज्ञा का पालन करते धनोपार्जन के हेतु युद्ध करते थे। उनके लिए व्यक्तिगत रूप से जय-पराजय में कोई भेद नहीं था। लेकिन यूनानी अपने देश, जाति, और संस्कृति को बचाने के लिए लड़ रहे थे। उनके लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न था। इसलिए वे **अदम्य उत्साह** के साथ लड़े। (५) ईरानी सैनिक एशिया के खुले मैदानों में लड़ने के अभ्यस्त थे, यूनान की ऊबड़-खाबड़ भूमि में नहीं। इसके अतिरिक्त उनमें उतना **अनुशासन भी नहीं था** जितना यूनानियों में।

परिणाम—ईरान-यूनान का संघर्ष विश्व इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस संघर्ष में ईरान की पराजय से **यूनान का सांस्कृतिक वैशिष्ट्य सुरक्षित रह सका।** अगर यूनान अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा न कर पाता तो यूरोप की सभ्यता पर एशियाई सभ्यता की बहुत गहरी छाप लग जाती। उस अवस्था में यूनान में न तो सुकरात, प्लेटो और एरिस्टोटल उत्पन्न होते और न पेरिक्लिज और अलेक्जेण्डर। दूसरे, इस युद्ध में सफलता पाने से एथेंस की नाविक-शक्ति की धाक जम गई जिससे वह **'डेलोस संघ' की स्थापना** कर सका। कालान्तर में यह संघ एथेंस के साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया। लेकिन **ईरानी इतिहास की दृष्टि से यह असफलता** एक दुर्घटना मात्र से अधिक नहीं थी। बहुत से लेखक इसे हखामशी साम्राज्य के पतन का कारण मानते हैं। लेकिन वह धारणा अशुद्ध लगती है। यह ठीक है कि यूनान से लौटे सैनिकों के मुख से ईरानी 'राजाधिराज' के पराभाव का समाचार समस्त साम्राज्य में फैल गया और हो सकता है इससे विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को बल मिला हो। लेकिन हखामशी साम्राज्य का अस्तित्व इसके बाद लगभग डेढ़ शती तक बना रहा। इससे स्पष्ट है इस पराजय से साम्राज्य का पश्चिमी दिशा में प्रसार मात्र रुका, उसका विघटन नहीं हुआ।

यूनानी पोलिस

मध्य काल के अन्त से लेकर ईरानियों के पराभाव तक का युग (७५०-४७९ ई० पू०) 'क्लासिकल' यूनानी संस्कृति के आविर्भाव, विकास और प्रसार का है। इसका श्रेय अगर किसी एक संस्था को दिया जा सकता है तो वह है 'पोलिस'। **पोलिस शब्द** का अनुवाद प्रायः राज्य अथवा नगर-राज्य—**सिटी-**

स्टेट्स—किया जाता है। परन्तु ये दोनों अनुवाद अशुद्ध हैं। वस्तुतः **यूनानी पोलिस** एक ऐसी विलक्षण संस्था थी जिसे प्रकृत्या राजनीतिक होते हुए भी राज्यों और नगर-राज्योंकी सामान्य परिभाषाओं के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। 'राज्य' अवधारणा का मूल आधार है देश। उसकी राजधानी सुविधानुसार परिवर्तित कर दी जाती है। लेकिन **पोलिस में राजधानी अथवा मुख्य नगर ही राज्य होता था**। यह ठीक है कि उसके आस पास के गाँव तथा अन्य लघु नगर भी पोलिस में सम्मिलित माने जाते थे, लेकिन वे मुख्य नगर का अभिन्न अंग होते थे, पृथक् इकाई नहीं। उदाहरण के लिए चाहे कोई नागरिक एथेंस में रहता था अथवा एट्टिका के किसी अन्य नगर या गाँव में, वह एथेंसवासी ही कहलाता था। इसके बावजूद **यूनानी पोलिस विस्तार और जनसंख्या की दृष्टि से बहुत छोटे थे**। एथेंस का क्षेत्रफल कुल १००० वर्गमील था और स्पार्टा का ३२०० वर्गमील। लेकिन फिर भी उनका क्षेत्रफल अन्य सामान्य यूनानी पोलिसों से अधिक था। अधिकांश यूनानी पोलिस ४०० वर्ग मील से भी कम में विस्तृत थे। जनसंख्या की दृष्टि से वे आधुनिक गाँवों के समान थे। सम्पूर्ण यूनान में केवल एथेंस ही ऐसा पोलिस था जिसके नागरिकों की संख्या २०,००० से अधिक थी। यूनान के बाहर ऐसे केवल दो अपवाद थे—सायराक्यूज़ और एक्रागास। सामान्य यूनानी पोलिसों की आबादी ५००० से कम थी। प्लेटो ने इसी संख्या को आदर्श माना है।

पोलिसों के लघुत्व के कारण—यूनानी राज्यों के लघुत्व का कारण अंशतः **भौगोलिक था** (पृ० ३८८) और प्रधानतः **यूनानियों का स्वभाव**। सामान्य यूनानी नागरिक प्रकृत्या सामाजिक, सक्रिय, वाचाल और चिन्तनशील थे। उनकी आवश्यकताएँ सीमित थीं और पारिवारिक जीवन में उन्हें कोई आकर्षण नहीं था। उनके पास पर्याप्त अवकाश रहता था, लेकिन अवकाश को वे आलस्य का पर्यायवाची नहीं मानते थे। इसको वे अपने नगर की व्यायाम-शालाओं और अगोरा (बाजार) में अपने साथी नागरिकों के साथ मिलजुल कर व्यतीत करते थे। वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने पोलिस की समस्याओं पर विचार करते थे और उसकी सामाजिक तथा सांस्कृतिक गतिविधि में भाग लेते थे। मितभाषी और संकोची व्यक्ति को वे मूर्ख (ईडियट) समझते थे। ऐसे स्वभाव वाले नागरिकों का अपने नगर-राज्य के साथ घनिष्ठ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। इसलिए वे अगर अपने पोलिस के ऊपर किसी शक्ति का आधिपत्य सहन करने के लिए प्रस्तुत नहीं होते थे तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

पोलिस राज्य भी थे और समाज भी—नागरिकों और राज्य के घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध के कारण यूनानी पोलिस अत्यन्त **विलक्षण संस्था बन गए।** नगर-राज्यों का उद्भव इसके पहले सुमेर (पृ० ६३-४), मिस्र (पृ० ३२१) तथा फिनीशिया (पृ० २५४) में भी हुआ था, परन्तु उनका **स्वतन्त्र लोक जीवन के साथ उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं** मिलता जितना यूनानी पोलिसों में। यूनानी पोलिसों के लघुत्व के कारण उनके सब नागरिक एक दूसरे को जानते थे। वे सब असेम्बली के सदस्य होते थे और लॉटरी द्वारा ज्यूरर चुने जा सकते थे। उनका **धार्मिक जीवन भी प्रकृत्या सामुदायिक था।** होमर काल से ही पोलिस के मजिस्ट्रेट धार्मिक समारोहों की अध्यक्षता करते थे। पुजारियों का कार्य केवल पूजा-कर्म को सम्पन्न कराना था। **उनके दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान, सामाजिक जीवन और व्यवहार-शास्त्र—ये सब भी पोलिस से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हो गए थे।** वस्तुतः यूनानी पोलिस राज्य भी थे और समाज भी। जब एरिस्टॉटल ने यह कहा था कि मनुष्य एक 'राजनीतिक-प्राणी' (पोलिटिकल एनीमल) है तो उसका आशय यही था कि मनुष्य पोलिस में जीवन व्यतीत करने वाला प्राणी है। साइमोनिडिज़ के शब्दों में **'पोलिस मनुष्य का सब से बड़ा शिक्षक है।'** यूनानियों के लिए मानव जीवन का सर्वोच्च आदर्श पोलिस में ही अभिव्यक्त हो सकता था। प्लेटो ने अपने समय के यूनानी नगर-राज्यों को भ्रष्ट बताया था लेकिन 'रिपब्लिक' में उसने जिस आदर्श समाज की कल्पना की है वह पोलिस का ही सुधरा हुआ रूप है।

आर्थिक विकास और औपनिवेशिक प्रसार

पीछे देखा जा चुका है कि होमर काल में बहुत सी यूनानी जातियाँ ईजियन समुद्र पार करके एशिया माइनर में जाकर बसीं थीं। वह यूनान का **प्रथम औपनिवेशिक प्रसार** था। लेकिन वह प्रसार केवल ईजियन जगत् तक सीमित रहा। उस युग के यूनानी न काले सागर से विशेष रूप से परिचित थे और न पश्चिमी भूमध्यसागर से। लेकिन ७५० ई०पू० से लेकर ५५० ई०पू० के बीच में वे काले सागर और लीबिया के तटवर्ती प्रदेश से लेकर स्पेन तक फैल गए। सिसली और दक्षिणी इटली में तो वे इतनी संख्या में बसे कि वे प्रदेश **'बृहत्तर यूनान'** (मेग्ना ग्रेसिया) ही कहलाने लगे। रोम ने यूनानी सभ्यता का पहला पाठ 'बृहत्तर यूनान' के निवासियों से ही पढ़ा था (मानचित्र ४)।

औपनिवेशिक प्रसार के कारण—यूनान के इस **दूसरे औपनिवेशिक प्रसार का मुख्य कारण सम्भवतः जनसंख्या में वृद्धि था।** क्योंकि यूनानी

मानचित्र ४

बहुप्रसवी जाति थे और उनके देश में कृषि योग्य भूमि की कमी थी, इसलिए ७५० ई० पू० के बाद अनेक नगर-राज्यों में भूमि के पुनर्वितरण की मांग जोर पकड़ने लगी (पृ० ४२२)। इस संकट से मुक्ति पाने के लिए शासक वर्ग ने भूमिहीनों को कर्ज के भार से दबे खेतों को छोड़ कर अन्यत्र जाकर बसने और वहाँ नए सिरे से जीवन आरम्भ करने के लिए प्रोत्साहित किया। कुछ कृषकों ने अन्यत्र जाकर बसने की अपेक्षा उद्योग-धन्धों की ओर ध्यान देना अधिक अच्छा समझा। लीडियनों द्वारा **मुद्रा-प्रणाली के आविष्कार** से इस प्रवृत्ति को विशेष बल मिला। सम्भवतः इसीलिए एशिया माइनर के आयोनियनों ने इस दिशा में विशेष प्रगति की। मिलेटस के ऊनी कपड़े, मृद्भाण्ड और सुरा दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गए। लेस्बोस द्वीप का मिटाइलीन भी प्रसिद्ध औद्योगिक नगर हो गया। इसके कुछ बाद यूनान के नगर-राज्यों ने भी इस ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया। हम देख चुके हैं कि सोलन और उसके बाद एथेंस के सत्ताधारी नेता विदेशी **व्यापार** को प्रोत्साहित करने के लिए प्रयत्नशील थे। ईजिना, केल्सिस और कोरिंथ भी शीघ्र ही अपने विशिष्ट उद्योग-धन्धों के लिए विख्यात हो गए। विशेष रूप से कोरिंथ ने मृद्भाण्ड, कॉस्य-पात्र, ऊनी वस्त्र तथा जलपोत बनाने में समस्त यूनानी जगत् में यश अर्जित किया। इस प्रगति के परिणामस्वरूप कच्चे माल के आयात और तैयार माल के निर्यात के लिए नए बाजारों की समस्या सामने आई। इससे भी औपनिवेशिक गतिविधि को बल मिला। **बहुत से उपनिवेश निश्चित रूप से व्यापारिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए बसाए गए थे।**

औपनिवेशिक प्रसार का राजनीतिक पक्ष—यूनानियों के उपनिवेश आधुनिक साम्राज्यवादी उपनिवेशों से सर्वथा भिन्न थे। **वे बसाने वाले नगर के अधीन अथवा उसकी शाखाएँ न होकर पूर्णतः स्वतन्त्र इकाई होते थे।** जब कोई नगर-राज्य कोई उपनिवेश बसाने का निश्चय करता था तो वह वहाँ बसने के इच्छुक लोगों को संगठित करता था और उनका एक नेता अथवा अधिकारी नियुक्त कर देता था जिस पर वहाँ की भूमि के वितरण कार्य का भार सौंप दिया जाता था। भविष्य में वह उस उपनिवेश के **'संस्थापक'** के रूप में स्मरण किया जाता था। कोई उपनिवेश बसाने के पूर्व प्रत्येक पोलिस डेल्फी के 'ओरेकिल' से परामर्श करता था और प्रायः अन्य पोलिसों को साथ देने के लिए आमन्त्रित करता था। उसका नए उपनिवेश के साथ **भावात्मक और धार्मिक सम्बन्ध** माना जाता था। जब मूल नगर के निवासी उस उपनिवेश की यात्रा करते थे तो उनका अतिरिक्त रूप से सम्मान किया जाता था। और जब वह उपनिवेश खुद

कोई नया उपनिवेश बसाना चाहता था तो अपने मूल नगर से उसके लिए 'संस्थापक' नियुक्त करने का आग्रह करता था। **लेकिन मूल नगर का नये उपनिवेश पर राजनीतिक अधिकार नहीं माना जाता था।** यहाँ तक कि दोनों में अगर कभी युद्ध की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती थी तो उसे केवल अभाग्यपूर्ण बात मानी जाती थी, उपनिवेश का विद्रोह नहीं। इसलिए इस औपनिवेशिक प्रसार से 'यूनानी-साम्राज्य' जैसी चीज अस्तित्व में नहीं आ पाई।

यूनानी धर्म

यूनानियों की मूल सांस्कृतिक एकता की सीमा—यूनानी राज्यों में राजनीतिक दृष्टि से एकता का अभाव था, लेकिन **पांच न्यूनाधिक समान सूत्रों** के कारण उनके नागरिक अपने को एक मानते थे। वे सूत्र थे—धर्म, भाषा, क्रीड़ा-प्रेम (जिसकी अभिव्यक्ति राष्ट्रीय-खेलकूद-प्रतियोगिताओं के रूप में हुई), सौन्दर्य-प्रेम (जिसकी अभिव्यक्ति समान कला परम्पराओं के रूप में मिलती है) और समान बौद्धिक जीवन (क्योंकि कम से कम बड़े-बड़े साहित्यकारों, दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों को अखिल-यूनानी लोकप्रियता प्राप्त थी)। इस मूल **सांस्कृतिक समानता की परिधि में ईजियन प्रदेश तथा समस्त भूमध्यसागरीय जगत् में फैले यूनानी उपनिवेश भी सम्मिलित थे।** वस्तुतः इस युग में यूनानी सभ्यता के विकास में एशिया माइनर सिसली और दक्षिणी इटली के यूनानियों ने खुद यूनान के निवासियों से अधिक योगदान दिया था।

यूनानी देवसमूह—यूनानी धर्म का प्राचीनतम रूप होमर के ग्रन्थों में मिलता है (पृ० ४२०)। उसके बाद हेसियड और अन्य महाकवियों ने इसको स्पष्टतर रूप प्रदान किया। जैसा कि देखा जा चुका है यूनानी देवता मानव-रूपधारी थे और ओलम्पस पर्वत पर निवास करते थे। उनका अधिनायक आकाशदेव **जियस** था। जियस के दो भाई थे—पोसिडोन और हेडिज। **पोसिडोन** समुद्रों का अधीश्वर था और **हेडिज़** पाताल का। जियस ने कई बार विवाह किया और अनेक देवियों और मानवियों से सम्बन्ध स्थापित किए। इनमें **डेमिटर** (पृथिवी), **मेतिस** (प्रज्ञादेवी) तथा **हेरा** प्रमुख थीं। हेरा को उसने ओलम्पस की रानी बनाया। उसकी पुत्री **एथेना** समर-भयंकरी परन्तु जनरंजनी ज्ञानेश्वरी देवी थी और पुत्र **सूर्यदेव अपोलो** संगीत, काव्य, कला तथा चिकित्सा-शास्त्र का देवता। अपोलो की यूनान में बड़ी प्रतिष्ठा थी। वह एक प्रकार से यूनानी सभ्यता का प्रतीक माना जाता था। डेल्फी और डेलोस में उसके सम्मान में बड़े उत्सव मनाए जाते थे। उसकी बहिन चन्द्रदेवी **आर्तेमिस**

आखेट, वन, उपवन और पर्वतों की देवी थी। अगर अपोलो आदर्शभूत यूनानी कुमार था तो आर्तेमिस आदर्शभूत यूनानी कुमारी। लेकिन एफेसस में उसकी उपासना उर्वरता और मातृत्व की देवी के रूप में होती थी। पहले यह श्रेय **एफ्रोडाइट** को भी दिया जाता था परन्तु बाद में उसे विशुद्ध रूप से सौन्दर्य और प्रेम की देवी माना जाने लगा। कोरिंथ और एथेंस में वेश्याएँ उसको अपनी संरक्षिका मानती थीं। वह हेरा के लंगड़े पुत्र **हेफायस्तस** की पत्नी थी परन्तु युद्धदेव **एरिज**, पोमिडोन, तथा हेर्मिज इत्यादि देवताओं तथा एडोनिस जैसे मानवों से प्रणय-सम्बन्ध रखने में भी नहीं हिचकिचाती थी। इन सबसे विचित्र था मदिरा का देवता **डायोनाइसस**। एरिस्टोफेनिज के अनुसार उसकी लोकप्रियता पुरुषों से अधिक स्त्रियों में थी जो उसके शिश्न रूप को मदिरोत्सवों में स्वाभाविक अथवा अस्वाभाविक मैथुन-व्यापार और नृत्य-गान द्वारा तथा जलूस निकाल कर प्रसन्न करती थीं।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यूनानी देवता प्राकृतिक शक्तियों का दैवीकरण भी थे और प्रेम, क्रोध, काम और लोभ आदि मानवीय भावनाओं और गुणावगुणों के भी। इनके अतिरिक्त यूनानी अन्य असंख्य **गौण देवताओं, देवियों,** जलदेवियों, परियों, अप्सराओं तथा दैत्यों और राक्षसों आदि में भी आस्था रखते थे। हेसियड ने लिखा है उन सबके नाम मात्र लेना भी सामान्य मनुष्य के लिए असम्भव है। इतना विशाल देवसमूह मिस्र और भारत के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता।

धर्म का प्रभाव—यूनानी जीवन में धर्म का व्यापक प्रभाव था। यद्यपि प्रमुख देवताओं की पूजा सर्वत्र होती थी, परन्तु **हर राज्य का अपना संरक्षक देवता** था। उनका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता था। उदाहरण के लिए एक राज्य की एथेना दूसरे राज्य की एथेना से भिन्न मानी जाती थी। हर राज्य के निवासी अपने देवता की विशेष रूप से उपासना करते थे। इससे लोक जीवन और धर्म परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हो गए थे (पृ० ४३९)। **हर यूनानी जाति अपने को किसी न किसी देवता की सन्तान मानती थी**। उदाहरण के लिए डोरियन अपने को जियस-पुत्र हेराक्लीटस का वंशज मानते थे।

धर्म का बाह्य रूप—यूनानी धर्म की पूजा-विधि उपास्य-देव की प्रकृति पर निर्भर रहती थी। **ओलम्पियन देवताओं की पूजा-विधि अपेक्षया सरल थी,** डायोनाइसस जैसे देवताओं की पूजा-विधि विकृत। बहुत से देवताओं को **पशुबलि दी** जाती थी। यूनानी मनोरंजन के प्रेमी थे और जीवन के सामाजिक पक्ष पर अधिक बल देते थे, इसलिए उनके धर्म में जनरंजन करने वाले

उत्सवों को प्रतिष्ठा मिली। जियस के सम्मान में **ओलम्पिक** तथा **नेमियन**, अपोलो के सम्मान में पीथियन तथा पोसिडोन के सम्मान में **इस्थमियन** नामक उत्सव अखिल यूनानी स्तर पर मनाए जाते थे। इनमें **खेल-कूद, मल्लयुद्ध** तथा **कला-प्रतियोगिताएँ** होती थीं और अमोद-प्रमोद, रास-रंग और भोजन-पान किए जाते थे। यूनानी धर्म में शकुन-विचार को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसके मुख्य केन्द्र **डेल्फी** और **डेलोस** थे जहाँ दूरस्थ प्रदेशों से यूनानी (कभी-कभी एशियाई भी) आते रहते थे और देवता को भाँति-भाँति की भेंट चढ़ाकर अपनी जिज्ञासा रखते थे। उनका उत्तर मन्दिरों की पुजारिणें अर्द्ध-चेतनावस्था में बहुत धीमे स्वर में देती थीं जिसकी व्याख्या वहाँ के पुजारी करते थे। इन भविष्यवाणियों को **'ओ`रे`किल'** कहा जाता था। यूनान के बड़े-बड़े योद्धा, राजनीतिज्ञ तथा विद्वान् भी इनकी सच्चाई में श्रद्धा रखते थे। परन्तु वस्तुतः ये उत्तर इतने अस्पष्ट रहते थे कि उनका सही अर्थ जानना मुश्किल होता था। इतना ही नहीं बहुधा पुजारियों को रिश्वत देकर मनमानी भविष्यवाणी करा लेना भी दुष्कर नहीं रहता था।

गुह्य-समाज—यूनान में पूर्वी देशों का प्रभाव बढ़ने पर अनेक गुह्य-समाज स्थापित हुए। इनमें **एल्युज़ियन गुह्य-समाज** विशेषरूप से प्रसिद्ध है। इस समाज के सदस्यों को इसके सिद्धान्तों और कार्यवाहियों को गुप्त रखना होता था, इसलिए इसका पूरा हाल कोई नहीं जानता। लेकिन अनुमान किया जाता है कि इसके सदस्य भावना, श्रद्धा और कुछ रहस्यमय क्रियाओं द्वारा देवत्व प्राप्ति में विश्वास रखते थे। इसके लिए वे नृत्य, अभिनय और अनेक लीलाओं द्वारा आवश्यक वातावरण उत्पन्न करते थे। एक और रहस्यात्मक सम्प्रदाय का संस्थापक **ओरफियस** नामक व्यक्ति था। इसकी एक शाखा मृत्युपरान्त शाश्वत नरक में विश्वास करती थी, दूसरी पुनर्जन्म में और तीसरी कायाक्लेश द्वारा पापों के फल से बचने में। सम्भवतः इसी के सम्पर्क से पाइथेगोरास (पृ० ४४५) का पुर्नजन्म सिद्धान्त से परिचय हुआ था।

दर्शन

जगत् के मूल कारण की समस्या : मिलेशियन सम्प्रदाय—छठी शती ई० पृ० के पहले तक यूनानी यह विश्वास करते थे कि इस विश्व का सृजन देवताओं ने किया था और वे ही अपनी इच्छानुसार इसे चला रहे हैं। कवि **हेसियड** की रचनाओं में हमें ऐसे ही विचार मिलते हैं। इस धारणा का विरोध और तर्क-सम्मत सत्य के प्रतिपादन का सर्वप्रथम प्रयास मिलेटस के तीन दार्शनिकों—थेलिज, एनेक्जीमेन्डर तथा एनेक्जीमीनिज ने किया। उनके आविर्भाव

से यूनानी दर्शन का वह युग प्रारम्भ होता है जिसकी तुलना भारतीय उपनिषदीय युग से की जा सकती है। इन दार्शनिकों की **मुख्य समस्या** थी जगत् के मूल कारण को जानना। थेलिज़ ने (६२४ ई० पू०–लगा० ५५० ई० पू०), जिसे 'यूनानी दर्शन का पिता' कहा जाता है, यह श्रेय जल को दिया। यद्यपि उसका यह समाधान गलत था और वह धार्मिक विचारधारा के प्रभाव से पूर्णत मुक्त नहीं हो पाया था, तथापि एक प्राकृतिक तत्त्व को मूल कारण घोषित करके उसने धर्मशास्त्र से पीछा छुड़ा कर पश्चिमी जगत् में विशुद्ध दर्शन और विज्ञान की नींव रखी। उसके शिष्य एनेक्जीमेण्डर (६११–५४७ ई० पू०) ने उससे एक कदम आगे बढ़ कर अव्यक्त 'अनन्त' को सृष्टि का आदि कारण घोषित किया, और उसके शिष्य **एनेक्ज़ीमीनिज़** (५८८–५२४ ई० पू०) ने वायु को। उसने आग्रह किया कि जिस प्रकार मनुष्य का जीवन स्रोत सांस अथवा वायु है वैसे ही सृष्टि का मूल कारण भी वायु को ही होना चाहिए।

पाइथेगोरास का संख्यावाद्—मिलेशियन सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने सृष्टि का आदि कारण प्राकृत जगत् में ढूँढ़ने की चेष्टा की थी। सेमास निवासी पाइथेगोरास (लग० ५७५—५०० ई० पू०) ने यह श्रेय **'संख्या'** (नम्बर) को दिया। उसने प्रतिपादित किया कि प्रत्येक प्राकृतिक पदार्थ तोला या मापा जा सकता है। इसलिए प्राकृत वस्तुओं से संख्या अधिक मौलिक है। हम किसी ऐसे जगत् का चिन्तन कर सकते हैं जिसमें रंगरूप न हो, पर संख्याविहीन विश्व की कल्पना करने में सर्वथा असमर्थ हैं। दूसरे, संख्या अमूर्त अस्पृश्य तत्त्व है। इसमें एक और अनेक का समन्वय है। उदाहरण के लिए पाँच संख्या पाँच इकाइयों का समूह है; परन्तु यह इकाइयाँ बिखरी हुई न होकर एक हैं इसलिए इसमें एकत्व भी है। संसार में जो क्रम और सामंजस्य दिखाई देता है वह भी संख्या से सम्बद्ध है। पाइथेगोरास एक **कुशल खगोल-वेत्ता** भी था। उसके धार्मिक और नैतिक विचार भी महत्त्वपूर्ण थे। वह **पुनर्जन्म में विश्वास** करता था और एक सीमा तक **कायाक्लेश और निवृत्तिमार्गी विचारधारा का समर्थक** था। उस पर **भारतीय दर्शन का प्रभाव** लगभग निश्चित है।

परिवर्तन की समस्या : एलियाई सम्प्रदाय का नित्यवाद—इटली में दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ एलिया के **क्सनाफेनिज़** (लग० ५७२-४८० ई० पू०) ने किया। उसको एलियाई दर्शन सम्प्रदाय का जनक कहा जाता है। **वह एकेश्वरवादी था और** देवतत्त्व की होमर द्वारा की कई मानववादी व्याख्या **के विरुद्ध था। उसने ईश्वर को अनन्त, अनश्वर, एकरस और नित्य आध्यात्मिक सत्ता बताया। उसके बाद उसके मत का प्रतिपादन और समर्थन पार्मेनाइडिज़**

(पाँचवीं शती ई० पू०) तथा **ज़ेनो** (४९०-३० ई० पू०) ने किया।

हेराक्लीटस का अनित्यवाद—क्सनाफेनिज़ से सर्वथा उल्टी बात एफेसस निवासी हेराक्लीटस (५३५-४७५ ई० पू०) ने कही। जिस प्रकार गौतम बुद्ध ने उपनिषदों के ब्रह्मवाद का विरोध और प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रतिपादन किया था, उसी प्रकार हेराक्लीटस ने एलिया वालों के **एकेश्वरवाद और नित्यवाद का विरोध किया** और आग्रह किया कि सारी सत्ता प्रवाह की स्थिति में है, नित्यता केवल हमारी कल्पना है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य जन्म लेता है और कुछ समय बाद मरता है। लेकिन तथ्य यह है कि मनुष्य प्रतिक्षण पैदा होता और मरता रहता है। यह परिवर्तनशीलता अग्नि का स्वभाव है। अतः हेराक्लीटस **अग्नि को जगत् का मूल तत्त्व** मानता था।

साहित्य

हेसियड और आर्कीलोकस—होमरोत्तरयुगीन यूनान में होमर के बाद सर्वाधिक ख्याति और लोकप्रियता **हेसियड** को प्राप्त थी। परम्परागत विश्वास के अनुसार उसका जन्म ८४३ ई० पू० में हुआ था, परन्तु आधुनिक इतिहासकार उसको ७५०-७०० ई० पू० के मध्य रखना अधिक उचित मानते हैं। वह साइम (एशिया माइनर) के एक कृषक का पुत्र था। उसने **'थियोगोनी'** नामक कृति में देवताओं की वंशावली और उनके कृत्यों का वर्णन किया और **'वर्क्स एण्ड डेज़'** में निर्धनों के पक्ष और हित में आवाज उठाई। उसका यह असन्तोष तत्कालीन युग की बदलती हुई परिस्थिति का परिणाम था। उसके बाद के कवियों में इस असन्तोष का स्थान विषाद ने ले लिया। **सोलन, मिम्नेर्मस** (६१० ई० पू०) तथा आर्कीलोकस के विषाद-गीत (एलिजी) विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। **आर्कीलोकस** पेरोस के एक धनी सामन्त का एक दासी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र था। उसके तूफानी जीवन की बड़ी ही मार्मिक और करुण झलक उसके गीतों में मिलती है।

गीत-काव्य—६७० ई० पू० तक आते-आते यूनानी जगत् में गीतिकाव्य का आविर्भाव हो जाता है। ये बाँसुरी के साथ गाए जाते थे, इसलिए इन्हें अँग्रजी में **'लीरिकल पोयट्री'** कहा जाता है। इनमें मुख्यतः युद्ध, प्रणय, घृणा, संयोग-वियोग और सुरापान जैसे विषयों का भावना-प्रधान वर्णन रहता था। इनकी रचना में लेस्बोस द्वीप के **अल्कायस** नामक कवि ने विशेष रूप से कीर्त्ति अर्जित की। उसके गीतों में राजनीति भी है और प्रेम भी। लेकिन उसका हृदय सर्वाधिक रमा है हालावाद में। वह हमें सलाह देता है कि खूब पियो—जाड़ों में शीत दूर करने के लिए और गर्मियों में प्यास बुझाने के लिए। इसी

प्रकार के भाव तियोस के **एनाक्रियोन** (५६३-४७८ ई० पू०) ने अभिव्यक्त किए हैं। इन कवियों की बहुत-सी रचनाएँ तो उन्नीसवीं शती ई० के उर्दू शायरों के द्वारा लिखित सी लगती हैं।

सैफो—गीति-काव्य की रचना में केवल पुरुषों ने ही नहीं स्त्रियों ने भी कीर्त्ति अर्जित की। उनमें लेस्बोस की **सैफो** (जन्म ६१२ ई० पू०), जो अल्का-यस की समकालीन थी, प्राचीन यूनान की ही नहीं प्राचीन विश्व की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवियित्री के रूप में प्रसिद्ध है। वह अपने जीवन काल में ही समस्त यूनान में विख्यात हो गई थी। कहा जाता है कि सोलन को उसका एक गीत सुनकर कुछ और सीखे बिना मरने में कोई आपत्ति नहीं रह गई थी। प्लेटो ने उसे काव्य की नौ प्रेरक देवियों (म्यूज़) के बराबर मानकर **'दशम म्यूज़'** की उपाधि दी थी। प्राचीन यूनानी जैसे केवल 'कवि' कहने से होमर से तात्पर्य मानते थे वैसे ही केवल **'कवियित्री'** कहने से सैफो से। सैफो के गीत भावाभिव्यक्ति, कल्पना के स्वच्छन्द विहार तथा शब्द-चयन की दृष्टि से अत्यन्त उच्च कोटि के हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

कला

यूनानी कला के स्रोत और उद्देश्य—क्लासिकल यूनानी कला के उषः काल का अध्ययन करना **अवशिष्ट कलाकृतियों की कमी** के कारण अत्यन्त दुष्कर है। लेकिन इतना स्पष्ट है कि दर्शन और साहित्य के समान कला के क्षेत्र में भी **औपनिवेशिक नगरों ने महत्त्वपूर्ण योगदान** दिया था। उनकी **कला के** मुख्य स्रोत थे उनका सौन्दर्यबोध, क्रीड़ा-प्रेम, अलंकरण की प्रवृत्ति तथा उनके देवताओं का मानवीय स्वरूप। यूनानी देवता मानवों के सदृश थे इसलिए उनकी आदर्श मानवों के रूप में मूर्त्तियाँ बनाई जाती थीं और रहने के लिए सुन्दर मन्दिर रूपी भवन। यूनानी कलाकारों का उद्देश्य मिस्री कलाकारों के समान राज्य और राजा के गौरव को अभिव्यक्ति देना नहीं **राष्ट्रीय गुणों को सर्वोत्तम रूप में प्रदर्शित करना था।** ये उस कलाकृति को उत्तम मानते थे जो नेत्रों को सुन्दर लगे और मानव को पूर्णत्व की ओर प्रेरित करे। वे **सौन्दर्य के प्रेमी थे परन्तु ईजियनों के समान** (पृ० ४०९-१०) **उच्छृंखल सौन्दर्य के नहीं।** थ्यूसीडीडिज़ का दावा कि 'उच्छृंखलता विहीन सौन्दर्य से हमें प्रेम है' पूर्णतः सही था। इसीलिए यूनानी कला सुन्दर है, और एक आदर्श को अभिव्यक्त करने के बावजूद उपदेशात्मक नहीं हो पाई है।

स्थापत्य—प्राचीन यूनान में मूर्त्तियाँ और रिलीफ-चित्र प्रायः मन्दिरों को

सजाने के लिए बनाए जाते थे और उनको रंगा जाता था, इसलिए उसकी **मूर्तिकला, चित्रकला और वास्तुकला एक दूसरे से घनिष्ठतः सम्बद्ध थी और** प्रत्येक कलाकार इन सब में पारंगत होने की चेष्टा करता था। इस युग की **चित्रकला** के नमूने आजकल प्राप्य नहीं हैं, लेकिन साहित्य में इसका वर्णन मिलता है। छठी शताब्दी ई० पू० तक यूनानी मूर्त्तिकार अधिकांशतः **काष्ठप्रतिमाएँ** बनाते थे। इनमें सुवर्ण, हस्तिदन्त और बहुमूल्य पाषाण जड़े जाते थे। दूसरा प्रमुख माध्यम था **कांस्य**। बाद में उन्होंने शनैः शनैः पाषाण मूर्त्तियाँ बनाना सीखा। उनकी प्राचीनतर मूर्त्तियों पर **मिस्री और एशियाई प्रभाव** सुस्पष्ट है। ये पूर्णतः निष्क्रिय और भावविहीन मुद्रा में बनाई गई हैं और देखने में जीवन-हीन लगती हैं। सर्वप्रथम आयोनियन कलाकारों ने **झीने वस्त्र की सलवटों द्वारा शारीरिक सौंदर्य को अभिव्यक्ति** करने की कला का आविष्कार किया। पाँचवीं सदी ई० पू० के प्रारम्भ तक उनकी मूर्त्तियों में सजीवता आने लगी थी और वे क्लासिकल मूर्त्तियों से मिलती-जुलती होने लगी थी। छठी शताब्दी ई० पू० की मूर्त्तियों में **'कोउरोस'** और 'कोरे' नाम से प्रसिद्ध मूर्त्तियाँ उल्लेखनीय हैं। ये क्रमशः बाँया पैर बढ़ाए, हाथ लटकाए, मुट्ठियाँ बाँधे नग्नावस्था और भावविहीन मुद्रा में खड़े युवकों और सुन्दर जूड़े बाँधे, एक हाथ से वस्त्र उठाती और दूसरे से देवता को कुछ भेंट अर्पित करती हुई युवतियों की मूर्त्तियाँ हैं।

वास्तुकला—यूनानी वास्तुकला का उत्कर्ष मन्दिरों के निर्माण के हेतु हुआ। ये पहले काष्ठ और ईंटों के बनाए जाते थे, **पाषाण कला का** आविर्भाव होने पर पाषाण के बनाए जाने लगे। इनकी रूपरेखा बहुत साधारण और **आधार-योजना आयताकार** होती थी। वस्तुतः यूनानियों ने **स्तम्भों को भवनों की सौंदर्य वृद्धि का माध्यम बना लिया था**। छठी शदी ई० पू० तक वे दो शैली (ऑर्डर) के स्तम्भों का विकास कर चुके थे—डोरिक और आयोनियन। **डोरिक शैली** यूनान और पश्चिमी उपनिवेशों में लोकप्रिय थी और **आयोनियन** ईजियन प्रदेश और एशियाई उपनिवेशों में। इस युग में एथेंस की वास्तुकला मुख्यतः डोरिक शैली की थी। ईरानी आक्रमण के समय जब आयोनियन कलाकार एथेंस आकर बसे तो वहाँ आयोनियन शैली भी प्रचलित हो गई। पाँचवीं शदी ई० पू० के प्रारम्भ तक एथेंस के कलाकार दोनों शैलियों में पारंगत हो चुके थे और पेरिक्लियन-युग की महान् सफलता के लिए तैयार हो गए थे।
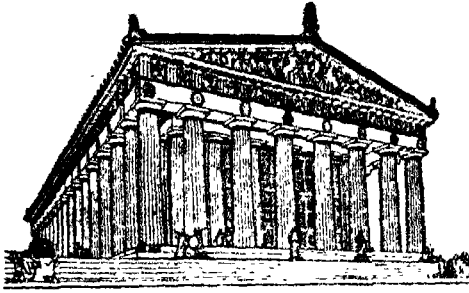
१६

पाँचवीं शताब्दी : पेरिक्लिज़ का युग

O Zeus, if There be a Zeus,
For I know of him only by report—

—*Euripides.*

एथेंस का साम्राज्य

साम्राज्य का बीज : डेलोस-संघ—प्लेटाई और माइकेल के युद्धों में ईरान के पराभाव के पश्चात् यूनानियों के समक्ष **दो समस्याएँ** आईं—एशिया माइनर के यूनानी उपनिवेशों को स्वतन्त्र कराना और ईरानियों के भावी आक्रमणों के विरुद्ध सुरक्षा का प्रबन्ध करना। इनके समाधान के हेतु एथेंस, ईजियन द्वीपों तथा एशिया माइनर के नगर-राज्यों ने मिलकर ४७७ ई० पू० में एक **संघ बनाया। इसका नेतृत्व स्पार्टा के स्थान पर एथेंस को मिला।** इसके तीन कारण थे। एक, सबसे शक्तिशाली जलबेड़ा जिसके बिना इन दोनों में एक भी समस्या हल नहीं हो सकती थी, एथेंस के पास था। दूसरे, स्पार्टा की न तो नौ-शक्ति उच्च कोटि की थी और न वह दूरस्थ देशों से युद्ध करके अपने उत्तरदायित्व को बढ़ाना चाहता था। तीसरे, एशिया माइनर के आयोनियन नगरों की स्वाभाविक सहानुभूति डोरियन स्पार्टा के साथ न होकर आयोनियन एथेंस के साथ थी। इस संघ की बैठक डेलोस में हुई और वहीं अपोलो के मन्दिर में इसका कोष रखा गया। इसलिये इसे **'डेलोस-संघ'** (डेलियन लीग)

इस पृष्ठ के ऊपर एथेंस के सुप्रसिद्ध देवालय पार्थेनोन (पृ० ४५७) के काल्पनिक पुनर्निर्माण की रेखानुकृति दी गई है।

कहते हैं। इसके सदस्यों ने समुद्र में लोहा डालकर प्रतिज्ञा की कि वे तब तक अपने कर्त्तव्यों को पूरा करते रहेंगे जब तक लोहा जल के ऊपर तैरने नहीं लगता। उन्होंने एथेंस के साथ पृथक्-पृथक् सन्धियाँ की तथा संघ के सामूहिक जलबेड़े के लिए चन्दे के रूप में जलपोत अथवा वार्षिक धन देने का वचन दिया। उनके चन्दे की मात्रा को निश्चित करने का भार एरिस्टिडिज़ को सौंपा गया। उसने इस कर्त्तव्य को इतनी ईमानदारी से पूरा किया कि यूनानी उसे 'न्यायी एरिस्टिडिज़' कहने लगे।

साइमन और डेलोस-संघ का कार्य—डेलोस-संघ की स्थापना का श्रेय मुख्यतः थेमिस्टोक्लिज़ की राजनीतिक बुद्धिमत्ता को दिया जाना चाहिए और उसके विस्तार का उसके प्रतिद्वन्द्वी, कुलीन दल के नए नेता, साइमन को। साइमन मिल्टियाडिज़ का पुत्र था। वह ४७६ से ४६२ ई० पू० तक बराबर सेनापति चुना जाता रहा। उसने थेमिस्टोक्लिज़ को 'ओस्ट्रेसाइज़्ड' कराया, स्काइरोस द्वीप में एथेंस का उपनिवेश स्थापित किया, समुद्री डाकुओं का दमन किया, केरिया, लीसिया तथा केराइस्टस (योबोया) को संघ का सदस्य बनने के लिए मजबूर किया, नेक्सोस और थेसोस के संघ की सदस्यता त्याग देने पर उन्हें पुनः सदस्य बनने के लिए विवश किया तथा ईरानियों को थ्रेस से खदेड़ा और उनके जलबेड़े को यूरोमेडान के युद्ध में पराजित किया। लेकिन वह एथेंस और स्पार्टा की मैत्री का समर्थक था जिसका जनतान्त्रिक दल के नेता पेरिक्लिज़ ने घोर विरोध किया। अन्त में ४६१ ई० पू० में पेरिक्लिज़ ने उसे 'ओस्ट्रेसाइज़्ड' करवाने में सफलता पाई।

पेरिक्लिज़

युग-पुरुष पेरिकिलज़—जनतान्त्रिक दल का नया नेता पेरिक्लिज़ पाँचवीं शती ई० पू० का महानतम राजनीतिज्ञ और सफल नेता सिद्ध हुआ। उसकी माता सुप्रसिद्ध सुधारक क्लीस्थेनिज़ की पौत्री थी और पिता एथेंस का भूतपूर्व जल-सेनापति ज़ेन्थिपस जिसने सालिमस के युद्ध में भाग लिया था, माइकेल के युद्ध में यूनानी जलवाहिनी का नेतृत्व किया था और तदनन्तर हेलेस्पोंट को ईरानियों से छीनने में सफलता पाई थी। पेरिक्लिज़ ने अपने समय के सर्वोत्तम संगीतज्ञ डेमोनिडिज़ और साहित्याचार्य पाइथोक्लीडिज़ से शिक्षा पाई थी और दार्शनिक मित्र एनेक्ज़ेगोरास के संसर्ग में अन्ध-विश्वासों से मुक्त होकर वैज्ञानिक रूप से चिन्तन करना सीखा था। इससे उसके व्यक्तित्व में कुलीनता, शौर्य तथा तत्कालीन यूनानी संस्कृति

चित्र ११९ : पेरिक्लिज़

के सर्वोत्तम तत्वों का अद्भुत समन्वय हो गया था। वह अत्यन्त गम्भीर और अल्पभाषी था। उसे न सामान्य लोगों से मिलने-जुलने का चाव था, न सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने का। उसे वक्तृता-कला की शिक्षा नहीं मिली थी, लेकिन भाषा पर उसे अधिकार था। वह जो कुछ कहता था नपे-तुले शब्दों में और पूर्ण विश्वास, गम्भीरता, दृढ़ता और गौरव के साथ। इसलिए जनता, जो उसकी देशभक्ति और ईमानदारी में विश्वास करती थी, उसके कथन से प्रभावित हो जाती थी। राजनीतिक जीवन में वह बहुत आदर्शवादी नहीं था और सामूहिक कल्याण के लिए हीनतर साधनों का आश्रय लेने में नहीं हिचकता था। लेकिन व्यक्तिगत रूप से वह भ्रष्टाचार से बहुत दूर था। थेमिस्टोक्लिज़ अपना राजनीतिक जीवन प्रारम्भ करते समय निर्धन था, परन्तु शीघ्र ही धनी बन गया। पेरिक्लिज़ ने अपने पद से ऐसा कोई लाभ नहीं उठाया। इसलिए वह दो वर्षों के लघु अन्तराल को छोड़ कर, ४२९ ई० पू० तक, 'स्ट्रेटेगोस ओटोक्रेटर' के रूप में एथेंस का भाग्य-विधाता बना रह सका।

पेरिक्लिज़ की विदेश नीति : एथेंस का स्थल-साम्राज्य—पेरिक्लिज़ एथेंस के साम्राज्य और प्रभाव का विस्तार करके उसे 'यूनान की रानी' (क्वीन ऑव हेलास) बनाना चाहता था। उसकी आकांक्षा की पूर्ति में सबसे बड़ी बाधा स्पष्टतः स्पार्टा था जो अभी तक यूनान का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य माना जाता था। इसलिए पेरिक्लिज़ ने साइमन की स्पार्टा के साथ मैत्री करने की नीति का विरोध किया और उसे मित्र-विहीन करने तथा दक्षिणी यूनान में शनैः शनैः एथेंस के प्रभाव को बढ़ाने का प्रयास किया। (१) उसने स्पार्टा के शत्रु थेसली और अर्गोस से मित्रता की। (२) ४६० ई० पू० में उसने मेगारा को कोरिंथ के आक्रमण से बचाकर इस्थमस में एथेंस की स्थिति दृढ़ की। दूसरी ओर उसने कोरिंथ की खाड़ी के पश्चिमी भाग के उत्तरी तट पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। (३) ४५७ ई० पू० में उसने मध्य यूनान में एथेंस के प्रभुत्व को दृढ़ किया। बोयोतिया में थीबिज के अतिरिक्त सब नगरों में जनतान्त्रिक व्यवस्था लागू कर दी गई, फोसिस को मित्र बना लिया गया और

लोक्रिस को डेलोस-संघ का सदस्य। (५) इसके कुछ ही बाद में **ईजिना, ट्रायजेन तथा एकिया भी मित्र बनने के लिए मजबूर कर दिए गए।** (६) इस बीच में डेलोस-संघ और ईरान का संघर्ष भी बराबर चलता रहा और पेरिक्लिज ईरान के विद्रोहियों को सहायता देकर संघ की शक्ति बढ़ाता रहा। लेकिन ४४९ ई०पू० में उसने ईरान से **केलियस की सन्धि** कर ली। ईरानी सम्राट् ने ईजियन प्रदेश और एथेंस पर आक्रमण न करने का विचन दिया और एथेंस ने हखा-मशी साम्राज्य के समुद्रतटीय प्रदेशों को परेशान न करने का।

डेलोस-संघ का एथेंस के साम्राज्य के रूप में परिवर्तन—केलियस की सन्धि का अर्थ था डेलोस-संघ की उपयोगिता का अन्त। लेकिन इस बीच में उसका स्वरूप काफी बदल गया था और वह मित्र-संघ के स्थान पर एथेंस का साम्राज्य हो गया था। (१) **एथेंस प्रारम्भ से ही संघ का सबसे शक्ति-शाली सदस्य** था। सामूहिक बेड़े में उसके पोत सबसे अधिक थे। उसी के हाथ में संघ और कोष की अध्यक्षता और बेड़े का सेनापतित्व था। (२) संघ के सब सदस्यों को सामूहिक जलबेड़े के लिए धन या जलपोतों के रूप में चन्दा देना होता था। यह सर्वथा स्वाभाविक था कि बड़े राज्य पोत देते और छोटे राज्य धन। **इस चन्दे को एथेंस को दिया जाने वाला कर मान लेना कठिन नहीं था।** एथेंस ने धीरे-धीरे अधिकाधिक सदस्यों को पोतों के स्थान पर धन देने के लिए विवश करने की नीति अपनाई। (३) संघ के विधान में यह स्पष्ट नहीं था कि कोई सदस्य इससे अलग हो सकेगा या नहीं। **एथेंस ने किसी सदस्य को यह अधिकार देने से इन्कार** कर दिया और नेक्सोॅस तथा थेॅसोॅस के विद्रोह करने पर उन्हें संघ में बनाये रखने के लिए शक्ति का प्रयोग किया (पृ० ४५०)। (४) एथेंस ने अनेक ईजियन और यूनानी राज्यों को जो संघ के सदस्य नहीं थे, सदस्य बनाने के लिए शक्ति का उपयोग किया। (५) ४५४ ई० पू० में पेरिक्लिज ने **संघ का कोष डेलोस से हटा कर एथेंस में एथेना देवी के मन्दिर में रखवा दिया।** इससे ४४९ ई० पू० में संघ की उपयोगिता खत्म हो जाने पर जब चन्दा वसूल किया गया तो वह 'चन्दे' के बजाय 'कर' प्रतीत होने लगा। (६) और मानो इस परिवर्तन के प्रतीक स्वरूप पेरिक्लिज ने इसके बाद इस **कोष का उपयोग एथेंस में सार्वजनिक-निर्माण-कार्य में करना प्रारम्भ कर दिया।** उसने तर्क रखा कि एथेंस अपने साथियों की रक्षा करता है। उस धन को उसे कैसे खर्च करना चाहिये इसके लिए उसे उनसे सलाह लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। (७) उसने यह भी नियम बना दिया कि संघ के सदस्यों के गम्भीर अभियोग निर्णय के लिए एथेंस में लाए जाएँगे।

(८) उसने सब राज्यों में **एथेंस की माप-प्रणाली और सिक्के भी चला दिए।** इससे संघ की परिवर्तित प्रकृति पूर्णतः स्पष्ट हो गई।

स्पार्टा से तीस वर्षीय सन्धि—४४९ ई० पू० एथेंस के चरमोत्कर्ष की तिथि है। इसके बाद ४४७ ई० पू० में पेरिक्लिज़ को पहली महत्त्वपूर्ण **पराजय** का मुख देखना पड़ा जिसके परिणामस्वरूप फोसिस, लोक्रिस मेगारा तथा एकियन नगर स्वतन्त्र हो गए। लेकिन इससे एथेंस के **समुद्री-साम्राज्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।** ४४५ ई० पू० में पेरिक्लिज़ ने स्पार्टा से **तीस वर्षीय सन्धि** की जिसमें दोनों पक्षों ने एक-दूसरे के मित्रों से सन्धि न करने का वचन दिया। इससे पेरिक्लिज़ और एथेंस को पेलोपोनेसियन युद्ध के आरम्भ तक अपेक्षया शान्ति से रहने और साम्राज्य को सुसंगठित करने का अवसर मिल गया।

पेलोपोनेसियन युद्ध : साम्राज्य का पतन

युद्ध के कारण—एथेंस के साम्राज्यवाद से उसके अधीन राज्यों को शान्ति और सुरक्षा जैसे लाभ तो मिले परन्तु उनकी स्वतन्त्रता नष्ट हो गई। इससे उनमें **घोर असन्तोष** उत्पन्न हो गया। दूसरी ओर मेगारा, कोरिंथ और स्पार्टा आदि राज्य **एथेंस के उत्कर्ष से ईर्ष्या करने लगे** और अवसर पाकर उसे नीचा दिखाने की चिन्ता करने लगे। ४३५ ई० पू० में एथेंस ने कोरिंथ के उपनिवेश कोरसियारा को संघ का सदस्य बना लिया। इससे क्रुद्ध होकर कोरिंथ ने उसके एक अधीन राज्य पोन्टिडाई को विद्रोह करने के लिए भड़का दिया और **स्पार्टा से सहायता माँगी।** स्पार्टा ने पेलोपोनेसियन संघ की सभा बुलाई और एथेंस से माँग की कि वह सब यूनानी राज्यों को स्वतन्त्र कर दे। लेकिन एथेंस ने इस माँग को ठुकरा दिया। इस पर ४३१ ई० पू० युद्ध छिड़ गया।

दोनों पक्षों का तुलनात्मक बल और युद्ध का परिणाम—एथेंस और स्पार्टा का युद्ध दो ऐसी शक्तियों का युद्ध था जो परस्पर प्रकृत्या भिन्न थीं। **एथेंस निवासी** प्रधानतः आयोनियन थे, उनकी शासन-व्यवस्था जनतान्त्रिक थी और वे व्यापार-व्यवसाय, साहित्य और कला आदि में रुचि रखते थे। इसके विपरीत **स्पार्टा वाले** जाति से डोरियन थे, उनकी शासन-व्यवस्था निरंकुश सैनिकवाद पर आधारित थी और वे साहित्य और कला को त्याज्य विलासिता मानते थे। दोनों पक्षों में तुलनात्मक रूप से **एथेंस अधिक धनी था और समुद्रों का स्वामी** था। लेकिन स्पार्टा अपेक्षया निर्धन होते हुए भी सैनिक दृष्टि से सबलतर था। इस युद्ध में **यूनान के लगभग सभी राज्यों ने भाग लिया।** मेगारा, कोरिंथ, बोयोतियन संघ, फोसिस और लोक्रिस तथा अर्गोस और

एकिया को छोड़कर सम्पूर्ण पेलोपोनेसस ने स्पार्टा का साथ दिया और ईजियन द्वीपों, थ्रेस, थेसली, कोरसियारा तथा एशिया माइनर के राज्यों ने एथेंस का। लेकिन स्पार्टा के साथियों में एकता की भावना दृढ़तर थी। यह युद्ध ४३१ ई० पू० से ४०४ ई० पू० तक चला और एथेंस के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ। इसके प्रारम्भ में ही एथेंस में महामारी फैल गई जिसमें उसके बहुत से नागरिक तथा सैनिक मर गए। दूसरे, ४२९ ई० पू० में पेरिक्लिज़ की मृत्यु हो गई जिससे राजसत्ता सामान्य प्रतिभावाले व्यक्तियों के हाथ में चली गई। ४१४ ई० पू० में उन्होंने एलसिबियाडिज़ नामक अदूरदर्शी नेता के कहने पर सिसली के डोरियन उपनिवेश साइराक्यूज पर आक्रमण करने के लिए अपना जलबेड़ा भेजा। लेकिन यह अभियान पूर्णतः असफल रहा। इससे एथेंस की नौ-शक्ति का आतंक नष्ट हो गया और स्पार्टा के जल-सेनापति लाइसेण्डर को ईरानी सहायता से उसका शेष जलबेड़ा पकड़ लेने में कठिनाई नहीं हुई। ४०४ ई० पू० में एथेंस ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसके लगभग सारे जलपोत छीन लिए गए, प्राचीर तोड़ दी गई और उसे स्पार्टा के अधीन रहने के लिए विवश होना पड़ा। इस धक्के से एथेंस कभी नहीं उबर पाया। इस प्रकार उसके गौरव का जनता की उच्छृंखलता, क्षुद्रता, अयोग्यता और स्वार्थान्धता के कारण अल्पकाल में ही सदैव के लिए अन्त हो गया।

एथेंस के जनतन्त्र का चरमोत्कर्ष

पेरिक्लिज की गृहनीति : संविधान का सुधार—पेरिक्लिज उच्चवर्गीय होते हुए भी जनतन्त्र का समर्थक था, इसलिए उसने ऐसे प्रस्ताव पारित (पास) करवाए जिनसे एथेंस का प्रशासन पूर्णतः जनतान्त्रिक हो गया। (१) उसने असेम्बली की सदस्यता धनी-निर्धन, छोटे-बड़े सब नागरिकों के लिए खुलवा दी। अब इसमें उच्च जनों के साथ कृषक, मोची, लुहार, सुनार सभी भाग लेने लगे। उनके हाथ में ब्यूल द्वारा रखे गए प्रस्तावों को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करना ही नहीं युद्ध और सन्धि करना, उच्चाधिकारियों की नियुक्ति करना एवं अपने नाम से बिल प्रस्तुत करके उसे अधिनियम बनवा लेने के अधिकार भी थे। (२) लेकिन अधिनियम बनने के पहले वह बिल ब्यूल के पास विचारार्थ जाता था। ब्यूल अथवा 'काउन्सिल ऑव फाइव हण्डरेड' (पृ० ४२१) के हाथ में उसे अस्वीकृत करना तो नहीं था परन्तु वह उसे असेम्बली के पास पुनर्विचारार्थ भेज सकती थी। यदि कोई अधिनियम एक वर्ष तक लागू रहने के बाद दोषपूर्ण सिद्ध होता था तो उसके प्रस्तोता को दण्डित किया जा सकता था। इससे कोई भी व्यक्ति बिना विचारे कोई बिल रखने का साहस नहीं कर

पाता था। (३) अभी तक **आर्कन पद** पर केवल उच्च वर्ग के ही सदस्य नियुक्त हो पाते थे। पेरिक्लिज ने ४५७ ई० पू० में यह अधिकार सब स्वतन्त्र नागरिकों को दिलवा दिया। (४) पेरिक्लिज ने **दस सेनापतियों—स्ट्रैटेगोई—की सभा** को देश की सर्वाधिक शक्तिशाली सभा और प्रधान सेनापति—**स्ट्रैटेगोस ओटोक्रेटर**—को एथेंस का सर्वाधिक शक्तिशाली अधिकारी बना दिया। इनका एथेंस की राज्य-व्यवस्था में कुछ वैसा ही स्थान था जैसा भारत सरकार में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल और प्रधान-मन्त्री का। यह सभा सेना का संचालन ही नहीं राजनीतिक मामलों की देखभाल भी करती थी। लेकिन इसके सदस्यों के **तानाशाह बनने की सम्भावना नहीं थी** क्योंकि एक तो वे असेम्बली द्वारा केवल एक वर्ष के लिए चुने जाते थे और दूसरे वे अपने हर कार्य के लिए उसके प्रति उत्तरदायी होते थे। (५) पेरिक्लिज के पूर्व तक **एरियोपेगस** देश का सर्वोच्च न्यायालय थी। अब उसके अधिकार छीन कर **हेलियाय अथवा जन-न्यायालयों** को सौंप दिये गये। एथेंस में प्रति वर्ष जनता के हर वर्ग से ६००० ज्यूरर लॉटरी द्वारा चुने जाते थे। इन्हें २०१ से लेकर १००१ तक के समूहों में बाँट दिया जाता था। यही जन-न्यायालय थे। इनका अध्यक्ष एक मजिस्ट्रेट होता था, लेकिन फैसला बहुमत से ज्यूरर ही करते थे। उनके फैसले की अपील कहीं नहीं हो सकती थी। सम्भवतः विश्व में इससे अधिक जनवादी न्याय-व्यवस्था कभी कहीं स्थापित नहीं हुई। पेरिक्लिज ने इस प्रयोग में जनता का हार्दिक सहयोग प्राप्त करने के लिए ४५१ ई० पू० में ज्यूरर **को कुछ पारिश्रमिक** देने की व्यवस्था भी की थी (६) पेरिक्लिज ने एथेंसवासियों में एथेंस के नागरिक होने में गर्व पैदा करने के लिए ४५१ ई० पू० में यह नियम बनवाया कि केवल वही व्यक्ति एथेंस का नागरिक हो सकेगा जिसके माता-पिता दोनों एथेंस के नागरिक रहे हों। उसने **एथेंस के नागरिकों और विदेशियों में विवाह-सम्बन्ध पर भी प्रतिबन्ध** लगवा दिया।

आलोचना—पेरिक्लिज के सुधारों से एथेंस **के जनतन्त्र ने पूर्णता प्राप्त** की। यह व्यवस्था आधुनिक प्रजातान्त्रिक विधानों से कई बातों में भिन्न थी। (१) इसमें **जनता के केवल सप्तांश को ही नागरिकता के अधिकार** प्राप्त थे। दासों को पूर्णतः और विदेशियों और स्त्रियों को अंशतः इनसे वंचित रखा गया। (२) आधुनिक काल में जनतन्त्रवादी देशों में जनता शासन-व्यवस्था में केवल अप्रत्यक्ष रूप से—अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से—भाग लेती है। लेकिन एथेंस में, केवल **ब्यूल के अपवाद को छोड़कर, प्रतिनिधि चुनने** की व्यवस्था नहीं थी। (३) एथेंसवासी उचित पदों पर योग्य और निपुण व्यक्तियों को

नियुक्त करने के स्थान पर **हर नागरिक को अवसर देना** अधिक अच्छा समझते थे; इसलिए सेनापतियों के अतिरिक्त सब अधिकारियों—यहाँ तक कि ज्यूरर को भी केवल एक वर्ष के लिए और वह भी लॉटरी द्वारा चुनते थे। **समानता के सिद्धान्त को इस हद तक व्यावहारिक रूप देना** आजकल कोई पसन्द नहीं करता। (४) उन्होंने **सर्वत्र बहुमत को** मान्यता दी। यह व्यवस्था अन्यत्र तो ठीक थी परन्तु न्यायालयों में जब लॉटरी से चुने ज्यूरर, जो अधिकांशतः मोची, जुलाहे, कुम्हार आदि होते थे, हाथ उठाकर बहुमत से फैसला करने लगे तो उससे न्याय का गला घुटने लगा। ऐसी व्यवस्था तभी तक चल सकती थी जब तक जनता सही मार्ग-दर्शन करने वाले पेरिक्लिज जैसे नेता के प्रभाव में रही। उसके बाद तो यह **व्यवस्था जनतन्त्रीय होने के स्थान पर भीड़तन्त्रीय हो गई** और सुकरात जैसे महापुरुष को मृत्यु दण्ड दिया जाना (३९९ ई० पू०) सम्भव हो गया। खुद पेरिक्लिज के जीवन काल में जनता ने हठपूर्वक अनेक अविचार-पूर्ण काम किये। उसके दार्शनिक मित्र एनेक्जेगोरास को मृत्युदण्ड (जो केवल एनेक्जेगोरास के भाग जाने के कारण ही कार्यान्वित होने से रुक पाया), फीडियास पर चोरी का आरोप और पेरिक्लिज की प्रेमिका अस्पेसिया पर, जो तत्कालीन एथेंस की सर्वाधिक विदुषी और प्रतिभा-शाली महिला थी और जिसकी वक्तृता कला की सुकरात ने भी प्रशंसा की थी, देवताओं की मान-हानि का आरोप (जिससे केवल पेरिक्लिज का प्रभाव, न्यायालय में हृदय-द्रावक भाषण और रुदन ही उसे बचा सके) इसका उदाहरण हैं।
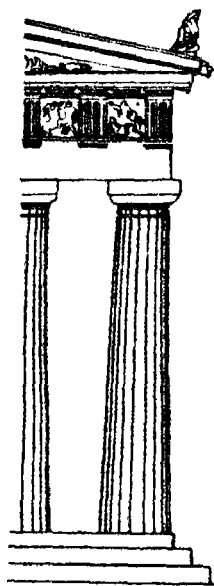
चित्र १२० : डोरिक स्तम्भ

कला

एथेंस का पुनर्निर्माण—पेरिक्लिज एथेंस को यूनान का राजनीतिक केन्द्र ही नहीं सांस्कृतिक हृदय-स्थल भी बनाना चाहता था। उसके उत्कर्ष के कुछ ही वर्ष पहले इसे ईरानियों ने ध्वस्त कर दिया था। पेरिक्लिज ने इसका नये सिरे से पुनर्निर्माण कराया। उसने इसे शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए चौड़ी सड़कों द्वारा निकटवर्ती **पिरेयस तथा फलेरम बन्दरगाहों से मिलाया** और उन्हें (सड़कों को) दोनों ओर से प्राचीर से सुरक्षित कराया। अब, जब तक एथेंस का समुद्र पर

अधिकार था, शत्रु के घेरा डाल लेने पर भी समुद्री मार्ग द्वारा विदेशों से खाद्यान्न का आयात बराबर होता रह सकता था। पेरिक्लिज़ ने नगर की सड़कों को भी पुनर्निर्मित कराया। ये पर्याप्त चौड़ी थीं और एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं। उसने नगर की **स्वच्छता की भी समुचित व्यवस्था की।**

एथेंस के मुख्य भवन—पेरिक्लिज़ ने एथेंस को भव्य भवनों से अलंकृत किया। इसके लिए उसने डेलोस-संघ के कोष को मुक्तहस्त से व्यय किया। उसके द्वारा बनवाए गए भवनों में सभा-भवन और अधिकांशतः काष्ठ से बना संगीत-भवन (ओडियम) प्रसिद्ध हैं। **सभा-भवन** में वह प्रायः वक्तृता दिया दिया करता था और **संगीत-भवन में**, बहुधा उसकी अपनी अध्यक्षता में, संगीत, नृत्य और नाटक प्रतियोगिताएँ आयोजित होती थीं। लेकिन इन सबसे कई गुना सुन्दर था **पार्थेनोन** नाम का देवालय (चि० ११८)। इसका निर्माण **इक्टिनस** और उसके सहायक **केलिक्रेटिज** नामक सुप्रसिद्ध कलाकारों ने किया था। यह आयताकार भवन पूर्णतः श्वेत संगमरमर से बनाया गया था। इसमें कहीं भी चूने आदि का प्रयोग नहीं किया गया था, लेकिन पाषाण-खण्डों को इतनी निपुणता से जोड़ा गया था कि वे एक दूसरे से पूरी तरह चिपक से गए। यह २२८ लम्बा, १०१ फुट चौड़ा और ६५ फुट ऊँचा था। पेरिक्लिज़ के समय तक यूनानी डोरिक और आयोनिक शैलियों का पूर्णतः विकास कर चुके थे। **डोरिक शैली के स्तम्भ** (चि० १२०) भारी और मोटे होते थे और उनका शीर्ष भाग सादा होता था। वे नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः पतले होते जाते थे। इसके विपरीत तिहरे आधार पर टिके **आयोनिक स्तम्भ** (चि० १२१) अपेक्षया पतले और हल्के होते थे, और उनका शीर्ष भाग सर्पिल अथवा कुण्डलाकार होता था। **कोरिंथियन शैली** के स्तम्भों में अलंकरण की मात्रा का आधिक्य रहता था। यह शैली चौथी शती ई० पू० में अधिक लोकप्रिय हुई। पाँचवीं शती ई० पू० में डोरिक सर्वाधिक लोकप्रिय शैली थी। पार्थेनोन इसी शैली में निर्मित किया गया था।
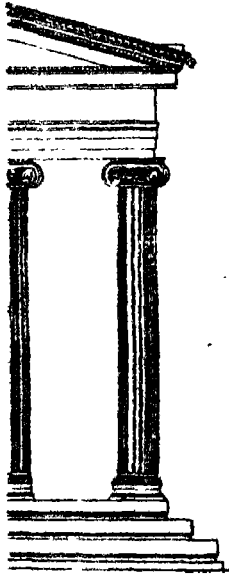
चित्र १२१ : आयोनिक स्तम्भ

मूर्त्ति कला—पेरिक्लिज़युगीन यूनानी मूर्त्तिकार सुवर्ण, हस्तिदन्त और **कांस्य** से भी उतनी ही सुन्दर मूर्त्तियाँ बना लेते थे (चि० १२२) जितनी **संग-**

मरमर से। पेलोपोनेसस के कलाकारों को कांस्य अधिक अच्छा लगता था और एथेंस के कलाकारों को श्वेत संगमरमर। यद्यपि उनकी रुचि का क्षेत्र विशाल था, लेकिन वे खिलाड़ियों, देवी-देवताओं और सुन्दरियों का चित्रण करना अधिक पसन्द करते थे। वे परम्पराओं के बन्धनों को तोड़ चुके थे, लेकिन खुद विभिन्न सम्प्रदायों में बँटे हुए थे। रेह्गियम सम्प्रदाय के कलाकारों में पाइथेगोरास सुप्रसिद्ध था। उसकी मूर्त्तियाँ जिन पर तत्कालीन प्रथा के विरुद्ध गहन भावों की अभिव्यक्ति हुई है, हेलेनिस्टिक युग की कलाकृतियों का स्मरण कराने वाली हैं। अर्गोस के कलाकारों में सर्वाधिक ख्याति पोलिक्लीटस को मिली। उसके द्वारा ४२२ ई० पू० में निर्मित हेरा की सुवर्ण और हाथीदाँत की मूर्त्ति फीडियास की एथेना की मूर्त्ति के समान भव्य मानी जाती थी। कहा जाता है उसने एफेसस की एक प्रतियोगिता में फीडियास को भी पराजित किया था। उसने मूर्त्तिकला पर एक पुस्तक भी लिखी थी। वह मानव शरीर को अधिकाधिक सुडौल रूप में दिखाने का पक्षपाती था। इसके विपरीत माइरन क्रीड़ारत खिलाड़ियों का अंकन करने की ओर अधिक ध्यान देता था। उसकी 'डिस्कस थ्रोअर' मूर्त्ति अपने क्षेत्र में अद्वितीय है। इसमें खिलाड़ी की डिस्कस फेंकते समय की छवि का बड़ा ही याथार्थिक चित्रण हुआ है।

चित्र १२२ : अपोलो की ओलम्पिया से प्राप्त कांस्य-मूर्त्ति की रेखानुकृति

फीडियास—पेरिक्लियन-युग का सर्वाधिक प्रसिद्ध मूर्त्तिकार था एक चित्रकार का पुत्र फीडियास। उसकी और उसके साथी कलाकारों की मूर्त्तियों में पुरुषोचित शौर्य और स्त्र्युचित सुकुमारता तथा सौन्दर्य का अद्वितीय समन्वय मिलता है। पेरिक्लिज ने उसी से पार्थेनोन के लिए एथेना की ३८ फुट ऊँची मूर्त्ति बनवाई थी। इसका शरीर हाथीदाँत का था और वस्त्र तथा सज्जा सुवर्ण की। इसके अतिरिक्त फीडियास ने इसी देवी की कांस्य की दो और मूर्त्तियाँ बनाई थीं। इनमें एक को उसकी सुन्दरतम कृति होने के कारण और दूसरी को अत्यन्त विशाल होने के कारण पर्याप्त ख्याति मिली है। इसके बाद उसने ओलम्पिया निवासियों के लिए स्वर्ण और हाथीदाँत से ही जियस की

६० फुट ऊँची मूर्ति बनाई। उसे पार्थेनोन को ५२५ फुट लम्बे रिलीफ-चित्रों से सजाने का भार भी सौंपा गया था। यह कार्य अधिकांशतः उसके एल्के-मिनिज़ आदि शिष्यों ने किया।

चित्रकला—पेरिक्लिजकालीन यूनान में चित्रकला की तीन विधियाँ विकसित हुईं : फ्रेस्को विधि जिसमें चित्रकार भित्ति के ताजे प्लास्टर पर चित्र बनाते थे, टेम्पेरा विधि जिसमें रंगों में अण्डे की सफेदी मिलाकर गीले कपड़े अथवा बोर्ड पर चित्र अंकित किए जाते थे और एन्कॉस्टिक विधि जिसमें रंगों को मोम में मिश्रित करके प्रयुक्त किया जाता था। अन्तिम विधि से बने चित्र बहुत कुछ आधुनिक तेल चित्रों के समान होते थे। यूनान में चित्रकला वास्तुकला की सहायक अधिक थी स्वतन्त्र कला कम, इसलिए अधिकांश चित्रकार टेम्पेरा चित्र ही बनाते थे। ४७० ई०पू० तक इस कला का पर्याप्त विकास हो गया था और इसे पीथियन और इस्थमियन प्रतियोगिताओं में स्थान दिया जाने लगा था। इस युग के कुछ चित्रकारों के नाम ज्ञात हैं। इनमें पॉलिग्नॉटस, जिसे 'ट्रॉय का विनाश' तथा 'ओडेमियस : हेडिज़ में' इत्यादि चित्रों के कारण एथेंस की नागरिकता प्रदान कर सम्मानित किया गया था, बहुत प्रसिद्ध था। उसने डेल्फी के मन्दिर को भी अपने चित्रों से सजाया था। उसके बाद ज्यूक्सिज़ और पर्रेसियस नामक दो अन्य चित्रकार हुए। ज्यूक्सिज़ के 'धावक' नामक चित्र को देखकर लगता था मानो दौड़ने वाले के मस्तक से स्वेद-बिन्दु अभी गिर पड़ेंगे। उसने क्रोटोना की पाँच सुन्दरतम नारियों को नग्न करवाकर उनके अंग-सौष्ठव का अध्ययन कर के 'हेलेन' चित्र बनाया था। इसी प्रकार पर्रेसियस ने एक दुःखी मनुष्य का याथार्थिक चित्र बनाने के लिए एक दास को भयंकर यन्त्रणा दी थी जिससे वह उसके मुख पर दुःख की रेखाओं का अध्ययन कर सके।

दर्शन

अणुवाद—छठीं शती ई० पू० में यूनान में परिवर्तनशील जगत् की व्याख्या करनेवाले नित्यवादी और अनित्यवादी सम्प्रदायों का उदय हुआ था (पृ० ४४५-६)। पाँचवी शताब्दी ई० पू० में अणुवादियों ने उनमें समन्वय करने का प्रयास किया। एरिस्टॉटल ने इस मत का संस्थापक ल्युसिप्पस को बताया है, लेकिन इसे व्यवस्थित रूप देने का श्रेय थ्रेसवासी डेमोक्रिटस (४६०-३७० ई० पू०) को दिया जाता है। उसने मान्यता रखी कि विश्व का निर्माण अणुओं से हुआ है जो असंख्य, अनश्वर और अविभाज्य हैं। ये आकार में परस्पर भिन्न होते हुए भी प्रकृत्या समान हैं। इनका संगठन वस्तुओं के उद्भव

और विघटन विनाश का कारण होता है। दो वस्तुओं, जैसे मनुष्य और पत्थर में भेद का कारण उनके निर्माता अणुओं की संख्या और व्यवस्था में भेद होना है। ऐसी विचारधारा में आत्मा के अस्तित्व का स्वीकार सर्वथा असम्भव था। इस मत से पेरिक्लिज का मित्र **एनेक्ज़ेगोरास** (पृ० ४५६, ४६३), जो मूलतः एशिया माइनर का रहनेवाला था, पूर्णतः सहमत नहीं था। उसने अणुओं को एक सा न मानकर अनेक प्रकार का माना और उनको विभिन्न पदार्थों में संगठित करनेवाली 'बुद्धि' का पृथक् अस्तित्व स्वीकृत किया। उसके चेतन और अचेतन में भेद करने के कारण ही एरिस्टोटल ने कहा था कि अन्धों में अकेला एनेक्ज़ेगोरास ही देखने वाला था।

सोफिस्टों का उदय—पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के मध्य एथेंस के बौद्धिक वातावरण में बड़ा परिवर्तन हुआ। एक, एस्काइलस तथा सोफोक्लिज आदि लेखकों ने बहुदेववाद का विरोध और एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया, पिण्डार ने होमर के देवतत्त्व में अश्रद्धा दिखाई और यूरीपिडिज ने धार्मिक आख्यानों में वर्णित दैवी-न्याय पर असन्तोष और क्षोभ प्रकट किया। इससे एक नई तर्क-सम्मत विचारधारा का जन्म हुआ। दूसरे, एथेंस में अनेक विदेशी विचारक आकर नए-नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने लगे। ये विचारक 'सोफिस्ट' कहलाते थे। इस शब्द का मूल अर्थ था 'मेधावी'। सोफिस्ट एक स्थान से दूसरे स्थान को आते-जाते रहते थे और जो भी व्यक्ति उन्हें फीस दे सकता था, उसे वाद-विवाद द्वारा शिक्षा देते थे। इसलिए **तर्कशक्ति उनकी मुख्य योग्यता** हो गई। बाद में वे उसका उपयोग सत्य की शोध के स्थान पर खोखले वाद-विवाद में विजय पाने के हेतु करने लगे। इससे वे बहुत बदनाम हो गए और यूनानी संस्कृति के मूलभूत आदर्शों पर कुठाराघात करने वाले और सत्य को असत्य और असत्य को सत्य सिद्ध करने वाले माने जाने लगे।

प्रसिद्ध सोफिस्ट विचारक—पहला महत्त्वपूर्ण सोफिस्ट विचारक **प्रोटेगोरास** (४८०-४११ ई० पू०) था। वह अब्देरा का निवासी था, परन्तु उसने अपने अधिकांश उपदेश एथेंस में दिए। उसने प्रतिपादित किया कि **'सब वस्तुओं का मानदण्ड मनुष्य है'**। इसका अर्थ था कि सत्य, न्याय, सदाचार और सौन्दर्य—ये सब मनुष्य की आवश्यकताओं और हितों पर निर्भर होते हैं। लेकिन मनुष्य की आवश्यकताएँ और हित देश और काल के साथ परिवर्तित होते रहते हैं, इसलिए इनके साथ आदर्शों की परिभाषा में भी परिवर्तन होता रहता है। प्रोटेगोरास के इस शंकावाद को **जोर्जियस** (४२७ ई० पू०) ने नया मोड़ दिया। उसका कहना था कि ज्ञान की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है,

क्योंकि पहले तो किसी वस्तु का अस्तित्व है ही नहीं जिसको जाना जा सके और अगर है तो मनुष्य उसे जान नहीं सकता और जान भी सकता है तब भी वह अज्ञात रहेगी क्योंकि मनुष्य उस ज्ञान का प्रकाशन नहीं कर सकता। इसी प्रकार **थ्रेसीमेकस** ने प्रोटेगोरास के मत में निहित व्यक्तिवाद को निष्ठुर शक्तिवाद में परिणत किया। उसने प्रतिपादित किया कि सब नियम क़ानून शक्तिवानों द्वारा अपने हितार्थ बनाये जाते हैं। दुनिया में न्याय जैसी कोई चीज़ नहीं है। अतः बुद्धिमान व्यक्ति वही है जो शक्तिपूर्वक, अन्याय करके भी, अपना हित साधन करता है।

लेकिन इन दोषों के बावजूद **सोफिस्टों की विचारधारा प्रगतिशील** थी, इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने निरपवादरूपेण सामान्य जनों के अधिकारों का समर्थन और दास-प्रथा तथा युद्धों का विरोध किया। उनका प्रमुख **दोष** था उनका अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को न समझना और चिरसंचित आदर्शों पर कुठाराघात करना। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप एथेंस में एक ऐसे विचारक का जन्म हुआ जिसने सत्य की निरपेक्षता का प्रतिपादन किया और मूलादर्शों को पुनः दृढ़ आधार प्रदान किया।

सुकरात—सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०) एथेंस का पहला महान् दार्शनिक था। इसके पहले एनेक्जेगोरास आदि जो दार्शनिक एथेंस में रहे थे, वे विदेशी थे। सुकरात के आविर्भाव के साथ यूनानी दर्शन मुख्यतः एथेंस का दर्शन बन जाता है। उसका जन्म साधारण परिवार में हुआ था। उसका पिता मूर्त्तिकार था और माँ दाई। उसने तीन बार एथेंस की ओर से युद्ध में भाग लिया था। लेकिन उसकी रुचि दर्शन में अधिक थी, जिसे सोफिस्टों के विरुद्ध उत्पन्न भावना ने सबलतर कर दिया। शीघ्र ही उसके अनेक शिष्य हो गए जिनमें प्लेटो और एलसिबियाडिज प्रमुख थे। उसने **खुद कभी कुछ नहीं लिखा**। उसके विचार मुख्यतः प्लेटो के 'डायलॉग्स' (संवाद) और ज़ेनाफन के 'मेमोरेबिलिया' (संस्मरण) से ज्ञात होते हैं। **उसकी रुचि न विशुद्ध दर्शन में थी और न जटिल धार्मिक समस्याओं में**। 'देवताओं के विषय में हम कुछ नहीं जानते', यह कहकर वह इस विषय के जिज्ञासुओं का शान्त करने का प्रयास करता था। उसकी अपनी **दिलचस्पी मुख्यतः आचार-शास्त्र में** थी। वह विश्वास करता था कि मनुष्य अगर सही उपाय का अवलम्बन करे तो **शाश्वत सत्य के दर्शन कर सकता है**। उसके जीवन का लक्ष्य ही था सत्य की खोज। इसीलिए वह अपने को, नम्रतापूर्वक सोफिस्टों से पृथक् करने के लिए, **'फिलोस्फर'** (सत्यार्थी) कहता था। उसके विषय में डेल्फी के ओरेकिल ने कहा

था कि वह **सबसे अधिक बुद्धिमान् यूनानी है**। सुकरात ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की कि जब कि अन्य व्यक्ति न जानते हुए भी यह समझते हैं कि वे जानते हैं, वह यह जानता है कि वह नहीं जानता। इसलिए वह औरों से अधिक बुद्धिमान है।

विषपान—सुकरात के विचार आधुनिक दृष्टि से बहुत प्रगतिशील थे, परन्तु एथेंस के शासकों की दृष्टि से राज्य की सुरक्षा के लिए घातक। विशेष रूप से पेलोपोनेसियन युद्ध के बाद उत्पन्न निराशा के वातावरण में सुकरात द्वारा परम्परागत मान्यताओं की आलोचना उनके लिए असह्य हो गई। उन्होंने उस पर आरोप लगाया कि वह एथेंस के युवकों को बिगाड़ रहा है। इसलिए अनिष्ट निवारण के हेतु उन्होंने उसे ३९९ ई० पू० में विषपान द्वारा मृत्यु का दण्ड दिया उसके साथ यूनान के सुवर्णकाल का अन्त हो गया।

विज्ञान

बीजगणित—आजकल यह धारणा प्रायः प्रचलित है कि यूनानी बड़े भारी वैज्ञानिक थे; लेकिन यह गलत है। यूनानियों की रुचि न सुख-सुविधाओं को बढ़ाने में थी न प्रकृति पर विजय पाने में। इसलिए हेलिनिस्टिक-युग में एशिया के घनिष्ठ सम्पर्क में आने के पूर्व तक वे **विज्ञान के क्षेत्र में विशेष सफलता न पा सके**। दूसरे, उनका **विज्ञान दर्शन के साथ घनिष्ठतः सम्बद्ध** था। उदाहरण के लिए उनके बीजगणित का प्रारम्भ कुछ 'थ्योरम' का आविष्कार करके थेलिज़ ने किया था, यद्यपि उससे अधिक महत्त्वपूर्ण खोजें सम्भवतः **पाइथेगोरास** की थीं। ४४० ई० पू० में कियोस के **हिप्पोक्रेटिज़** ने एक पुस्तक लिखकर इस विद्या को स्वतन्त्र आधार प्रदान किया। उसके बाद एलिया के **हिप्पियास** (४२० ई० पू०) तथा अब्देरा के **डेमोक्रेटिज़** (४१० ई० पू०) ने इसको विकसित किया।

चिकित्सा-शास्त्र—पेरिक्लिजयुगीन यूनानियों ने सर्वाधिक प्रगति चिकित्सा-शास्त्र में की। इस शास्त्र का इतिहास एक्रागास के **एम्पिडोक्लिज़** (४९५-३५ ई० पू०) से प्रारम्भ होता है। उसने सिद्ध किया कि रक्त हृदय से और उसकी ओर प्रवाहित होता है और त्वचा के सूक्ष्म छिद्र श्वास-प्रक्रिया में पूरक होते हैं। उसके बाद क्रोटोना (इटली) के **अल्कमेयन** ने, जिसे यूनानी चिकित्सा-शास्त्र का पिता माना जाता है, मस्तिष्क को विचारों का केन्द्र बताया, 'ऑप्टिक नर्व' का पता लगाया, निद्रा-प्रक्रिया का अनुसन्धान किया, पशुओं की शल्य-चिकित्सा प्रारम्भ की और 'ऑन नेचर' नामक पुस्तक लिखी। लगभग उसी समय एशिया माइनर में **यूराईक्रोन** नेप्लूरिसी को फेफड़ों की

बीमारी बताया और कब्ज को अन्य अनेक रोगों का। इस युग का सब से बड़ा चिकित्साशास्त्री कॉस (एशिया माइनर) का **हिप्पोक्रेटिज़** था। वह गणितज्ञ हिप्पोक्रेटिज से भिन्न है। उसने चिकित्सा-शास्त्र को धर्म और दर्शन से पृथक् किया, रोगों का मूल दैवी-शक्तियों के स्थान पर प्राकृतिक कारणों को बताया, संक्रामक रोगों का पता लगाया और शल्य-चिकित्सा का विकास किया। उसने चिकित्सकों के लिए एक व्यावसायिक शपथ भी प्रचलित की जो आज तक श्रद्धेय मानी जाती है।

ज्योतिर्विद्या—पाँचवीं शती ई० पू० में यूनानियों ने ज्योतिर्विद्या में काफी प्रगति की! चिकित्सा-शास्त्री **एम्पिडोक्लिज़** ने खोज की कि प्रकाश को एक विन्दु से दूसरे बिन्दु तक पहुँचने में समय लगता है और विश्व चार तत्त्वों—पृथिवी, जल, वायु, और अग्नि से बना है। एलिया में दार्शनिक **पार्मेनिडिज़** ने घोषित किया कि पृथिवी गोलाकार है और चन्द्रमा सूर्य द्वारा प्रकाशित होता है। थीविज में **फाइलोलोस** ने पृथिवी को विश्व के केन्द्र के स्थान पर एक ग्रह मात्र घोषित किया और अब्देरा में **डेमोक्रिटिस** ने आकाश-गंगा को अनन्त विश्वों का समूह बताया। एथेंस में **एनेक्ज़ेगोरास** (५००-४२८ ई० पू०) ने इस विद्या में बहुत रुचि ली। उसने बताया कि चन्द्रमा पृथिवी के निकटतम है और उस पर भी मैदान और पर्वतादि हैं। उसने **पार्मेनिडिज़** के इस मन्तव्य का समर्थन किया कि चन्द्रमा सूर्य द्वारा प्रकाशित होता है। इसके अतिरिक्त उसने सूर्य और चन्द्र ग्रहणों के कारणों का पता लगाया, विश्व को पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पाँच तत्त्वों से निर्मित बताया और डार्विन से तेइस सौ वर्ष पूर्व घोषित किया कि मनुष्य का विकास पशुओं से हुआ है। लेकिन उसके विचारों से एथेंस के धर्मप्राण जन बहुत रुष्ट हुए। उन्होंने, पेरिक्लिज़ के विरोध के बावजूद, उसे मृत्युदण्ड दिया जिसके कारण एनेक्ज़ेगोरास को एथेंस से भाग कर अपनी जीवन-रक्षा करनी पड़ी।

साहित्य

यूनान में नाटक कला का जन्म—पेरिक्लिज़युगीन एथेंसवासियों की साहित्यिक प्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति दुःखान्त नाटकों की रचना में हुई है। वे बसन्त और मदिरा के देवता **डायोनाइसस** (पृ० ४४३) के सम्मान में जो उत्सव मनाते थे उनमें कुछ व्यक्ति बकरे का रूप धारण करके एक वेदी के चारों ओर नाचते-गाते और गीत में वर्णित घटनाओं को अपने हाव-भाव से अभिव्यक्त करते थे और एक व्यक्ति कथा का पाठ करता था। बाद में इस

प्रदर्शन में नृत्य-गान गौण हो गए और दो व्यक्ति संवाद रूप में कथा का पाठ करने लगे। इन्हीं संवादों से शनैः शनैः नाटक अस्तित्व में आए।

विशेषताएँ—यूनानी नाटक अन्य देशों के नाटकों से कई बातों में भिन्न थे। एक, इनमें **रंगमंच पर बहुत कम दृश्य** दिखाए जाते थे। अधिकांश घटनाओं का वर्णन पात्र अपने मुख से करते जाते थे। ये कथानक प्राचीन संस्कृत नाटकों के समान **लोकप्रिय धर्म-कथाओं पर आधारित** होते थे। दूसरे, यूनानी नाटक **अधिकांशतः दुःखान्त** होते थे। इस दृष्टि से ये संस्कृत नाटकों से सर्वथा भिन्न थे क्योंकि संस्कृत नाटक प्रायः सुखान्त होते थे। तीसरे, यूनानी नाटक यथार्थवादी न होकर **आदर्शवादी** होते थे। उनमें पुण्यात्माओं को पुरस्कृत और दुष्टात्माओं को दण्डित करके सत्य की विजय दिखाने की परिपाटी थी। इसलिए उनमें सत्य और पुण्य के साथ असत्य और पाप का वैसा यथार्थवादी चित्रण नहीं मिलता जैसा आधुनिक नाटकों में मिलता है। इनके पात्रों का अपना व्यक्तित्व नहीं होता था; वे किसी विशिष्ट 'प्रकार' के मनुष्यों के प्रतिनिधिरूप होते थे। चौथे, यूनानी नाटकों में **नारी प्रेम वर्जित** था। इसलिए इनमें प्रणयिनी नारी के चरित्र को केवल अपवाद रूपेण ही स्थान मिला है।

एस्काइलस—यूनानी दुःखान्त नाटकों का संस्थापक एस्काइलस (५२५-४५६ ई० पू०) था। वह साहित्यकार होने के साथ कुशल योद्धा भी था। उसने मेराथोन, साल्मिस तथा प्लेटाई के युद्धों में शौर्य का प्रदर्शन किया था। उसके बारे में कहा जाता है कि उसने ८० नाटक लिखे थे, लेकिन आजकल उनमें केवल सात उपलब्ध हैं। इनमें 'प्रोमेथियस बाउण्ड' 'दि पर्शियन', 'ओरेस्टिया' तथा 'सेवेन अगेन्स्ट थीबिज' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें भी **'प्रोमेथियस बाउण्ड'** सर्वोत्कृष्ट है। इसकी गेटे, बायरन तथा शीली ने बहुत प्रशंसा की थी। इसमें नियति की विकट माया के सम्मुख प्रोमेथियस की विवशता देखकर पाठक का मन अनायास उससे सहानुभूति करने लगता है। श्लेगिल ने इस नाटक को 'दुःखान्त नाटक का मूर्त्तिमान रूप' कहा है। उसकी **'ओरेस्टिया'** कृति भी बहुत प्रसिद्ध है। इसमें रूढिवादी भावनाओं की प्रधानता है। एस्काइलस **आस्तिक और भाग्यवादी** था। उसने अपनी रचनाओं में सदाचार का पक्ष लिया है और सांसारिक जीवन की सत्यता में अविश्वास और अप्रीति प्रकट की है। उसके नाटक अनेक बार पुरस्कृत हुए थे।

सोफोक्लिज़—दूसरा प्रमुख यूनानी दुःखान्त नाटककार सोफोक्लिज़ (४९९-४०६ ई० पू०) साहित्य के साथ मल्ल युद्ध, संगीत तथा सामरिक जीवन में रुचि रखता था और एक बार सेमोस के विरुद्ध सेनापति बनाकर

भेजा गया था। उसने ११३ नाटक लिखे थे, जिनमें आजकल केवल सात प्राप्य हैं। इनमें 'ओयडियस रेक्स', 'एण्टिगोन' तथा 'एलेक्ट्रा' प्रसिद्ध हैं। उसे अपनी कृतियों पर १८ बार पुरस्कार मिला था—१५ वर्ष की आयु में पहला और ८५ वर्ष की आयु में अन्तिम। वह प्रजातन्त्र का समर्थक, समन्वय का प्रेमी तथा मानवीय दुर्बलताओं पर उदारता से विचार करने वाला था। लेकिन उसके विचार एस्काइलस से भी अधिक **निराशावादी** थे। उसकी रचनाओं में संसार के प्रति अप्रीति तथा जीवन की क्षणभंगुरता के प्रति गहरा क्षोभ मिलता है।

यूरीपिडिज़—तीसरे और अन्तिम महान् दुःखान्त नाटककार यूरीपिडिज़ (४८०-६ ई० पृ०) की रचनाओं में सर्वथा भिन्न वातावरण मिलता है। उसने देश की धार्मिक कुरीतियों, अनैतिक परम्पराओं, स्त्रियों की ह्रासोन्मुख अवस्था, दासों के ऊपर किए जाने वाले अत्याचारों और युद्धों की घोर आलोचना की। वह पहला यूनानी नाटककार है जिसने **अपनी रचनाओं का पात्र सामान्य जनों को भी बनाया और प्रणयिनी नारी का चरित्र** प्रस्तुत किया। उसने मनुष्य को आदर्श रूप में दिखाने की अपेक्षा ठीक वैसा ही दिखाया जैसा वह है। उसके ७५ नाटकों में आजकल १८ प्राप्त हैं। इनमें 'एल्कैस्टिस्', 'मीडिया' तथा 'दि ट्राजन वीमेन' प्रसिद्ध हैं।

सुखान्त नाटक : एरिस्टोफेनिज़—यूनानी सुखान्त नाटककारों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है एरिस्टोफेनिज (४४८-३८० ई० पृ० ?)। अपने व्यक्तिगत जीवन में शिथिल चरित्र होते हुए भी वह सार्वजनिक जीवन में चरित्र-हीनता का विरोधी था। उसकी रचनाओं में तत्कालीन एथेंस का बड़ा रोचक प्रतिबिम्ब मिलता है। उसने जीवन की अति सामान्य घटनाओं को लेकर राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों पर आक्रमण किया है। वह धनी और कुलीन परिवार में उत्पन्न हुआ था और तत्कालीन **जनतान्त्रिक शासन-व्यवस्था का विरोधी** था। उसकी रचनाओं में कहीं स्वार्थी राजनीतिज्ञों की हँसी उड़ाई गई है, कहीं घमण्डी दार्शनिकों की और कहीं मूर्ख जनता की। उसके द्वारा लिखे गए ४२ नाटकों में केवल ११ मिलते हैं, जिनमें 'दि फ्रॉग्स', 'दि बर्ड्स्' तथा 'दि क्लाउड्स्' उल्लेखनीय हैं।

काव्य : पिण्डार—पेरिक्लिज़युगीन यूनान का सबसे बड़ा कवि पिण्डार (५२०–४४० ई० पृ०) था। वह थीबिज़ का निवासी था, लेकिन यूनान के अनेक राज्यों में राजकवि के रूप में रहा था। वह कुशल गायक और वीणावादक भी था। उसके संगीत-प्रेम की छाप उसकी रचनाओं पर भी मिलती है। इनमें कवि की आकुलता, देशभक्त का गर्व और धर्मनिष्ठ व्यक्ति की श्रद्धा, इन तीनों

का अद्‌भुत समन्वय है। वह स्वभाव से **धार्मिक** और **प्रतिक्रियावादी** तथा राजनीतिक क्षेत्र में **कुलीन वर्ग का समर्थक** था। इसके बावजूद यूनानी उसके गीतों पर मुग्ध थे। एथेंसवासियों ने उसकी मृत्यु के बाद उसकी एक मूर्त्ति स्थापित कराई थी तथा रोहड्सवासियों ने उसकी कुछ पंक्तियाँ सुवर्णाक्षरों में देवालय पर लिखवाई थीं। अलेक्जेण्डर ने जब थीबिज का विध्वंस किया तो उस घर को छोड़ दिया था जिसमें कभी पिण्डार ने वास किया था।

इतिहास-शास्त्र : हेरोडोटस—यूनानी **'इतिहास-शास्त्र का जनक'** हेरोडोटस (४८४–२५ ई०पू०) एशिया माइनर के हेलिकारनेसस स्थान का निवासी था। उसका जन्म उच्चकुल में हुआ था परन्तु परिस्थितिवश उसे देश से निष्कासित कर दिया गया था। इस अवसर से लाभ उठाकर उसने हखामशी साम्राज्य, मिस्र, यूनान तथा इटली आदि देशों का भ्रमण किया। उसका **उद्देश्य** ईरान-यूनान संघर्ष का इतिहास लिखना था। इसके लिए उसने यूनान और ईरान के ही नहीं, अन्य निकटवर्ती देशों के इतिहास की भी बड़े विस्तार से चर्चा की है। उसका ग्रन्थ **'हिस्टरीज़' एक प्रकार से 'विश्व-इतिहास' बन गया है**। उसने इसमें राजनीतिक घटनाओं के वर्णन के साथ साहित्य, कला, विज्ञान, वेश-भूषा, धर्म और यहाँ तक कि श्रृंगार-प्रसाधन आदि का भी वर्णन किया है। इसलिए उसका इतिहास सांस्कृतिक इतिहास अधिक लगता है राजनीतिक इतिहास कम। उसने अपने ग्रन्थ में **मनगढ़न्त बातें बहुत कम** लिखी हैं, लेकिन **जो कुछ सुना उसे यथावत लिख दिया है। उसकी सत्यता जानने का कष्ट नहीं उठाया है।**

थ्यूसीडीडिज़—अगर हेरोडोटस 'इतिहास-शास्त्र का जनक' कहलाता है तो थ्यूसीडीडिज (४६०–४०० ई० पू०) 'वैज्ञानिक इतिहास-शास्त्र' का। वह लेखक होने के साथ कुशल योद्धा और सेनापति भी था। उसने अपने ग्रन्थ **'पेलोपोनेसियन वार'** में स्पार्टा और एथेंस के संघर्ष का विवरण लिखा है। उसने हेरोडोटस के समान जो सुना वह सब नहीं लिख दिया है, वरन् ज्ञात तथ्यों की आलोचना करके निष्पक्ष भाव से सत्य की **खोज करने** का प्रयास किया है। इसीलिए वह खुद अपने ग्रन्थ को एक **'स्थायी निधि'** कहने का साहस कर सका। मेकॉले ने उसे **महानतम इतिहासकार** घोषित किया है। उसके वर्णन में केवल एक **दोष** है और वह यह कि उसने घटनाओं का कारण खोजते समय केवल राजनीतिक पक्ष पर बल दिया है, सामाजिक और आर्थिक पक्षों पर बिल्कुल नहीं।

१७

चतुर्थ शताब्दी : क्लासिकल-युग का अवसान

He taught the Hyrcanians the institution of marriage, the Arachosians agriculture ; he caused the Soghdians to support, not to kill, their parents ; the Persians to respect, not to wed, their mothers. Wondorous philosopher, who made the Scythians bury their dead instead of eating them.

—*Plutarch on Alexander the Great*

राजनीतिक इतिहास

स्पार्टा और थीबिज का उत्कर्ष—पेलोपोनेसियन युद्ध में विजय-श्री पाने के उपरान्त स्पार्टा ने यूनानी राज्यों को अपने अधीन कर लिया। उसने उनकी जनवादी सरकारों का अन्त कर दिया और उन्हें भारी कर देने के लिए बाध्य किया। एथेंस को छोड़कर, जो ४०३ ई० पू० में ही स्वतन्त्र हो गया, शेष यूनान को स्पार्टा का आधिपत्य लगभग तीन दशक तक सहन करना पड़ा। अन्त में थीबिज के एपामिनोडास ने ३७१ ई० पू० ल्यूक्ट्रा के युद्ध में उसे निर्णायक रूप से पराजित कर थीबिज के प्रभुत्व की स्थापना की। परन्तु थीबिज़ का

इस पृष्ठ पर दिए गए चित्र में अलेक्जेण्डर को आइसस के युद्ध में दारयवौष तृतीय पर आक्रमण करते हुए दिखाया गया है। यह इरिट्रिया के चित्रकार फिलोक्सिनस (लगभग ३०० ई० पू०) के एक चित्र की हेलेनिस्टिक युगीन अनुकृति पर आधृत है।

प्रभुत्व भी उतना ही अलोकप्रिय सिद्ध हुआ जितना स्पार्टा का। ३६२ ई० पू० **मेन्टीनिया के युद्ध** में एपामिनोडास की मृत्यु से उसका भी अन्त हो गया।

एकता की भावना—चतुर्थ शती ई० पू० के प्रथम चार दशकों में घटी इन घटनाओं से यह स्पष्ट हो गया कि यूनान के नगर-राज्यों की शक्ति पारस्परिक संघर्षों में नष्ट होती जा रही थी और वे **राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता** को अधिकाधिक महसूस करने लगे थे। परन्तु **जनतन्त्रवाद और एकता के आदर्श का समन्वय बहुत दुष्कर** सिद्ध हो रहा था, इसलिए आइसोक्रेटिज़ जैसे बहुत से विचारक एकता की सिद्धि के हेतु राजतन्त्र की स्थापना का समर्थन करने लगे थे। ऐसे वातावरण में यूनान के उत्तर में मेसीडोन का अभ्युत्थान हुआ।

मेसीडोन का उदय : फिलिप द्वितीय—मेसीडोन के **निवासी** जाति और भाषा की दृष्टि से यूनानी थे। लेकिन वे सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए थे, इसलिए यूनान के निवासी उन्हें अर्ध-बर्बर मानते थे। मेसीडोनियनों में यूनानियों की तुलना में **एकता की भावना अधिक** थी। इसको उनके **आर्किलोस** (४१३-३९९ ई० पू०) **एमाइन्तास** (३९०-६९ ई० पू०) तथा **फिलिप द्वितीय** (३५९-३६ ई० पू०) नामक नरेशों ने बलवत्तर किया। फिलिप १५ से १८ वर्ष की आयु तक **थीबिज़ में बन्धक** रूप में रहा था और यूनान की सभ्यता, राजनीतिक अवस्था और दुर्बलताओं से घनिष्ठतः परिचित हो गया था। उसने मेसीडोन की सेना को सक्षम और अनुशासित बनाया, जलबेड़े का निर्माण किया और इलीरिया तथा थ्रेस को जीतने के बाद ३३८ ई० पू० में एथेंस और थीबिज़ की सम्मिलित सेनाओं को **केरोनिया के युद्ध** में परास्त कर के लगभग समस्त यूनान को—स्पार्टा को छोड़कर—अधिकृत कर लिया। ३३७ ई० पू० में **कोरिंथ में हुई यूनानी राज्यों की सभा** ने उसके प्रस्ताव पर उसे ईरान पर किए जाने वाले प्रतिशोधात्मक आक्रमण के लिए **यूनान का प्रधान सेनापति** चुना। लेकिन इसके पूर्व कि वह अपनी **एशिया विजय की योजना** को कार्यान्वित कर पाता पोसेनियस नामक व्यक्ति ने उसकी हत्या कर दी।

अलेक्ज़ेण्डर

प्रारम्भिक जीवन—फिलिप के बाद उसका पुत्र अलेक्ज़ेण्डर (३३६-३२३ ई० पू०) मेसीडोन का स्वामी बना। राज्यारोहण के समय उसकी आयु केवल बीस वर्ष थी। उसने अपने पिता फिलिप से युद्धप्रियता, सैनिक योग्यता विचारशीलता और एशिया विजय की आकांक्षा पाई थी, **माता ओलम्पियास**

से उग्रता और भावुकता तथा गुरु एरिस्टोटल से राजनीति और संयम की शिक्षा। वह होमर के महाकाव्यों का प्रेमी था और उसका मन ट्रॉय के एकीलीज जैसे वीरों के साथ विचरण करता था। अपने पिता के जीवनकाल में उसने अल्पायु में ही बहुत से युद्धों में विजय प्राप्त करके तथा उसकी अनुपस्थिति में विदेशी राजदूतों से गम्भीर विषयों पर वार्तालाप करके अपनी योग्यता का परिचय दिया था। इन गुणों और अपने शारीरिक सौन्दर्य, आकर्षक व्यक्तित्व तथा अप्रतिम पराक्रम के कारण शीघ्र ही वह अपने सैनिकों का उपास्य-देव सा बन गया। मेसीडोन में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने और गद्दी के अन्य दावेदारों का अन्त करने के बाद उसने यूनान में प्रवेश किया। समस्त यूनान ने उसे फिलिप के स्थान पर अपना प्रधान सेनापति चुनकर अपनी निष्ठा अभिव्यक्त की लेकिन उसकी मृत्यु की अफवाह फैल जाने से थीबिज़ ने विद्रोह कर दिया। इससे क्रुद्ध होकर उसने ३३५ ई० पू० में उसे हस्तगत करने के बाद, मन्दिरों और पिण्डार के घर को छोड़ कर, पूर्णतः नष्टभ्रष्ट कर दिया। इस सफलता से यह निश्चित हो गया कि उसकी अनुपस्थिति में कोई यूनानी राज्य उसके विरुद्ध विद्रोह करने का साहस नहीं करेगा।

चित्र १२४ : अलेक्जेण्डर 'महान्'

पश्चिमी एशिया और ईरान की विजय—३३४ ई० पू० में अलेक्जेण्डर ने ३०,००० पदाति और ५,००० अश्वारोही सैनिकों के साथ हेलेस्पोंट पार करके एशिया माइनर में प्रवेश किया। यह सेना बाद में विजित देशों से प्राप्त सैनिकों के कारण बराबर बढ़ती गई। ग्रेनिकस के युद्ध में ईरानी क्षत्रप को हराने के बाद उसने लीडिया प्रदेश के सार्डिस नगर को अधिकृत किया, और तत्पश्चात् केरिया, लाइसिया पिसिडिया और फ्रीगिया को। दायरवौष तृतीय से उसका पहला प्रत्यक्ष संघर्ष अगले वर्ष (अक्टूबर ३३३ ई० पू०) आइसस के समीप हुआ। एरियन के अनुसार इस युद्ध के लिए दारयवौष ने ६ लाख सैनिक एकत्र किए थे। लेकिन युद्ध के मैदान की लघुता को देखते हुए लगता है कि इनमें अधिक-से-अधिक एक लाख सैनिक लड़ पाये होंगे। जो भी रहा हो इस युद्ध में दारयवौष की पराजय हुई, उसने भाग कर अपनी जान बचाई तथा उसका अतुल धन, माता, स्त्री और दो अविवाहित पुत्रियाँ

अलेक्जेण्डर का साम्राज्य

काला सागर

कैस्पियन सागर

भूमध्य सागर

अरब

अरब सागर

मानचित्र ५
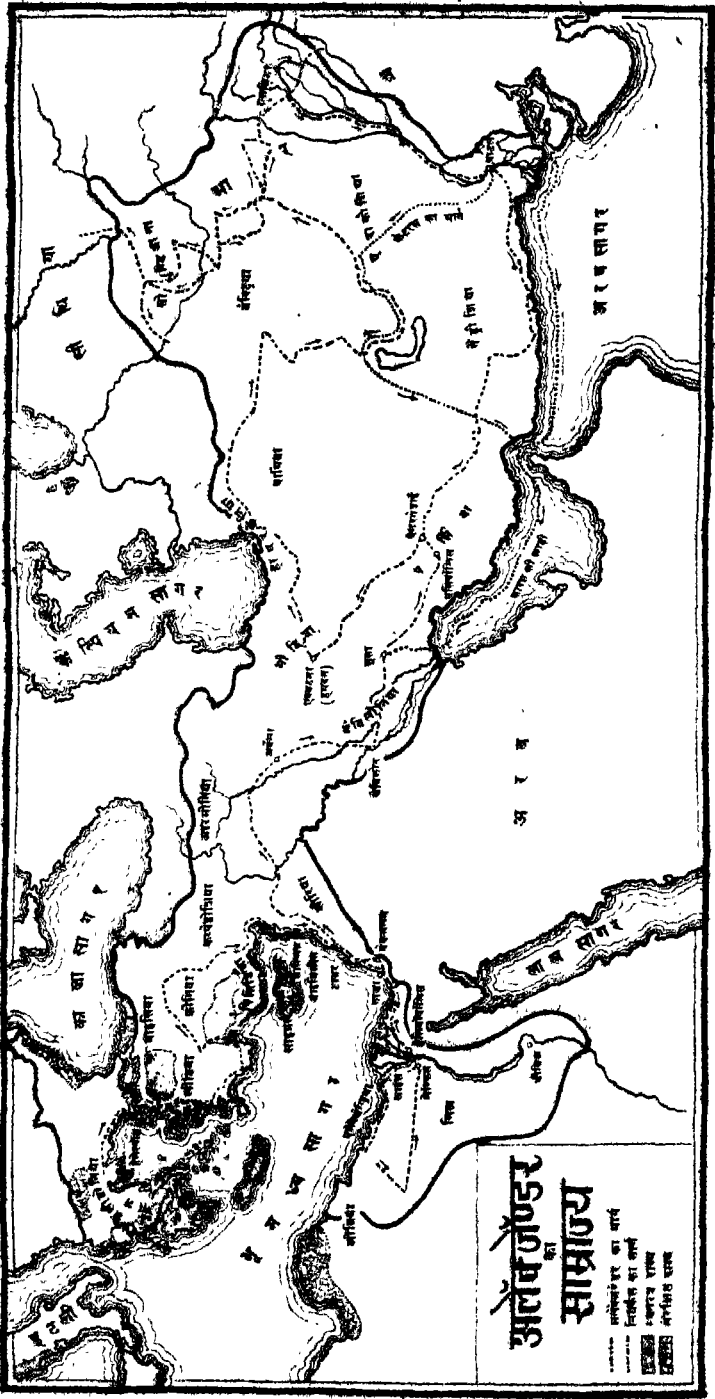
विजेता के हाथ लगे। इस विजय के उपरान्त टायर, गीजा इत्यादि नगरों को जीतना (३३२ ई० पू०) आसान था। मिस्र ने बिना किसी विरोध के उसे अपना फराओ और एमन का पुत्र मान लिया। इस प्रकार हखामशी साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तों को जीतने के बाद उसने फरात नदी पार की। इस बार दारयवौष ने उसका प्रतिरोध अर्बेला से साठ मील दूर गौगामेला स्थान पर किया (अक्टूबर ३३१ ई० पू०), लेकिन पूर्णतः पराजित हुआ और उसे पुनः भागकर अपनी जीवन-रक्षा करनी पड़ी। इसके बाद विजेता ने बैबिलोन, सूसा, पेसरगेडाई और पर्सिपालिस को अधिकृत किया। कहा जाता है कि एथेंस की थायस नाम की वेश्या के अनुरोध पर उसने पर्सिपालिस के भवनों को भस्मीभूत करवा दिया था।

पूर्वी ईरान और पश्चिमोत्तर भारत की विजय—पेसरगेडाई से अलेक्जेन्डर दारयवौष का पीछा करते हुए मीडिया की ओर गया और उसकी राजधानी एक्बटना को अधिकृत करने (३३० ई० पू०) के बाद हायरकेनिया होते हुए पूर्वी ईरान की ओर। लेकिन इस बीच में बैक्ट्रिया के गवर्नर बेसस ने दारयवौष की हत्या कर दी। अलेक्जेन्डर ने एरिया, ड्रेन्जियाना, सीस्तान और एराकोसिया होते हुए बैक्ट्रिया (३२८ ई० पू०) और सोग्डियाना प्रदेशों पर विजय प्राप्त की और बेसस को कठोर दण्ड दिया। इसके बाद वह हिन्दुकुश पार कर ३२६ ई० पू० में सिन्धु के समीप पहुँचा। वहाँ तक्षशिला के राजा ने उसका प्रभुत्व अनायास स्वीकृत कर लिया और अपने शत्रु पौरव (पोरस) के विनाश के हेतु उसे प्रचुर सहायता दी। पोरस से अलेक्जेन्डर का युद्ध झेलम नदी के तट पर हुआ जिसमें अतुल शौर्य-प्रदर्शन के बावजूद भारतीयों की पराजय हुई। यह अलेक्जेन्डर का अपने किसी शत्रु के विरुद्ध खुले मैदान में चौथा और अन्तिम युद्ध था। यहाँ से वह आगे बढ़कर व्यास के तट तक पहुँचा। परन्तु उसके सैनिकों ने इसके और आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया, जिसके कारण उसे वापस लौटना पड़ा।

प्रत्यावर्तन—अलेक्जेन्डर को भारत की विशालता और चीन के अस्तित्व का ज्ञान नहीं था। वह समझता था कि 'पूर्वी समुद्र' पंजाब से बहुत दूर नहीं है, इसलिए इतनी दूर आने के बाद उस तक पहुँचे बिना लौटने में उसे बड़ी निराशा हुई। इस दुःख को कुछ दूर करने के लिए उसने अपने प्रत्यावर्तन के मार्ग को विजय-मार्ग बना डाला। वह व्यास से लौटकर झेलम के तट पर आया। वहाँ से उसकी सेना का एक भाग नियर्कस के नेतृत्व में ८०० जलपोतों में जलमार्ग से बढ़ा और शेष सेना नदी के दोनों ओर उसकी

रक्षा करती हुई क्रेटरस और हेफिस्टियन के नेतृत्व में स्थल मार्ग से चली। मार्ग में अनेक जातियों और अनेक लघु राज्यों को पराजित करता हुआ वह **पाटल** पहुँचा। वहाँ से उसकी सेना का एक भाग क्रेटेरस के सेनापतित्व में बोलन दर्रे से होता हुआ सीस्तान की ओर गया, दूसरा खुद उसके नेतृत्व में **गेडरोशिया** के मार्ग से बैबिलोन की ओर, और शेष भाग नियर्कस के साथ समुद्री मार्ग से फारस की खाड़ी होते हुए सूसा की तरफ। बैबिलोन पहुँच कर उसने अरब विजय की योजना बनाई लेकिन अचानक बुखार से पीड़ित होने के कारण ३२३ ई० पू० उसकी मृत्यु हो गई।

नवीन युग का सूत्रपात—अलेक्जेण्डर के उदय और यूनान से लेकर पंजाब तक विस्तृत विशाल साम्राज्य की स्थापना से विश्व इतिहास में **एक नवीन युग** का सूत्रपात हुआ। जब उसने हखामशी साम्राज्य पर आक्रमण प्रारम्भ किया था, उस समय उसका उद्देश्य यूनान के प्रधान सेनापति के रूप में दारयवौष प्रथम और क्षयार्ष के आक्रमणों का प्रतिशोध लेना मात्र था। लेकिन ज्यों-ज्यों सफलता मिलती गई, उसका उद्देश्य अधिक विस्तृत और स्पष्टतर होता गया। अब उसने पूर्व और पश्चिम को संयुक्त कर एक **विश्व-साम्राज्य की स्थापना** करने का निश्चय किया। इससे यह अभियान यूनान के प्रतिशोधात्मक आक्रमण के स्थान पर उसका व्यक्तिगत विजय अभियान बन गया। उसका एशिया माइनर के यूनानी उपनिवेशों पर विजय प्राप्त करने के बाद उनको यूनानी राज्यों को न लौटा कर अपना मित्र बना लेना, अपने को मिस्र का फराओ घोषित करवा देना और ईरानी साम्राज्य के भूतपूर्व हखामशी राजाधिराज का स्थान ले लेना इसका प्रमाण हैं। भारत प्रवेश के पहले तक वह विजित राज्यों को यूनानी अधीनता में क्षत्रप प्रणाली के अनुसार संगठित करता गया, लेकिन भारत तक आते-आते उसके विचार विकसित हो चुके थे। यहाँ उसने पोरस और आम्भी आदि को अपना मित्र बनाया, उसको अपदस्थ नहीं किया। यद्यपि उसकी असामयिक मृत्यु हो जाने से उसकी विश्व-साम्राज्य की कल्पना पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाई, परन्तु इतना निश्चित है कि यूनानी सभ्यता को पौर्वात्य सभ्यताओं से उच्चतम मानते हुए भी वह यह समझ गया था कि अगर उसे अपने साम्राज्य को स्थायित्व देना है तो **सब जातियों के साथ समानता का व्यवहार** करना होगा। इसके लिए उसने एशियाई जनों को साम्राज्य के उच्च पदों पर नियुक्त किया और उनमें यह भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया कि वे यूनानियों की प्रजा नहीं एक विशाल 'कोमनवेल्थ' के सदस्य हैं। दूसरे, उसने खुद बैक्ट्रिया की

राजकुमारी रुक्षाना तथा दारयवौष की पुत्री बार्सिने से विवाह किया और अपने यूनानी साथियों को एशियाई स्त्रियों से विवाह करने के लिए प्रोत्साहित किया। उसके ८० उच्च पदाधिकारियों और १०,००० सैनिकों ने उसके उदाहरण का अनुगमन किया था। इससे दोनों जातियाँ परस्पर निकटतर आईं। तीसरे, उसने समस्त साम्राज्य में नए नगर स्थापित किए और उनमें यूनानियों और मेसीडोनियनों को बसने के लिए प्रोत्साहित किया। अनुश्रुतियों के अनुसार उसने सत्तर नगर बसाए थे। इनमें अनेक ने कालान्तर में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। ये नगर केवल साम्राज्य के सैनिक और राजनीतिक केन्द्र ही नहीं वरन् यूनानी संस्कृति के केन्द्र भी सिद्ध हुए।

मूल्यांकन—अलेक्जेण्डर निश्चित रूप से एक महान् विजेता और उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ था। यूरोप में उसके समान **योग्य सेनानायक सम्भवतः** नेपोलियन के पूर्व और कोई नहीं हुआ। उसके उदय से पूर्व और पश्चिम के बीच की दीवार टूट गई और **एशिया तथा यूरोप के निवासियों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुए**। इसके परिणाम स्वरूप उन प्रदेशों में, जिन पर यूनानियों का आधिपत्य बना रहा एक नई मिश्रित संस्कृति का जन्म हुआ जिसे **'हेलेनिस्टिक' संस्कृति** कहते हैं। विद्वानों में इस प्रश्न पर काफी मतभेद है कि अलेक्जेण्डर को 'महान्' कहा जा सकता है अथवा नहीं। हमारे विचार से इसका उत्तर बहुत कुछ इस शब्द की परिभाषा पर निर्भर है। जो व्यक्ति केवल अशोक जैसे नरेशों को ही 'महान्' कहना पसन्द करते हैं वे अलेक्जेण्डर को यह विशेषण देना समीचीन नहीं मानते। लेकिन अगर कुरुष द्वितीय, चन्द्रगुप्त मौर्य और अकबर जैसे नरेश 'महान्' थे तो कोई कारण नहीं है कि हम विश्व-साम्राज्य की कल्पना को साकार करने वाले तथा यूनानी, ईरानी, मिस्री और भारतीय सभ्यताओं के एकीकरण के स्वप्न को कम-से-कम अंशतः व्यावहारिक रूप देनेवाले दुर्दम्य विजेता को इस उपाधि से वंचित रखें।

कला और साहित्य

वास्तुकला और स्थापत्य—चौथी शताब्दी ई० पू० में यूनान के निवासियों के पेलोपोनेसस युद्ध और उसके बाद हुए पारस्परिक संघर्षों के कारण उत्पन्न अव्यवस्था में फँसे रहने के कारण विशाल और भव्य **मन्दिरों का निर्माण** अत्यन्त दुष्कर हो गया। इसके अतिरिक्त इस युग में यूनानी अपने प्राचीन धर्म से विमुख भी होते जा रहे थे। इसलिए इस युग में जो मन्दिर बने उनमें वास्तुकला
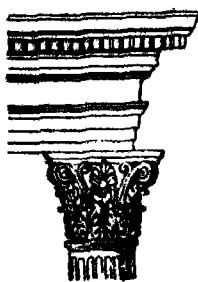
चित्र १२५ : कोरिन्थियन शैली का स्तम्भ

के प्राचीनतर सिद्धान्तों का ही थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ प्रयोग होता रहा। **कोरिन्थियन शैली के स्तम्भ** जिनमें अलंकरण की मात्रा अधिक होती थी (चि० १२५) पहले से अधिक लोकप्रिय हो गए। धर्म-प्राणता की यह कमी स्थापत्य कला में भी महसूस होती है, क्योंकि इस युग में देवताओं की मूर्त्तियाँ कम बनाई गईं, सुकरात, प्लेटो, यूरीपिडिज तथा अन्य महापुरुषों की अधिक। इस युग का सर्वोच्च मूर्त्तिकार था **प्रेक्जिटिलिज़** (३५० ई० पू०)। वह शरीर-सौष्ठव और शान्त-मुद्रा के अंकन करने के लिए विख्यात था। उसकी सर्वोत्तम ज्ञात मूर्त्ति है 'हेर्मिज : शिशु डियोनाइसस के साथ'। प्लिनी आदि लेखकों से ज्ञात होता है कि पेरोस के मूर्त्तिकार स्कोपास को भी इस युग में पर्याप्त यश प्राप्त था, परन्तु उसकी अवशिष्ट कलाकृतियाँ बहुत ही कम हैं। हेलिकारनेसस के मकबरे पर उत्कीर्ण 'यूनानियों और अमेज़नों का युद्ध' दृश्य में भी उसने हाथ बँटाया था। इस युग का एक अन्य लब्ध-प्रतिष्ठित मूर्त्तिकार **लाइसिप्पस** था। उसने खिलाड़ियों की मूर्त्तियाँ अधिक बनाईं।

इतिहास-शास्त्र : कज़नाफोन—चौथी शताब्दी ई० पू० में नाटक और गीतिकाव्य का ह्रास हुआ और इतिहास-लेखन तथा व्याख्यान-कला का विकास। इस युग का सबसे बड़ा इतिहासकार था **कज़नाफोन** (४३४-३५४ ई० पू०)। वह सुकरात से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। उसका 'मेमोरेबिलिया' ग्रन्थ उस महान् दार्शनिक के जीवन पर अच्छा प्रकाश देता है। उसकी प्रमुख रचना थी **'हेलेनिका'** जिसमें उसने यूनान का ४११ ई० पू० से ३६२ ई० पू० तक का इतिहास दिया है। उसके अन्य ग्रन्थों में 'एनाबेसिस' 'एगिसीलोस' तथा 'वेज़ एण्ड मीन्स' उल्लेखनीय हैं। विशिष्ट व्यक्तियों के जीवन में रुचि उसकी कृतियों का वैशिष्ट्य है। उसके युग में बहुत से व्यक्तियों ने इतिवृत (क्रानिकिल्स्) भी लिखे। ये अधिकांशतः खो गए हैं। इनमें एथेंस के **एण्ड्रोशन** का 'एथिस' सबसे महत्त्वपूर्ण था। **एरिस्टोटल** ने अपना ग्रन्थ 'कोन्स्टीट्यूशन ऑव एथेंस' इसी के आधार पर लिखा था।

भाषण-कला—चौथी शती ई० पू० के अनेक साहित्कारों ने भाषण लिखना अपना पेशा बना लिया था। इसमें एथेंस का **आइसोक्रेटिज़** (४३६-३३८ ई० पू०) प्रमुख था। उसके अधिकांश भाषण लेखों के समान रोचक हैं। वह यूनानी सभ्यता को विश्वजनीन मानता था। परन्तु ईरान के विरुद्ध यूनान के

राष्ट्रीय एकीकरण का पक्षपाती था। इसके विरुद्ध **'हेलेनिका'** और **'फिलिप्पका'** ग्रन्थों के लेखक, **थियोपोम्पस** ने प्रतिपादित किया कि यूनान को यूरोप में अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिए। इन सबसे अधिक प्रसिद्ध है **डिमोस्थेनिज़**। उसने फिलिप और अलेक्जेंडर का भारी विरोध किया था।

दर्शन

प्लेटो—चौथी शती ई० पू० में यूनानी प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट प्रकाशन दर्शन के क्षेत्र में हुआ, और वह भी जगत् प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो और एरिस्टोटल की कृतियों में। प्लेटो (४२७-३४९ ई० पू०) का असली नाम एरिस्टोक्लिज़ था। वह एथेंस के एक धनी परिवार मे उत्पन्न हुआ था। बीस वर्ष की आयु में सुकरात के सम्पर्क में आने के बाद उसने **तत्त्व-ज्ञान को अपने जीवन का लक्ष्य** बना लिया। वह विचारक होने के साथ कवि भी था, इसलिए उसकी दार्शनिक कृतियों की शैली भी यत्र-तत्र काव्यात्मक हो उठी है। पहले उसकी इच्छा सक्रिय राजनीति में प्रविष्ट होने की थी, लेकिन सुकरात को दिए गए मृत्युदण्ड से उसकी प्रजातन्त्र से आस्था उठ गई। इसके बाद उसने दस वर्ष तक मेगारा, मिस्र, तथा इटली इत्यादि राज्यों में भ्रमण किया। वहाँ से लौट कर ३८७ ई० पू० में उसने अपनी जगत्-विख्यात **अकादमी** की स्थापना की। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'संवादों' (डायलोग्स्) के रूप में लिखे। उसकी सर्वप्रमुख कृति है **'रिपब्लिक'**। 'लॉज' नाम की पुस्तक को पूर्ण करने के पहले ही उसकी मृत्यु हो गई थी।

प्लेटो के दर्शन का मूल **'विचारों' (आइडियाज़)** का सिद्धान्त है। उसका कहना था कि भौतिक पदार्थ आध्यात्मिक जगत् के पूर्ण विचारों की प्रतिकृति मात्र होते हैं, इसलिए **सच्चा ज्ञान 'विचारों' का ज्ञान है** और यह केवल बुद्धि द्वारा ही प्राप्य है। सुकरात का कहना था कि ज्ञान ही गुण है, लेकिन प्लेटो के अनुसार यह बात न्याय और शुभ के तर्कसम्मत ज्ञान पर ही लागू होती है इन्द्रिय जनित ज्ञान पर नहीं। उल्टे असली ज्ञान की उपलब्धि में शरीर बाधक सिद्ध होता है। इसलिए प्लेटो शारीरिक इच्छाओं को नियन्त्रण में रखने का समर्थक भी था। **राजनीतिक दार्शनिक के रूप में उसने एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना की** जो वैयक्तिक स्वार्थ और वर्ग-संघर्ष से मुक्त हो। उसका उद्देश्य जनतन्त्र अथवा स्वतन्त्रता न होकर क्षमता और सामाजिक न्याय थे। इसके लिए उसने अपने आदर्श समाज को मानव स्वभाव के तीन पहलुओं के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया। (१) निम्नतम वर्ग : इसमें कृषक, दस्तकार और दास सम्मिलित किए। इनके कार्य हैं उत्पादन और वितरण। (२) सैनिक :

इनका गुण है साहस और कर्म है रक्षण। (३) दार्शनिक : इनका गुण है विचारशक्ति और कर्म है शासन। दूसरे शब्दों में उसने दार्शनिकों द्वारा शासित राज्य को आदर्श बताया।

एरिस्टोटल—प्लेटो का शिष्य एरिस्टोटल अथवा अरस्तु (३८५-३२२ ई० पू०) इस युग का दूसरा प्रसिद्ध विचारक था। वह १७ वर्ष की आयु में प्लेटो की अकादमी में आया और बीस वर्ष तक विद्यार्थी और शिक्षक के रूप में रहा। ३४३ ई० पूर्व में फिलिप ने उसे अलेक्जेण्डर को शिक्षा देने के लिए बुलाया। ३३६ ई० पू० में वहाँ से वापिस लौटकर उसने एथेंस में अपनी **लाइसियम** नामक पाठशाला खोली। वह दर्शन, राजनीति और काव्य-शास्त्र के अतिरिक्त आचार-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, वैद्यक, जीव-शास्त्र, ज्योतिष-विद्या तथा भौतिक-शास्त्र आदि विद्याओं का भी ज्ञाता था। इतनी विद्याओं में गति रखने वाले व्यक्ति संसार में बहुत कम हुए हैं। उसका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है **'पोलिटिक्स'**। वह प्लेटो के इस मत को मानता था कि इन्द्रिय जनित ज्ञान अशुद्ध होता है, लेकिन वह भौतिक जगत् को विचार-जगत् की छाया मात्र न मानकर यथार्थ मानता था। उसके अनुसार **'आइडियाज़'—जिन्हें वह 'फार्म्स' कहता था—और भौतिक तत्त्व में अविच्छेद्य सम्बन्ध** है। दोनों शाश्वत हैं और दोनों के **सम्मिश्रण** से जगत् की उत्पत्ति होती है। अतः मनुष्य की उन्नति के लिए शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों का विकास आवश्यक है। इसलिए उसने मध्य-मार्ग (गोल्डन मीन) का उपदेश दिया और **'ज्ञान सम्मत जीवन'** (लाइफ ऑव रीज़न) व्यतीत करने की शिक्षा दी।

एरिस्टोटल मनुष्य को **'राजनीतिक-जीव'** (पोलीटिकल एनीमल) मानता था। इसलिए उसके अनुसार राज्य कोई कृत्रिम संस्था न होकर मनुष्य के स्वभाव का अंग है। सभ्य जीवन केवल पोलिस राज्य में ही सम्भव है। उसने सर्वोत्तम राज्य को **'पोलिटी'** कहा है और उसकी कल्पना अभिजात-तन्त्र और जनतन्त्र के बीच की स्थिति के रूप में की है।

क्लासिकल यूनान का अवसान—एरिस्टोटल के विचारों से तत्कालीन एथेंसवासी बहुत अप्रसन्न हुए। ३२३ ई० पू० अलेक्जेण्डर की मृत्यु का लाभ उठाकर उन्होंने उस पर मुकदमा चलाया और उसे मृत्युदण्ड दिया। एरिस्टोटल ने भाग कर अपनी जान बचाई लेकिन अगले ही वर्ष, ३२२ ई० पू० में, शायद पलायन के समय हो गई उदर की पीड़ा के कारण, उसकी मृत्यु हो गई। एथेंस का यह जघन्य कृत्य यूनानी नगर-राज्यों में स्वतन्त्रता के अन्त और जनतन्त्र की पूर्ण विकृति का प्रतीक और प्रमाण है।

१८

रोम का उदय

The Roman Senate and People
(S. P. Q. R.—Senatus Populusque Romanu)

—*Motto of Rome on coins, statues etc.*

रोम का महत्त्व—रोम का इतिहास इटली देश का नहीं रोम नगर के उत्थान और पतन का इतिहास है। रोम पहले एक नगर-राज्य मात्र था, फिर मध्य इटली के लैटिन प्रदेश में विस्तृत राज्य बना, इसके बाद सम्पूर्ण इटली में विस्तृत राज्य और तदनन्तर एक विश्व-साम्राज्य। इसके बाद यह धीरे-धीरे सिकुड़ा। लेकिन इस बीच में रोम नगर सदैव **राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र** बना रहा। दूसरे, रोम ने यूनान के ह्रास काल में यूनानी संस्कृति के अधिकांश तत्त्वों को जीवित रखा। एक दृष्टि से उसे **यूनान और मध्यकालीन यूरोप के बीच की कड़ी** कहा जा सकता है। लेकिन रोम ने केवल यूनानी सभ्यता को अपनाया ही नहीं, उसके पूरक का कार्य भी किया। यूनानियों ने **विश्व-साम्राज्य** की कल्पना की, रोम ने उसे चरितार्थ किया। इसके अतिरिक्त उसे **क़ानून तथा शासन-व्यवस्था** जैसे विषयों में विशेष प्रगति की जिनकी यूनानियों ने उपेक्षा कर दी थी। इसके अतिरिक्त रोम ने यूरोप को **ईसाई-धर्म** के रूप में एक महान् देन दी। यद्यपि प्रारम्भिक रोमन सम्राटों ने इस धर्म का दमन किया था, परन्तु रोम-साम्राज्य न होने पर और परवर्ती सम्राटों के संरक्षण के अभाव में यह धर्म इतनी सफलता प्राप्त कर पाता, यह सन्देहप्रद है।

इस पृष्ठ के ऊपर एक एट्रस्कन शिरस्त्राण का चित्र दिया गया है।

इटली का भूगोल और जातियाँ

भूगोल—इटली दक्षिणी यूरोप का मध्यवर्ती प्रायद्वीप है। इसके उत्तर में आल्प्स् पर्वत, दक्षिण और पश्चिम में भूमध्यसागर तथा पूर्व में एड्रियाटिक समुद्र है। इसकी यूरोप में स्थिति कुछ ऐसा ही है जैसी एशिया में भारत की। इसके मध्य उत्तर से दक्षिण की ओर रीढ़ की हड्डी के समान एपीनाइन पर्वत माला फैली हुई है। इसका उत्तरी भाग भी पर्वतीय है। भूमध्यसागर के मध्य होने के कारण इटली सम्पूर्ण दक्षिणी यूरोप और उत्तरी अफ्रीका को नियन्त्रित करने की स्थिति में है। क्योंकि इसके अधिकांश बन्दरगाह पो नदी के पश्चिमी तट पर है इसलिए सबसे पहले विदेशों के साथ व्यापारिक और राजनीतिक सम्बन्ध पश्चिमी नगरों ने ही स्थापित किया। इनमें रोम अग्रणी था।
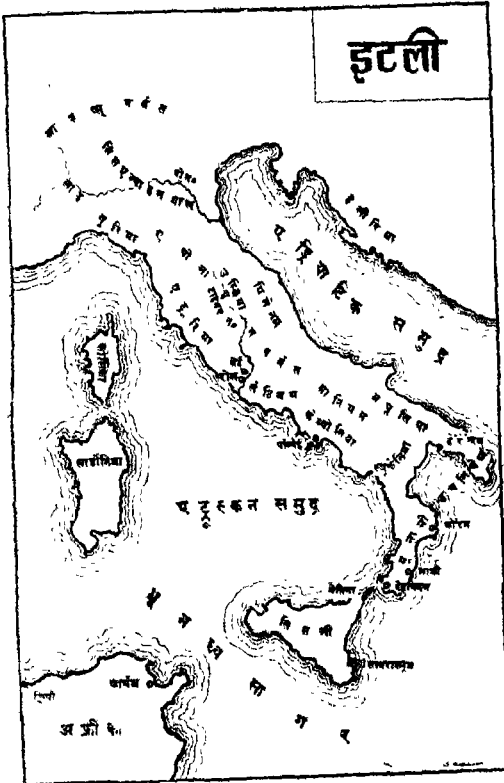
मानचित्र ६

जातियाँ—इटली प्रागैतिहासिक युग से ही मानव का क्रीड़ा केन्द्र रहा है। परवर्ती-पूर्व-पाषाण काल में यहाँ फ्रान्स के क्रोमान्यों मानवों से सादृश्य रखने वाली जातियाँ रहती थीं और नव-पाषाण काल में भूमध्यसागरीय जाति की शाखाएँ। कांस्य-काल में किसी समय यहाँ इण्डो-यूरोपियनों ने प्रवेश किया जो अश्व और पहियेदार गाड़ियों से परिचित थे। कालान्तर में वे लोहे से भी परिचित हो गए। ये इण्डो-यूरोपियन रोमन और अधिकांश इटालियन

जातियों के पूर्वज थे। ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ में **इटालियन जातियाँ** इटली के मध्यवर्ती प्रदेश—लैटियम—में रहती थीं। उनकी दो प्रमुख शाखाएँ थीं—लैटिन और ओस्कन। **लैटिन** जाति जो, मूलतः एपीनाइन पर्वत माला के मध्य निवास करती थी, बाद में टाइबर नदी के दक्षिण में स्थित मैदान में बस गई। **ओस्कन** जिसे उम्ब्रो-सेबेलियन भी कहा जाता है उम्ब्रियन, सेबियन, सेनाइट, ईक्वीयन, वोल्सियन तथा ल्यूकेनियन शाखाओं में विभाजित थी। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक युग में इटली के उत्तर-पश्चिमी भाग में **लागुरियन** जाति रहती थी और लोम्बार्डी के मैदान में **गॉल** जाति। उसके नाम पर ये प्रदेश लाइगुरिया और गेलिया कहलाते थे।

एट्रूस्कन और यूनानी—१३ वीं और ६ ठी शती ई० पू० के मध्य इटली में दो अन्य जातियों का प्रवेश हुआ—एट्रूस्कन और यूनानी। **यूनानी** जाति ने अपने उपनिवेश सिसली और इटली में स्थापित किए (पृ० ४३९)। **एट्रूस्कन** जाति का उद्भव अनिश्चित है। परन्तु हेरोडोटस के अनुसार वह मूलतः एशिया माइनर के लीडिया प्रदेश से आई थी। उसके हित्तियों की एक शाखा होने की सम्भावना पर पहली ही विचार किया जा चुका है (पृ० २१०-११)। **एट्रूस्कनों की सभ्यता** समुन्नत थी और उनका रोमन धर्म, राज-संस्थाओं तथा सभ्यता के विकास पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। उनकी **लिपि**, जो यूनानी लिपि पर आधारित थी अभी तक अपठित है, लेकिन इतना ज्ञात है कि वे जलपोत, धातु के सुन्दर पात्र, आभूषण और सूती कपड़े आदि बनाना जानते थे और यूनान, फिनीशिया तथा कार्थेज से **व्यापार** करते थे। उनका **धर्म** बहुदेववादी था। वे अपने देवताओं की मूर्तियाँ और उनके लिए मन्दिर बनाते थे और उन्हें प्रसन्न करने के लिए पशुओं और मनुष्यों की बलि देते थे। बैबिलोनियनों के समान वे भविष्य-दर्शन में विश्वास करते थे। वे **गुम्बद और मेहराब** से परिचित थे। रोमनों की नृत्य-संगीत, प्रीति-भोजों और क्रूर क्रीड़ा-प्रतियोगिताओं में रुचि भी अंशतः एट्रूस्कनों की देन लगती है। वे गेलिया के दक्षिण और एपीनाइन पर्वत माला के पश्चिम में रहते थे। यह प्रदेश उनके नाम पर प्राचीन काल में **एट्रूरिया** (आधुनिक **टस्कनी**) कहलाता था।
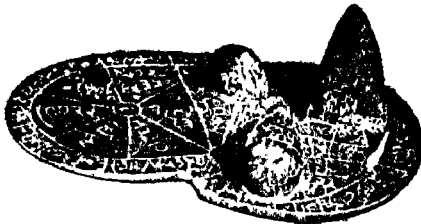
चित्र १२७ : एशियाई ढंग के शकुन-सूचक यकृत का एक एट्रूस्कन कांस्य मॉडल

इतिहास जानने के साधन

अन्य देशों की तुलना में रोम के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश देने वाले साक्ष्य को प्रचुर कहा जा सकता है। एक, प्राचीन काल के अनेक लेखकों द्वारा लिखित **रोम के इतिहास-ग्रन्थ**, पूर्णतः अथवा अंशतः उपलब्ध हैं। इनमें हेलिकारनेसस के **डायोनाइसियस** (७०-८ ई० पू०) का 'रोमन एन्टिक्वीटीज' तथा **टाइटस लीवियस** (५९--१७ ई० पू०) का ग्रन्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त पेटरक्युलस, प्लूटार्क, जूलियस फ्लोरस, डियोडोरस साइक्यूलस तथा एप्पियन के ग्रन्थ भी पर्याप्त सहायता देते हैं। दूसरे, वे **मूल राजनीतिक-पत्र** जिनकी सहायता से इन प्राचीन लेखकों ने अपने ग्रन्थ लिखे, न्यूनाधिक मात्रा में अब भी उपलब्ध है। कम से कम परवर्ती गणतन्त्र और साम्राज्य-युग के तत्कालीन मूल पत्र और मसविदे तो पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त **रोम की साहित्यिक और कलात्मक अवशिष्ट सामग्री** भी प्रचुर मात्रा में मिलती है। इन सबकी सहायता से रोमन इतिहास और सभ्यता का पर्याप्त विस्तृत और विश्वसनीय विवरण दिया जा सकता है।

राजनीतिक इतिहास

रोम नगर टाइबर नदी के मुहाने से १५ मील दूर नदी के उत्तरी तट पर एक पहाड़ी पर लेटिन जाति ने अपनी एक सीमान्त रक्षा चौकी के रूप में बसाया था। बाद में यह पड़ौस की छः और पहाड़ियों पर फैल गया और **'सात पहाड़ियों का नगर'** कहलाने लगा। एक, मुख्य नदी के तट पर होने के कारण यह आन्तरिक व्यापार के लिए और नदी द्वारा समुद्र से जुड़ा होने के कारण विदेशी **व्यापार के लिए आदर्श स्थान** था। दूसरे, पहाड़ियों पर बसा होने और समुद्र से हट कर स्थित होने में कारण स्थल और जलमार्गों से हो सकने वाले **आक्रमणों से सुरक्षित** भी था। प्राचीन रोमन लेखकों के अनुसार इसकी **स्थापना** ७५३ ई० पू० में हुई थी, लेकिन आधुनिक इतिहासकार इस तिथि को १,००० ई० पू० से बाद की नहीं मानते। इसका राजनीतिक इतिहास **तीन युगों** में विभाज्य है : राजतन्त्र काल (७५३—५०९ ई० पू०), गणतन्त्र-काल (५०९-२७ ई० पू०) तथा साम्राज्य-काल (२७ ई० पू०—४७६ ई०)। इनमें गणतन्त्र युग को कई उपयुगों में विभाजित किया जा सकता है। **हम रोम के इतिहास का चतुर्थ शताब्दी ई० पू० के अन्त तक का अध्ययन करेंगे।**

राजतन्त्र-युग—अनुश्रुतियों के अनुसार रोम नगर और राजतन्त्र की

स्थापना **रोमुलुस** (७५३–१६ ई० पू०) नामक व्यक्ति ने की थी। उसने अन्य नगरों के अपराधियों और भगोड़े दासों को शरण देकर जनसंख्या में वृद्धि की, सेबाइनो को रोम की जनता में मिश्रित किया, रोमनों को पैट्रीशियन और प्लेबियन वर्गों में विभाजित किया, कोमीटिया क्यूरियाटा तथा सीनेट की स्थापना की और क़ानून बनाए। पैट्रीशियन वर्ग में सम्भवतः रोम के संस्थापक लैटिन परिवार सम्मिलित थे और प्लेबियन वर्ग में बाहर से आकर बसे हुए निर्धन जन और स्वतन्त्र हो गए दासों के वंशज जिन्हें 'क्लायन्ट' (आश्रित) कहा जाता था। उसके उत्तराधिकारी **नूमा पोलम्पीलियस ने** (७१५–६७६ ई० पू०), जो जाति से सेबाइन था, रोमनों को धर्म की शिक्षा दी, पञ्चांग में सुधार किए और धर्म-संस्थाएँ स्थापित कीं। उसके बाद **जूलस होस्टिलियस** (६७३–४२ ई० पू०) ने अल्बा लोंगा पर विजय प्राप्त की तथा **एन्कस मार्सियस** (६४२–१७ ई० पू०) ने कई लैटिन नगरों पर। मार्सियस के उपरान्त रोम पर एट्रूस्कन राजाओं ने राज्य किया। इनमें **लूसियस तारक्वीनियस** प्रिस्कीकस (६१६–५७९ ई० पू०) पहला था। उसने सम्पूर्ण लैटियम को जीता, सर्कस मैक्ज़ीमस (खेल का मैदान) बनवाया और सिंचाई की व्यवस्था की। उसके उत्तराधिकारी **सर्वियस तूलियस** (५७८–३५ ई० पू०) ने कोमीटिया संचूरियाटा बनाई, नगर को प्राचीर से सुरक्षित कराया, और लैटिन-संघ की स्थापना की। लेकिन उसका उत्तराधिकारी और दामाद **तारक्वीनियस** (५३५–१० ई० पू०) जो 'सुपर्बस' अथवा घमण्डी कहा जाता था, बड़ा अत्याचारी सिद्ध हुआ। इससे क्रुद्ध होकर जनता ने उसे मार भगाया और रोम को गणतन्त्र घोषित कर दिया (५१० ई० पू०)।

रोम के राजतन्त्र-युग का उपर्युक्त इतिहास आख्यानों पर आश्रित होने के कारण विस्तरशः श्रद्धेय न होते हुए भी **स्थूलतः विश्वसनीय** माना जा सकता है। उदाहरण के लिए रोम की जनता और सेबाइनों का मिश्रण, रोम पर एट्रूस्कनों का शासन तथा लैटिन-संघ विषयक आख्यानों में निश्चयतः सत्यांश है।

प्रारम्भिक गणतन्त्र-युग—गणतन्त्रयुगीन रोम का प्रारम्भिक इतिहास है। इनमें उसे लैटिन संघ से बहुत सहायता मिली। सर्वप्रथम, उसे पूर्व की **एक्वीनियन और दक्षिण की वोल्शियन जातियों के विरुद्ध सफलता मिली।** इसके बाद उसका एट्रूस्कन **नगर वेई से संघर्ष** प्रारम्भ हुआ। रोम के समान वेई भी टाइबर नदी को अपने नियन्त्रण में रखना चाहता था। अन्त में दस वर्ष तक वेई पर घेरा डाले रहने के बाद ३९६ ई० पू० में फ्यूरियस केमिलस

के नेतृत्व में रोमनों ने विजय प्राप्त की और उसका विध्वंस कर दिया। इस विजय से रोम का एट्रूरिया विजय का मार्ग खुल गया। लेकिन रोमन इस विजय का आनन्द पूरी तरह उठा भी नहीं पाये थे कि उन पर **गॉलों ने आक्रमण** कर दिया और रोम को भस्मीभूत कर दिया (३९० ई० पू०)। रोम को शक्तिहीन हो गया देख कर उसके शत्रुओं ने और खुद लैटिन-संघ के मित्र-राज्यों ने उसका विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। लेकिन रोमनों ने एक-एक करके इन **सब संकटों पर विजय प्राप्त की**। चौथी शताब्दी ई० पू० के मध्य तक वे इतने शक्तिशाली हो गए कि मध्य इटली के **सानियमों और लैटिनों के विरुद्ध युद्ध कर** सकें। अपने इन विरोधियों को उन्होंने क्रमशः ३४१ और ३०४ ई० पू० तथा ३३८ ई० पू० में पराजित किया। इससे उनका प्रभुत्व समस्त मध्य इटली पर स्थापित हो गया।

संवैधानिक विकास

राजतन्त्र-युग : रोमन राजा—राजतन्त्र-युग में रोम की शासन-व्यवस्था बहुत कुछ होमरकालीन यूनानी शासन-व्यवस्था से मिलती-जुलती थी। लेकिन रोमन प्रारम्भ से ही स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की तुलना में **सत्ता और स्थायित्व को अधिक महत्त्व** देते थे। उनके **परिवार** में जो समाज की इकाई माना जाता था, **पिता** को सर्वोच्च अधिकार प्राप्त थे और राज्य में राजा को। उनके राजा राज्य के न्यायाधीश और प्रधान सेनापति भी होते थे, और प्रधान पुजारी—पोन्टिफेक्स् मेक्जिमस—भी। वे कोमीटिया क्यूरियाटा (असेम्बली) की बैठक बुलाते थे और उसमें पारित (पास) होने के लिए बिल प्रस्तुत करते थे। उनकी सत्ता को **'इम्पीरियम'** कहा जाता था। वे अपने उत्तराधिकारी को मनोनीत करते थे परन्तु उनके सुझाव को स्वीकृति देना या न देना कोमीटिया क्यूरियाटा के हाथ में था। इस प्रकार रोम के राजा चुने जाते थे, उनका **अधिकार वंशानुगत नहीं** होता था। लेकिन उनके ऊपर न तो परम्परागत रीति-रिवाजों और सीनेटरों के परामर्श के नैतिक बल के अतिरिक्त कोई अंकुश रहता था और न उनके अत्याचारी हो जाने पर उनको अपदस्थ किए जा सकने की व्यवस्था थी।

सभाएँ—रोमन पैट्रीशियन तीस क्यूराई अथवा हल्कों (वार्ड्स) में विभाजित थे। इन्हीं से निर्मित होने के कारण उनकी सीमा **कोमीटिया क्यूरियाटा** कहलाती थी। यह राजा के चुनाव को स्वीकृति देती थी और उसके फैसलों की अपील और किसी अपराधी को माफ कर देने की सिफारिश सुनती थी। कोई

भी नया बिल उसकी स्वीकृति के बिना क़ानून नहीं बन सकता था। लेकिन यह किसी बिल पर बहस न कर केवल अपना मत—'हाँ' या 'नहीं' में—देती थी। दूसरी सभा **सीनेट** थी। इसके ३०० सदस्य राजा द्वारा वयोवृद्ध पैट्रीशियनों में से चुने जाते थे। सिद्धान्ततः सीनेट केवल परामर्शदात्री सभा थी लेकिन व्यवहार में उसके परामर्श के विरुद्ध कार्य करने का साहस बहुत कम राजा कर पाते थे। राजा की मृत्यु हो जाने पर नए राजा के चुनाव तक राजसत्ता सीनेट के हाथ में ही रहती थी।

कोमीटिया सेंचूरियाटा—एट्रूस्कन नरेश सर्वियस ने रोमन शासन-व्यवस्था में सामान्य जनों को कुछ भाग लेने का अवसर देने के लिए कोमीटिया संचूरियाटा की स्थापना की। उसने पहले रोमन जनता को २१ प्रादेशिक कबीलों में विभाजित किया। इनमें प्लेबियन और पैट्रीशियन दोनों सम्मिलित थे। इसके बाद उसने समस्त जनता को पुनः आय के आधार पर पाँच वर्गों में विभाजित किया और उन वर्गों को 'संचुरीज़' में। **सेन्चुरीज़ का वर्गीकरण** इस प्रकार किया गया जिससे हर वर्ग में धनी परिवारों का बहुमत रहे। इस सेन्चुरीज की सभा 'कोमीटिया संचुरियाटा' कहलाई। इस सभा की स्थापना से एक प्रकार से प्लेबियन राज्य के सदस्य मान लिए गए, धनी प्लेबियनों को राज्य की गति-विधि में भाग लेने का अवसर मिला, और पैट्रीशियनों का एकाधिकार कुछ कम हुआ। कालान्तर में इस सभा ने कोमीटिया क्यूरियाटा के अधिकांश अधिकार हड़प लिए और **राज्य की सर्वोच्च संस्था** बन गई। सर्वियस के इन सुधारों की तुलना सोलन के सुधारों से की जा सकती है (पृ० ४२४-२६)।

गणतन्त्र युग—गणतन्त्रयुगीन रोम में राजा के स्थान पर दो मजिस्ट्रेट अथवा **कोन्सल** नियुक्त होने लगे। वे भूतपूर्व राजाओं के समान 'इम्पीरियम' के अधिकारी होते थे, कानून प्रस्तावित करते थे, न्यायाधीश बनते थे और युद्धों में सेना का संचालन करते थे, परन्तु वे निरंकुश और अत्याचारी नहीं हो सकते थे क्योंकि (१) वे अपने पद पर केवल १ वर्ष तक रहते थे, (२) मनोनीत न किए जाकर सीधे जनता द्वारा चुने जाते थे और (३) उन दोनों की शक्ति समान थी, अतः वे एक दूसरे पर अंकुश रखते थे। लेकिन संकट काल में इस प्रकार विभाजित अधिकार वाले अधिकारियों से काम नहीं चल सकता था, इसलिए ऐसे अवसरों के लिए कौन्सलों को फिलहाल हटा कर छः मास के लिए एक **'डिक्टेटर'** नियुक्त किए जाने की व्यवस्था की गई।

पैट्रीशियन-प्लेबियन संघर्ष

प्लेबियनों की शिकायतें—गणतन्त्र की स्थापना के साथ ही रोम में

पैट्रीशियनों और प्लेबियनों में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। प्लेबियनों की कई शिकायतें थीं। एक, यद्यपि वे अपना खून बहाकर अन्य राज्यों को अधिकृत करते थे, तथापि उनकी उर्वर भूमि पर पैट्रीशियनों का अधिकार हो जाता था। दूसरे, उनको **निर्धन** होने के बावजूद सेना में बिना वेतन लिए काम करना होता था। इससे उनकी खेती-बाड़ी को बहुत हानि होती थी और वे ऋण लेने के लिए बाध्य हो जाते थे। लेकिन रोम के **ऋण-सम्बन्धी क़ानून बहुत कठोर** थे। यहाँ तक कि साहूकार कर्जदारों को दास रूप में बेंच सकते थे। यह कठिनाई **क़ानूनों के लिखित रूप में न होने के कारण** और बढ़ गई थी। इससे प्लेबियन पूर्णतः पैट्रीशियन मजिस्ट्रेटों की कृपा पर निर्भर हो गए। पैट्रिशियनों को **सामाजिक दृष्टि से भी निम्नस्तरीय** मानते थे। वे न तो उन्हें अपने समाज में विवाह करने देते थे और न धार्मिक समारोहों में भाग लेने देते थे। प्लेबियनों को **राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त नहीं थे**। राज्य के किसी उच्च पद पर नियुक्त होने का तो वे स्वप्न भी नहीं देख सकते थे।

सुरक्षा और स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष—प्लेबियनों ने सर्वप्रथम अपने जीवन की सुरक्षा, स्वतन्त्रता तथा पैट्रीशियन मजिस्ट्रेटों की निरंकुशता का अन्त करने के लिए संघर्ष किए। इसके लिए उन्होंने **रोम-त्याग की नीति** अपनाई जब उनके लिए पैट्रीशियनों के अत्याचार सहना असम्भव हो जाता था वे रोम छोड़कर चले जाते थे। लेकिन वही रोम के सैनिक, कृषक, व्यापारी और दस्तकार थे इसलिए उनके जाने से पैट्रीशियन असहाय हो जाते थे और उन्हें प्लेबियनों की शर्तें माननी पड़ती थीं। इस नीति का अवलम्बन करके उन्होंने **पहली महत्त्वपूर्ण विजय** ४९४ ई० पू० में प्राप्त की जब पैट्रीशियन (१) चालू ऋणों को माफ करने (२) कर्जदारों को स्वतन्त्र करने तथा (३) दो **'ट्रिब्यून'** नाम के प्लेबियन अधिकारी नियुक्त करने को तैयार हो गये। इनको मजिस्ट्रेटों के निर्णय और सीनेट के आदेशों को रद्द करने का **(वीटो) अधिकार** दिया गया। बाद में उनकी संख्या बढ़ाकर १० कर दी गई। इनके साथ ही (४) **ईडाइल** नाम के दो अन्य अधिकारी भी नियुक्त किए जाने लगे जो प्लेबियनों की क़ानूनी समस्याओं की देख-भाल करते थे। ट्रिब्यूनों की नियुक्ति से प्लेबियनों के हाथ में एक और अस्त्र आ गया। अब वे जब चाहते थे, उनके 'वीटो' अधिकार का प्रयोग करके सरकारी मशीन को ठप कर सकते थे और पैट्रीशियनों को अपनी बात मानने के लिए विवश कर सकते थे।

प्लेबियनों को **दूसरी विजय** ४७१ ई० पू० में मिली जब **'प्लूटिलियन लॉ'** द्वारा एडाइल और ट्रिब्यून चुनने का अधिकार **प्लेबियनों की काउन्सिल को**

दे दिया गया। इससे यह काउन्सिल अप्रत्यक्षतः रोमन सरकार का एक अंग मान ली गई। इसके बीस वर्ष बाद ४५१ ई० पू० में पैट्रीशियनों को मजबूर करके कानूनों को प्रकाशित कराने में भी सफलता प्राप्त कर ली गई। ये क़ानून **'बारह पाटियाँ'** (ट्वेल्व टेबल्स्) कहलाते हैं। यद्यपि इनमें पुराने कठोर क़ानून ही लेखबद्ध कर दिए गए थे तथापि इनसे प्लेबियनों को पैट्रीशिय-मजिस्ट्रेटों के मनमाने फैसलों से मुक्ति मिल गई। इसके दो ही वर्ष बाद ४४९ ई० पू० में **दूसरी बार रोम-त्याग की धमकी देकर उन्होंने—वेलेरियो-होरेशियन क़ानून** द्वारा अपनी काउन्सिल को सब नागरिकों के लिये क़ानून बना सकने और हर नागरिक को मजिस्ट्रेटों के विरुद्ध जनता से अपील करने का अधिकार ले लिया।

समान अधिकारों के लिये संघर्ष—अभी तक प्लेबियन पैट्रीशियनों की निरंकुशता के विरुद्ध लड़ रहे थे। अब उन्होंने उनके समान अधिकार पाने के लिये संघर्ष प्रारम्भ किया। इसमें **पहली सफलता** उन्हें ४४५ ई० पू० में मिली जब प्लेबियनों और पैट्रीशियनों के विवाह-सम्बन्ध को वैध मान लिया गया। ४२१ ई० पू० में उन्हें **क्वयेस्टर** (कोषाध्यक्ष) चुने जाने का अधिकार मिला और ३७६ ई० पू० में, काफी लम्बे संघर्ष के बाद **कोन्सल चुने जाने का**। अब दो कोन्सलों में एक का प्लेबियन होना अनिवार्य कर दिया गया। क्योंकि हर कोन्सल अपने पद से मुक्त होने के बाद सीनेट का सदस्य हो जाता था, इससे कालान्तर में **सीनेट में भी प्लेबियन सदस्य** दिखाई देने लगे। ३५६ ई० पू० डिक्टेटर पद और ३३९ ई० पू० में **दूसरे प्यूबिलियन क़ानून** द्वारा **सेन्सर** नामक मजिस्ट्रेट पद के भी उनके लिए खोल दिये गये। ३०० ई० पू० से वे **पोन्टिफ** और **ओगुर** भी नियुक्त होने लगे। इस संघर्ष का अन्त २८९ ई० पू० में हुआ जब **रोम-त्याग की अन्तिम धमकी के परिणाम स्वरूप हार्टेन्शियन लॉ** द्वारा उनकी सभा को राज्य की सर्वोच्च विधान-सभा मान लिया गया और उसके बनाए गए क़ानून हर हालत में लागू होने लगे—चाहे सीनेट उन्हें स्वीकृत करे या न करे।

धर्म

रोम निवासियों का धर्म यूनानी धर्म से साहश्य रखता था। उनके मुख्य देवता थे आकाश देव **जुपीटर**, उद्योग-धन्धों की देवी **मिनर्वा**, प्रेम की देवी **वीनस** और समुद्रों का देवता **नेप्च्यून**। ये क्रमशः जियस, एथेना, एफ्रोडाइट तथा पोसिडोन के रोमन संस्करण लगते हैं। यूनानियों के समान रोमवासी भी इस जीवन के कर्मों के पारलौकिक जीवन में मिलने वाले फल में विश्वास नहीं

करते थे। **उनका धर्म भी पूर्णतः लौकिक और व्यावहारिक था** तथा देवताओं और उनके उपासकों का सम्बन्ध लेन-देन पर आधृत माना जाता था। उनके **धर्म का सदाचार से भी कोई सम्बन्ध नहीं था।** वे देवताओं से अच्छे बनने **की नहीं** भौतिक सुख देने की प्रार्थना करते थे। उनकी **अच्छे आदमी की परिभाषा** बहुत कुछ होमर काल के यूनानियों की परिभाषा से मिलती-जुलती थी। साक्ष्य, शौर्य, आत्म-विश्वास, देश-प्रेम, परिवार-प्रेम, राजभक्ति और देवताओं के प्रति आदर की भावना **सबसे बड़े गुण** माने जाते थे। परन्तु उनका धर्म **कुछ बातों में यूनानी धर्म से भिन्न भी था।** एक, उनका धर्म यूनानी धर्म की तुलना में **राज्य से अधिक सम्बद्ध** था। इसका उद्देश्य मनुष्य को गौरवान्वित करना नहीं राज्य की सुरक्षा और समृद्धि था। दूसरे, रोम के देवताओं का **मानवीकरण बहुत आगे नहीं बढ़ गया था।** उनकी कल्पना दैवी-शक्तियों के रूप में अधिक की गई थी मनुष्यों के रूप में कम। उन्हें कहीं भी मनुष्य के समान परस्पर झगड़ते हुए अथवा मनुष्यों से मिलते-जुलते हुए नहीं दिखाया गया है। तीसरे, रोमन धर्म में **पुजारी वर्ग** को अधिक **महत्त्वपूर्ण** स्थान प्राप्त था। रोमन पुजारी जिन्हें 'पोन्टिफ' कहा जाता था, एक विशिष्ट वर्ग के रूप में संगठित थे और राज्य का अंग माने जाते थे। यद्यपि वे उपासकों और देवताओं के बीच मध्यस्थ नहीं माने जाते थे तथापि उन्हें अनुष्ठान-समारोहों की व्यवस्था और परम्परागत कानूनों की व्याख्या करने का अधिकार प्राप्त था। रोम में उनको प्रशिक्षित करने वाली एक सभा थी जो **'कालिज ऑव पोन्टिफ्स्'** कही जाती है। यह धर्म-नियमों की व्याख्या करती थी। एक अन्य सभा **'कालिज ऑव ओगर्स्'** थी। इसके सदस्य शकुनों की मीमांसा करते थे।

सांस्कृतिक प्रगति

चौथी शताब्दी ई० पू० के मध्य तक रोमनों की संस्कृति विशेष समुन्नत नहीं थी। यद्यपि वे **लेखन कला** से छठीं शताब्दी ई० पू० में ही परिचित हो गए थे, लेकिन इसका प्रयोग मुख्यतः कानूनों और सन्धि पत्रों को लेखबद्ध किए जाने तक सीमित रहा। रोम के अधिकांश नागरिक अशिक्षित थे और जो लिखना-पढ़ना जानते भी थे वे **साहित्य से अपरिचित** थे। अधिकांश रोमनों की **जीविका के साधन** युद्ध और कृषिकर्म थे। नगरों में कुछ उद्योग-धन्धे पनपने लगे थे, पर विकसित नहीं हो पाए थे। उनकी पिछड़ी आर्थिक अवस्था का अनुमान इसी तथ्य से हो सकता है कि २६९ ई० पू० तक उनकी **अपनी कोई मुद्रा-प्रणाली नहीं थी।**

खण्ड ४

ईरान

हख़ामशी साम्राज्य

मानचित्र ७
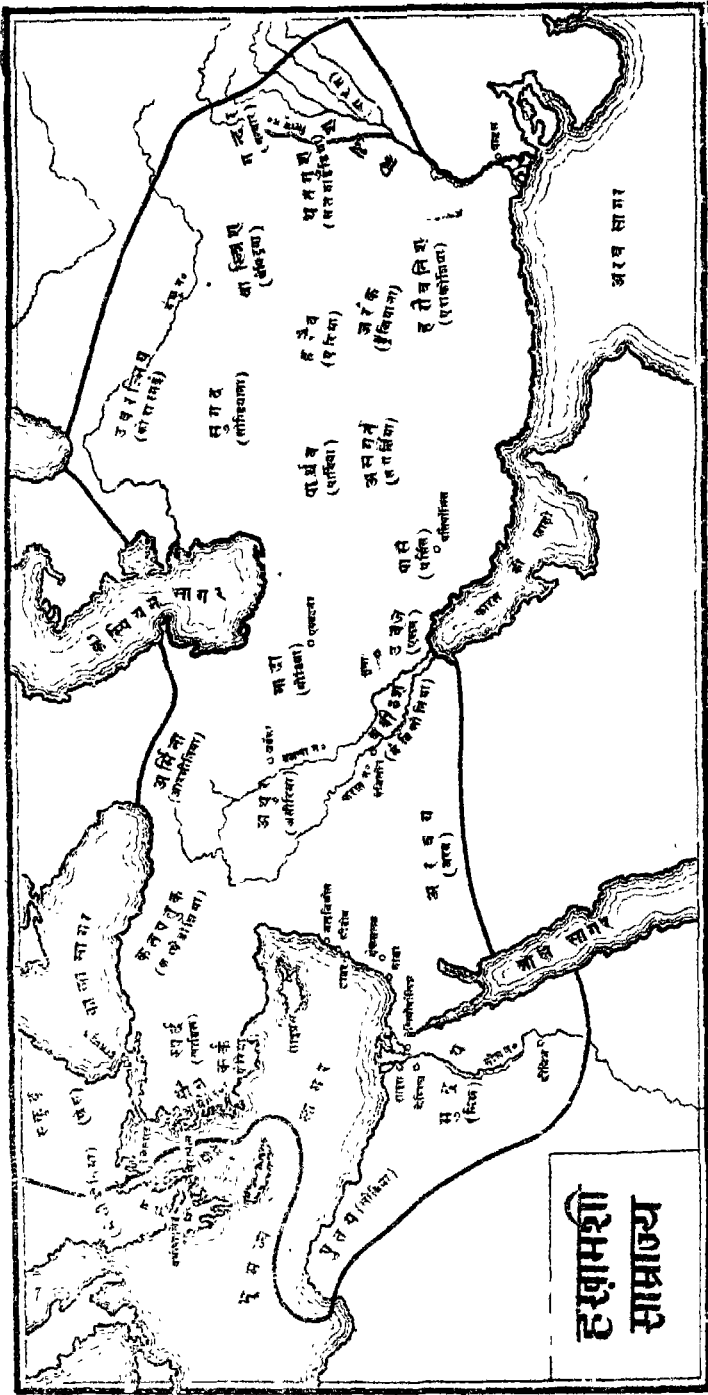
१९

प्राक्-हखामशी युग

The first of the good lands and countries which I created was the Aryanem-Vaejo.

—*Vendidad, i.*

भूगोल और जातियाँ

उत्तरी ईरान—सिन्धु नदी की घाटी से लेकर दजला नदी की घाटी तक का प्रदेश ईरान का पठार कहलाता है। आधुनिक ईरान अथवा फारस (पर्शिया) इसका पश्चिमी, अफगानिस्तान उत्तर-पूर्वी और बलूचिस्तान दक्षिण-पूर्वी भाग हैं। ईरान के उत्तर में एल्बुर्ज (सब से ऊँची चोटी देवमेन्द १९,००० फुट) और कुपेहदाघ पर्वत तथा अत्रेक नदी की घाटी हैं जो ईरान को रूस से पृथक करते हैं। इसका उत्तर-पूर्वी भाग **गुर्गान** और **खुरासान**, केस्पियन सागर और एल्बुर्ज पर्वत के मध्य पड़ने वाला भाग **मजनदेरान** और **गिलान** एवं उत्तर-पश्चिमी भाग **अजरबेजान** कहलाता है। ये सब प्रान्त प्रचुर वर्षा होने के कारण बहुत उपजाऊ हैं। अजरबेजान आसान मार्गों द्वारा अन्य देशों से जुड़ा है, इसलिए यहाँ ईरानियों को सदैव सुरक्षात्मक कार्यवाही करते रहना पड़ा है। इस दृष्टि से भारत और ईरान में पर्याप्त सादृश्य है।

मध्यवर्ती ईरान—ईरान के मध्यवर्ती पठार में, जो ६,४०,००० वर्गमील में विस्तृत है और जिसकी औसत ऊँचाई ४,००० फुट है, दो विशाल रेगिस्तान है—उत्तर में **नमक का रेगिस्तान** और दक्षिण में **लुट का रेगिस्तान**। यह विश्व का सर्वाधिक शुष्क प्रदेश कहा जा सकता है। लेकिन इसकी भूमि बहुत अच्छी

इस पृष्ठ के ऊपर एक मीडियन अश्वारोही का चित्र दिया गया है।

है, अतः जहाँ कहीं कृत्रिम सिंचाई का प्रबन्ध हो सकता है, उपज बहुत अच्छी होती है। परन्तु पठारी और पर्वतीय प्रदेश होने के कारण यहाँ केवल एल्बुर्ज और जगरोस पर्वतों की अन्तर्देशीय तलहटियों में स्थित नखलिस्तानों और नदियों की घाटियों में ही जीवन सम्भव है। अतः प्राचीन काल से ही ईरान के लगभग सभी बड़े-बड़े नगर—एक्बटना, काजविन, तेहरान, हेक्टोमपाइलोस हिरात, इस्फहान, पेसरगेडाई, इस्तखर, पर्सिपालिस तथा शीराज—इसी मध्यवर्ती प्रदेश में स्थापित हुए।

पश्चिमी और दक्षिणी ईरान—ईरान के पश्चिम में जगरोस पर्वत है जो कुछ घूम कर इसके पूर्व में स्थित मकरान पर्वत से मिल जाता है। जगरोस के दक्षिण-पश्चिम में **करुन नदी** द्वारा सिंचित प्रदेश हैं जो प्राचीन काल में **एलम** अथवा **सूसियाना** कहलाता था। इसका सर्वाधिक प्रसिद्ध नगर **सूसा** था जिसके निवासियों ने ईरान में अति प्राचीन काल में एक सम्पन्न सभ्यता का निर्माण किया था (पृ० २६२-६४)। यह सांस्कृतिक दृष्टि से सुमेर से सम्बद्ध था। इसके उत्तर में **लूरिस्तान** और पूर्व में **किमनि** और **फार्स** के प्रान्त हैं जो अत्यन्त शुष्क और अनुपजाऊ है। ईरान का दक्षिण-पूर्वी भाग, जो बलूचिस्तान से मिला होने के कारण **ईरानी अथवा फारसी बलुचिस्तान** कहलाता है, लगभग रेगिस्तान ही है। इसक उत्तर में हेलमण्ड की प्रसिद्ध घाटी है जो शकों की क्रीडास्थली होने के कारण **सीस्तान** (शक स्थान) के नाम से विख्यात हुई।

ईरान की प्रागैतिहासिक जातियाँ—पूर्वी ईरान की प्रागैतिहासिक जातियों के सम्बन्ध में जो **द्रविड़ परिवार की सदस्याएँ** प्रतीत होती हैं, अधिक तथ्य ज्ञात नहीं है, परन्तु पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश में निवास करने वाली गूती, (पृ० ४४) लुल्लुबी (पृ० ५२-५३) और कसाइट (पृ० १६०-६३) जातियों पर मेसोपोटामियन स्रोतों से कुछ अधिक प्रकाश प्रकाश मिलता है। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में ईरान पर 'आर्य' ईरानियों के आक्रमण हुए।

चि० १२९ : लुल्लुबी जाति का एक रिलीफ चित्र

वे इण्डोयूरोपियन परिवार की शाखा थे। उनके आगमन से ईरानी इतिहास का नया युग प्रारम्भ हुआ।

इण्डो यूरोपियनों का आदि देश

'इण्डो-यूरोपियन' अथवा 'आर्य' जातियाँ—तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त तक और दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में भारत से लेकर यूरोप तक एक जाति विशेष के अस्तित्व और प्रभाव के चिह्न मिलने लगते हैं जिसे इतिहासकार **'इण्डो-यूरोपियन' अथवा 'आर्य' नाम से** पुकारते हैं। हम देख चुके हैं कि १९ वीं शती ई० पू० में यूनान में प्रविष्ट होकर माइसिनी सभ्यता का निर्माण करने वाले **एकियन** (पृ० ३९५) १२ वीं शती ई० पू० में उसका विनाश करने वाले **डोरियन** (पृ० ४१५) और दक्षिणी पश्चिमी तथा उत्तरी यूरोप में बसने वाले **रोमन** (पृ० ४७८), **केल्ट** और **नॉर्डिक** जन इसी परिवार की शाखाएँ थे। पश्चिमी एशिया की **हित्ती** (पृ० २१२-१३), **कसाइट** (पृ० १६०-६३) और **मितन्नी** (पृ० १६५-६७) जातियों के शासकों का इस परिवार से सम्बन्ध भी निर्विवाद है। इनमें कसाइट और मितन्नी जातियों के शासक सम्भवतः इण्डो-यूरोपियन परिवार की **ईरानी** शाखा की उपशाखाएँ थे। यह शाखा, जो ईरान में तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० की प्रारम्भिक शताब्दियों में प्रविष्ट हुई, भारत के **वैदिक आर्यों** से घनिष्ठ रूपेण सम्बद्ध थी। लेकिन इसके पूर्व कि हम ईरानी और भारतीम आर्य जातियों के इतिहास का अध्ययन करें, मूल इण्डो-यूरोपियन जाति के आदि-निवास-स्थान और प्रसार आदि प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है।

इण्डो-यूरोपियन जाति की खोज—इण्डो-यूरोपियन जाति के अस्तित्व की खोज दो सौ वर्षों में हुई है और पूर्णतः भाषात्मक साक्ष्य पर अवलम्बित है। संस्कृत और यूरोपियन भाषाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध की ओर ध्यान सर्वप्रथम १५८८ ई० में फ्लोरेंस निवासी **फिलिप्पो सस्सेती** ने दिलाया था। लेकिन इन भाषाओं की शब्दावली और व्याकरण में सादृश्य का कारण इनका एक स्रोत से उद्भव होना चाहिए, इस तथ्य की स्थापना सर्व प्रथम अठारहवीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में **सर विलियम जोन्स** ने की। जोन्स ने इस विषय में केवल तीन-चार भाषाओं पर ही विचार किया था, परन्तु बाद में देखा गया कि प्राचीन भाषाओं में संस्कृत, अवेस्ती, यूनानी और लैटिन तथा आधुनिक भाषाओं में बँगला, हिन्दी, उड़िया, मराठी, गुजराती, पश्तो, फारसी, बलूची, रूसी, आरमीनियन, जर्मन, फ्रेंच, इटाली, स्पेनिश, डच और पुर्तगाली में पर्याप्त सादृश्य है।

कालान्तर में हित्ती और तुखारी भाषाओं का पता चला जो अब केवल अभिलेखों में मिलती हैं परन्तु कभी जीवित भाषाएँ थीं। इन भाषाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो गया कि जिस प्रकार विविध उत्तर भारतीय आर्य भाषाएँ संस्कृत से निकलीं उसी प्रकार इस सब भाषाओं का जन्म किसी प्राचीन भाषा से हुआ था जिसका स्वरूप आजकल अज्ञात है। इस अज्ञात भाषा और उसके बोलने वालों को भाषा-शास्त्रियों ने **इंडो-यूरोपियन, आर्य, इण्डोजर्मेनिक, इण्डो-केल्टिक** तथा **जैफाइट** आदि अनेक नाम दिये हैं। इनमें प्रत्येक में कोई-न-कोई दोष हैं यद्यपि प्रथम दो अधिक लोकप्रिय हैं और उन्हीं को हमने अपनाया है। यह सर्वथा स्पष्ट है कि आजकल जो समूह इण्डो-यूरोपियन भाषाएँ बोलते हैं वे सब मूल-इण्डो-यूरोपियनों की सन्तान नहीं है इससे बहुत से विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इण्डो-यूरोपियन समस्या केवल भाषा समस्या है। जाति-समस्या नहीं। लेकिन हमें इसमें कोई सन्देह नहीं लगता जो भाषा भारत से लेकर यूरोप तक फैल सकी उसको बोलने वाली जाति छोटा-मोटा समूह नहीं रही होगी और न्यूनाधिक संख्या में उन सभी देशों में पहुँची होगी जहाँ ये भाषाएँ बोली जाती हैं। इसलिए इस प्रश्न के **जातीय पक्ष की पूर्णतः उपेक्षा नहीं की जा सकती।** प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह मूल इण्डो-यूरोपियन जाति मूलतः कहाँ रहती थी और उसका प्रसार किस प्रकार हुआ।

विविध मतों की समीक्षा—आर्यों के आदि निवास स्थान की समस्या प्राचीन विश्व की सर्वाधिक विवादास्पद समस्याओं में से एक है। सर विलियम जोन्स से लेकर अब तक जितने विद्वानों ने इस पर विचार किया है उनके सुझाव एक दूसरे से बहुत कम मेल खाते हैं। उत्तरी ध्रुव से लेकर ईराक तक और जर्मनी से लेकर गंगा की घाटी तक विस्तृत प्रदेश में विविध स्थलों को आर्यों का आदि देश बताया गया है। हाल ही में श्री **चोंकलिंगम पिल्ले** ने तो यह श्रेय उस महाद्वीप को देने की चेष्टा की है जो, उनके अनुसार १००,००० वर्ष पूर्व पूर्वी अफ्रीका से मलय तक, जहाँ आजकल हिन्द महासागर है, फैला हुआ था। इस **बौद्धिक अराजकता का कारण** अज्ञातः विद्वानों द्वारा विभिन्न साक्ष्य का सहारा लेना रहा है। इस विषय में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अतिरिक्त तुलनात्मक-पुराकथा-शास्त्र, शरीर-संरचना-शास्त्र, शब्दार्थ-विकास-शास्त्र और ज्योतिर्विद्या का भी सहारा लिया गया है। इन विद्याओं से सहायता लेने में कोई दोष नहीं है परन्तु इस विषय में **हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए** कि हम जिस साक्ष्य का भी सहारा ले हमारा निष्कर्ष प्राचीन भारत, पश्चिमी एशिया और यूरोप इन सभी प्रदेशों के इतिहास और पुरातत्त्व से ज्ञात निश्चित

तथ्यों के साथ संगत होना चाहिए। लेकिन अनेक विद्वानों ने किसी एक साक्ष्य को विश्वसनीय मानकर शेष की उपेक्षा कर दी है। उदाहरण के लिए **बाल गंगाधर तिलक** ने इस समस्या के समाधान के हेतु ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण तथा अवेस्ता में आए कुछ ज्योतिर्विद्या विषयक उल्लेखों की व्याख्या करके निष्कर्ष निकाला है कि आर्य मूलतः उत्तरी ध्रुव प्रदेश में रहते थे जहाँ से वे, अब से १०,००० वर्ष पूर्व हुए हिमाच्छादन के कारण, दक्षिण की ओर बढ़ कर भारत और ईरान आदि देशों में बस गए। इस मत के स्वीकार का अर्थ होगा यह मान लेना कि मानव इतिहास की जो रूपरेखा पुरातत्त्व जैसे शास्त्रों के पूर्णतः विश्वसनीय साक्ष्य के आधार पर निश्चित की गई है उसका परित्याग और साहित्य के सन्देह-प्रद आधार पर उसका पुनर्निर्माण। उनका शतपथ ब्राह्मण को, जिसे अन्य विद्वान् १,००० ई० पू० के लगभग रखते हैं, २४०० ई० पू० की कृति मानना और अब से १०,००० वर्ष पूर्व उत्तरी ध्रुव में आर्य सभ्यता को पर्याप्त समुन्नत स्वीकृत करना इसके उदाहरण हैं।

बहुत से विद्वानों ने आर्यों का मूल निवास स्थान ऐसे प्रदेशों को बताया है जो बहुत ही छोटे और संकीर्ण हैं। उदाहरण के लिए **बेन्डर** और **नीडरले** ने लिथुआसिया को, **हिर्ट** ने आधुनिक पोलैण्ड को, **पेन्का** ने स्कैन्डीनेविया को **वेडेल** और **मोमजेन** ने बैबिलोनिया को, **मियर** ने ईराक के पठार को, **पाट, लेस्सन, ह्विटने तथा पिक्टेट ने** बैक्ट्रिया को तथा **मोनियर विलियम** ने पामीर के पठारी प्रदेश को यह गौरव दिया है। लेकिन भारत से लेकर इंग्लैण्ड तक अपनी भाषा का प्रभाव छोड़नेवाली जाति मूलतः किसी ऐसे संकीर्ण प्रदेश में रही होगी यह सर्वथा असम्भव लगता है। वस्तुतः इनमें अधिकांश मत इसको प्रतिपादित करनेवाले विद्वानों के उन पूर्वाग्रहों और धारणाओं पर आधारित हैं जिनके कारण उनकी दृष्टि भ्रान्त हो गई थी। उदाहरण के लिए पेन्का के आग्रह के पीछे सत्यान्वेषण की रुचि कम थी अपने देश को गौरवान्वित करने की इच्छा अधिक।

आर्यों के आदि देश की समस्या पर विचार करते समय यह भी स्मरण रखना चाहिए कि **यह स्थान भारत, ईरान, पश्चिमी एशिया और यूरोप इन सब प्रदेशों के निकट रहा होगा**। आजकल यह प्रायः स्वीकृत किया जाता है कि भारत में आर्यों का प्रवेश द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध में हुआ। इसी सहस्राब्दी की प्रथम शताब्दियों में कसाइटों ने बैबिलोन में और हित्तियों ने एशिया माइनर में प्रवेश किया था। हाल ही में वेन्ट्रिस नामक विद्वान् द्वारा माइसिनी की 'लाइनियर बी' लिपि पढ़ लिए जाने से यह

सुनिश्चित हो गया है कि एकियनों का यूनान में प्रवेश १९०० ई० पू० के लगभग हुआ था। नार्वे के ओस्लन नामक विद्वान् ने वहाँ के स्थानों के नामों का अध्ययन करके वहाँ भी ट्यूटॉनिक जाति का प्रवेश २००० ई० पू० के आस-पास माना है। इस प्रकार **द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में भारत से लेकर यूरोप तक लगभग एक साथ आर्यों की गतिविधि का प्रमाण मिलने लगता है।** यह तथ्य **गाइल्स** की हंगेरी विषयक और **श्रेडर, ग्रियर्सन, बेनफे** तथा **नेहरिंग** की दक्षिण रूस विषयक मान्यता के लिए भी उतना ही घातक है जितना **सम्पूर्णानन्द, अविनाशचन्द्र दास तथा डॉ० राजबली पाण्डेय** आदि विद्वानों की भारत विषयक अवधारणा के लिए। क्योंकि इन्डो-यूरोपियन जाति का निवास स्थान अगर मूलतः यूरोप अथवा भारत में था तो वह लगभग एक साथ उक्त स्थानों पर कैसे पहुँच सकी? इण्डो-यूरोपियन जाति कोई यात्री दल नहीं था जो सुव्यवस्थित राजमार्गों से यात्रा करता हुआ भारत से यूरोप अथवा यूरोप से भारत पहुँच गया। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में यूरोप से एशिया माइनर मेसोपोटामिया और ईरान होकर भारत पहुँचने में किसी भी जाति को बैबिलोनियन साम्राज्य और अन्य अनेक लघु राज्यों को पार करना पड़ता। अगर वस्तुतः ऐसा होता तो आर्यों का उल्लेख इन राज्यों के अभिलेखों में तूफान की तरह टूट पड़ने वाले बर्बरों के रूप में होता, स्थायी रूप से एशिया माइनर, सीरिया और बैबिलोन में बस कर राज्य करने वाले कबीलों के रूप में नहीं। और अगर यह माना जाय कि आर्य इन देशों के समाज में घुल-मिल गए थे और बहुत धीरे-धीरे, इन देशों की स्थानीय जातियों के अंश रूप में, भारत से यूरोप या यूरोप से भारत पहुँचे तो मानना पड़ेगा कि इस प्रक्रिया में शताब्दियाँ ही नहीं सहस्राब्दियाँ लगी होंगी। दूसरे, उस हालत में उन पर **बेबिलोनियन संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा होगा,** जैसा वस्तुतः कसाइटों पर पड़ा था। लेकिन न तो यह प्रभाव इण्डो-ईरानियों पर मिलता है और न यूरोप के इण्डो-यूरोपियनों पर।

मध्य-एशिया विषयक मत—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यों का निवास स्थान किसी ऐसे **विस्तृत** प्रदेश में रहा होगा जहाँ से भारत और ईरान पहुँचना भी आसान हो और यूरोप पहुँचना भी। **यह प्रदेश मध्य एशिया ही हो सकता है।** इस प्रदेश को यह श्रेय **मैक्समूलर, सेयस, चार्लकार्पेन्टियर** तथा **रिचार्ड टेम्पेल** इत्यादि विद्वानों ने दिया था। हाल ही में **ब्रेन्स्टीन** ने शब्दार्थ-विकास-शास्त्र (एप्लायड सेमास्योलाजी) की सहायता से जो निष्कर्ष निकाले हैं उससे इसका समर्थन हुआ है।

ब्रेन्डेस्टीन का अभिमत

शब्दार्थ-विकास-शास्त्र—उसका कहना है आर्यों ने अपने प्रसार की प्रत्येक अवस्था में जिन शब्दों का प्रयोग किया है, उनके अर्थ में शनैःशनैः होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करके आर्यों के सांस्कृतिक विकास और निवास-स्थान विषयक कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इस प्रकार के अध्ययन से ज्ञात होता है **इण्डो-यूरोपियन** परिवार से सर्वप्रथम अलग होने वाला महत्त्वपूर्ण दल **इण्डो-ईरानियों** का था। उनके अलग होने के पश्चात् भी इण्डो-यूरोपियन कुछ समय तक एक साथ रहते रहे। ब्रेन्डेस्टीन ने इण्डो-ईरानियों के पृथक् होने के पूर्व के इण्डो-यूरोपियनों को **'आदि इण्डो-यूरोपियन'** और इण्डो-ईरानियों के अलग हो जाने के बाद के इण्डो-यूरोपियनों को **'परवर्ती इण्डो-यूरोपियन'** कहा है।

ब्रेन्डेस्टीन के निष्कर्ष—'आदि इण्डो-यूरोपियनों के द्वारा प्रयुक्त शब्दों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वे **पहाड़ों की तराई में घास के मैदान** में रहते थे। उनके परिचित **वनस्पति** जगत् में एक भी वृक्ष ऐसा नहीं है जो विशेषतः यूरोपियन हो। **पशुओं** में उनका परिचय बारहसिंगा ऊदबिलाव, जंगली सूअर, लोमड़ी, भेड़िया और रीछ से था। ऐसा प्रदेश जहाँ ये सब पशु और वनस्पतियाँ मिलती हों यूरोप के दक्षिण में स्थित **किर्गीज नामक घास का मैदान** है। यहीं आदि इण्डो-यूरोपियन रहते होंगे। यहाँ से इण्डो-ईरानी पृथक् होकर भारत और ईरान की ओर चले गये। शेष इण्डो-यूरोपियन, जिन्हें **परवर्ती इण्डो-यूरोपियन** कहा जा सकता है, कुछ समय तक इसी स्थान में रहने के बाद पश्चिम की ओर चले गये। उनके शब्दों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनका नया **निवास स्थान घास के स्थान पर दलदलों से** परिपूर्ण था। यहाँ से आगे बढ़ने पर वे रोकीट्नों दलदलों के कारण **दो शाखाओं में बँट गए**। एक शाखा उत्तर की ओर गई जिससे नॉर्डिक जातियाँ उत्पन्न हुई और दूसरी दक्षिण की ओर बढ़ गई जहाँ से वह दक्षिणी और पश्चिमी यूरोप में फैली'।

ब्रेन्डेस्टीन के सतर्क सुझाव की सबसे बड़ी विशेषता—यह है कि इसको मान लेने से इस समस्या को हल करने के लिये जितने गम्भीर सुझाव आए हैं, उनमें अधिकांश का विरोध, कम से कम कुछ सीमा तक मिट जाता है। अगर उत्तरी ध्रुव विषयक जैसे कल्पनाप्रसूत और जर्मनी विषयक जैसे देश-भक्ति की भावना से अनुप्रेरित मतों को छोड़ दें तो मध्य-एशियावाद और

दक्षिण रूस विषयक मतों में, जिनमें अधिकांश विद्वान् आस्था रखते हैं, विशेष विरोध नहीं रहता। दूसरे, ब्रेन्डेस्टीन का झुकाव **प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व और भाषा-शास्त्र के साक्ष्य से मेल खाता है**। यह आर्य जातियों के प्राचीन साहित्य में उल्लिखित शब्दों की मनमानी व्याख्या पर भी आधारित नहीं है। इसीलिये **डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या** प्रभृति विद्वानों ने इसे कुछ संशोधनों के साथ, स्वीकृत किया है।

इण्डो-ईरानी

इण्डो-ईरानी और उनका सम्बन्ध-विच्छेद—इण्डो-यूरोपियनों से पृथक् होने के बाद **इण्डो-ईरानी** कुछ समय के लिए वंक्षु के उत्तरी प्रदेश में निवास करते रहे। बाद में पीछे से आनेवाली शाखाओं का दबाव पड़ने पर उन्होंने दक्षिण की ओर प्रयाण किया, परन्तु तत्पश्चात् वे अविभाजित न रह सके और दो शाखाओं में बँट गए। इनमें एक शाखा जिसने भारत में प्रवेश किया **वैदिक आर्य** नाम से प्रसिद्ध है और दूसरी जो ईरान में प्रविष्ट हुई **ईरानी आर्य** कहलाती है। इस **सम्बन्ध-विच्छेद के तीन प्रमुख कारण** थे। (१) मूल इण्डो यूरोपियन धर्म में केवल प्राकृतिक शक्तियों जैसे सूर्य, आकाश, वायु तथा अग्नि आदि की उपासना होती थी। इनको 'देव' कहा जाता था।

इण्डो-ईरानी युग में इनके साथ अमूर्त्त देवताओं की कल्पना हुई जिन्हें 'असुर' कहा गया। प्रारम्भ में इससे विशेष अन्तर नहीं पड़ा क्योंकि सभी इण्डो-ईरानी देव और असुर—दोनों की उपासना करते थे और इन दोनों शब्दों को लगभग पर्यायवाची मानते थे। लेकिन कालान्तर में **देवों और असुरों के उपासकों में मतभेद** उत्पन्न हो गया। असुरों के उपासकों ने जिनकी ईरान में प्रधानता हुई, देवों को और देवों के उपासकों ने जिनकी भारत में प्रमुखता हुई असुरों को राक्षस कहा। ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों में असुर शब्द का अर्थ 'देवता' है जब कि पुराणों में यह 'राक्षस' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके विपरीत ईरानी साहित्य में असुर शब्द का अर्थ देवता है और देव शब्द का अर्थ राक्षस। (२) दोनों दलों की इस प्रतिद्वन्द्विता के पीछे सम्भवतः **सांस्कृतिक वैषम्य** भी था। सम्भवतः असुरों के उपासक देवों के उपासकों से अधिक प्रगतिशील थे। पुराणों में असुरों को देवताओं का अग्रज कहा गया है और उनकी सभ्यता को देवताओं की सभ्यता से उच्चतर माना गया है। देवों के उपासक असुरों के उपासकों की भौतिक समृद्धि को आश्चर्य की दृष्टि से देखते थे और यह मानते थे कि उन्होंने इसे माया से प्राप्त किया था। इसीलिए

पुराणों में देवताओं के इंजीनियर का पद 'मय' नामक असुर को दिया गया है। (३) धार्मिक और मानसिक पार्थक्य के अतिरिक्त **दोनों दलों की नवीन** परिस्थिति ने उनके बीच भेद की भावना को बलवती बनाया। अपने नये देशों में प्रवेश करने के बाद उनके सामने वहाँ की प्राचीनतर आर्येतर जातियों को पराजित करके अपनी सत्ता दृढ़कर करने की समस्या अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई और वैदिक आर्यों का ध्यान भारत में पूर्व दिशा में फैलने की ओर चला गया और ईरानियों का ईरान में पश्चिम दिशा में फैलने की ओर। इस प्रकार विपरीत दिशाओं में बढ़ने के कारण उनके पारस्परिक सम्बन्धों में शिथिलता आना स्वाभाविक था।

इतिहास जानने के साधन : अवेस्ता

अवेस्ता—ईरानियों के इतिहास और संस्कृति पर प्रकाश डालनेवाले साक्ष्य अत्यल्प हैं। उनके हखामशी युग के पूर्व के अभिलेख अभी तक अनुपलब्ध हैं, इसलिए प्राचीनतम युग के इतिहास का अध्ययन करते समय मुख्यतः साहित्य पर निर्भर रहना होता है। इसका उनके इतिहास में वही स्थान है जो भारत में वेदों का, परन्तु धार्मिक साहित्य का, जिसे सम्मिलित रूप से **'अवेस्ता'** कहा जाता है, यह न तो वैदिक साहित्य के समान विशाल है और न उतने शुद्ध रूप में मिलता है, क्योंकि लगभग १००० ई० पू० में **जरथुष्ट्र नामक** धर्म सुधारक ने इसमें मूलभूत परिवर्तन कर दिये थे। अरबी लेखक तबरी और मसूदी के अनुसार यह अवेस्ता—उनका संकेत स्पष्टतः जरथुष्ट्र की अवेस्ता की ओर है—**१२००० पशुओं की खालों पर लिखी हुई थी** और एक पहलवी अनुश्रुति के अनुसार इसमें **१२०० अध्याय थे**। यह संशोधित अवेस्ता भी आजकल अपने विशुद्ध रूप में नहीं मिलती। कहा जाता है कि हखामशी साम्राज्य के पतन के समय अलेक्जेण्डर के पर्सिपॉलिस नगर फूँक देने के कारण यह **नष्ट हो गई थी**। पार्थियन सासानी सम्राटों ने इसे **पुनः लिखवाया** परन्तु उस समय इसमें बहुत-सी **नई बातें भी जोड़** दी गयीं।

आजकल अवेस्ता को प्रायः चार भागों में बाँटा जाता है। (१) **यस्न** : इसमें ७२ अध्याय है। इसमें वे **'गाथाएँ'** भी सम्मिलित हैं जिनमें जरथुष्ट्र और उसके निकटतम साथियों के उपदेश संगृहीत हैं (२) **वीस्पेरेद** : इसमें २४ अध्याय हैं। ये स्तुतियों का संग्रह है जिन्हें यस्न के साथ प्रयुक्त किया जाता था। (३) **वेन्दिदाद** : यह धार्मिक नियमों की संहिता है। इसमें बताया गया है कि किस पाप का क्या प्रायश्चित है। इसमें २२ फर्गद या अध्याय हैं। (४) **यष्ट** : यह

माह के प्रत्येक दिवस के स्वामी फरिश्तों (यजत) की प्रशंसा में लिखी गई स्तुतियों का संग्रह है। इन सब ग्रन्थों से हमें जिस ईरानी सभ्यता का चित्र उपलब्ध होता है वह साधारणतः बहुत बाद का है, परन्तु इसके प्राचीनतम अंशों और वैदिक साहित्य के प्राचीनतम अंशों की भाषा, शब्दों और विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करके आदि ईरानी आर्यों की सभ्यता की कुछ झलक पाई जा सकती है। ईरानी आर्य और वैदिक भाषा में बहुत सादृश्य है। थोड़े से ध्वनि नियमों का प्रयोग करके अवेस्ती और वैदिक ऋचाओं को अदला-बदला जा सकता है।

ईरानी सभ्यता के प्राचीन स्वरूप के अध्ययन में 'यस्न' ग्रन्थों से **विशेष सहायता नहीं मिलती** क्योंकि जरथुष्ट्र के द्वारा संशोधित कर देने के कारण इनका प्राचीन रूप बहुत कुछ विलुप्त हो गया है। इनकी तुलना में **यष्ट ग्रन्थ इस विषय में अधिक प्रकाश देते हैं**। इसका क्या कारण है, कहना कठिन है। या तो इन पर जरथुष्ट्र का प्रभाव अपेक्षया कम पड़ा था अथवा इनको बाद में, जरथुष्ट्र के धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने पर, पुनः प्राचीन रूप देने की चेष्टा की गई थी। इनमें दूसरी सम्भावना को विद्वान् सत्य के अधिक निकट मानते हैं क्योंकि यष्टों की संस्कृति गाथाओं की संस्कृति से प्राचीनतर और ऋग्वेदिक के निकटतर होते हुए भी भाषा अपेक्षया परवर्ती लगती है।

यूनानी लेखक और हखामशी अभिलेख—प्राचीन ईरानी सभ्यता के अध्ययन में हेरोडोटस की 'हिस्टरी' तथा अन्य यूनानी लेखकों के वर्णन से भी बहुत सहायता मिलती है। विशेषतः **हेरोडोटस** का 'इतिहास' इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। **हखामशी सम्राटों के अभिलेखों** की भाषा और इनमें दी गई सूचनाएँ भी अप्रत्यक्ष रूप से प्राक्-हखामशी युग के अध्ययन में सहायता देती हैं। हखामशी युग के अध्ययन के लिए तो ये अभिलेख यहूदी बाइबिल, यूनानी ग्रन्थ और स्वदेशी साहित्य अपरिहार्य हैं ही।

राजनीतिक इतिहास

ईरानी आर्यों की शाखाएँ—दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० की प्रारम्भिक शताब्दियों तक ईरानी आर्य ईरान का पूर्णरूपेण उपनिवेशन करने और एक नई सांस्कृतिक व्यवस्था स्थापित करने में लगे रहे। हेरोडोटस के 'इतिहास', अवेस्ता और हखामशी अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यों के समान ईरानी-आर्य भी बहुत सी **शाखाओं में विभाजित** हो गये थे। इनमें **मीडयनस्** (हमदान के आसपास

जिकीर्तु (मीडयनस् के पूर्व में), पर्सियनस् (इस्लाम के पूर्व में स्थित फार्स में), पार्थव (पार्थिया में), हरैव, हेरोडोटस के एरियन (हिरात में), हायरकेनियन, अवेस्ती वेहरकान (हायरकेनिया में), ड्रेन्जन (उत्तर-पश्चिमी अफगानिस्तान में), एराकोशियन (हैल्मण्ड की घाटी में), बाख्त्री अथवा बैक्ट्रियन (बल्ख प्रदेश में), कोरेस्मियन (खीव प्रदेश में), मारजियन (मन प्रदेश में) और सॉग्डियन उल्लेखनीय हैं। इनमें बहुत सी शाखाओं में आर्येतर जातियाँ घुलमिल गई थीं। इनके साथ ही कसाइटों और मितन्नियों का उल्लेख किया जा सकता है जो मूलतः ईरानी आर्यों की उपशाखाएँ रहे होंगे लेकिन बैबिलोन और कप्पेडोशिया में बस जाने के बाद उन प्रदेशों की स्थानीय जातियों में घुल मिल गए।

पौराणिक इतिहास

फिरदौसी का 'शाहनामा'—ईरान का इतिहास एलम और मीडिया को मिला कर देखने से लगभग उतना ही प्राचीन है जितना बैबिलोन का। परन्तु इन प्रदेशों को छोड़ दे तो शेष ईरान का हखामशी साम्राज्य के उत्कर्ष के पूर्व का ज्ञात राजनीतिक इतिहास उसी प्रकार अन्धकारमय है जैसे वैदिक भारत का। ईरान में प्राचीन इतिहास विषयक जो आख्यान प्रचलित थे उनकी प्राचीनतम झलक यष्ट ग्रन्थों में मिलती है। इनको फिरदौसी नामक कवि ने अपने 'शाहनामा' ग्रन्थ में संकलित किया था। इसके अनुसार ईरान के प्राचीनतम वंश का नाम पिशदादी था। इसका संस्थापक कैमार था और सबसे प्रसिद्ध राजा जमशेद। उसने पर्सिपालिश नगर बसाया, सौर पंचांग प्रचलित किया तथा सुरा (सोम) का आविष्कार किया। परवर्ती पिशदादी युग में राजाओं से अधिक कीर्ति उनके सेनापतियों को मिली। इनमें सीस्तान का प्रसिद्ध योद्धा साम और उसके वंशज प्रमुख हैं। साम का पुत्र जाल अपने पिता के समान एक भारी विजेता सिद्ध हुआ। परन्तु, जितनी कीर्ति जाल के पुत्र रुस्तम ने अर्जित की उतनी सम्भवतः विश्व में किसी अन्य योद्धा को अब तक नहीं मिल पाई है। भारत में भी उसके और उसके पुत्र सोहराब के विषय में अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। इन आख्यानों में सत्यांश कितना है, कहना कठिन है, फिर भी इनसे ईरानी राष्ट्र को उसी प्रकार प्रेरणा मिलती रही है जिस प्रकार रामायण और महाभारत से भारतीयों को। इसी दृष्टि से इनका महत्त्व है।

ऐतिहासिक युग : मीडियन साम्राज्य

मीडियन राज्य का उत्कर्ष : डीयोकीज—ईरान का ऐतिहासिक युग

मीडिया के उत्कर्ष से प्रारम्भ होता है। मीडिया **ईरान का उत्तर पश्चिमी भाग था**। मीडियन असीरियनों के अधिक निकट थे इसलिए उन्हें बार-बार असीरियन आक्रमणों का सामना करना पड़ता था। इससे **उनमें एकता की भावना** अन्य ईरानियों से पहले आई। हेरोडोटस के अनुसार उनके संयुक्त राज्य की स्थापना डीयोकीज नामक नागरिक ने की थी। अपने साथियों के झगड़ों का उचित फैसला करने के कारण उसने बहुत कीर्ति प्राप्त की। जब उसके पास बहुत मुक़दमें आने लगे तब उसने इस काम से हाथ खींच लिया। इससे देश में अराजकता फैल गई और विवश होकर मीडियनों को उसे अपना राजा चुनने के लिए बाध्य होना पड़ा। उसने हंगमतन (हमदन) अथवा **एक्बटना को अपनी राजधानी बनाया**, दरबार के रीति-रिवाज निश्चित किए और राजानुशासन लागू किया। सारगोन द्वितीय (७२२-७०५ ई० पू०) के एक अभिलेख में कहा गया है कि उसके शासन काल में मीडिया के बहुत से सरदारों ने उरर्तु नरेश रूसस के साथ मिलकर एक संघ बनाना था। इनमें एक नाम दायवकु बताया गया है। यही व्यक्ति हेरोडोटस का डीयोकीज रहा होगा।

चित्र १३० : एक मीडियन सामन्त

फ्रवर्तिश अथवा क्षरतरित—हेरोडोटस के अनुसार डियोकीज का उत्तराधिकारी उसका पुत्र **फ्रओर्टीज** (फ्रवर्तिश) था। लेकिन असीरियन अभिलेखों में इस समय क्षस्तरित (लगभग ६८०-६५३ ई० पू०) नामक व्यक्ति को मीडियनों का राजा बताया गया है जिसने ६८० ई० पू० के लगभग एसरहद्दोन के विरुद्ध विद्रोह किया था। उसने अपनी शक्ति उस समय बढ़ा ली होगी जब सारगोन द्वितीय का उत्तराधिकारी सेनाकेरिब एलम, मिस्र और जूडा के साथ युद्धों में फँसा हुआ था। क्षस्तरित अथवा फ्रवर्तिश ने **क्रिम्मरियन और सीथियन** जातियों को पराजित किया, उनके साथ मिलकर असीरिया के विरुद्ध एक संघ बनाया और हेरोडोटस के अनुसार, खुद को भलीभाँति शक्ति-

शाली समझकर **निनेवेह पर आक्रमण** कर दिया, परन्तु पराजित हुआ और मार डाला गया (६५३ ई० पू०)।

उवक्षत्र द्वारा मीडियन साम्राज्य की स्थापना—क्षत्तरित की मृत्यु के बाद मीडिया २८ वर्ष तक सीथियनों के अधिकार में रहा। उसे सीथियन आधिपत्य से मुक्ति दिलाने और एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिणत करने का श्रेय उवक्षत्र (सियक्सीज़) को प्राप्त है। उसने सीथियनों को मीडिया से भगाने के बाद समस्त **पश्चिमी ईरान को संगठित किया**। कैल्डियन नरेश **नेबोपोलस्सर के साथ निनेवेह के विरुद्ध सन्धि की** और ६१२ ई० पू० में असीरियन साम्राज्य का सदैव के लिए अन्त कर दिया। इस विजय से नेबोपोलस्सर को उत्तर में असुर तक का प्रदेश और भूमध्यसागरीय तटवर्ती प्रान्त मिले और **शेष असीरिया, उत्तरी मेसोपोटामिया, आरमीनिया और कप्पेडोशिया उवक्षत्र को**। ५९० ई० पू० के लगभग उसने **लीडिया पर आक्रमण** किया। पाँच वर्ष तक घोर युद्ध हुआ। अन्त में २८ मई ५८५ ई० में सूर्यग्रहण के दिन नए बैबिलोनियन सम्राट् नेबूशद्रेज्जर की मध्यस्थता से दोनों पक्षों में **सन्धि** हुई। हैलीज नदी दोनों राज्यों की सीमा निश्चित हुई और लीडियन राजकुमारी का विवाह मीडियन राजकुमार इश्तुवेगु (अस्त्यागीज़) के साथ कर दिया गया। इस प्रकार उवक्षत्र ने न केवल **मीडिया को स्वतन्त्र किया** वरन् असीरियन साम्राज्य का अन्त करके पहले महान् ईरानी साम्राज्य की स्थापना भी की।

चित्र १३१ : सीथियनों से युद्ध करते ईरानी योद्धा

इश्तुवेगु और मीडिया का पतन—उवक्षत्र के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी इश्तुवेगु (५८४-५५० ई० पू०) हुआ। उसके शासन काल में दक्षिणी ईरान में स्थित अन्सान प्रान्त के **शासक कम्बुजिय** प्रथम ने, जो नाममात्र के लिए उसके अधीन था, अपनी शक्ति बढ़ा ली जिससे प्रभावित होकर इश्तुवेगु ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। परन्तु कम्बुजिय के पुत्र **कुरुष द्वितीय** ने इश्तुवेगु के असन्तुष्ट सामन्तों का सहयोग पाकर ५५३ ई० पू० में विद्रोह कर दिया और ५५० ई० पू० में **मीडिया को अधिकृत** कर लिया।

मीडियनों के **राजनीतिक संगठन** और सांस्कृतिक सफलता के विषय में निश्चय पूर्वक कुछ भी कहना दुष्कर है। उनके **न अभिलेख प्राप्य हैं और न**

साहित्य। **कला के** क्षेत्र में उनकी प्रगति का ज्ञान साक्रिज से प्राप्त कोष से होता है जिसमें मिली कलाकृतियों पर असीरियन छाप स्पष्ट है। उनकी वास्तु कला का कोई नमूना अभी तक नहीं मिला है। यूनानी साहित्य से ज्ञात होता है कि वे अपनी **विलासिता और वैभव** के लिए प्रसिद्ध थे। उनकी **वेष-भूषा और राजसभा के नियम** इत्यादि हखामशी शासकों ने अपनाए थे।

ईरानी आर्यों का धर्म

ईरानी और वैदिक धर्मों में सादृश्य—जैसा कि कहा जा चुका है कि प्राचीनतम ईरानियों का धर्म ऋग्वेदिक धर्म के सदृश था। प्रारम्भ में वे भी वैदिक आर्यों के समान **देवों और असुरों**, दोनों की उपासना करते थे। उनके देवता बड़े-बड़े अश्वचालित रथों में चलते थे और मनुष्यों पर कृपालु रहते थे। वैदिक धर्म के समान उनके धर्म में भी **देवताओं की संख्या ३३** थी तथा मन्दिर और मूर्त्तिपूजा अज्ञात थे। उनके देवताओं में प्रमुख स्थान **'अहुर'** (वैदिक वरुण ?) को प्राप्त था जो **मिथ्र** (वैदिक मित्र) की सहायता से नैतिक व्यवस्था की रक्षा करने वाला कहा गया है। वैदिक ऋत की कल्पना **अश** (**अर्** <अर्त<ऋत) के रूप में मिलती है। यह शब्द मितन्नी राजा अर्ततम और हखामशी सम्राट् अर्तक्जर्कसीज इत्यादि के नामों में भी अंश रूप में मिलता है। **अपाम नपात** का, जो वेदों का एक गौण देवता है, अवेस्ता में उल्लेख हैं। वेदों में विवस्वत पुत्र यम को मृतकों का शासक बताया गया है और अस्वेता में **विवहन्त के पुत्र यिम** को स्वर्ग का। वेदों के गन्धर्व अवेस्ता में **'गन्दरेव'** नाम से उल्लिखित हैं। लेकिन कालान्तर में ईरानी देव पूजा के विरोधी हो गए। वेदों के इन्द्र और नासत्यद्वय (नौहैथ्य) को अवेस्ता में राक्षस बताया गया है। परन्तु 'दैवों' को राक्षस और 'असुरों' को देवता घोषित कर देने के बाद भी उनके समाज से 'दैव पूजा' पूरी तरह विलुप्त नहीं हुई। जैसा कि बेन्वेन्स्टी ने दिखाया है, **हेरोडोटस** ने हखामशी युग के ईरानी धर्म का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसका बहुत सा अंश गाथाओं की तुलना में वेदों के धर्म के निकटतर मालूम होता है। हेरोडोटस के विवरण से ज्ञात होता है कि ईरानी 'जियस' को पहाड़ की चोटी पर बलि देते थे। इनमें पशुबलि भी सम्मिलित थी। उसने **'सोम'** का उल्लेख नहीं किया है परन्तु जरथुश्त्र उससे परिचित था। अवेस्ता में **उपासना विधि से** सम्बन्धित जो शब्द मिलते हैं वे वैदिक शब्दों के सदृश हैं, जैसे हौम (सोम), जौतर (=होता), अथ्रवन (अथर्वण), मन्थ (मन्त्र), यजत (=यजत), आजूइति (=आहूति) तथा यस्न (=यज्ञ) इत्यादि।

जरथुष्ट्र के सुधार

जरथुष्ट्र की ऐतिहासिकता और समय—एक सहस्र ई० पू० के लगभग जरथुष्ट्र नामक व्यक्ति ने ईरानी धर्म में मूलभूत सुधार किए। परवर्ती साहित्य से उसका नाम बहुत सी अलौकिक घटनाओं के साथ सम्बद्ध कर दिया गया, इसलिए बहुत से पाश्चात्य विद्वान् उसकी ऐतिहासिकता में शंका करते हैं। परन्तु 'गाथाओं' में उनके जीवन का जो वर्णन मिलता है वह अपेक्षया विश्वसनीय जान पड़ता है। उसका आविर्भाव कब हुआ, इसके विषय में भी बहुत मतभेद है। ईरानी अनुश्रुतियों में कपि विस्तास्प (फिरदौसी का गुस्तास्प) नामक राजा का उनका संरक्षक बताया गया है। अधिकांश यूरोपियन विद्वान् इस कपि विस्तास्प का तादात्म्य (हाइस्तेज स्पिज) के साथ स्थापित करते हैं और तदनुसार जरथुष्ट्र को छठीं शताब्दी ई० पू० के मध्य में रखते हैं। परन्तु जैसा कि मियर ने आग्रह किया है यह मान्यता नितान्त भ्रामक और ज्ञात साक्ष्यों के सर्वथा प्रतिकूल है। (१) जरथुष्ट्र का धर्म **हखामशी शासन काल में भलीभाँति लोकप्रिय** हो चुका था। यह असम्भव न होते हुए भी दुःसम्भाव्य लगता है कि जरथुष्ट्र के जीवन काल में ही उसके मत को इतनी मान्यता प्राप्त हो गई हो। (२) असुरबनिपाल (७ वीं शती ई० पू०) के एक अभिलेख में 'अस्सर मजश' उसके साथ सात 'इगिगियों' तथा उसका विरोध करने वाली सात प्रेतात्माओं का उल्लेख हुआ है जो स्पष्टतः जरथुष्ट्र द्वारा प्रतिपादित अहुरमज़्दा और उसके सात अमेशस्पेन्तों तथा सात 'दैवों' का वर्णन है। (३) हमदन में एक स्वर्ण पत्र अभिलेख मिला है जिसमें हखामशी वंश के संस्थापक हखामश (मृत्यु ६७५ ई० पू०) के पौत्र अरियाम्न ने, जो फार्स पर राज्य करता था, कहा है कि उसके राज्य में 'जिस पर अहुरमज्दा की कृपा के कारण उसका अधिकार है' बहुत उत्तम अश्व मिलते हैं। स्पष्ट है कि **जरथुष्ट्र का सम्प्रदाय सातवीं शताब्दी ई० पू० में फार्स में जड़ें जमा चुका था।** (४) हखामशी सम्राट् **दारयवौष प्रथम अभिलेखों में अपने को अहुरमज़्दा का उपासक बताता है परन्तु जरथुष्ट्र का उल्लेख नहीं करता।** इससे लगता है कि जरथुष्ट्र को आविर्भूत हुए बहुत समय व्यतीत हो चुका था। (५) **हखामशी सम्राट् जिस जरथुष्ट्री धर्म को मानते थे वह मूल जरथुष्ट्री धर्म से बहुत भिन्न था।** अगर जरथुष्ट्र कुरुष महान् और विस्तास्प (दारयवौष प्रथम का पिता) के समकालीन रहा होता तो हखामशी अभिलेखों का धर्म मूल जरथुष्ट्री धर्म के निकट होता। (६) जरथुष्ट्र की **गाथाओं की भाषा** हखामशी अभिलेखों की भाषा से बहुत भिन्न है। भाषा-शास्त्रियों ने इसे अभिलेखों की भाषा से ५००

वर्ष पुरानी माना है। अतः जरथुष्ट्र का समय **१,००० ई० पू० के लगभग** मानना चाहिए छठीं शताब्दी ई० पू० में नहीं।

जरथुष्ट्र की जीवनी—अनुश्रुतियों के अनुसार जरथुष्ट्र का जन्म पश्चिमी ईरान में अजरबेजान प्रान्त में उर्मिया नमक झील के समीप इसी नाम से विख्यात स्थान में हुआ था। उन्होंने पन्द्रह वर्ष की आयु में **शिक्षा** समाप्त की और आगामी पन्द्रह वर्ष दीनों और असहायों की सेवा और **अशुभ शक्तियों के साथ मानसिक युद्ध** में व्यतीत किये। तीस वर्ष की आयु में उन्हें **सबलान पर्वत पर 'ज्ञान'** प्राप्त हुआ। दूसरे शब्दों में उन्होंने अहुरमज़्दा और उनके सात अमेशस्पेन्तों के दर्शन किये। आगामी दस वर्षों में उन्होंने अपने **धर्म का प्रचार** करने का प्रयास किया क्योंकि अंग्रमैन्यु ने उनके देशवासियों को **ज्ञान** न प्राप्त करने के लिए भड़का दिया था। इन दस वर्षों में पश्चिमी ईरान से निराश होकर उन्होंने **पूर्वी ईरान** में भ्रमण करने का निश्चय किया। वहाँ किश्मर (खुरासान) में **कवि विस्तास्प** नामक राजा को उन्होंने अपना शिष्य बनाने में सफलता प्राप्त की। परन्तु विस्तास्प ने भी उनको अपना गुरु तभी माना जब अहुरमज़्दा ने तीन फरिश्ते भेजकर उसे जरथुष्ट्र को अपना गुरु मान लेने और बदले में एक सौ पच्चीस वर्ष का जीवन पाने की राय दी और धमकी दी कि अगर वह ऐसा नहीं करेगा तो उसे नष्ट कर दिया जायेगा।

विस्तास्प को शिष्य बना लेने के बाद जरथुष्ट्र ने **तीन बार विवाह** किया। उनका परिवार काफी बड़ा हो गया था। परन्तु अंग्रमैन्यु ने चैन नहीं लेने दिया। उसके भड़काने पर पड़ोसी राजाओं ने संघ बनाकर **विस्तास्प पर आक्रमण किया**। इस युद्ध में विस्तास्प की विजय हुई। परन्तु आक्रमणकारियों ने अवसर पाकर अग्नि के पवित्र मन्दिर में जरथुष्ट्र और उसके साथी आठ पुजारियों को मार डाला।

जरथुष्ट्र के उपदेश—जरथुष्ट्र का धर्म ईश्वर प्रदत्त 'ज्ञान' पर आधारित धर्म (रिवील्ड रीलीजन) था। विश्व के भारतेतर देशों में जरथुष्ट्री धर्म ने ही पहली बार यह दावा किया कि वह ईश्वर प्रदत्त धर्म है। यहूदी धर्म ने यह दावा शायद ईरानी सम्पर्क में आने के बाद किया था। जरथुष्ट्र का ईरानी धर्म से बहुत-कुछ उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का गौतम बुद्ध का वैदिक धर्म के साथ। दोनों ने अपने-अपने देशों में प्राचीन आर्य धर्म में प्रचलित पशुबलि-प्रथा जैसी **बुराइयों का विरोध** किया। अन्तर इतना है कि जरथुष्ट्र ने प्राचीन **ईरानी धर्म को ही सुधारने की चेष्टा** की जबकि गौतम बुद्ध के उपदेशों से एक नया धर्म अस्तित्व में आया।

एकेश्वरवाद : अहुरमज़्दा—जरथुष्ट्र ने प्राचीन ईरानी धर्म में प्रतिपादित **बहु-देववाद का विरोध और एकेश्वरवाद का प्रचार** किया था। उन्होंने केवल **अहुरमज़्दा** की सत्ता स्वीकृत की। इसलिए कभी-कभी उनके धर्म को मज़्दावाद (मज़्दाइज़्म) भी कह दिया जाता है। कुछ विद्वानों ने अहुरमज़्दा का सम्बन्ध दिऔस् (वैदिक द्यौः) से जोड़ा है परन्तु यह गलत है। अहुरमज़्दा अगर नाम से नहीं तो **व्यक्तित्व से अवश्य ही वैदिक देवता वरुण है।** वेदों में वरुण को 'असुर' कहा गया है। मज़्दा का संस्कृत रूप 'मेधः' है। इसलिए अहुरमज़्दा का शाब्दिक अर्थ होता है 'महाज्ञानी' अथवा 'सर्वज्ञ'। ऋग्वेद में वरुण को समानार्थी विशेषण दिए गए हैं। इतना ही नहीं जिस प्रकार वरुण ऋग्वेद में ऋत का स्वामी है उसी प्रकार **अहुरमज़्दा 'अश' (=ऋत)** का। गाथाओं में

चित्र १३२ : पक्षयुक्त अहुरमज़्दा

उसे सत्य और नैतिक नियमों का रक्षक और असत्य अथवा अनृत का नाश करने वाला कहा गया है। जरथुष्ट्र के अहुरमज़्दा में और प्रारम्भिक ईरानी देवताओं में यह अन्तर है कि प्रारम्भिक ईरानी देवता वैदिक देवताओं के समान नैतिक नियमों से सम्बन्धित होते हुए भी अपने प्राकृतिक स्वरूप से बँधे हुए थे परन्तु अहुरमज़्दा मुख्यतः नैतिक नियमों—का संरक्षक होने के कारण महान् है। उसके साथ सात अमर शक्तियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है जो नैतिक आदर्शों का दैवीकरण मात्र है। उनको **अमेशस्पेन्त'**—कहा गया है। इनका कभी उसके गुणों के रूप में उल्लेख है और कभी इन्हें विशिष्ट व्यक्तित्व दे दिया गया है। वेदों में वरुण का आदित्यों के साथ इसी प्रकार का सम्बन्ध बताया गया है।

जरथुष्ट्र की अंग्रमैन्यु विषयक अवधारणा—जरथुष्ट्र ने अपनी गाथाओं में अहुरमज़्दा की शुभ शक्ति **(स्पेन्तमैन्यु)** का प्रतिरोध करने वाली अशुभ शक्ति को अंग्रमैन्यु कहा है : अंग्रमैन्यु प्रकृतया दुष्ट और दुराशय है। उसके और

स्पेन्तमैन्यु के पारस्परिक संघर्ष से सृष्टि का उद्भव हुआ है। स्पेन्तमैन्यु ने सब अच्छे प्राणी और वस्तुएँ, जैसे खेती में सहायता देने वाला बैल, चौकीदारी करने वाला कुत्ता और खाद्यान्न इत्यादि का निर्माण किया और अंग्रमैन्यु ने सब बुरे प्राणियों और वस्तुओं, जैसे हिंस्र पशु, सर्प, कीट, पतंग इत्यादि का। अंग्रमैन्यु की सहायता 'दैव' (ईरानी धर्म के राक्षस) करते हैं जिनमें **इन्द्र और नासत्यद्वय** भी सम्मिलित हैं। अंग्रमैन्यु का आविर्भाव अहुरमज़्दा के आविर्भाव के पश्चात् हुआ और अन्ततोगत्वा उसका विनाश भी हो जाएगा जब कि अहुरमज़्दा अनादि और अनन्त हैं। इस प्रकार जरथुष्ट्र का धर्म **अंग्रमैन्यु के अस्तित्व को स्वीकृत करने के बावजूद एकेश्वरवादी था।**

जरथुष्ट्र के धर्म में कर्मकाण्ड—जरथुष्ट्र के धर्म में कर्मकाण्डीय अंश बहुत सरल था। उनके मन्दिर एक प्रकार की **ऊँची वेदी** थे जिनमें **पवित्र अग्नि** प्रज्ज्वलित रहती थी। इसमें पुजारी को दिन में पाँच बार सुगन्धित द्रव्य छोड़ने होते थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जरथुष्ट्री को अपने घर में पवित्र अग्नि प्रज्वलित रखनी होती थी। **अग्नि को अशुद्ध होने से बचाने के लिए** उपासक को सामग्री छोड़ने समय मुँह और हाथों को कपड़े में ढँके रखना होता था। वे **पृथ्वी, वायु और जल को भी पवित्र मानते थे।** इसलिए बहते जल को अपवित्र करना निषिद्ध था और वायु तथा पृथ्वी को अशुद्ध होने से बचाने के लिए मृत शरीर को जलाने या गाड़ने के स्थान पर एक ऊँची मीनार पर छोड़ दिया जाता था।

जरथुष्ट्र के धर्म में **मागियों** का महत्त्वपूर्ण स्थान था। 'मागी' ईरानी धर्म के पुजारी थे जिनके हाथ में ऐतिहासिक युग में **बलि पशुओं के वध करने और हौम (सोम) रस तैयार करने का विशेषाधिकार था।** अपेक्षया सरल जीवन व्यतीत करने, एक पत्नी से सन्तुष्ट रहने और अनेक धार्मिक प्रथाओं का निष्ठापूर्वक पालन करने के कारण जनता और शासक वर्ग पर उनका अत्यधिक प्रभाव हो गया। उनका ज्ञान समस्त पश्चिमी एशिया और यूरोप में प्रसिद्ध था। यूनानी जन भी उन्हे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। अँग्रेजी का 'मेजिक' शब्द 'मागी' शब्द से ही व्युत्पन्न है। सम्भवतः वे आर्य न होकर तूरानी अथवा आदिम ईरानी जातियों का एक क़बीला थे जो अपने ज्ञान के कारण ईरानी आर्यों के समाज का अंग मान लिया गया। बहुत से विद्वानों को तो यह सुझाव है कि **खुद जरथुष्ट्र एक मागी था।**

जरथुष्ट्री परलोकवाद—जरथुष्ट्र ने परलोक की कल्पना को स्थान दिया था। गाथाओं में यह कल्पना अत्यन्त अस्पष्ट है परन्तु **वेन्दिदाद में स्पष्ट हो** जाती है। इसमें यह विश्वास प्रकट किया गया है कि मरने के बाद मृतक की

आत्मा तीन दिन तक अपने घर के आस-पास मँडराती है, तत्पश्चात् उड़कर मिथ्र और अन्य देवताओं के सम्मुख न्याय के लिए उपस्थित होती है। अगर उसके पुण्य अधिक होते हैं तो उसे स्वर्ग मिलता है और पाप अधिक होते हैं तो नरक। परन्तु नारकीय यातनाएँ शाश्वत नहीं हैं क्योंकि विश्वास किया गया है कि एक समय आएगा जब सभी मृतात्माएँ पुनरुज्जीवित होंगी और 'पिघली धातु' पवित्र होंगी।

नैतिक दर्शन—जरथुष्ट्र का धर्म नैतिक धर्म था। इसमें मनुष्य को शुभ और अशुभ शक्तियों का संघर्ष क्षेत्र माना गया है। अब यह मनुष्य की इच्छा है कि वह शुभ कर्म करके अहुरमज़्दा का सहायक बनाना चाहता है अथवा पाप कर्म करके अग्रमैन्यु का। अवेस्ता में उन सब कर्मों का विस्तरशः विवरण दिया गया है जिनको करने से सत्य को विजय होती है। सबसे बड़ा पाप है धर्म में अविश्वास और प्रशंसनीय कर्म है धर्म में श्रद्धा। इसलिए प्रत्येक पुण्यात्मा का कर्तव्य है कि वह सदाचरण स्तुति और उपासना द्वारा अहुरमज़्दा को सन्तुष्ट किए रहे।

२०
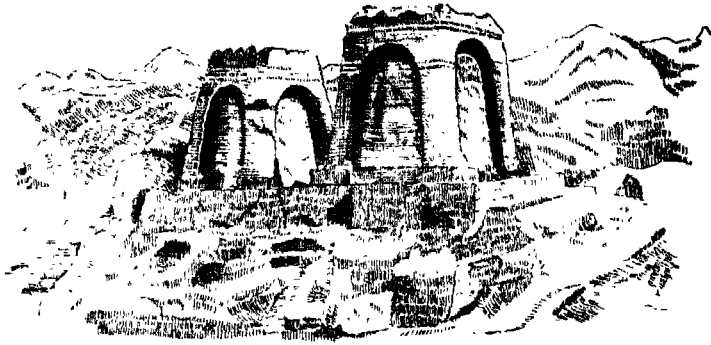
हखामशी साम्राज्य और सभ्यता

I am Darius, the Great King, the King of Kings, King of lands peopled by all races, for long King of this great earth, the son of Vishtasp, the Achaemenian, a Persian, son of a Persian, an Aryan of Aryan descent.

—*From an inscription of Darius.*

राजनीतिक इतिहास

पर्सियनों का उत्कर्ष : हखामशी वंश—ईरानी आर्यों की जिस शाखा ने इतिहास में सर्वाधिक यश अर्जित किया है वह पर्सियन नाम से विख्यात है। ७०० ई० पू० के लगभग उसका निवास स्थान एलम के पूर्व में **फार्स** प्रान्त में था। पर्सियनों का **सर्वप्रथम अभिलेखिक उल्लेख** ६९२ ई० पू० का है। शनैः शनैः उन्होंने अपने पड़ोस में निवास करने वाली आर्य जातियों को उसी प्रकार आत्मसात करके अपनी संख्या और शक्ति बढ़ाली जिस प्रकार उत्तर-पश्चिमी ईरान में मीडियनों ने। हेरोडोटस ने उनके पेसरगेडाय, मरफियन, पेसपियन, पेन्थ्यालियन और देरुजियन इत्यादि **अनेक क़बीलों** के नाम गिनाए हैं। इनका नियन्त्रण सात परिवारों के हाथ में था। इनमें पेसरगेडाय क़बीले का हखामशी परिवार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था।

प्रारम्भिक हखामशी नरेश—पर्सियनों को प्रारम्भ में एलम का प्रभुत्व स्वीकृत करना पड़ा परन्तु असीरिया के साथ संघर्ष में एलम की शक्ति घट जाने

इस पृष्ठ के ऊपर नक्शे-रुस्तम से प्राप्त अग्नि-वेदियों का चित्र दिया गया है।

पर उन्होंने हख्रामशी वंश के नेतृत्व में **स्वतन्त्र राज्य की** स्थापना कर ली। **इस राज्य का संस्थापक** हख्रामश (लगभग ६७५ ई० पू०) को बताया गया है। बहुत से विद्वान् उसकी **ऐतिहासिकता में सन्देह** करते हैं, परन्तु इस शंका के लिए कोई आधार नहीं है। उसके पुत्र **चिशपिश** (तिशपिज) ने एलमी आधिपत्य के जुए को उतार फेंका और अन्सान को जीत लिया। लेकिन, अगर हेरोडोटस का विश्वास किया जाय तो उसे मीडियन राजा **फराओर्टीज** (फ्रवर्तिश-क्षस्तरित ?) **को अपना स्वामी मानना पड़ा था।** उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका राज्य दो भागों में बँट गया। उसके एक पुत्र **कुरुष प्रथम को** अन्सान और पर्शुमश का राज्य मिला और दूसरे पुत्र **अरियाम्न को** फार्स का। परन्तु कुरुष प्रथम के उत्तराधिकारी **कम्बुजिय (केम्बाइसिज़) प्रथम** ने अरियाम्न के उत्तराधिकारी अर्शम को परास्त करके **पुनः संयुक्त-राज्य की स्थापना कर ली।** फिर भी अर्शम और उसके उत्तराधिकारी गवर्नरों के रूप में शासन करते रहे। कम्बुजिय प्रथम ने मीडिया के राजा **इश्तुवेगु (एस्टाईगिज) की पुत्री से विवाह किया** था, इससे स्पष्ट है कि मीडियन आधिपत्य स्वीकृत कर लेने के बावजूद उसे पर्याप्त महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

कुरुष द्वितीय : मीडिया विजय—कम्बुजिय प्रथम का उत्तराधिकारी कुरुष द्वितीय हख्रामशी **साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक** था। उसका ईरान के इतिहास में वही स्थान है जो यूनान के इतिहास में अलेक्जेण्डर का और भारत के इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य का। उसने अपना जीवन मीडियन सम्राट् इश्तुवेगु की अधीनता में प्रारम्भ किया। लेकिन केवल आठ वर्षों के अन्दर वह खुद मीडिया का स्वामी बन बैठा। **टीसियस और हेरोडोटस** ने बताया है कि उसने शक्ति से मीडिया को अधिकृत किया था। परन्तु हेरोडोटस यह भी कहता है कि उसको बहुत से **मीडियन सरदारों का सहयोग** प्राप्त था। हो सकता है मीडियन सरदारों ने किसी कारण वश इश्तुवेगु से अप्रसन्न होकर उसके दौहित्र कुरुष को राजा बनने के लिए निमंत्रित किया हो। सम्भवतः इसीलिए यूनानी बहुत समय तक हख्रामशी साम्राज्य को मीडियन साम्राज्य और कुरुष को मीडियन राजा मानते रहे। इस सहायता के बदले में कुरुष ने **मीडियन साम्राज्य में बहुत सम्मानपूर्ण स्थान** दिया और मीडियन नगर **एक्बटना को अपनी राजधानी बनाया।**

लीडिया और यूनानी उपनिवेशों की विजय—मीडिया को अधिकृत कर लेने से कुरुष असीरिया के अधिकांश भाग, उरर्तु और पूर्वी एशिया माइनर का भी स्वामी हो गया। इसके बाद, पहले उसने पर्सिया प्रान्त जीता और

तत्पश्चात् लीडिया नरेश क्रोयसस पर आक्रमण किया। क्रोयसस (५६१–५४६ ई० पू०) एक युद्धप्रिय शासक था, परन्तु कुरुष के शीघ्रतापूर्वक साइलिशिया जीत लेने से अपने मित्रों—बैबिलोन नरेश नबोनिडस और मिस्री फराओं—से कोई सहायता नहीं मिल सकी। अन्त में ५४६ ई० पू० में उसकी पराजय हुई, उसकी राजधानी सार्डिस का पतन हुआ और लीडिया हखामशी साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। कहा जाता है कि इस पराजय से दुःखी होकर क्रोयसस ने चिता में जलकर आत्महत्या करने की चेष्टा की परन्तु कुरुष ने उसे बचा लिया और अपनी राजसभा में सम्मानित स्थान प्रदान किया।

एशिया माइनर के पश्चिमी तटवर्ती प्रदेश में यूनानियों के समृद्ध उपनिवेश थे। वे लीडिया के अधीन थे परन्तु उन्होंने कुरुष के विरुद्ध लीडिया को सहायता न देने और लीडिया का पतन हो जाने पर कुरुष का प्रतिरोध करने की मूर्खता की। लेकिन इनके अधिकांश व्यापारी हखामशी सम्राट् से अच्छे सम्बन्ध रखना चाहते थे जिससे उन्हें उसके विशाल साम्राज्य में व्यापार करने का अवसर मिल सके। दूसरे, इन नगरों में पारस्परिक एकता का अभाव था। इसलिए कुरुष को उनको एक-एक करके पराजित करने में कठिनाई नहीं हुई। यूनानी उपनिवेशों की विजय कालान्तर में यूनान-ईरान युद्ध का कारण बनी (पृ० ४३२)।

उत्तर-पूर्व और पूर्व में विजय अभियान—ईरान पर उत्तर-पूर्व से मध्य एशियाई बर्बर जातियों के आक्रमण प्रायः होते रहे थे। इनको रोकने और साम्राज्य को स्थायित्व देने के लिए कुरुष ने हायरकेनिया और पार्थिया पर विजय प्राप्त की और वहाँ हखामशी वंश की दूसरी शाखा के भूतपूर्व नरेश अर्शम के पुत्र विस्तास्प को गवर्नर नियुक्त किया। तत्पश्चात् उसने ड्रेन्जियाना, एराकोशिया, मार्जियाना, और बैक्ट्रिया को अधिकृत किया। उसने वंक्षु नदी के उत्तर में अवस्थित मैदानी प्रदेश पर भी आधिपत्य स्थापित किया और वहाँ प्राचीर युक्त नगरों का निर्माण किया। भारत में उसको कितनी सफलता मिली, कहना कठिन है। एरियन ने उसे सिन्धु नदी तक के प्रदेश का स्वामी बताया है, लेकिन उसी स्थान पर वह इस प्रदेश पर भूतकाल में असीरियनों और मीडियनों के शासन करने की बात भी कहता है जिसमें विश्वास करना सर्वथा असम्भव है। इसलिए उसका कुरुष को इस प्रदेश का अधिपति बताना भी सन्देहप्रद हो जाता है। लेकिन प्लिनी इत्यादि अन्य लेखकों के साक्ष्य के आधार पर उसके द्वारा काबुल की घाटी तक के प्रदेश को अधिकृत कर लेने में विश्वास किया जा सकता है।

बैबिलोन और पश्चिमी प्रान्तों की विजय—जिस समय कुरुष काबुल से लेकर एशिया माइनर तक विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर रहा था, बैबिलोन में पुरातत्त्व प्रेमी नबोनिडस राज्य कर रहा था, यहूदी बन्दी जीवन व्यतीत कर रहे थे और मर्दुक के पुजारी नबोनिडस से छुटकारा पाने की ताक में थे। वे नबो-निडस से इतनी घृणा करते कि उससे मुक्ति पाने के लिए कुरुष की सहायता लेने से भी न चुके। उनका निमन्त्रण पाकर ५३९ ई० पू० में कुरुष ने उन पर आक्रमण किया और ५३७ ई० पू० में वहाँ 'त्राता' के रूप में प्रवेश किया। इस सहायता के बदले में उसने बैबिलोनियनों के साथ उदारता का व्यवहार किया, उनके देवता बेलमर्दुक की उपासना की, 'बैबिलोन-नरेश' विरुद धारण करके अपनी गणना बैबिलोन के 'अभिषिक्त' राजाओं में कराई और यहूदियों का फिलिस्तीन लौटने और येरुसलम में अपना मन्दिर पुनर्निर्मित करने की आज्ञा दे दी।

बैबिलोन की विजय से कुरुष का भूतपूर्व बैबिलोनियन साम्राज्य के सीरिया और फिनीशिया पर भी अधिकार हो गया। उनके साथ भी उसने पर्याप्त उदा-रता प्रदर्शित की। तत्पश्चात् उसने मिस्र पर आक्रमण करने की योजना बनाई, परन्तु इसी बीच में ५२९ ई० पू० में कैस्पियन प्रदेश की एक अज्ञात जाति के विरुद्ध युद्ध करते समय उसकी मृत्यु हो गयी।

बैबिलोन के पतन का महत्त्व—कुरुष की बैबिलोन विजय विश्व इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। (१) ५३८ ई० पू० तक बैबिलोन पश्चिमी एशिया का व्यापारिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र था। लेकिन कुरुष की विजय से आगामी कुछ शताब्दियों तक एक प्रसिद्ध नगर रहने के बावजूद उसका महत्त्व समाप्त हो गया और उसका स्थान पर्सिपालिस, सूसा और एक्बटना तथा हखामशी साम्राज्य के अन्त के पश्चात् एन्टिओक और साइल्युशिया आदि नगरों ने लिया। (२) बैबिलोन का पतन एक नगर का पतन ही नहीं एक सभ्यता और उसकी जाति का पतन था। यह नगर पिछले पन्द्रह सौ वर्षों से सेमेटिक जातियों के राजनीतिक उत्कर्ष का प्रतीक बना हुआ था। वस्तुतः पश्चिमी एशिया का इतिहास, सुमेरियन युग को छोड़कर बैबिलोनियन, असीरियन, यहूदी, फिनीशियन कैल्डियन और ऐरेमियन इत्यादि सेमेटिक जातियों का इतिहास था। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध में हित्ती मितन्नी और कसाइट इत्यादि अर्द्ध-आर्य जातियों ने सेमाइटों का प्रतिरोध अवश्य किया था परन्तु वे सेमाइटों के समान पश्चिमी एशिया की भाग्यविधात्री नहीं बन पाई थीं और अल्पसंख्यक होने के कारण कुछ ही समय में आर्येतर

जातियों में घुलमिल गई थी। कुरुप की **बैबिलोन-विजय से पश्चिमी एशिया में भी निश्चित रूप से आर्यों का प्रभुत्व स्थापित हो गया** जो सातवीं शताब्दी ई० में, अर्थात् कुरुप के समय से लगभग १२०० वर्ष बाद इस्लाम का उदय होने तक, यथावत् बना रहा। (३) छठीं शताब्दी ई० पू० में विश्व के लगभग सभी देशों में **महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन और धार्मिक तथा बौद्धिक क्रान्तियाँ** हुईं। भारत में इस काल में **गौतमबुद्ध, महावीर** तथा अन्य अनेक धार्मिक विचारकों ने जन्म लिया और बिम्बिसार ने **मगध के प्रथम साम्राज्य की आधारशिला** रखी। चीन में यह युग कन्फूसियस (५५१-४७९ ई० पू०) और **लाओत्जे** (जन्म ५९० ई० पू० ?) के उपदेशों के कारण प्रसिद्ध है। बहुत से विद्वान् ईरान के प्रसिद्ध धर्म सुधारक **जरथुष्ट्र** को भी इसी शताब्दी में रखते हैं। यहूदी इतिहास में इसका महत्त्व जेरेमिया, इजकील और 'आइसेया' द्वितीय नामक नबियों के कारण है और यूनान में **एथेंस के प्रजातन्त्र के विकास और थेलिज़, एनेग्जिमेण्डर पायथागोरास और हेराक्लीटस इत्यादि** दार्शनिकों के कारण (पृ० ४४४)। इन परिवर्तनों और क्रान्तियों के कारण जिस नए युग का सूत्रपात हुआ उसके आरम्भ की **प्रतीकात्मक तिथि और घटना** ५३८ ई०पू० में कुरुप द्वारा बैबिलोन की विजय को माना जा सकता है।

कम्बुजिय द्वितीय—कुरुप ने विजित राज्यों के नरेशों और जनता के साथ उदारता का व्यवहार कर के उनकी भक्ति अर्जित करने का सफल प्रयास किया था। उसके पुत्र कम्बुजिय द्वितीय ने यद्यपि ५२५ ई० पू० में **मिस्र जीतने में सफलता** पाई तथापि सहिष्णुता और उदारता की नीति का परित्याग करके साम्राज्य की नींव को दुर्बल करने में भी कसर नहीं छोड़ी। उसने विदेशी देवी-देवताओं का उपहास किया, उनकी प्रतिमाएँ खण्डित करा दीं, अपने भाई **बर्दिय** (स्पर्दिस) की गुप्तरूपेण हत्या करवा दी, कोयसस को मृत्यु-दण्ड दिया और अपनी पत्नी और एक पुत्र को मौत के घाट उतरवा दिया। उसके इन अन्याय पूर्ण कृत्यों से उत्पन्न असन्तोष का लाभ उठाकर **गौतम** नामक एक मागी ने, जिसकी शक्ल बर्दिय से सादृश्य रखती थी अपने को बर्दिय (स्पर्दिस) घोषित कर विद्रोह कर दिया। इसके परिणामस्वरूप कम्बुजिय का पतन हुआ, परन्तु नकली बर्दिय को भी पार्सियन सरदारों ने मिलकर मार डाला और विस्तास्प के पुत्र दारयवौष को सिंहासन पर बैठाया।

दारयवौष प्रथम—दारयवौष (५२१-४८५ ई० पू०) हखामशी वंश का दूसरा प्रतापी सम्राट् सिद्ध हुआ। उसने अपने राज्यारोहण के समय मिस्र, लीडिया, मीडिया, असीरिया तथा आरमीनियाँ आदि प्रान्तों में हुए विद्रोहों का

दमन किया (५२१–१८ ई० पू०), बेबिलोनिया के ३,००० प्रमुख नागरिकों को मौत के घाट उतरवा कर विद्रोही जनों को आतंकित किया (५१९ ई० पू०), एक और नकली स्मर्दिस का दमन किया (५१८ ई० पू०), **थ्रेस और मेसीडोन पर विजय प्राप्त की** (५१२ ई० पू०) तथा भारत के पंजाब और सिन्ध प्रान्तों के काफी बड़े भाग को अधिकृत किया (५१० ई० पू०)। साम्राज्य को भलीभाँति सुरक्षित और विस्तृत करने के अतिरिक्त उसने **शासन-व्यवस्था में भी सुधार किया** (पृ० ५१४-१६)। इसके बाद उसने यूनान विजय के लिए प्रस्थान किया लेकिन **मेराथोन के युद्ध** (४९० ई० पू०) में पराजित हुआ (विस्तृत विवरण के लिए दे० पृ० ४३२-५)। सम्भवतः इस पराजय के अप्रत्यक्ष परिणामस्वरूप ही ४८६ ई० पू० में **मिस्र में विद्रोह** हुआ जिसे दबाने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई। उसकी अन्तिम असफलता के बावजूद उसकी प्रशासकीय और सैनिक योग्यता तथा संगठन शक्ति के कारण उसे हखामशी वंश का **दूसरा 'महान्' सम्राट्** कह सकते हैं।
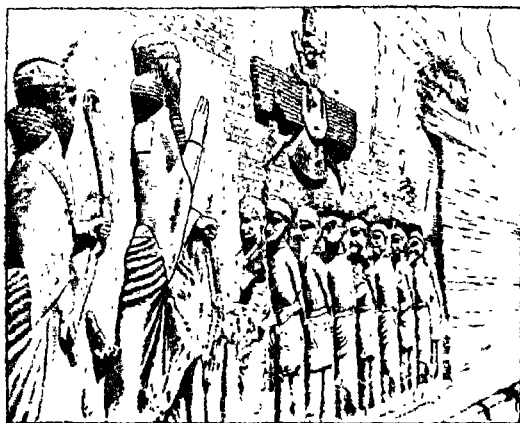
चित्र १३४ : दारयवौष प्रथम और विद्रोही नेता

क्षयार्ष और उसके उत्तराधिकारी—दारयवौष का उत्तराधिकारी क्षयार्ष अथवा क्जर्क्सीज (४८५-६६ ई०पू०) अपने समय का सुन्दरतम परन्तु **सर्वाधिक विलासप्रिय** ईरानी था। उसने मिस्र (४८४ ई० पू०) और बैबिलोन (४८३ ई० पू०) के विद्रोहों का दमन करने के उपरान्त मेराथोन की पराजय का प्रतिशोध लेने के लिए एक विशाल वाहिनी एकत्र कर यूनान पर आक्रमण किया परन्तु **सालिमज़, प्लेटाई और माइकेल के युद्धों में** पराजित हुआ (विस्तृत विवरण के लिए दे० पृ०४३५-७)। ४६६ ई० पू० में उसके प्रधान अंगरक्षक अर्तबेनस ने उसकी हत्या कर दी। उसके बाद उसके छोटे पुत्र **अर्त-क्जर्क्सीज़ प्रथम** ने ४६६-२५ ई० पू० तक राज्य किया। उसके शासनकाल से

हखामशी वंश का इतिहास राज्याधिकार के लिए हत्याओं और प्रतिहत्याओं का इतिहास हो जाता है। ४२५ ई० पू० से लेकर साम्राज्य के पतन (३३० ई०पू०) तक इस वंश के केवल **दारयवौष द्वितीय** (४२४-४०४ ई० पू०) के छोटे पुत्र कुरुष कनीयस् (साइरस दि यंगर) नामक राजकुमार में ही कुरुष द्वितीय और दारयवौष प्रथम के समान योग्यता थी, परन्तु अभाग्यवश उसे उसके बड़े भाई **अर्तक्जक्सीज़ द्वितीय नेमोन** (४०४-३५८ ई० पू०) ने **क्यूनेक्सा के युद्ध** में पराजित कर दिया और मार डाला। इस युद्ध में क्जनाफन और उसके दस सहस्र यूनानी साथियों ने कुरुष का साथ दिया था। वहाँ से उनका प्रत्यागमन ही इतिहास में **'रिट्रीट ऑव टेन थाउज़ेण्ड'** नाम से विख्यात है। अर्तक्जक्सीज़ द्वितीय के बाद उसके पुत्र **अर्तक्ज़क्सीज़ तृतीय** (३५८-३३६ ई० पू०) ने अपने सब भाइयों और बहिनों की हत्या करके साम्राज्य को अधिकृत किया और उसके बाद अनेक हत्याओं के उपरान्त इस वंश के ही किसी राजकुमार **दारयवौष तृतीय** (३३६-३० ई० पू०) ने। उसको पराजित करके ही अलेक्जेण्डर ने हखामशी वंश और साम्राज्य का अन्त किया था।

शासन-व्यवस्था

हखामशी साम्राज्य की स्थापना **विश्व-साम्राज्य** (यूनीवर्सल एम्पायर) की कल्पना का प्रथम यथार्थ प्रत्यक्षीकरण था। इसमें ईरान, बैबिलोनिया, मीडिया, फिनीशिया, फिलिस्तीन सीरिया, मिस्र और एशिया माइनर ही नहीं भारतीय और यूनानी संस्कृतियों से प्रभावित अनेक प्रदेश भी सम्मिलित थे। सम्भवतः चीन को छोड़कर विश्व का ऐसा कोई सांस्कृतिक क्षेत्र नहीं था जिसका न्यूनाधिक भाग इसमें सम्मिलित न रहा हो (तुलनीय असीरियन साम्राज्य पृ० २२४)। इस विशाल समुद्र का सर्वोच्च सत्ताधारी अधिकारी था सम्राट्। वह साम्राज्य का क़ानून निर्माता, सर्वोच्च न्यायाधीश, और प्रधान सेनापति होता था। वह बिना कारण बताए किसी व्यक्ति को कारागृह में डाल सकता अथवा मृत्युदण्ड तक दे सकता था। उसकी इच्छा पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं था, यद्यपि व्यवहार में सामन्तों के विद्रोहों का भय तथा ईरान और मीडिया की प्राचीन पर-

चित्र १३५ : लूरिस्तान से प्राप्त ईरानी खंजर—सामने और पार्श्व से
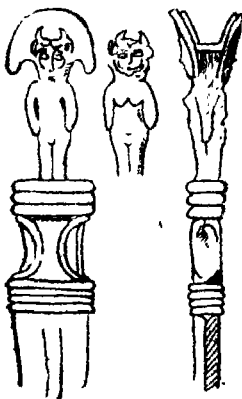
क्षत्रपाएँ उस पर कुछ अंकुश रखते थे। विशेष रूप से पेसरगेडाय कबीले के छः **वंशों के सामन्तों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे।** उदाहरणार्थ वे उससे किसी समय भी मिल सकते थे। इसी विशेषाधिकार का प्रयोग करके उन्होंने नकली स्मर्दिस का वध किया था। उनके और अन्य सामन्तों के पास बड़ी-बड़ी जागीरें थी जहाँ वे छोटे-मोटे राजाओं की भाँति रहते थे, जनता पर कर लगाते थे और न्याय करते थे। इन विशेषाधिकारों के बदले में उन्हें सम्राट् को आवश्यकता होने पर धन-जन से सहायता करनी होती थी। परवर्ती युग में, जब हखामशी नरेश विलासी हो गए और अपना अधिकांश समय प्रेमक्रीड़ा, जुए और शिकार में बिताने लगे तो उनके मुँह लगे **सभासदों और हरम के खोजो** का राजकार्य में हस्तक्षेप बढ़ गया।

न्याय और दण्ड-व्यवस्था—हखामशी सम्राट् अहुरमज़्दा के प्रतिनिधि माने जाते थे, इसलिए उनके द्वारा दी गई आज्ञाएँ दैवी आज्ञाएँ मानी जाती थीं और उनके विरोधी देवता के विरोधी। देवता के प्रतिनिधि के रूप में वे **क़ानून निर्माता और सर्वोच्च न्यायाधीश** होते थे। उनके नीचे **सात न्यायाधीशों का न्यायालय** था और उसके नीचे **प्रादेशिक न्यायालय**। न्यायाधीश के कर्त्तव्य पहले पुजारी पूरे करते थे बाद में सामान्य स्त्री-पुरुषों को भी यह प्रतिष्ठा मिलने लगी। न्यायालयों की **न्याय-प्रक्रिया** विकसित थी। जमानत, पैरवी और पंच फैसले आदि की व्यवस्था थी। घूस लेने और देनेवाले कठोरतम दण्ड के भागी होते थे। **दण्ड-व्यवस्था** बहुत कठोर थी।, मृत्युदण्ड राजद्रोह, बलात्कार, हत्या, अप्राकृत मैथुन, सम्राट् के एकान्त में बाधा डालने, उसके सिंहासन पर बैठ जाने अथवा किसी अन्य कारणवश उसे अप्रसन्न कर देने पर दिया जाता था। यह दण्ड न केवल विषपान कराकर, फाँसी देकर और नदी में डुबोकर दिया जाता था वरन् गर्म राख में भून कर, उल्टा लटका कर, पत्थर से मार कर, जिन्दा गड़वा कर, दो पत्थरों के बीच दबवा कर और अन्य अनेक क्रूर विधियों द्वारा भी कार्यान्वित किया जाता था। साधारण अपराधों के लिए अंगभंग और कोड़ों से पिटाई जैसे दण्ड दिए जाते थे।

प्रान्तीय शासन—हखामशी नरेशों ने अपने विशाल साम्राज्य को प्रान्तों में विभाजित किया हुआ था। इनकी संख्या २० से २८ के बीच में रहती थी। हर प्रान्त का कर निश्चित था। बलूचिस्तान का कर सब से कम—कुल १७० टेलेण्ट सुवर्ण—था, मिस्र का ७०० टेलेण्ट और बैबिलोनिया का १००० टेलेण्ट। भारत से ४,६८० टेलेण्ट सुवर्ण कर मिलता था जो साम्राज्य की कुल आय के एक तिहाई से अधिक था। इसके अतिरिक्त प्रान्तों को प्रान्तीय क्षत्रपों और अधि-

कारियों का व्यय भी भरना होता था जिसकी मात्रा **अनिश्चित थी**। प्रान्तों में विद्रोहों के डर को दूर करने के लिए हखामशी सम्राटों ने कई उपायों का अवलम्बन किया। (१) उन्होंने असीरियन सम्राटों की विजित जातियों पर अत्याचार करने और उन्हें अन्य प्रान्तों में बसाने की नीति का त्याग करके उनकी **सहानुभूति प्राप्त करने की चेष्टा** की। कुरुष द्वितीय का लीडिया के क्रोयसस को अपनी राजसभा में उच्च स्थान देना, बैबिलोनियनों के साथ उदारता का व्यवहार तथा यहूदियों को अपने देश लौटने की अनुमति देना इसका उदाहरण है। उसकी इस नीति का पालन न्यूनाधिक रूप में परवर्ती साम्राट् भी करते रहे। यह साम्राज्य-निर्माण-कला में एक सर्वथा नया प्रयोग था। (२) दारयवौष के समय से उन्होंने **'भेद करके राज्य करो' नीति का अवलम्बन** किया। वे हर प्रान्त में क्षत्रप (गवर्नर) के अतिरिक्त सेनापति और सेक्रेटरी, इन दो ऐसे पदाधिकारियों को और नियुक्त करते थे। इनमें **क्षत्रप का** कार्य होता था कर वसूल करना, आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता देना और शान्ति स्थापित रखना। जो क्षत्रप इन तीनों कर्त्तव्यों का पालन करते रहते थे वे शेष मामलों में लगभग स्वतन्त्र रहते थे। लेकिन **उनकी सेना के सेनापति** और आर्थिक आय-व्यय का विवरण रखने वाले **सेक्रेटरी** उनके नियन्त्रण से मुक्त रहते थे। इसलिए पारस्परिक विद्वेष के कारण वे अधिक शक्तिशाली नहीं हो पाते थे। (३) समय समय पर सम्राट् प्रान्तों में निरीक्षकों को भेजते थे। इन्हें **सम्राट् के नेत्र और कान** कहा जाता था। ये प्रान्त के किसी भी अधिकारी के कार्यों की जाँच कर सकते थे। उनकी जाँच के आधार पर सम्राट् प्रान्तीय अधिकारियों को पुरस्कृत अथवा दण्डित करते थे। (४) ईरानी सम्राटों ने विभिन्न प्रान्तों में पारस्परिक और केन्द्र से सम्बन्ध बनाए रखने के लिए **सड़कें** बनवाईं। इनके द्वारा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को सैनिक सहायता, रसद और संदेश सभी आ जा सकते थे। इन सड़कों पर सरायों और चौकियों की व्यवस्था थी। दारयवौष प्रथम द्वारा निर्मित सार्डिस से सूसा तक का १५०० मील लम्बा मार्ग **राजमार्ग** कहलाता था। इस दूरी को ईरानी अश्वारोही संदेशवाहक एक सप्ताह में और पैदल यात्री तीन माह में तय कर लेते थे। दारयवौष ने नील नदी को लालसागर से मिला कर **जल यातायात** को भी सुविधापूर्ण बनाया। इतनी सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था इसके बाद रोमन साम्राज्य की स्थापना के पूर्व अन्यत्र नहीं मिलती।

सैनिक व्यवस्था—ईरानी साम्राज्य का मूलाधार सेना थी और सेना का केन्द्र-बिन्दु थे सम्राट् का २००० पदाति और २००० **अश्वारोही सैनिकों**

का **अंगरक्षक दल** और १०,००० मीडों और ईरानियों का **'अमर-दल'** (इम्मोर्टल्स्)। यही ईरान की **स्थायी सेना** थी। युद्ध काल में १५ से ५० वर्ष की आयु वाले नागरिकों से अनिवार्य सैनिक सेवा ली जा सकती थी और साम्राज्य के हर प्रान्त को एक निश्चित मात्रा में सैनिक देने होते थे। हखामशी सम्राट् पाँच से दस लाख सैनिक तक अनायास एकत्र कर लेते थे। प्रयास कर के २० लाख से अधिक सैनिकों को जमा कर लेना भी असम्भव नहीं था (पृ० ४३५)। लेकिन यह सेना संख्याधिक्य के बावजूद मूलतः सबल नहीं थी क्योंकि (१) हखामशी सम्राट् सैनिकों की **भर्ती करते समय बड़ी कठोरता दिखाते थे**। इससे उनमें लड़नेवालों का उत्साह और अनुशासन की भावना समाप्त हो जाती थी। (२) हखामशी सैनिकों में **एकता और अनुशासन का अभाव** रहता था। वे भारत से लेकर यूरोप तक विस्तृत प्रदेशों से आते थे और अलग-अलग भाषाएँ बोलते थे, विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र प्रयुक्त करते थे और विभिन्न पद्धतियों के अनुसार लड़ते थे। इसलिए वे अनुशासित विरोधियों के सम्मुख मुश्किल से ठहर पाते थे और जरा सी असफलता मिलते ही अथवा सेनापति के अथवा राजा के मरने की अफवाह फैलते ही युद्धस्थल से भागने के लिए तैयार हो जाते थे। मेराथोन, प्लेटाई, आइसस तथा अर्बेला के युद्धों में उन पर लघु यूनानी सेनाओं की विजय का यही कारण था (पृ० ४३६-७)।

हखामशी संस्कृति का बौद्धिक पक्ष

भाषाएँ और लिपियाँ—हखामशी युग में ईरानी श्रीमन्त **प्राचीन ईरानी** (ओल्ड पर्सियन) भाषा बोलते थे। यह संस्कृत से मिलती-जुलती थी। इसी से बाद में **जेन्द** और **पहलवी** भाषाएँ व्युत्पन्न हुई। जेन्द का प्रयोग अवेस्ता के लिखने में किया गया और पहलवी से परवर्ती फारसी भाषा का जन्म हुआ। दारयवौष के बेहिस्तुन अथवा बिसितुन अभिलेख से प्राचीन ईरानी भाषा के साथ **बैबिलोनिया और सूसियाना की भाषाओं** का प्रयोग भी मिलता है। इनको लिखने के लिए ईरानियों ने असीरियन **कीलाक्षर** (क्यूनीफॉर्म) लिपि का प्रयोग किया। लेकिन उन्होंने इसमें चित्राक्षरों की संख्या कम करके ३६ कर दी जिससे यह धीरे-धीरे चित्राक्षर लिपि के स्थान पर वर्णमाला बन गई। आधुनिक काल में इस लिपि के अनुद्वाचन में **ग्रोटेफेंड, लैसन तथा रॉलिन्सन** ने बहुत श्रम किया। इसके अतिरिक्त ईरानी **ऐरेमियन** लिपि का भी प्रयोग करते थे।

शिक्षा, साहित्य और विज्ञान—ईरानी जन साक्षर होते हुए भी साहित्य शून्य थे। उनकी पाठशालाओं में पढ़ाई अधिकांशतः मौखिक रूप से होती थी। पाठ्यक्रम का मुख्य भाग अवेस्ता थी, इसलिए पुरोहित ही शिक्षक का कार्य करते थे। उच्चवर्गीय विद्यार्थी भी केवल अक्षर-ज्ञान से संतुष्ट हो जाते थे। अपना शेष समय वे अश्वारोहण और बरछी-भाले का ज्ञान प्राप्त करने में व्यय करते थे। उनका साहित्य अवेस्ता और थोड़े बहुत गीतों तक सीमित रहा। ये गीत भी पढ़ने के स्थान पर गाए जाते थे और गायकों के साथ ही नष्ट हो गए। विज्ञान में भी हखामशी युग के ईरानियों की कोई रुचि नहीं थी। वे यह मानते थे कि शैतान ने ९९,९९९ रोग बनाए हैं जिन्हें केवल पुरोहितों का जादू ही दूर कर सकता है। लेकिन समय की गति के साथ, धन में वृद्धि होने होने पर चिकित्सा-शास्त्र शनैः शनैः विकसित हुआ और चिकित्सक एक वर्ग के रूप में संगठित हो गए। उन्हें राज्य द्वारा निश्चित शुल्क मिलता था लेकिन पुरोहितों की निःशुल्क चिकित्सा करनी होती थी।

कला

हखामशी कला की विशेषताएँ—ईरानी जन एक विशाल साम्राज्य के स्वामी थे और सुन्दर वस्तुएँ पसन्द करते थे। इसलिए वे शानदार मकानों में रहते थे और अपने शरीर को बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से तथा निवास स्थान को सुन्दर सुवर्ण-खचित फर्नीचर, रंग-बिरंगे पर्दों, दरियों तथा भाँति-भाँति के पात्रों से सजाते थे। लेकिन इन सब वस्तुओं के निर्माण के लिए वे विदेशियों पर निर्भर रहते थे। वास्तुकला में उन्होंने रुचि ली और उल्लेखनीय सफलता अर्जित की, लेकिन इसके मुख्य तत्त्व भी विदेशी कला-परम्पराओं की देन थे। डियोडोरस के अनुसार उन्होंने मिस्री कलाकारों को और प्लिनी के अनुसार यूनानी कलाकारों को अपनी सेवा में रखा हुआ था। लेकिन उनकी अवशिष्ट कलाकृतियों से ज्ञात होता है कि उन्होंने न केवल यूनानियों और मिस्रियों से वरन् लीडियनों, असीरियनों और बैबिलोनियनों से भी बहुत कुछ सीखा था। लेकिन यह भी निर्विवाद रूप से स्वीकृत किया जाता है कि उन्होंने विदेशों से जो कुछ लिया, उसे पूरी तरह आत्मसात कर लिया जिससे उनकी कला में एक विचित्र एकात्मता आ गई।

पेसरेगेडाय—ईरानी कला धर्म के प्रभाव की परिधि से अलग रही और राजकीय संरक्षता में पनपी। इसलिए ईरानी कलाकारों की प्रतिभा

मुख्यतः देवालयों के स्थान पर राजमहालयों और राज-समाधियों के निर्माण में अभिव्यक्त हुई। हखामशियों के अपने प्रान्त-फार्स (पर्सिस) की राजधानी पेसरगेडाय से ३०० फुट लम्बा श्वेत पाषाण-खण्डों से बना चबूतरा मिला है। ये पाषाण-खण्ड मूलतः धातु के अँकुड़ों से जुड़े हुए थे। आजकल यह **'तख्ते-सुलेमान'** (सोलोमन का सिंहासन) नाम से प्रसिद्ध है और किसी अर्द्ध-निर्मित भवन का अवशिष्ट भाग लगता है। इसके पास ही चूना-पत्थर का एकाश्मीय स्तम्भ है जिस पर **कुरुष महान् के पक्षधारी प्रेत (फ्रवशी)** का चित्र बना है

चित्र १३६ : कुरुष महान् के फ्रवशी का पेसरगेडाय से प्राप्त चित्र

(चित्र १३६)। पुराने इतिहासकारों ने इसके नीचे 'मैं कुरुष, हखामशी राजा हूँ' लेख पढ़ा था, परन्तु अब यह मिट गया है।

पर्सिपालिस—पर्सिपालिस का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवशिष्ट भवन आजकल **'तख्ते-जमशेद'** नाम से विख्यात है। यह चूना-पत्थर से निर्मित १५०० × ९२ × ४० फुट का चबूतरा है। इसके दोनों ओर **सोपान-श्रेणियाँ** हैं जो इतनी ढलवाँ और विशाल थी कि दस अश्वारोही उन पर एक साथ चढ़ सकें। इस पर पहुँचने के बाद **क्षयार्ष का मण्डप** आता है जिसके द्वार पर असीरियन ढंग के **पक्षयुक्त-वृषभ** बने हैं। यहाँ से पुनः एक सोपान-श्रेणी द्वारा **'क्षयार्ष के विशाल कक्ष'** (हाल ऑव क्जर्क्सीज़) में पहुँचा जाता है। इस सोपान-श्रेणी की बाईं ओर वाली दीवार पर रिलीफ में सम्राट् के अंगरक्षकों का अंकन है और दाहिनी ओर उपहार लाते हुए विभिन्न प्रदेशों के प्रजाजनों का। क्षयार्ष का कक्ष १५० × १५० फुट विशाल है। इसमें ७२ स्तम्भ थे जिनमें आजकल केवल तेरह

मिलते हैं। ये मिस्री और यूनानी स्तम्भों से पतले और ५४ फुट ऊँचे हैं। इनके निचले भाग को उल्टे कमल अथवा घण्टे की आकृति का बनाया गया है और शीर्ष पर परस्पर संयुक्त दो वृषभों की मूर्त्तियाँ बनी हैं। बहुत से विद्वानों का विचार है कि **इन्हीं स्तम्भों का प्रभाव भारत के मौर्ययुगीन स्तम्भों** पर पड़ा था। इस कक्ष के पीछे **शतस्तम्भीय कक्ष** (हाल ऑव हण्डरेड कालम्स्) था। इसका केवल द्वार-मण्डप, एक स्तम्भ और आधार-योजना शेष है। इसके **द्वार-मण्डप पर बने चित्र** बहुत सुन्दर हैं। इनमें एक में प्रजाजनों से घिरे हुए और पक्षयुक्त-अहुरमज़्दा से रक्षित सिंहासनासीन सम्राट् का अंकन है।

सूसा और एक्बटना—हखामशी राजाओं ने **एक्बटना** में जो महल बनवाए वे अधिकांश काष्ठ के थे, इसलिए उनके चिह्न पूर्णतः मिट चुके हैं। **सूसा** के अर्तक्ज़र्क्सीज़ द्वितीय नेमोन द्वारा निर्मित प्रासाद के कुछ अवशेष द्रिलाफोय के प्रयास से प्रकाश में आए हैं। इनमें **ग्लेज़ की हुई ईंटों पर बने सिंहों और 'अमरदल'** (इम्मोर्टल्स्) **के रंग-बिरंगे चित्र** बहुत प्रसिद्ध हैं।

समाधियाँ—हखामशी सम्राटों की समाधियाँ दो प्रकार की हैं। एक वे जो पृथिवी पर ईंट पत्थर की सहायता से बनाई गई थीं। इनका उदाहरण पेसरगेडाय में स्थित **कुरुष द्वितीय की पाषाण-निर्मित समाधि** है जो आजकल 'मशहदे-मदरे-सुलेमान' (सोलोमन की माता की समाधि) नाम से प्रसिद्ध है। इसकी रूपरेखा यूनानी भवनों की सादगी का स्मरण दिलाती है। साइक्स का विचार है कि इसे यूनानी कलाकारों ने बनाया होगा। हो सकता है ईरानियों ने यह विधि लीडियनों से सीखी हो। दूसरे प्रकार की समाधियाँ गुहा-समाधियाँ हैं। इन्हें मिस्री ढग पर पर्वतों को काट कर बनाया गया था। इन पर मिस्री प्रभाव स्पष्ट है। **दारयवोष की गुहा-समाधि** का क्षेत्रफल ६० × २० फुट है। इसके द्वार पर चार स्तम्भ स्थित हैं और अन्दर एक सिंहासन, पक्षयुक्त-अहुरमज़्दा और अभिवादन करते धनुर्धारी सम्राट् की मूर्त्तियाँ बनी हैं।

आर्थिक और सामाजिक अवस्था

आर्थिक अवस्था—ईरानियों का प्रिय उद्यम **कृषिकर्म** था। अवेस्ता में इसे सर्वोत्तम बताया गया है। **भूमि** अंशतः सामन्तों के हाथ में थी और अंशतः स्वतन्त्र कृषकों के। सामन्तों की भूमि लगान पर उठी रहती थी अथवा उनके दास (जो केवल विदेशी ही हो सकते थे) उसे जोतते थे। गेहूँ और जौ की खेती अधिक की जाती थी। उद्योग-धन्धे और व्यापार बैबिलोनियन, फिनीशियन और यहूदी आदि विदेशी जातियों के हाथ में छोड़ दिए गए थे। व्यापार और

लेन-देन, तथा इसीलिए बाजार को भी, ईरानी झूठ के स्रोत मानते थे। लीडिया से उन्होंने **मुद्रा-प्रणाली** का ज्ञान प्राप्त किया। दारयवौष ने **डेरिक** नामक मुद्राएँ चलाई थी। उसके सुवर्ण डेरिक का मूल्य लगभग २५ रु० के बराबर था और यह रजत-मुद्रा से १३.५ गुनी मूल्य की होती थी। ३००० सुवर्ण मुद्राओं का एक टेलेण्ट होता था।

सामाजिक अवस्था—ईरानी पुरुष प्रायः सुन्दर और बलिष्ठ होते थे। वे मीडियन **वस्त्राभूषण** धारण करने के शौकीन थे। उनके वस्त्र मुख के अतिरिक्त लगभग समस्त शरीर को आवृत्त कर लेते थे। पुरुष दाढ़ी-मूँछ रखते थे और परवर्ती युग में सिर पर विग धारण करने लगे थे। उसी समय उनमें **श्रृंगार-प्रसाधन** भी खूब लोकप्रिय हुए और समाज में एक विशिष्ट वर्ग 'सौन्दर्य-विशेषज्ञ' के रूप में दिखाई देने लगा। **स्त्रियों** की वेश-भूषा पुरुषों से विशेष भिन्न नहीं थी। जरथुष्ट्र के समय उनको समाज में पर्याप्त स्वाधीनता प्राप्त थी। दारयवौष के बाद उनकी अवस्था खराब होती गई। अब वे पूर्णतः **पर्दे** में रहने लगीं। न तो इस युग की कलाकृतियों में उनका अंकन हुआ है और न अभिलेखों में उल्लेख मिलता है। लेकिन परिवार में **माता के रूप में** उनको काफी प्रतिष्ठा प्राप्त थी। **विवाह सम्बन्ध** प्रायः माता-पिता द्वारा स्थिर किया जाता था। ईरानी युद्धप्रिय जाति थे अतः **बहुपुत्रता को श्रेयस्कर**, पुत्र जन्म को मंगलदायक, बहुपुत्रवान् पिता को भाग्यशाली, अविवाहित जीवन को निंद्य तथा भ्रूणहत्या को गम्भीर अपराध मानते थे।

चित्र १३७ : हखामशी युग का एक सुवर्ण आभूषण

धर्म

हखामशी सम्राट् जरथुष्ट्र के धर्म के अनुयायी थे। आजकल यह धारणा प्रायः प्रचलित है कि जरथुष्ट्र दारयवौष प्रथम के पिता विस्तास्प के समकालीन थे। परन्तु यह गलत है। जरथुष्ट्र हखामशी साम्राज्य की स्थापना से कई शती पूर्व आविर्भूत हुए थे। इसका एक बहुत सबल प्रमाण है हखामशी अभिलेखों के धर्म का जरथुष्ट्री धर्म (विस्तरशः अध्ययन के लिए दे० अध्याय १९)

से अन्तर। यह अन्तर अशोक के अभिलेखों के धर्म और बुद्ध के मूल धर्म में मिलने वाले अन्तर से बहुत अधिक है। एक, जरथुष्ट्र कट्टर एकेश्वरवादी थे। परन्तु उनके पश्चात्, जैसा कि अवेस्ता के परवर्ती अंशों और हखामशी अभिलेखों से ज्ञात होता है, यद्यपि अहुरमज़्दा को सर्वोच्च देवता माना जाता रहा, तथापि उसके साथ अन्य देवताओं के अस्तित्व को भी स्वीकृत कर लिया गया। विशेषतः **अमेशस्पेन्तों को पूर्ण देवताओं के रूप में** पूजा जाने लगा। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से पुराने ईरानी देवता, जो मूलतः प्राकृतिक शक्तियों का दैवीकरण थे, जरथुष्ट्री धर्म में घुस आए। इनमें मिथ्र और उर्वरता की देवी **अनाहित** विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अहुरमज़्दा, मिथ्र और अनाहित का **त्रिगुट** परवर्ती युग में बहुत लोकप्रिय हुआ। हखामशी अभिलेखों में मिथ्र का उल्लेख अर्तक्जर्कसीज़ द्वितीय के समय से मिलने लगता है। कालान्तर में वह खुद अहुरमज़्दा से भी अधिक लोकप्रिय हो गया। मिथ्रवाद में सूर्य को देवता का प्रमुख सहायक माना जाता था और २५ दिसम्बर को पुनीत दिवस। इस विश्वास को बाद में ईसाइयों ने अपनाया। दूसरे, जरथुष्ट्र के पश्चात् अंग्रमैन्यु की कल्पना अधिक स्पष्ट हो गई। परवर्ती अवेस्ता में उसे अहुरमज़्दा की शक्ति स्पेन्तमैन्यु की विरोधिनी शक्ति मानने के स्थान पर अहुरमज़्दा का विरोधी मान लिया गया है। इस प्रकार शनैः शनैः अंग्रमैन्यु अथवा अहुरिमन का रूप बहुत कुछ 'शैतान' के समान हो गया। इसीलिए **साधारणतः पारसी धर्म को द्वैतवादी** माना जाता है। इन विचारों का यहूदी धर्म के विकास पर बहुत प्रभाव पड़ा (पृ० २८२-३) और उसके माध्यम से ईसाई धर्म के विकास पर।

———

खण्ड ५

भारत
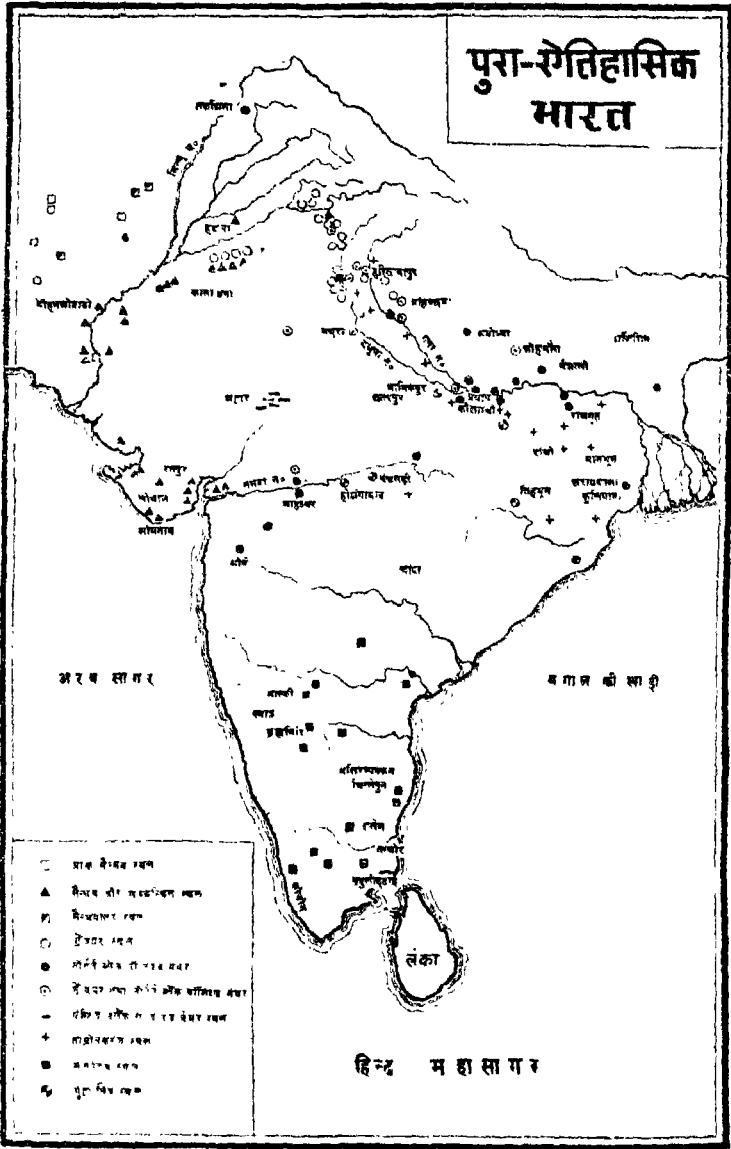
मानचित्र ८
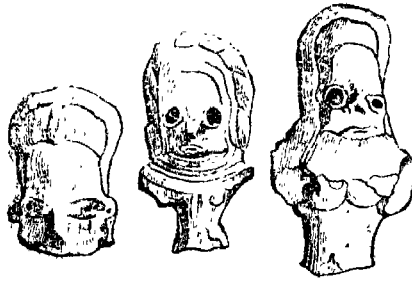
२१

पुरा-ऐतिहासिक भारत

Here (at Harappa) we have a highly-evolved civilization of essentially non-Aryan type, now known to have employed massive fortifications . . . . at a time not distant from the likely period of the earlier Aryan invasions . . . . . On circumstantial evidence, Indra stands accused ?

—*M. Wheeler*

भूगोल

उत्तर का पर्वतीय प्रदेश—एशिया महाद्वीप में हिमालय और हिन्द-महासागर के मध्य स्थित विशाल प्रायद्वीपीय भूखण्ड भारत नाम से विख्यात है। यह लगभग २५०० मील लम्बा और २००० मील चौड़ा है। राजनीतिक दृष्टि से यह भारतीय संघ, पाकिस्तान नेपाल और सिंहल (सीलोन) आदि कई राज्यों में विभाजित है, परन्तु भूतकाल से ही ये सब प्रदेश महान् **भारतीय सांस्कृतिक जगत्** का अंग रहे हैं। **उत्तर-पश्चिम में** भारत की वैज्ञानिक सीमा कराकोरम और हिन्दुकुश पर्वत है। प्राचीन काल में हिन्दुकुश पार का प्रदेश भी भारतीय संस्कृति द्वारा प्रभावित था। हिन्दुकुश के दक्षिण में सफेदकोह, सुलेमान और किर्थर पर्वत हैं जो भारत को अफगानिस्तान और बलूचिस्तान से पृथक् करते हैं। **उत्तर-पूर्व** में हिमालय की एक शृंखला दक्षिण की ओर मुड़कर लुशाई, नागा और पतकोई पहाड़ियों के रूप में बंगाल की खाड़ी की ओर चली गई है और ब्रह्मा (बर्मा) देश को भारत से पृथक् करती है। इस प्रकार भारत प्राकृतिक रूप से एक दुर्ग के समान है, यद्यपि अनेक दर्रों द्वारा विदेशों से जुड़ा हुआ भी है (मानचित्र ८)।

इस पृष्ठ के ऊपर पश्चिमोत्तर भारत के झोब स्थल से प्राप्त कुछ मूर्तियों का चित्र दिया गया है। ये मूर्तियाँ सम्भवतः मातृदेवी की हैं।

भारत का 'उर्वर-अर्द्धचन्द्र'—उत्तरी पर्वतीय प्रदेश के दक्षिण में भारत का सिन्धु, गंगा-यमुना और उनकी सहायक नदियों द्वारा सिंचित विशाल उर्वर मैदान है। राजस्थान के मरुस्थल और अरावली पर्वतमाला के कारण यह अर्द्धचन्द्र के आकार का लगता है, इसलिए इसे **भारत का 'उर्वर-अर्द्धचन्द्र'** (फर्टाइल क्रीसेन्ट) कह सकते हैं। गंगा और यमुना इत्यादि नदियाँ पश्चिम से पूर्व की ओर तथा सिन्धु और उसकी सहायक नदियाँ उत्तर से दक्षिण की ओर बहती हैं। इससे स्पष्ट है कि इनका मध्यवर्ती प्रदेश (राजस्थान की मरुस्थली और अरावली पर्वत माला) कुछ ऊँचा है। समस्त उत्तर भारत में यह मध्यवर्ती प्रदेश ही अनुर्वर है। गंगा और सिन्धु की घाटियों की उर्वरता तो विश्वविख्यात है। विशेषतः गंगा और यमुना के अन्तर्वेद को **भारत का हृदय** माना जाता है। **राजस्थान** का मरुस्थल उत्तर में कुरुक्षेत्र तक चला चला गया है, इसलिए सिन्धु की घाटी को गंगा-यमुना के अन्तर्वेद से मिलाने वाला मार्ग बहुत संकीर्ण है।

भारत का मध्यवर्ती प्रदेश—उत्तरी भारत को दक्षिणी भारत से पृथक् करनेवाली विन्ध्य मेखला पश्चिम में सतपुड़ा और अरावली पर्वतों से प्रारम्भ होकर पूर्व में बंगाल की खाड़ी के समीप राजमहल तक चली गई है। इसमें चम्बल, सिन्धु (पंजाब का सिन्धु नहीं), बेतवा, केन और सोन नदियाँ निकल कर यमुना में मिलती हैं। भौगोलिक दृष्टि से इस प्रदेश में दक्षिणी राजपूताना, मालवा, बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, और छोटा नागपुर सम्मिलित किये जा सकते हैं। यह प्रदेश गंगा की घाटी की तरह उर्वर नहीं है, परन्तु खनिज पदार्थों की बहुलता के कारण समृद्ध है। प्राचीन काल में यहाँ बहुत घने वन थे जिनसे इसकी अलंघ्यता बढ़ गई थी। ये वन-खण्ड महाकान्तार और दण्डकारण्य नामों से प्रसिद्ध थे।

दक्षिण का पठार—दक्षिणी भारत का पठारी प्रदेश एक त्रिभुजाकार भूखण्ड है। यह उत्तर-पश्चिम में अजन्ता, उत्तर-पूर्व में उड़ीसा और दक्षिण में नीलगिरि तक विस्तृत है। यह पश्चिम से पूर्व की ओर ढालू होता गया है। भूगर्भीय दृष्टि से यह **हिमालय पर्वत से प्राचीनतर है**। सम्भवतः अति प्राचीन काल में यह ऑस्ट्रेलिया से संयुक्त था। इससे निकलने वाली महानदी, गोदावरी, कृष्णा और तुंगभद्रा नदियाँ बंगाल की खाड़ी में गिरती है। ये नदियाँ यातायात की दृष्टि से अधिक उपयोगी नहीं है।

समुद्रतटीय प्रदेश—विन्ध्य मेखला की दो भुजाएँ समुद्र तट के साथ दक्षिण की ओर चली गई हैं। ये क्रमशः **पूर्वी घाट और पश्चिमी घाट** कहलाती है। नीलगिरि के समीप ये दोनों भुजाएँ परस्पर मिल जाती है, और वहाँ से

अन्नामलाई, पलनी तथा कारडमम पहाड़ियों के रूप में भारत के दक्षिणी सिरे तक चली जाती हैं। पश्चिमी घाट, जिसे सह्याद्रि भी कहते हैं, और समुद्र के मध्यवर्ती मैदान की चौड़ाई बहुत कम है परन्तु इसकी उर्वरता प्रसिद्ध है। पश्चिमी घाट के समान पूर्वी घाट की पर्वत माला भी समुद्र से कुछ हटकर स्थित है, परन्तु यह नदियों के मुहानों के कारण बीच-बीच में टूट गई हैं। इसलिए पूर्वी घाट और समुद्र के मध्य स्थित मैदानी प्रदेश अपेक्षया अधिक विस्तृत लगता है। विशेषतः **कावेरी की घाटी** इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

भूगोल का प्रभाव—भारत एशिया के शेष भागों से पृथक् सा है, इसलिए इसकी **सभ्यता का विकास बहुत कुछ स्वतन्त्र रूप से** हुआ। यद्यपि यहाँ मध्य एशिया और दजला तथा फ़रात की घाटी से प्रजातीय और सांस्कृतिक धाराएँ आती थी, परन्तु काफी बाद में और बहुत हल्के रूप में। उदाहरणार्थ हखामशी और यूनानी कला-परम्पराओं का प्रभाव भारतीय कला पर पड़ा, परन्तु बहुत कम। इसलिए भारतीय **विदेशी तत्वों से प्रभावित होते हुये भी उनको सफलता पूर्वक पचाते** रहे और अपनी मूलभूत सांस्कृतिक एकता बनाए रहे। लेकिन भारत इतना विशाल देश है कि यहाँ **सांस्कृतिक विकास का स्तर सर्वत्र एक-सा कभी नहीं रह पाया**। जो विदेशी सांस्कृतिक प्रभाव यहाँ प्रविष्ट होते थे अथवा जो सांस्कृतिक धाराएँ यहाँ किसी प्रदेश में प्रारम्भ होती थीं (जैसे मगध में बौद्ध और जैन धर्म) उन्हें समस्त देश में फैलने में बहुत समय लगता था और इस प्रसरण की प्रक्रिया में उनका रूप बहुत-कुछ बदल जाता था। इसके **अतिरिक्त भौगोलिक बाधाओं के कारण भी प्रादेशिक भेद-भाव** को बल मिलता रहता था। अतः मूलभूत सांस्कृतिक एकता के बावजूद भारत में प्रादेशिक विविधता भी प्रचुर मात्रा में रही है। इसलिए **'विविधता में एकता'** को भारतीय इतिहास की विषय-वस्तु (थीम) कहा जाता है।

इतिहास जानने के साधन

भारत के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश देने वाली सामग्री बहुत कम है। यद्यपि यह कहना तो गलत होगा कि भारतीयों की इतिहास में बिलकुल रुचि नहीं थी, परन्तु इतना अवश्य ही सत्य है कि उनकी इतिहास की परिभाषा आधुनिक परिभाषा से बहुत भिन्न थी और उन्होंने राजनीतिक और तिथिक्रमीय इतिहास की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया था। भारत का पहला ग्रन्थ, जिसमें 'आधुनिक' दृष्टिकोण से लिखा गया इतिहास मिलता है, कश्मीरी लेखक कल्हण (११ वीं शताब्दी ई०) की 'राजतरंगिणी' है। लेकिन यह हमारे युग पर बिल-

कुल प्रकाश नहीं देती। **पुराणों में** सुरक्षित राजसूचियों में निश्चयतः बहुमूल्य सूचनाएँ संगृहीत हैं। परन्तु ये प्रायः एक दूसरे के प्रतिकूल हैं और अन्य साक्ष्य से ज्ञात तथ्यों से असंगति रहती है, इसलिए केवल इन्हीं के आधार पर प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास का पुनर्निर्माण करना असम्भव है। **बौद्ध, जैन, ब्राह्मण और अनेकानेक विदेशी ग्रन्थों में प्रदत्त सूचनाओं तथा मुद्राओं, अभिलेखों और अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्य** की सहायता से छठवीं शती ई० पू० के बाद का पर्याप्त विश्वसनीय राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन **प्राक्-बुद्ध युग** का इतिहास अभी तक अत्यन्त समस्यामूलक है। साहित्यिक दृष्टि से प्राक्-बुद्ध युग वेदों का युग है। अभी तक पुरातत्त्व से इस युग को प्रकाशित करनेवाली बहुत कम सामग्री मिल पाई है और जो उपलब्ध भी है उसका वैदिक सभ्यता से सम्बन्ध जोड़ना बहुत कठिन है। दूसरी ओर प्राक्-वैदिक **सिन्धु-सभ्यता** का ज्ञान लगभग पूर्णतः पुरातत्त्व पर अवलम्बित है। सिन्धु-सभ्यता साक्षर नागरिक सभ्यता थी और स्थूलतः सुमेरियन सभ्यता की समकालीन थी। लेकिन इसकी लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। इसलिए भारतीय इतिहास में सिन्धु-सभ्यता के अविर्भाव से लेकर छठीं शती ई० पू० में मगध के अभ्युत्थान तक के युग को **पुराऐतिहासिक** (प्रोटो-हिस्टोरिक) युग कहते हैं और उसके पहले के युग को **प्रागैतिहासिक** (प्री-हिस्टोरिक) युग। जब सैन्धव लिपि पढ़ ली जाएगी तब इस सभ्यता का काल भी ऐतिहासिक युग के अन्तर्गत आ जायगा।

प्रागितिहास और जातियाँ

प्रागितिहास—विश्व के अन्य अनेक देशों के समान भारत में भी अब से ५-६ लाख वर्ष पूर्व ही मानवों का विचरण प्रारम्भ हो गया था। उनके द्वारा निर्मित **प्रारम्भिक-पूर्व-पाषाणयुगीन** उपकरण समस्त भारत में बिखरे हुए मिले हैं। इनको दो 'संस्कृतियों' में विभाजित किया गया है—उत्तर भारत की 'चॉपर-चॉपिंग' संस्कृति जिसका केन्द्र पंजाब में सोहन नदी की घाटी थी और दक्षिण भारत की मुष्टि-कुठार (हैण्ड एक्स) संस्कृति जिसका केन्द्र मद्रास प्रदेश था[१]। **सोहन संस्कृति** का प्रभाव दक्षिण की ओर जाने पर कम हो जाता है और **मद्रास संस्कृति** का उत्तर की ओर जाने पर। इनके बाद **परवर्ती-पूर्व-पाषाणकालीन**, मध्य-पाषाणकालीन और नव-पाषाणकालीन **संस्कृतियों के युग** आते

१. 'हैण्ड एक्स' के लिए हिन्दी में 'मुष्टि कुठार' शब्द के प्रयोग का सुझाव श्री शैलनाथ चतुर्वेदी ने दिया है।

हैं। लेकिन इनकी परिभाषा, तिथिक्रम और विकास अभी तक पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाये हैं।

नेग्रिटो और निषाद (आस्त्रेलिद्) जातियाँ—भारत में प्रागैतिहासिक मानवों के प्रस्तरित अवशेष अभी तक नहीं मिले हैं, लेकिन नृतत्त्वशास्त्र और भाषा-विज्ञान की सहायता से यहाँ प्रविष्ट होने वाली जातियों और उनकी भारतीय संस्कृति के विकास में देन का अनुमान किया जा सकता है। सम्भवतः सबसे पहली जाति जिसने भारत में प्रवेश किया नेग्रिटो थी। आजकल यह केवल अण्डमान द्वीपसमूह में मिलती है। भारतीय सांस्कृतिक विकास में इसकी देन धनुषबाण (जिसका आविष्कार अन्य जातियों ने सम्भवतः स्वतन्त्र रूप से किया), आदिवासी जातियों में मिलने वाले कुछ धार्मिक विश्वासों तथा दो-चार शब्दों तक सीमित है। इसके बाद यहाँ **आस्त्रेलिद् (प्रोटो-ओस्ट्रेलॉयड) अथवा निषाद** जाति का आगमन हुआ। उस समय यह अपने विकास की पूर्व-पाषाणकालीन अवस्था में रही होगी, परन्तु आर्यों के आगमन के पूर्व तक इसने बूमरेंज तथा मृद्भाण्ड बनाने और कुदाल तथा छड़ी से खोद कर खेती करने की विधियों की खोज कर ली थी। इस जाति को चावल, कदली, नारिकेल, ताम्बूल, बैंगन, लौकी, जामुन तथा कपास के उत्पादन के प्रारम्भ, धनुष-बाण के स्वतन्त्र रूप से आविष्कार, मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अस्तित्व में विश्वास, धार्मिक कृत्यों में ताम्बूल, सिन्दूर और हल्दी के प्रयोग, लिंगोपासना, 'निछावर' की प्रथा के प्रारम्भ, चन्द्रमा की कलाओं के अनुसार तिथियों की गणना तथा नाग, मकर, कच्छप, वानर, और हाथी की पूजा प्रारम्भ करने का श्रेय भी दिया जाता है।

द्रविड, आर्य और अन्य जातियाँ—निषाद जाति के पश्चात् भारत में भूमध्यसागरीय जाति का प्रवेश हुआ। भाषात्मक दृष्टि से इसे द्रविड कहा जाता है। सम्भवतः द्रविडों ने **सैन्धव सभ्यता के निर्माण और विकास में सर्वाधिक** योग दिया था (पृ० ५३३-८)। उनके बाद, अब से लगभग चार सहस्र वर्ष पूर्व, इण्डो-यूरोपियन अथवा आर्य जाति भारत में प्रविष्ट हुई (पृ० ४९१-६)। उसके आगमन से भारतीय संस्कृति के विकास में एक नए तत्त्व का समावेश हुआ और एक नई भाषा, संस्कृत, प्रचलित हुई जिससे दक्षिण की द्रविड भाषाओं को छोड़कर आधुनिक भारत की सभी प्रमुख भाषाएँ उद्भूत हुई हैं। आर्यजन भौतिक संस्कृति में भारत की पुरानी जातियों से पिछड़े होने पर भी प्राणवान और युयुत्सु थे। इसलिए वे सारे देश का न्यूनाधिक आर्यकरण करने में समर्थ हुए। उनके बाद तुर्की आक्रमण के पहले तक भारत में जो जातियाँ आईं, जैसे **मंगोलिद्**

अथवा किरात, (जो उत्तरी और उत्तर-पूर्वी भारत में सीमित हैं) तथा परवर्ती युगों में आने वाली **ईरानी, यूनानी, शक, पह्लव, कुषाण और हूण** आदि जातियाँ आर्यों के समान महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुईं । उल्टे वे भारतीय संस्कृति के प्रभाव में रंग कर अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठी।

सैन्धव सभ्यता की खोज

भारतीय पुरातत्त्व—भारत की कांस्यकालीन साक्षर नागरिक सभ्यता अब से चार दशक पूर्व तक अज्ञात थी। १९२२ ई० में 'केम्ब्रिज हिस्टरी ऑव इण्डिया' के प्रथम खण्ड में **सर जॉन मार्शल ने** लिखा था कि "मौर्य साम्राज्य के उदय के कम से कम एक सहस्र वर्ष पूर्व भी भारत में सुविकसित और समृद्ध सभ्यता का अस्तित्व था, लेकिन उन युगों में निर्मित स्मारकों का राजगृह की 'साइक्लोपियन' प्राचीर को छोड़कर कोई उदाहरण अवशिष्ट नहीं है।" लेकिन इस ग्रन्थ के प्रकाशन के कुछ ही पहले उनके एक अपने सहयोगी **श्री दयाराम साहनी** ने पंजाब के मोन्टगोमरी जिले के हड़प्पा स्थल से ताम्र-प्रस्तर काल के स्मारक खोज निकाले और १९२२ ई० में एक अन्य भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता **डॉ० रा० दा० बनर्जी** ने सिन्धु के लरकाना जिले के मोहनजोदड़ो (मुर्दों का टीला ?) स्थल से हड़प्पा शैली की पुरावस्तुएँ प्राप्त करके यह सिद्ध कर दिया कि परस्पर ४०० मील दूर स्थित ये दोनों स्थल किसी एक ही सभ्यता के केन्द्र थे। इन पुरावस्तुओं में एक अज्ञात लिपि में लिखित अभिलेख युक्त ऐसी मुहरें भी सम्मिलित थीं जैसी बेबिलोनिया के कुछ स्थलों से तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के स्तरों से प्राप्त हुई थीं। इससे इस अज्ञात भारतीय सभ्यता की प्राचीनता सिद्ध हो गई। इसके परिणामस्वरूप हड़प्पा और मोहनजोदड़ो स्थलों का विशाल पैमाने पर उत्खनन किया गया—हड़प्पा का १९२६-३१ में **श्री वत्स** द्वारा और मोहनजोदड़ो का १९२५-२७ ई० में मार्शल और उनके **दीक्षित, हारग्रीव्ज, सनाउल्लाह** आदि सहयोगियों द्वारा। इसके बाद **मैके** ने मार्शल के कार्य को १९३१ ई० तक चालू रखा। १९३५-३६ ई० में उन्होंने 'अमेरिकन स्कूल ऑव इण्डिक एण्ड ईरानियन स्टडीज़' तथा 'बोस्टन म्यूजियम ऑव फाइन आर्ट्स' के संयुक्त तत्त्वावधान में चन्हुदड़ो का उत्खनन किया। इसके अतिरिक्त **एन० जी० मजूमदार, हारग्रीव्ज, ऑरेल स्टीन** तथा अन्य अनेक विद्वानों ने सिन्ध और बलूचिस्तान के अनेक कांस्यकालीन स्थलों का अन्वेषण किया। इसके बाद १९३५ ई० में वत्स ने काठियावाड़ में रंगपुर स्थल खोज निकाला और

१९४६ ई० **एम०ह्वीलर** ने हड़प्पा में पुनः उत्खनन करके एक प्राचीर और कब्रिस्तान का प्रकाशन किया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ देश का विभाजन हो जाने पर सैन्धव सभ्यता के अधिकांश स्थल पाकिस्तान में चले गए। लेकिन १९५१ ई० में **ए० घोष** ने बीकानेर में घग्गर (प्राचीन सरस्वती) की शुष्क तलहटी में लगभग २५ स्थलों को खोज कर इस कमी को बहुत कुछ पूरा कर दिया। पिछले दस-बारह वर्षों में रूपड़, आलमगीरपुर, कालीबंगा तथा लोथल आदि स्थलों में हुए उत्खनन कार्य से इस सभ्यता के विषय में हमारे ज्ञान में बहुत अधिक विकास हुआ है।

पश्चिमोत्तर प्रदेश की जलवायु—विश्व की अन्य अधिकांश कांस्य-कालीन सभ्यताओं की तरह भारत की कांस्यकालीन सभ्यता का उदय भी नदियों की घाटियों में हुआ। इसका मुख्य क्षेत्र था सिन्धु और उसकी सहायक नदियों द्वारा सिंचित प्रदेश जो आजकल पश्चिमी पाकिस्तान में सम्मिलित है। इसीलिए पुरातत्त्ववेत्ता इस सभ्यता को **'सैन्धव सभ्यता'** अथवा इसके आदर्श-भूत (टिपीकल) स्थल हड़प्पा के नाम पर **'हड़प्पा-सभ्यता'** कहते हैं। प्राचीन काल में सिन्धु नदी के पूर्व में घग्गर (सरस्वती) नदी भी बहती थी जो बीका-नेर और बहावलपुर रियासतों को सींचती थी। आजकल पंजाब विश्व के सब से अधिक उर्वर भू-खण्डों में से एक है, लेकिन सिन्ध रेगिस्तान के समान है। सम्भवतः प्राचीन काल में **इसकी जलवायु अब से कुछ भिन्न थी**। सैन्धव नगरों में **भवन-निर्माण में पक्की ईंटों का प्रयोग, चौड़ी नालियों और बांधों की व्यवस्था, मुहरों पर वन्य पशुओं का अंकन तथा इन पशुओं की अस्थियों की उत्खनन में उपलब्धि**—इन सब तथ्यों से संकेत मिलता है कि उस युग में इस प्रदेश में अब से अधिक वर्षा होती थी और घने जंगल थे। अगर ऐसा न होता तो इसके निवासी अपनी उदरपूर्ति के लिए अन्नोत्पादन ही न कर पाते। अलेक्जेण्डर के साथ आए **यूनानी लेखकों के ग्रन्थों** से ज्ञात होता है कि चौथी शती ई० पू० में भी यह प्रदेश काफी हरा-भरा था। उसके बाद सम्भवतः दक्षिण-पूर्वी मानसूनी हवाओं का रुख बदल जाने के कारण यहाँ वर्षा का अभाव होने लगा और धीरे-धीरे आजकल की स्थिति उत्पन्न हो गई।

बलूचिस्तान के कांस्यकालीन ग्राम—पुरा-ऐतिहासिक युग में केवल सिन्धु-प्रदेश की ही नहीं बलूचिस्तान तथा मकरान की जलवायु भी अब से अधिक सन्तोषजनक थी। इसीलिए यहाँ चौथी सहस्राब्दी ई० पू० में, सम्भवतः इसके भी कुछ पहले, ऐसे **ग्राम्य-समूहों का उद्भव** हुआ जिनके निवासी अपने चक्रनिर्मित और प्रायः पर्याप्त पतले और विभिन्न शैलियों में चित्रित मृद्भाण्डों

को आग पर पकाते थे, पाषाण के हथियार और कांस्य के आभूषण बनाते थे, निकटस्थ चरागाहों में पशु चराते थे, बाढ़ के पानी को बांधों द्वारा एकत्र संगृहीत करके खेती के काम में लाते थे, और मातृदेवी की उपासना करते थे (चि० १३८)। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उन्हें उनके मृद्भाण्डों के भेद के आधार पर क्वेटा, अमरी, नाल, कुल्ली तथा झोब 'संस्कृतियों' में विभाजित किया है। सम्भवतः उनकी भौगोलिक परिस्थिति उनकी घनिष्ठतर सांस्कृतिक और राजनीतिक एकता में बाधक थी। यद्यपि उनके मृद्भाण्ड उनके सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के साथ सैन्धव और ईरानी सभ्यताओं के साथ सम्बन्ध का भी संकेत देते हैं, यद्यपि इस सम्बन्ध का रूप अभी तक पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाया है।

सैन्धव सभ्यता की विशेषताएँ

सैन्धव सभ्यता पश्चिमी एशियाई सभ्यताओं से सादृश्य रखते हुए भी प्रकृत्या विशिष्ट भारतीय सभ्यता थी। यह केवल सिन्धु की घाटी तक ही सीमित नहीं थी। इसका प्रभाव उत्तर में शिमला की पहाड़ियों की तलहटी में स्थित रूपड़ से लेकर दक्षिण में नर्मदा और ताप्ती के मध्य स्थित भागत्रार तक और पूर्व में मेरठ से १९ मील पश्चिम की ओर स्थित आलमगीरपुर से लेकर पश्चिम में अरब सागर के तट के समीप स्थित सुत्कंजेन्डोर तक विस्तृत था। इसके दो प्रधान नगर हड़प्पा और मोहनजोदड़ो, जो क्रमशः रावी और सिन्ध नदी पर स्थित थे, एक दूसरे से ४०० मील की दूरी पर थे। इसका इस समय तक ज्ञात क्षेत्रफल १२०० × ७०० = ८,४०,००० वर्गमील है। हो सकता है भविष्य में भारत के अन्य प्रदेशों से इसके अवशेष मिलें और हमें इस विषय में अपने विचार में और सुधार करना पड़े। हम भारतीयों के लिए यह तथ्य कुछ गर्व का कारण हो सकता है कि हमारी प्राचीनतम सभ्यता का **प्रभाव-क्षेत्र** तत्कालीन सुमेरियन और मिस्री सभ्यताओं के प्रभाव-क्षेत्रों से कई गुना अधिक था। लेकिन इसके बावजूद इस सभ्यता में नगर-योजना, मृद्भाण्ड-कला, मुद्रा-निर्माण-कला, भार और माप की प्रणाली, लिपि तथा अन्य अनेक बातों में इतनी समरूपता मिलती है जितनी किसी अन्य कांस्यकालीन सभ्यता में दृष्टिगोचर नहीं होती। इस समरूपता में केवल भौगोलिक विस्तार से ही नहीं समय की गति के साथ भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उदाहरणार्थ मोहनजोदड़ो नगर के सात बार निर्माण किए जाने के संकेत मिलते हैं, लेकिन पहले और अन्तिम बार निर्मित नगर की भौतिक सभ्यता में कोई मूलभूत अन्तर नहीं मिलता। यहाँ तक कि सैन्धव लिपि

में भी इसके सुदीर्घ इतिहास में कोई अन्तर नहीं हुआ। सम्भवतः भारतीयों की पुरातन-पन्थिता सैन्धवों की ही देन है।

सैन्धव सभ्यता के निर्माता

क्या सैन्धव सभ्यता के निर्माता आर्य थे ?

वैदिक और सैन्धव सभ्यताओं में भेद—सिन्धु-सभ्यता के निर्माता कौन थे और किस जाति के थे, यह प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद रहा है। **दीक्षितार, पुसल्कर, रामचन्द्रन् तथा शंकरानन्द** आदि अनेक विद्वान् यह विश्वास करते है कि यह श्रेय वैदिक आर्यों को दिया जाना चाहिए। लेकिन यह मत स्वीकार्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि, जैसा कि **सर जॉन मार्शल** ने दिखाया है, वैदिक और सैन्धव सभ्यताएँ परस्पर भिन्न थीं। एक तो वैदिक आर्यों की सभ्यता ग्राम्य और कृषि-प्रधान थी सैन्धवों की नागरिक और व्यापार-प्रधान। **दूसरे,** सैन्धव सभ्यता के निर्माता पाषाण और कांस्य के उपकरणों का प्रयोग करते थे और लोहे से अपरिचित थे, लेकिन वैदिक आर्य, कम से कम परवर्ती युग में, ताम्र के साथ लोहे के प्रयोग से भी परिचित प्रतीत होते हैं। **तीसरे,** आर्य युद्धों में कवच और शिरस्त्राण धारण करते थे, अश्वारोहण से परिचित थे, मांसाहारी होते हुए भी मछली से अरुचि रखते थे और गाय को अघ्न्या मानते थे। लेकिन सैन्धव नागरिक कवच और शिरस्त्राण से अपरिचित थे, मछली का मांस उनका प्रिय भोजन था तथा गाय के प्रति उनके विशेष श्रद्धा-भाव का कोई संकेत नहीं मिलता। उनका अश्व से सम्भवतः उतना ही परिचय था जितना हम्मूरबीकाल के बैबिलोनियनों का। **चौथे,** धार्मिक दृष्टि से वैदिक आर्य सैन्धवों से सर्वथा भिन्न थे। वे इन्द्र और वरुण आदि देवताओं के उपासक थे, 'शिश्नदेवों' के विरोधी थे, अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करते थे और मूर्त्ति पूजा से सम्भवतः परिचित होते हुए भी इस ओर विशेष ध्यान नहीं देते थे। लेकिन सैन्धव मुख्यतः 'शिव' और महाशक्ति के उपासक थे, लिंगोपासना में श्रद्धा रखते थे तथा अपने देवताओं की मूर्त्तियाँ बनाते थे।

श्री लक्ष्मणस्वरूप का मत—श्री लक्ष्मणस्वरूप का सुझाव है कि **सिन्धु-सभ्यता के निर्माता आर्य अवश्य थे, परन्तु यह सभ्यता वेदों में वर्णित सभ्यता न होकर उसका परवर्ती रूप है।** उदाहरण के लिए लिंगोपासना जो वेदों में साधारण रूप से उल्लिखित है, सैन्धव सभ्यता में विकसित हो जाती है। लेकिन **उन्होंने यह भुला दिया है कि** वैदिक सभ्यता में ऐसी बहुत सी बातें हैं

जो सैन्धव सभ्यता में तो अज्ञात हैं परन्तु परवर्ती हिन्दू सभ्यता में मिलती हैं जैसे गौ पूजा, कवच और शिरस्त्राण का प्रयोग, अश्व का प्रयोग आदि। अगर इन दोनों के निर्माता आर्य ही थे तो इन पशुओं और वस्तुओं का ज्ञान उन्हें सैन्धव युग में कैसे विस्मृत हो गया ? **दूसरे,** सिन्धु-सभ्यता स्पष्टतः कांस्य काल की सभ्यता है और वैदिक सभ्यता लौह काल की। **तीसरे,** अगर सैन्धव सभ्यता आर्य सभ्यता होती तो उसके और ऐतिहासिक भारतीय सभ्यता के भौतिक अवशेषों के मध्य इतना अन्तराल न मिलता। इसलिए सैन्धव सभ्यता को वैदिक सभ्यता के बाद नहीं रखा जा सकता।

एक अन्य विकल्प— कुछ विद्वानों ने सुझाव रखा है कि सैन्धव सभ्यता कालक्रमेण प्राचीनतर थी लेकिन इसके निर्माता आर्य थे। लेकिन इस विकल्प के स्वीकार से कठिनाइयां और बढ़ जाती हैं क्योंकि ये दोनों सभ्यताएँ अगर एक ही जाति की कृति थीं तो कालक्रमेण वैदिक काल की कृषि-प्रधान ग्राम्य सभ्यता प्राचीनतर होनी चाहिए और सैन्धव युग की व्यापारिक नागरिक सभ्यता परवर्ती। **दूसरे,** सिन्धु-सभ्यता को आर्य सभ्यता मानने पर भारत को आर्यों का आदि देश मानना आवश्यक हो जाएगा। लेकिन यह मान्यता, जैसा कि देखा जा चुका है (पृ० ४९४), सभी ज्ञात तथ्यों के विरुद्ध है।

सैन्धव जनता में आर्य तत्त्व के अस्तित्व की सम्भावना—यहाँ यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त समस्त विश्लेषण इस मान्यता पर आधृत है कि भारत में आर्यों की केवल एक शाखा, जिसे हम वैदिक आर्य कहते हैं, आई थी। लेकिन यह सर्वथा सम्भव है कि वैदिक आर्यों के पूर्व भी इस देश में आर्यों की कोई ऐसी शाखा प्रविष्ट हुई हो जो कालान्तर में सैन्धव जनता में घुलमिल गई हो। माइसिनियन सभ्यता की निर्माता एकियन जाति इसका अच्छा उदाहरण है। माइसिनी सभ्यता में आपाततः ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, जिसे 'आर्य' कहा जा सके, फिर भी 'लाइनियर बी' लिपि के उद्वाचन से यह स्पष्ट हो गया है कि इसके निर्माता इण्डो-यूरोपियन भाषा बोलते थे (पृ० ४०७)। ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में इण्डो-यूरोपियन की एक लहर पश्चिमी एशिया में कसाइटों, हित्तियों और मितन्नियनों के रूप में और यूनान में एकियनों के रूप में प्रविष्ट हुई थी। इन इण्डो-यूरोपियन जनों की प्रवृत्ति इन प्रदेशों की प्राचीन संस्कृतियों को नष्ट न कर अपना लेने की थी। लेकिन बारहवीं शताब्दी ई० पू० के आस-पास आने वाले डोरियन यूनानी अधिक बर्बर थे। उन्होंने प्राचीन संस्कृति को अपनाने के स्थान पर नष्ट किया। हो सकता है ऐसा ही भारत में भी हुआ हो। ये तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं कि प्राचीन वैदिक

संस्कृति डोरियन संस्कृति से पर्याप्त सादृश्य रखती है और वैदिक आर्यों की प्रवृत्ति सैन्धव सभ्यता को अपनाने की न होकर नष्ट करने की थी। इसलिए हमें यह असम्भव नहीं लगता कि उनके पहले आर्यों की एक प्राचीनतर शाखा भारत आकर सैन्धव जनों से घुलमिल गई हो और उसने सैन्धव संस्कृति को पूर्णतः अपना लिया हो। लेकिन इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

सैन्धव सभ्यता के निर्माता : ऋग्वेद के 'दास-दस्यु'

ऋग्वेदिक दास-दस्यु और उनकी सभ्यता—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सैन्धव सभ्यता के निर्माण का श्रेय आर्यों को न दिया जाकर भारत में उनके आने के पूर्व निवास करने वाली किसी जाति अथवा जातियों को दिया जाना चाहिए। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि जब आर्य भारत में प्रविष्ट हुए तो उन्हें यहाँ जो जातियाँ मिलीं उनको उन्होंने 'दास', 'दस्यु' तथा 'निषाद' नाम दिए थे। इनमें **'दास' और 'दस्यु' अधिकांशतः पश्चिमोत्तर और पश्चिमी प्रदेशों में बसे हुए थे।** उनकी सभ्यता पर्याप्त विकसित थी लेकिन 'निषाद', जिनकी प्रधानता मध्यवर्ती और पूर्वी प्रदेशों में थी, सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे। ऋग्वेद में इन्द्र को दास-दस्युओं का वध करनेवाला कहा गया है और 'दस्युहन्' उपाधि दी गई है। उसके और दास-दस्युओं के संघर्ष को **'दस्युहत्या'** कहा गया है। इस ग्रन्थ में दास-दस्युओं के **पुरों (दुर्गों) का विवरण** भी मिलता है जिनको नष्ट करने के कारण इन्द्र को 'पुरन्दर' कहा जाता था। ये पुर अनेक प्रकार के थे जैसे शारदीय, उर्वी (चौड़े), अश्ममयी (पाषाणनिर्मित), आमा (कच्ची ईंटों से बने ?), आयसी (धातुनिर्मित) तथा शतभुजी (सौ दीवारों वाले) आदि। इन्द्र ने पुरुकुत्स की समृद्धि के लिए दासों के सात शारदीय पुरों को विनिष्ट किया था और दिवोदास के लिए ९० पुरों को। अनेक स्थलों पर उसे शम्बर के ९०, ९९ अथवा १०० दुर्गों को नष्ट करने का श्रेय दिया गया है। इस पुरों के स्वामी **दास-दस्यु आर्यों से अधिक धनी भी** थे। दास बल्बूथ ने विप्र तिरुक्ष को सैकड़ों पशु दान में दिए थे। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर आर्य पुरोहितों ने इन्द्र से दासों का धन छीन लेने की प्रार्थना की है। बहुत से विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद में वर्णित दास-दस्यु आर्यों के काल्पनिक शत्रु थे मानवीय नहीं। लेकिन स्वयं ऋग्वेद में **दास्य दस्यु शब्दों के साथ 'वर्ण' शब्द का प्रयोग** (जो निश्चयतः मानव समूहों के लिए प्रयुक्त होनेवाला शब्द था), **दासों को गायों और घोड़ों के साथ**

दान में दिए जाने का उल्लेख, अथर्ववेद द्वारा देवद्रोही दासों को बलि कर देने का समर्थन, वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर कृष्णवर्णा दासियों का उल्लेख तथा अनेक स्थलों पर इन्द्र का आर्य और दास, दोनों प्रकार के शत्रुओं के विरुद्ध आवाहन इत्यादि तथ्य इस मान्यता के विरुद्ध हैं।

दास-दस्यु : सिन्धु-सभ्यता के निर्माता—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यों ने दास-दस्यु शब्दों का प्रयोग पश्चिमोत्तर भारत में बसी हुई उन जातियों के लिए किया है जो इस प्रदेश में उनके प्रवेश करने के समय बसी हुई थीं। और अगर यह बात सही है तो निष्कर्ष अपरिहार्य हो जाता है कि दास-दस्यु और कोई नहीं स्वयं सिन्धु-सभ्यता के निर्माता थे। क्योंकि :

(१) जब दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध में आर्य पश्चिमोत्तर भारत में प्रविष्ट हुए उस समय इस प्रदेश में यही सभ्यता फल-फूल रही थी। इसके मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, सुत्कजेन्डोर तथा अलीमुराद आदि स्थलों के ध्वंसावशेषों को देखकर यह स्वीकृत करना अनिवार्य-सा हो जाता है कि **आर्यों ने दास-दस्युओं के जिन 'पुरों' का वर्णन किया है वे इन सैन्धव नगरों से अभिन्न थे।**

(२) आर्यों की कुछ पुरा-कथाओं के विश्लेषण से इस निष्कर्ष का समर्थन होता है। ऋग्वेद में इन्द्र को वृत्र का वध करके जल को मुक्त करने वाला कहा गया है। इसी से उसे वृत्रहन विरुद मिला था। पहले यह विश्वास किया जाता था कि इस कथा में वर्षा के देवता इन्द्र द्वारा बादलों में बन्दी जल को उन्मुक्त करने की कल्पना को साहित्यिक रूप दे दिया गया है। परन्तु बेन्वेन्स्ते तथा रेनू नामक भाषाविदों का मत है कि वृत्र शब्द का अर्थ था 'रोक', 'बाधा' अथवा 'बाँध'। उनके इस सुझाव का समर्थन स्वयं ऋग्वेद से होता है। इसमें कहा गया है कि वृत्र एक काले नाग के समान लेटा हुआ था जिसके कारण नदियों का जल रुक गया था। जब इन्द्र ने उस पर अपने वज्र से प्रहार किया तो जल के उन्मुक्त होने से जमीन टूट गई, प्रस्तर-खण्ड रथ के पहियों के समान लुढ़कने लगे और रुका हुआ जल असुर के शरीर के ऊपर होकर बहने लगा। स्पष्टतः इस आख्यान में **आर्यों द्वारा अनार्य शत्रुओं के बाँधों को तोड़ने का विवरण** छिपा हुआ है।

(३) ऋग्वेद में कुछ स्थलों पर दस्युओं को तीन सिर (त्रिशीर्षाणं), छः आँख (षडाक्षं) तथा 'शृंग-मुकुट धारण करनेवाला' (शिप्रिणिन्) कहा गया है। यह वर्णन सैन्धव 'शिव' के रूप से आश्चर्यजनक रूप से साम्य रखता है (चि० १४६)। इससे भी लगता है कि ऋग्वेद में दास-दस्युओं के वर्णन में

सैन्धव सभ्यता के निर्माताओं का ही धूमिल चित्र सुरक्षित है। अतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये दास-दस्यु कौन थे ?

क्या दास-दस्यु द्रविड थे ?

आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में तीन जातियाँ निवास कर रही थीं—नेग्रिटो, आस्त्रेलिद् अथवा निषाद तथा भूमध्यसागरीय अथवा द्रविड। इनमें, जैसा कि भाषाशास्त्रीय साक्ष्य से ज्ञात होता है, आर्यों के आगमन के समय तक नेग्रिटो जाति तो लुप्तप्रायः होने लगी थी और निषाद जाति सभ्यता के विकास में विशेष सफल नहीं हो पाई थी। परन्तु द्रविडों की सभ्यता की समुन्नत अवस्था का संकेत देनेवाले साक्ष्य अनुपलब्ध नहीं हैं। इसलिए **डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या** जैसे भाषाविदों ने दास-दस्युओं को प्रधानतः द्रविड जातीय ही माना है। **फादर हेरास, हॉल** तथा अन्य विद्वानों ने भी द्रविडों को सैन्धव सभ्यता का निर्माता स्वीकृत किया है। इस प्रसंग में निम्नलिखित तथ्य विशेष रूप से विचारणीय हैं :

(१) आजकल द्रविड भाषा-भाषी जन मुख्यतः दक्षिणी भारत में मिलते हैं, लेकिन नृतत्त्ववेत्ताओं और भाषाशास्त्रियों का विश्वास है कि **प्रागार्य-युग में वे लगभग समस्त भारत में फैले हुए थे।**[१] बलूचिस्तान के एक भाग में एक द्रविड भाषा ब्राहुई का अभी तक बोला जाना,[२] उत्तर भारत के स्थानों के नामों में बहुधा द्रविड शब्दों का मिलना[३] तथा वैदिक युग के पश्चात् आर्य धर्म और उत्तर भारतीय आर्य भाषाओं पर द्रविड प्रभाव का अधिकाधिक बढ़ना इसका अतिरिक्त प्रमाण हैं। इतना ही नहीं वैदिक साक्ष्य से तो यह भी संकेत मिलता है कि द्रविड जाति उस समय ईरान तक फैली हुई थी क्योंकि यूनानियों ने कैस्पियन समुद्र के समीप निवास करनेवाली जिस **'दाह'** जाति का उल्लेख किया है वह वैदिक **'दास'** जाति से अभिन्न लगती है। इसी प्रकार ईरानी साहित्य में उल्लिखित **'दह्यु'** का तादात्म्य वैदिक 'दस्यु' के साथ स्थापित किया जा सकता है। सम्भवतः द्रविडों के ईरान तक फैले हुए होने के कारण ही भारत में प्रवेश करते समय आर्यों को यह अनुभव नहीं हुआ कि वे किसी नई जगह प्रवेश कर रहे हैं क्योंकि यहाँ भी उन्हें वही प्रतिरोधी जाति मिली जिसे उन्होंने पूर्वी ईरान में देखा था।

(२) **आर्यों के आगमन के पूर्व द्रविडों की सभ्यता पर्याप्त रूप से विकसित हो चुकी थी,** ऐसा **हॉल, कीथ, डॉसन, स्लेटर** तथा **हीवेट** प्रभृति विद्वान् सैन्धव सभ्यता के प्रकाश में आने के पहले भी मानते थे। **बिशप**

काल्डवेल ने अपनी कृति 'कम्पेरेटिव ग्रामर ऑव द्रविडियन लैंग्वेजिज' में ऐसे विशुद्ध तमिल शब्दों की सहायता से, जिनका संस्कृत परिवार की किसी भाषा से सम्बन्ध नहीं है, प्राचीन द्रविड सभ्यता का चित्र प्रस्तुत करके इस विश्वास को भाषाशास्त्रीय आधार प्रदान किया है। उन्होंने दर्शाया है कि प्राचीन द्रविड दुर्गों में रहते थे और उनके पास अपनी लिपि थी जिसकी सहायता से वे ताल-पत्रों पर पुस्तकें लिखते थे। वे नावों और लघु जलपोतों को याता-यात और परिवहन के लिए प्रयुक्त करते थे तथा सीसा और जस्ता जैसी धातुओं के प्रयोग एवं कातना, बुनना, रँगना तथा मृद्भाण्ड बनाना आदि कलाओं में कुशल थे। यह चित्र सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त चित्र से बहुत भिन्न नहीं है। वस्तुतः आर्य भाषाओं को नगर शब्द ही द्रविडों की देन है।

(३) सैन्धव जनों के बहुत से **कंकाल** मोहनजोदड़ो, हड़प्पा लोथल और चन्हुदड़ो आदि स्थलों से मिले हैं, परन्तु अभाग्यवश उनमें अधिकांश का विस्तृत विवरण अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया है। जिन कंकालों का विवरण ज्ञात है उनमें **छः भूमध्यसागरीय हैं,** तीन आस्त्रेलिद्, चार एल्पाइन और एक मंगोलिद्। स्पष्टतः इतने थोड़े कंकालों के अध्ययन के आधार पर कोई निश्चित निष्कर्ष निकालना संकटविहीन नहीं होगा, परन्तु इससे सैन्धव जनता में भूमध्यसागरीय तत्त्व का प्राधान्य स्वीकृत करने के लिए कुछ आधार अवश्य मिल जाता है।

नगर-योजना

नगर-योजना—सैन्धव नगरों में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा प्रमुख थे। ये क्रमशः सिन्धु और रावी के तट पर स्थित थे। इनकी आधार-योजना समान थी। दोनों में ही पूर्व दिशा में नगर और पश्चिम की ओर एक **समानान्तर चतुर्भुजाकार गढ़ी** स्थित थी। इतना ही नहीं दोनों नगरों का **विस्तार** (तीन मील से अधिक) और गढ़ियों का आकार—उत्तर से दक्षिण की ओर ४०० से ५०० गज, पूर्व से पश्चिम की ओर २०० से ३०० गज तथा अधिकतम ऊँचाई ४० फुट—लगभग बराबर था। इस समानता से स्पष्ट है कि इन नगरों का निर्माण करने के पूर्व सुव्यवस्थित योजना तैयार की गई थी। हाल ही में कालीबंगा से भी ऐसी ही आधार-योजना प्रकाश में आई है। इस योजना की आधारभूत थीं इन **नगरों की सड़कें**। ये पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण

को जाती थीं और एक दूसरे को समकोण पर काट कर नगर को कई खण्डों में विभक्त कर देती थीं। इन खण्डों का औसत क्षेत्रफल ८००′×१२००′ था। लोथल नगर सम्भवतः छः खण्डों में विभाजित था। सैन्धव सड़कें प्रायः सीधी होती थीं और सुमेरियन नगरों की टेढ़ी मेढ़ी सड़कों से सर्वथा भिन्न होती थीं। हड़प्पा में १९ वीं शती ई० में हुई ईंटों की लूट के कारण सड़कों के अवशेष अप्राप्य हैं, परन्तु इसकी कमी मोहनजोदड़ो और लोथल से पूरी हो जाती है। मोहनजोदड़ो की मुख्य सड़क कहीं-कहीं ३३ फुट चौड़ी थी। अन्य सड़कों पर भी जो १८ से १० फुट तक चौड़ी थीं, गाड़ियाँ सुविधा से आ जा सकती थीं। गलियाँ ५ से १० फुट तक चौड़ी थीं। ये सड़कें मिट्टी की बनी थीं परन्तु इनकी स्वच्छता का बड़ा ध्यान रखा जाता था। इन पर जगह-जगह कूड़ा डालने के लिए मिट्टी के पात्र रखे रहते थे अथवा गड़े खुदे हुए थे। मोहनजोदड़ो की एक सड़क के दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे चबूतरे बने हुए मिले हैं। शायद इन पर बैठकर दूकानदार वस्तुओं का विक्रय करते थे। लोथल में मकानों के सामने छोटी-छोटी दूकानें बनी मिली हैं।

सफाई की व्यवस्था—सैन्धव नगर अपनी सड़कों के समान नालियों की व्यवस्था के लिए भी प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रायः हर सड़क और मुख्य गली के दोनों ओर **पक्की नालियाँ** बनी होती थीं। इनकी ईंटों की जुड़ाई में मिट्टी, चूने और जिप्सम का प्रयोग हुआ है। चौड़ी नालियों के पटान के लिए पत्थरों अथवा बड़ी-बड़ी ईंटों का प्रयोग किया गया है। किसी-किसी नाली को पाटने के लिए तोड़ेदार **मेहराब** की छत बना दी गई है। घरों की छोटी-छोटी नालियाँ गलियों की नालियों से और गलियों की नालियाँ सड़कों की मुख्य नालियों से मिल जाती थीं। इस प्रकार शहर का गंदा पानी बाहर निकाल दिया जाता था। यत्रतत्र नालियों के किनारे गढ़े बने हुए मिले हैं। इनमें नालियों से निकला कीचड़ जमा कर दिया जाता होगा। कहीं-कहीं नालियों में **जलशोषक-गर्त** (सोक पिट) भी बने मिले हैं। सैन्धव नगरों में सफाई की ऐसी व्यवस्था देख-कर मानना पड़ता है कि ऐसी व्यवस्था सुमेरियन और मिस्री नगरों में ही नहीं, अट्ठारहवीं शती ई० के पहले लन्दन और पेरिस जैसे नगरों में भी अज्ञात थी।

कला

वास्तुकला

सामान्य नागरिकों के मकान—सैन्धव नागरिक पत्थर के अभाव में

अपने मकान कच्ची और पक्की ईंटों से बनाते थे। इस विषय में वे तत्कालीन सुमेरियनों और मिस्रियों से बहुत आगे थे। मिस्र में पक्की ईंटों का प्रयोग रोमन युग तक नहीं मिलता और सुमेर में इनका प्रयोग स्नानागारों और शौचगृहों तक सीमित था। लेकिन सैन्धव नागरिकों ने इनका प्रचुरता से प्रयोग किया है। उनकी सबसे बड़ी ईंटों का नाप २०$\frac{१}{४}$"×८$\frac{१}{२}$"×२$\frac{१}{४}$" है और सबसे छोटी ईंटों का ९$\frac{१}{२}$"×४$\frac{१}{३}$"×२"। लेकिन अधिकतर ११"×५$\frac{१}{२}$"×२$\frac{३}{४}$" अथवा ५$\frac{१}{२}$"×२$\frac{१}{४}$"×२$\frac{३}{४}$" आकार की ईंटें प्रयुक्त की गई हैं। ये ईंटें कच्ची हालत में किसी औजार से समान आकार में काटी जाती थीं और तत्पश्चात् सुखाकर पका ली जाती थी। इन पर किसी प्रकार के डिजायन नहीं मिलते।

सैन्धव नगरों में दीवारें बनाने के पूर्व नींवों में टूटी-फूटी ईंटें जमा दी जाती थीं, लेकिन दीवारों में प्रायः अखण्डित ईंटों का ही प्रयोग होता था, विशेषतः बाहर की ओर। ईंटें अधिकतर गारे से जमाई जाती थीं, यद्यपि चूने और जिप्सम का प्रयोग भी होता था। दुमंजिले मकानों में निचली मंजिल की दीवारें मोटी रखी जाती थीं और ऊपर जाने के लिए पक्की ईंटों से सोपान-श्रेणियाँ बनाई जाती थीं। छतों का पानी निकालने के लिए परनाले भी बनाये जाते थे। प्रायः हर मकान में आँगन, कुएँ, स्नानागार, शौचगृह आदि की व्यवस्था रहती थी। स्नानगृहों का फर्श पक्की ईंटों से बनाया जाता था। मकानों के दरवाजे और खिड़कियाँ प्रायः सड़कों की ओर न होकर गलियों की ओर होते थे, इससे सड़कें कुछ सूनी अवश्य लगती होंगी। सभी सैन्धव भवन उपयोगिता की दृष्टि से बनाये गये लगते हैं। इनको सुन्दर बनाने अथवा सजाने के प्रयास का कोई संकेत नहीं मिलता।

हड़प्पा के मुख्य भवन—हड़प्पा के मुख्य भवन सम्भवतः गढ़ी (टीला 'ए बी') में स्थित थे। लेकिन ये अब तक लगभग सम्पूर्णतः नष्ट हो चुके हैं। यह गढ़ी मिट्टी के बाँध पर बनी कच्ची ईंटों की ४० फुट मोटी और लगभग ३५ फुट ऊँची प्राचीर से सुरक्षित थी जिसे बाहर की ओर पक्की ईंटों द्वारा सबल किया गया था। इस पर स्थान-स्थान पर तोरण और द्वार बने थे। गढ़ी के उत्तर में स्थित टीला 'एफ' में, जो लगभग २० फुट ऊँचा है, तीन भवन-समूह मिले हैं। (१) **श्रमिकों के मकान** : ये सात-सात मकानों की दो पंक्तियों में बने हैं जो ३-४ फुट चौड़ी गली द्वारा विभाजित और एक चहार-दीवारी द्वारा घिरी हुई हैं। प्रत्येक मकान में एक आँगन और एक कक्ष अथवा दो कक्ष बने हैं। इनके समीप सोलह भट्टियाँ बनी मिली हैं जिनमें शायद धातुएँ

गलाई जाती थीं। (२) **चबूतरे** : श्रमिक-गृहों के उत्तर में ईंटों के लगभग ११ फुट व्यास वाले १८ गोलाकार चबूतरे मिले हैं। शायद इनका उपयोग अन्न पीसने के लिए किया जाता था। (३) **अन्नागार** : इन चबूतरों से लगभग १०० गज उत्तर की ओर दो पंक्तियों में, जो २३ फुट चौड़े मार्ग द्वारा विभाजित हैं, ५० × २० फुट आकार के बारह कक्ष बने हैं। इनमें अन्न संगृहीत किया जाता था। ये कक्ष चार फुट ऊँची पीठिका पर बनाये गये हैं। इनका प्रमुख द्वार उत्तर की ओर था और शायद सैन्धव युग में नदी की धारा इनके समीप होकर बहती थी। इसलिए यह अनुमान किया गया है कि हड़प्पा के शासक कर के रूप में मिलने वाले अन्न को, जो उनकी प्रधान आय रही होगी, नदी-मार्ग द्वारा लाकर इस अन्नागार में एकत्र करते थे और उसके वितरण पर नियन्त्रण रखते थे। भण्डार-गृहों का उल्लेख सुमेरियन और मिस्री अभिलेखों में भी हुआ है किसी परन्तु वहाँ इतने विशाल अन्नागार के अवशेष अभी तक नहीं मिले हैं।

मोहनजोदड़ो के मुख्य भवन—मोहनजोदड़ो के गढ़ी में स्थित भवनों में **स्नानकुण्ड** सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह ३९′ × २३′ × ८′ आकार का है। इसमें उतरने के लिए उत्तर और दक्षिण की ओर सीढ़िया बनी हैं। इसकी दीवारें सुदृढ़ हैं। इनकी ईंटों की जुड़ाई जिप्सम से की गई है और ऊपर बिटुमिन का एक इञ्च मोटा पलस्तर है। फर्श खड़ी ईंटों से बनाया गया है। कुण्ड के दक्षिण-पश्चिम की ओर तोड़ेदार मेहराब वाली छत से पटी नाली द्वारा पानी निकाले जाने की व्यवस्था है। कुण्ड के तीन ओर बरामदे और उनके पीछे लघुकक्ष हैं। इनमें एक में कुआँ बना है। उत्तर की ओर एक मार्ग के दोनों ओर ९½ × ६ फुट आकार के आठ लघु **स्नानगृह** बने हैं। इनमें प्रत्येक में उपरली मञ्जिल पर जाने के लिए सीढ़िया बनी थीं। यह सम्पूर्ण भवन-समूह धार्मिक अवसरों पर पुजारियों अथवा राजाओं के औपचारिक स्नान के उपयोग में आता होगा।

स्नानकुण्ड के पश्चिम में १५० × ७५ फुट आकार की एक इमारत मिली मिली है। पुराने पुरातत्ववेत्ता इसे हम्माम मानते थे परन्तु ह्वीलर ने इसे **अन्नागार** बताया है। इसका निर्माण स्नानकुण्ड के निर्माण के पूर्व हुआ होगा। कुण्ड के उत्तर-पूर्व में स्थित २३० × ७८ फुट में बना भवन सम्भवतः **किसी उच्च पदाधिकारी का निवास स्थान** था। इसकी दीवारें ६′ ९″ तक मोटी हैं। इसमें आंगन, बरामदे, सीढ़ियाँ, अनेक कक्ष और स्नानागार बने थे। गढ़ी के दक्षिण भाग में ९० फुट लम्बा और इतना ही चौड़ा **सभा-भवन**

था। इसकी छत बीस स्तम्भों पर टिकी थी। इसके समीप ऐसा ही परन्तु कुछ छोटा एक स्तम्भयुक्त कक्ष था।

अन्य कलाएँ

कुम्भकार की कला—सैन्धव कुम्भकार विशाल चक्रनिर्मित मृद्भाण्ड बनाने में कुशल थे और उन्हें प्रायः विविध रंगों से रंगते भी थे। लेकिन सैन्धव भवन-निर्माताओं के समान **उनका दृष्टिकोण भी उपयोगितावादी** था। इसलिए वे मिनोअन भाण्डों के समान सुन्दर भाण्ड बनाने में असफल रहे। उनके बर्तनों पर अधिकांशतः सरल रेखाचित्र और हिरण, बकरी, खरगोश, मोर, सर्प तथा मछली आदि पशु-पक्षियों और पीपल, नीम, खजूर आदि वृक्षों का अंकन मिलता है। हड़प्पा के कुछ भाण्डों पर मानवाकृतियाँ भी मिली हैं।

सैन्धव कुम्हार भाण्डों के अतिरिक्त **मृण्मूर्त्तियाँ** भी बनाते थे। इनमें कुछ मूर्त्तियाँ धार्मिक महत्त्व की हैं, और शेष सामान्य स्त्री-पुरुषों और पशु-पक्षियों आदि की। ये बालकों के खेलने के काम आती होंगी। ये मूर्त्तियाँ हाथ से भी बनाई जाती थीं और साँचों की सहायता से भी।

पाषाण-मूर्त्तियाँ—मूर्त्तिकला में सैन्धव जनों की सफलता का सर्वोत्तम प्रमाण हड़प्पा से प्राप्त दो मानव-मूर्त्तियाँ हैं। अभाग्यवश इन दोनों के सिर टूट कर खो गए हैं। इनमें एक **लाल पत्थर** से बनी है (चित्र १३९)। इसमें कलाकार ने पुरुष-शरीर के सौन्दर्य और गठन के प्रदर्शन में प्रशंसनीय सफलता पाई है। इसमें सिर और हाथ अलग से जोड़ने के लिए बर्मी से छेद बने हुए थे। **दूसरी मूर्त्ति** काले पत्थर की है और किसी नर्तक की लगती है। इसमें भी कलाकार ने अंग-सौष्ठव और नृत्य द्वारा उत्पन्न गति के भाव को अभिव्यक्त करने में पूरी सफलता पाई है (चित्र १४०, १४२)। **मार्शल के अनुसार** ये मूर्त्तियाँ इतनी सुन्दर है कि चौथी शती ई० पू० का कोई भी यूनानी कलाकार इनको स्व-निर्मित कहने में गौरव का अनुभव करता।
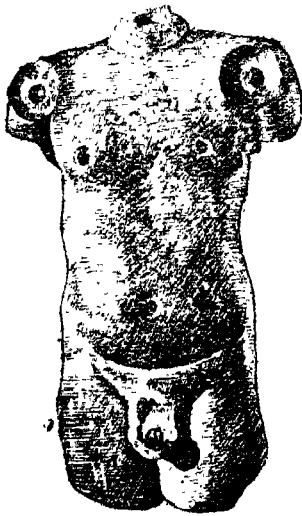
चित्र : १३९ हड़प्पा से प्राप्त लाल पत्थर की मूर्त्ति
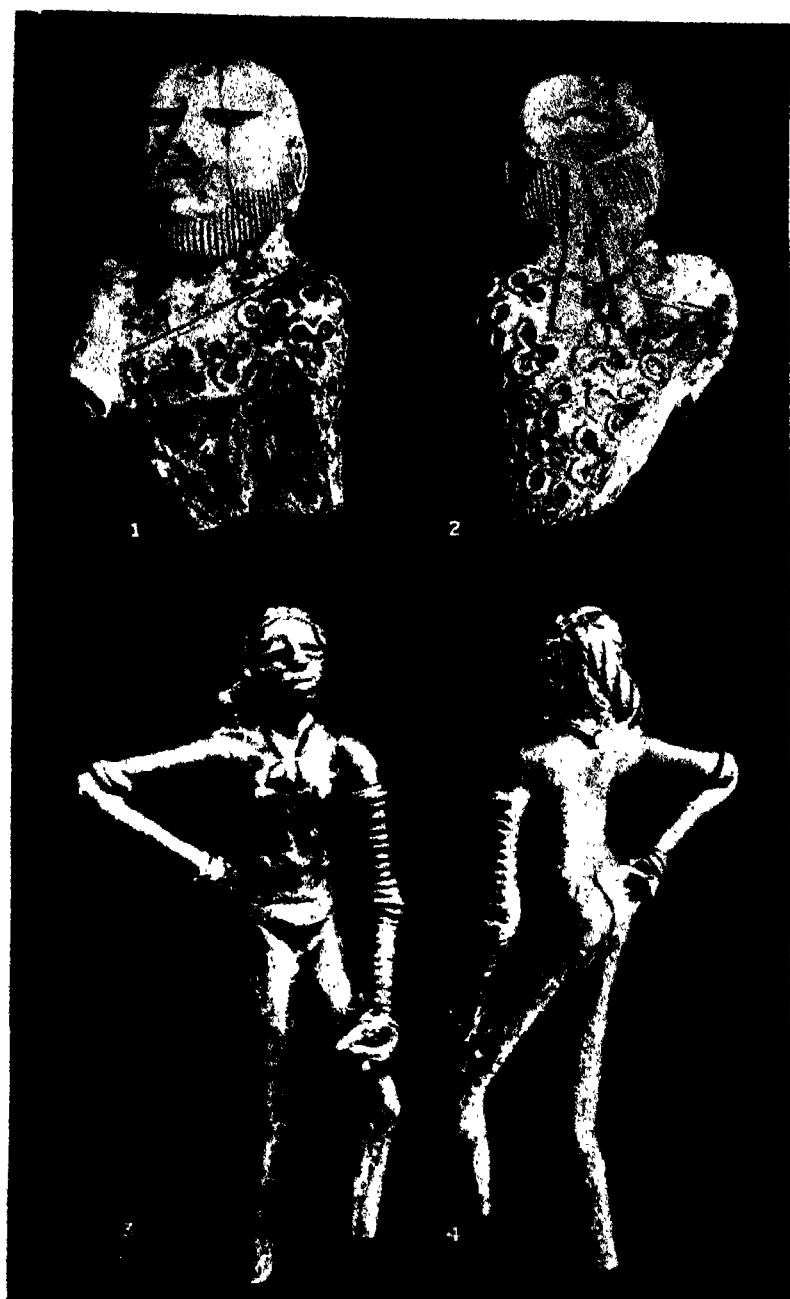
(अ) मोहनजोदड़ो से प्राप्त 'पुजारी' की मूर्ति

(आ) मोहनजोदड़ो से प्राप्त 'नर्तकी' की मूर्ति

—आर्कयोलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया
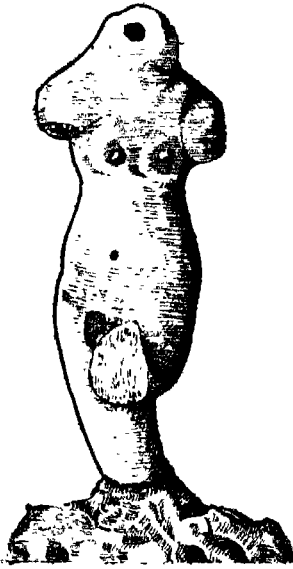
चित्र १४० : हड़प्पा से प्राप्त नर्तक की मूर्ति

मोहनजोदड़ो से मिली पाषाण-मूर्त्तियों में ध्यानावस्थित मुद्रा में दिखाए गए व्यक्ति की मूर्त्ति सर्वाधिक प्रसिद्ध (चित्र १४१, प्लेट ८ अ) है। उसे दाएँ हाथ पर भुजबन्ध, सिर पर केशबन्ध और शरीर पर त्रिपत्र चिह्नांकित चादर धारण किए दिखाया गया है। उसने दाढ़ी रखी हुई है पर ओठों का उपरला भाग केश विहीन है। मैके ने इसे किसी पुजारी की मूर्त्ति माना है और रा० प्र० चन्दा ने किसी योगी की। वस्तुतः मूर्त्ति की आँखों को देखने से ऐसा लगता है मानो इसमें योग की शाम्भवी मुद्रा का अंकन हुआ है। इसी स्थल से प्राप्त एक अन्य पुरुष, मूर्त्ति की मुद्रा में यह बात नहीं है, यद्यपि वह भी दाढ़ीधारी है, ओठों के उपरले भाग को साफ किए हैं और केशों को हीं केशबन्ध से बाँधे हैं।

चित्र १४१ : मोहनजोदड़ो से प्राप्त पुजारी (?) की मूर्त्ति

चित्र १४२ : हड़प्पा से प्राप्त नर्तक की मूर्त्ति का काल्पनिक पुनर्नियोजन (मार्शल के आधार पर)

धातु मूर्त्तियाँ—सैन्धव स्थलों से मिली धातु-मूर्त्तियों में '**नर्तकी**' नाम से विख्यात लघु कांस्यमूर्त्ति उल्लेखनीय है (प्लेट ८ आ)। यह मूर्त्ति धातु को साँचे में ढाल कर बनाई गई है। इसमें नर्तकी को बालों को कलात्मक ढंग से सँवारे हुए और एक हाथ को कमर पर और दूसरे को, जो कंधे तक चूड़ियों से

भरा है, जंघा पर रखे हुए दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त नर्तकियों की **अन्य कई मूर्तियाँ** और बैल, कुत्ते, बकरी और बत्तख आदि पशु-पक्षियों की धातु मूर्त्तियाँ भी विभिन्न स्थलों से मिली हैं।

आर्थिक व्यवस्था

कृषि कर्म—सैन्धव समाज की अर्थ-व्यवस्था का मूलाधार कृषि कर्म था। उत्खनन में मिले **गेहूँ और जौ** के दानों से इन अनाजों की तथा सूती कपड़ों के कुछ अवशेष मिलने से **कपास** की खेती होना सुनिश्चित रूप से ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त सैन्धव जन चावल, मटर, तिल, नारियल, केला, अनार आदि का उत्पादन भी करते थे। वस्तुतः हड़प्पा और मोहनजोदड़ो जैसे विशाल नगरों में रहने वाली जनता की उदरपूर्ति सुविकसित कृषिकर्म के बिना असम्भव थी। लेकिन वे हल के प्रयोग से परिचित थे अथवा नहीं और अपने खेतों में **सिंचाई की क्या व्यवस्था करते थे**, यह अज्ञात है।

पशुपालन—सैन्धवों का कृषिकर्म के पश्चात् दूसरा प्रमुख उद्यम पशुपालन था। उनके द्वारा पालित पशुओं में कूबड़दार और कूबड़विहीन **बैल, गाय, भैंस, भेड़, कुत्ते और शूकर आदि** सम्मिलित हैं। **हाथी** का यथार्थ शैली में अंकन और हाथी दाँत का कलात्मक वस्तुएँ बनाने में उपयोग इस पशु के साथ घनिष्ठ परिचय का संकेत माने जा सकते हैं। गधे, खच्चर, घोड़े और ऊँट से वे परिचित थे, यह निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं हो पाया है। उनके **अन्य परिचित पशुओं और पक्षियों** में बिल्ली, बन्दर, खरगोश, हिरण, मुर्गा, मोर, तोता, बत्तख, हंस, उल्लू आदि उल्लेखनीय हैं।

उद्योग-धन्धे—सैन्धवों के उद्योग-धन्धों में सर्वप्रथम **सूती और सम्भवतः ऊनी वस्त्रों के निर्माण** का उल्लेख किया जा सकता है। श्री साहनी को एक रजत कलश में कपड़े का एक टुकड़ा मिला था। मैके को भी अनेक वस्तुओं में लिपटे धागे मिले थे। कुछ स्थलों से मिली सुइयों से ज्ञात होता है कि वे **वस्त्र** सीने की कला से भी परिचित थे। दूसरा प्रमुख उद्योग **ईंटें बनाना** था। सम्भवतः उनके ईंटें पकाने के भट्ठे शहरों के बाहर स्थित होते थे। उनके **सुवर्णकारों ने** भी अपनी कला में पर्याप्त दक्षता प्राप्त कर ली थी। मार्शल के अनुसार उनके द्वारा निर्मित कुछ आभूषण तो इतने सुन्दर हैं कि ५००० सहस्त्र वर्ष प्राचीन किसी प्रागैतिहासिक मकान के बजाय आण्ड स्ट्रीट के किसी आधुनिक आभूषण विक्रेता की दूकान से आए लगते हैं। लोथल से प्राप्त एक कण्ठहार सुवर्ण के लगभग ५००,००० लघु मनकों से बनाया गया है। इसी स्थल

से प्राप्त ताम्र अथवा कांस्य की बर्मी काष्ठकला के विकसित रूप का संकेत देती है। सैन्धव कलाकार **शंख, सीप, घोंघे तथा हाथीदाँत आदि से भी मनके तथा अन्य मनमोहक कलाकृतियाँ बनाते थे। उनके अन्य उद्योग-धन्धों में मृद्भाण्ड धातुओं के बर्तन और अस्त्र-शस्त्र बनाना** सम्मिलित हैं।

विदेशी व्यापार—सैन्धवों द्वारा प्रयुक्त पत्थरों, धातुओं और अन्य वस्तुओं का अध्ययन करके अनुमान प्रकट किया गया है कि उनके **व्यापारिक सम्बन्ध** बलूचिस्तान, मध्य एशिया, उत्तर-पूर्वी अफगानिस्तान, ईरान, बेहरीन द्वीप, दक्षिणी भारत, राजपूताना और कश्मीर आदि प्रदेशों से रहे होंगे। यह **विदेशी व्यापार अधिकांशतः समुद्री मार्ग से होता था।** मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुद्रा और एक ठीकरे पर (चित्र १४३) बनी **सुमेरियन ढंग की नावों के अंकन से** पता चलता है कि वे नौविद्या से भलीभाँति परिचित थे। दूसरे, जैसा कि श्री लीमान ने ध्यान दिलाया है, सुमेरियन अभिलेखों में उर नगर के व्यापारियों के द्वारा 'दिल्मुन' द्वीप में 'मकन' और 'मेलुहा' के व्यापारियों के साथ वस्तु-विनिमय करने का उल्लेख है। इस विवरण से यह भी संकेतित है कि दिल्मुन, मकन और मेलुहा सुमेर से क्रमशः अधिकाधिक दूर स्थित थे। इनमें दिल्मुन स्पष्टतः बेहरीन द्वीप था और मकन सम्भवतः मकरान। उस अवस्था में **मेलुहा को सिन्धु प्रदेश से अभिन्न मानना न्यायोचित होगा।** सुमेरियन अभिलेखों में कहा गया है कि उर के व्यापारी मेलुहा से हाथी दाँत, काष्ठ तथा ताम्र प्राप्त करते थे। ये तीनों चीजें सिन्धु प्रदेश और निकटवर्ती प्रदेशों में प्रचुरता से मिलती भी थी। तीसरे, डॉ० ग्लोब की अध्यक्षता में **बेहरीन में हुए उत्खनन से एक ऐसे उपनिवेश के अवशेष** प्रकाश में आए हैं जिसके निवासियों पर सैन्धव और मेसोपोटामियन—दोनों सभ्यताओं का प्रभाव स्पष्ट है। उनकी कुछ मुद्राओं पर सैन्धव लिपि में लेख लिखे हैं लेकिन उनकी बनावट और डिजायनों में भेद भी स्पष्ट हैं। चौथे, पिछले पाँच-छः वर्षों में हुए उत्खनन **से लोथल में ७२० × १२० × १४ फुट आकार का एक नावाङ्कन (डोक यार्ड)** प्रकाश में आया है। यह २३ फुट चौड़ी धारा द्वारा निकटवर्ती नदी भोगावो से संयुक्त था। इस स्थल से बेहरीन शैली की एक मुद्रा भी मिली है। पांचवें, हाल ही में डॉ० गोडबोल ने राजपूताना के कुओं के नमक की परीक्षा करके यह मत प्रकट किया है कि यह नमक रेगिस्तानी सामान्य नमक न होकर समुद्री

चित्र १४३ : मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक ठीकरे पर बना नाव का चित्र

नमक है। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि सैन्धव-युग में और उसके पहले राजपूताना एक समुद्र था। अगर यह मत सही है (और इसे अनेक भूगर्भवेत्ता भी मानते हैं) तो, जैसा कि संकालिया महोदय का विश्वास है, इससे सौराष्ट्र के एक द्वीप होने की सम्भावना बलवान हो जाती है। इन तथ्यों से सिन्धु-सभ्यता का समुद्री-पक्ष पर्याप्त स्पष्ट और दृढ़ हो जाता है।
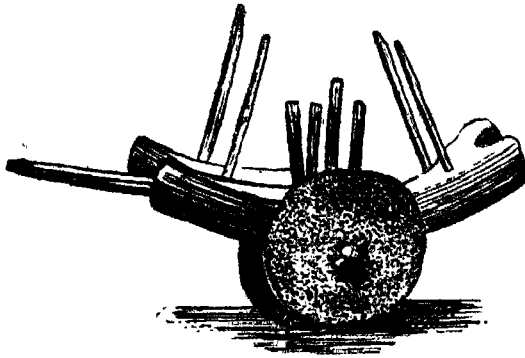
चित्र १४४ : सैन्धव गाड़ी का चन्हुदड़ो से प्राप्त मिट्टी का नमूना

यातायात के अन्य साधन—सैन्धव जन अपने जलयानों का उपयोग विदेशी व्यापार के लिए ही नहीं आन्तरिक व्यापार के लिए भी करते होंगे। उनके लिए सिन्धु नदी का कुछ वैसा ही महत्त्व रहा होगा जैसा मिस्रियों के लिए नील का था। इसके अतिरिक्त उनके सौदागर कुबड़दार बैल जैसे पशुओं पर माल ढोकर काफिलों के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते होंगे। वे यातायात में दो पहियों वाली गाड़ियाँ (जो आधुनिक बैलगाड़ी के सदृश थीं), तथा इक्के और चार पहियों वाली गाड़ियाँ (जो सुमेरियन रथों से मिलती-जुलती थी) भी प्रयुक्त करते थे, ऐसा इनके मिट्टी और कांस्य के नमूनों से ज्ञात होता है (चित्र १४४)।

राजनीतिक और सैनिक संगठन

राजनीतिक संगठन—सैन्धवों का राजनीतिक संगठन किस प्रकार का था, यह सर्वथा अज्ञात है। लेकिन उनकी सभ्यता की आश्चर्यजनक समरूपता, राज्य के द्वारा अनाज के उत्पादन और वितरण पर नियन्त्रण, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और कालीबंगा जैसे नगरों की आधार-योजना की सादृश्यता और सुव्यवस्थित नागरिक जीवन आदि को देखकर यह अनायास कहा जा सकता है कि इन नगरों के शासक बड़े ही शक्तिशाली थे। पिगट के अनुसार उनके पास एक दृढ़तापूर्वक लागू की गई व्यापार-संहिता और उत्पादन की 'स्टैण्डर्ड

'टेकनीक' भी रही होगी जिनके द्वारा ईंटों के आकार, मृद्भाण्डों के प्रकार तथा भार और माप की प्रणाली पर नियन्त्रण रखा जाता होगा। उस प्राचीन युग में कोई सरकार इतनी शक्तिशाली तभी होती थी जब उसे धर्म का सहारा उपलब्ध रहता था। लेकिन सैन्धव नगरों के स्वामी सुमेरियन शासकों के समान स्वयं धर्माधीश थे अथवा मिस्री फराओ के समान खुद को देवता का प्रतिनिधि कहते थे, कहना कठिन है। इसी प्रकार यह भी सर्वथा अज्ञात है कि सिन्धु-प्रदेश में सुमेर के समान नगर-राज्य थे अथवा एकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था थी। पिगट ने कल्पना की है कि **शायद मोहनजोदड़ो और हड़प्पा एक राज्य की दो राजधानियाँ थे** जो एक दूसरे से ४०० मील दूर स्थित होने पर भी नदी द्वारा जुड़ी हुई थीं। यह व्यवस्था कुषाण, अरब और मुगल शासन काल में भी मिलती है। अगर पिगट का यह अनुमान सही है तो जैसा कि ह्वीलर ने कहा है, सैन्धव सभ्यता को रोमन साम्राज्य के उदय के पूर्व प्राचीन विश्व का **'विशालतम राजनीतिक प्रयोग'** माना जा सकता है। वास्तव में सैन्धव सरकार की संगठन शक्ति और नागरिकों के जीवन को नियन्त्रित करने की क्षमता देखकर **कौटलीय राजतन्त्र** का अनायास स्मरण हो आता है। कौन जानता है हड़प्पा सभ्यता की हिन्दू राजतन्त्र के विकास को कितनी देन रही है?

सैनिक-व्यवस्था—सैन्धव शासकों ने मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में गढ़ियों को प्राचीर द्वारा सुरक्षित अवश्य किया था, लेकिन नगरों के शेष भाग सम्भवतः अरक्षित छोड़ दिये थे। उनके उपलब्ध हथियारों में कटार, बर्छी, भाले, बाणों के सिरे, चाकू, कुल्हाड़े, गदा तथा गुलेल द्वारा फेंकी जाने वाली मिट्टी की आग में पकाई गई गेंदें सम्मिलित हैं। लेकिन इन अस्त्र-शस्त्रों के प्राप्त नमूने संख्या में बहुत कम हैं और बहुत ही साधारण कोटि के हैं। योद्धाओं द्वारा धारण किये जानेवाले **शिरस्त्राण और कवच आदि तो सर्वथा अज्ञात ही हैं।** इसीलिए अनेक विद्वान् सैन्धवों को प्रकृत्या शान्तिवादी मानते हैं।

बौद्धिक पक्ष

लिपि—सैन्धव लिपि के विकास का अध्ययन करना अथवा इसका भारत की परवर्ती ब्राह्मी लिपि के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना असम्भव है, क्योंकि सैन्धव सभ्यता के सम्पूर्ण ज्ञात युग में यह लगभग पूर्णतः अपरिवर्तित रहती है। लेकिन इतना कहा जा सकता है कि अन्य समकालीन लिपियों के समान यह **मूलतः चित्राक्षर लिपि** थी। इसके कुछ चित्राक्षरों में चित्रित वस्तुओं को अनायास पहिचाना जा सकता है। इस दृष्टि से यह सुमेरियन कीलाक्षर

लिपि से सर्वथा भिन्न है। इसके लगभग ४०० चित्राक्षर ज्ञात हैं, इसलिए यह निश्चित रूप से वर्णमाला न होकर सम्भवतः ध्वनि-लिपि और भाव-लिपि का मिला-जुला रूप थी। कालीबंगा से प्राप्त एक ठीकरे पर उत्कीर्ण चित्राक्षरों की अतिव्याप्ति (ओवरलेपिंग) से ज्ञात होता है कि इसे दाहिनी ओर से बांई ओर लिखा जाता था यद्यपि यह विश्वास करने के लिए भी कारण हैं कि इसमें हर दूसरी लाइन का रुख बदलता जाता था। बहुत से विद्वानों का विचार है कि इसके चित्राक्षर सुमेर की जमदेतनस्रयुगीन लिपि अथवा हित्ती, मिस्री, क्रीटी तथा ईस्टर द्वीप की लिपि से सादृश्य रखते हैं। कुछ ने इसका सम्बन्ध तान्त्रिक चिह्नों के साथ भी जोड़ा है। वेडेल, प्राणनाथ, पेट्री, हण्टर, मेरिग्गी, शंकरानन्द, बरुआ, करमरकर, होज्नी तथा हेरास आदि विद्वानों ने इसे पढ़ने का दावा भी किया है, लेकिन इनमें न तो किसी का दावा सुपुष्ट प्रमाणों पर आधृत प्रतीत होता है और न किसी को सामान्यतः स्वीकृत किया ही जाता है।

साहित्य—सैन्धव लिपि के अपठित रहने के कारण सैन्धव सभ्यता का बौद्धिक पक्ष अज्ञात है। अगर यह लिपि इस समय निर्णायक रूप से पढ़ भी ली जाय तब भी इसका बौद्धिक पक्ष विशेष प्रकाशित नहीं हो पाएगा क्योंकि सैन्धवों के ग्रन्थ शायद लकड़ी अथवा चर्मपत्र जैसे नश्वर पदार्थों पर लिखे जाने के कारण सम्पूर्णतः नष्ट हो गए हैं। लेकिन इतना निश्चित लगता है कि उनका साहित्य बहुत विकसित था। हमने अन्यत्र सिद्ध किया है कि सुमेरियन सभ्यता पर सैन्धव सभ्यता का गहरा प्रभाव पड़ा था। इसलिए यह कल्पना करना निराधार नहीं होगा कि बहुत से आख्यान जिन्हें हम आजकल सुमेरियन कहते हैं वस्तुतः सैन्धव जाति की कृति थे। जलप्लावन आख्यान इसका एक उदाहरण है। बहुत सी सैन्धव मुद्राओं पर एक वीर को दो सिंहों से युद्ध करते हुए दिखाया गया है। उसे देखकर सुमेरियन वीर गिल्गामेश का स्मरण हो आता है।
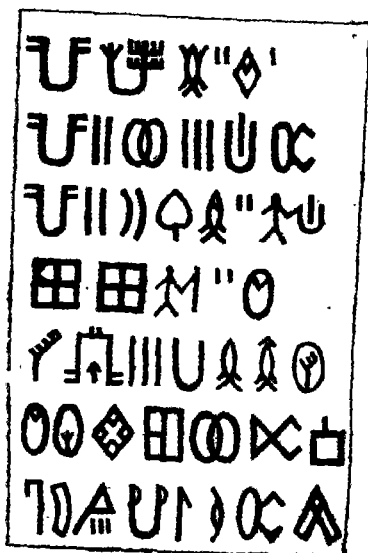
चि० १४५ : सिन्धु लिपि के कुछ चित्राक्षर

विज्ञान—सैन्धव जन अपने भवनों का निर्माण सुनिश्चित योजना बनाकर करते थे, इससे लगता है कि वे ज्योमिति के कुछ सिद्धान्तों से अवश्य ही परिचित रहे होंगे। उनके माप तौल के पैमाने भी सुनिश्चित थे। हाल ही में लोथल से लगभग ७ इञ्च लम्बा हाथी दांत का पैमाना और एक कम्पास (?) मिला है। उनका फुट सम्भवतः १३·२″ का था। उनके बटखरों के भार में आश्चर्यप्रद समानता मिलती है। मार्शल के अनुसार एलम और सुमेर के बटखरों में भी यह विशेषता नहीं मिलती। बहुत सम्भव है उन्हें **दशमलव** विधि का भी ज्ञान रहा हो।

धर्म

मातृशक्ति-सम्प्रदाय—सैन्धव धर्म में सर्वाधिक महत्त्व सम्भवतः मातृशक्ति और एक त्रिमुखी देवता को प्राप्त था। बलूचिस्तान के कांस्यकालीन ग्रामों के समान मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा अन्य अनेक सैन्धव-स्थलों से भी ऐसी **मृण्मूर्त्तियाँ** मिली हैं जो कमर के नीचे मेखला में बँधा पटका, सिर पर पंखे के आकार का मुकुट और गले में हार धारण किये हैं। इनकी आँखें गोल बत्तियों से बनाई गई हैं, कानों के पास प्याले जैसे चीज़ बनी हैं और पैर प्रायः अंगुलीविहीन हैं। ये निश्चयतः मातृशक्ति की मूर्त्तियाँ लगती हैं। लेकिन इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी नारी मूर्त्तियाँ भी प्राप्य है जिनमें उन्हें शिशु को स्तन पान कराते, एक मोटी तख्ती पर गर्भवती रूप में लेटे हुए अथवा सिर पर कुछ रखकर ले जाते हुए दिखाया गया है। हो सकता है ये मूर्त्तियाँ मातृशक्ति की मूर्त्तियाँ न होकर सामान्य नारी-मूर्त्तियाँ मात्र हों। इस प्रसंग में कुछ मुद्राएँ भी उल्लेखनीय हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर दाहिनी ओर शीर्षासन करती हुई नारी के गर्भ से वृक्ष निकलते हुए दिखाया गया है और बाईं ओर दो सिंहों का अंकन है। इस चित्र से **सैन्धव मातृदेवी का सिंहों से सम्बन्ध** निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। इस मुद्रा के उल्टी ओर सम्भवतः **नरबलि का दृश्य** अंकित है। एक अन्य मुद्रा पर एक देवी को पीपल के मध्य अंकित किया गया है और उसके सामने उपासक सम्भवतः बलि के हेतु एक बकरा ला रहा है। इसको भी देवी के सम्मुख बलि दिये जाने का दृश्य माना जा सकता है।

शिवोपासना—सैन्धव स्थलों से ऐसी कई मुद्राएँ मिली है जिन पर योग मुद्रा में आसीन एक देवता का अंकन है। इनमें मोहनजोदड़ो से **मैके द्वारा प्राप्त मुद्रा** सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस पर सिंहासन पर योगासन में विराजमान

त्रिमुखी-ऊर्ध्वमेढ़ देवता का अंकन है। वह अपने सिर पर शृङ्ग-मुकुट धारण किए है। उसके सामने हरिण बना है, बाँई ओर भैंसा और गैंडा तथा दाईं ओर हाथी और व्याघ्र (चित्र १४६)। मार्शल ने इस देवता को हिन्दू देवता शिव का प्राचीन रूप माना है क्योंकि शिव को भी योगीराज, उर्ध्वमेढ्र और पशुपति कहा गया है और उनकी त्रिमुख रूपवाली परवर्ती मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं—जैसे एलिफेण्टा की महेश मूर्त्ति। इसके अतिरिक्त सैन्धव देवता के शृङ्ग-मुकुट को परवर्ती शिव के आयुध त्रिशूल का पूर्वरूप माना जा सकता है।

चित्र १४६ : सैन्धव 'पशुपति'

परवर्ती हिन्दू युग में शिव को **'वृषभवाह'** कहा गया है और उनके वाहन को नन्दी। **शिव का वृषभ के साथ यह सम्बन्ध** सम्भवतः सैन्धव युग में ही माना जाने लगा था। इसका संकेत दो तथ्यों से मिलता है—एक सैन्धव मुद्राओं पर वृषभ के समधिक अंकन से और दूसरे मोहनजोदड़ो की मुद्रा पर उन्हें **'शृंग मुकुट'** धारण किये हुए दिखाने से। परवर्ती हिन्दू धर्म में **शिव का नागों से सम्बन्ध** भी बताया गया है। एक सैन्धव मुद्रा में योगीराज शिव के दोनों ओर अंकित दो विशाल नागों से इस विश्वास की प्राचीनता भी सिद्ध होती है।

योनि और लिंग पूजा—सैन्धव धर्म में मातृशक्ति और शिव की उपासना मानवीय रूप में ही नहीं सम्भवतः, परवर्ती हिन्दू धर्म के समान, योनि और लिंग रूप में भी की जाती थी। सैन्धव स्थलों से ऐसे अनेक पाषाण-खण्ड और छल्ले मिले हैं जिनको विद्वानों ने **शिवलिंग** और **योनि** स्वीकृत किया है। इस प्रसंग में ऋग्वेदिक ऋषियों का अपने शत्रुओं को **'शिश्नदेवाः'** कहकर घृणा की दृष्टि से देखना महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

शक्तिवाद और शिवोपासना आर्येतर थे—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सैन्धव-धर्म में 'अम्बिका' और 'शिव' को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त था। यह तथ्य उनके आर्येतर द्रविड जातीय होने से संगति रखता है क्योंकि वैदिक देवसमूह में पृथिवी और अदिति आदि देवियों की कल्पना होने पर भी देवीतत्त्व

को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी, जब कि द्रविड़ों के धर्म में मातृशक्ति की उपासना निर्विवाद है। वस्तुतः मातृशक्ति का 'अम्बिका' नाम ही द्रविड़ शब्द 'अम्ब' अथवा 'अम्म' से निकला है। इसी प्रकार शिवोपासना भी मूलतः अवैदिक लगती है। हो सकता है शिव और शम्भू नाम भी तमिल भाषा के 'शिवान्' और 'शम्बू' शब्दों से निकले हों।

शिव-अम्बिका का सम्बन्ध—परवर्ती हिन्दू धर्म में शिव और अम्बिका को पति-पत्नी माना गया है। सैन्धव युग में इनके पारस्परिक सम्बन्ध का रूप ज्ञात नहीं है, परन्तु हमारा विश्वास है कि वैदिक साक्ष्य इस विषय में हमें निश्चित संकेत प्रदान करता है। **ऋग्वेद के रुद्र परवर्ती शिव से बहुत भिन्न हैं।** इस ग्रन्थ में उनकी कल्पना का आधार 'झंझावात के साथ आने वाले विद्युत्धारी घने काले मेघ' थे। इसमें उनका सम्बन्ध न योग से संकेतित है, न वृषभ से और न नागों से। उनके लिंग रूप का तो इसमें मजाक उड़ाया गया है। ये सब तत्त्व हमें सैन्धव शिव में मिलते हैं। लेकिन यजुर्वेद, अथर्ववेद और ऋग्वेद के दशम मण्डल से ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिक काल में, जब सैन्धव और वैदिक सांस्कृतिक धाराओं का समन्वय हुआ, **रुद्र ने सैन्धव शिव की इन सब विशेषताओं को अपना लिया।** इसलिये यह कल्पना करना असंगत न होगा कि रुद्र-शिव के अम्बिका-भर्ता होने की कल्पना भी, जो सर्वप्रथम उत्तर वैदिक काल में देखने से आती है, सैन्धव धर्म की ही देन थी।

यजुर्वेद का साक्ष्य—लेकिन यह सम्भावना प्रकट होते ही हमारे सम्मुख एक अत्यन्त रोचक तथ्य आता है। **यजुर्वेद** में एक स्थल पर रुद्र के साथ **अम्बिका का उल्लेख करते समय उसे रुद्र की बहिन बताया गया है।** स्मरणीय है कि रुद्र-अम्बिका के सम्बन्ध का यह सम्भवतः प्राचीनतम ज्ञात उल्लेख है और इस स्थल के अतिरिक्त सम्पूर्ण हिन्दू साहित्य में उन्हें सर्वत्र पति-पत्नी ही माना गया है। क्या इससे यह संकेत नहीं मिलता कि सैन्धव धर्म में शिव को अम्बिका का भाई और सम्भवतः पति दोनों माना जाता था, लेकिन आर्यों की नैतिक विचार धारा को यह कल्पना ग्राह्य नहीं हुई इसलिए उन्होंने शिव और अम्बिका के केवल पति-पत्नी रूप को ही मान्यता प्रदान की ?

अन्य सभ्यताओं का साक्ष्य—हमारा यह सुझाव सर्वथा कल्पनाप्रसूत नहीं है। जैसा कि आगे देखा गया है सैन्धव सभ्यता ने उसी सांस्कृतिक वातावरण को उत्तराधिकार में प्राप्त किया था जिससे पश्चिमी एशियाई, मिस्री और मिनोअन सभ्यताएँ उद्भूत हुई। और इन सभी सभ्यताओं में हमें महामातृदेवी और उसके प्रेमी पुत्र अथवा भाई की उपासना लोकप्रिय मिलती है। मिस्र में

आइसिस और ओसिरिस के इस सम्बन्ध की चर्चा विस्तृत रूप से की जा चुकी है (पृष्ठ ३२९)। दूसरे, जैसा कि अन्यत्र दिखाया गया है, सम्भवतः प्रागार्य जातियों में भाई-बहिन के विवाह की प्रथा प्रचलित थी (पृ० ५५३-४)। इससे उस युग के धर्म में प्रधान देवता और प्रधान देवी के अगम्यागमन की कल्पना स्वीकार्य हो जाती है।

पशु-पूजा—सैन्धवों के धर्म में पशु-पूजा को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था, यह उनकी असंख्य मुद्राओं, मुद्राछापों और मूर्त्तियों से ज्ञात होता है। उनकी मुद्राओं पर अंकित **अधिकांश पशु वास्तविक हैं**—जैसे कूबड़दार वृषभ, हरिण, भेड़, गेंडा, बाघ, घड़ियाल, भैंसा, नाग आदि। परवर्ती हिन्दू धर्म में इनमें अधिकांश विविध देवताओं के वाहन माने गए हैं। हो सकता है सैन्धव युग में भी कुछ ऐसी ही कल्पना रही हो। यह भी सम्भव है कि मिस्रियों के समान सैन्धव जनों ने भी अपने देवताओं की कल्पना पहले पशु रूप में ही की हो और बाद में उन्हें उनका प्रतीक मानकर पूजते रहे हों। उनकी मुद्राओं पर मिलने वाले **ऐसे पशुओं के चित्र जिनका अंकन मनुष्य और विविध पशुओं के विभिन्न अवयवों के संघात-रूप में हुआ है** अथवा एक शृंग आदि ऐसे पशुओं के चित्र **जो पूर्णतः पौराणिक न होकर भी बड़े विलक्षण लगते हैं**, उनकी पुराकथाओं से सम्बन्धित हो सकते हैं।

वृक्ष पूजा—सैन्धव समाज में पशुओं के अतिरिक्त वृक्षों की पूजा का प्रचलन भी था। उदाहरणार्थ **पीपल पूजा** जो हिन्दू धर्म में अभी तक मिलती है, सैन्धव युग की ही देन लगती है। सैन्धव जन वृक्षों को उनके यथार्थ रूप में पूज्य मानते थे अथवा उनकी कल्पित 'शक्ति' को यह ज्ञात नहीं है। लेकिन एक मुद्रा पर **वृक्षदेवी के सम्मुख पशुबलि का दृश्य** अंकित है (पृ० ५४९)। इससे दूसरी सम्भावना अधिक बलवान प्रतीत होती है।

पूजा विधि और धार्मिक विश्वास—सैन्धवों के अन्य धार्मिक विश्वासों में तावीजों की प्रभावशीलता, **जल की पवित्रता में श्रद्धा** (जो स्नान कुण्ड आदि से संकेतित है) तथा वृषभ-शृंग, स्वस्तिक, स्तम्भ, चक्र, क्रास आदि **धर्मचिह्नों में आस्था उल्लेखनीय** हैं। उन्होंने अपने देवताओं की कल्पना मानव और पशु आदि रूप में की और उनकी मूर्त्तियाँ बनाईं, इससे लगता है कि वे उनकी प्रतिष्ठा के लिए **मन्दिर अवश्य बनाते होंगे**। परन्तु अभी तक कोई ऐसी इमारत नहीं मिली है जिसे निर्विवाद रूप से मन्दिर माना जा सके। हो सकता है वे मन्दिरों से अधिक महत्त्व **घरों में स्थित देवगृहों** को देते रहे हों। शायद देवपूजा के पूर्व शरीर शुद्धि आवश्यक मानी जाती थी। **पूजा**

में धूप-दीप जलाना, पुष्प चढ़ाना, गायन-वादन, पशुबलि और सम्भवतः नर-बलि को भी स्थान प्राप्त था। इस प्रसंग में यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि वैदिक धर्म पूजा-धर्म न होकर यज्ञ-धर्म था और भाषाशास्त्रियों के अनुसार **'पूजा' शब्द मूलतः द्रविड़ है।**

शवोत्सर्ग--मार्शल का मत है कि सैन्धव समाज में शव-विसर्जन की तीन विधियाँ प्रचलित थीं---पूर्ण समाधिकरण, आंशिक समाधिकरण और दाह-कर्म। **पूर्ण समाधिकरण** में मृतक के सम्पूर्ण शव को प्रायः आभूषण, शृंगार-प्रसाधन और बर्तन आदि के साथ समाधि बनाकर गाड़ दिया जाता था। इसका सर्वोत्तम उदाहरण हड़प्पा का **'आर ३७'** नाम से विख्यात कब्रिस्तान है जो इस स्थल की गढ़ी से दक्षिण की ओर स्थित था। इसकी दो कब्रें विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें एक कब्र अन्दर से कच्ची ईंटों से बनाई गई थी और दूसरी में शव को ७ फुट लम्बी काष्ठपेटिका में रखा गया था। समाधिकरण की यह रीति प्राक्-सारगोन और सारगोनयुगीन सुमेर में प्रचलित थी। हाल ही में ऐसी कब्रें लोथल से भी मिली हैं। लेकिन वहाँ **तीन कब्रों में दो-दो शरीर एक साथ भी रखे मिले हैं।** श्री एस० आर० राव के अनुसार ये तत्कालीन युग में सती-प्रथा के प्रचलन का संकेत है। लेकिन जैसा कि संकालिया महोदय ने ध्यान दिलाया है, सती प्रथा में शवों का दाहकर्म होता था समाधिकरण नहीं। **आंशिक समाधिकरण** में शव के सम्भवतः पशु-पक्षियों द्वारा खा लेने के बाद उसकी अस्थियों को एकत्र करके गाड़ दिया जाता था। दाहकर्म का संकेत मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा में मकानों और गलियों में भूमिस्थ पात्रों से मिलता है जिनमें राख, चारकोल और अन्यान्य वस्तुएँ रखी हुई मिली हैं। लेकिन ह्वीलर और पिगट का कहना है कि इनसे जलशोषक-गर्त (सोक पिट) का काम लिया जाता था।

सामाजिक संगठन

भाई-बहिन के विवाह की प्रथा— सैन्धव मातृदेवी और शिव के सम्बन्ध के विषय में जिस मत की ऊपर स्थापना की गई है (पृ० ५५१-२) उससे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सम्भावना बलवती हो जाती है। मिस्र में, जहाँ आइसिस को ओसिरिस की बहिन और पत्नी दोनों माना जाता था, इस विश्वास का समाजिक पक्ष **भाई-बहिन के विवाह की प्रथा** के रूप में मिलता है। प्रश्न उत्पन्न होता है, 'क्या सैन्धव समाज में भी ऐसी ही प्रथा प्रचलित थी'? हमारा विचार है कि इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ', होना चाहिए। (१) ऋग्वेद के दशम मण्डल में,

जिनकी रचना उस काल में हुई जब सैन्धव सभ्यता और वैदिक सभ्यताओं का समन्वय हो रहा था, यम यमी संवाद द्वारा इस प्राचीन प्रथा की आलोचना की गई है। इसमें दिखाया गया है कि यमी अपने भाई यम पर अनुरक्त है और 'समान शय्या पर रमण' करना चाहती है लेकिन यम इसे 'अभ्रातोचित' कर्म बताता है। इस पर यमी उसे समझाती है कि 'स्वयं विश्वकार त्वष्टा ने हम दोनों को दम्पति रूप में एकत्र किया। उसके व्रतों (नियमों) का कोई उल्लंघन नहीं करता।'''आकाश और पृथिवी दोनों इसे मानते हैं।' लेकिन यम उसके इस तर्क को भी मित्रावरुण की व्यवस्था के विपरीत कह कर काट देता है। इससे स्पष्ट है कि भारत में यह प्रथा प्राचीन काल में प्रचलित थी परन्तु आर्यों की नैतिक विचारधारा के विपरीत थी। (२) **इस प्रथा के मूलकाल में प्रचलन के संकेत पुराणों में भी सुरक्षित है**। इनसे ज्ञात होता है कि मनु, नहुष-ऐल, अमावसु-ऐल, शुक्र-उसनस्, कृशाश्व और सहंताश्व, मांधातृ, तथा सगर ने अपनी-अपनी पितृकन्याओं से विवाह किया था। महाभारत और बौद्ध साहित्य में भी ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। आजकल यह प्रायः स्वीकृत किया जाने लगा है पुराणों की सामग्री पूर्णतः आर्य नहीं है। इनमें प्रागार्य युग के अनेक विश्वास आख्यान और कथाएँ मिश्रित हैं। इसलिए इनमें उल्लिखित उन दृष्टान्तों को, जिनमें भाई-बहिन के विवाह का उल्लेख हुआ है, मूलतः आर्येत्तर परम्परा की देन मानना अनुचित न होगा।

मातृसत्तात्मक समाज !—सैन्धव सभ्यता के सामाजिक संगठन की अन्य विशेषताओं के विषय में कुछ अनुमान मात्र किया जा सकता। उदाहरणार्थ द्रविड समाजों के प्रायः मातृसत्तात्मक होने से **सैन्धव समाज को मातृसत्तात्मक** माना जा सकता है क्योंकि यह तथ्य सैन्धव समाज में प्रचलित भाई—बहिन विवाह प्रथा और उनके धर्म में मातृदेवी की प्रतिष्ठा के साथ पूर्णतः संगत हो जाता है। लेकिन बहुत से विद्वानों का यह आग्रह कि आर्यों ने वर्ण व्यवस्था को द्रविड़ों से प्राप्त किया था एक असिद्ध मान्यता है। यद्यपि **सैन्धव समाज अनेक वर्गों में विभाजित** रहा होगा, यह उसकी सभ्यता की विकसित अवस्था को देखते हुए अनायास स्वीकृत किया जा सकता है

विदेशी सभ्यताओं से सम्बन्ध

क्रीट के साथ सम्बन्ध—जिस समय सुदूरभूत में भूमध्यसागरीय जाति का भारत में आगमन हुआ उस समय उसकी शाखाएँ क्रीट, अनातोलिया, मिस्र, मेसोपोटामिया और ईरान में भी बसी थीं। द्रविड़ों का एक प्राचीन

नाम 'द्रमिल' अथवा 'द्रमिल' था। इसीसे भारतीय आर्य शब्द 'द्रमिड' 'द्रविड', 'दमिल' तथा तमिल भाषा का 'तमिल्' (तमिऴ्) शब्द निकले हैं। इस प्रसंग में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि हेरोडोटस के अनुसार क्रीट के निवासी अपने को 'तेरमिलाई' कहते थे। लीकिया के निवासियों ने भी, जो ईजियन जनों के वंशज थे, अपने अभिलेखों में खुद को 'तृम्मिलि' कहा है। हो सकता है भूमध्यसागरीय जाति की भारत आने वाली किसी शाखा का नाम इससे मिलता-जुलता रहा हो और उसी से कालान्तर में 'द्रविड़' और 'तमिल' शब्द निकले हों। क्रीट के कतिपय भित्ति-चित्रों पर **बैलों और मनुष्यों की लड़ाई** के कुछ दृश्य अंकित हैं। इस द्वन्द्व-युद्ध को 'तौरकथपशिया' कहा जाता था। मोहनजोदड़ों से प्राप्त कुछ मुद्राओं से भी इससे मिलती-जुलती क्रीड़ा का अंकन मिलता है। दूसरे, क्रीट के समान सिन्धु-प्रदेश में भी **मातृशक्ति और उसके प्रेमी महादेव की उपासना** होती थी। स्मरणीय है कि मिनोअन धर्म में मातृशक्ति की कल्पना सिंहों से रक्षित दुर्गा के रूप में भी की गई थी और महादेव के प्रतीकों में पाषाण-स्तम्भ (भारतीय शिवलिंग का मिनोअन रूप !), वृषभ और वृषभ के सींग सम्मिलित थे।

मिस्री सभ्यता से सम्बन्ध—क्रीट के समान प्राचीन मिस्र में भी भूमध्यसागरीय जाति की एक शाखा बसी हुई थी इसलिए मिस्री और सैन्धव सभ्यताओं में भी बहुत सादृश्यता मिलती है। उदाहरणार्थ मिस्री धर्म में **ओसिरिस को आइसिस का भाई और प्रेमी** माना जाता था तथा समाज में भाई-बहिन के विवाह की प्रथा प्रचलित थी ये बातें हमें सैन्धव समाज में भी मिलती हैं। दूसरे, सैन्धव महादेव को मुद्राओं पर शृंग-मुकुट धारण किये हुए दिखाया गया है। ठीक ऐसा ही **वृषभ शृंग-मुकुट** हमें प्रारम्भिक-वंशीय युग के नरेश नरमेर की स्लेट पट्टिका के ऊपर (चि० ८७) बना मिलता है।

हित्ती सभ्यता के साथ सम्बन्ध—हित्ती सभ्यता का उदय सैन्धव सभ्यता के उदय के बहुत बाद में हुआ और इस पर वहाँ के इण्डो-यूरोपियन शासकों की सभ्यता की छाप भी मिलती है। परन्तु इसके अनेक तत्त्व ऐसे हैं जो निश्चयतः वहाँ निवास करने वाली प्राचीनतर आर्येतर जाति (जो सम्भवतः भूमध्यसागरीय जाति की ही एक शाखा थी) की देन कहे जा सकते हैं और इसके सैन्धव सभ्यता के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध का संकेत देते हैं। उदाहरणार्थ सैन्धव महादेव के समान हित्ती देवराज **की कल्पना पशुपति रूप में की गई है**, (चि० ५५), उसका वाहन और **प्रतीक वृषभ** बताया गया है (चि० ५०) और आयुध-त्रिशूल। इसी प्रकार उसकी पत्नी हेपित को

सिंहवाहिनी रूप में चित्रित किया गया है (चि० ५१)। सैन्धव धर्म में मातृ-शक्ति का सिंहवाहिनी रूप अज्ञात है, लेकिन अनुवर्ती युगों में प्रचलित होने और सैन्धव युग में भी मातृशक्ति और सिंहों का सम्बन्ध संकेतित होने के कारण सहज ही कल्पनीय है।

सुमेर के साथ सम्बन्ध—सैन्धव सभ्यता की सुमेरियन और एलमी सभ्यताओं के साथ इतनी अधिक सादृश्यता मिलती है जिसकी व्याख्या व्यापारिक सम्बन्धों के कारण पड़ने वाले पारस्परिक प्रभाव के आधार पर नहीं की जा सकती। यह **सादृश्यता** केवल दोनों प्रदेशों में समाज के नगरों के रूप में संगठन, कांस्य और ताम्र के साथ पाषाण का औजार और हथियार बनाने के लिए प्रयोग, चक्रनिर्मित भाण्डों के निर्माण, पहियेदार गाड़ियों के प्रयोग इमारतों के निर्माण में कच्ची और पक्की ईंटों के प्रयोग, बाढ़ से बचाने के लिए इमारतों को एक ऊँचे चबूतरे पर बनाने की विधि के ज्ञान, लेखन-कला के आविष्कार, मुद्राओं के निर्माण तथा धार्मिक विश्वासों की सामान्य सादृश्यता आदि तक ही सीमित नहीं है। कुछ बातों में तो यह **समरूपता** की सीमा को छूती प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ सिन्धु प्रदेश और सुमेर दोनों के निवासी सिर पर केशबन्ध (फिलेट) बाँधते थे और मूँछें साफ कराते थे। दोनों प्रदेशों की भवन-निर्माण-कला में भी घनिष्ठ सादृश्यता देखने में आती है, जैसे चपटी ईंटों (जो सुमेर में प्राचीनतम युग में और सिन्धु-प्रदेश में आरम्भ से अन्त तक मिलती हैं), तोड़ेदार (कोर्बेल्ड) मेहराब और जालीदार जंगलों का प्रयोग तथा संकीर्ण गलियों के द्वारों पर स्थित मकानों के कोनों को गोल करने की परम्परा जिससे गाड़ियों को आने जाने में सुविधा हो। दोनों देशों के कुओं और शौचगृहों की बनावट भी बहुत कुछ एक सी है। इसके अतिरिक्त दोनों देशों की मृद्भाण्ड कला, मनके बनाने की विधि, मुद्रा-निर्माण कला तथा मुद्राओं पर अंकित चित्रों में भी बहुत साम्य दिखाई देता है। इस **सादृश्यता का** एक **कारण** तो सम्भवतः सुमेर और सैन्धव सभ्यताओं द्वारा समान सांस्कृतिक परम्परा को उत्तराधिकार में प्राप्त करना था। जब सुदूर अतीत में भूमध्यसागरीय जाति भारत आई थी, तो निश्चयतः वह मेसोपोटामिया और ईरान होते हुए आई होगी। हम पहले ही देख चुके हैं कि पश्चिमोत्तर भारत में निवास करने वाली भूमध्यसागरीय जाति, जिसे आर्यों ने दास-दस्यु कहा है, ईरान तक फैली हुई थी। अगर सुमेरियन भी इसी जाति की एक शाखा रहे हों तो आश्चर्य नहीं। प्रोफेसर इलियट स्मिथ, हॉल, हेरास, हैड्डोन तथा डिक्सन आदि विद्वान् तो उसे भूमध्यसागरीय

जाति की शाखा मानते ही हैं। फ्रेंकफर्ट भी अल उबैद और उर से प्राप्त कंकालों को भूमध्यसागरीय जाति का स्वीकृत करते हैं। यही विचार बक्स्टन, राइस तथा कीथ का है।

तिथिक्रम : सैन्धव सभ्यता की सुमेरियन सभ्यता से आपेक्षिक प्राचीनता

लेकिन सुमेरियन और सैन्धव सभ्यताओं की सादृश्यता इतनी घनिष्ठ है कि इसकी दोनों प्रदेशों की जातियों के सुदूरभूत में समान सांस्कृतिक वातावरण में रहने के आधार पर व्याख्या नहीं की जा सकती। इनमें एक सभ्यता ने निश्चय ही दूसरी के सभ्यता उदय और विकास को प्रभावित किया था। ह्वीलर महोदय यह श्रेय सुमेरियन सभ्यता को देते हैं क्योंकि उनके अनुसार सुमेरियन सभ्यता ही प्राचीनतर थी। परन्तु क्या उनका यह विचार सही है?

मार्शल का मत—खुदाई से मोहनजोदड़ो नगर के सात स्तर मिले हैं। इससे नीचे के स्तर अधस्तल-जल (सब सोइल वाटर) में दबे होने के कारण प्रकाश में नहीं आ पाए हैं। सामान्यतः रोम, नोसॉस तथा ट्रॉय आदि के उदाहरणों को दृष्टि में रखकर इन स्तरों को **एक सहस्र वर्ष का समय देना चाहिए**। परन्तु **मार्शल** ने मोहनजोदड़ो के सततरूपेण आने वाली बाढ़ों के कारण जल्दी-जल्दी नष्ट होते रहने और इन स्तरों की संस्कृति में आश्चर्यजनक **सांस्कृतिक समरूपता** मिलने के कारण इनके लिए **५०० वर्ष का समय** पर्याप्त माना है तथा पश्चिमी एशियाई और सैन्धव सभ्यताओं के सम्पर्क का संकेत देने वाले साक्ष्य का विश्लेषण करके इस युग को **३२५० ई० पू० से लेकर २७५० ई० पू० तक** निर्धारित किया है। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह **भी स्पष्ट कर दिया है** कि ये तिथियाँ केवल मोहनजोदड़ो के सात स्तरों की **हैं, सैन्धव सभ्यता के सम्पूर्ण इतिहास की नहीं।** उनके अनुसार सैन्धव सभ्यता **का** विकास **३२५० ई० पू० से 'कई लम्बी शताब्दी पूर्व'** ही प्रारम्भ हो **चुका था।**

ह्वीलर का मत—लेकिन ह्वीलर महोदय को मार्शल के मत में आस्था **नहीं है।** उनका कहना है कि मेसोपोटामिया में कुल २९ या **३० सैन्धव मुद्राएँ** मिली हैं जिनमें केवल **एक दर्जन ऐसी** हैं जिनकी तिथियाँ लगभग **निश्चित हैं।** इनमें एक प्राक्-सारगोन युग की है, दो प्राक्-सारगोन युग की भी हो सकती है और सारगोन के युग की भी, **पाँच सारगोन के युग की हैं**

और चार सारगोनोत्तर युग की। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि सैन्धव और सुमेरियन सभ्यताओं का घनिष्ठतम सम्बन्ध सारगोनी युग में था। इसलिए सारगोन का समय २३५० ई० पू० मानकर उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया कि सैन्धव सभ्यता को **२५००-१५०० ई० पू० के मध्य रखना** चाहिए।

कोट दीजी का साक्ष्य—ह्वीलर महोदय के इस मत का समर्थन **श्री पिगट** और अन्यान्य अनेक विद्वानों ने किया है। १९५५-५७ ई० में पाकिस्तान में खैरपुर के समीप स्थित कोट दीजी स्थल से एक प्राचीरयुक्त प्राक्-सैन्धव कस्बे के अवशेषों पर निर्मित प्राचीरविहीन सैन्धव उपनिवेश के जो अवशेष प्रकाश में आए हैं, उनके 'कार्बन १४' परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि यहाँ **सैन्धव उपनिवेश की स्थापना २४०० ई० पू० के लगभग** हुई थी। इस तथ्य से आपाततः ह्वीलर के मत का समर्थन होता लगता है।

ह्वीलर के मत की आलोचना : उर से प्राप्त मुद्रा—लेकिन वस्तुतः ह्वीलर महाशय का मत उतना सबल नहीं है जितना लगता है। **कोट दीजी के साक्ष्य से केवल इतना सिद्ध होता है कि उस स्थल पर सैन्धव उपनिवेश की स्थापना २४०० ई० पू० में हुई थी।** इससे सैन्धव सभ्यता की प्रारम्भिक तिथि ज्ञात नहीं होती। उन्होंने उन प्रमाणों को तो सर्वथा उपेक्षासी कर दी है जो सिन्धु सभ्यता की प्राचीनता सिद्ध करते हैं। उदाहरणार्थ **वूली को उर नगर की राजसमाधियों से जो सैन्धव मुद्रा मिली थी उसकी तिथि ३२०० ई० पू० के लगभग** स्थिर की गई है। यह सही है कि यह इतने प्राचीर स्तर से मिलने वाली यह एक मात्र सैन्धव मुद्रा है, परन्तु क्या एक ही मुद्रा से उस युग में सिन्धु-सभ्यता का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो जाता ? हमारे विचार से इस युग में सिन्धु-सुमेर सम्पर्क का संकेत देने वाले **प्रमाणों की कमी से सम्पर्क** की कमी सिद्ध होती है सिन्धु-सभ्यता का अनस्तित्व नहीं।

लिपि विषयक साक्ष्य—ह्वीलर महोदय खुद यह मानते हैं कि सैन्धव लिपि सैन्धव सभ्यता के प्राचीनतम युग में भी पूर्णतः विकसित थी और सुमेरियन कीलाक्षर लिपि से भिन्न थी। स्पष्टतः **ऐसी विकसित लिपि** एक दो दशक में अस्तित्व में नहीं आ सकती थी। सुमेरियन लिपि को इतना विकसित रूप प्राप्त करने में लगभग पाँच सौ वर्ष लगे थे। अगर श्री ह्वीलर इतना ही समय सिन्धु-लिपि को भी दें तो उन्हें सिन्धु-सभ्यता की प्रारम्भिक तिथि २५०० ई० पू० के स्थान पर ३००० ई० पू० माननी होगी और अगर वह उर से प्राप्त उपर्युक्त मुद्रा को भी ध्यान में रखें तो इस तिथि को चौथी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में रखने को बाध्य होंगे। दूसरे, सिन्धु-लिपि सुमेरियन कीलाक्षर लिपि से भिन्न होते हुए भी

अम्नेतनस्त की लिपि से कुछ सादृश्य रखती है। इस तथ्य से भी सुमेरियन सभ्यता की प्राचीनता संकेतित है।

सारगोन की तिथि—ह्वीलर ने सारगोन की तिथि २३५० ई० पू० मानी है और भारतीय प्रागितिहास के विद्यार्थियों ने इसे एक निर्विवाद-सा तथ्य माना है। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि सुमेरो-बैबिलोनियन साक्ष्य का विश्लेषण करके हॉल आदि अनेक विद्वान् उसे २८००-२७५० ई० पू० में रखना अधिक समीचीन मानते हैं। और अगर यह मत सही है तो ह्वीलर महाशय को सैन्धव सभ्यता की प्रारम्भिक तिथि २५०० ई० पू० के स्थान पर २९०० ई० पू० माननी होगी। यह तथ्य अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है परन्तु जब कोई व्यक्ति सुमेरो-बैबिलोनियन इतिहास का अध्ययन हॉल आदि द्वारा समर्थित तिथिक्रम के अनुसार करता है और भारतीय सभ्यता का ह्वीलर द्वारा समर्थित तिथिक्रम के अनुसार, तो उसके मन में भ्रमपूर्ण धारणा बनने की आशंका हो जाती है।

सैन्धव सभ्यता की परिपक्वावस्था सुमेरियन सभ्यता की परिपक्वावस्था से प्राचीनतर—ह्वीलर का कहना है कि सारगोनी युग में सैन्धव सभ्यता परिपक्वावस्था प्राप्त कर चुकी थी। परन्तु यह वह युग था जब सुमेरियन सभ्यता का भी परिपक्व युग चल रहा था! सारगोन द्वारा स्थापित एकीकृत राज्य और विदेशी व्यापार की विकसित अवस्था इसका प्रमाण है। इसलिए न्यायतः ह्वीलर महाशय को सैन्धव सभ्यता के विकास के लिए कम से कम उतना समय तो देना ही चाहिए जितना सुमेरियन सभ्यता के विकास में लगा था। इतना ही नहीं उन्हें सैन्धव सभ्यता का उदय सुमेरियन सभ्यता के उदय से कुछ पहले रखना चाहिए क्योंकि सुमेर में सैन्धव मुद्राएँ और अन्य पुरावशेष अपेक्षया प्रचुर संख्या में मिलते हैं जबकि सिन्धु-प्रदेश में मिलने वाले सुमेरियन पुरावशेष अत्यल्प हैं। इससे लगता है कि यह सम्पर्क सैन्धवों के प्रयास का परिणाम था। दूसरे शब्दों में सारगोनी युग में भी उनकी सभ्यता सुमेरियन सभ्यता से अधिक परिपक्व हो चुकी थी।

सुमेरियन इतिहास और आख्यानों का साक्ष्य—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सिन्धु-सभ्यता सुमेरियन सभ्यता से अपेक्षया प्राचीनतर थी। इसलिए इसका जन्म चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ में—मार्शल के शब्दों में ३२५० ई० पू० से 'कई लम्बी शताब्दियों पहले'—रखना अधिक श्रेयस्कर होगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अगर सिन्धु और सुमेरियन सभ्यताओं में किसी एक ने दूसरी को प्रभावित किया था, तो यह श्रेय सैन्धव सभ्यता को दिया जाना चाहिए। स्वयं सुमेरियन इतिहास और पुरातन आख्यानों से इसका समर्थन होता है।

बेरोसॉस द्वारा उल्लिखित एक प्राचीन आख्यान के अनुसार ओआनिज नामक देवता ने, जो समुद्री मार्ग से आया था, सुमेर के निवासियों को सभ्य बनाया। पश्चिमी एशिया के मानचित्र पर एक दृष्टि डालते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि सुमेर के समीप केवल भारत ही ऐसा देश है जहाँ से सुमेरियनों को सभ्य बनाने वाले लोग समुद्री मार्ग द्वारा जा सकते थे। इसी प्रकार **ओल्ड टेस्टामेन्ट** में कहा गया है कि 'वे पूर्व से आये और शिनार (सुमेर) में बस गये'। सम्भवतः यह संकेत भी सुमेरियनों की ओर ही है। **स्वयं सुमेरियन भी यह मानते थे कि** उनके देवता पूर्व में स्थित एक पर्वत पर रहते हैं। इन तथ्यों के प्रकाश में यह निष्कर्ष निकालना निराधार नहीं कहा जा सकता कि **'सभ्यता का भाव'** (आइडिया ऑव सिविलिजेशन) सुमेर से भारत नहीं आया (जैसा कि ह्वीलर महाशय मानते हैं), वरन् भारत से सुमेर गया था। **गॉर्डन चाइल्ड** के अनुसार "तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में सैन्धव सभ्यता बैबिलोनियन सभ्यता से अधिक विकसित थी। लेकिन यह (इस) भारतीय सभ्यता की एक परवर्ती अवस्था मात्र थी। हो सकता है कि यह प्राचीनतर युगों में भी ऐसे ही आगे रही हो। तब क्या वे खोज और आविष्कार जो पुरा-सुमेरियन सभ्यता का लक्षण हैं, बैबिलोनिया में हुआ स्वदेशी विकास न होकर भारतीय प्रेरणा का परिणाम थे। अगर ऐसा था, तो क्या खुद सुमेरियन भारत से आये थे ?" **हॉल और हेरास** महोदय तो इस विषय में दृढ़ मत हैं कि सुमेरियन मूलतः भारत के ही निवासी थे। उनके इस विश्वास का समर्थन हैड्रोन, क्रोली और हाल ही में क्रेमर ने भी किया है।

सैन्धव सभ्यता का विलोप और आर्यों का आगमन

सैन्धव सभ्यता का अन्त और सैन्धवोत्तर संस्कृतियाँ—सिन्धु-सभ्यता का प्रभाव-क्षेत्र बहुत विस्तृत था, इसलिए इसका ह्रास तथा इसके भौतिक पक्ष के विलोप का चित्र सर्वत्र समान नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि (१) **सिन्धु की घाटी में** इसका लगातार आने वाली बाढ़ों के कारण क्रमशः ह्रास होता गया जिसके परिणामस्वरूप इसके निर्माता विजातीय आक्रमणकारियों का सफल प्रतिरोध न कर सके। मोहनजोदड़ो के परवर्ती युगों में वर्द्धमान ह्रास और अन्तिम विनाश दोनों के निश्चित संकेत मिलते हैं। (२) **हड़प्पा में** सैन्धव-सभ्यता के ऊपर **'कब्रिस्तान एच'** नामक सैन्धवोत्तर संस्कृति के अवशेष मिलते हैं और (३) **चन्हुदड़ो में 'झूकर' और 'झंगर'** संस्कृतियों के। इन संस्कृतियों की तिथियां अज्ञात हैं परन्तु इतना निश्चित है कि इनकी निर्माता जातियां सैन्धवों की तुलना में बहुत पिछड़ी हुई थीं। (४) **सौराष्ट्र में** सैन्धव सभ्यता का

क्रमशः ह्रास के साथ रूपान्तरण होता गया, विनाश नहीं हुआ। लोथुल और रंगपुर के साक्ष्य से यह स्पष्ट हो जाता है। रंगपुर में तो अन्तिम युग (प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० का प्रारम्भ) तक पहुँचते-पहुँचते इसका रूप पूर्णरूपेण बदल जाता है। (५) **पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश को** सैन्धवों के पश्चात्, यद्यपि कुछ अन्तराल के उपरान्त, **'चित्रित स्लेटी भाण्ड' (पेन्टिड ग्रे वेयर) संस्कृति** के निर्माताओं ने अधिकृत कर लिया। इस संस्कृति का प्रभाव रूपड़ से लेकर कौशाम्बी तक विस्तृत मिलता है। हाल ही में गोरखपुर के निकट स्थित सोहगौरा से भी इसके कुछ ठीकरे मिले हैं। इसकी तिथि ११०० से ५०० ई० पू० तक मानी गई है। इसके निर्माता मुख्यतः कृषक और पशुपालक थे, मिट्टी, कच्ची ईंटों तथा नरकुल से बने मकानों में रहते थे तथा ताम्र और अश्व से परिचित थे। लोहे से उनका परिचय इस संस्कृति के अन्तिम युग मे हुआ प्रतीत होता है। इस प्रसंग में **'कोपर होर्ड्स'** नाम से विख्यात ताम्र की कुल्हाड़ियों, तलवारों, हार्पूनों तथा मानवाकृतियों आदि उन वस्तुओं की चर्चा भी आवश्यक है जो मुख्यतः गंगा की घाटी में परन्तु यत्र-तत्र आन्ध्र प्रदेश तक उपलब्ध हुई हैं। इनकी तिथि अनिश्चित है, लेकिन हस्तिनापुर में श्री बी० बी० लाल द्वारा किए उत्खनन मे संकेत मिलता है कि ये 'पेन्टिड ग्रे वेयर' से प्राचीनतर हो सकती हैं।

भारत में आर्यों का प्रवेश—प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन सैन्धवोत्तर संस्कृतियों के निर्माता कौन थे और उनका सैन्धव सभ्यता से क्या सम्बन्ध था। साहित्यिक परम्परा के अनुसार भारत का प्राक्-बुद्ध युग वैदिक युग है। भारत में वैदिक आर्यों का प्रवेश कब हुआ यह ज्ञात नहीं है, लेकिन इस विषय में कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। क्योंकि यह हम निश्चित रूप से जानते हैं कि गौतम बुद्ध के आविर्भाव तक सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की रचना सम्पन्न हो चुकी थी और इतने विशाल साहित्य का सृजन कम से कम एक सहस्र वर्ष में सम्पन्न हुआ होगा, इससे लगता है कि आर्यों का भारत में प्रवेश दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध में किसी समय हुआ। स्थूलतः यही वह समय था जब बैबिलोनिया में कसाइट, एशिया माइनर में हित्ती और यूनान में एकियन प्रविष्ट हुए थे। भारत में भी इसी युग में ह्रासोन्मुख सैन्धव सभ्यता का पतन हो रहा था। इसलिए यह सम्भावना अपने आप उत्पन्न हो जाती है कि सैन्धव सभ्यता के विनाश का कारण आर्यों का आक्रमण रहा होगा। ऋग्वेद में आर्यों द्वारा 'दास-दस्युओं' के 'पुरों' के विनाश के उल्लेख से इसका अतिरिक्तरूपेण समर्थन होता है (पृ० ५३५-३६)। लेकिन इसके बावजूद

उपर्युक्त सैन्धवोत्तर संस्कृतियों से आर्यों का सम्बन्ध जोड़ना बड़ा कठिन है। ह्वीलर ने आर्यों को "कब्रिस्तान एच" संस्कृति का निर्माता माना है तथा हीन गिल्डर्न और फेयरसर्विस ने झूकर संस्कृति का। लेकिन आर्य अगर "कब्रिस्तान एच" अथवा झूकर संस्कृति के निर्माता होते तो इन संस्कृतियों के अवशेष गंगा की घाटी में भी अवश्य मिलते। श्री लाल का कहना है कि भारत में आने वाले प्रारम्भिक आर्य 'पेन्टिड ग्रे वेयर' संस्कृति के निर्माता थे क्योंकि इस संस्कृति का प्रभाव ठीक उसी प्रदेश में और हस्तिनापुर, बरनावा, मथुरा, कुरुक्षेत्र, अहिछत्रा, तिलपट तथा कौशाम्बी जैसे उन स्थलों में मिलता है जो महाभारत की कथा से सम्बद्ध थे। लेकिन यह संस्कृति अगर प्राचीनतम आर्यों से सम्बद्ध होती तो इसके अवशेष सप्तसिन्धु प्रदेश में भी अवश्य मिलते क्योंकि भारत में प्रविष्ट होने के बाद आर्य सबसे पहले वहीं बसे थे। वास्तव में केवल गंगा की घाटी तक सीमित होने के कारण इस संस्कृति को विदेशी मानना ही पर्याप्त दुष्कर जान पड़ता है। दूसरे, यह संस्कृति महाभारत में वर्णित संस्कृति की तुलना में बहुत ही हीन कोटि की है। यह माना जा सकता है कि महाभारत में तत्कालीन संस्कृति का वर्णन अतिरंजित रूप में हुआ है, परन्तु इस स्वीकार से भी साहित्यिक और पुरातात्त्विक साक्ष्य का अन्तर पूरी तरह दूर नहीं होता।

वैदिक साहित्य

वेद—पुरातत्त्व से विशेष सहायता न मिलने के कारण वैदिक काल का अध्ययन मुख्यतः वैदिक साहित्य की सहायता से करना होता है, यद्यपि पुराणों में संगृहीत अनुश्रुतियों से भी इस विषय में कुछ सहायता मिल जाती है। श्रद्धालु हिन्दू वेदों को नित्य और अपौरुषेय मानते हैं। इनके 'द्रष्टा' गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि आदि **ऋषि** थे। अनुश्रुतियों के अनुसार कृष्ण द्वैपायन **व्यास** ने इनका संकलन, सम्पादन और वर्गीकरण किया था, इसलिए वह वेदव्यास कहलाए। वेद संख्या में चार हैं : **ऋग्वेद**, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनमें प्रत्येक के चार भाग हैं : संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। **संहिता** का शाब्दिक अर्थ है संग्रह। इनमें देवताओं की स्तुति के मन्त्र हैं। **ब्राह्मण ग्रन्थों** में मन्त्रों की व्याख्या और यज्ञयाग का विस्तरशः वर्णन है। **आरण्यकों** में यज्ञों के आध्यात्मिक पक्ष की मीमांसा मिलती है। **उपनिषद्** ब्राह्मण साहित्य के अन्तिम विकास को सूचित करते हैं। ये वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग होने के कारण वेदान्त भी कहलाते हैं। इनका मुख्य विषय दर्शन है। आजकल उपलब्ध उपनिषदों की संख्या सौ से अधिक है। इनमें छान्दोग्य,

ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, तैतिरीय, प्रश्न, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर तथा ऐतरेय विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

आर्य और आर्येतर धाराओं का समन्वय : सैन्धव सभ्यता की परवर्ती भारतीय सभ्यता को देन—वैदिक साहित्य के अनुशीलन से हमें वैदिक धर्म और संस्कृति के विकास का परिचय मिलता है। परन्तु इसके विकास का अध्ययन करते समय हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह विकास केवल अन्तः विकास नहीं था अपितु **वैदिक और आर्येतर धाराओं के पारस्परिक प्रभाव का परिणाम** भी था। भारत से सैन्धव सभ्यता का विलोप उतनी पूर्णता से नहीं हुआ था जितनी पूर्णता से मिस्र से मिस्री और यूनान से मिनोअन सभ्यताओं का हुआ था। यह ठीक है कि इसके बाद भारत में अपनी सत्ता स्थापित करनेवाले आर्यों ने सैन्धव सभ्यता के भौतिक पक्ष की लगभग पूर्णतः उपेक्षा कर दी लेकिन धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में वे ऐसा न कर सके। वस्तुतः परवर्ती **हिन्दू धर्म में सैन्धव धर्म के जितने तत्त्व मिलते हैं उतने वैदिक धर्म के नहीं।** शैव और शाक्त सम्प्रदाय, लिंगोपासना, पीपल आदि वृक्षों और वृषभ आदि पशुओं की उपासना, जल की प्रभावशीलता में श्रद्धा, योग तथा मूर्त्ति पूजा इस प्रसंग में उदाहरणीय हैं। इतना ही नहीं यह भी असम्भव नहीं है कि परवर्ती भारतीय **ब्राह्मी लिपि** सैन्धव लिपि से ही उद्‌भूत हुई हो। **भौतिक क्षेत्र में** भी सैन्धव परम्पराएँ पूर्णतः विनष्ट नहीं हुईं, यह लोथल और रंगपुर आदि स्थलों में उनके कम-से-कम द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त तक बने रहने से और कौशाम्बी जैसे स्थलों से प्रकाश में आए तथ्यों से स्पष्ट होता जा रहा है।

ऋग्वेदिक अथवा पूर्व-वैदिक काल

ऋक्-संहिता—वैदिक साहित्य का प्राचीनतम अंश ऋक् संहिता है। इसे दस खण्डों में विभाजित किया गया है जिन्हें मण्डल कहते हैं। इनमें कुल मिला कर १०२८ सूक्त और १०,६०० मन्त्र हैं। **मैक्समूलर** के अनुसार इसकी रचना १२००-१००० ई० पू० के मध्य हुई थी। लेकिन इस सुझाव के स्वीकार से शेष वैदिक साहित्य की रचना के लिए कुल चार सौ वर्ष का समय बचता है जो इस साहित्य की विशालता को देखते हुए बहुत ही कम है। हमारे विचार से यह मानना अधिक समीचीन होगा कि **ऋग्वेद की रचना** द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध (२०००-१५०० ई० पू०) में किसी समय हुई, क्योंकि इससे एक **एक** ओर शेष वैदिक साहित्य की रचना के लिए आवश्यक समय मिल जायगा तो दूसरी ओर आर्यों के आक्रमण और सैन्धव सभ्यता के विलोप का सम्बन्ध भी

स्पष्ट हो जायगा। लेकिन यहाँ यह स्मरण रखना भी आवश्यक है कि ऋग्वेद के केवल प्रथम नौ मण्डल ही प्राचीन है। दशम मण्डल की रचना निश्चयतः उत्तर वैदिक काल में हुई प्रतीत होती है।
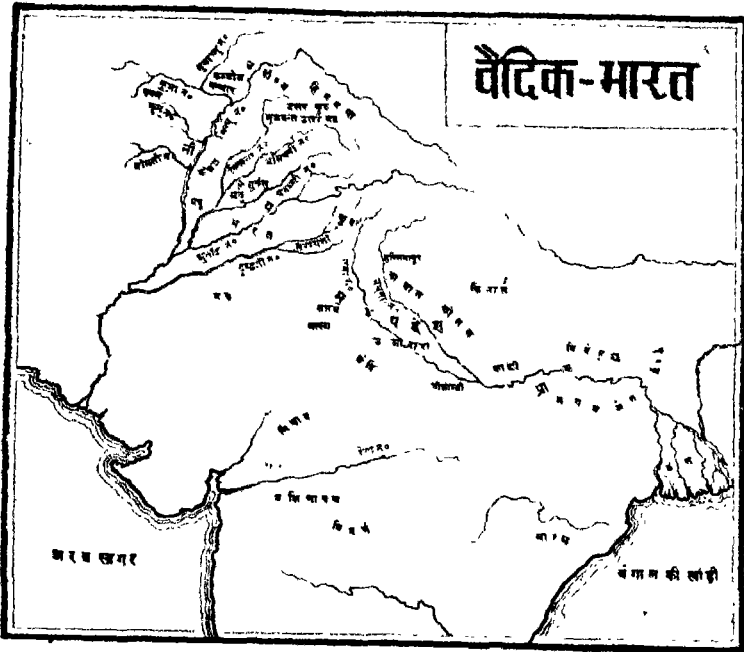
मानचित्र १

राजनीतिक और सैनिक व्यवस्था—ऋग्वेदिक आर्य कुभा से लेकर गंगा-यमुना तक विस्तृत प्रदेश से परिचित थे। लेकिन उनकी गतिविधि का केन्द्र था सप्तसिन्धु प्रदेश अथवा पंजाब (मानचित्र १)। इस युग में उनका राजनीतिक और आर्थिक संगठन बहुत कुछ होमरकालीन यूनानियों के संगठन के समान था। वे अनु, यदु, द्रुह्यु, तुर्वश और पुरु आदि अनेक पितृसत्तात्मक जनों अथवा कबीलों में विभाजित थे जो अपने राजाओं के नेतृत्व में परस्पर अथवा 'पुरों' में रहनेवाले अनार्य शत्रुओं के विरुद्ध संघर्ष करते रहते थे (पृ० ५३५)। ऋग्वेद में वर्णित दस राजाओं के युद्ध (दाशराज्ञ) में, जिसमें भरतों के राजा सुदास की विजय हुई थी, आर्यों के साथ अनार्य जनों ने भी भाग लिया था। लेकिन आर्य राजाओं की शक्ति निरंकुश नहीं थी। वे सम्भवतः जनता (विशः), के प्रमुख व्यक्तियों (राजकर्तारः) द्वारा चुने जाते थे, राज्याभिषेक के समय कुछ
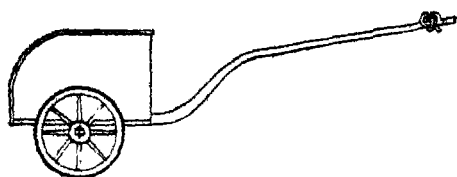
चित्र १४७ : वैदिक रथ का काल्पनिक चित्र
(पिगट के आधार पर)

प्रतिज्ञाएँ करते थे और शासन कार्य में पुरोहित तथा **सभा** और **समिति** नामक जन-संस्थाओं की सलाह लेते थे। क्योंकि राजा की भाँति राज-कर्तारः भी प्रायः **'राजानः'** कहे गए हैं, इससे लगता है कि वे अपने में से ही किसी व्यक्ति को राजा चुन लेते थे। राजा शासन व्यवस्था के अतिरिक्त युद्धों में **सैन्य संचालन** भी करते थे। इन युद्धों में अश्वचालित **रथों** का प्रयोग सामान्य बात थी (चि० १४७)। आर्य योद्धा अपने शरीर की कवच और शिरस्त्राण से रक्षा करते थे और शत्रु पर धनुष-बाण, तलवार, भाले और गोफन आदि से आक्रमण करते थे।

सामाजिक संस्थाएँ—ऋग्वेदिक आर्यों के सामाजिक संगठन की मूल-भूत इकाई **कुल** था जिसके सदस्य अपने पिता अथवा ज्येष्ठ भ्राता के अनुशासन में रहते थे। सन्तान के ऊपर पिता के अधिकार लगभग अबाध थे। **वैवाहिक सम्बन्ध** की मर्यादा स्थिर हो गई थी। यम-यमी संवाद से संकेतित है कि भाई-बहिन के विवाह की प्राचीन प्रथा का आर्य विरोध करते थे। विवाह प्रायः प्रौढ़ावस्था में किये जाते थे। एक विवाह की प्रथा अधिक प्रचलित थी परन्तु बहुविवाह अज्ञात न थे। विधवा-विवाह और नियोग प्रथाएँ प्रचलित थीं। स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी थी। पर्दा प्रथा अज्ञात थी। स्त्रियाँ पुरुषों के समान शिक्षा पाती थीं, वैदिक मन्त्रों की रचना करती थीं और परिवार में कन्या और माता के रूप में स्नेह और सम्मान पाती थीं और पत्नी रूप में गृहस्वामिनी होती थीं। लेकिन **पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र** ही होता था, पुत्री नहीं।

आर्थिक व्यवस्था—ऋग्वेदिक आर्य **मुख्यतः कृषक और पशुपालक** थे। उनकी साधारण जनता **विशः** कहलाती थी। लेकिन उपर्युक्त राजन्य वर्ग और पुरोहित जो अपने विशिष्ट धन्धों को वंशानुगतरूपेण अपनाने लगे थे, पृथक् वर्ग बनने लगे थे। आर्यों ने बहुत से उद्योग-धन्धों का विकास भी कर लिया था। ऋग्वेद में तक्षन् (बढ़ई), हिरण्यकार (सुवर्णकार) चर्मकार (चमार) तथा भिषक् (वैद्य) आदि दस्तकारों का उल्लेख मिलता है। लेकिन **वर्गभेद** **उत्पन्न हो जाने पर वर्णभेद अज्ञात था।** **व्यापार** की प्रगति भी थोड़ी बहुत प्रारम्भ हो गई थी। वस्तुएँ प्रायः अदली-बदली जाती थीं अथवा उनका गायों

या 'निष्क' (सुवर्ण के निश्चित तौल के टुकड़े ?) के रूप में मूल्य आँका जाता था। समुद्री व्यापार के भी संकेत मिलते हैं।

ऋग्वैदिक देवतत्त्व—वैदिक आर्यों का धर्म **बहुदेववादी** था। उनके अधिकांश देवता जैसे सूर्य, अग्नि, वायु, उषा आदि विभिन्न **प्राकृतिक शक्तियों का दैवीकरण** थे। वे तेज और प्रकाश के प्रतीक तथा उदार, सर्वज्ञ, कृपालु और अमर माने जाते थे। उनकी कल्पना मानव रूप में की गई थी, लेकिन सब देवताओं का **मानवीकरण** समानरूपेण पूर्णता प्राप्त नहीं कर पाया था। इस दृष्टि से वैदिक धर्म यूनानी धर्म से कुछ भिन्न था, क्योंकि यूनान में देवताओं का मानवीकरण भारत से बहुत आगे बढ़ गया था। देवताओं के व्यक्तित्व में स्पष्टता के अभाव के कारण वैदिक ऋषि उनमें प्रायः समान गुणों का आरोपण कर देते थे और स्तुति करते समय किसी भी देवता को सर्वोच्च घोषित कर देते थे। मैक्समूलर ने इस प्रवृत्ति को **'हेनोथीज़्म'** नाम दिया है। बहुत से ऋषि **समान गुणोंवाले देवताओं का एक साथ उल्लेख** भी कर देते थे—जैसे द्यावापृथिवी, मित्रावरुण, मरुद्गण, आदित्यगण तथा अश्विनीकुमार आदि। इतना ही नहीं कुछ ऋषि तो बहुदेववाद को ही चुनौती देने लगे थे। प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त के रचयिता ने स्पष्टरूपेण उस 'एक सत्' की कल्पना की है 'जिसे ज्ञानी लोग इन्द्र, मित्र, वरुण अग्नि, यम तथा मातरिश्वा आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं। इस प्रवृत्ति को एकेश्वरवाद कहा जाता है।

देवताओं का वर्गीकरण—ऋग्वेदीय देवताओं को सामान्यतः तीन वर्गों में बाँटा जाता है। (१) **आकाशीय अथवा स्वर्गीय देवता**, जैसे द्यौस्(आकाश), सूर्य, वरुण, मित्र (ईरानी मिथ्र), सवितृ, पूषन, विष्णु आदि। इनमें सर्वोच्च स्थान वरुण को प्राप्त था। उसे **ऋत का स्वामी** कहा गया है। उसकी मूल प्राकृतिक शक्ति अज्ञात है। ओल्डनबर्ग ने उसे चन्द्रदेव माना है, कीथ ने आकाश देव और पं० क्षे० च० चट्टोपाध्याय ने सूर्य का रात्रि रूप। (२) **अन्तरिक्षीय देवता**, जैसे रुद्र, इन्द्र, और वात। **रुद्र** 'झंझावात के साथ आनेवाले विद्युत्धारी घने काले मेघों' का दैवीकरण थे। इन्द्र की मूल प्राकृतिक शक्ति क्या थी, यह स्पष्ट नहीं है। वह वैदिक देवताओं के सर्वाधिक मानवीकरण का उदाहरण है। मैक्डोनल ने उसे तूफान का देवता माना है और पं० चट्टोपाध्याय ने शक्ति और बल का। कालान्तर में वह वृष्टि का देवता बन गया। ऋग्वेद में वह युयुत्सु आर्यों का राष्ट्र-देवता लगता है। वह वज्रधारी है, दास-दस्युओं के पुरों का विध्वंस करता है (पृ० ५३५) और वृत्र को मारकर जलों को उन्मुक्त करता है (पृ० ५३६)। (३) **पृथिवी के देवताओं में अग्नि प्रधान है।** वह

ऋग्वेद के प्रधान देवताओं में से एक है। उसकी उपासना तीन रूपों में की गई है—आकाश में सूर्य रूप में, वायु में विद्युत् रूप में और पृथिवी पर सामान्य अग्नि रूप में। इस वर्ग के देवताओं में स्वयं **पृथिवी** के अतिरिक्त सोम **बृहस्पति** भी उल्लेखनीय हैं।

पूजा-विधि और नैतिक दर्शन—ऋग्वेद में एक स्थल पर दस गायें देकर इन्द्र की प्रतिमा लेने का उल्लेख है जिससे लगता है कि ऋग्वेदिक आर्य मूर्त्ति पूजा से परिचित थे; लेकिन उनका धर्म मूलतः यज्ञ धर्म था। यज्ञों में देवताओं को प्रसन्न करके के हेतु अन्न, क्षीर, घृत, मांस और सोमादि की आहुतियाँ दी जाती थीं और ऋचाओं से उनका स्तवन किया जाता था। इनके बदले में देवताओं से दीर्घायु, पुत्र, शत्रु-विनाश और धन-धान्यादि प्रदान करने की आशा की जाती थी। दूसरे शब्दों में यज्ञधर्म प्रवृत्तिमार्गी था और विशुद्ध लेन-देन की भावना पर आधृत था। तपस्या, पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त आदि का विकास इस युग में नहीं हो पाया था। लेकिन आर्यों की नैतिक भावना भी पर्याप्त विकसित थी। इसका प्रमाण है **ऋत की अवधारणा**। ऋत वे विश्व-व्यापी नियम थे जिनसे स्वयं देवता भी बँधे हुए माने जाते थे। इनका नैतिक-पक्ष सत्य और न्याय था, धार्मिक-पक्ष यज्ञ और भौतिक-पक्ष वे **भौतिक** नियम जिनके अनुसार विश्व का संचालन हो रहा है। इसलिए ऋत के विरुद्ध कर्म करना पाप में प्रवृत्त होना माना जाता था।

उत्तर वैदिक काल : आर्य और आर्येतर धाराओं का समन्वय

आर्यों का प्रसार—ऋग्वेदिक काल में आर्यों की गतिविधि का केन्द्र सप्तसिन्धु प्रदेश था। उत्तर वैदिक काल में जब ऋग्वेद के दशम मण्डल, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों की रचना हुई, उनकी गतिविधि का केन्द्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश के **कुरु पञ्चाल** राज्य हो गए, यद्यपि वे पूर्व में **कोसल** को पार **कर के विदेह** तक भी पहुँच गए थे। अपने प्रसार की इस प्रक्रिया में उन्होंने जंगलों, नदियों और पर्वतों को पार करके सुदूरस्थ प्रदेशों में अपने **उपनिवेश** स्थापित किए। बहुत से आर्य जन तो विन्ध्य पर्वत माला पार करके दक्षिणापथ में प्रविष्ट होने में भी सफल हुए। इस बीच में उन्होंने अनेक लघु और विशाल राज्य स्थापित किए और परस्पर तथा आर्येतर समूहों के विरुद्ध युद्ध लड़े। **मगध** में उनके प्रसार की कथा सम्भवतः पाण्डव भीम द्वारा जरासन्ध के वध में छिपी हुई है। इसके फौरन बाद ही **महाभारत का प्रसिद्ध युद्ध**

लड़ा गया जिसने जनमानस पर गहरा प्रभाव डाला। इसकी स्मृति में बहुत से आख्यान और कथाएँ प्रचलित हो गईं।

वर्ण-व्यवस्था का उदय—जब आर्यों ने भारत में प्रवेश किया, वे अपने शत्रु अनार्यों की तुलना में अल्पसंख्यक थे और उन्हें अपने से सांस्कृतिक दृष्टि से हेय मानते थे। इसलिए उनके लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे अपने को उनसे पृथक् रखने की चेष्टा करते। लेकिन एक बार स्थायी रूप से भारत में बस जाने के पश्चात् आर्येतर जातियों के सम्पर्क से पूर्णतः बचे रहना इच्छित होते हुए भी असम्भव था। इस समस्या को हल करने के लिए **चातुर्वर्ण्य समाज** की अवधारणा रखी गई। इसका उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद के दशम मण्डल के **पुरुषसूक्त** में मिलता है। ऋग्वेदिक युग में **ब्राह्मण** और **राजन्य** शनैः शनैः साधारण जनता—**विशः**—से पृथक् होकर वर्गों के रूप में परिणत होने लगे थे। उत्तर वैदिक काल में चौथा वर्ग—**शूद्र**—अस्तित्व में आया। इस वर्ग में निश्चित रूप से आर्येतर तत्त्व का प्राधान्य था। आर्थिक दृष्टि से शूद्र वर्ग सर्वाधिक आदिम वर्ग था, परन्तु वैदिक समाज के विकास में उनका आगमन सबसे अन्त में हुआ। इससे स्पष्ट है कि उनका आविर्भाव किसी नए वर्ग का आविर्भाव नहीं वरन् वैदिक समाज में एक नये समूह का प्रवेश था। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सभी आर्येतर समूह शूद्र घोषित कर दिए गए। जैसा कि देखा जा चुका है बहुत-सी आर्येतर जातियाँ आर्यों से अधिक प्रगतिशील थीं, इसलिए जब विशिष्ट वर्ग अस्तित्व में आने लगे तब मैत्री सम्बन्धों और अन्तरविवाहों के कारण राजन्य वर्ग में अनेक अनार्य राजाओं का और ब्राह्मण वर्ग में बहुत से अनार्य पुरोहितों का स्वीकार अवश्यम्भावी था। इसी प्रकार अनेक धनी अनार्य जन विशः में सम्मिलित मान लिए गए होंगे। लेकिन इसके बावजूद यह निश्चित है कि अधिकांश आर्येतर समूह वैदिक समाज के उच्चतर वर्गों की परिधि के बाहर रहे और शूद्र वर्ग में परिगणित हुए।

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उत्तर वैदिककालीन वर्ण-व्यवस्था में काफी लोच था और यह परवर्ती युग की कठोर जाति-व्यवस्था का रूप धारण नहीं कर पायी थी। यद्यपि इस युग में भी वर्गगत मोह, अपने पेशों के रहस्यों को गुप्त रखने की इच्छा तथा अन्यान्य कारणों से प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों में विभाजित होता जा रहा था, तथापि जाति-प्रथा की तीन प्रमुख विशेषताएँ—भोजन-पान पर प्रतिबन्ध, अन्तरजातीय विवाहों का निषेध तथा जाति का कर्म के स्थान पर जन्म पर आधृत होना—अभी तक दृढ़ आधार नहीं

पा सकी थीं। सत्यकाम जाबाल, वत्स, कवश और व्यास इत्यादि के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं।

आर्थिक जीवन—आर्थिक दृष्टि से उत्तर वैदिककालीन आर्य भी मुख्यतः कृषक और पशुपालक थे, यद्यपि इस युग में **कृषिकर्म और पशुपालन** दोनों ही पहले से अधिक विकसित हो गए थे। उदाहरणार्थ इस युग में अनेक प्रकार के हलों का प्रयोग होने लगा था और जनक जैसे नरेश सहस्रों गोदान में देने लगे थे। इसके अतिरिक्त अनेकानेक **शिल्पों और व्यवसायों की उन्नति, लोहे के उपयोग के ज्ञान, मुद्रा-प्रणाली के** आविष्कार **तथा** लेखन-कला **के वर्द्धमान प्रयोग** के कारण इस युग में व्यापार की भी बहुत प्रगति हुई और इसके अन्त तक काशी, कौशाम्बी, राजगृह, वैशाली और श्रावस्ती आदि नगर नये युग के आविर्भाव की घोषणा करने लगे।

राजनीतिक व्यवस्था—उत्तर वैदिक काल के राजा ऋग्वेदिक राजाओं से अधिक सशक्त थे। अब उनका पद पैतृक सा हो गया था और उनमें साम्राजिक पद पाने की लालसा उत्पन्न हो गई थी। अब वे अधिराज, एकराट् और सम्राट् आदि विरुद धारण करते थे और अपने इन पदों की घोषणा करने के लिए **राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध जैसे यज्ञ कराते** थे। दौःपन्ति तथा सत्राजित शतानीक के नाम इस प्रसंग में उदाहरणीय हैं। लेकिन स्मरणीय है कि वे अब भी **पूर्णतः निरंकुश नहीं** थे क्योंकि अभी तक उनके निर्वाचन की प्रथा कम-से-कम सिद्धान्त रूप में जीवित थी, सभा और समिति का अस्तित्व बना हुआ था तथा अभिषेक के अवसर पर उन्हें धर्मानुसार शासन करने की प्रतिज्ञा करनी होती थी। उन्हें धर्म का स्रोत नहीं रक्षक मात्र माना जाता था।

उत्तर वैदिककालीन यज्ञ-धर्म—उत्तर वैदिक काल में वैदिक धर्म का अन्तःविकास भी हुआ और उस पर आर्येतर धर्म-धाराओं का प्रभाव भी पड़ा। इसके अन्तःविकास का चित्र हमें ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। ऋग्वेदिक युग में यज्ञ देवताओं को प्रसन्न करने के हेतु किए जाते थे और बड़े सरल तथा कम समय लेने वाले होते थे। उनमें पुरोहितों की आवश्यकता भी बहुत कम पड़ती थी। लेकिन उत्तर वैदिक काल में यज्ञ अधिकाधिक जटिल, खर्चीले और दीर्घ होते गए। कोई कोई यज्ञ तो महीनों और वर्षों चलने लगे। अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय आदि यज्ञों का प्रचलन भी इसी युग में हुआ। इतना ही नहीं इस युग में **यज्ञों को स्वयं देवताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा**। उदाहरणार्थ शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि यज्ञ से ही विश्व का सृजन होता है और देवताओं को तेज और शक्ति मिलती है। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता में इन्हें विश्व की

भौतिक और नैतिक व्यवस्था का मूलाधार कहा गया है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप आरण्यकों में यज्ञ धर्म की आध्यात्मिक व्याख्या की गई।

देवतत्त्व—उत्तर वैदिक काल में ऋग्वेदिक देवताओं की उपासना होती रहती है, परन्तु कुछ परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक, इन्द्र और वरुण आदि देवता जो ऋग्वेदिक काल में प्रधान थे, गौण होने लगे और उनका स्थान **रुद्र-शिव, विष्णु और सूर्य** आदि लेने लगे। इस परिवर्तन का कारण वैदिक धर्म का अन्तःविकास ही नहीं सैन्धव आदि आर्येतर धर्मों का प्रभाव भी था। उदाहरणार्थ ऋग्वेदिक रुद्र ने सैन्धव 'शिव' को आत्मसात कर लिया। इससे वैदिक धर्म में **अम्बिका आदि देवियों का महत्त्व भी** बढ़ा। दूसरे, उत्तर वैदिक काल में ऋग्वेद में ही बीजरूप में दिखाई देने वाली एकेश्वरवादी विचारधारा सबलतर और विकसित हुई और विश्व के मूल तत्त्व के विषय में चिन्तन किया जाने लगा। ऋग्वेद के दशम मण्डल के **पुरुषसूक्त** में सृष्टि का कारणभूत मूल तत्त्व विराट पुरुष को और **नासदीय सूक्त में** अव्यक्त 'तदेकम्' को बताया गया है। यही विचार कालान्तर में उपनिषदीय दर्शन के रूप में प्रस्फुटित हुए।

उपनिषदीय दर्शन—यों तो उपनिषदों में अनेक विचार धाराओं का प्रतिपादन मिलता है, परन्तु इनकी शिक्षा का सारांश है ब्रह्म और आत्मा की अभिन्नता का सिद्धान्त। इसके अनुसार समस्त विश्व में व्याप्त नित्य तत्त्व जो विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का मूल कारण है, ब्रह्म है। इसी प्रकार व्यक्ति के 'स्व' का भी एक मूल तत्त्व है जिसे आत्मा कहते हैं। उपनिषदों की मान्यता है कि विश्व का मूल तत्त्व ब्रह्म और व्यक्ति के 'स्व' का मूल आत्मा अभिन्न हैं। उपनिषदीय ऋषियों के सुप्रसिद्ध वाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) तथा 'तत्त्वमसि' (तुम ही वह अर्थात् ब्रह्म हो) इस सिद्धान्त के सारभूत हैं। जो व्यक्ति ब्रह्म अथवा आत्मा के सच्चिदानन्द (सत् + चित् + आनन्द) स्वरूप को जान लेता है वह संसार के बन्धन अर्थात् कर्मजनित आवागमन के चक्र से मुक्त होकर मोक्ष पा जाता है। लेकिन यह सफलता यज्ञों को सम्पन्न करने से नहीं तपस्या, साधना, त्याग, वैराग्य और ज्ञान से मिलती है।

उपनिषदीय दर्शन का मूल—उपनिषदों का यह निवृत्तिमार्गी दर्शन प्रवृत्तिमार्गी वैदिक यज्ञ-धर्म की धारा के विपरीत था। इसलिए इसे आर्यों पर पड़ने वाली निवृत्तिमार्गी विचार धारा का परिणाम माना जाता है। डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के अनुसार इस विचारधारा के मूल प्रतिपादक सम्भवतः केशीसूक्त आदि में उल्लिखित वे 'यति' और 'मुनि' थे जिन्हें उनकी अतिमानवीय यौगिक शक्तियों तथा विचित्र वेशभूषा के कारण ऋग्वेदिक ऋषि आश्चर्य की

दृष्टि से देखते थे। परवर्ती साहित्य में मुनि-श्रमण विचारधारा के वर्णन से संकेत मिलता है कि वे अनेकात्मवादी थे और संसार को दुःखों का कारण तथा साधना द्वारा आत्मा की मुक्ति को जीवन का चरम लक्ष्य मानते थे। बहुत से विद्वानों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मूलतः वैदिक सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु जैसा कि डॉ० पाण्डेय ने आग्रह किया है यह सिद्धान्त शरीर से पृथक् अजर-अमर आत्मा के अस्तित्व में विश्वास, कर्मवाद, सांसारिक सुखों के प्रति अनासक्ति और मोक्ष आदि कल्पनाओं से घनिष्ठतः सम्बद्ध है। लेकिन ये तत्त्व लौकिक सुखों की खोज में लगे हुए आर्यों के यज्ञधर्म में अकल्पनीय थे। इसलिए पुनर्जन्म और कर्मवाद को निवृत्तिप्रधान अवैदिक धारा के प्रभाव का परिणाम मानना चाहिए।

भारतीय संस्कृति के आदर्शों का उन्मेष—वैदिक धर्म पर अवैदिक विचार धारा के प्रभाव के बड़े गम्भीर परिणाम हुए। एक, कर्मवाद के कारण यज्ञधर्म का महत्त्व घटा, क्योंकि अब यह माना जाने लगा कि अगर कर्मफल निश्चित रूप से मिलना है तो उससे न यज्ञ करने से छुटकारा मिल सकता है न देवताओं की कृपा से। इसके स्थान पर अब तप को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा, जिससे आर्य जो पहले ब्रह्मचर्य और गृहस्थ इन दो ही आश्रमों को महत्त्व देते थे अब वानप्रस्थ और सन्यास पर भी जोर देने लगे। इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गी आर्य और निवृत्तिमार्गी आर्येतर धाराओं का समन्वय **आश्रम-व्यवस्था के आविर्भाव का कारण** बना। दूसरे, इसके कारण अमृतत्त्व की परिभाषा में परिवर्तन हुआ। पहले अमृतत्त्व का अर्थ माना जाता था इस लोक के जीवन का परलोक में नैरन्तर्य। परन्तु अब यह समझ लिया गया कि जो पारलौकिक जीवन लौकिक जीवन के अनुरूप होगा वह नश्वर होगा। इसलिए अब अमृतत्त्व का अर्थ हो गया आत्मा की प्रकृत्या अनश्वरता। इसके कारण धर्म, अर्थ और काम के साथ, जिन्हें आर्य मानव जीवन के मूलादर्श मानते थे मोक्ष को जोड़ दिया गया। यही कालान्तर में **'पुरुषार्थ चतुर्वर्ग'** सिद्धान्त रूप में विख्यात हुए। इस प्रकार उत्तर वैदिक काल प्रवृत्तिमार्गी आर्य विचार-धारा के निवृत्तिमार्गी आर्येतर विचार धारा के साथ समन्वय द्वारा भारतीय संस्कृति के 'मूलभूत आदर्शों के उन्मेष का युग' था।

२२

मगध का उत्कर्ष और धर्म-क्रान्ति

And whosoever, Anand, either now or after I am dead, shall be a lamp unto themselves and a refuge unto themselves, shall betake themselves to no external refuge, but holding fast to the Truth as their lamp, ... shall not look for refuge to any one besides themselves—it is they . . . . who shall reach the very topmost height ! But they must be anxious to learn.

—*Dialogues*, *iii*, 87.

राजनीतिक इतिहास

षोडस महाजनपद—उत्तर वैदिक काल के अन्त तक आर्य जनों अथवा कबीलों के परिभ्रमण का युग समाप्तप्रायः हो गया और वे विशिष्ट प्रदेशों में बस कर 'जनपदों' का रूप धारण करने लगे। छठी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में, जब मगध में बौद्ध और जैन धर्मों का उदय हुआ और पश्चिमोत्तर प्रदेश पर नवोदित हखामशी साम्राज्य के आक्रमण प्रारम्भ हुए (पृ० ५१३), समस्त भारत ऐसे ही जनपदों में विभाजित था। इनमें सोलह जनपदों को उनके महत्त्व के कारण 'महाजनपद' कहा जाने लगा था। अनेक बौद्ध और जैन ग्रन्थों में 'षोडस महाजनपदों' की सूची मिलती है। बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय के अनुसार ये महाजनपद थे—अंग, मगध, काशी, कोसल, मल्ल, वज्जि, वत्स, चेदि, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अवन्ति, गन्धार कम्बोज और अश्मक। इनमें कुछ की शासन व्यवस्था गणतन्त्रात्मक थी और शेष की राजतन्त्रात्मक। गणतन्त्र राज्यों में

इस पृष्ठ के ऊपर एक हखामशी रिलीफ-चित्र में दिखाए गए एक भारतीय का रेखाचित्र दिया गया है।

वज्जि और मल्ल संघ प्रमुख थे और राजतन्त्रों में **कोसल, वत्स, अवन्ति और मगध**। ये राजतन्त्र एक ओर परस्पर संघर्षरत थे तो दूसरी ओर गणतन्त्रों को आत्मसात करने की चेष्टा कर रहे थे। इनमें सफलता अन्ततोगत्वा मगध को प्राप्त हुई।

मगध साम्राज्य का विस्तार—मगध के उत्कर्ष का प्रारम्भ हर्यङ्क कुल के नरेश **श्रेणिक बिम्बिसार** (५४३--४९० ई० पू० ?) से होता है। वह गौतम बुद्ध और महावीर का समकालीन था। उसने अपनी राजधानी गिरिव्रज के स्थान पर राजगृह में स्थापित की, कोसल, लिच्छवि, विदेह, तथा मद्र राज्यों से विवाह-सम्बन्ध करके अपनी स्थिति को दृढ़ किया और अंग पर विजय प्राप्त करके मगध राज्य के विस्तार को द्विगुणित किया। उसके बाद उसके महत्त्वाकांक्षी पुत्र **कुणिक अजातशत्रु** ने कोसल से सफल संघर्ष किया और वज्जि तथा मल्ल गणराज्यों को पराजित कर आत्मसात किया। उसके बाद पाटलिपुत्र के संस्थापक उदायिन् और उसके उत्तराधिकारियों ने और तदनन्तर **शिशुनागवंशीय राजाओं** ने राज्य किया। इस बीच में मगध ने एक-एक करके वत्स, अवन्ति और कोसल आदि को अधिकृत कर लिया था। मगध के साम्राज्य का और विस्तार नन्दवंश के संस्थापक **महापद्मनन्द** के शासन काल में हुआ। पुराणों के अनुसार वह बहुत लोभी परन्तु बलवान और परशुराम के समान क्षत्रियों का संहार करनेवाला था। उसने इक्ष्वाकु, पंचाल, कौरव, हैहय, एकलिंग, शूरसेन, मिथिला तथा अन्यान्य राज्यों को जीतकर हिमालय और विन्ध्य के बीच एकच्छत्र राज्य किया। उसके अन्तिम उत्तराधिकारी **धननन्द** के समय पश्चिमोत्तर भारत पर एलेक्ज़ेण्डर का आक्रमण हुआ (पृ० ४७१-७२) जिससे उत्पन्न अव्यवस्था और असन्तोष का लाभ उठाकर **चन्द्रगुप्त मौर्य** नामक एक साहसी राजकुमार ने अपने गुरु **चाणक्य** की सहायता से अपनी शक्ति बढ़ा ली और ३२१ ई० पू० में मगध को अधिकृत कर लिया।

धर्म और दर्शन

वैष्णव और शैव सम्प्रदाय—उत्तर वैदिक काल में यज्ञ धर्म के दुरूह और व्ययशील हो जाने और निवृत्तिमार्गी आर्येतर विचार धाराओं के प्रभाव के कारण उपनिषदीय दर्शन का उदय हुआ था (पृ० ५७०-७१)। परन्तु उपनिषदों का अमूर्त ब्रह्म और शुष्क उपासना-विधि सामान्य जनों के लिए रुचिकर नहीं थे। इसलिए उपनिषदीय दर्शन के साथ कुछ ऐसे सम्प्रदाय भी उदित हुए जो जन-मानस के अनुकूल थे। ये सम्प्रदाय दो प्रकार थे। एक वे जिन्होंने वैदिक धर्म

का खुला प्रतिरोध न कर किसी पुराने देवता अथवा देवी को केन्द्र बनाकर नये सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया और दूसरे वे जो वैदिक धर्म का खुला प्रतिरोध करने लगे। पहले वर्ग के सम्प्रदायों में वैष्णव और शैव सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं। शैव सम्प्रदाय का उदय उत्तर वैदिक काल में ऋग्वेदिक रुद्र द्वारा सैन्धव 'शिव' के तत्त्व आत्मसात कर लेने पर हुआ। श्वेताश्वतर उपनिषद् की रचना होने तक शिव 'महादेव' माने जाने लगे थे। वैष्णव सम्प्रदाय के सर्वोच्च देवता विष्णु की महत्ता के चिह्न खुद ऋग्वेद में मिलते हैं। उत्तर वैदिक काल में कुछ लोग उन्हें सर्वोच्च देवता मानते थे। उस समय उनका सम्बन्ध भक्ति के स्थान पर यज्ञधर्म से अधिक था। लेकिन वेदोत्तर काल में उनको नारायण और वासुदेव-कृष्ण से अभिन्न माना जाने लगा, जिससे यह सम्प्रदाय भक्तिमार्गी होने लगा। इस सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ गीता की रचना सम्भवतः छठी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में हुई थी। इसमें भगवान कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए निष्काम कर्मयोग का उपदेश वर्णित है।

जैन धर्म : पार्श्वनाथ—वेद-विरोधी धर्मों में सर्वप्रथम जैनधर्म का उल्लेख होना चाहिए। जैनियों के अनुसार उनके चौबीस तीर्थंकर हुए हैं जिनमें तेईसवें तीर्थंकर **पार्श्वनाथ** की ऐतिहासिकता प्रायः मानी जाती है। वह सम्भवतः नवीं शती ई० पू० में आविर्भूत हुए थे। उन्होंने वेदों की अपौरुषेयता का खण्डन तथा हिंसात्मक यज्ञों और जाति-व्यवस्था का विरोध किया और अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) तथा अपरिग्रह (सम्पत्ति त्याग) पर बल दिया। छठीं शताब्दी ई० पू० में भगवान् महावीर ने उनके द्वारा प्रवर्तित मत को संशोधित कर के जैन धर्म का रूप दिया।

महावीर : जीवन और उपदेश—महावीर का जन्म ५९९ ई० पू० में वैशाली के समीप स्थित कुण्डग्राम के एक क्षत्रिय परिवार में हुआ था। लिच्छवि गणाध्यक्ष चेटक की बहिन त्रिशला उनकी माता थीं। तीस वर्ष की आयु में उन्होंने गृहत्याग किया और तदुपरान्त तेरह वर्ष तक तपस्या करके जम्भियग्राम के निकट शालवृक्ष के नीचे 'कैवल्यज्ञान' प्राप्त किया। अपनी आयु के शेष वर्ष (मृत्यु ५२७ ई० पू०) उन्होंने कोसल, अंग, वज्जि, मगध और अन्य राज्यों में **धर्म-प्रचार** और **जैन संघ** को सुसंगठित करने में लगाए। उनका कहना था कि सभी सांसारिक सुख नश्वर और दुःखमूलक हैं। इस दुःख का मूल है तृष्णा और तृष्णा का मूल है कर्म का बन्धन। इस बन्धन से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने **त्रिरत्न** का उपदेश दिया। **पहला रत्न है सम्यक् आचरण।** इसके अन्तर्गत उन्होंने पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह

के साथ ब्रह्मचर्य को जोड़ दिया। दूसरा रत्न है सम्यक् श्रद्धा, जिसके द्वारा जीव अर्थात् आत्मा, जो संख्या में अनेक हैं, अजीव अथवा भौतिक पदार्थ के बन्धन से मुक्ति पाते हैं। तीसरा रत्न है सम्यक् ज्ञान। महावीर के अनुसार ज्ञान की अनेक कोटियाँ होती हैं, इसलिए कोई भी दृष्टिकोण न पूर्णतः ठीक होता है न पूर्णतः गलत। इस सिद्धान्त को **स्याद्वाद या अनेकान्तवाद** कहते हैं।

बौद्ध धर्म

बुद्ध—महावीर के कनीयस् समकालीन धर्म सुधारक गौतम बुद्ध का जन्म ५६३ ई० पू० में आधुनिक गोरखपुर के समीप स्थित लुम्बिनी नामक वन में हुआ था। उनके पिता शुद्धोधन शाक्य गण के 'राजा' थे। अनुश्रुतियों के अनुसार गौतम को राजपुत्रोचित शिक्षा मिली और विवाह यशोधरा अथवा गोपा नामक राजकुमारी से हुआ। लेकिन गौतम की आसक्ति सांसारिक सुखों में न थी। २९ वर्ष की आयु में उन्होंने **गृह-त्याग** कर दिया और आलार-कालाम तथा उद्दक रामपुत्त आदि धर्माचार्यों के पास रहकर **साधना** की और तदनन्तर उरुवेला के वन में छः वर्ष कठोर तप किया। लेकिन इनसे भी उनके मन को शान्ति नहीं मिली। इसके बाद उन्होंने तपश्चर्या का परित्याग कर दिया और एक नवीन परन्तु सरलतर साधना प्रारम्भ की। इस बार वह सफल हुए और उन्हें गया के समीप एक वृक्ष के नीचे **'सम्बोधि'** प्राप्त हुई। तब से वह 'बुद्ध' कहलाए। अपने जीवन के शेष ४५ वर्ष उन्होंने भी धर्म-प्रचार में व्यतीत किए। सबसे पहला उपदेश उन्होंने सारनाथ में दिया था। इस घटना को 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' कहा जाता है। उनके **शिष्यों और श्रद्धालु भक्तों** में बिम्बिसार, अजातशत्रु, प्रसेनजित, उपालि, सारिपुत्त, मौद्गल्यायन तथा आनन्द आदि प्रसिद्ध हैं। ८० वर्ष की आयु में कुशीनगर के समीप उनका 'परिनिर्वाण' हुआ।

धम्म—भगवान् बुद्ध आत्मा, परमात्मा आदि प्रश्नों पर विचार करना अनावश्यक मानते थे। इनकी वह **'दस अकथनीय'** विषयों में गणना करते थे। उनके अनुसार मुख्य समस्या दुःख की समस्या है जिस पर विचार कर के उन्होंने **चार आर्य सत्यों** का प्रतिपादन किया। ये हैं दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध तथा दुःख-निरोध का मार्ग।

(१) **दुःख :** भगवान् बुद्ध के अनुसार विश्व दुःखों से परिपूर्ण है। जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु सभी दुःख हैं। जो बातें हमें सुखमय लगती हैं वे भी क्षणिक होने के कारण दुःख का कारण होती हैं।

(२) **दुःख-समुदय :** बुद्ध ने दुःख की समस्या पर **प्रतीत्य-समुत्पाद सिद्धान्त** के आलोक में विचार किया। इस सिद्धान्त के अनुसार हर कार्य का

कोई न कोई कारण होता है। इस नियम की विश्वजनीनता में श्रद्धा के कारण ही बुद्ध की उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित अजर-अमर आत्मा की सत्ता में आस्था नहीं थी। इस सिद्धान्त को दुःख की समस्या पर लागू करके उन्होंने घोषित किया कि दुःख का मूल कारण है अविद्या जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य अपने को शरीर या मन से अभिन्न मानकर रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श तथा भावनाओं में आसक्त हो जाता है। इससे तृष्णा का उदय होता है जिसके फल उसे अपने बन्धन में जकड़ लेते हैं।

(३) **दुःख-निरोध**--प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के अनुसार यदि कारण को दूर कर दिया जाय तो फल अपने आप दूर हो जाता है—वैसे ही जैसे रोग के कारण का निरोध कर देने पर रोग चला जाता है। इसलिए दुःख को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि दुःख के कारण—अविद्या, तृष्णा और कर्म के बन्धन—को दूर किया जाय।

(४) **दुःख-निरोध का मार्ग**—बुद्ध के अनुसार अविद्या, तृष्णा और कर्म के बन्धनों को शील, समाधि और प्रज्ञा स्कन्धों द्वारा दूर किया जा सकता है। शील अर्थात् करुणा, अहिंसा तथा मैत्री आदि से कर्म नियन्त्रित होते हैं तथा समाधि से मन में एकाग्रता आती है जिससे तृष्णा का अन्त होता है। मन की एकाग्रता से प्रज्ञा का उदय भी होता है जिससे अविद्या तिरोहित हो जाती है। डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के अनुसार भगवान् बुद्ध ने दुःख-निरोध के मार्गरूप में केवल प्रज्ञा, शील और समाधि का ही उपदेश दिया था। कालान्तर में इनका 'अष्टांगिक मार्ग' के रूप में विकास किया गया। प्रज्ञा के तीन अंग हैं : सम्यक् दृष्टि (चार आर्य सत्य का दर्शन), सम्यक् संकल्प (हिंसा और कामना से रहित संकल्प) तथा सम्यक् वाक् (सत्य और प्रिय वचन)। शील के अन्तर्गत सम्यक् कर्मान्त (सत्कर्म) तथा सम्यक् आजीव (जीवन यापन की उचित प्रणाली) परिगणित किए गए हैं। समाधि स्कन्ध में सम्यक् व्यायाम (आत्मोन्नति के लिए प्रयत्न), सम्यक् स्मृति (अपनी दुर्बलताओं का स्मरण) तथा सम्यक् समाधि (चित्त की एकाग्रता) को गिना गया है। इस मार्ग के अवलम्बन से अविद्या का नाश और तृष्णा का अन्त हो जाता है और कर्म नियन्त्रित हो जाते हैं। इससे मनुष्य सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसी स्थिति को बुद्ध ने **निर्वाण** कहा है। 'निर्वाण' का शाब्दिक अर्थ है दीपक की तरह 'बुझ जाना'। यह स्थिति मनुष्य जीवितावस्था में ही प्राप्त कर सकता है। खुद भगवान् बुद्ध 'निर्वाण' प्राप्ति के उपरान्त पैंतालीस वर्ष तक जीवित रहे थे।

संघ, संगीतियाँ और साहित्य—भगवान् बुद्ध के उपदेश मुख्यतः

नैतिक थे। उनके उपदेशों को मध्यम-मार्ग भी कहा जाता है। उनके शिष्य दो प्रकार के थे—भिक्षु-भिक्षुणियाँ और सामान्य उपासक। भिक्षु-भिक्षुणियाँ वर्षाकाल छोड़कर पूरे वर्ष 'धम्म' के प्रचार के लिए घूमते रहते थे। भगवान् के परिनिर्वाण के उपरान्त राजगृह में एक संगीति (काउंसिल) आयोजित की गई थी। इसमें 'धम्म' और 'विनय' (अनुशासन) पर बुद्ध-वचनों को दोहराया गया। यह बौद्धों के धर्म ग्रन्थों 'त्रिपिटक' का प्रारम्भ था। त्रिपिटक का अर्थ है तीन पिटारे। इनमें बौद्धों के विनय, धम्म और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों का संकलन है। इन्हें क्रमशः विनय पिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्म पिटक कहा जाता है। इनमें अभिधम्म पिटक अपेक्षया बाद का है जब कि पहले दो पिटकों के काफी ग्रन्थ अशोक (३री शती ई० पू०) के शासन काल तक अस्तित्व में आ चुके थे। बौद्धों की दूसरी संगीति पहली संगीत के सौ वर्ष उपरान्त वैशाली में बुलाई गई जिसमें बौद्ध संघ दो भागों में बँट गया—थेरवादी और महासांघिक। महासांघिक सम्प्रदाय से ही कालान्तर में महायान बौद्ध धर्म विकसित हुआ।

अन्य सम्प्रदाय—वेदोत्तर काल में उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य अनेक सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। इनमें चार्वाक और आजीवक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चार्वाक वेदों की अपौरुषेयता और कर्मकाण्ड के विरोधी तथा घोर भौतिकवादी थे। आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक मक्खलि पुत्र गोशाल थे। अभाग्यवश उनके उपदेशों का ~~क~~ निष्पक्ष वर्णन करनेवाला कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, परन्तु उनके सम्प्रदाय की लोकप्रियता निर्विवाद है। इनके अतिरिक्त जैन और बौद्ध साहित्य में **अजित केशकम्बलिन, पकुद्ध कच्चायन** तथा **सञ्जय बेलट्ठपुत्त** अन्य अनेक धर्माचारियों का उल्लेख मिलता है। ये सब गौतम बुद्ध और महावीर के समकालीन थे।

समाज और संस्कृति

साहित्य—साहित्य की दृष्टि से वेदोत्तर काल प्रारम्भिक वेदाङ्ग और सूत्र साहित्य की रचना एवं बौद्ध त्रिपिटक और जैन आगम के आविर्भाव का है। बौद्ध त्रिपिटक की चर्चा ऊपर की जा चुकी है और प्राचीनतम आगम आजकल अनुपलब्ध है। जो जैन ग्रन्थ आजकल मिलते हैं वे परवर्ती युग की रचनाएँ हैं। वेदाङ्ग साहित्य वैदिक साहित्य से पृथक् परन्तु घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। इनकी रचना वैदिक साहित्य की व्यवस्था और रक्षा करना और उसे व्यवहारिक विनियोग के योग्य बनाना था। इनके विषय **शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष** और **कल्प** थे। नारद की 'शिक्षा' पिंगल का 'छन्द सूत्र' यास्क का

'निरुक्त' लगध का वेदांग ज्योतिष तथा पाणिनि का 'अष्टाध्यायी' नामक व्याकरण ग्रन्थ इनके उदाहरण हैं। कल्प वेदाङ्ग के अन्तर्गत प्रायः सूत्र ग्रन्थों की गणना होती है। इनकी रचना यज्ञों का संक्षिप्त परिचय देने के लिए की गई। ये तीन प्रकार के हैं : **श्रौत सूत्र** जिनमें महायज्ञों का वर्णन है, **गृह्य सूत्र** जिनमें गृहस्थ द्वारा किए जाने वाले यज्ञों का वर्णन है तथा **धर्म सूत्र** जिनमें परम्परागत धर्म, राजा और प्रजा के अधिकार और कर्त्तव्य, विवाहों के प्रचार, वर्णाश्रम धर्म, भोजन पान आदि का विवेचन किया है।

समाज—उत्तर वैदिक काल के अन्त तक भारतीय समाज की मूलभूत रेखाएँ स्पष्ट हो गई थीं। प्रारम्भिक वेदांग और सूत्र साहित्य की रचना के समय इसको सुसंगठित रूप प्रदान किया गया। इन ग्रन्थों में आश्रम व्यवस्था और पुरुषार्थ सिद्धान्त, जो उत्तर वैदिक साहित्य में बीजारूपेण उल्लिखित हैं, पूर्णतः सुव्यवस्थित रूप में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें चारों वर्णों के अधिकार और कर्त्तव्य भी सुनिश्चत कर दिये हैं। इस व्यवस्थापन में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान मिला और शूद्रों को निम्नतम। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षत्रिय वर्ण ब्राह्मणों के उत्कर्ष से विशेष सन्तुष्ट नहीं था। इस प्रसंग में यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि उपनिषद् दर्शन के प्रतिपादक और वर्ण व्यवस्था के विरोधी गौतम बुद्ध एवं महावीर क्षत्रिय थे।

आर्थिक संगठन—प्रारम्भिक सूत्र अथवा बौद्धकाल में भी भारतीय संस्कृति प्रकृत्या ग्राम्य थी, यद्यपि मुद्रा-प्रणाली, लोहे के आविष्कार एवं उद्योग-धन्धों की उन्नति के कारण समृद्ध व्यापारी वर्ग अस्तित्व में आता जा रहा था और कौशाम्बी, चम्पा, राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती, मथुरा तथा उज्जयिनी जैसे नगरों की संख्या बढ़ती जा रही थी। इन नगरों के श्रेष्ठ (सेठ) स्थानीय और राष्ट्रीय राजनीति में हस्तक्षेप करने लगे थे। वे उधार लेते-देते थे, लेन-देन में हुण्डियों का प्रयोग करते थे और दूरस्थ नगरों में सार्थवाहों द्वारा माल भेजते थे। वे अपने लिए विशाल और भव्य भवन बनवाते थे। जातक कथाओं में अनेक स्थलों पर 'सत्त भूमक प्रासाद' (सात मञ्जिल वाले मकान) का उल्लेख है। हाल ही में कौशाम्बी में 'उदयन के राजप्रासाद' के अवशेष उपलब्ध हो जाने से यह भी निश्चित हो गया है कि प्रारम्भिक बौद्ध काल में ही भारतीय भवन निर्माण में पाषाण का प्रयोग करने लगे थे और मेहराब के प्रयोग से परिचित हो गए थे।

खण्ड ६

चीन
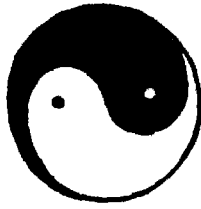
२३
चीनी सभ्यता का जन्म

An emperor knows how to govern when poets are free to make verses, people to act plays, historians to tell the truth, ministers to give advice, the poor to grumble at taxes, students to learn lessons aloud, workmen to praise their skill and seek work, people to speak of any thing and old men to find fault with every thing.

Address of Duke of Shao to King Li-Wang, ca. 845 *B. C.*

भूगोल

महत्त्व—चीन की सभ्यता भारतीय, सुमेरियन और मिस्री सभ्यताओं के बराबर प्राचीन नहीं है। साहित्यिक और पुरातात्त्विक, दोनों प्रकार के साक्ष्य से यह निश्चित संकेत मिलता है कि चीन में काँस्यकालीन साक्षर नागरिक सभ्यता का उदय दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य हुआ था। लेकिन अन्य कई कारणों से इसका विश्व सभ्यता के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक, भारत के अतिरिक्त केवल चीन की सभ्यता ही अपने अबाध **नैरन्तर्य का दावा** कर सकती है। दूसरे, **चीन पूर्वी एशिया का उसी प्रकार गुरु रहा है** जिस प्रकार भारत दक्षिणी एशिया का और बैबिलोनिया पश्चिमी एशिया का। तीसरे, पर्वतों, रेगिस्तानों और समुद्रों से घिरा होने के कारण इसकी सभ्यता का **सर्वथा मौलिक रूप में विकास** हुआ। प्राचीन चीनी संस्कृति में बौद्ध धर्म को छोड़कर ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं है जिसे निस्संकोच भाव से विदेशी कहा जा सके। अन्य सभ्य जातियों से सामान्यतः अपरिचित रहने और प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से आत्मनिर्भर होने के कारण चीनी स्वभाव से बहुत **गर्वीले रहे हैं**। प्राचीन काल में वे अपने अतिरिक्त किसी जाति को सभ्य मानते ही नहीं थे। इस अहमन्यता के कारण वे अपने देश को बर्बर जातियों से घिरा हुआ **'मध्य-राज्य' (चुंग-क्वो)** अथवा **'स्वर्ग के नीचे स्थित राज्य' (तिएन-शिया)** कहते

इस पृष्ठ के ऊपर यिन और यांग के पारस्परिक सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने वाले प्रतीक का चित्र दिया गया है (द्र० पृ० ५९२)।

थे। अपने देश को कोई विशिष्ट नाम देने की आवश्यकता उन्हें कभी महसूस ही नहीं हुई। उनके देश को **'चीन' नाम तो** सम्भवतः तीसरी शती ई० पू० में राज्य करने वाले 'छिन' वंश के नाम पर विदेशियों द्वारा दिया गया था।

चीन देश और बहिर्वर्ती प्रान्त—चीन क्षेत्रफल की दृष्टि से (लगभग १५ लाख वर्गमील) पूर्वी एशिया का और जनसंख्या की दृष्टि से (साठ करोड़ से अधिक) विश्व का विशालतम देश है। इसको दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : मुख्य चीन और बहिर्वर्ती प्रदेश। **मुख्य चीन** ह्वांग-हो, यांग्त्से तथा सी-क्यांग और उनकी सहायक नदियों द्वारा सिंचित प्रदेश है (मानचित्र १०)। ये नदियाँ पश्चिमी पर्वतों से निकल कर प्रशान्त महासागर में गिरती हैं। **ह्वांग-हो** नदी लगभग २७,००० मील लम्बी है। इसमें अत्यधिक मिट्टी होने के कारण इसका रंग पीला-सा रहता है। इसलिए इसे पीत नदी भी कहते हैं। इसमें बाढ़ बहुत भयंकर रूप में आती है, इसलिए इसे **'चीन की विपत्ति'** कहा जाता है। लेकिन वस्तुतः चीन के लिए यह विपत्ति से अधिक **'वरदान'** सिद्ध हुई है क्योंकि इसके और इसकी सहायक वेई आदि नदियों के द्वारा सिंचित प्रदेश में ही चीनी सभ्यता का जन्म हुआ था। चीन के **बहिर्वर्ती प्रदेश** मंचूरिया, मंगोलिया, सिंक्यांग और तिब्बत हैं। चीनी शासक इन्हें चीन का अविभाज्य अंग मानते और अवसर पाते ही इन्हें अपना प्रभुत्व मानने के लिए विवश करते रहे हैं। लेकिन इन देशों की जनता में चीनी जन सदैव से अल्पसंख्यक रहे हैं, और सांस्कृतिक दृष्टि से भी वे कभी पूर्ण चीनी नहीं बन पाए। इतना ही नहीं चीन के ह्रास काल में उन्होंने उल्टे उस पर सफल आक्रमण भी किए हैं। विशेष रूप से तिब्बत का पृथक् व्यक्तित्व एक ऐतिहासिक तथ्य रहा है।

इतिहास जानने के साधन और प्रागितिहास

साहित्यिक साक्ष्य—प्राचीन चीनियों ने **प्रभूत साहित्य** का सृजन किया था, लेकिन बाँस की खपच्चियों अथवा रेशमी वस्त्र जैसी नश्वर वस्तुओं पर लिखे जाने, चीन की जलवायु के ग्रन्थों की सुरक्षा के लिए घातक होने, प्राचीन काल में प्रायः अनवरत चलते रहने वाले युद्धों एवं शी-ह्वांग-ती नामक सम्राट् (तीसरी शती ई० पू०) द्वारा प्राचीन ग्रन्थों को सम्पूर्णतः नष्ट करवा देने की चेष्टा करने के कारण आजकल **उसका एक अंश मात्र ही उपलब्ध है**। अभी हाल ही तक यह प्राचीन चीन के इतिहास जानने का एक मात्र साधन था।

पौराणिक आख्यान—साहित्य में प्रदत्त विवरण के अनुसार पहले **फान-कू** ने पृथिवी और आकाश को पृथक् किया। उसके बाद क्रमशः बारह (या तेरह) **दैवी सम्राटों** (थिएन-हुआंग) और ग्यारह **स्थलज सम्राटों** (ती-हुआंग) ने राज्य

किया। उनमें प्रत्येक ने १८,००० वर्ष शासन किया था। उनके बाद ९ **मानुष सम्राट् (जेन-हुआंग)** हुए। उन्होंने ४५,६०० वर्ष शासन किया। कुछ ग्रंथों में दैवी, स्थलज और मानवीय सम्राटों के स्थान पर तीन महान् सम्राटों—फू-शी, नुई-कुआ और शेन-नुंग—का उल्लेख है। इनमें **फू-शी** ने चीनियों को मछली पकड़ना, पशु पालन, संगीत, लेखन-कला और भविष्य-दर्शन के लिए उपयोगी 'आठ प्रतीक' (पा-कुआ) सिखाए, **नुई-कुआ** ने विवाह संस्था को व्यवस्थित किया और **शेन-नुंग ने** कृषि-कर्म और वैद्यक की शिक्षा दी। इन तीनों के बाद **'पाँच सम्राटों'** (वू-ती) ने राज्य किया। इसमें प्रथम था **ह्वांग-ती** अथवा **पीत सम्राट्**। उससे ही सु-मा-चिएन नामक चीनी इतिहासकार ने अपने ग्रन्थ में चीन का इतिहास प्रारम्भ किया है। पीत सम्राट् ने बर्बर आक्रमणकारियों को हराया, अधिकृत इतिहास-लेखक (आफीशियल हिस्टोरियोग्राफर) नियुक्त करने की प्रथा प्रारम्भ की, ईंटों और बैलगाड़ी का आविष्कार किया, भूमि को 'चिंग-तिएन' विधि के अनुसार बाँटा, पंचांग में सुधार किये और तिथि-गणना में षष्ठिक पद्धति प्रारम्भ की। उसकी महारानी ने रेशम के उत्पादन की विधि की खोज की। उसके बाद क्रमशः **चुआन-शियू, खू, याओ तथा शुन** ने राज्य किया। उन्होंने भी पीत सम्राट् के समान चीनी सभ्यता को विकास किया। इनमें अन्तिम दो को 'आदर्श सम्राट्' माना जाता है।

शिया और शांग वंश—शुन ने अपना उत्तराधिकारी अपने एक पदाधिकारी **युइ** को नियुक्त किया था। उसने सम्राट् पद को वंशानुगत करके अपने वंश—**शिया**—की स्थापना की। इस वंश ने १९८९ ई० पू० से १५५७ ई०पू० (एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार २२०५ से १७६६ ई० पू०) तक राज्य किया। इस वंश के अन्तिम राजा **चिएह** के अत्याचारी हो जाने पर जनता ने **थांग** नामक व्यक्ति के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। उसने चिएह को मार कर **शांग वंश** (१५५७-१०५० ई० पू० अथवा १७६६-११२२ ई० पू०) की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारियों के नाम साहित्य में सुरक्षित हैं। लेकिन अन्तिम नरेश **चोउ-सिन** को छोड़ कर उनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। चोउ-सिन के विषय में कहा गया है कि वह असीम बलवान, योग्य परन्तु क्रूर था। उसने अपनी प्रेमिका ता-ची को प्रसन्न करने के लिए सामन्तों और जनता पर घोर अत्याचार किए जिससे क्रुद्ध होकर चोऊ नामक पश्चिमी जाति के एक अधीन नरेश **वेन-वांग** ने विद्रोह कर दिया। उसके बाद उसके पुत्र **वू-वांग** ने **चोउ-सिन** को पराजित किया और चोऊ वंश (१०५० अथवा ११२२ ई० पू० से २४९ ई० पू०) की स्थापना की।

पुरातात्त्विक साक्ष्य : चीनी जाति का प्रागितिहास—उपर्युक्त विवरण के आधार पर अब से कुछ ही वर्ष पूर्व तक यह विश्वास किया जाता था कि चीनी सभ्यता का जन्म चोऊ युग में पश्चिमी प्रदेश से आई जाति के आगमन के कारण हुआ और शांग तथा शिया वंश ऐतिहासिक न होकर चोऊयुगीन लेखकों की कल्पना का फल थे। उस समय विवादास्पद प्रश्न यही था कि चीनी सभ्यता मिस्री प्रभाव का परिणाम थी अथवा पश्चिमी एशियाई प्रभाव का। लेकिन पिछले कुछ दशकों में हुई पुरातात्त्विक खोजों से स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया है। अब पेकिंग के निकट चोउ-कोउ-तिएन गुफा से **'चीनी मानव'** के (पृ० ५-६) अवशेष मिल जाने से यह सिद्ध हो गया है कि चीन **पूर्व-पाषाण काल** में मानव जाति का क्रीड़ा केन्द्र ही नहीं था, वरन् उस समय वहाँ जो मनुष्य रहते थे वे ऐतिहासिक चीनी जाति के समान **मंगोलिद् परिवार** के थे। **वीडरनीख़** ने तो पेकिंग मानव को मंगोल जाति का ही नहीं विशिष्ट चीनी जाति का पूर्वज बताया है। **नव-पाषाण काल** में चीन में दो संस्कृतियाँ विकसित हुईं—चित्रित-मृद्भाण्ड संस्कृति और कृष्ण-मृद्भाण्ड संस्कृति। **चित्रित-मृद्भाण्ड** संस्कृति को, जो कृष्ण-मृद्भाण्ड संस्कृति से प्राचीनतर लगती है, उसके आदर्शभूत स्थल यांग-शाओ के नाम पर 'यांग-शाओ संस्कृति' भी कहते हैं। इस स्थल का उत्खनन जे० जी० एण्डर्सन ने किया था। ये दोनों संस्कृतियाँ प्रकृत्या चीन की स्वदेशी संस्कृतियाँ लगती हैं। इनका समय २००० ई० पू० से पहले रखा जाता है।

शांग-संस्कृति

नव-पाषाणकालीन संस्कृतियों के बाद **शांगयुगीन संस्कृति** का काल आता है। इसके अवशेष मुख्यतः **आन्यांग** (यिन-शुई) स्थल से मिले हैं। इस स्थल का उत्खनन १९२८-३७ ई० में चीनी अकादमी के तत्त्वावधान में प्रो० ली-ची और तुंग-त्सो-पिन ने किया। इस संस्कृति के निर्माता ग्लेज किए हुए मृद्भाण्ड और सुन्दर **कांस्य भाण्ड** बनाना जानते थे। वे सींगों, अस्थियों और कौड़ियों पर नक्काशी करने और **पाषाण-मूर्त्तियाँ** बनाने की कला से परिचित थे। उनके कांस्यभाण्डों से सुन्दर कांस्यभाण्ड चोऊ युग के ठठेरे भी नहीं बना पाए। उनके मुख्य उद्यम **कृषिकर्म** और **पशुपालन** थे। लोहे से वे परिचित थे और युद्धों में **रथों** का प्रयोग करते थे, लेकिन लोहे और पक्की ईंटों से अपरिचित थे। उनके मकानों के अवशेष उपलब्ध नहीं हुए हैं। उनकी सामाजिक व्यवस्था पितृसत्तात्मक थी और राज्य-व्यवस्था राज-

तन्त्रात्मक। राजा को वे 'वांग' कहते थे। परिवार में गृहस्वामी की मृत्यु के बाद उसका स्थान उनका अनुज लेता था और अनुज के अभाव में पुत्र। वे लिखना जानते थे और न्यूनाधिक साहित्य की रचना कर चुके थे। चोऊ-युगीन चीनी उनके साहित्य से परिचित थे, यद्यपि आजकल यह सम्पूर्णतः लुप्त हो चुका है। उन्होंने खगोल-विद्या, और ज्योतिर्विद्या का कुछ विकास और पंचाङ्ग का आविष्कार कर लिया था। धर्म का उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। अनेक देवताओं के अतिरिक्त वे अपने पूर्वजों की उपासना भी करते थे। उनके ऐसे अनेक अस्थि-अभिलेख मिले हैं जिनका उपयोग भविष्य-दर्शन के लिए किया जाता था। इनसे उनके ३० राजाओं के नाम ज्ञात हुए हैं। ये नाम शांगयुगीन राजाओं की साहित्य में प्रदत्त सूचियों में भी मिलते हैं। इसलिए इनसे यह सिद्ध हो गया है कि चीन में कांस्यकालीन साक्षर सभ्यता का प्रारम्भ शांग युग में हुआ था और इस वंश के राजाओं की सूची में दिए गए नाम ऐतिहासिक हैं, यद्यपि उनके शासन काल की घटनाओं का पुन-र्निर्माण करना असम्भव है। शिया वंश की ऐतिहासिकता अब भी सन्देहास्पद बनी हुई है, यद्यपि इसके सम्बन्ध में चीनी समाज में प्रचलित परम्परा की सबलता को देखते हुए इसको पूर्णतः कल्पनाप्रसूत कहना साहस की अपेक्षा रखता है। हो सकता है इसके नरेश यांग-शाओ संस्कृति के निर्माता रहे हों।

चित्र १५० : शांगयुगीन चीनी लिपि का नमूना

चीनी लिपि

चीन में लिपि की आवश्यकता—शांगयुगीन चीनियों की सबसे बड़ी सफलता थी लिपि का विकास। इस लिपि का आविष्कार कब हुआ कहना कठिन है। लेकिन इतना निश्चित है कि शांग युग के अस्थि-अभिलेखों की लिपि उदयकालीन अवस्था की न होकर बहुत जटिल और संश्लिष्ट थी और इस युग में आधुनिक चीनी लिपि का प्रत्येक

सिद्धान्त न्यूनाधिक रूप में अस्तित्व में आ चुका था। परवर्ती युगों में केवल इसके बाह्यरूप में परिवर्तन हुआ। इससे लगता है कि इसका जन्म शांग युग से पहले ही हो गया होगा, यद्यपि इसे निश्चित रूप से कह सकना दुष्कर है। चीनियों को **लिपि की आवश्यकता** सम्भवतः धार्मिक कारणों से पड़ी। वे अपने पूर्वजों और देवताओं की उपासना करते थे, परन्तु साथ ही यह भी मानते थे वे मृत्युलोक के प्राणियों की आवाज नहीं सुन सकते। इसलिए जब कि भारतवासी देवोपासना वाणी से करते हैं, प्राचीन चीनी ऐसा लिखकर करते थे। जब कोई चीनी सामन्त किसी काम से अपने घर से बाहर जाता था अथवा काम करके लौटता था तो अपने पूर्वजों के गृह-मन्दिर में उसकी लिखित घोषणा करता था। इसी प्रकार जब दो पक्षों में सन्धि होती थी तब सन्धि-पत्र की तीन प्रतियाँ बनाई जाती थीं। इनमें एक-एक प्रति उन दोनों पक्षों के पास रहती थी और तीसरी को एक बलिकृत पशु के साथ, जिसके रक्त को दोनों व्यक्तियों के मुँह पर लगा दिया जाता था, भूमि में गाड़ दिया जाता था जिससे देवता उसे पढ़ सकें। इससे स्पष्ट है कि चीन में देवताओं और पूर्वजों तक संदेश पहुँचाने के हेतु शब्दों को चित्रों में अभिव्यक्त करने, अर्थात् लिखने की कला का आविष्कार हुआ।

चीनी लिपि का विकास—अन्य लिपियों के समान चीनी लिपि में भी सर्वप्रथम पेड़, सूर्य, पहाड़, चाँद, पक्षी आदि **स्थूल वस्तुओं के भाव को अभिव्यक्त करने वाले चिह्न** अस्तित्व में आए। उसके बाद वस्तु-चित्रों में सूक्ष्म परिवर्तन करके अथवा कुछ रेखा और बिन्दुओं की सहायता से **अमूर्त्त भावों को अभिव्यक्त किया जाने लगा** जैसे पेड़ के चित्र के ऊपर एक बिन्दु लगाकर 'अन्तिम भाग' या 'अन्त' के भाव को और एक रेखा के ऊपर बिन्दु लगाकर 'ऊपर' के और नीचे बिन्दु लगाकर 'नीचे' के भाव को। भाव-बोधक चित्रों के दूसरे वर्ग में ऐसे चिह्न आते हैं जिनमें दो चित्र-चिह्नों को मिलाकर नया विचार व्यक्त किया जाता है। जैसे आँख के चित्र के ऊपर हाथ का चित्र बनाकर 'देखने' का, पेड़ के पीछे सूर्य का चित्र बनाकर 'पूर्व' दिशा का और दो पेड़ों से जंगल का। भाव-बोधक चित्रों के पश्चात् **ध्वनि-बोधक चित्रों** (फोनेटिक सिम्बल्स्) का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। चीनी भाषा में अनेक शब्द थे जिनके लिए भाव-चित्र या वस्तु-चित्र बनाना कठिन था। ऐसे बहुत से शब्दों को लिखते समय उनके स्थान पर उन शब्दों के चित्र-चिह्न बनाए जाने लगे जिनकी ध्वनि उनकी ध्वनि के समान थी। धीरे-धीरे उन चित्र-चिह्नों का नवीन प्रयोग रूढ़ हो गया और वे मूलतः जिन शब्दों के चित्र थे उनके लिए दूसरे चिह्न

बना लिए गए। बहुत से चित्र-चिह्नों को नए और पुराने दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया जाता रहा, केवल उनके स्वर (टोन) में कुछ अन्तर कर दिया। **एक ही चित्र का विभिन्न स्वरों (टोन्स्) में विविध अर्थों में प्रयोग** चोऊ साहित्य में प्रचुरता से मिलता है। चीनी लिपि इसके आगे **वर्णमाला के रूप में कभी विकसित नहीं हो पाई**। इसलिए आधुनिक युग में भी किसी विदेशी के लिए चीनी लिपि सीखना बहुत दुरूह होता है।

लेखन-सामग्री—प्रायः यह विश्वास किया जाता है कि चीन में ब्रुश और स्याही से लिखने की विधि का प्रयोग छिन वंश (२२१-२०७ ई० पू०) के शासन काल से प्रारम्भ हुआ; उसके पहले चीनी **लकड़ी, बाँस या हाथी-दाँत** पर खरोंच कर लिखते थे। परन्तु प्राचीन साहित्य में बहुधा सामन्तों के मृतक-संस्कार में काम आने वाले **रेशमी वस्त्रों** पर उनका नाम आदि लिखे जाने का उल्लेख हुआ है और रेशमी वस्त्रों पर केवल **ब्रुश** की सहायता से ही लिखा जा सकता था। शांग युग के अस्थि-अभिलेखों में ब्रुश के एक चित्राक्षर के रूप में प्रयोग से इसका समर्थन होता है।

चोऊ युग : राजनीतिक इतिहास और संगठन

प्रारम्भिक अथवा पश्चिमी चोऊ युग—चोऊ वंश के अभ्युत्थान से चीन के इतिहास पर प्रकाश देनेवाले स्रोत प्रचुरतर और अधिक विश्वसनीय होने लगते हैं। इस वंश की स्थापना ११२२ अथवा १०५० ई० पू० में **वू-वांग** ने की थी (पृ० ५३५)। चोऊ मूलतः वेई नदी की घाटी का एक राज्य था। यह उस समय के चीन की पश्चिमी सीमा पर था, इसलिए वू-वांग को 'पश्चिम का नरेश' कहा जाता था। सम्भवतः **सांस्कृतिक और जातीय दृष्टि से चोऊ चीनियों से कुछ भिन्न थे**। शांग युग में चीनी सभ्यता का विस्तार पीत और हुआई नदियों की घाटियों तक, अर्थात् आधुनिक होनान, होपेई और शान्तुंग प्रदेश तक सीमित था। चोऊ नरेशों ने अपने साम्राज्य और चीनी सभ्यता **के प्रभाव-क्षेत्र को विस्तृत** किया। उनके इतिहास को दो युगों में विभाजित किया जा सकता है : प्रारम्भिक और परवर्ती। प्रारम्भिक-चोऊ युग (११२२ अथवा १०५०—लगभग ७५० ई० पू०) में चोऊ सम्राट् पर्याप्त शक्तिशाली थे। उनकी राजधानी पश्चिम में वेई की घाटी में **चंगान** (आधुनिक शियान-फू) के निकट थी, इसलिए इस युग को पश्चिमी-चोऊ युग भी कहते हैं। लेकिन दसवीं शती ई० पू० से उनकी शक्ति सामन्तों और जागीरदारों की महत्त्वाकांक्षा और बर्बरों के आक्रमणों के कारण घटने लगी। इसके परिणामस्वरूप ७५० ई० पू० के लगभग बर्बरों के

आक्रमणों से सुरक्षा के हेतु राजधानी पूर्व से हटाकर पश्चिम में लोयांग (आधुनिक होनान-फू के समीप) में स्थापित की गई। इसलिए परवर्ती-चोऊ युग को (लग० ७५०-२४९ ई० पू०) पूर्वी-चोऊ युग भी कहते हैं।

परवर्ती अथवा पूर्वी-चोऊ युग—**पूर्वी-चोऊ युग** (लग० ७५०-२४९ ई० पू०) में चीन की स्थिति बहुत कुछ सामन्तवादी युगीन मिस्र अथवा मध्य-कालीन यूरोप के सदृश थी। चोऊ **साम्राज्य अनेक राज्यों में विभाजित** था जिनके शासक नाम के लिए चोऊ सम्राट् को परमाधीश्वर मानते हुए भी लगभग पूर्णतः स्वतन्त्र थे और परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते थे। उनके राज्यों की सीमाएँ बराबर घटती-बढ़ती रहती थीं। सातवीं शती ई० पू० से पाँचवीं शती ई० पू० के प्रारम्भ तक, जिसे चीनी इतिहासकार **'छुन-छिऊ'** युग कहते हैं, छी, चिन, छिन, सुङ्ग तथा छू राज्य शक्तिशाली रहे और उसके बाद तीसरी शती ई० पू० तक के युग में, जिसे **'संघर्षरत राज्यों का युग'** कहा जाता है, छिन, चू, येन, हान, वेई, चाओ तथा ची राज्यों को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त रही। इनमें अन्ततोगत्वा **छिन नरेशों** को सफलता मिली। उन्होंने २४९ ई० पू० में अन्तिम चोऊ नरेश को पराजित किया और २२१ ई० पू० तक सम्पूर्ण चीन को अधिकृत कर लिया।

राजनीतिक संगठन—राजनीतिक दृष्टि से संघर्षमय होते हुए भी **परवर्ती-चोऊ युग सांस्कृतिक व्यवस्थापन, प्रगति और प्रसार का युग था।** इस युग में राज्य को एक विशाल परिवार, अधीन राज्यों को उसकी शाखाएँ तथा **राजा (वांग)** को पितृस्थानीय माना था। उसकी सहायता के लिए एक प्रधान-मन्त्री और छः सामान्य मन्त्री थे। वह ईश्वरीय अनुमति और **'ते'** के कारण शासन करता था। प्रारम्भ में 'ते' का अर्थ 'जादुई शक्ति' था। कन्फूशियस के सम्प्रदाय में इसको वांग और उसके पूर्वजों द्वारा ईश्वरीय आदेशों के अनुकरण द्वारा अर्जित 'पुण्य' के अर्थ में लिया गया। व्यवहार में वांग की सत्ता उसकी योग्यता पर निर्भर थी। वास्तव में केवल कुछ प्रारम्भिक चोऊ नरेश ही अपने पद को चरितार्थ कर पाए; उनके उत्तराधिकारी धर्माधीश मात्र रह गए। वास्तविक सत्ता उनके अधीन **सामन्तों** ने हड़प ली। लेकिन चोऊ नरेशों की उपाधि 'वांग' को धारण करने का साहस चौथी शती ई० पू० तक कोई नहीं कर पाया। इस युग में **क़ानून** बहुत कम और दण्ड कठोर थे। **युद्धों** में काफी वीरता प्रदर्शित की जाती थी। सम्भवतः बर्बर जातियों पर विजय पाने के उपरान्त शत्रुओं के मृत शरीरों का भक्षण करने की प्रथा थी, यद्यपि चीनियों के

पारस्परिक युद्धों में ऐसा नहीं किया जाता था। सामन्तवादी युग में युद्धों के नियम कुछ स्थिर हो गये थे।

आर्थिक और सामाजिक संगठन

आर्थिक संगठन—चोऊयुगीन चीनियों के मुख्य उद्यम **कृषि-कर्म और पशुपालन** थे। वे वृषभों द्वारा खींचे जाने वाले हलों से परिचित थे तथा चावल, गेहूँ, जौ तथा फलादि की पैदावार करते थे। मुद्रा-प्रणाली का विकास सिंचाई की समुचित व्यवस्था और लोहे का उपयोग परवर्ती-चोऊ युग में मिलते हैं। **सामन्तों और कृषकों में** भारी अन्तर था। हो सकता है सामन्त अधिकांशतः शासक जाति के रहे हों और कृषक शासित जाति के। परम्परानुसार गाँवों में भूमि का विभाजन **'चिंग-तियेन'** विधि के अनुसार किया जाता था। इसके अनुसार उर्वर भूमि के एक खण्ड को नौ टुकड़ों में बाँट दिया जाता था। बीच के टुकड़े में आठ परिवार रहते थे और सामूहिक रूप से खेती करते थे। चारों ओर स्थित शेष आठ टुकड़ों में उनके व्यक्तिगत खेत होते थे। सामूहिक टुकड़े की उपज से राज-कर अदा किया जाता था। सिद्धान्ततः **भूमि पर राजा का अधिकार** माना जाता था। चोऊ युग में नगरों का उदय और उनके साथ **उद्योग-धन्धों** और नमक, अनाज, रेशम, घोड़ों और पशुओं आदि के **व्यापार** का विकास हुआ। **रेशम उद्योग** में चीनियों की सफलता जगत् प्रसिद्ध है।

सामाजिक संगठन—चीन में कृषकों का जीवन काफी सीमा तक राज्य द्वारा नियन्त्रित था। उनके विवाह आदि और अधिकांश उत्सव तथा त्यौहार बसन्त ऋतु में मनाए जाते थे। **उच्चवर्गीय जनों का जीवन** साधारण कृषकों के जीवन से बहुत भिन्न था। उच्च वर्ग के सदस्य या तो छोटे जागीरदार और सामन्त थे अथवा राजकर्मचारी, लिपिक, ज्योतिषी और पुजारी। वे अनेक कुलों में विभाजित थे। हर **कुल** का कोई काल्पनिक आदिपूर्वज—कोई देवता, प्राचीन योद्धा, राजा, आदि—होता था। एक कुल के युवक-युवतियों में **विवाह-सम्बन्ध** वर्जित था। लेकिन ममेरी अथवा फुफेरी बहिनों से विवाह करना निर्दोष माना जाता था क्योंकि उनके कुल भिन्न होते थे। प्रायः दो परिवार में कई-कई सन्तति तक विवाह सम्बन्ध होते रहते थे। अर्थात् चीनी युवक सामान्यतः अपने मातृकुल की किसी लड़की से विवाह करते थे। कुल का बन्धन प्रादेशिक न होकर धार्मिक था। परिवार संस्था **पितृसत्तात्मक** थी, यद्यपि प्राचीनतर मातृ-सत्तात्मक प्रथा के चिह्न भी अवशिष्ट थे। विवाह कुल और परिवार के नैरन्तर्य के लिए आवश्यक होने के कारण धूमधाम से मनाए जाते थे। उप-पत्नियाँ

रखने की प्रथा थी। बच्चे को उसके जन्म दिनके अनुसार भाग्यशाली अथवा अभागा माना जाता था। बहुत से माता-पिता अशुम दिन उत्पन्न हुए शिशु को त्याग देते थे।

कला और साहित्य
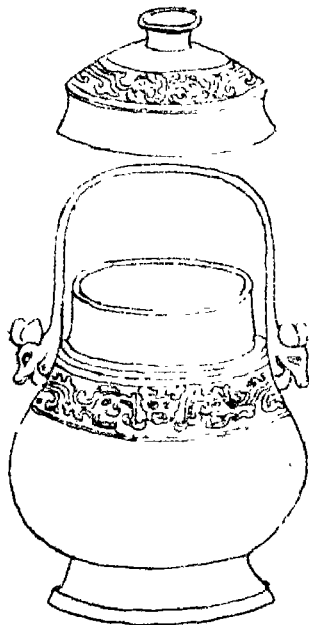
चित्र १५१ : चोऊ युग का एक कांस्यभाण्ड

कला—शांग युग के समान चोऊ युग में भी **कांस्यभाण्ड बनाने की कला** लोकप्रिय रही। इस युग के कांस्य निर्मित प्याले, कटोरे, कलश, तश्तरियाँ तथा विविध प्रकार के पशुओं की आकृतियाँ इत्यादि काफी संख्या में प्राप्त हुई हैं। प्रारम्भिक कलाकृतियाँ शांगयुगीन कलाकृतियों के सदृश हैं। ९०० ई० पू० के लगभग नई आकृतियाँ और शैलियाँ मिलने लगती हैं लेकिन ६०० ई० पू० के लगभग पुरानी आकृतियाँ पुनः लोकप्रिय हो जाती हैं, यद्यपि उनमें अलंकरण की मात्रा पहले से अधिक हो जाती है और **जड़ाई का काम** मिलने लगता है। कहीं-कहीं तो अलंकरण इतना अधिक है कि धातु की सतह दिखाई तक नहीं देती। इस युग की जेड से बनी कलाकृतियाँ भी उल्लेखनीय हैं।

साहित्य—चीन में साहित्य सृजन सम्भवतः शांग युग में ही प्रारम्भ हो गया था। आजकल जो प्राचीनतम ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे सब चोऊ युग के हैं, यद्यपि इनमें शांगयुगीन सामग्री मिश्रित हो सकती है। चोऊ युग के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :

(१) शू-चिंग अथवा शांग-शू : इसे अंग्रेजी में 'बुक ऑव हिस्टरी' अथवा 'डोक्यूमेन्ट क्लासिक' कहा जाता है। इसमें राजाभिलेख-संग्रहालय में सुरक्षित महत्त्वपूर्ण **दस्तावेज़ों को एकत्र संगृहीत किया गया है।** परम्परागत विश्वास के अनुसार ये सब पत्र ६०० ई० पू० से प्राचीनतर हैं और कुछ शांग युग के हैं तथा इस ग्रन्थ का **सम्पादन कन्फूशियस** ने किया था। परन्तु कांस्य-पात्र-अभिलेखों के साथ इनकी तुलना करके निष्कर्ष निकाला गया है

कि इसका केवल एक चौथाई अंश ६०० ई० पू० के पहले का है। जो पत्र शांग युग के कहे जाते हैं वे चोऊ युग में लिखे गए कूटलेख (फोर्जरीज़) हैं। वर्तमान रूप में इसका सम्पादन तीसरी शताब्दी ई० में हुआ होगा।

(२) **शी-चिंग**—'शी-चिंग' अथवा 'बुक ऑव पोयट्री' में ३११ कविताएँ और गीत संगृहीत हैं। परम्परागत विश्वास के अनुसार इन्हें भी **कन्फूशियस ने अपने समय में प्रचलित ३००० कविताओं और गीतों में से चुना था**। इन कविताओं में प्राचीनतम प्रारम्भिक-चोऊ युग की हैं। कुछ को शांगयुगीन माना जाता है, परन्तु वे भी वस्तुतः **चोऊ युग की रचनाएँ प्रतीत होती हैं**। इन कविताओं में कुछ धार्मिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त होने के लिए लिखी गई थीं, परन्तु शेष सर्वथा लौकिक हैं। इनमें कुछ में प्राचीन वीरों के कारनामों का वर्णन है और कुछ में प्रेमी के द्वारा प्रेमिका के सौन्दर्य, परिश्रमी श्रमिक द्वारा धनी स्वामी के आलस्य, युद्ध में गए सैनिकों की स्त्रियों की विरह-वेदना अथवा वृद्धों द्वारा बीते जमाने की अच्छाइयों और नवयुवकों की बुराइयों का। एक प्रकार से ये चोऊ युग के सामान्य चीनियों के मन का प्रतिबिम्ब हैं, यद्यपि परवर्ती युगों में इनमें दार्शनिक रहस्य निहित सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी।

(३) **छुन छिऊ तथा बेम्बू एनाल्स्**—छुन छिऊ अथवा 'बसन्त और पतझर' 'लू' राज्य के राजकीय दस्तावेजों के आधार पर लिखित इतिहास है। अनुश्रुतियों के अनुसार इसे **कन्फूशियस ने लिखा था**। चिन और वेई राज्यों के इतिवृत्त तीसरी शताब्दी ई० में एक समाधि में निकले थे। ये बाँस की पट्टिकाओं पर लिखे होने के कारण **बेम्बू एनाल्स्** कहलाते हैं। लेकिन इस नाम से जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनकी विश्वसनीयता सन्देहास्पद है।

(४) **त्सो चुआन**—इस पुस्तक के नाम का अर्थ अस्पष्ट है। इसकी रचना ४६८ ई० पू० के बाद और दूसरी शताब्दी ई० पू० के पहले किसी समय **'बसन्त और पतझर' की टीका के रूप में** की गई थी। एक अनुश्रुति के अनुसार इसे **कन्फूशियस ने सम्पादित किया** था। यद्यपि इसमें विश्वास करने के लिए यथेष्ट आधार उपलब्ध नहीं हैं तथापि इतना निश्चित है कि यह तत्कालीन राज्यों के अधिकृत इतिवृत्तों के आधार पर लिखी गई थी। अतः इसे तत्कालीन इतिहास का विश्वसनीय स्रोत माना जा सकता है। इसमें ७२२ ई० पू० से ४६८ ई० पू० तक का इतिहास मिलता है।

(५) **ई-चिंग**—इस पुस्तक को अंग्रेजी में 'बुक ऑव चेंजिज़' कहा जाता है। परम्परानुसार इसे चोऊ वंश के संस्थापक वू के पिता **वेन-वांग ने अपने बन्दी जीवन में** लिखा था और इसके मूल विचार पौराणिक नरेश फू-शी **की**

देन थे। परम्परानुसार ही कन्फूशियस ने इसका सम्पादन किया और इसमें दस परिशिष्ट जोड़े। इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु शकुन-परीक्षण है। इसके एक भाग में उन साधारण शकुनों का शुभाशुभ फल बताया गया जिनमें प्रायः सब देशों के लोग प्राचीन काल से विश्वास करते आए हैं। लेकिन शेष में **आठ रहस्यमय प्रतीकों** (पा-कुआ) पर विचार किया गया है। इनमें प्रत्येक प्रतीक मे तीन लाइनें हैं—अखण्ड अथवा कटी हुई। इनको हर सम्भव प्रकार से संयोजित करके इन प्रतीकों (कुआ) को बनाया गया है। चीनी विश्वास के अनुसार इनमें अखण्ड रेखा 'यांग' की प्रतीक है और खण्डित रेखा 'यिन' की। इनकी कल्पना कुछ कुछ सांख्य के पुरुष और प्रकृति का कल्पना से मिलती-जुलती है। **'यांग'** पुरुष है। वह सक्रिय, उष्ण और प्रकाशमान है। **यिन** निष्क्रिय, शीतल और अंधकारमय है। इसलिए इन रेखाओं के रूप में उनका संयोजन जगत् के किसी न किसी प्राकृतिक नियम को अभिव्यक्त करता है। चीनी विश्वास के अनुसार विश्व का सब ज्ञान-विज्ञान इन प्रतीकों में समाया हुआ है। जो व्यक्ति इन प्रतीकों को समझता है वह सृष्टि के रहस्य को जानता है। अनुश्रुति के अनुसार वेन-वांग के पूर्व प्रत्येक प्रतीक में ३ रेखाएँ होती थीं, इसलिए कुल सम्भव संयोजन केवल आठ थे। वेन-वांग ने इन रेखाओं की संख्या बढ़ा कर ६ कर दी जिससे सम्भव प्रतीकों की कुल संख्या ६४ हो गई।

(६) **कुओ युई तथा चान कुओत्से**—कुओ युई का अर्थ है 'राज्यों पर प्रवचन' (डिस्कोर्सिज़ ऑन दि स्टेट्स्)। यद्यपि इसकी रचना चौथी या तीसरी शताब्दी ई० पू० में हुई और बाद में काफी प्रक्षिप्त जोड़े गए तथापि इसकी अधिकांश सामग्री निश्चयतः प्राचीनतर और विश्वसनीय है। **चान कुओत्से** अथवा 'प्रतिस्पर्द्धी राज्यों के राजकीय पत्र' (डोक्यूमेन्ट्स ऑव दि फाइटिंग स्टेट्स्) में चोऊ युग के अन्तिम अशान्त वर्षों की परिस्थिति पर प्रकाश देने वाले पत्र सुरक्षित हैं।

(७) **ई-ली, ली-ची तथा चोऊ-ली**—इन तीनों ग्रन्थों में विविध प्रकार के समारोहों अनुष्ठानों और शिष्टाचारों का वर्णन है। इनमें अन्तिम दो में सुरक्षित सामग्री काफी बाद की है। लेकिन **ई-ली** को, प्रक्षिप्तांशों की भरमार के बावजूद काफी पुराना—तीसरी-चौथी शताब्दी ई० पू० का—माना जा सकता है। इसमें छोटे पदाधिकारियों के लिए विविध समारोहों के अवसरों पर आवश्यक शिष्टाचार बताए गए हैं।

चीनी काव्य—चोऊयुगीन चीन में काव्य को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। यद्यपि प्राचीन चीनी कभी **महाकाव्यों (ईपिक्स)** की रचना न कर

सके, लेकिन उन्होंने अपने जीवन में काव्य को जो स्थान दिया, वह अन्य देशों में अकल्पनीय रहा है। इसका सर्वोत्तम प्रमाण शीकिंग है (पृ० ५९१)। चीनी लोग कविताओं का प्रयोग राजनीति में करते थे। जब दो राज्यों में सन्धि वार्ता होती थी अथवा राजकीय पत्रों का आदान-प्रदान होता था, या दो सेनापति या मन्त्री आपस में बात करते थे, तब अपने मन्तव्य को सबल सिद्ध करने के लिए कविताओं के समीचीन अंशों को सुना सकना एक प्रशंसनीय गुण माना जाता था। अगर कोई पदाधिकारी अथवा राजनीतिज्ञ ऐसा नहीं कर पाता था तो चाहे और बातों में वह कितना भी विद्वान् और योग्य क्यों न होता था, अपने पद के अयोग्य समझा जाता था।

चोऊ युग की अन्तिम शताब्दियों में चीन 'बर्बरों' के सम्पर्क में आया। सम्भवतः इसके परिणामस्वरूप नए प्रकार की कविताएँ लिखी जानी प्रारम्भ हुई। इसका सर्वोत्तम उदाहरण **'ली शाओ'** है। इसका लेखक चोऊ राज्य का निवासी चुई युआन था। इस ग्रन्थ को चीनी साहित्य की सर्वोत्तम कृतियों में गिना जाता है।

अन्य ग्रन्थ—चीन के अन्य प्राचीन श्रद्धेय ग्रन्थों में एःर या तथा सियाओ-चिंग उल्लेखनीय हैं। एःर या चीन का प्राचीनतम शब्दकोष है। इसकी रचना चौथी तीसरी शताब्दी ई० पू० में निश्चयतः हो चुकी थी। **सियाओ चिंग** में कन्फूशियस और उसके एक शिष्य का संवाद सुरक्षित है।

धर्म

चीनी देवसमूह—शांग युग से ही चीनियों का धर्म **सर्वचेतनवादी** और **बहुदेववादी** था। वे यह मानते थे कि सारा विश्व छोटी-बड़ी दैवी-शक्तियों द्वारा परिपूर्ण है। उनके धर्म में न केवल टीलों, पर्वतों, नदियों, वृक्षों और नक्षत्रों के देवताओंकी उपासना होती थी वरन् चूल्हे, भट्ठी तथा अस्त्र-शस्त्र आदि वस्तुओं के देवताओं को भी मान्यता प्राप्त थी। इसके अतिरिक्त वे अपने पूर्वजों और प्राचीन वीरों की पूजा भी करते थे। ये दैवी शक्तियाँ सर्वशक्तिमान तो नहीं, परन्तु मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली अवश्य ही मानी जाती थीं। इनको प्रायः दो वर्गों में बाँटा जाता था—भूवासी और आकाशीय। भूवासी देवों में सर्वोच्च स्थान सम्भवतः देवी **होऊ तू** को प्राप्त था और आकाशीय देवताओं में **शांग ती** को। इन दोनों में भी शांग ती को उच्चतर माना जाता था। शांग अभिलेखों में उसे ही 'सर्वोच्च शासक' कहा गया है। चोऊ युग में उसके स्थान पर यह प्रतिष्ठा **'तिएन'** (आकाश) को दी गयी। चोऊ नरेश सिद्धान्ततः उसी की

'अनुमति' से शासन करते थे। कालान्तर में तिएन और शांग ती को अभिन्न माना जाने लगा।

चीनी धर्म का अनुष्ठानात्मक पक्ष—अपने देवताओं को सन्तुष्ट रखने और उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए चीनी उन्हें अन्न, मांस और अन्य पदार्थों की भेंट चढ़ाते थे। प्राचीनतर युग में **नरबलि** देने की प्रथा भी प्रचलित थी, यद्यपि परवर्ती चोऊ युग में सदाचार का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाने लगा था। **पूर्वजों की उपासना** के लिए या तो मन्दिर बनाए जाते थे अथवा घर में एक कक्ष उनकी आत्मा के वास के लिए छोड़ दिया जाता था। शेष **देवताओं का पूजन** गाँव के टीले पर किया जाता था। धार्मिक अनुष्ठानों के समुचितरूपेण सम्पन्न होने पर ही व्यक्ति, समाज और राज्य का कल्याण निर्भर माना जाता था, इसलिए राजकर्मचारियों को इसकी ओर विशेष ध्यान देना होता था। अनुष्ठान खुद सामन्तों की देख-रेख में और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान 'वांग' की देख-रेख में सम्पन्न होते थे। **पुजारियों** का अलग वर्ग नहीं था, परन्तु कर्मचारियों की सहायता करने वाले अनुष्ठान-विशेषज्ञ, ज्योतिषी और दैवज्ञ आदि अस्तित्व में आ चुके थे।

दर्शन

कन्फूशियस-सम्प्रदाय

कन्फूशियस का जीवन—परवर्ती चोऊ युग में आविर्भूत दार्शनिक सम्प्रदायों में कन्फूशियस (कुंग फूत्जे) का सम्प्रदाय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उसकी परम्परागत ज्ञात तिथियाँ (५५१-४७९ ई० पू०) स्थूलतः सही मानी जा सकती हैं। कहा जाता है कि उसका **जन्म** लू राज्य के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। उसके पिता की मृत्यु उसकी बाल्यावस्था में ही हो गई थी, इसलिए उसका लालन-पालन उसकी माता ने किया था। उसकी रुचि प्रारम्भ से ही धार्मिक अनुष्ठानों और प्राचीन इतिहास के अध्ययन में थी। उन्नीस वर्ष की आयु में उसने विवाह किया और बाईस वर्ष की अवस्था में अपने घर में **विद्यार्थियों को शिक्षा देना** प्रारम्भ की। उसने अपने पाठ्यक्रम में इतिहास, काव्य और शिष्टाचार पर बल दिया। कहा जाता है कि उसने कुल मिलाकर, ३,००० विद्यार्थियों को शिक्षित किया था। ५४ वर्ष की आयु में वह लू राज्य में पुलिस-मन्त्री नियुक्त हुआ परन्तु राजा के अनैतिक आचरण के कारण उसने त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद वह वर्षों तक एक राज्य से दूसरे राज्य में ऐसे नरेश की खोज में फिरता रहा जो उसके आदर्श का व्यावहारिक रूप देने के लिए तैयार हो, लेकिन असफल रहा। अपने जीवन के अन्तिम

वर्षों में वह लू राज्य में लौट आया जहाँ कुछ वर्ष बाद, ७२ वर्ष की आयु में, उसकी मृत्यु हो गई।

कन्फूशियस का नैतिक दर्शन—कन्फूशियस किसी नवीन धर्म का प्रवर्त्तक नहीं था। उसकी रुचि मुख्यतः नैतिक और राजनीतिक दर्शन में थी। भगवान् बुद्ध के समान उसने भी **आत्मा-परमात्मा और स्वर्ग-नरक आदि विषयों पर विचार नहीं किया।** उसका कहना था कि हमारे लौकिक जीवन के विषय ही इतने अधिक हैं कि लोकोत्तर विषयों की चिन्ता के लिए हमारे पास न समय है न शक्ति। एक बार जब उसके एक शिष्य त्जे कुंग ने उससे मृत्यु के विषय में प्रश्न किया तो उसने उत्तर दिया कि जब तुम जीवन को ही नहीं समझते तो मृत्यु के क्या समझोगे? इन विषयों की अपेक्षा वह **आचार-शास्त्र** पर अधिक बल देता था। उसका कहना था कि समाज की इकाई परिवार है और परिवार की इकाई मनुष्य। अतः समाज को सुधारने के लिए व्यक्ति को सुधारना आवश्यक है। अधिकांश सामाजिक दोषों का मूल कारण है व्यक्तिगत अनुदारता और स्वार्थपरता। कन्फूशियस के अनुसार आदर्श मनुष्य वह है जो अपनी उन्नति के साथ समस्त मानव-जाति की उन्नति की आकांक्षा करे। इसके लिए उसने तीन गुण आवश्यक बताए हैं—बुद्धिमत्ता, साहस और परोपकार की भावना। इन गुणों से युक्त मनुष्य दूसरों को अपने से अधिक गुणी देखकर उनके समान बनने का प्रयास करता है और उनके दोष देखकर अपने दोष ढूँढ़ता है। वह दया, करुणा, सच्चाई, विवेकशीलता, नम्रता तथा आत्म-सम्मान को कभी नहीं छोड़ता।

कन्फूशियस के राजनीतिक विचार—कन्फूशियस के राजनीतिक विचार भी नैतिक विचारों के समान सरल थे। उसका विश्वास था कि कोई भी सरकार केवल शस्त्रबल पर स्थिर नहीं रह सकती। राज्य की स्थिरता का मूलाधार लोकमत होता है और लोकमत की अनुकूलता राजा के **चरित्र और सुशासन और प्राचीन अनुष्ठानों के विधिवत् पालन करने पर निर्भर होती है।** जब किसी राज्य का स्वामी दुराचारी होता है तो वह शासन करने की 'दैवी अनुमति' खो देता है जिससे उसके राज्य का बड़ी तीव्रता से ह्रास हो जाता है। और अगर राजा सदाचारी और बुद्धिमान् होता है तो राज्य की उन्नति होती है। इसलिए राज्य के स्थायित्व के लिए आवश्यक है कि राजा प्रजा के सामने उच्च चरित्र का आदर्श प्रस्तुत करे और प्राचीन अनुष्ठानों का विधिवत् पालन करता रहे। इसी प्रकार **राजकर्मचारियों की न्यायशीलता** भी सुशासन के लिए परमावश्यक है। इसलिए अन्यायी पदाधिकारियों को हटाकर उनके स्थान पर सुचरित्र व्यक्ति

को नियुक्त करना उसका दूसरा प्रमुख कर्तव्य है। अपने इन विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए ही कन्फूशियस किसी राजा का गुरु बनना चाहता था।

मैन्सियस—कन्फूशियस-सम्प्रदाय में इसके संस्थापक के बाद सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रतिभाशाली विचारक मैन्सियस (मांग-को अथवा मॉंग-त्जू) हुआ। कन्फूशियस के समान वह भी लू राज्य का निवासी था। उसका समय ३७८-२८८ ई० पू० माना जाता है। उसके ऊपर कन्फूशियस के ग्रन्थों से अधिक प्रभाव सम्भवतः उसकी माँ का पड़ा था, जो चीनी इतिहास में 'आदर्श माँ' के रूप में विख्यात है। कन्फूशियस के समान उसकी रुचि भी राजनीति में थी और अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने के हेतु वह भी किसी ऐसे राजा की खोज में मारा-मारा फिरा था जो उसके विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए तैयार हो जाए। वह भी यह मानता था कि किसी राज्य की स्थिरता शस्त्रबल पर नहीं राजा के सुचरित्र पर निर्भर होती है क्योंकि **'यथा राजा तथा प्रजा'**। यहाँ स्मरणीय है कि उसका यह मत इस विश्वास पर आधृत था कि **'मनुष्य प्रकृत्या अच्छा होता है'**। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम उसकी अच्छाई को पल्लवित करने के लिए समुचित वातावरण प्रस्तुत कर दें। इसलिए बुद्धिमान् नरेश अपने पड़ोसियों के विरुद्ध युद्ध करके अपनी शक्ति व्यय न करके अपनी प्रजा की निर्धनता को दूर करने की चेष्टा करता है। जो राजा ऐसा नहीं करते उन्हें राजा बने रहने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसे राजाओं के विरुद्ध विद्रोह नहीं होता।

चित्र १५२ : मैन्सियस

शुन कुआंग—चोऊ युग का एक अन्य प्रसिद्ध दार्शनिक शुन कुआंग अथवा शुनत्जू (३०५-२३५ ई० पू०) था। उसने भी मुख्यतः सुशासन की समस्या पर विचार किया। लेकिन वह ऐसे युग में उत्पन्न हुआ था जब चीन का राजनीतिक जीवन अधिक हिंसापूर्ण हो गया था। इसलिए उसका यह विश्वास हो गया था कि **मनुष्य प्रकृत्या अच्छा न होकर बुरा है**। परन्तु वह भी यह स्वीकृत करता था कि उसे शिक्षा देकर और उसके सामने अच्छे

उदाहरण रखकर उसे सुधारा जा सकता है। उसने भी युद्धप्रिय राजाओं की निन्दा की और उन्हें उपदेश दिया कि वे अपने शत्रुओं की प्रजा को भी शस्त्र-बल से नहीं वरन् अपने सदाचरण से जीतें।

कन्फूशियस-सम्प्रदाय के ग्रन्थ—कन्फूशियस-सम्प्रदाय में **'नव शास्त्रों'** (नाइन क्लासिक्स्) को प्रमाणिक माना गया है। इनमें **पाँच ग्रन्थों (चिंग)** —ली-ची, ई-चिंग, शी-चिंग, शू-चिंग तथा छुन-छिऊ (पृ० ५९०-९३)—का लेखक अथवा सम्पादक खुद कन्फूशियस को बताया गया है। इनके बाद **चार 'शू' नाम से विख्यात ग्रन्थों** का स्थान है। इनमें प्रथम है **'लुन युई'** (एनेलेक्ट्स्) जिसमें कन्फूशियस के शिष्यों द्वारा उसके वचनों और संवादों को एकत्र संगृहीत किया गया है। दूसरा ग्रन्थ 'ता शुएह' अथवा 'महाविद्या' है और चौथा 'चुंग युंग' अथवा 'मध्यम-मार्ग का सिद्धान्त'। इनका रचयिता प्रायः कन्फूशियस के पुत्र कुंग ची को माना जाता है। इस वर्ग का अन्तिम ग्रन्थ 'मंग त्ज़ू शू' (बुक ऑव मैन्सियस) कहलाता है। इसमें मैन्सियस के विचार संगृहीत हैं।

ताओवाद

लाओ त्ज़े—ताओवाद के संस्थापक लाओत्ज़े का **जीवनवृत्त** अत्यन्त तिमिराच्छन्न है। बहुत से विद्वान् तो उसकी ऐतिहासिकता में भी शंका करते हैं। अनुश्रुतियों के अनुसार वह कन्फूशियस का समकालीन (६०४-५१७ ई० पू०) था और एक बार कन्फूशियस ने उससे भेंट भी की थी। वह चोऊ राजा-भिलेख-संग्रहालय के अध्यक्ष पद पर रहा था। उसका व्यक्तिगत नाम ली था। 'लाओत्ज़े' तो उसको बाद में दी गई उपाधि थी जिसका अर्थ है **'वृद्ध गुरु'**। उसके विचार **'ताओ ते चिंग'** नामक पुस्तक में मिलते हैं जिसकी रचना उसने अपनी वृद्धावस्था में चोऊ राज्य का त्याग करते समय यिन शी नामक सीमा-रक्षक के अनुरोध पर की थी। लेकिन आजकल बहुत से विद्वान् इसे पर्याप्त परवर्ती रचना मानते हैं। गाइल्स ने इसकी तिथि २०० ई० पू० के बाद मानी है।

ताओवाद—लाओत्ज़े का मत ताओवाद कहलाता है। **'ताओ'** का शाब्दिक अर्थ है 'मार्ग', लेकिन इस सम्प्रदाय में इसका प्रयोग समस्त विश्व में व्याम शाश्वत तत्त्व अर्थ में किया गया है। इसकी अवधारणा बहुत कुछ वेदान्ती दार्शनिकों के 'ब्रह्म' और पाश्चात्य दार्शनिकों के 'एब्सोल्यूट' से सादृश्य रखती है। लाओत्ज़े के अनुसार मनुष्य को अपने जीवन का ताओ के साथ समन्वय रखना चाहिए। इसके लिए बुद्धि, तर्क-शक्ति और धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न

करने की नहीं वरन् आत्म-चिन्तन और सरलता से रहने की आवश्यकता है। **रूसो के समान** लाओत्जे भी यह मानता था कि प्रकृति ने मनुष्य के जीवन को सरल और शान्तिपूर्ण बनाया था परन्तु मनुष्य ने 'ज्ञान' प्राप्त करके इसे जटिल कर लिया है। अगर मनुष्य बुद्धि के जाल को काट दे और सरल प्राकृतिक जीवन को अपना ले तो फिर सुखी हो जायगा। सुकरात ने ज्ञान को गुण कहा था और प्लेटो ने दार्शनिकों के शासन को सर्वोत्तम बताया था। परन्तु लाओत्जे ज्ञान की लालसा के त्याग और अपरिष्कृत प्राकृतिक जीवन-यापन को बुद्धिमत्ता कहता था और दार्शनिकों को सबसे बुरा शासक। उसके अनुसार शिक्षा के प्रसार के साथ मूर्खों की संख्या बढ़ती है और बुद्धिवादी जन राज्य के लिए संकट का कारण होते हैं क्योंकि वे प्राकृतिक व्यवस्था से दूर हटकर समाज को नियम और क़ानून की सीमाओं में बाँधना चाहते हैं मानो समाज समाज नहीं ज्योमिति है। ऐसा करके वह मनुष्य की स्वतन्त्रता का अन्त कर देते हैं। इसके विपरीत ताओ (मार्ग) के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति घटनाओं के स्वाभाविक प्रवाह को मोड़ने के स्थान पर अपने आप को सुधारने की चेष्टा करता है। **ईसा मसीह के समान** लाओत्जे का भी कहना था कि जो तुम्हारे मार्ग में काँटे बोए, उसके मार्ग में तुम फूल बोओ क्योंकि दुनिया में क्षमा, प्रेम धैर्य और शान्ति से बड़ा कोई और शस्त्र नहीं है।

चुआंग त्जे—लाओत्जे के पश्चात् ताओवाद का सबसे बड़ा समर्थक चुआंग त्जे (चौथी शती ई० पू०) हुआ। वह सुंग प्रदेश का निवासी था। उसकी **साहित्यिक प्रतिभा विलक्षण** थी और शैली रोचक। उसके विचार भी **उपनिषदीय वेदान्त से प्रभावित** लगते हैं। वह कहता था कि ताओ शाश्वत सत्य है। इसमें सब विरोधाभास विलीन हो जाते हैं। भौतिक विश्व और खुद मनुष्य का जीवन तो क्षणभंगुर है—माया जाल है। इसलिए मनुष्य का कर्त्तव्य केवल यही है कि वह ताओ के अनुसार जीवन व्यतीत करे। कहा जाता है कि उसे दो बार उच्च पदों पर कार्य करने के लिए निमन्त्रण मिला था जिन्हें उसने ठुकरा दिया। वह राज्य और दार्शनिक चिन्तन का विरोधी था और राजाओं को चोरों के समान मानता था।

अन्य सम्प्रदाय

मो-ती—परवर्ती चोऊ युग में चीन में अन्य अनेक दार्शनिकों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने स्वतन्त्र सम्प्रदायों की स्थापना की। इनमें मो-ती अथवा मो-त्जू (५००-४२० ई० पू०) सर्वप्रमुख है। कन्फ़ूशियस के समान वह भी लू राज्य का निवासी था और **समाज-कल्याण उसका मुख्य उद्देश्य** था। लेकिन

वह समाज का कल्याण धार्मिक अनुष्ठानों अथवा व्यक्तिगत और पारिवारिक कल्याण में नहीं वरन् **विश्व-बन्धुत्व** में मानता था। उसका कहना था कि मनुष्य की भलाई ईश्वर (शांग ती) की इच्छा के अनुसार जीवन व्यतीत करने में है। और ईश्वर सब मनुष्य को प्यार करता है, इसलिए हर मनुष्य को सब प्रेम करना चाहिए। उसे सारे विश्व को अपना परिवार मानना चाहिए। युद्ध मनुष्य मात्र के भ्रातृत्व सिद्धान्त के विरुद्ध होते हैं, इसलिए मो-ती इनका भी घोर विरोधी था। लेकिन वह केवल **आक्रमणात्मक युद्धों को बुरा मानता था**, रक्षात्मक युद्धों को नहीं। वह प्रेतात्माओं के अस्तित्व में विश्वास करता था पर उनको प्रसन्न रखने के हेतु किए जाने वाले अपव्ययपूर्ण अनुष्ठानों के विरुद्ध था। उसके सिद्धान्तों की मैन्सियस ने घोर आलोचना की क्योंकि उसके मतानुसार मो-ती का विश्वबन्धुत्व सिद्धान्त परिवार-प्रथा और इसलिए सम्पूर्ण समाज के लिए घातक था।

यांग-चू—मो-ती के विचारों से सर्वथा उल्टे विचार यांग-चू नामक दार्शनिक ने प्रकट किए। वह चौथी शताब्दी ई० पू० में आविर्भूत हुआ था और अपने को अन्य सब सम्प्रदायों से असम्बद्ध मानता था। उसका कहना था कि **मानव जीवन दुःखों से परिपूर्ण है,** परन्तु इन्हें दूर करने का प्रयास करना मूर्खता है क्योंकि ये हमें भाग्यवशात् मिलते हैं। कि जिन्हें आदर्श व्यक्ति माना जाता है उनका जीवन प्रायः दुखों से परिपूर्ण मिलता है और जो दुष्कर्मी कहे जाते हैं वे प्रायः सुखों का उपभोग करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि जीवन में **अधिक से अधिक सुख पाने की चेष्टा** करे, क्योंकि मृत्युपरान्त सदाचारी और दुराचारी सबकी एक सी अवस्था होती है।

फा-चिया या विधिवादी सम्प्रदाय—परवर्ती चोऊयुगीन दार्शनिकों में प्रायः फा-चिया अथवा विधिवादियों (लीगलिस्ट्स्) की गणना भी की जाती है। इनमें सब से अधिक प्रसिद्ध है हान फेई त्ज़ू (तीसरी शती ई० पू०)। हान फेई त्ज़ू और उसके समर्थक कन्फ़ूशियस के इस विचार के विरुद्ध थे कि राजा सुचरित्र का आदर्श उपस्थित करके प्रजा को सुपथ पर ला सकता है। वे मानते थे कि **मनुष्य स्वभाव से ही दुष्ट** होता है, इसलिए उसे सुधारने का प्रयास करना आवश्यक है। और इस विषय में एक मात्र क़ानून ही हमारी सहायता कर सकता है। एक तो सुचरित्र राजा मिलना ही कठिन है और मिल भी गया तो वह आगे भी सुचरित्र रहेगा, यह निश्चित नहीं है। लेकिन क़ानून उसके चरित्र के समान परिवर्तनशील नहीं होते। इसलिए इनकी सहायता से सुशासन की स्थापना करना सरल है।

पठनीय सामग्री

Aristotle, *Politics, Tr. William Ellis, 1952*
Baily, C., (Ed.) *The Legacy of Rome, 1951*
Bible, The
Block, R., *Origins of Rome, 1959*
Botsford and Robinson, *Hellenic History, 1956*
Breasted, J- H., *The Dawn of Conscience, 1933*
Breasted. J. H., *The Conquest of civilization 1926*
Breasted, J. H., *Development of Religion and Thought in Egypt, 1959*
Breasted, J. H., *History of Egypt 1951*
Burgh de, W. G., *The Legacy of Ancient World, 1923*
Burkitt, M. C., *The Old Stone Age, 1949*
Bury, J. B., *History of Greece, 1931*
Barrow, R. H., *The Romans, 1955*
Cambridge Ancient History, Vol I-III, 7927
Childe, V. G., *Man Makes Himself, 1955*
Childe, V. G., *New Light on the Most Ancient East, 1952*
Childe, V. G., *What Happened in History, 1957*
Chou Hsiang Kuang, *The History of Chinese Culture, 1958*
Conder, C. R., *The Amarna Tablets, 1893*
Coomaraswamy and Horner, *The Living Thought of Gautama the Buddha, 1948*
Cottrell, L., *Life Under the Pharaohs, 1955*
Cowley, A. E., *The Hittites, 1926*
Creel, H. G., *The Birth of China, 1937*
Carter, H., *The Tomb of Tut-Ankh-Aman, Vol I-II,1927*
Cream, C. W., *A Picture History of Archaeology, 1958*
Collingwood, R. G., *The Idea of History, 1956*
Davids, T. W. Rhys, *Buddhist India, 1903*
Dawson, M., *The Ethical Religon of Zoroaster, 1931*
Dickinson, G. L., *The Greek View of Life, 1928*
Doeblin, A., *The Living Thoughts of Confucius, 1948*
Douglas, R. K., *Confucianism and Taoïsm, 1879*
Durant Will., *The Life of Greece, 1939*

Durant, Will, *Our Oriental Heritage, 1935.*
Eberhard, W., *A History of China, 1950.*
Edwards, I. E. S., *The Pyramids of Egypt, 1947.*
Encylopaedia of Britannica, (Relevent Chapters), 1953.
Encyclopaedia of Religion & Ethics, (Relevent Chapters), 1953.
Farnell, L. R., *Greece and Babylon, 1911.*
Fitzgerald, C. P., *China, 1954.*
Fowler, H. T., *A History of Ancient Literature of Israel.*
Frankfort, H., *The Birth of Civilization in the Near East.*
Frankfort, H., *Ancient Egyptian Religion, 1961.*
Frazer, Sir, J. G., *The Golden Bough, 1930.*
Garnet, M., *Chinese Civilization, 1947.*
Garstang, J., *The Hittite Empire, 1929.*
Ghirshman, R., *Iran, 1954.*
Giles, H. A., *A History of Chinese Literature, 1923*
Gita, The, *Hindi Edition, Gita Press, Gorakhapur*
Goyal, S. R., प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ, १९६१.
Goyal, S. R., 'क्या जलप्लावन आख्यान मूलतः भारतीय था?', 'सरस्वती', इलाहाबाद, फरवरी, १९६२.
Goyal, S. R., 'ऋग्वेद में रुद्रोपासना', 'आज', मार्च ४, १९६२.
Goyal, S. R., 'पश्चिमी एशिया में शिवोपासना','वासन्ती',वाराणसी,सि०'६१.
Grousset, R., *Chinese Art and Culture, 1959.*
Gurney, O. R., *The Hittites, 1952.*
Huart, C., *Ancient Persian and Iranian Civilization.*
Hughes and Hughes, *Religion in China, 1950.*
Hutchinson, R. W., *Prehistoric Crete, 1962.*
Hall, H. R., *The Ancient History of the Near East.*
Hammond, N. G. L., *History of Greece, 1959.*
Heras, H., *Studies in the Proto-Indo-Mediterranean Culture, 1953.*
Herodotus, *Histories, Tr. Aubrey de Seluicourt, 1954*
Hirth, F., *Ancient History of China, 1929.*
Historians' History of the World, Vol I-II, 1907.
Hobhouse, L. T., *Morals in Evolution, 1916.*
Hogarth, D. G., *The Ancient East, 1950.*
Homer, *The Iliad, Tr. Lord Derby, 1944.*
Homer, *The Odyssey, Tr. E. V. Rieu, 1954.*

Hrozney, B., *Ancient History of Western Asia, India & Crete.*
Jastrow, M., *The Civilization of Babylonia & Assyria.*
Kalla, L. D., *The Home of the Aryans, 1930.*
Keith, A. B., *The Religion and Philosophy of the Veda and Upanisads, 1925.*
King, W., *The History of Babylon.*
King, W., *The History of Sumer and Akkad, 1923.*
King, W., *Babylonian Religions, 1899.*
Kitto, H. D., *The Greeks, 1959.*
Kramer, S. N., *History Begins at Sumer, 1956.*
Kramer, S. N., *Sumerian Mythology, 1944.*
Latourette, K. S., *The Chinese: Their History and Culture.*
Liu Wu chi., *A Short History of Confucian Philosophy.*
Livingstone, R. W., *The Greek Genius, 1915.*
Livingstone, R. W., *The Legacy of Greece, 1921.*
Lowie, R. H., *Primitive Religion, 1924.*
Macdonell, A. A., *India's Past, 1927.*
Mahabharata, The *Hindi Edition, Gita Press, Gorakhpur.*
Mahaffy, J. P., *Social Life in Greece. 1925.*
Maine, Sir Henry, *Ancient Law.*
Mackenzie, D. A., *Myths of Babylonia and Assyria.*
Majumdar and Pusalker, (Ed.), *The Vedic Age, 1952.*
Majumdar and Pusalker (Ed.), *The Age of Imperial Unity. 1953.*
Marshall, Sir John, *Mohenjo-daro and the Indus Civilization, Vol I., 1931.*
Maspero, G., *The Struggle of Nations: Egypt, Syria and Assyria, 1925.*
Maspero, G., *The Dawn of Civilization: Egypt and Chaldea, 1897.*
Maspero, G., *The Passing of Empires, 1900.*
Mommsen, T., *History of Rome, Vol. I, 1901.*
Mookerji, R. K., *Hindu Civilization, 1936.*
Murray, G., *Five Stages of Greek Religion, 1930.*
Murray. G., *History of Ancient Greek Literature, 1927.*

Myres, J. L., *Dawn of History, 1911.*
Nehru, J. L., *Discovery of India.*
Nehru, J. L., *Glimpses of World History.*
Noth, Martin, *The History of Israel, 1959.*
Olmstead, A. T., *History of Asssyria, 1923.*
Olmstead, A. T., *History of the Persian Empire, 1943.*
Pallotino. M., *The Etruscans. 1955.*
Pande, G. C., *Studies in the Origins of Buddhism, 1957.*
Petrie, W. M. F., *Social Life in Ancient Egypt, 1924.*
Piggot, S., *Prehistoric India, 1961.*
Plato, *The Republic, Tr. H. D. Lee, 1955.*
Plutarch, *Lives. 3 Vols., Everyman Lib.*
Radhakrishnan, S., *Indian Philosophy, 2 Vols., 1923. 1927.*
Rogozine, Z. A., *Chaldea, 1886.*
Raychaudhari, H. C., *Political History of Ancient India, 1953.*
Ramayana, The *Hindi Edition, Gita Press, Gorakhpur.*
Ranade. R. D., *Constructive Survey of Upanisadic Philosophy, 1926.*
Rapson, E. J., *Ancient India, 1914.*
Rawlinson, Gee, *Five Great Monarchies of the Ancient Eastern World, 3 Vols., 1887.*
Rigveda, The *Tr. Pt. R. G. Trivedi, 1954.*
Rogers, R. W., *History of Bobylonia and Assyria, 1900.*
Rostovtzeff, M., *A History of the Ancient World, 1930.*
Reischauer & Fairbank, *East Asia The Great Tradition, 1958.*
Sampurnanand, आर्यों का आदि देश, वि० स० २०१३.
Savill, A., *Alexander the Great and His Time, 1955.*
Sayce, A. H., *The Hittites : The story of a forgotten Empire, 1892.*
Sayce, A. H., *Religions of Ancient Egypt and Babylonia,*
Saggs, H. W. F., *The Greatness that was Babylon, 1962.*
Seyffert, O., *Dictionary of Classical Antiquities, 1956.*
Shastri, K. N., सिन्धु-सभ्यता का आदि केन्द्र हड़प्पा, १९५९.
Singer, C., Holmyard, E. J., and Hall, A. R., *A History of Technology. Vol. 1, 1956.*
Smith, J. M. F., *The Moral Life of the Hebrews, 1923.*

Smith, W. Robertson, *The Prophets of Israel.*
Smith, G. F., *The Ancient Egyptians and the Origins of Civilization, 1923.*
Spence, L., *Myths of Babylonia and Assyria.*
Spengler, O., *Decline of the West, 1926.*
Stuart. D. M., *The Myths of Greece and Rome, 1955.*
Sukthankar, U. S., *Lectures on Rigveda, 1926.*
Sykes, P. M., *A History of Persia, Vol. I, 1930.*
Taylor, I., *The Origins of Aryans, 1906.*
Thomas, E. J., *Life of Buddha, 1927.*
Thorndike, L., *Short History of Civilization, 1926.*
Thucydides, *History of Peloponnesian War, Everyman Lib.*
Tilak. B. G., *The Arctic Home in the Vedas.*
Tomlin, E. W. F., *Great Philosophers of the East, 1959.*
Toutain, J., *Economic Life of the Ancient World, 1931.*
Toynbee, A. J., *Greek Historical Thought, 1959.*
Toynbee. A. J., *A Study of History, 1947.*
Toynbee, A. J., *Hellenism, 1959.*
Trever, A. A., *History of Ancient Civilization, Vol. I.*
Tripathi, R. P., विश्व इतिहास, १९६२.
Tsui Chi, *A Short History of Chinese Civilization.*
Velikovsky, I., *Oedipus and Akhnaton, 1960.*
Weigall, A., *Alexander the Great, 1947.*
Weigall, A., *The Life and Time of Akhanaton, 1922.*
Wells, H. G., *The Outline of History, 1956.*
Westermarck, E., *History of Human Marriage, 3 Vols., 1921.*
Westermarck, E., *Origin and Development of Moral Ideas, 2 Vols, 1917.*
Wheeler, M., *The Indus Civilization, 1953.*
Wheeler M., *Early India and Pakistan, 1959.*
Wiedemann, A., *The Realms of Egyptian Dead, 1901.*
Wilson, S. G., *Persian Life and Customs, 1896.*
Winternitz, M., *History of Indian Literature, Vol I., 1927.*
Wooley, C. Leonard, *The Sumerians, 1928.*
Wooley, C. Leonard, *Ur of the Chaldees, 1940.*
Xenophon, *The Persian Expedition, Tr. Rex Warner.*

पारिभाषिक शब्द-सूची

अंक	*Numerals*
अंकगणित	*Arithmetic*
अंक-पद्धति, अंकन पद्धति	*Notation*
अंग-भंग	*Mutilation*
अकादमी	*Academy*
अधिकार-क्षेत्र	*Jurisdiction*
अनित्यवाद	*Changes, theory of*
'अन्तिम न्याय'	*Last Judgement*
अन्तर्हिम काल	*Interglacial age*
अपराधी	*Criminal*
अपील	*Appeal*
अभियान	*Expedition*
(१) अभिज्ञान, पहिचान, (२) तादात्म्य	*Identification*
अभिलेखागार, अभिलेख-संग्रहालय	*Archives*
अमृतत्व, अमरता, अविनाशता	*Immortality*
अमेज़न	*Amazon*
असेम्बली, सभा, लोकसभा	*Assembly*
अल्पतन्त्र, कुलीनतन्त्र	*Oligarchy*
आर्कन	*Archon*
आंगन	*Court yard*
आर्डर, आदेश	*Order*
ऑस्ट्रेसिज़्म	*Ostracism*
ऑस्ट्रेलोपिथेकस	*Australopithecus*
आक्रमणात्मक युद्ध	*Offensive war*
आख्यान	*Legend*
आदिम	*Primitive*
आद्य	*Archaic*
आधार, बेस	*Base*
आपेक्षिक	*Relative*
आयात	*Import*
इतिवृत्त	*Chronicle*
इंजीनियरी	*Engineering*

इतिहास-शास्त्र	*Historiography*
इण्डो-यूरोपियन, आर्य	*Indo-Europeans*
इण्डो-ईरानी	*Indo-Iranians*
'ईश्वरीय राज्य'	*'Kingdom of God'*
उत्कीर्ण करना, लिखना, उत्कीर्णन	*Inscribe*
उत्खनन, खुदाई	*Excavation*
उद्वाचन	*Decipherment*
उपनिवेशी	*Colonial*
उपनिवेशन	*Colonisation*
उपनिवेश	*Colony*
उषः मानव	*Dawn man*
'उर्वर-अर्द्धचन्द्र', 'अर्द्धचन्द्राकार उर्वर भूमि'	*'Fertile crescent'*
उपाधि	*Title*
एकतत्ववाद	*Monism*
एकदेवपूजावाद	*Monolatry*
एकीकरण	*Unification*
एकेश्वरवाद	*Monotheism*
एजेन्ट	*Agent*
ऐतिहासिक	*Historical*
औद्योगिकी, विज्ञान-कौशल	*Technology*
औजार	*Implement*
औजार, हथियार	*Tool*
औषधि-निर्माण-विज्ञान	*Pharmaceutics*
कब्रिस्तान	*Burial place*
कमीशन	*Commission*
कमेटी, समिति	*Committee*
कलश, पात्र	*Vase*
कांस्य	*Bronze*
कांस्ययुग	*Bronze age*
क़ानून, अधिनियम	*Laws*
काल, समय	*Time*
कीलाक्षर लिपि, कील लिपि	*Cuneiform script*
कुदाल	*Hoe*
कुठार	*Hand axe*
केशबन्ध	*Fillet*
कैम्प, शिविर	*Camp*
कृषक दास	*Serf*

'कृषि नाटक'	*'Fertility drama'*
कृष्ण भाण्ड	*Black pottery*
कोठार, अन्नागार	*Granary*
'कोर', आन्तरिक	*Core*
क्लासिक, वरेण्य, अभिजात	*Classic*
खगोल-विद्या, खगोल-विज्ञान	*Astronomy*
खाता, विवरण	*Account*
खानाबदोश, यायावर	*Nomad*
खोज, गवेषणा	*Exploration*
गवर्नर, राज्यपाल	*Governor*
गवाह, साक्षी	*Witness*
गीति काव्य	*Lyrical poetry*
गुफा, कन्दरा	*Cave*
गुफा-मन्दिर	*Cave temple*
गुम्बद	*Dome*
गुह्य समाज	*Mystic society*
गैलरी, दीर्घा	*Gallery*
गोमेद, अकीक	*Agate*
ग्रहण	*Eclipse*
घाटी	*Valley*
घेरा	*Siege*
चक्रनिर्मित भाण्ड	*Wheel made pottery*
चतुर्थ युग	*Quaternary period*
चमक, काचन-क्रिया	*Glaze*
चॉपर, तकुआ	*Chopper*
चान्द्रमास	*Lunar month*
चिकित्सा-शास्त्र	*Medical science*
चित्र	*Painting*
चित्रलिपि	*Hieroglyphic script*
चित्रलिपि	*Pictographic script*
चित्रित भाण्ड	*Painted pottery*
चित्रलेख	*Pictograph*
चिह्न, प्रतीक	*Symbol*
चीनी मानव, पेकिंग मानव	*Sinanthropus Pekinensis*
जमानत	*Bail*
जलयान	*Craft*
जल-परिवहन	*Water transport*

जलसेतु, कृत्रिम-जल-मार्ग	*Aqueduct*
जलशोषक-गर्त	*Sock pit*
जादू	*Magic*
जीवन-संघर्ष	*Struggle for Existence*
जीवाश्म, फॉसिल	*Fossil*
जुआ	*Yoke*
ज्यामिति, रेखागणित	*Geometry*
ज्योतिष, फलित ज्योतिष	*Astrology*
ज्योतिषी	*Astrologer*
झूलते बाग	*Hanging garden*
टोटेम, गणचिह्न	*Totem*
टोप, शिरस्त्राण	*Helmet*
टेम्पेरा	*Tempera*
डिक्टेटर, तानाशाह	*Dictator*
डेरी उद्योग	*Dairy industry*
तकनीक	*Technique*
तटस्थता	*Neutrality*
तत्व	*Element*
तलाक़, विवाह-विच्छेद	*Divorce*
ताबीज़	*Amulet*
ताम्रकाल	*Copper age*
ताम्र-पाषाण युग, ताम्र-प्रस्तर युग, [ताम्र-पाषाणिक (युग)]	*Chalcolithic age*
तिथिक्रम, कालक्रम	*Chronology*
तोड़ेदार मेहराब	*Corbelled arch*
तृतीय युग	*Tertiary period*
त्रिपक्षीय	*Tripartite*
दफन, शवाधान	*Burial*
दशमलव	*Decimal*
दशादेश	*Ten Commandments*
दाह-संस्कार	*Cremation*
दोहरा परशु	*Double axe*
द्वार-मण्डप	*Porch*
द्वितीय-युग	*Secondary*
द्रुतलिपि	*Hieratic script*
धर्मनिरपेक्ष	*Secular*
धातुयुग	*Metal age*

ध्वनि-चिह्न	*Phonetic symbol*
नगर-क्रान्ति	*Urban revolution*
नगर की प्राचीर	*City wall*
नगर-राज्य	*City state*
नरकुल	*Reed*
नरमुख वृषभ, मिनोतौर	*Minotaur*
नरमेध, नरबलि	*Human sacrifice*
नवजीव कल्प	*Cainozoic age (era)*
नव-पाषाण काल	*Neolithic, Middle stone age*
निकट-पूर्व	*Near East*
नित्यवाद	*Permanance, theory of*
नियण्डर्थल मानव	*Neanderthal man*
निर्यात	*Export*
निरंकुश शासन	*Autocracy*
निरंकुश शासक, टायरेण्ट	*Tyrant*
निराशावाद	*Pessimism*
निषेध, वर्जन	*Taboo*
नीति-साहित्य	*Wisdom literature*
नूतनतम काल, (होलोसीन)	*Holocene*
नैतिकता, सदाचार	*Morality*
न्यायिक प्रक्रिया	*Judicial process*
पञ्चाङ्ग, केलेंडर	*Calender*
पपड़ी, फलक	*Flake*
परमाणुवाद	*Atomism*
परवर्ती	*Late*
परस्पर व्यापी	*Overlapping*
पलस्तर	*Plaster*
परिषद्, समिति	*Council*
परिवहन	*Transport*
पाठ्य विवरण	*Syllabus*
पापमोचक-प्रमाणपत्र	*Indulgences*
पार्श्व-रूप	*Profile*
पारित करना	*Pass*
पाषाण-पट्ट	*Stela*
पाषाण-काल	*Stone age*
पाषाण-कला	*Stone art*
पितृसत्तात्मक	*Patriarchal*

पिल्टडाउन मानव	*Piltdown Man*
पिथेकेन्थ्रोपस	*Pithecanthropus*
पिरेमिड	*Pyramid*
पितृ-पूजा	*Ancestor worship*
पुरातत्त्व	*Archaeology*
पुनःस्थापन	*Restoration*
पुनरुज्जीवन	*Resurrection*
पुराकथा, देवकथा	*Myth*
पुराकथाशास्त्र, देवकथाशास्त्र	*Mythology*
पुरालिपिशास्त्र	*Palaeography*
पूर्व-पाषाण युग	*Palaeolithic age*
प्रारम्भिक-	*Early*
मध्य-	*Middle*
परवर्ती-	*Late*
पूर्णमानव, होमोसेपियन्स्	*Homo sapiens*
पूर्वज	*Ancestor*
पेकिंग मानव, चीनी मानव	*Pithecanthropus Pekinensis*
पॉलिश	*Polish*
पोलिस, नगर	*Polis*
पृथु कपाल	*Brachycephal*
प्रकाश-कूप	*Light well*
प्रथम युग	*Primary period*
प्रतिकार	*Retribution*
प्रतिमा विज्ञान	*Iconography*
प्रतिवादी	*Defendant*
प्रभुसत्ता	*Sovereignty*
प्रशासन	*Administration*
प्राकृतिक चुनाव	*Natural selection*
प्राग्वंशीय, पूर्ववंशीय	*Predynastic*
प्रागैतिहासिक	*Prehistoric*
प्राचीन-जीव युग	*Palaeozoic age*
प्राइमेट, नरवानर परिवार	*Primate*
प्रेत-पुस्तक, 'मृतकों की निर्देश पुस्तिका'	*'Book of the Dead'*
प्रव्रजन, स्थानान्तरण	*Migration*
प्लीस्टोसीन युग, अभिनूतन	*Pleistocene period*
फर्नीचर	*Furniture*
बढ़ईगीरी, काष्ठकला	*Carpentry*

बर्बरता	*Barbarism*
बहुदेववाद	*Polytheism*
बहीखाता	*Account book*
बिल, हुण्डी	*Bill*
बीजगणित	*Algebra*
बुर्ज	*Tower*
बेड़ा	*Fleet*
बेस-रिलीफ, अर्ध्युच्चित्र	*Relief, base*
बैंकर, महाजन	*Banker*
'बैबिलोन का बन्दीजीवन'	*'Captivity of Babylon'*
बृहत्पाषाण, महापाषाण	*Megalith*
बृहत्तर यूनान	*Magna Graecia*
ब्लेड	*Blade*
'भाग्य लेख'	*'Tablets of Destiny'*
भाण्ड	*Ware*
भार, बाट, बटखरे	*Weight*
भारतीय-आर्य	*Indo-Aryans*
भारतीय-विद्या	*Indology*
भावचित्र	*Ideograph*
भित्ति-चित्र	*Mural painting*
भूमध्यसागरीय प्रकार	*Mediterranean type*
भूमिगतजल, अधस्तल जल	*Sub-soil water*
भूलभुलैया	*Labyrinth*
भौतिक शास्त्र	*Physics*
मंगोल	*Mongol*
मक़बरा	*Tomb*
मग	*Magi*
मध्य-जीव युग	*Mesozoic age*
मध्य-पाषाण युग	*Mesolithic, Middle stone age*
मत्स्य कल्प	*Age of Fishes*
महाजन तन्त्र	*Timocracy*
मॉडेल, नमूना	*Model*
मातृदेवी	*Mother Goddess*
मातृसत्तात्मक	*Matriarchal*
मानचित्र	*Map*
मानवसम, होमीनॉयड	*Hominoid*
मानव विज्ञान, नृतत्त्व शास्त्र	*Anthropology*

मामला, केस	*Case*
मिट्टी की पाटी	*Clay tablet*
मिस्री-विद्या	*Egyptology*
मुद्रा, मुहर	*Seal*
मुद्राशास्त्र	*Numismatics*
मुष्टिकुठार	*Coup de poing*
मूर्तिकला	*Sculpture*
मेना	*Mana*
मेहराब	*Arch*
मैमथ	*Mammoth*
मृद्भाण्ड	*Pottery*
मृत्तिका, मिट्टी	*Clay*
योजना	*Plan*
रक्षात्मक युद्ध	*Defensive war*
रसीद	*Receipt*
राजकर, कर	*Tax*
राष्ट्रीय एकदेवपूजावाद	*National monolatry*
राष्ट्रीय राज्य	*Nation state*
रेखालिपि	*Linear script*
लघु पाषाण	*Microlith*
लॉटरी	*Lottery*
लिपि	*Script*
लिपिक	*Scribe*
लुप्तकड़ी	*Missing Link*
लोकतन्त्र, जनतन्त्र	*Democracy*
लौह युग	*Iron age*
वंशीय, राजवंशीय	*Dynastic*
वर्ग संघर्ष	*Class struggle*
वसीयतनामा, इच्छा-पत्र	*Will*
वस्तु-विनिमय	*Barter*
वाणिज्य	*Commerce*
वास्तुकार, वास्तुविद	*Architect*
वास्तुकला	*Architecture*
विकासवाद	*Evolution, theory of*
विचार धारा	*Ideology*
विधिवादी	*Legalist*
विधिवेत्ता	*Jurist*

विन्यास, आधार योजना	*Lay out*
विनिमय माध्यम	*Medium of exchange*
विषय-वस्तु	*Theme*
विषाद गीत	*Elegy*
विशेषाधिकार	*Privilege*
विश्व-साम्राज्य	*Universal empire*
वीरकाल	*Heroic age*
वीरोपासना	*Hero worship*
वैधरूपेण	*Legally*
व्यक्तिवाद	*Individualism*
व्यापार	*Trade*
संकेत चित्र	*Suggestion picture*
संख्यावाद	*Number, theory of*
संरक्षित राज्य	*Protected state*
संस्कृति	*Culture*
संवाद	*Dialogue*
संविदा, अनुबन्ध	*Contract*
संविदा-पत्र, अनुबन्धपत्र	*Contract form*
संविधान	*Constitution*
संहिता, कोड	*Code*
सञ्चार	*Communication*
सभा चौक, ऐगोरा	*Agora*
समकालिक इतिहास	*Synchronous History*
समाजवाद	*Socialism*
समावयवी, सममाप	*Isometric*
समुद्राधीश	*Thalassocrate*
सरकारी, अधिकारिक	*Official*
सरीसृप	*Reptiles*
सरूप, प्रतिरूप	*Double*
सर्वात्मवाद	*Animism*
साख	*Credit*
साझेदारी	*Partnership*
सादृश्यमूलक जादू	*Sympathetic magic*
सामन्तवाद	*Feudalism*
साम्राज्यिक	*Imperial*
सिंहद्वार	*Loin gate*
सिंहासन-कक्ष	*Throne room*

सिक्का, मुद्रा	*Coin*
सिलिंडर, बेलन	*Cylinder*
सीनेट	*Senate*
सूच्याकार स्तम्भ	*Obelisk*
सोथिक चक्र	*Sothic cycle*
सोपान-कक्ष	*Stair case*
सौर देवता	*Solar god*
सौर पञ्चाङ्ग	*Solar calendar*
सौराख्यान	*Solar myth*
सोफिस्ट	*Sophist*
स्तनधारी प्राणी	*Mammals*
स्तम्भावलि	*Colonnade*
स्थल	*Site*
स्मारक	*Monument*
स्वर, टोन	*Tone*
स्फिंक्स्	*Sphinx*
षष्ठिक	*Sexagesimal*
शंकावाद, संशयवाद	*Scepticism*
शकुन	*Omen*
शकुन-सूचक अभिलेख	*Omen tablet*
शब्दार्थ विज्ञान	*Semasiology*
शब्दांश लिपि	*Syllabic script*
शवकक्ष	*Burial chamber*
शवपात्र, शवकलश	*Burial urn*
शासन, सरकार	*Government*
शिलालेख	*Inscription*
शिल्पी	*Craftsman*
शोषण, दोहन	*Exploitation*
हथियार	*Weapon*
हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड	*Hand made pottery*
हस्तिदन्त, हाथीदाँत	*Ivory*
हाइडलबर्ग मानव	*Heidelberg Man*
हारपून, भाला	*Harpoon*
हिमयुग	*Ice age*
हेनोथीज्म	*Henotheism*

विषयानुक्रमणिका

संकेत : अ० = और अनुवर्ती पृष्ठ ।

SOME OPINIONS

"... VISHWA KI PRACHIN SABHYATAYEN is not only interesting but also instructive, as it contains much useful information and is replete with relevant facts which, again, have been admirably presented within the narrow compass of a treatise of its character. I have no hesitation to admit that the subject has been dealt within a scholarly manner and de'inated in simple but elegant Hindi, characterized by the lucidity of style. ... Indeed, a treatise on Ancient Civilization of this nature, was a long-felt desideratum."

—**Prof. C. D. Chatterjee**
Professor & Head of the
Department of Ancient History,
Archaeology and Culture,
Gorakhpur University.

"... VISHWA KI PRACHIN SABHYATAYEN is the best publication in Hindi on the subject. The author has taken pains to deal with the stories of various civilizations in a lucid and scientific way. The maps, sketches and photographs in the book with nice printing and get up, which can well compare with some of the first rate foreign publications add to its importance. ... "

—**K. D. Bajpai**
Head of the Department of
Ancient Indian History,
Culture & Archaeology,
Saugar University.

"...पुस्तक हर दृष्टि से उपादेय है। अध्ययन और विद्वता का उच्च स्तर, शैली का सौष्ठव, विषय-सार को सुचारु रूप से प्रस्तुत करने की क्षमता—सबने मिलकर ग्रन्थ को अपने ढंग का अनुपम बना दिया है। प्राचीन इतिहास और संस्कृति के प्रवाह के बदलते क्रमों और विकास की अवस्थाओं का निरूपण जैसा इस सफल कृति में हुआ है, वैसा हिन्दी के अन्य एतद्विषयक ग्रन्थ में लक्षित नहीं होता—यह कहने में किंचित भी संकोच नहीं।..."

—जे० एस० नेगी
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं
पुरातत्त्व विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय।

"...लेखक ने विश्व की प्राचीन सभ्यताओं पर एक बड़ी सुन्दर पुस्तक प्रस्तुत की है। हिन्दी में ऐसी दूसरी पुस्तक इस समय उपलब्ध नहीं है।"

—डॉ० राय गोविन्दचन्द्र
सदस्य, एशियाटिक सोसायटी, पेरिस,
यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमेटी,
उत्तर प्रदेश।

●